प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२६
मूल्य : २५-००

Gopal Mandir Lane,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1969
Phone : 3145

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१
फोन : ३०७६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
182

GADANIGRAHA

OF

ŚRĪ VAIDYA SOḌHALA

With

The 'Vidyotinī' Hindī Commentary

By

ŚRĪ INDRADEVA TRIPĀṬHĪ, B. I. M. S.

Edited by

ŚRĪ GAṆGĀ SAHĀYA PĀṆḌEYA, A. M. S.

PART-III

(FROM ŚALĀKYA TO PAÑCHAKARMA)

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

First Edition
1969
Price Rs. 25–00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi–1 (India)
Phone : 3076

प्राक्कथन

'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या सहित 'गदनिग्रह' के प्रयोग खण्ड तथा कायचिकित्सा खण्ड : दोनों भाग पाठकों के समक्ष पहुँच चुके हैं। अब हिन्दी व्याख्या सहित तृतीय भाग शालाक्यादि (शालाक्यादि सात अंग एवं पञ्चकर्माधिकार) खण्ड पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। यह कार्य मेरे लिये उतना ही कठिन था जितना चींटी का पहाड़ पर चढ़ना, फिर भी पाठकों का प्रेम, सहयोग एवं शुभचिन्तकों के आशीर्वाद से यह कार्य परिपूर्ण हो गया।

आयुर्वेद के लोकप्रसिद्ध ग्रन्थों में अष्टाङ्ग-आयुर्वेद का जैसा क्रमवद्ध एवं विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ ग्रन्थकार ने निदान के साथ-साथ चिकित्सा का भी विशद वर्णन किया है। निदान एवं चिकित्सा की जानकारी के लिये ग्रन्थान्तर एवं प्रकरणान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। इस खण्ड में निम्नोक्त प्रकार से विषयविवेचन किया गया है—

शालाक्य तन्त्र में—शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग, नासिकारोग तथा मुखरोगों का निदान एवं चिकित्सा का निरूपण किया गया है।

शल्यतन्त्र में—गण्डमाला, अपची, गलगण्ड, पिटिका, अर्वुद, ग्रन्थि, श्लीपद, व्रणशोथ, सद्योव्रण, भग्न, नाडीव्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष तथा क्षुद्र रोगों के निदान एवं चिकित्सा का वर्णन है।

भूततन्त्र में—भूतोन्माद, उन्माद तथा अपस्मार का निदान सहित चिकित्सा का स्पष्ट वर्णन है।

वालतन्त्र में—प्रदर, योनिव्यापद्, गर्भस्राव, मूढगर्भ, वन्ध्यारोग, योनिसम्वन्धिरोग, शुक्रसम्बन्धिरोग, सूतिकारोग, गाढलोम, निर्लोम तथा वालरोग एवं वालग्रहों के निदान एवं चिकित्सा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

विषतन्त्र में—सर्पविष, लूताविष, मकडीविष, वृश्चिकविष, मूषकविष, नखविष, दन्तविष, खाजूरविष तथा कृत्रिमविष का निदान एवं चिकित्सा का विशद वर्णन है।

रसायन तन्त्र मे—रसायन, ओषधिकल्प, भेषजकल्प (ओषधिग्रहण नियम, मान परिभाषा-निरूपण-आदि), दिन—चर्या, ऋतु—चर्या एवं रात्रि—चर्या आदि का विस्तृत वर्णन है।

वाजीकरण तन्त्र में—वाजीकरण के नियम, औषध, नपुंसकता के भेद एवं उनकी चिकित्सा तथा सन्तानोत्पादक योगों का समावेश है।

पञ्चकर्माधिकार खण्ड में—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन तथा नस्य कर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन मे हमें अपने सहयोगियो के अतिरिक्त उन सभी विद्वानों का सहयोग एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है जिनका ग्रन्थ के प्रयोग खण्ड तथा कार्यचिकित्सा खण्ड मे उल्लेख किया गया है। लेखक उन सभी का आभारी एवं कृतज्ञ है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के संचालक महोदय बहुशः धन्यवादार्ह है; जिन्होंने बहुत ही लगन और उत्साह के साथ इस दुर्लभ ग्रन्थ को प्रकाशित कर आयुर्वेद जगत का बड़ा उपकार किया है।

इस ग्रन्थ की परिपूर्णता काशीपति श्री विश्वनाथ की कृपा से हुई है अतः इस कृति को उनके चरण कमलों मे समर्पण करता हूँ।

रक्षिकाबन्धन
वि० सं० २०२६

विनयावनत—
इन्द्रदेव त्रिपाठी

विषय-सूची

नेत्ररोगाधिकारः

नासारोगाधिकारः

मुखरोगाधिकारः

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डरोगाधिकारः

सद्योव्रणरोगाधिकारः

भग्नरोगाधिकारः

नाडीव्रणरोगाधिकारः

भगन्दररोगाधिकारः

उपदंशरोगाधिकारः

शूकदोषरोगाधिकारः

क्षुद्ररोगाधिकारः

भूतोन्मादरोगाधिकारः

उन्मादरोगाधिकारः

अपस्माररोगाधिकारः

प्रदररोगाधिकारः

सोमरोगाधिकारः

योनिरोगाधिकारः

गर्भस्रावाधिकारः

मूढगर्भरोगाधिकारः

वन्ध्यरोगाधिकारः

योनिशुक्रदोषाधिकारः

सूतिकारोगाधिकारः

स्तनरोगाधिकारः

योनिगाढीकरणाधिकारः

योनिनिर्लोमीकरणाधिकारः

वालरोगाधिकारः

वालग्रहाधिकारः

ऋतुचर्याधिकारः

वाजीकरणाधिकारः

स्नेहाधिकारः

स्वेदाधिकार.

वमनाधिकारः

विरेचनाधिकारः

नस्याधिकारः



|| श्रीः ||

गदनिग्रहः

(शालाक्यतन्त्रं नाम तृतीयः खण्डः)

अथ शिरोरोगाधिकारः प्रथमः

अथातः शिरोरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

कायचिकित्सा-निरूपण के बाद शिरोरोग का निदान कहते हैं ।

शिरोरोगभेदाः—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण कृमिभिस्तथा ॥ १ ॥
सूर्यावर्ता-नन्तवाता-र्धावभेदक-शङ्खकैः ।
दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ २ ॥

शिरोरोग के भेद—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, क्षयज, क्रिमिजन्य, सूर्यावर्तक, अनन्तवात, अर्द्धावभेदक तथा शंखक नामों के शिरोरोग उत्पन्न होते हैं । इस दश प्रकार के शिरोरोग के लक्षणों को आगे कहेंगे । अर्थात् वातादि से अलग अलग तीन, सन्निपातज एक, रक्तज एक, क्षयज एक तथा कृमिजन्य एक, एवं सूर्यावर्त, शंखक तथा अर्द्धावभेद के तीन इन दश प्रकार के शिरोरोगों के लक्षण को आगे कहेंगे । अनन्तवात का सन्निपातज शिरोरोग में अन्तर्भाव होने के कारण अलग गणना गदनिग्रहकार नहीं मानते हैं । अतः "दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं सप्रवक्ष्यते" इसकी "संगति होती है । "सूर्यावर्तावभेदाभ्यां शंखकेन तथैव च । दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते" इस पाठान्तर के अनुसार भी शिरोरोग के दश प्रकार होने की पुष्टि होती है ॥ १–२ ॥

विमर्शः—वस्तुतः शिरोरोग को सभी आचार्यों (सुश्रुत, भावप्रकाश, आयुर्वेद-विज्ञान, योगरत्नाकर तथा गदनिग्रहकार) ने एकादश प्रकार का वर्णन किया है । सुश्रुत ने सर्वगत नेत्ररोगों के वर्णन में अन्यतोवात का नाम-निर्देश किया है, उसी में अनन्तवात का भी ग्रहण हो सकता है अतः गदनिग्रह का यह पाठ "दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते" संगत

होता है। प्राच्य शालाक्य तन्त्र में मुखरोग, नासारोग, कर्णरोग, नेत्ररोग तथा शिरोरोग का वर्णन मिलता है। शिरोरोग से सामान्यतः शिर में होनेवाले सम्पूर्ण रोगों का ग्रहण करना चाहिये। कहीं-कहीं पर शिरोगत सभी रोगों (सिर की विद्रधि, ग्रन्थि, अर्बुद आदि शल्य तन्त्रान्तर्गत, अरुंषिका, दारुणक, खालित्य, पालित्य आदि क्षुद्ररोगान्तर्गत) का संग्रह एकत्र मिलता है किन्तु यहाँ पर सिर के कुछ रोग शल्य तन्त्र में तथा कुछ रोग क्षुद्र रोग में वर्णित हैं। यथार्थतः शिरोरोग[1] से शिर के शूल का ही ग्रहण किया जाता है।

प्रकृत में ग्यारह प्रकार से शिरोरोग की उत्पत्ति मानी गई है इसमें सूर्यावर्त-अनन्तवातादिकों से कौन सा शिरोरोग होगा क्योंकि वे तो स्वयं रोग हैं। दूसरी बात यह है कि यदि शिरोरोग से शिर में होनेवाले रोग लिये जायेंगे तो खालित्य-पालित्य आदि रोगों का भी शिरोरोग में ही सन्निवेश हो जायगा क्योंकि ये भी रोग सिर में ही होते हैं। किन्तु शास्त्रों में इसका वर्णन क्षुद्ररोगाधिकार में किया गया है। अतः शिरोरोग शब्द से शिरःशूल लिया जाता है "शिरोगतशूलरूपा रुजा" (शिर में होने वाली व्यथा या शूल) अन्यथा सूर्यावर्त-अनन्तवात आदि व्याधियों में शिर में पीड़ा होती है इसलिये इन रोगों का शिरोरोग में वर्णन शास्त्रसंमत माना जाता है। सूर्यावर्तक, अनन्तवात, अर्धावभेदक तथा शंखक प्रभृति रोगों में शिरःशूल होता है, यही कारण है कि शिरःशूलरूपी रोग उत्पादक होने के कारण शिरोरोग को उत्पादक माने गये हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि शिरोरोग में सिर में शूल उत्पन्न करनेवाले रोगों की ही गणना है, शिर में होनेवाले रोगों की गणना नहीं है।

सभी शिरोरोग सन्निपातज होते हैं। दोषों की उल्वणता के अनुसार वातादिक भेद माना गया है—

"सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः।
औत्कण्ठ्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश" ॥ (वाग्भट)

शिरोरोग से शिरःशूल, शिरोऽभिताप, एवं शिरोवेदना का ग्रहण होता है। इसी को आधुनिक वैज्ञानिक हेडेक (Headache) कहते है। यह अनेक रोगों के होनेवाले लक्षणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रोग मानकर वर्णन किया गया है। किन्तु आधुनिक विद्वान् शिरःशूल आदि को एक लक्षणमात्र मानते है जो अनेक रोगों में प्राप्त हो सकता है।

---

१. शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात् (मधुकोश) तेन नारुंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात्। चक्रपाणि।

शिरःशूल मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का मुख्य लक्षण है। यह सिर के निम्न भागों पर प्रभाव होने के कारण उत्पन्न होता है।

(१) कपालास्थि-बहिर्गत कारणः—इसमें कपालास्थि तथा उसकी पेशियों एवं रक्तवाहिनियों में आघात या दबाव पड़ने के कारण शिरःशूल होता है।

(२) कपालान्तर्गत कारणः—कपालास्थियों के अन्दर बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियों एवं पांचवी, नौवी तथा दशवीं सिर की नाड़ियों पर प्रभाव पड़ने के कारण भी शिरःशूल होता है।

मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगः—

(अ) मस्तिष्क के अर्बुद

(ब) मस्तिष्कावरणशोथ

(स) मस्तिष्क-सुषुम्ना-जल की वृद्धि

इनमें शिरःशूल होता है। इसके अतिरिक्त आंख, नाक तथा दांत के व्रणशोथ में भी शिर में वेदना होती है। शिरोरोग के अन्य कारण भी होते हैं जैसे—पुरःकपालास्थिशोथ, प्रतिश्याय, नासायवनिका की वक्रता, तारामंडलशोथ, अधिमन्थ, दांत की सूजन, मध्यकर्ण की सूजन के परिमाण-स्वरूप शिरोरोग होता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कार्बुद, विद्रधि, मस्तिष्कगत फिरंग, जीर्णवृक्कशोथ, मूत्रविषमयता, रक्ताधिक्य, योषापस्मार, अर्द्धावभेदक, आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि के कारण भी शिरःशूल होता है।

दशविधशिरोरोगाणां क्रमेण लक्षणानि—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोभिताप' स समीरणेन ॥ ३ ॥

दश प्रकार के शिरोरोगों के क्रमशः लक्षण—वातिक शिरोरोगः—जिस मनुष्य के सिर में विना किसी दृष्ट कारण से तीव्रवेदना हो, जो रात्रि में बढ़ जाय और बांधने तथा स्वेदन से शान्त हो जाय, उसे 'वातजन्य शिरःशूल' समझना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्शः—शंख प्रदेश में सुई के समान चुभन, ग्रीवा के पश्चात् भाग में फटने जैसी वेदना, भ्रुकुटियों का मध्य एवं मस्तक पीड़ा के साथ घूमता है, कानों में झनझनाहट होती रहती है, रोगी ऐसा अनुभव करता है कि कोई आंखों को बाहर निकाल रहा हो, शिर में चक्कर सा प्रतीत होता है, तथा मालूम पड़ता है कि सिर धड़ से अलग हो रहा हो। मस्तिष्क की सिराएँ स्फुरण करती हुई प्रतीत होती हैं, कन्धे तथा हनु अकड़ जाते है, प्रकाशासह्यता (प्रकाशसंत्रास) और नासास्राव होता है। अकस्मात् तैल-मर्दन, स्नेहन,

बन्धन व स्वेदन से पीड़ा शान्त होती है। इस [1]प्रकार वाग्भट का शिरःशूल की वेदना का वर्णन अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है।

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम्।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोभितापः स तु पित्तकोपात्॥ ४॥

पैत्तिक शिरोरोग—जिस व्यक्ति का सिर जलते हुए अँगारों के समान उष्ण प्रतीत हो, [2]आंख तथा नाक से धुवाँ सा निकल रहा हो, शीतोपचार तथा रात्रि में जो शान्त हो जाता हो उस शिरःशूल को 'पित्तजन्य शिरःशूल' कहते हैं॥ ४॥

विमर्शः—[3]चरकाचार्य के अनुसार निम्न कारणों से पैत्तिक शिरोरोग की उत्पत्ति होती है तथा निम्न लक्षण होते हैं। तीक्ष्ण, अम्ल तथा क्षारीय पदार्थों का अति सेवन। अधिक मद्यपान, क्रोध, धूप में अधिक देर तक बैठना, अग्नि के पास अधिक देर तक रहना, आदि। लक्षण—आंखों[4] में जलन होना, प्यास लगना, चक्कर आना, अधिक पसीना निकलना, आदि। अतः पैत्तिक शिरोरोग में पित्तशामक शीत का प्रयोग लाभदायक होता है। शीतोपचार तथा रात्रि में पीड़ा स्वभावतः न्यून होती है।

शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिस्तब्धमथो हिमं च।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोभितापः स कफप्रकोपात्॥ ५॥

श्लैष्मिक शिरोरोग—जिस मनुष्य का सिर कफ से चिपका हुआ, भारी

---

१. निस्तुद्यते भृशं शङ्खौ घाटा संभिद्यते तथा।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च भ्रमतीवातिवेदनम्॥
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येत इवाक्षिणी।
घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्यश्च प्रमुच्यते॥
स्फुरत्यतिसिराजालं कन्धरा-हनु-संग्रहः।
प्रकाशासह्यता घ्राणास्रावोऽकस्माद् व्यथाशमौ॥
मार्दवं मर्दन-स्नेह-स्वेदबन्धैश्च जायते।
शिरस्तापोऽयमर्द्धं तु मूर्ध्नः सोऽर्द्धावभेदकः॥ वाग्भट॥

२. शिरोभितापे पित्तोत्थे शिरोधूमायनं ज्वरः।
स्वेदोऽक्षिदहनं मूर्च्छा निशि शीतैश्च मार्दवम्॥ वा० भट्ट॥

३. कट्वम्ल-लवण-क्षार-मद्य-क्रोधातपानलैः।
पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते॥
दह्यते रुज्यते तेन शिरः शीते सुदूयते।

४. दह्येते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते॥ च० चि० १७॥

जकड़ा हुआ तथा शीतल हो जाता है, जिस में मुख तथा नेत्रकूट शोथयुक्त हो जाते हैं, उसे 'कफज शिरःशूल' समझना चाहिए ॥ ५ ॥

विमर्शः—कफज शिरोरोग में मन्द [1]वेदना, सिर में शून्यता होती है। इससे पीड़ित व्यक्ति तन्द्रा, आलस्य तथा अरुचि से पीड़ित रहता है।

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि रूपाणि समुद्भवन्ति।

सान्निपातिक शिरोरोग—शिरोरोग में तीनों दोषों के प्रवृत्त होने पर तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं।

विमर्शः—सभी प्रकार के शिरोरोग त्रिदोषज होते हैं फिर भी विकृति-विषमसमवायजन्य शिरोरोग का प्रतिपादन करने के लिये इसका वर्णन अलग किया गया है। इसके पहले दोषों की उल्वणता के अनुसार वातिक आदि शिरोरोगों का वर्णन किया गया है। चरक में सान्निपातिक शिरोरोगों में तीनों दोषों से होनेवाले लक्षणों का अलग अलग निर्देश किया गया है—जैसे [2]वात से चक्कर तथा कम्पन, पित्त से दाह, जलन, मद तथा प्यास एवं कफ से भारीपन तथा तन्द्रा ये लक्षण होते हैं।

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ६ ॥

रक्तज शिरोरोग—रक्तजन्य शिरःशूल में पित्त के समान लक्षण होते हैं। इसमें स्पर्शासह्यता रूप लक्षण पित्त से अधिक होता है। (मुख-मण्डल में लालिमा तथा शिर की पीडाक्षमता ये दो रक्तजशिरःशूल के विशिष्ट लक्षण हैं) ॥ ६ ॥

असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ॥ ७ ॥
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति।

क्षयज शिरोरोग—मस्तिष्कगत रक्त, वसा, कफ तथा वात के क्षय होने से अतिशय भयंकर पीड़ा से युक्त तथा कष्टसाध्य क्षयजन्य शिरःशूल उत्पन्न होता है। यह क्षयजन्य शिरःशूल स्वेदन, वमन, धूमपान, नस्य तथा रक्त-मोक्षण से बढ़ता है।

विमर्शः—वसा तथा रक्त सम्पूर्ण शरीर में स्थित होते हैं। इसी प्रकार उनका अवस्थान सिर में भी रहता है कफ का स्थान तो सिर है ही इसी प्रकार ऊर्ध्व गति होने से उदान वायु का भी अवस्थान हो जाता है। अतः

---

१. शिरो मन्दरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम्।
भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथालस्यमरोचकः ॥ च० सू० १७ ॥

२. वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद् दाहो मदस्तृषा।
कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥ च० सू० १७ ॥

इन चार वसा, रक्त, कफ तथा वात के क्षय होने से तीव्र शिरःशूल का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है।

वात के क्षय होने से शिरोरोग की उत्पत्ति होती है ऐसा कहा गया है किन्तु "वाताच्छूलम्" के अनुसार वात-क्षय होने पर शिरोरोग का अभाव होना चाहिए क्योंकि शूल का प्रधान कारण वात है। इसका समाधान यह है कि व्याधि का स्वभाव है कि उसमें तीव्र पीड़ा होती और यहां तीव्र पीड़ा होती भी है क्योंकि [1]वात, पित्त तथा कफ के क्षीण होने पर उनके स्वाभाविक कर्म की हानि होती है, उसके फल स्वरूप विना व्याधि-स्वभाव की कल्पना किये तीव्र पीड़ा नहीं हो सकती। अतः यहां व्याधि-स्वभाव की कल्पना करते हैं।

किंच वात के क्षय होने पर उसके विरोधी कफ की वृद्धि होती है और क्षयज शिरःशूल कफजन्य होता है जैसा कि चरक में कहा गया है यह ठीक नहीं है क्योंकि धातु के क्षय होने से वात की वृद्धि होती है और क्षयज शिरोरोग की चिकित्सा में वातनाशक द्रव्यों के सेवन का निर्देश किया गया है। स्वयं क्षीण वात की शान्ति के लिये औषधि-प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है अतः "असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्" के स्थान पर "वसाबलासक्षयसम्भवानाम्" यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। वसा शारीरिक स्नेह का उपलक्षण है अतः शरीर में रहनेवाले मेदा, मज्जा तथा शुक्र आदि स्निग्ध पदार्थों को क्षय भी शिरोरोग का कारण होता है।

आचार्य चक्षुष्य[2] इसमें वायु तथा पित्त के लक्षण स्वीकार करते हैं। आचार्य विदेह के अनुसार क्षयज शिरोरोग में भ्रम, सूई से छेदने जैसी पीड़ा, शिरःशून्यता, मूर्च्छा तथा अङ्गावसाद होता है।

पाश्चात्य मत के अनुसार इस रोग को सार्वदेहिक कारणजन्य मान सकते हैं। पाण्डु, अंकुशमुख कृमि, मधुमेह तथा जीर्ण विषमज्वर आदि सार्वदेहिक एवं चिरकालीन रोग से तथा अतिमैथुन आदि के सेवन से उत्पन्न शुक्रक्षय के कारण, शरीर की वसा, रक्त और कफ का क्षय हो जाता है। कभी-कभी आघात आदि से शीघ्र ही रक्त-आदि का क्षय हो जाता है जिससे मस्तिष्कगत रक्ताल्पता हो जाती है। इसके फलस्वरूप शिरःशूल होता है। इसके प्रधान

---

१. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणा प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्॥

२. स्त्रीप्रसंगादभीघातादथवा देहकर्मणा।
क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः॥
कफपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्।

विकार के दूर होने पर रोग शान्त होता है। लाक्षणिक चिकित्सा से कुछ भी लाभ नहीं होता। अतः यह क्षयज शिरःशूल कष्टसाध्य माना गया है।

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुटतीव चान्तः ॥ ८ ॥
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सरक्तं शिरोभितापः क्रिमिभिः सुघोरः।

क्रिमिजन्य शिरोरोग—जिस रोगी के सिर में अधिक तोदनवत् पीड़ा हो, अन्दर (कपालास्थियों के बीच में) ऐसा प्रतीत होता हो जैसे कोई (श्लेष्मल-कला आदि को) भक्षण कर रहा है तथा स्फुरण या गति का अनुभव हो, नासिका से पूययुक्त (रक्तमिश्रित) जल का स्राव हो उस भयंकर शिरःशूल को क्रिमिजन्य शिरःशूल समझना चाहिए (कभी-कभी स्राव के साथ क्रिमि भी निकलते हैं)।

विमर्श—चरक के अनुसार पथ्यापथ्य-मिश्रित भोजन करने से रक्त और मांस क्लिन्न होकर सन्निपात को प्रकुपित कर देते हैं और सिर में क्रिमियों[1] की उत्पत्ति हो जाती है। वे कृमि सिर के रक्त का पान करते हुए तीव्र पीड़ा, चित्त-विभ्रम, ज्वर तथा कास उत्पन्न करते हैं और निर्बल बना देते हैं। सिर में रूक्षता, शोथ, चुभन, दाह, फटने जैसी पीड़ा तथा दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। कपाल, तालु और सिर में खुजली तथा शुष्कता हो जाती है। नासिका से रक्तवर्ण का स्वच्छ स्राव निकलता है तथा कानों में कर्णनाद (झनझनाहट) होती है।

दोपास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ॥ ९ ॥
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु।
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांस्तु रोगान् ॥ १० ॥
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोपत्रयोत्थं शिरसो विकारम्।

अनन्तवात—दूषित वात, पित्त तथा कफ ये तीनों ही दोष ग्रीवा की

---

१. व्यवच्छेदरुजा-कण्डू-शोष-दौर्गन्ध्य-दुःखितम्।
क्रिमिरोगातुरं विद्यात् क्रिमीणां लक्षणेन तु ॥ च० सू०
संकीर्णभोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे।
कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः ॥
शिरसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः।
चित्तविभ्रंशजननौ ज्वरकासौ बलक्षयः ॥
रौक्ष्यशोफ-व्यवच्छेद-दाहस्फुटन-पूतिताः।
कपाले तालु-शिरसोः कण्डूशोषप्रमीलकाः ॥
ताम्राच्छसिंघाणकता कर्णनादश्च जायते। च० सू०

मन्यानाडियों को पीड़ित कर ग्रीवा के पृष्ठभाग में भयंकर पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं। जो पीड़ा शीघ्र ही फैलकर आंख, भ्रुकुटि (भौं) तथा शङ्खप्रदेश में स्थित हो जाती है जिससे कपोल के पार्श्व में कम्पन, हनुग्रह (ठोढ़ी का जकड़ जाना) तथा नेत्र के विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन तीनों दोषों से उत्पन्न शिरोरोग को 'अनन्तवात' कहते हैं।

विमर्श—अनन्तवात त्रिदोषज होता है। सुश्रुत में इसका अन्तर्भाव अन्यतोवात में करके केवल दश प्रकार का ही शिरोरोग माना है किन्तु माधव ने त्रिदोषज तथा कम्प एवं हनुग्रह आदि लक्षण होने से ग्यारहवां अनन्तवात नामक शिरोरोग का अलग वर्णन किया है। सोढल ने ग्यारह नाम प्रदर्शित करने के बाद भी दश प्रकार के ही शिरोरोग के लक्षणों के वर्णन करने का निर्देश किया है। "दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते" इससे ज्ञात होता है कि इनके मत में भी अनन्तवात का अन्तर्भाव अन्यतोवात में अभीष्ट है। चरक की टीका में चक्रपाणि दत्त ने स्पष्ट किया है कि तन्त्रान्तर में अनन्तवात को ही अन्यतोवात कहा गया है। विशेषता इतनी है कि अन्यतोवात नेत्ररोगाधिकार में तथा अनन्तवात शिरोरोगाधिकार में पढ़ा गया है। यह सम्भव है कि अनन्तवात में शिरःशूल की प्रधानता हो और अन्यतोवात में नेत्रविकार की प्रधानता हो किन्तु दोनों में शिरःशूल पाया जाता है। अन्यतोवात को पाश्चात्य मत में 'ग्लोकोमा' कहते हैं।

अनन्तवात में त्रिधारा नाडीशूल होता है जिसमें दौरे के साथ भयंकर शिरःशूल या धीरे-धीरे तोद के समान पीड़ा पांचवी शिरस्कानाडी के सम्पूर्ण प्रदेश में विना किसी विकार (स्थानिक शोथ, विद्रधि व्रण आदि) के ही होती रहती है। यह मध्यम अवस्था के बाद शीतऋतु में स्त्री तथा पुरुष दोनों में समानभाव से मिलता है।

अनन्तवात का प्रधान लक्षण पीडा ही है। यह नासारन्ध्र या नासाप्रदेश की त्वचा में वेदना प्रारम्भ हो कर शीघ्र ही सम्पूर्ण नाडी के क्षेत्र में फैल जाती है, वेदना, गोली लगने जैसी दाह तथा तोद युक्त होती है। यह थोड़े समय से लेकर अधिक समय तक रह सकती है। बीच-बीच में शान्तिकाल भी होता है। आक्रमणों के बार-बार होनेपर वेदना की भयंकरता बढ़ती जाती है। शान्तिकाल में भी मन्द २ वेदना रहती है और कहीं-कहीं पर स्पर्शनासह्यता का भी अनुभव होता है। वेदना के अतिरिक्त विकृति-ग्रस्तभाग में लालिमा, पसीना, अश्रुस्राव, नासास्राव, लालास्राव, जिह्वा के एक तरफ विदार तथा पेशी-संकोच (मन्यास्तम्भ, हनुग्रह) आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दं चक्षुर्भ्रुवं रुक्समुपैति गाढा ॥ ११ ॥

विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च।
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवृत्तं समुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

सूर्यावर्त शिरोरोग—जो वेदना सूर्य के उदय होने से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढ़ती हुई नेत्र तथा भ्रुकुटि में फैल जाती हैं, जो सूर्य के बढ़ने के साथ बढ़ती है तथा सूर्य के घटने के साथ-साथ घटती है और सूर्य के अस्त होने के साथ पूर्ण तथा बन्द हो जाती है। सान्निपातिक एवं कष्टसाध्य व्याधि को 'सूर्यावर्त्त या सूर्यापवर्त्त या भास्करापवर्त्त' कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

अन्यः प्रतिनिवृत्तेऽर्के सूर्यावर्तः प्रवर्तते।
राज्यन्ते प्रशमं याति स तु स्याद्वातपित्तजः ॥ १३ ॥

दूसरे प्रकार का सूर्यावर्त्त सूर्य के अस्त हो जाने पर उत्पन्न होता है अर्थात् सूर्य के अस्त होने पर पीड़ा होती है और रात्रि के अन्त में पीड़ा शान्त हो जाती है उसे 'वात-पित्तज सूर्यावर्त्त' कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—सूर्यावर्त का अर्थ यह है कि "सूर्यस्येव आवर्तो गमनं यस्य स विकारः सूर्यावर्तः" सूर्य के सदृश जिसका उत्कर्ष (सुबह से लेकर दोपहर तक वृद्धि) और अपकर्ष (बारह बजे से लेकर सूर्यास्त तक क्रमशः ह्रास) हो उसे 'सूर्यावर्त' कहते हैं। सुश्रुत ने इसको वात-पित्तजन्य माना है—

"आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम्।
शीतने शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च" ॥

१—किन्तु यथार्थ में यहाँ पर त्रिदोषज माना है। यह त्रिदोषज रोग है दोषों की उल्वणता के अनुसार वातपित्तज कहा गया है। अर्थात् यह 'वात-पित्तोल्वण त्रिदोषज शिरःशूल' कहा जा सकता है। वात और पित्त में भी पित्त की ही प्रबलता रहती है क्योंकि शीत गुण वाली रात्रि में पीड़ा का शमन हो जाता है। अन्यथा शीत से वात-वृद्धि के कारण रात्रि एवं अपराह्ण में पीड़ा कम न होती। इसकी चिकित्सा में शिरीष की जड़, पिपरामूल एवं वच आदि पित्त-वर्द्धक पदार्थों के अवपीडन नस्यका निर्देश किया गया है उसका अभिप्राय व्याधि-प्रत्यनीक-चिकित्सा की दृष्टि से ही है दोष-प्रत्यनीक-चिकित्सा की दृष्टि से नहीं। वात-पित्तोल्वण होने के कारण इनके विशेष काल में वेदना होना भी स्वाभाविक है।

पूर्वाह्ण में सूर्य-संताप से शोषित कफ के कारण वात-मार्गों का अवरोध रहता है और मार्ग में अवरुद्ध वात तथा पित्त पीड़ा उत्पन्न करते हैं। मध्याह्न के बाद कफ पिघल कर स्थानान्तरित हो जाता है जिससे शीघ्र-मार्ग स्वच्छ हो जाता है और वात-संचार में सुगमता होने के कारण वेदना की शान्ति

होने लगती है। रात्रि के समय में मार्ग पूर्ण-स्वच्छ हो जाने के कारण तथा स्वाभाविक शीत से पित्त के शान्त हो जाने पर [1]वेदना शान्त हो जाती है। रात्रि में सोने से पुनः पूर्ववत् कफ का संचय होता है और प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्वोक्त क्रम प्रारम्भ हो जाता है। वाग्भट ने भी इस रोग को वात-सहकारी पित्तोल्वण सन्निपातज माना है[2]। चरकचार्य इस रोग में वात एवं रक्त की प्रबलता मानते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि सूर्योदय के समय मस्तिष्कगत कफ पिघलने लगता है जिससे पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। दोपहर को अधिक पिघलने से पीड़ा अधिक बढ़ जाती है। सायंकाल पुनः मस्तुलुङ्ग जम जाता है[3] विदेहने[4] वातानुबन्धी बलवान् पित्त दोष के कारण केवल मध्याह्न में भयंकर वेदना युक्त सूर्यापवर्त-विपर्यय नामक रोग का भी प्रतिपादन किया है। यथार्थ में इसका अन्तर्भाव सूर्यावर्त में ही हो जाता है।

---

१. सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ।
कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥
आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे।
स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति॥
उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते।
तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदन ऽत्र प्रशाम्यति॥ (निमिः)

२. पित्तानुबद्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः।
रुजं सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयात्॥
आमध्याह्नं विवर्द्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषता।
अव्यवस्थितशीतोष्ण-सुखी शाम्यत्यतः परम्॥ वाग्भट

३. संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्क रक्तमारुतौ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितम्॥
सूर्योदयेंऽशुसंतापाद् द्रवः विष्यन्दते शनैः।
तदा दिने शिरःशूलं दिने वृद्ध्या च वर्द्धते॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के सम्प्रशाम्यति।
सूर्यावर्त्तः स एव स्यात्……… …॥

४. तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति।
मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम्॥
करोति पैत्तिकीं घोरां सशाम्यति दिनक्षये।
अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्द्धते (या-वायुर्निवर्तते)॥
पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना।
एवं पित्तानिलकृतः सूर्यावर्त्तविपर्ययः॥ (विदेह)

रूक्षाशनाध्यशन-प्राग्-वातावश्याय-मैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥ १४ ॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो नृणाम् ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥ १५ ॥
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ।

अर्धावभेदकशिरोरोगः—रूक्ष भोजन, अत्यधिक भोजन, अजीर्ण भोजन, पूर्वी वायु, अवश्याय (अवश्याय 'ओस'), मैथुन, वात-विड्-मूत्र आदि का वेगधारण, अत्यधिक परिश्रम तथा अत्यधिक व्यायाम करने से प्रकुपित वात स्वयं या कफ के साथ मिलने से बलवान् होकर सिर के आधे भाग को जकड़कर मन्या, भ्रुकुटी, शंख, कर्ण, नेत्र तथा मस्तिष्क के आधे भाग में शस्त्र से कटने या अग्नि से जलने अथवा लकड़ी के मथने के समान अत्यधिक भयंकर वेदना को उत्पन्न करता है अर्थात् काटने चीरने के समान तीव्र पीड़ा होती है उसे 'अर्धावभेदक' कहते हैं। यह अत्यधिक बढ़कर नेत्र या कान को नष्ट कर सकता है ।

विमर्श—अर्धावभेदक शिरोरोग केवल वातज या वातकफज होता है। [1]सुश्रुताचार्य इसे 'त्रिदोषज' मानते हैं। इसमें आधा शिर तोद, भेद, भ्रम, मोह तथा शूल से व्यथित रहता है, जिसमें पन्द्रह दिन, दश दिन या एकाएक वेदना प्रारम्भ हो जाती है। इस सान्निपातिक रोग को 'अर्धावभेद' कहते हैं। यह त्रिदोषज होते हुए भी दोषों की उल्बणता के आधार पर वातज या वातकफज माना जाता है। [2]विदेहने भी इस रोग को वात-कफजन्य ही माना है। इस रोग में कफ वायु को अवरुद्ध कर आधे सिर में पीड़ा उत्पन्न करता है। कुछ लोग वात-पित्तज मानते हैं। सात्यकि केवल वातज मानते हैं "वायुः शिरःशङ्खभ्रूनेत्रमवगृह्य" इत्यादि। अन्य विद्वान् इसे सान्निपातिक रोगों के साथ पाठ होने के कारण त्रिदोषज मानते हैं। वस्तुतः निदान एवं लक्षणों को देखने से ज्ञात होता है कि यह केवल वातज या वात-कफज ही है। शुद्ध वात या

---

१. यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः ।
पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद् व्यवस्येत् ॥
(सु० उ० २५)

२. शिरसोऽन्यतरत् पार्श्वं कुपितो मारुतो यदा ।
श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥
शूलावदरणो गाढमर्धं तदवरुध्यते ।
नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात् ॥
तथा त्र्यहाच्च पक्षाहात् पक्षान्मासाच्च देहिनाम् ॥ (विदेह)

कफ युक्त वात ही इस रोग का उत्पादक होता है। किन्तु रोग के स्वभाव के कारण शीघ्र ही त्रिदोषज रूप धारण कर लेता है।

रोगी को प्रातः काल उठने पर चक्कर, मिचली नेत्रों के सामने चिनगारी छूटकना, झुनझुनी तथा शून्यत्व का अनुभव होता है। ये लक्षण पहले शाखाओं में उत्पन्न होते हैं और धीरे २ बढ़कर थोड़े ही देर में अर्धावभेद का रूप धारण कर लेते हैं। अधिकतर यह रोग बाल्यावस्था में होता है, अधिक चिन्तन करने वाली स्त्रियों एवं बुद्धिजीवी व्यक्तियों में विशेष कर होता है। चिन्ता अधिक परिश्रम, अव्यस्थित भोजन एवं वंश-परम्परा भी इसके कारण होते हैं।

इस रोग में शिरःशूल का आक्रमण रात्रि तथा दिन के किसी भी समय हो सकता है। शिरःशूल सबसे पहले शंख प्रदेश में उत्पन्न होता है और फैल जाता है। वेदना विदारण के समान या संचारी स्वरूप की होती है और यह कुछ घंटे से लेकर कुछ सप्ताह तक रहती है। इसमें रोगी का मुख पीला पड़ जाता है। कई बार इससे मूकता, एकांगघात या अर्धांगघात की अवस्था भी उपद्रव के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हो सकती है। नेत्रपेशी का घात या अन्य अवयवों की नाड़ियों पर असर पड़ने से उन उन अवयवों की विकृति या विनाश होने की सम्भावना रहती है।

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे च मूर्च्छिताः ॥ १६ ॥
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम् ।
स शिरो विषवद्वेगी रुणद्ध्याशु गलं तथा ॥ १७ ॥
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय च कारयेत् ॥ १८ ॥

इति शिरोरोगनिदानम् ॥

शंखक शिरोरोग—रक्त, पित्त तथा वात शंख प्रदेश में आपस में मिलकर भयंकर वेदना, दाह तथा लालिमा से युक्त तीव्र शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। विष के सदृश भयंकर वेगवाला वह शोथ शीघ्र ही शिर तथा ग्रीवा को अवरुद्ध करके तीन दिन में ही रोगी के प्राण को नाश कर देता है। इस रोग को 'शंखक' कहते हैं। शंखक का रोगी यदि तीन दिन के बाद भी जीवित रह जाय तो प्रत्याख्यान-पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए ॥ १६-१८ ॥

विमर्शः—शंखक रोग में रक्त, पित्त तथा वात के साथ कफ का भी सम्बन्ध रहता है ऐसा—[1]सुश्रुताचार्य मानते हैं। यह रोग तीन रात्रि के अन्दर साध्य हो सकता है किन्तु यदि इसका उपचार अच्छी तरह किया जाय

१. शंखाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुतापः कफपित्तरक्तैः ॥ (सुश्रुत)

किन्तु तीन रात्रि के बाद असाध्य हो जाता है। विदेह का[1] भी यही मन्तव्य है।

शंखक रोग में निम्नलिखित विशेष लक्षण मिलते हैं। जिसके आधार पर अन्य शिरोरोग से विभक्त किया जा सकता है।

(क) शंखक में वेदना केवल शंख प्रदेश में होती है।

(ख) इस वेदना का स्वरूप अत्यधिक भयंकर होता है।

(ग) इसमें मूर्च्छा होती है।

(घ) इसकी अवधि केवल तीन रात्रि है।

(च) इसमें उष्ण स्वेदन वर्जित है।

(छ) इसमें विषमयता के कारण ज्वर तथा प्यास उत्पन्न होती है।

शिरोरोग-निदान समाप्त।

अथातः शिरोरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

शिरोरोग-निदान के बाद इसकी चिकित्सा कहते हैं।

वातशिरोरोगे सामान्यचिकित्सा—

वातिके शिरसो रोगे स्नेहस्वेदान् सनावनान्।
पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान्॥ १९॥

वातिक शिरोरोग में सामान्य चिकित्सा—वातजन्य शिरोरोग में स्नेहन, स्वेदन, नावन, वातनाशक पान तथा आहार का सेवन, एवं उपनाह कर्म करना चाहिए॥ १९॥

विमर्शः—नस्त कर्म (नस्य कर्म) के पाँच भेद होते है—१ नावन, २ अवपीड, ३, ध्मापन, ४ धूम तथा ५ प्रतिमर्श।

नावनः—नावन या नस्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। नावन या नस्य एक साधारण क्रिया है। साधारण रीति से किसी हल्के चोभक द्रव्यों का

---

१. चीयते तु यदा पित्तं शंखयोरनिलाचितम्।
निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्वणम्॥
ततः शंखौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना।
सूचिभिरिव तुद्येते निकृत्येत इवासिना॥
शंखको नाम शिरसि व्याधिरेष सुदारुणः।
तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत्॥
कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्री रेव जीवति॥ (विदेहः)

नासाविवर में प्रविष्ट करना जिससे नासिका का स्नेहन या शोधन सामान्य रीति से हो जाय। उसे 'नावन' कहते हैं।

अवपीडन—पिप्पली-सैन्धव प्रभृति द्रव्यों का कल्क या ताजा ही पीस-कर उसका रस निकालकर उसको नाक में बूंद-बूंद करके टपकाने को 'अव-पीडन' नस्य कहते है हैं। शोधन करने के लिये तीक्ष्ण औषधों के स्वरस को नाक में टपकाते है तथा स्रोतों को स्तम्भन करने के लिये शीतवीर्य औषधों के कल्क का रस निकालकर नासिका में टपकाते हैं। जैसे नासागत रक्तस्राव में दूर्वा का स्वरस टपकाना हितकर होता है।

ध्मापन :—तीक्ष्ण, उष्ण एवं क्षोभक 'द्रव्यों के चूर्ण को नाड़ी द्वारा फूककर नासारन्ध्र में प्रवेश कराने की प्रक्रिया को 'ध्मापन या प्रधमन' कहते हैं। इससे शिरोगुहा का शोधन या विरेचन कराया जाता है।

धूम—नासिका के छिद्र से धूम का प्रयोग करना 'धूम नस्य' कहलाता है। मुख के द्वारा धूमपान को धूमनस्य नहीं कह सकते। इसका प्रयोजन वाय-वीय पदार्थों के द्वारा शिरोविरेचन करना है।

प्रतिमर्श—इसका प्रयोग दोषरहित अवस्था में किया जाता है। इसका प्रयोजन श्लैष्मिक कला का स्नेहनमात्र करना है। अङ्गुली को तैल या किसी स्नेहन में भिगो कर नासिका के छिद्र में डालकर तैल को ऊपर की ओर खींचने को 'प्रतिमर्श' नस्य कहते हैं। इससे शिरः-कपाल दृढ़ होते हैं। नाक के द्वारा थोड़े उच्छिङ्घन (ऊपर की तरफ खींचना) से तैल ऊपर को आकर मुख में आजाय तब प्रतिमर्श कर्म को पूरा हुआ समझना चाहिए। ये पांच [1]नस्त-कर्म हैं।

वातशिरोरोगे माषादियोगः—

माषमुद्गकुलत्थानामेकं स्विन्नं घृतान्वितम्।
अनु कोष्णं पयो भुक्त्वा स्वपेद्वातशिरोर्तिषु ॥ २० ॥

वातजन्य शिरोरोग में माषादि योग—वातजन्य शिरोरोग में माष, मूंग तथा कुलथी में से किसी एक को उबाल कर घृत में भूनकर गरम दूध के साथ भक्षण कर सो जाय। इसके सेवन से वातजन्य शिरोरोग नष्ट होता है ॥ २० ॥

वातशिरोरोगे कुष्ठादिलेपः—

कुष्ठमेरण्डमूलं च लेपात्काञ्जिकपेषितम्।
शिरोर्ति नाशयत्याशु पुष्पं वा मुचकुन्दजम् ॥ २१ ॥

---

१. नावनञ्चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्त कर्म तु पञ्चधा ॥ च० सि० ९ ॥

वातजन्य शिरोरोग में कुष्ठादि लेप—कूठ तथा एरण्ड का मूल काञ्जी के साथ पीसकर लेप करने से वातजन्य शिरःशूल को नाश करता है। या मुचकुन्द का पुष्प पीसकर लेप करने से वातिक शिरोरोग को नाश करता है ॥ २१ ॥

पित्तशिरोरोगे चन्दनादिलेपः—

चन्दनद्वयसंयुक्तैः कुष्ठबालककेसरैः।
क्षीराज्ययोजितैर्लेपः क्षिप्रं पित्तशिरोर्तिनुत् ॥ २२ ॥
पञ्चमूलीशृतं क्षीरं नस्यं दद्याच्छिरोगदे।

पित्तज शिरोरोग में चन्दनादि लेप—सफेद चन्दन, रक्त चन्दन, कूठ, सुगन्धबाला तथा नागकेशर समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर दूध तथा घृत मिलाकर लेप करे। यह लेप शीघ्र ही पित्तजन्य शिरःशूल को दूर करता है। शिरोरोग में पञ्चमूली (बेल की छाल, गम्भारी, अरलू, पाढ़ल, अरणी) के क्वाथ से सिद्ध दुग्ध का नस्य दे। यह पित्तजन्य शिरोरोग को नष्ट करता है।

शिरोवस्तिविधिः—

आशिरो व्यायतं चर्म षोडशाङ्गुलमुच्छ्रितम् ॥ २३ ॥
तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत्।
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलमुष्णं प्रपूरयेत् ॥ २४ ॥
धारयेदा रुजः शान्त्यै यामं यामार्धमेव वा।
शिरोबस्तिर्जयत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम् ॥ २५ ॥
हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मूर्धकम्पनम्।

शिरोवस्ति देने की विधि—शिर के परिधि के प्रमाण का लम्बा तथा सोलह अंगुल ऊंचा चर्म का पट्टा लेकर उसको कनपटी के थोड़े ऊपर से शिर के चारो तरफ लपेट कर नीचे शिर के चर्म तथा चर्मपट्ट की सन्धियों को उड़द के आटे की पिट्ठी से बन्द कर दे और रोगी को अच्छी तरह सीधा बैठाकर दोषानुसार रोगनाशक औषधों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध मन्दोष्ण तैल को चर्मपट्ट-निर्मित आलवाल (क्वारी में) भर दे और एक पहर या आधा पहर अथवा जब तक पीड़ा शान्त न हो तबतक रोगी उसे धारण किये रहे। यह शिरोवस्ति वातजन्य शिरोरोग, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, नेत्र तथा कर्ण की वेदना, अर्दित रोग (मुख का टेढ़ा होना 'लकवा') और शिराकम्प को नष्ट करता है।

तैलेनापूर्य मूर्धानं पञ्च मात्राशतानि च ॥ २६ ॥
तिष्ठेच्छ्लेष्मणि पित्तेऽष्टौ दश वाते शिरोगदी।
एष एव विधिः कार्यस्तथा कर्णाक्षिपूरणे ॥ २७ ॥

शिरोवस्ति में तैल भर देने के बाद कफज शिरोरोग में पांच सौ मात्रा उच्चारण काल, पित्तज शिरोरोग में आठ सौ मात्रा उच्चारण काल तथा वातज शिरोरोग में एक हजार मात्रा उच्चारण काल तक तैल को धारण करे। इसी प्रकार आंख एवं कान में भी दवा भरने के बाद दोषों के अनुसार इतने ही समय तक दवा को धारण करना चाहिए॥ २६–२७ ॥

पित्तशिरोरोगे शतावर्यादिलेपः—

शतावरीकुष्ठतिल मधूकं नीलमुत्पलम्।
दूर्वां पुनर्नवां चापि लेपं साध्ववचारयेत्॥ २८॥

पित्तजन्य शिरोरोग में शतावर्यादिलेप—पित्तजन्य शिरोरोग में शतावरी, कूठ, तिल, मधूक (महुआ का फूल), नीलकमल, दूर्वा तथा पुनर्नवा समभाग—इन द्रव्यों का लेप अच्छी तरह करे। यह लेप पित्तज शिरःशूल को नाश करता है॥ २८॥

पित्तशिरोरोगे कतिपययोगाः—

शीततोयानुपानं च क्षीरसेकांश्च शीतलान्।
पित्तात्मके शिरोरोगे स्निग्धं सम्यग्विरेचयेत्॥ २९॥
मृद्वीकात्रिफलेक्षूणां रसैः क्षीरैर्घृतैरपि।

पित्तज शिरोरोग में कुछ योग—पित्तजन्य शिरोरोग में शीतलजल का अनुपान, शीतल दूध का सेक करना चाहिए, और स्नेहन करने के बाद मुनक्का, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा गन्ना के रस से, दूध से तथा घृत से अच्छी तरह विरेचन कराये।

शर्कराक्षीरसलिलैः शिरश्च परिषेचयेत्॥ ३०॥

शक्करमिश्रित दूध तथा जल से शिर के ऊपर अभिषेक करे॥ ३०॥

सर्पिषः शतधौतस्य शिरसा धारणं हितम्।
निमज्जनं च शिरसः शीतले शस्यतेऽम्भसि॥ ३१॥

शतधौत (सौ बार जल से धोया हुआ) घृत को शिर पर धारण करना हितकर होता है तथा शीतल जल में शिर को डुबाना (शीतलजल से सिर धोना) प्रशस्त है॥ ३१॥

कुमुदोत्पलपद्मानां शीतानां चन्दनाम्बुभिः।
स्पर्शाः सुखाश्च पवनाः सेव्या दाहार्तिशान्तये॥ ३२॥

पित्तज शिरोरोग में दाह तथा पीड़ा की शान्ति के लिये श्वेतकमल, नीलकमल तथा पद्म को चन्दन के जल के साथ शीतल स्पर्श तथा सुखप्रद वायु का सेवन करे॥ ३२॥

पित्तशिरोरोगे चन्दनादिलेपः—

चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः ।
क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥ ३३ ॥

पित्तज शिरोरोग में चन्दनादिलेप—सफेदचन्दन, खस, मुलेठी, वरियार, व्याघ्रनख (नखवृक्ष) तथा नीलकमल समभाग—इन द्रव्यों को दूध से पीसकर लेप करना या इन द्रव्यों के क्वाथ से अभिषेक करना पित्तज शिरोरोग में प्रशस्त है ॥ ३३ ॥

पित्तशिरोरोगे मृणालादिलेपः—

मृणालबिसशालूकचन्दनोत्पलकेसरैः ।
स्निग्धशीतैः शिरो दिह्यात्तद्वदामलकोत्पलैः ॥ ३४ ॥

पित्तजशिरोरोग में मृणालादिलेपः—कमल का नाल, कमल का तन्तु, कमल का मूल (कन्द), सफेदचन्दन, नीलकमल का केशर समभाग—इन द्रव्यों का कल्क बनाकर एवं घृत मिलाकर शिर के ऊपर पित्तज शिरोरोग में लेप करे। इसी प्रकार आंवला तथा नीलकमल के कल्क का लेप करे। यह शिर के दाह को शान्त करता है ॥ ३४ ॥

पित्तशिरोरोगे यष्ट्यादिघृतम्—

यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम् ।
नावनं शर्कराद्राक्षामधुकैर्वापि पित्तजे ॥ ३५ ॥

पित्तज शिरोरोग में यष्ट्यादिघृत—पित्तजन्य शिरोरोग में जेठीमधु, सफेद चन्दन तथा अनन्ता (दूर्वा) समभाग—इन द्रव्यों के कल्क तथा दूध के साथ सिद्ध घृत हितकर होता है। अथवा पैत्तिक शिरःशूल में शक्कर, मुनक्का, एवं मुलेठी का नावन (नस्य लेना) भी हितकर होता है ॥ ३५ ॥

रक्तजशिरोरोगप्रतीकारः—

रक्तजे पित्तवत्सर्वं भोजनालेपसेचनम् ।
शीतोष्णयोश्च व्यत्यासो विशेषाद्रक्तमोक्षणम् ॥ ३६ ॥

रक्तजन्य शिरोरोग का प्रतिकार—रक्तज शिरोरोग में भोजन, आलेपन तथा अवसेचन आदि सभी कार्य पैत्तिक शिरोरोग के तरह करे और क्रमशः बारी-बारी से शीतोपचार तथा उष्णोपचार करे। विशेष कर इस में रक्तमोक्षण कराना हितकर होता है ॥ ३६ ॥

कफजशिरोरोगप्रतीकारः—

कफजे लङ्घनं स्वेदो रूक्षोष्णैः पाचनात्मकैः ।
तीक्ष्णावपीडधूमाश्च तीक्ष्णाश्च कवला हिताः ॥ ३७ ॥

कफज शिरोरोग का प्रतिकार—कफज शिरोरोग में उपवास, स्वेदन, रूक्ष-

उष्ण, और आमदोष तथा कफ को पचानेवाले दशमूलादि द्रव्यों के क्वाथादि का सेवन, तीक्ष्ण द्रव्यों का अवपीडन (तीक्ष्ण द्रव्यों के स्वरस का नासारन्ध्र में टपकाना) नासिका द्वारा धूम्र सेवन तथा तीक्ष्ण द्रव्यों का कवल (कुल्ला) धारण करना हितकर होता है ॥ ३७ ॥

अच्छं च पाययेत्सर्पिः पुराणं स्वेदयेत्तथा ।
मधूकसारेण शिरः स्विन्नं चास्य विरेचयेत् ॥ ३८ ॥

कफजन्य शिरोरोग से पीडित व्यक्ति को नवीन घृत-पान कराये और पुराने घृत से स्वेदन करे। इस व्यक्ति को मधूकसार (महुए की छाल की क्वाथ) से सिर का स्वेदन कराने के बाद विरेचन कराये ॥ ३८ ॥

कफजशिरोरोगे कृष्णादिलेपः—

कृष्णाब्दशुण्ठीमधुकशताह्वोत्पलवालुकैः ।
जलपिष्टैः शिरोलेपः सद्यः शूलनिवारणः ॥ ३९ ॥

कफज शिरोरोग में कृष्णादिलेप—छोटी पीपर, मोथा, सोंठ, मुलेठी, सोया (या सौंफ), नीलकमल, वालुक (एलवालु) समभाग—इन द्रव्यों को जल में पीसकर कफज शिर-शूल में लेप करने से शिर का शूल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

कफजशिरोरोगे देवदार्वादिलेपः—

देवदारु नतं कुष्ठं नलदं विश्वभेषजम् ।
लेपः काञ्जिकसंपिष्टस्तैलयुक्तः शिरोर्तिनुत् ॥ ४० ॥

कफज शिरोरोग में देवदार्वादिलेप—देवदारु, नत (तगर), कूठ, नलद (जटामांसी) तथा सोंठ—इन द्रव्यों के चूर्ण का कांजी में पीसा हुआ लेप तैल मिलाकर लेप लगाने से कफजन्य शिरारोग को दूर करता है ॥ ४० ॥

कफजशिरोरोगे सरलादिलेपः—

सरलामरदार्वम्बुकुष्ठगन्धतृणैः समैः ।
सक्षारलवणैः पिष्टैर्लेपः कफशिरोर्तिहा ॥ ४१ ॥

कफज शिरोरोग में सरलादिलेप—सरल (चीढ़), अमरदारु (देवदारु), अम्बु (सुगन्धबाला), कूठ तथा गन्धतृण (सुगन्धितृण विशेष) समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण एवं यवक्षार तथा सेन्धानमक जल में पीसकर लेप लगाने से कफज शिरोरोग को नाश करता है ॥ ४१ ॥

सान्निपातिकशिरोरोगचिकित्सा—

सन्निपातोद्भवे कार्या दोषत्रयहिता क्रिया ।
सर्पिःपानं विशेषेण पुराणं च दिशन्ति हि ॥ ४२ ॥

सान्निपातिक शिरोरोग की चिकित्सा—सन्निपातजन्य शिरोरोग में वातज, पित्तज तथा कफज शिरोरोग को शान्त करनेवाली क्रिया (उपचार) को करना चाहिए। इस रोग में वैद्यगण विशेषकर पुराने घृत को पान करने के लिये बताते हैं ॥ ४२ ॥

सान्निपातिकशिरोरोगे श्यामादिलेपः—

श्यामानागरसंमिश्राच्छ्वेतचन्दनतः क्षणात् ।
नाशं याति त्रिदोषोत्था शिरोर्तिः संप्रलेपनात् ॥ ४३ ॥

सान्निपातिक शिरोरोग में श्यामादिलेप—श्यामा (कालानिशोथ), सोंठ तथा श्वेतचन्दन को जल में पीसकर अच्छी तरह लेप करने से सान्निपातिक शिरोरोग शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

सान्निपातिकशिरोरोगे कुष्ठादिलेपः—

सकुष्ठशुण्ठीमधुकैः शताह्वोत्पलमागधैः ।
जलपिष्टैः शिरोलेपः सद्यः शूलनिवारणः ॥ ४४ ॥

सान्निपातिक शिरोरोग में कुष्ठादिलेप—कूठ, सोंठ, मुलेठी, सोया का बीज या सौंफ, नीलकमल तथा मागध (सफेद जीरा) समभाग—इन द्रव्यों को जल में पीसकर शिर पर लेप करने से सान्निपातिक शिरःशूल दूर होता है ॥ ४४ ॥

शिरोरोगे नस्यम्—

शर्करा कुङ्कुमं नस्यं घृतभृष्टं शिरोर्तिजित् ।

शिरोरोग में नस्य—कुंकुम (केशर) घृत में भूनकर तथा महीन पीसकर शक्कर मिलाकर नस्य लेने से शिरःशूल को जीत लेता है ।

त्रिफलां च निषेवेत त्रिभागघृतमूर्च्छिताम् ॥ ४५ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के चूर्ण में तीन भाग घृत मिलाकर सेवन करने से शिरोरोग नष्ट होता है ॥ ४५ ॥

त्रिकटुपुष्पकरबीजकरजनीरास्नातुरङ्गगन्धानाम् ।
क्वाथः शिरोर्तिजालं नासापीतो निवारयति ॥ ४६ ॥

त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), पुष्पकर (मुचकुन्द का फूल) बीजक (विजयसार), हल्दी, रासन तथा तुरङ्गगन्धा (अश्वगन्धा) समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ नासिका द्वारा पान करने से शिरोरोग के समूहों को दूर करता है ॥ ४६ ॥

नागरकल्कविमिश्रं क्षीरं नस्येन योजितं पुंसाम् ।
नानादोषोद्भूतां नाशयति शिरोरुजं तीव्राम् ॥ ४७ ॥

नागर (सोंठ) का कल्क दूध में मिलाकर नस्य लेने से पुरुषों के अनेक दोषों से उत्पन्न भयंकर शिर:शूल को नाश करता है ॥ ४७ ॥

शिरोरोगे शताह्वादितैलम्—

शताह्वैरण्डमूलोग्रावक्रव्याघ्रीफलैः शृतम् ।
तैलं नस्यान्मरुच्छ्लेष्मतिमिरोर्ध्वगदापहम् ॥ ४८ ॥

शिरोरोग में शताह्वादि तैल—शताह्वा (सोया का बीज या सौंफ), एरण्ड की जड़, उग्रा (वच), वक्र (तगर), व्याघ्रीफल (भटकटैया का फल) समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ सिद्ध तेल नस्य देने से वातज-पित्तज शिरोरोग तथा तिमिररोग को दूर करता है । (तिल तैल एक सेर, पूर्वोक्त द्रव्यों का कल्क एक पाव तथा जल चार सेर लेकर मन्द आंच से तैल सिद्ध करना चाहिए) ॥ ४८ ॥

शिरोरोगे जीवकाद्यं तैलम्—

जीवकर्षभकद्राक्षासितायष्टीबलोत्पलैः ।
तैलं नस्यं पयः पक्वं वातपित्ते शिरोगदे ॥ ४९ ॥

शिरोरोग में जीवकाद्य तैल—जीवक, ऋषभक, मुनक्का, मिश्री, मुलेठी, बरियार तथा नील कमल, समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल-निर्माण-विधि के अनुसार गाय का दूध मिलाकर पकाया हुआ तैल का वात-पित्तज शिरोरोग में नस्य दे । यह वात-पित्तज शिरःशूल को नाश करता है ॥ ४९ ॥

जीवकर्षभकौ द्राक्षा मधूकं मधुकं बला ।
नीलोत्पलं चन्दनं च विदारी शर्करा तथा ॥ ५० ॥
तैलप्रस्थं पचेदेभिः शनैः पयसि षड्गुणे ।
जाङ्गलस्य तु मांसस्य तुलार्धस्य रसेन तु ॥ ५१ ॥
सिद्धमेतद्भवेन्नस्यं तैलमर्धावभेदकम् ।
बाधिर्यं कर्णशूलं च तिमिरं गलशुण्डिकाम् ॥ ५२ ॥
वातिकं पैत्तिकं चैव शीर्षरोगं नियच्छति ।
दन्तचालं शिरःशूलमर्दितं चापकर्षति ॥ ५३ ॥

जीवक, ऋषभक, मुनक्का, महुआ का फूल, मुलेठी, बरियार, नील कमल का फूल, श्वेत चन्दन, विदारीकन्द तथा शक्कर समभाग इन द्रव्यों के कल्क (तैल के चौथाई) के साथ छः गुने दूध (छः सेर) में तिल-तैल एकप्रस्थ (एक सेर) मन्द आंच में पकावे और जंगली पशु का मांसरस आधा तुला (पचास पल) मिला दे । इन सब द्रव्यों से तैल-निर्माणविधि के अनुसार सिद्ध तैल अर्धावभेदक शिरोरोग के लिये नस्य होती है । अर्थात् इसका नस्य अर्धावभेदक (आधा शीशी) को नष्ट करता है । यह तैल बाधिर्य (कान का

बहरापन), कान का शूल, तिमिररोग (नेत्र दृष्टि-भागगतरोग 'मोतियाबिन्द'), गलशुण्डिका (घाटी बढ़ना 'घुंडी पकड़ना') वातिक तथा पैत्तिक शिरोरोग को दूर करता है और दांत का हिलना, शिरःशूल तथा अर्दित (लकवा) को नाश करता है ॥ ५०-५३ ॥

अत्र षड्बिन्दुतैलमपि श्रेष्ठम् ॥

शिरोरोग में [1]षड्बिन्दु तैल भी श्रेष्ठ होता है।

क्षयजशिरोरोगप्रतीकारः—

क्षयजे क्षयसामान्यः कर्तव्यो बृंहणो विधिः।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम् ॥ ५४ ॥

क्षयज शिरोरोग में क्षय को दूर करनेवाले सामान्य बृंहण विधि (जिस धातु का क्षय हुआ हो उसको बढ़ाने की क्रिया) को करना चाहिए और वातनाशक मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत-पान तथा नस्य कर्म के लिये प्रयोग करने से क्षयजन्य शिरोरोग को नष्ट करता है ॥ ५४ ॥

क्रिमिजशिरोरोगप्रतीकारः—

कृमिजे व्योषनक्ताह्वशिग्रुबीजैश्च नावनम्।
भुजस्तम्भादिरोगेषु सर्वेषूर्ध्वगदेषु च।
सारिवोत्पलयष्ट्याह्वकुष्ठैर्लेपोऽम्लसंयुतैः ॥ ५५ ॥

क्रिमिजन्य शिरोरोग में प्रतिकार—क्रिमिजन्य शिरोरोग में व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), नक्ताह्व (कलिहारी या हल्दी), तथा सहिजन का बीज, समभाग इन द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण से नावन (नस्य) देना प्रशस्त है। इसी प्रकार इन द्रव्यों का नावन तथा सारिवा, नील कमल, मुलेठी, कूठ तथा अम्ल (इमली) इन द्रव्यों को जल में पीसकर भुजस्तम्भ, हनुस्तम्भ आदि रोगों में एवं सभी प्रकार के ऊर्ध्वाङ्ग रोगों में लेप करना प्रशस्त है। अर्थात् यह लेप सभी प्रकार के ऊर्ध्वाङ्गगत शिरःशूलादि रोगों एवं भुजस्तम्भादि रोगों को नाश करता है ॥ ५५ ॥

सूर्यावर्तार्धावभेदयोश्चिकित्सा—

घृतपूरादिसेवा च सूर्यावर्तार्धभेदयोः।
सूर्यावर्ते विधातव्यं नस्यकर्मादि भेषजम् ॥ ५६ ॥
पायसं सगुडं सर्पिर्घृतपूरांश्च भक्षयेत्।

सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेदक की चिकित्सा—सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेदक शिरोरोग में घृतपूर (घी की पूड़ी या पूआ) को सेवन करना हितकर है।

---

१. देखे ग० नि० प्र० खण्ड पृ० सं० १०४ में देखे।

सूर्यावर्त शिरोरोग में नस्य कर्म आदि तथा शिरोरोग-नाशक औषधों को सेवन करना चाहिए, और पायस (खीर) गुड़ मिश्रित घृत तथा घी की पूड़ी या पूआ (पूड़ा) को भक्षण करे।

सूर्यावर्ते शिरावेधो नावनं क्षीरसर्पिषः ॥ ५७ ॥
हितः क्षीरघृताभ्यासस्ताभ्यां चैव विरेचनम् ।

सूर्यावर्त शिरोरोग में शिरावेध (शिरा को छेदन कर रक्त निकालना) दूध तथा घृत से नावन (नस्य कर्म) दूध तथा घृत का सेवन एवं दूध एवं घृत से विरेचन कराना हितकर होता है।

क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते ॥ ५८ ॥

सूर्यावर्त में तिल को दूध में पीसकर तथा [1]जीवनीय द्रव्यों को दूध में पीसकर उसके पुल्टिस से स्वेदन करना प्रशस्त है ॥ ५८ ॥

सूर्यावर्तार्धावभेदयोर्नस्ययोगाः—

सशर्करं कुङ्कुमकाज्यभृष्टं नस्यं विधेयं पवनास्रगुत्थे ।
भ्रूशङ्खकर्णाक्षिशिरोऽर्धशूले दिनाभिवृद्धिप्रभवे च रोगे ॥५९॥

सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेदक में नस्य योग—कुङ्कुम (केशर) को घृत में भूनकर शक्कर मिलाकर, इसका नस्य वातज तथा रक्तज शिरःशूल, भृकुटी (भौं) शूल, शंखक, शिरःशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल, शिरःशूल, अर्ध शूल (अर्धावभेदक) तथा दिनाभिवृद्धि-प्रभव (दिन के बढ़ने के साथ बढ़नेवाले) सूर्यावर्तक नामक शिरोरोग में सेवन करे ॥ ५९ ॥

माषमूलस्य नस्येन किंवा श्वेतापराजिता- ।
रसोनस्य शिरःपीडा ध्रुवं हन्त्यतिवेगतः ॥ ६० ॥
सर्वस्मिन् वा शिरोरोगे गुञ्जामूलस्य नावनम् ।
अर्धशीर्षः शमं गच्छेत्पाठामूलस्य नस्यतः ॥ ६१ ॥
शिरीषमूलकफलैरवपीडं च योजयेत् ।
अवपीडो हितो वा स्याद्वचापिप्पलिभिः कृतः ॥ ६२ ॥

माष (उड़द या वन उड़द) की जड़ या सफेद अपराजिता तथा रसोन (लहसुन) इन द्रव्यों का नस्य शिर की पीड़ा को वेगपूर्वक अवश्य ही नाश करता है। अथवा गुञ्जा (रक्त का) की जड़ का नावन सभी प्रकार के शिरोरोग में हितकर होता है। पाठा (पाढ़ी) की जड़ के चूर्ण का नस्य लेने से अर्धशीर्ष (आधाशीशी-अर्धावभेदक) शान्त हो जाता है। शिरीष, मूली

---

१. जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी ये जीवनीय गण हैं।

तथा मदन फल को पीसकर और निचोड़ कर रस निकाल ले और उससे शिरोरोग में अवपीडन (नासारन्ध्र में बूंद-बूंद टपकाना) का प्रयोग करे। अथवा वच तथा पीपर के कल्क के रस से अवपीडन करना हितकर होता है।

शालिपर्ण्यम्भसा क्षिप्रं नस्यमर्धावभेदजित्।
चक्रमर्दकबीजैर्वा लेपः काञ्जिकपेषितैः॥ ६३॥
महौषधाख्यसुरसवचापिप्पलिभिः कृतः।
अवपीडः प्रदातव्यः सूर्यावर्तनिषूदनः॥ ६४॥

शालिपर्णी (सरिवन) के रस से नस्य देना अर्धावभेदक (आधा शीशी) को शीघ्र ही जीत लेता है। अथवा चक्रमर्द (चकवड़) के बीज को काञ्जी के साथ पीसकर लेप करना आधा शीशी को जीत लेता है। महौषधाख्य (सोंठ या लहसुन), तुलसी का बीज, वच तथा पीपर—इन द्रव्यों के कल्क के रस का अवपीडन दे—इन द्रव्यों के रस को नासारन्ध्र में टपकावे) यह अवपीड सूर्यावर्त्त को दूर करता है॥ ६३-६४॥

सूर्यावर्ते उपनाहः—

जाङ्गलानि तु मांसानि कारयेदुपनाहनम्।
तेनास्य शाम्यते व्याधिः सूर्यावर्तः सुदारुणः॥ ६५॥

सूर्यावर्त में उपनाह—जंगली पशुओं के मांस का उपनाहन करें। इस मांस के उपनाहन[1] से भयंकर सूर्यावर्त रोग शान्त हो जाता है॥ ६५॥

सूर्यावर्तार्धावभेदयोर्मुण्डितिकायोगः—

पीत्वा मुण्डितिकोत्थ स्वरसं मरिचावचूर्णितं चोष्णम्।
भक्तादौ सप्ताहात्सूर्यावर्तार्धभेदकौ हन्यात्॥ ६६॥

सूर्यावर्त तथा अर्धावभेदक में मुण्डितिकायोग—मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) के स्वरस को मरिच मिलाकर थोड़ा गरम कर भोजन के पहले पान करें। इसका सेवन करनेवाला सूर्यावर्त तथा अर्धावभेदक को एक सप्ताह में नाश करता है॥ ६६॥

क्षयजशिरोरोगप्रतीकारः—

एष एव प्रयोक्तव्यः शिरोरोगे क्षयात्मके।
पिबेत्सशर्करं क्षीरं नीरं वा नालिकेरजम्॥ ६७॥
सुशीतं चापि पानीय सर्पिर्वा नस्यतस्तयोः।

क्षयज शिरोरोग का प्रतिकार—क्षयजन्य शिरोरोग में पूर्वोक्त सूर्यावर्त एवं अर्धावभेदक के शान्त्यर्थ बताई गई विधियों का प्रयोग करे। शक्कर मिलाकर

---

१. पुल्टिस बाँधना।

दूध का पान करे या नारियल का जल पीवे। अथवा ठंढा पानी पीवे। या दूध एवं नारियल के जल से सिद्ध घृत का अवपीडन नस्य दे। यह प्रयोग क्षयज शिरोरोग को नाश करता है।

क्रिमिजशिरोरोगे विडङ्गादितैलम्—

विडङ्गस्वर्जिकादन्तीहिङ्गुगोमूत्रसंयुतम् ॥ ६८ ॥
संपक्कं सार्षपं तैलं क्रिमिघ्नं नस्यमुत्तमम् ।

क्रिमिजन्य शिरोरोग में विडङ्गादितैल—वायविडङ्ग, सज्जीखार, दन्ती, हींग तथा गोमूत्र—इन द्रव्यों को मिलाकर (तैल-निर्माण विधि के अनुसार) सभी द्रव्यों को लेकर सरसों का तैल पकावें और इस क्रिमिघ्न उत्तम नस्य का प्रयोग करे। (सरसों का तैल एक सेर, कल्क द्रव्य तथा गोमूत्र चार सेर ग्रहण करना चाहिए)। अर्थात् यह तैल क्रिमिजन्य शिरोरोग को नाश करता है।

करवीरार्कमूलत्वग्द्रवन्तीगजपिप्पली- ॥ ६९ ॥
सिद्धं शिग्रुकतैलेन नस्यं क्रिमिविनाशनम् ।

करवीर (कनेर) तथा मदार की जड़ की छाल, द्रवन्ती और गजपीपर—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध सहिजन के तैल का अवपीडन नस्य देने से क्रिमिजन्य शिरोरोग नष्ट होता है। (सहिजन एक सेर, कल्क एकपाव, तथा गोमूत्र या जल चार सेर (ग्रहण) करे।

अनन्तवातचिकित्सा—

अनन्तवाते कर्तव्यः सूर्यावर्तहितो विधिः ॥ ७० ॥
शिरावेधश्च कर्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये ।
आहारश्च विधातव्यो वातपित्तविनाशनः ॥ ७१ ॥

अनन्तवात की चिकित्सा—अनन्तवात शिरोरोग मे बताये गये लाभदायक विधियों का प्रयोग करे। अनन्तवात की शान्ति के लिये शिरावेध भी करे। इसी प्रकार वातपित्त-नाशक आहार-विहार एवं औषध का सेवन करे ॥ ७०–७१ ॥

शंखकचिकित्सा—

सूर्यावर्ते हितं यच्च शङ्खके स्वेदवर्जितम् ।
क्षीरसर्पिः प्रशंसन्ति मस्तुपानं च शङ्खके ।
कल्कैश्च क्षीरवृक्षाणां शङ्खकस्य प्रलेपनम् ॥ ७२ ॥

शंखक की चिकित्सा—शंखक शिरोरोग में स्वेदनविधि को छोड़कर सूर्यावर्त में कहे गये सभी हितकर विधियों (आहार-विहार-औषध आदि) का

प्रयोग करे। शंखकरोग में क्षीर सिद्ध घृत तथा मस्तुपान (दही के तोड़ को पीना) की तथा क्षीरी वृक्षों के कल्क से शंखकप्रदेश को लेप करने की प्रशंसा वैद्यगण करते हैं। अर्थात् इस रोग में उपरोक्त विधियां लाभदायक होती हैं ॥ ७२ ॥

शंखके एकाष्ठीलादिलेपः—

एकाष्ठीला पुण्डरीकं मधुकं नीलमुत्पलम् ।
पद्मकं वेतसं मूर्वा लामज्जकमथापि वा ॥ ७३ ॥
दार्वी हरिद्रा मञ्जिष्ठा फेनिलोशीरमेव च ।
एतैरालेपनं कार्यं शंखकस्य विनाशनम् ॥ ७४ ॥

शंखक रोग में एकाष्ठीलादि लेप—एकाष्ठीला (पाढा 'पाढ़ी'), पुण्डरीक (प्रपौण्डरीक), मुलेठी, नीलकमल, पद्मक (पद्मकाठ), वेंत, मूर्वा (मरोड़फली या 'मोरवेल'), लामज्जक (पीयाबासा 'गुलाबकाढ़ा'), दारुहल्दी, हल्दी, मंजीठ, फेनिल (रीठा), करञ्ज तथा खस, इन द्रव्यों को पीसकर लेपन करना शंखक शिरोरोग को नाश करता है ॥ ७३-७४ ॥

एतान्येव तु सर्वाणि कषायमुपसाधयेत् ।
तेन शीतेन कर्तव्यं बहुशः परिषेचनम् ॥ ७५ ॥

इन्हीं सभी द्रव्यों को एकत्र कर कषायविधि के अनुसार कषाय सिद्ध करे और शीतल हो जाने पर अनेक बार अभिषेक करें। इससे शंखक रोग नष्ट होता है ॥ ७५ ॥

शंखके शिराव्यधः—

क्रौञ्चकादम्बहंसानां शरार्याः कच्छपस्य च ।
रसैः संबृंहितस्याथ तस्य शंखस्य सन्धिजाः ।
ऊर्ध्वं तिस्रः शिराः प्राज्ञो भिन्द्यादेव न ताडयेत् ॥ ७६ ॥

शंखकरोग में शिराव्यध—क्रौंच (क्रौंच-बक), कादम्ब (बालहंस, हंसपक्षी), शरारी (आड़ी पक्षी) तथा कछुआ—इन सबों के मांसरस से बृंहण किये गये व्यक्ति के शंखक रोग में शंखप्रदेश के ऊपर सन्धि में स्थित तीसरी सिरा को बुद्धिमान व्यक्ति भेदन करे। उसको ताडन (मर्दन) न करे। अर्थात् शिराभेदन कर रक्तमोक्षण कराये ॥ ७६ ॥

इन्द्रलुप्तप्रतीकारः—

मूलं शुक्रसुराया गोमूत्रेण संस्थितं त्र्यहं क्लिन्नम् ।
शमयति सुरेशलिप्तं गोमयघृतप्रलेपेन ॥ ७७ ॥

इन्द्रलुप्त-प्रतिकार—शक्रसुरा (इन्द्रवारुणी) की जड़ को गोमूत्र में तीन दिन तक भिगोकर तथा पीसकर गाय के घी में मिलाकर लेप करने से सुरेश-

लुप्त (इन्द्रलुप्त 'शिर के बाल का गिरना') शान्त हो जाता है। अर्थात् इससे शिर का बाल दृढ़ हो जाता है ॥ ७७ ॥

इन्द्रलुप्तापहो लेपो मधुना बृहतीरसः ।
गुञ्जामूलं फलं वाऽपि भल्लातकरसोऽथ वा ॥ ७८ ॥

मधु के साथ बृहती (बड़ी कटेरी) का रस या गुञ्जा (रत्ती) की जड़, फल का रस, अथवा भल्लातक का रस शिर पर लेप करने से इन्द्रलुप्त को नष्ट करता है ॥ ७८ ॥

भल्लातकैर्वा बृहतीफलैर्वा सुश्लक्ष्णपिष्टैरथ कृष्णलैर्वा ।
मूलैरमीषामथवा प्रलिप्तमल्पैर्दिनैः शाम्यति शक्रलुप्तम् ॥ ७९ ॥

भल्लातक का फल, बड़ी कटेरी का फल अथवा कृष्णल (कृष्णलक 'गुञ्जा') का फल महीन पीसकर अथवा इन द्रव्यों की जड़ सूक्ष्म पीसकर लेप करने से थोड़े ही दिनों में इन्द्रलुप्त शांत होता है ॥ ७९ ॥

प्रच्छानपूर्वं परिपिष्टगुञ्जामूलैः समालेपितमिन्द्रलुप्तम् ।
प्रणाशमायात्यचिरेण पुंसां पापं यथा जह्नुसुताभिषेकात् ॥ ८० ॥

गुञ्जा (घुंघुची) की जड़ को महीन पीसकर प्रच्छानपूर्वक लेप करने से मनुष्यों का इन्द्रलुप्त रोग शीघ्र ही नाश होता है। जैसे गंगा में स्नान करने से पाप नष्ट हो जाता है ॥ ८० ॥

दारुणकप्रतीकारः—

भागेन युक्तं मरिचेन यत्स्यात् काश्मीरजेन त्रिगुणेन तैलम् ।
अभ्यञ्जनात्तद्विनिहन्ति पुंसामल्पैर्दिनैर्दारुणकं सुघोरम् ॥ ८१ ॥

दारुणकरोग प्रतिकार—मरिच एक भाग, कश्मीरज (केशर) तीन भाग लेकर महीन पीसकर तैल में मिलाकर अभ्यञ्जन (शिर में लेप) करने से पुरुषों का भयंकर दारुणक (शिर से भूसी उतरना) रोग थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाता है ॥ ८१ ॥

यल्लोहकिट्टोत्पलसारिवाभ्यां समार्कवाभ्यां त्रिफलान्विताभ्याम् ।
विपच्यते तैलमपास्यति द्राक्छीर्षामयान् दारुणकादिकांस्तत् ॥८२॥

लोहकिट्ट (मण्डूर), उत्पल (नीलकमल), सारिवा (अनन्तमूल), मार्कव (भृङ्गराज) तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) समभाग इन द्रव्यों के कल्क जल के साथ तैल-निर्माणविधि के अनुसार पकाया हुआ तैल लेप करने से दारुणक आदि सभी प्रकार के शिरोरोगों को शीघ्र ही दूर करता है।

कोद्रवपलालसिद्धा मषी प्रलेपे प्रयोजिता शिरसः ।
अपहरति रोगमचिराद्दारुणमपि दारुणाभिख्यम् ॥ ८३ ॥

कोद्रव पलाल (कोदो के पुआल) से बनाई गई मषी (स्याही) शिर के

ऊपर लेप के लिये प्रयोग करने से भयङ्कर भी दारुणक (सिर से भूसी निकलना) रोग शीघ्र ही दूर होता है ॥ ८३ ॥

धात्रीफलारग्वधबालपत्रलाक्षाविमिश्रैः प्रपुनाटबीजैः ।
आलेपितो नाशमुपैति पुंसां सुदारुणो दारुणकः क्षणेन ॥ ८४ ॥

धात्रीफल (आंवला), आरग्वध (अमलतास) का मुलायम पत्ता, लाख तथा प्रपुनाटबीज (चकवड़ का बीज) समभाग इन द्रव्यों को पीसकर लेप करने से पुरुषों का भयंकर दारुणक रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ८४ ॥

चण्डामुरानतविषाणदलैर्हरिद्रा-
मुस्तान्वितैः शिरसि यः कुरुते प्रलेपम् ।
तस्योत्तमाङ्गमपहाय व्रजन्ति दूरं
केशद्रुहः सपदि दारुणकादिरोगाः ॥ ८५ ॥

चण्डा ('चोरा' नामकगन्धद्रव्यविशेष), मुरा (मुरामांसी), नत (तगर), विषाणदल (काकड़ासिंघी), हल्दी तथा नागरमोथा समभाग इन सभी द्रव्यों को पीसकर जो व्यक्ति सिर के ऊपर लेप करता है उस व्यक्ति के सिर को छोड़कर केश के शत्रु दारुणक आदि रोग शीघ्र ही दूर चले जाते हैं । अर्थात् यह लेप सभी प्रकार के दारुणक, इन्द्रलुप्त, खालित्य आदि शिरोरोगों को नष्ट करता है ॥ ८५ ॥

केशवृद्धिकराः कतिपययोगाः—

मांसी कुष्ठं तिलाः कृष्णाः सारिवा नीलमुत्पलम् ।
क्षौद्रं च क्षीरपिष्टानि लेपोऽयं केशवर्धनः ॥ ८६ ॥

केश को बढ़ानेवाले कुछ योग—जटामांसी, कूठ, काला तिल, सारिवा (अनन्तमूल) तथा नीलकमल, इन सभी द्रव्यों को दूध के साथ महीन पीसकर मधु मिलाकर तैयार किया हुआ लेप प्रयोग करने से सिर के केशों को बढ़ाता है ॥ ८६ ॥

भूतकेशी वटारोहा मूलं चैवातिमुक्तकम् ।
मासमात्रस्थितास्तैले केशवृद्धिकराः परम् ॥ ८७ ॥

भूतकेशी (जटामांसी), वटारोहा (वटांकुर), अतिमुक्तक (तिनिश) की जड़ इन सभी द्रव्यों को पीसकर एक मास तक तैल में रक्खे और लेप करे । यह लेप अच्छी तरह केश को बढ़ानेवाला है ॥ ८७ ॥

पुटदग्धभूतकेशीशृंगाटकबिडाललोमभिर्लेपः ।
मधुना शशरक्ताक्तः खलितेरपि बर्बरं कुर्यात् ॥ ८८ ॥

पुटपाक (शराव-सम्पुट में बन्द कर तथा कपड़मिट्टी) कर जलाये हुए, भूतकेशी (जटामांसी), सिंघाड़ा तथा बिलाव का बाल इन सबों को शरावसम्पुट

से निकाल तथा पीसकर, मधु तथा खरगोश के रक्त के साथ मिलाकर लेप करने से खलिति (खल्वाट) के सिर पर भी बाल उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् यह योग खालित्य (बाल का गिरना या झरना) को दूर करता है ॥ ८८ ॥

छगलीक्षीररसाञ्जनदग्धैणविषाणलेपनात्केशाः ।
रोहन्ति करतलेष्वपि किमुतान्यतमप्रदेशेषु ॥ ८९ ॥

बकरी का दूध, रसाञ्जन तथा जलाया हुआ मृगशृङ्ग, इन सबों को एक साथ पीसकर लेप तैयार करे। इस लेप को लगाने से हाथ के तलवा में भी बाल उग आते हैं। अन्य स्थानों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। अर्थात् इस लेप से गिरे हुए सिर के बाल निकल आते हैं तथा बढ़ते हैं ॥ ८९ ॥

मधुकाञ्जनतिलकुसुमैर्लोहिततर्कारिपुष्पसंयुक्तैः ।
साजक्षीरैर्लेपो नखेऽपि लोमोद्गमं कुरुते ॥ ९० ॥

मुलेठी, रसाञ्जन, तिल का फूल, लोहित (रक्तचन्दन), तर्कारी-पुष्प (अरणी का फूल)—इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीसकर लेप करने से नख में भी बाल उत्पन्न हो जाते हैं, अर्थात् इस लेप के लगाने से सिर के गिरे हुए बाल निकल आते हैं और बढ़ते हैं ॥ ९० ॥

कार्यो दारुणके मूर्ध्नि प्रलेपो मधुसंयुतः ।
पियालबीजमधुककुष्ठमाषैः ससैन्धवैः ॥ ९१ ॥

दारुणकरोग में सिर के ऊपर पियालबीज (चिरौंजी), मुलेठी, कूठ, माष (उड़दी), सेन्धानमक—इन द्रव्यों को पीस कर मधु मिलाकर लेप करे। इस लेप को लगाने से दारुणकरोग नष्ट होता है ॥ ९१ ॥

अरूंषिकायां कतिपययोगाः—

पुराणमथ पिण्याकं पुरीषं कुक्कुटस्य च ।
गोमूत्रपिष्टैर्लेपोऽयं शीघ्रं हन्यादरूंषिकाम् ॥ ९२ ॥

अरूंषिका में कुछ योग—पुराना पिण्याक (तिल की खल्ली) तथा मुर्गा का विष्ठा—इन दोनों द्रव्यों को गाय के मूत्र में पीस कर लेप करने से अरूंषिका (शिरोपिड़का) रोग शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ ९२ ॥

कटुतैलार्कदुग्धाभ्यां मर्दिता पुटपाकजा ।
माषचूर्णमषी हन्याच्छिरोरूंषि प्रलेपतः ॥ ९३ ॥

सरसों का तैल तथा मदार के दूध के साथ कूटकर और शराव-सम्पुट में जलाकर तथा पीसकर तैयार की हुई उड़द की स्याही का लेप लगाने से अरूंषिका (शिरःपिडका) रोग को नाश करता है ॥ ९३ ॥

कपालभृष्टं कुष्ठं वा चूर्णितं तैलसंयुतम् ।
रूंषिकालेपनं कण्डूक्लेददाहार्तिनाशनम् ॥ ९४ ॥

कपालभृष्टमाष (खपरी में भूनी हुई उड़द) या कूठ का महीन चूर्ण तैल में मिलाकर लेप करने से अरुंषिकारोग, खुजली, क्लेद, दाह तथा पीड़ा को नाश करता है ॥ ९४ ॥

पलिते कतिपययोगाः—

सम्यक्छुद्धतनूनां कृतत्रिफलोदकानुपानानाम् ।
अन्योऽभिधास्यमानः कार्यः पलिते प्रतीकारः ॥ ९५ ॥

पलितरोग में कुछ योग—वमन-विरेचनादि के द्वारा शरीर शुद्ध हो जाने पर त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के जल को सेवन करनेवाले व्यक्तियों के पलित (असमय में बाल का पकना) रोग में कहे जानेवाले अन्य प्रतिकार (उपाय) को करे ॥ ९५ ॥

काश्मर्यमूलसारप्रसूनफलपत्रतः कषायेण ।
कल्केनाक्षकतैलं पक्वं पलितापहं नस्यम् ॥ ९६ ॥

गम्भारी की जड़ के मध्यभाग की लकड़ी, फूल, फल तथा पत्ता के कषाय और कल्क के साथ पकाया हुआ बहेड़ा का तैल नस्य लेने से पलित रोग को नाश करता है (तैल एक सेर, कषाय चार सेर तथा कल्क एक पाव लेकर बहेड़ा का तैल पकाना चाहिए) ॥ ९६ ॥

भृङ्गराजरजो नीली त्रिफलाऽऽम्रास्थ्ययोरजः ।
पिष्टं हन्त्यारनालेन पलितं शीर्षलेपतः ॥ ९७ ॥

भृङ्गराज का चूर्ण, नीलीवृक्ष का चूर्ण, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) का चूर्ण, आम की गुठली का चूर्ण तथा लोहभस्म, ये द्रव्य आरनाल (कांजी) के साथ पीसकर सिर के ऊपर लेप करने से पलित रोग को नाश करते हैं ॥ ९७ ॥

मार्कवमुस्तादन्तीसहदेवालोहतुत्थकासीसैः ।
तैलं सकूर्मपित्तैः शृतमाक्षं पलितहृत् स्पर्शात् ९८ ॥

भृङ्गराज, नागरमोथा, दन्ती (जमालगोटे की जड़), सहदेइया की जड़, लौहभस्म, तूतिया, कासीस तथा कछुआ के पित्त के साथ पकाया हुआ बहेड़ा का तैल स्पर्श करने (लेप करने) से पलितरोग को दूर करता है ॥ ९८ ॥

अयोरजो भृङ्गरजस्त्रिफला कृष्णमृत्तिका ।
स्थितमिक्षुरसे मासं समूलं पलितं जयेत् ॥ ९९ ॥

लौहभस्म, भृङ्गराज का चूर्ण, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा काली मिट्टी—इन सभी द्रव्यों को गन्ना के रस में एक मास तक रखकर लेप करने से पलितरोग को जीत लेता है ॥ ९९ ॥

शिरोरोगे कार्पासमज्जादिनस्यम्—

कार्पासमज्जात्वङ्मुस्तं सुमनःकोरकाणि च ।
नस्यमुष्णाम्बुपिष्टानि सर्वमूर्धरुजापहम् ॥ १०० ॥

शिरोरोग में कार्पासमज्जादि लेप—कपास की मज्जा, फूल तथा कोरक (कली), दालचीनी और नागरमोथा—इन सभी द्रव्यों को गरमजल के साथ पीसकर नस्य लेने से सभी प्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं ॥ १०० ॥

खालित्ये कतिपययोगाः—

स्नुहीपयः पयोऽर्कस्य मार्कवो लाङ्गली विषम् ।
मूत्रमाजं सगोमूत्रं रक्तिका सेन्द्रवारुणी ॥ १०१ ॥
सिद्धार्थतीक्ष्णतैलं च गर्भं दत्त्वा विपाचितम् ।
वह्निना मृदुना पक्व तैलं खालित्यनाशनम् ॥ १०२ ॥

खालित्यरोग में कुछ योग—सेहुड का दूध, मदार का दूध, भृङ्गराज का चूर्ण, कलिहारी, वत्सनाभ, बकरी का मूत्र, गाय का मूत्र, रक्तिका (घुंघुची), इन्द्रवारुणी—इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर कल्क बनाने योग्य द्रव्यों को कल्क बनाकर (तैल के चौथाई) तथा द्रव पदार्थ (गोमूत्र-अजामूत्र आदि) को तैल के चौगुना लेकर सरसों के तैल का मन्द आँच से तीक्ष्ण (खरपाक) पाक पकावे। यह तैल लेप करने से खालित्यरोग (बाल का गिरना) को नाश करता है ॥ १०१–१०२ ॥

गुञ्जाफलैः शृतं तैलं भृङ्गराजरसेन तु ।
कण्डूदारुणहृत्कुष्ठकपालव्याधिनाशनम् ॥ १०३ ॥

गुञ्जाफल (घुंघुची) तथा भृंगराज के रस के साथ तैलनिर्माण की विधि के अनुसार सिद्ध सरसों का तैल सिर की खुजली, दारुणकरोग, हृदयरोग, कुष्ठरोग तथा कपाल (सिर) के सभी रोगों का नाश करता है ॥ १०३ ॥

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।
कार्षिकैस्तैलकुडवं तैर्द्विरामलकीरसः ।
साध्यः स प्रतिमर्शः स्यात्सर्वशीर्षगदापहः ॥ १०४ ॥

प्रपौण्डरीक, मुलेठी, पीपर, रक्तचन्दन तथा नीलकमल एक-एक कर्ष (तोला) लेकर कल्क बनावे और एक कुडव (एक पाव) सरसो तैल तथा सभी द्रव्यों के दुगुना (पांच छटांक एक तोला) आंवले का रस मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल प्रतिमर्श (अंगुली में तैल लगाकर नाक में छोड़कर ऊपर की तरफ खींचना) नस्य करने से सभी प्रकार के सिर के रोगों को नाश करता है ॥ १०४ ॥

बृहतीफलरसपिष्टं गुञ्जाफलमूलमिन्द्रलुप्तस्य ।

कनकविघृष्टस्य सतो दातव्यं प्रच्छितस्य सदा ॥ १०५ ॥

गुञ्जा (घुंघुंची) का फल तथा मूल को बृहती (बड़ी कटेरी) के फल के रस में पीसकर कनकविघृष्ट, प्रच्छित इन्द्रलुप्त में सर्वदा प्रयोग करे ॥१०५॥

मधुकेन्दीवरमूर्वातिलाज्यगोक्षीरभृङ्गलेपेन ।
अचिराद्भवन्ति केशा घनदृढमूलायता ऋजवः ॥ १०६ ॥

मुलेठी, इन्दीवर (कुमुद का पुष्प), मूर्वा (मरोरफली या मोरवेल), तिल, घृत, गाय का दूध तथा भृङ्गराज इन सभी द्रव्यों को एक साथ पीसकर लेप करने से केश शीघ्र ही घने, दृढ़ जड़वाले, लम्बे तथा मुलायम हो जाते हैं ॥ १०६ ॥

तैलं सयष्टीमधुकक्षीरधात्रीफलैः शृतम् ।
नस्ये दत्तं जनयति केशान् श्मश्रूणि चाप्यथ ॥ १०७ ॥

जेठी मधु, दूध तथा आंवला इन द्रव्यों के साथ तैल-निर्माणविधि के अनुसार पकाया हुआ तैल नस्य देने से सिर के केशों को तथा दाढ़ी के बालों को उत्पन्न करते हैं ॥ १०७ ॥

पलिते कतिपययोगाः—

त्रिफला नीलिनीपत्रं लोहभृङ्गरजःसमम् ।
अविमूत्रेण संयुक्तं कृष्णीकरणमुत्तमम् ॥ १०८ ॥

पलितरोग में कुछ योग—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), नीलिनी (नील) का पत्ता, लौहभस्म तथा भृङ्गराज का चूर्ण, समभाग इन द्रव्यों को लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप करने से सिर के बाल अच्छी तरह काले हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

त्रिफलाचूर्णसंयुक्तं लोहचूर्णं विनिक्षिपेत् ।
ईषत्पक्वे नालिकेरे भृङ्गराजरसान्विते ॥ १०९ ॥
मासमेकं विनिक्षिप्य सम्यक्तस्मात् समुद्धरेत् ।
ततः शिरो मुण्डयित्वा लेपं दद्याद्भिषग्वरः ॥ ११० ॥
संवेष्ट्य कदलीपत्रैर्मोचयेत्सप्तमे दिने ।
क्षालयेत्त्रिफलाक्वाथैः क्षीरमांसरसाशनः ।
कपालरञ्जनं चैव कृष्णीकरणमुत्तमम् ॥ १११ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) का चूर्ण तथा लौहभस्म को थोड़े पके नारियल के रस तथा भृङ्गराज के रस में छोड़कर एक मास तक रक्खे और उसके बाद अच्छी तरह निकालकर रख ले। तदनन्तर वैद्य सिर का मुंडन कराकर उसके ऊपर लेप करे और केले के पत्ते से आवेष्टित कर दे। एक सप्ताह

बाद केले के पत्ते को हटाकर त्रिफला के रस से प्रक्षालन करे और दूध तथा मांसरस भोजन करावे। यह योग सिर को रंगनेवाला तथा अच्छी तरह काला करनेवाला है ॥ १०९–१११ ॥

लोहमलामलकल्कैः सयवाद्वयकुसुमैर्नरः सदा स्नायी।
पलितानीह न पश्यति गङ्गास्नायीव नरकाणि ॥ ११२ ॥

लौहमल (मण्डूर), आंवला का कल्क तथा यवक्षार और यव का फूल मिलाकर सदा स्नान करनेवाला (सिर पर लेप लगानेवाला) मनुष्य पलित रोगों को नहीं देखता है। जैसे गंगा में स्नान करनेवाला व्यक्ति नरकों को नहीं देखता है। अर्थात् इस लेप को लगाने से पलित (असमय में बाल का गिरना) रोग रुक जाता है ॥ ११२ ॥

निम्बस्य बीजानि विभावितानि भृङ्गस्य तोयेन तथाऽसनस्य।
तैलं तु तेषां विनिहन्ति नस्याद् दुग्धान्नभोक्तुः पलितं समूलम् ॥ ११३ ॥

नीम के बीज को भृंगराज तथा विजयसार की छाल के रस में भावित कर तैल निकाले। यह तैल नस्य देने से दूध तथा भात खानेवाले व्यक्ति के पलित रोग (असमय में बाल के पकने) को जड़ से नाश करता है ॥ ११३ ॥

निम्बस्य तैलं प्रकृतिस्थमेव नस्यं विधेयं विधिना यथावत्।
मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य जराप्रदूतं पलितं निहन्ति ॥ ११४ ॥

साधारण नीम के तैल को अच्छी तरह विधिपूर्वक नस्य दे। यह नस्य एक मास तक दूध खानेवाले व्यक्ति को नस्य देने से जरा (बुढ़ापा) बताने-वाले पलित रोग (असमय में बाल का पकना) को नष्ट करता है ॥ ११४ ॥

सर्वशिरोरोगे नस्यार्थं शुण्ठ्याद्यं घृतम्—

शुण्ठीविडङ्गयष्ट्याह्वैर्भृङ्गतोये शृतं घृतम्।
नस्यं षड्बिन्दुदानेन सर्वमूर्धगदापहम् ॥ ११५ ॥

सभी प्रकार के शिरोरोग में शुण्ठ्याद्य घृत—सोंठ, वायविडङ्ग तथा मुलेठी, समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ भृङ्गराज के रस में घृत निर्माणविधि के अनुसार सिद्ध किया हुआ घृत का नस्य ६ बूंद देने से सभी प्रकार के सिर के रोगों को नाश करता है ॥ ११५ ॥

खालित्यपलितयोः कतिपययोगाः—

भृंगरजपक्वतैलं द्विपदशनामलककृतमषीमिश्रम्।
खलितेरपि चिकुरचयं जनयत्यभ्यङ्गयोगेन ॥ ११६ ॥

खालित्य तथा पलित रोग में कुछ योग—भृङ्गराज के चूर्ण से सिद्ध तैल, हाथी का दांत तथा आंवला की राख से बनाई गई स्याही को मिलाकर अभ्यङ्ग करने से खलित के रोगी के भी बाल के समूहों को उत्पन्न करता है तथा

बढ़ाता है। अर्थात् यह योग वालों को झरने तथा असमय में पकने से बचाता है ॥ ११६ ॥

नीलोत्पलाक्षफलमज्जतिलाजगन्धाः
साधं प्रियङ्गुलतया समधूकयष्ट्या।
संपिष्य यः प्रकुरुते बहुशः प्रलेपं
खालित्यमस्य न पदं विदधाति मूर्ध्नि ॥ ११७ ॥

नील कमल का फूल, बहेड़ा के फल की मज्जा, कालातिल, अजगन्धा (अजमोदा), प्रियंगुलता, महुआ का फूल तथा मुलेठी, इन सभी द्रव्यों को एक साथ पीसकर जो व्यक्ति अनेक बार लेप करता है उसके सिरपर खालित्य रोग पैर नहीं रखता है। अर्थात् उसको खालित्य (बालका गिरना) रोग नहीं होता है ॥ ११७ ॥

मांसीबलाकुवलयामलकैः सकुष्ठैः
पिष्टैः प्रलिप्तशिरसो न पतन्ति केशाः।
स्निग्धायताश्च कुटिलाकृतयो भवन्ति
ते प्रच्युताश्च तरुणालिकुलप्रकाशाः ॥ ११८ ॥

जटामांसी, बरियार, कुवलय (कुमुद) का फूल, आंवला तथा कूठ, समभाग इन द्रव्यों को जल में पीसकर लेप करने से सिर के बाल नहीं गिरते हैं और चिकने लम्बे तथा टेढ़ी आकृति वाले होते हैं। वे गिरने पर भी जवान भौंरों के झुण्ड के तरह चमकते हुए दिखाई देते हैं ॥ ११८ ॥

अन्तर्धूमविदग्धमाषजमषीमध्येऽर्कदुग्धं क्षिपेत्
तैलं सर्षपसम्भवं च विमलं तेन प्रलिम्पेच्छिरः।
रोगान् मूर्धसमुद्भवान् बहुविधांस्तद्वच्च वक्त्रोद्भवान्
खालित्य पलितानि चोपशमयत्येतत्प्रयुक्तं नृणाम् ॥ ११९ ॥

माष (उड़दी) के अन्तर्विदग्ध (शराव-सम्पुट में बन्द कर जलायी हुई) स्याही में मदार का दूध छोड़ दे और उसमें शुद्ध सरसों का तैल मिलाकर सिर के ऊपर लेप करे। यह लेप प्रयोग करने से मनुष्यों के सिर में उत्पन्न अनेक प्रकार के रोग, उसी प्रकार मुख में उत्पन्न रोग, खालित्य (बालका गिरना) तथा पलित (असमय में बालका पकना) रोगों को शान्त करता है ॥ ११९ ॥

धौतः श्रीफलसारेण यदि वा 'गुडवारिणा।
मूढोऽपि केशनिचयः सुसस्थानत्वमृच्छति ॥ १२० ॥

यदि श्रीफल (विल्व) के क्वाथ से या गुड़ के रस से सिर धोया जाय

तो गिरता केशों के झुण्ड अपने स्थान को ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् गिरते हुए बाल भी पुनः उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १२० ॥

शङ्खस्य दग्धस्य पुटानलेन चूर्णं निघृष्टं सह सीसकेन ।
प्रलेपमात्रेण करोति केशान् शशिप्रकाशानपि षट्पदाभान् ॥ १२१ ॥

शराव सम्पुट में बन्द कर जलाये हुए शंख के चूर्ण को सीसक (रांगा) के साथ घिसकर लेप करने मात्र से ही चन्द्रमा के समान सफेद बालों को भी भौंरों के तरह का काले रंग का बना देता है ॥ १२१ ॥

पथ्याक्षधात्रीफललोहचूर्णैस्तुरङ्गमारासनमार्कवैश्च ।
कार्ष्ण्यं लभन्ते पलितानि लेपान्नैल्यं ससौवीरकभागयुक्तैः ॥ १२२ ॥

हर्रे, बहेड़ा तथा आंवला के फल का चूर्ण, लौहभस्म और तुरङ्गमा (अश्वगन्धा), रासन, भृङ्गराज, एवं नील समभाग इन द्रव्यों को सौवीरक (काञ्जी विशेष) एक भाग में पीसकर लेप करने से पलित (असमय में पके हुए केश) बाल काले हो जाते हैं ॥ १२२ ॥

तुल्यैर्गुडेन प्रतिधूपितैश्च लिप्तानि कार्ष्ण्यं पलितानि यान्ति ।
लोहाम्रबीजत्रिफलाब्जमूलपङ्कैः प्रपिष्टैः सह मार्कवेण ॥ १२३ ॥

लौहभस्म, आम की गुठली, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), कमल की जड़ का कीचड़ तथा भृंगराज, समभाग इन सभी द्रव्यों को पीसकर गुड़ मिलाकर प्रतिधूपित करने तथा लेप करने से पलित (असमय में पके) केश काले हो जाते हैं ॥ १२३ ॥

शिलाकुसुमकर्चूरनिशाश्यामानतैः समैः ।
पलितानां भवेत्कार्ष्ण्यं बहुशो गुडधूपितैः ॥ १२४ ॥

शिलाकुसुम (छरीला), कचूर, हल्दी, काला निशोथ तथा तगर समभाग इन द्रव्यों को गुड़ के साथ मिलाकर अनेक बार प्रतिधूपित (धूम-नस्य कर्म) करने से पलित केश काले हो जाते हैं ॥ १२४ ॥

निर्गुण्डीलाङ्गलिकार्कसाधितं तैलमभ्यङ्गात् ।
शिरसो रुजः समग्रा यदि वाऽपामार्गफलसिद्धम् ॥ १२५ ॥

निर्गुण्डी (सम्भालू के बीज), कलिहारी, तथा मदार की जड़ समभाग इन द्रव्यों को मिलाकर पकाया हुआ तैल अथवा अपामार्ग (चिड़चिडा) के फल से सिद्ध तैल अभ्यङ्ग करने से सम्पूर्ण सिर के रोग नष्ट होते है ॥१२५॥

शिरोरोगे पिप्पल्याद्य नस्यम्—

पिप्पलीमरिचद्राक्षामधुयष्टिकनागरैः ।
पक्वं गोनवनीतेन नस्यं हन्ति शिरोरुजम् ॥ १२६ ॥

शिरोरोग में पिप्पल्याद्य नस्य—पीपर, मरिच, मुनक्का, मुलेठी तथा सोंठ

समभाग इन द्रव्यों के कल्क से तथा क्वाथ से (घृत-निर्माण-विधि के अनुसार) पकाया हुआ गाय के मक्खन का नस्य (प्रतिमर्श नस्य) शिरःशूल को नाश करता है ॥ १२६ ॥

अर्धावभेदके मनःशिलाद्यं नस्यम्—

नस्यं मनःशिला रोध्र पिप्पलीमरिचान्वितम् ।
यः करोति हरेदेव तस्यार्धशिरसो व्यथाम् ॥ १२७ ॥

अर्धावभेदक में मनःशिलाद्य नस्य—जो व्यक्ति मैनसिल, लोध, पीपर तथा मरिच समभाग इन द्रव्यों को महीन चूर्ण कर नस्य करता है उसके आधे शिर (अर्धावभेदक) की पीड़ा को दूर कर देता है ॥ १२७ ॥

शिरोरोगे श्रीखण्डादियोगः—

श्रीखण्डकुङ्कुमसुशीरकभृङ्गराज-
द्राक्षाप्रियङ्गुमरिचं च गुडूचिका च ।
यष्टी सनागरमिदं सकलं सखण्डं
दुग्धान्वितं मधुघृतेन शिरोव्यथायाम् ॥ १२८ ॥

शिरोरोग में श्रीखण्डादि लेप—श्रीखण्ड (हरिचन्दन), केसर, खस, भृङ्गराज, मुनक्का, प्रियंगु (मालकांगनी), मरिच, गुडूची, मुलेठी तथा सोंठ समभाग इन सभी द्रव्यों को महीन चूर्ण बनाकर (समभाग) खाँड (शक्कर) मिलाकर मधु एवं घृत के साथ खाकर ऊपर से दूध पीने से यह योग शिर के रोग को दूर करता है । अथवा इस चूर्ण को घी में भूनकर दूध चौगुना तथा शक्कर समभाग लेकर अवलेपवत् पाक करे और मधु मिलाकर चाटे । यह अवलेह शिरःशूल को नाश करता है ॥ १२८ ॥

शिरोरोगे खर्जूरादियोगः—

खर्जूरयष्टीमधुकाकजङ्घाद्राक्षान्वितं खण्डमुशीरकं च ।
पिबेत्सुपक्वं नवनीतमेभिर्मध्वन्वित प्रान्तशिरोव्यथावान् ॥ १२९ ॥

शिरोरोग में खर्जूरादि योग—खजूर, मुलेठी, काकजंघा (कौआठेंगा), मुनक्का, खांड तथा खस इन द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ के साथ पकाया हुआ नवनीत (मक्खन) शक्कर तथा मधु मिलाकर अर्धावभेदक शिरःशूल से पीड़ित व्यक्ति पान करे । अर्थात् यह प्रान्त शिरो व्यथा को नष्ट करता है । अर्थात् सिर के एक भाग में होने वाली व्यथा (अर्धावभेदक की) को शान्त करता है ॥ १२९ ॥

शिरोरोगे पटोलमूललेपः—

पटोलमूलसम्भूतं भालस्थलविलेपनम् ।
सद्यः करोति यस्तस्य याति सर्वशिरोव्यथा ॥ १३० ॥

शिरोरोग मे पटोलमूल लेप—जो व्यक्ति परवल की जड़ को पीसकर ललाट के ऊपर लेप करता है उसकी सभी प्रकार की सिर की पीड़ा शीघ्र ही शान्त हो जाती है ॥ १३० ॥

शिरोरोगे बदरीमूलादियोगः—

ललाटे बदरीमूलपिप्पलीनां प्रलेपनम् ।
हन्ति सर्वत्रतो लग्ना रुजो दैन्यमिव व्यथाम् ॥ १३१ ॥

शिरोरोग में बदरीमूलादि योग—बैर की जड़ तथा पीपर को पीसकर ललाट के ऊपर लेप करने से सिर के सम्पूर्ण भाग में उत्पन्न शिरःशूल की पीड़ा को दैन्य (दीनता) की तरह नष्ट करता है ॥ १३१ ॥

यूकानाशार्थं पारदयोगः—

नागवल्लीदलोद्भूतरसमर्दितपारदः ।
तल्लिप्ता चीरिका हन्ति यूकाः शिरसि संस्थिताः ॥ १३२ ॥

यूका (जूंआ) के नाश के लिये पारद योग—नागवल्ली (पान) के रस से पारद को अच्छी तरह भेदन करके कपड़ा के ऊपर लेप कर दे और उस कपड़े को सिर के ऊपर बांध दे। यह पारद-लिप्त वस्त्र सिर पर बांधने से सिर में स्थित जूओं को नाश करती है ॥ १३२ ॥

गोमूत्रेणातिसंघृष्टबिल्वमूलस्य लेपतः ।
नश्यन्ति शिरसो यूकाः सलिक्षा इदमद्भुतम् ॥ १३३ ॥

बेल की जड़ को गोमूत्र के साथ घिसकर लेप करने से सिर के यूका (जूऐ) तथा लिचा (लीख) नष्ट हो जाते हैं। यह आश्चर्य की बात है ॥१३३॥

ताम्बूलपत्ररसमर्दितसूतकेन
श्लक्ष्णीकृतेन विधिना हि विलिप्तचीरम् ।
बध्नाति यः शिरसि तस्य पतन्ति सद्यो
यूका भवन्ति न पुनश्च कदाचिदेव ॥ १३४ ॥

ताम्बूल के पत्ते के रस में पारद को अच्छी तरह मर्दन कर चिकना बनाकर विधिपूर्वक कपड़ा के ऊपर लेप कर जो व्यक्ति शिर के ऊपर बांधता है उस व्यक्ति के सिर में उत्पन्न जूए गिर जाते हैं और पुनः कभी भी उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १३४ ॥

यूकानाशार्थं विडङ्गादितैलम्—

विडङ्गगोमूत्रमनःशिलाभिः सगन्धकाभिः परिपाचितं यत् ।
तैलं भवेत्सर्षपसंभवं तल्लिक्षाश्च यूकाश्च निहन्ति सद्यः ॥ १३५ ॥

यूका (जूंआ) को नाश करने के लिये विडङ्गादि तैल—वायविडङ्ग, मैनसिल तथा गन्धक इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल से चौथाई) गाय के

सूत्र (तैल के चौगुना) में तैलनिर्माणविधि के अनुसार अच्छी तरह पकाया हुआ सरसों का तैल लेप करने से लीख तथा जूंओं को शीघ्र ही नष्ट करता है ॥ १३५ ॥

शिरोरोगे शिरावेधदाहयोर्विधानम्—

सर्वेषां शीर्षरोगाणां शिरां विध्येदशाम्यताम् ।
कफवातात्मके दाहं जघन्यं वा प्रयोजयेत् ॥ १३६ ॥

इति श्रीवैद्यसोढलग्रथिते गदनिग्रहे तृतीये शालाक्यतन्त्रखण्डे
शिरोरोगाधिकारः प्रथमः ॥ १ ॥

शिरोरोग में शिरावेध तथा दाह का विधान—औषधोपचार से न शान्त होते हुए सभी प्रकार के शिरोरोग में शिराव्यध (नश्तर लगाना) करे। कफवातात्मक शिरःशूल में दाह या जघन्य (शिरामोक्षण) कर्म करे ॥१३६॥

श्री वैद्यशोढल-विरचित गदनिग्रह के तृतीय शालाक्यतन्त्र-खण्ड में
पहला शिरोरोगाधिकार समाप्त ।

अथ कर्णरोगाधिकारो द्वितीयः ।

अथातः कर्णरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

शिरोरोग-निरूपण के बाद कर्णरोग का निदान कहते हैं ।

कर्णशूललक्षणम्—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलप्रविभावितो गदः ॥ १ ॥

कर्णशूल का लक्षण—अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्तादि दोषों से आवृत तथा प्रतिकूल गमन करनेवाली वायु कानों में स्थित होकर दोनों कानों में तीव्र शूल को उत्पन्न करती है उस रोग को 'कर्णशूल' कहते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—आधुनिक शल्य तन्त्र के विशेषज्ञ कान की रचना को तीन भागों में विभक्त किये हैं । १—बाह्यकर्ण, २—मध्यकर्ण तथा ३—अन्तःकर्ण ।

१. बाह्यकर्ण—बाह्यकर्ण दो भागों मे विभक्त है प्रथम भाग वह जो सीपी की तरह होता है उसमें कई एक उभार एवं दबाव होते हैं । यह भाग तरुणास्थि (कार्टिलेज) का बना हुआ कड़ा होता है और बाहर से रहता है दूसरी तरफ से त्रिकोणाकार कड़ा भाग रहता है । इसमें बाहरवाले भाग को कर्णशष्कुली, त्रिकोणाकार भाग को पुत्रिका तथा नीचेवाले भाग को कर्णपाली कहते हैं जो मुलायम होता है और सौत्रिक तन्तु एवं मेदा का बना होता है ।

बाहयकर्ण का दूसरा भाग कान की तली है जिसको कर्णकुहर या श्रुति-पथ कहते हैं । इसकी लम्बाई सवा इञ्च होती है और टेढ़े-मेढ़े घूमकर पटह (Drum) तक पहुँचती है । यह पटह बाह्यकर्ण तथा मध्यकर्ण के बीच में होता है । इसके बाद मध्यकर्ण प्रारम्भ होता है ।

२. मध्यकर्ण—इसके आगे-पीछे तीन अस्थियां लगी रहती हैं । आकार के अनुसार ही इन सबों का नामकरण हुआ है । सबसे पहलेवाली 'अस्थि को [1]मुद्गर, बीचवाली को [2]अंकुश (निहाई) तथा पीछेवाली को [3]रकाब या शूर्मिका कहते हैं । यह भाग शंखास्थि के अन्दर होता है । इसमें से एक-एक नली जिसे [4]श्रुति-सुरंग कहते हैं गले की ओर जाती है और गले से कर्णगुहा

---

१. मुद्गर (Hamnar), २. निहाई (Annil), ३. रकाब (Stirrup).
४. श्रुतिसुरङ्ग (Eustra chian tube) ।

को मिलाती है। कर्ण-पटहसे आई हुई वाचिक लहरियां मध्यकर्ण से होकर अन्तःकर्ण तक पहुँचती है।

अन्तःकर्ण—यह शम्बूक के आकृति का होता है। यहीं पर श्रुतिनाड़ी के अग्रभाग फैले रहते है जो शब्द की संवहन मस्तिष्क तक करते हैं। हड्डियों के बने हुए अन्तःकर्ण के भीतर का भाग झिल्ली से बना रहता है। नलियों के भीतर भी झिल्लियां होती हैं। अस्थि-निर्मित कर्णगुहा में झिल्ली के कोष्ठ होते हैं। अस्थि का आवरण इसके भीतर की रचना की रक्षा करता है। इस तरह अस्थिकला के बीच में एक प्रकार का द्रव[1] भरा रहता है और कलामय कान्तार के बीच में भी जलीय[2] रस रहता है।

ध्वनि की लहरों के कर्ण पहुंचते ही बाह्यकर्ण उसको संग्रह करके श्रुति पथ के द्वारा आगे बढ़ाते हुए कर्णपटह तक पहुँचा देता है। वहाँ पहुँचकर पटह में वे पुनः स्पन्दन उत्पन्न करती हैं। इस पटह से मुद्गर जुड़ा रहता है। इसके द्वारा पटह का स्पन्दन निहाई तक पहुँच जाता है। यही स्पन्दन पीछे रकाब के द्वारा जो एक तरफ निहाई से और दूसरी तरफ अन्तःकर्ण में जुड़ा रहता है भीतर कर्णतक पहुँचता है। यहां पहुँचने पर यह स्पन्दन अन्तःकर्ण की झिल्ली में स्थित छोटे-छोटे बालों की कोषों को उत्तेजित करता है। इन बालों के उत्तेजित होने पर ध्वनि को ग्रहण करनेवाली बण्डियां उत्तेजित होती हैं और वे ध्वनिसंवेदना को मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। मस्तिष्क में ध्वनि-ज्ञान को पैदा करनेवाले क्षेत्र में पहुंचकर यह उत्तेजना ध्वनि-ज्ञान में परिणत हो जाती है।

अन्तःकर्ण से सम्बद्ध तीन अर्धचन्द्राकृति नलिकायें भी होती हैं किन्तु इनका शब्द ग्रहण से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है। इनका कार्य शरीर की हलचल और उनके साथ समन्वय स्थापित करने से होता है। इसके क्षोभ से भ्रम या चक्कर आने लगते हैं।

कर्णशूल का [3]सामान्य कारण ओस का अधिक सेवन करना, नदी में स्नान करना, कान का खुजलाना तथा कान में आघात लगना है। कर्णशूल कान के विभिन्न भागों की विकृतियों में मिलता है। बाह्यकर्ण की फोड़ियां आदि में भी

---

१. द्रव (Perılırnhh), २. जलोसरस (Endolymph)

३. अवश्याय-जलक्रीडा-कर्णकण्डूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः ॥
प्राप्य श्रोत्रशिराः कुर्याच्छूलं स्रोतसि वेगवान् ।
ते वै कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥

मिलता है। यह शूल यदा-कदा कान में जल भर जाने से तथा कर्णमल के फूल जाने से होता है। कभी-कभी कर्ण मल के अधिक दबाव से कर्णपटह फट जाता है और इससे रक्तस्राव होता है तथा बाधिर्य भी हो सकता है। यह रोग कष्टसाध्य होता है। मध्य कर्णशोथ में भी शूल होता है। दांतों में कृमि हो जाने से तथा मसूड़ों में शोथ हो जाने से भी कान में वेदना होती है। कभी-कभी प्रतिश्याय के कारण भी मध्यकर्ण में शूल होता है। श्रुतिनाडी-शोथ अथवा कान्तारक-शोथ के कारण अन्तःकर्ण का शूल होता है।

कर्णशूल में [1]मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, हृल्लास तथा वमन ये उपद्रव मरनेवाले रोगी को होते हैं।

अपने कारणों से प्रकुपित पित्त आदि कारणों से आवृत होकर वायु कर्णशूल को उत्पन्न करती है। 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इस न्याय के अनुसार प्रकुपित वात द्वारा प्रकोपित पित्त आदि दोष भी लक्षणों की उत्पत्ति मात्र में सहायक होते हैं किन्तु वे अनुबन्ध रूप में ही रहते हैं। और स्वतन्त्र होने से वायु के आवरण नहीं हो सकते। इसलिये अपने कारणों से प्रकुपित पित्त, कफ एवं रक्त के द्वारा ही वायु का आवरण और उनके अनुरूप लक्षणों से युक्त कर्णशूल यहां अभीष्ट है।

कर्णनादलक्षणम्—

कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वनान्।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥ २॥

कर्णनाद का लक्षण—जब कान के स्रोतों में दूषित वायु स्थित हो जाती है तो रोगी भेरी, मृदङ्ग तथा शंख आदि के अनेक प्रकार के स्वरों को सुनता है उसे 'कर्णनाद' कहते हैं॥ २॥

विमर्श—जब वायु कर्णस्रोतों में अनेक प्रकार से स्थित होती है तो उसके कारण अनेक प्रकार के आघात भी होते है जिनके कारण अनेक प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति होती है। कर्णस्रोत से यहाँ शब्दवाहिनी नाडियों का तथा वायु से विपरीत मार्गगामी वायु को समझना चाहिए। क्योंकि सुश्रुत ने कहा भी है—

"यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति।
शृणोति शब्दान् विविधांस्तथा नरः प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम्॥

१. मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा।
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः॥ (विदेह)

विविध स्वरों से भेरी, मृदङ्ग, शङ्ख आदि शब्दों के अतिरिक्त ¹भृङ्गार, क्रौंच आदि शब्दों का भी श्रवण होता है।

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥ ३ ॥

बाधिर्य का लक्षण—जब शुद्ध वात या कफ से आवृत वात शब्दवाही स्रोत को अवरुद्ध कर देता है तब उससे बाधिर्य रोग (बहरापन) उत्पन्न हो जाता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—बाधिर्य रोग दो प्रकार का होता है—१. शुद्ध वातकृत और २. आवृत वातकृत। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से बाधिर्य के दो भेद होते हैं। क—शब्दवह-नाडीविकृतिजन्य, ख—नाडी के विभिन्न-विकारजन्य।

(क) ध्वनि को वहन करनेवाली नाडी की विकृति से उत्पन्न बाधिर्य को 'शब्दवहनाडीजन्य बाधिर्य' कहते हैं। इस बाधिर्य के निम्नलिखित कई कारण होते हैं।

१—वृद्धावस्था में क्रमशः नाडियों की दुर्बलता के कारण स्वाभाविक बहरापन हो जाता है उसे 'वृद्धोत्थ-बाधिर्य' कहते है।

२—विषमयताजन्य बधिरता—रोमान्तिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पाषण-गर्दभ आदि रोगों में विषमयता के कारण, शब्दवाहिनियों में विकृत होकर बधिरता होती है।

३—औषधजन्य-बधिरता—कुनीन आदि उष्ण औषधों के सेवन से बधिरता होती है उसे 'औषधजन्य-नाडीबाधिर्य' कहते हैं।

४—व्यावसायिक बधिरता—तीव्र शब्दों के अत्यधिक निरन्तर श्रवण करने के कारण श्रवणेन्द्रिय और अन्तःकर्ण में विकृति और बाधिर्य हो जाता है उसे 'व्यावसायिक बाधिर्य' कहते हैं।

५—मानसिक बधिरता—यह रोग अधिकतर युद्धकाल में मन के ऊपर प्रभाव पड़ने से होता है। इस रोग में अन्तःकर्ण की रचना में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है किन्तु अभिघात तथा मर्माभिघात इस रोग को उत्पन्न

---

१. शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते।
तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः॥
भृङ्गारक्रौंचनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा।
तन्त्री-मृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा॥
अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः।
श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः॥ (विदेहः)

करने में कारण होते हैं। घबड़ाहट, दुश्चिन्ता या स्तब्धता भी बाधिर्य के कारण होते हैं।

(ख) नाडी के विभिन्न विकारजन्य—कान के मल, कान की विद्रधि या बाहरी कर्ण के शोथ से कानों के स्रोतों के बन्द हो जाने से, कर्णपटह के विदीर्ण हो जाने से तथा भयंकर प्रतिश्याय के कारण भी बधिरता उत्पन्न होती है इसको प्राचीन मतानुसार 'कफावरण दोषजनित बाधिर्य' कह सकते हैं।

छोटे २ बच्चों में एक प्रकार की बधिरता मिलती है जिसमें बाधिर्य के साथ २ मूकता भी होती है इसको 'सबाधिर्य-मूकता' कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है।

१—स्वाभाविक—वीर्य में दोष होने के कारण श्रवणयन्त्र की रचना परिपूर्ण नहीं होती है। जिससे यह विकार होता है।

२—जन्मोत्तर—बाल्यावस्था में किसी मसुरिका आदि संक्रामकरोग, मध्यकर्ण शोथ या मस्तिष्कावरण शोथ के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। श्रवणकेन्द्र तथा वाक्केन्द्र के अतिसान्निध्य होने के कारण वाणीकेन्द्र में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। विशेषकर श्रवणाभाव के कारण शब्दज्ञान ठीक २ न होने से वाणी का केन्द्र भी विकसित नहीं हो पाता जिससे बच्चों में बधिरता के साथ मूकता भी हो जाती है।

कर्णक्ष्वेडलक्षणम्—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते॥ ४॥

कर्णक्ष्वेड का लक्षण—वात-पित्त आदि दोषों से मिलकर वंशी[1] की ध्वनि समान कानों में ध्वनि उत्पन्न करता है उसे 'कर्णक्ष्वेड' कहते हैं॥ ५॥

विमर्श—कान के किसी भी अंग अथवा श्रुतिनाडी के ऊपर साक्षात् या परम्परया प्रभाव उत्पन्न करनेवाले सभी कारण कर्णक्ष्वेड या कर्णनाद के कारण हो सकते है। रक्तभाराधिक्य, पाण्डुरोग, वृक्कसम्बन्धी रोग, हृदय के रोग तथा क्वीनीन आदि का सेवन इस रोग के कारण होते हैं। इस अवस्था म कान में हथौड़े के पीटने के समान शब्द तथा झन-झन शब्द सर्वदा सुनाई देता रहता है।

---

१. मारुत-कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च।
कर्णक्ष्वेडं संजनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्॥ (विदेह)

कर्णनाद तथा कर्णक्ष्वेड में अन्तर-प्रदर्शक कोष्ठक ।

कर्णनाद	कर्णक्ष्वेड
१. इसमें कर्णस्रोत में स्थित वायु शब्द उत्पन्न करता है ।	१. इसमें वायु पित्त या कफ अथवा रक्त के द्वारा संसृष्ट होकर शब्द उत्पन्न करता है ।
२. इसमें ध्वनि अवस्था के अनुसार भेरी, मृदङ्ग अथवा शङ्ख के समान मोटी एवं भद्दी होती है ।	२. इसमें शब्द वेणु (वंशी) के शब्द के समान होता है ।
३. यह अवस्था प्रायः सार्वदैहिक विकारों के फलस्वरूप या बाह्यकर्ण अथवा मध्यकर्ण की विकृतियों में मिलता है ।	३. यह अवस्था अन्तःकर्ण की विकृतियों में प्राप्त होती है ।
४. इसमें वातशामक चिकित्सा होती है ।	४. इसमें पित्त की आदि के शामक चिकित्सा की भी आवश्यकता पड़ती है ।

कर्णस्रावलक्षणम्—

शिरोभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवापि विद्रधेः ।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥

कर्णस्राव का लक्षण—सिर में आघात लगने से, जल में सिर डुबो कर स्नान करने से या कान की विद्रधि के पक जाने से वातजन्य वेदनाओं से युक्त कान से पूय या रक्त अथवा जल निकलता है उसे 'कर्णसंस्राव' कहते हैं ॥५॥

विमर्श—कर्णस्राव में पूय के अतिरिक्त कभी जल या कभी-कभी रक्त भी निकलता है । क्योंकि सिर में चोट लग जाने मात्र से तथा जल में स्नान करने मात्र से पूयस्राव नहीं हो सकता अतः सिर में चोट लगने, रक्त तथा जल में स्नान करने से जल निकल सकता है । यदि विद्रधि पककर फूट जाय, चोट लगने के बाद तथा कान में जल प्रविष्ट होने के बाद जीवाणुवों का संक्रमण हो जाय तो पूयस्राव होता है । अथवा सिर में चोट लगने के बाद पाक हो जाय या जल में डूबने के कारण (पूयजनक जीवाणुवों का संसर्ग लग जाने से) या जल में डुबकी लगाने से प्रपाक होने पर पूयस्राव हो सकता है, इस प्रकार प्रपाक का सम्बन्ध सभी के साथ किया जा सकता है । इसमें पूयस्राव तथा पाक से

कफज एवं पित्तज लक्षणों की सम्भावना रहती है किन्तु वायु की पीड़ा अधिक बताई गई है। अधिक पूय निकलने से वात-प्रकोप होने के कारण वात के लक्षणों की प्रधानता रहती ही है। यह रोग चिरकालीन होता है और स्राव भी कभी कम तथा कभी अधिक होता है तथा कभी-कभी बन्द हो जाता है।

कर्णकण्डूलक्षणम्—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च।

कर्णकण्डू का लक्षण—वायु कफ से मिलकर कर्णकण्डू (कान में खुजली) को उत्पन्न करता है।

कर्णगूथकलक्षणम्—

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा जायते कर्णगूथकः ॥ ६ ॥

कर्णगूथक का लक्षण—पित्त की गर्मी से सूखा हुआ कफ कर्णगूथक (कर्णमल) व्याधि को उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

कर्णप्रतिनाहलक्षणम्—

स कर्णगूथो द्रवतां यदा गतो
विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो
भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत ॥ ७ ॥

कर्णप्रतिनाह का लक्षण—पूर्वोक्त कर्णगूथक (पित्त की गर्मी से सूखा हुआ कर्णमल) जब पिघल जाता है और विलीन होकर नासिका तथा मुख में आता है तो इसे 'कर्णप्रतिनाह' कहते हैं। इस व्याधि में आधे सिर में वेदना होती है ॥ ७ ॥

विमर्श—पित्त की उष्णता से सूखा हुआ कफ जब पिघल कर नासिका तथा मुख से निकलने लगता है तो उसे 'कर्णप्रतिनाह' कहते हैं। कर्णकण्डू, कर्णगूथक, कर्णप्रतीनाह ये तीनों ही रोग एक ही रोग की विशेष अवस्थायें प्रतीत होती हैं। कार्यकारणभाव तथा उत्पादक दोषों की भिन्नता के कारण तीनों का वर्णन अलग २ किया गया है।

कार्यकारणभाव सम्बन्धः—जैसे प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय तथा शोष की उत्पत्ति होती है। इसमें पूर्वःपूर्व रोग उत्तर-उत्तर रोग के कारण होते हैं और उसको एक रोग की अवस्था विशेष न मानकर अलग-अलग रोग माना जाता हैं उसी प्रकार कर्णकण्डू से कर्णगूथक की और कर्णगूथक से कर्णप्रतिनाह की उत्पत्ति होती है किन्तु ये अलग-अलग रोग हैं।

दोषभिन्नताः—कर्णकण्डू में कफयुक्त वायु कर्णगूथ में पित्त से शोषित कफ तथा कर्णप्रतिनाह में वात, पित्त तथा कफ त्रिदोष की विकृति होती है।

कर्णकण्डू सामान्यतः कान के अनेक रोगों में (बाह्य कर्णशोथ आदि में) होता है। कर्णगूथक भी बाह्य कर्ण की विकृति है। कर्णप्रतिनाह में कर्णगूथ पिघलकर कर्णपटह को गलाकर छेद बना देता है और वह मध्य कर्ण में जाकर श्रुतिसुरंगा-में होता हुआ मुख तथा नासास्राव के रूप में उत्पन्न हो जाता है। इस तरह कर्णप्रतिनाह में कर्णपटह विदीर्ण हो जाता है। इसे 'कर्णपटह विदारजन्य स्राव' भी कहते हैं। इस अवस्था में अर्धावभेदक (आधी शीशी) होता है।

कृमिकर्णकलक्षणम्—

यदा विमूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवापि मक्षिकाः ।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णकस्तु सः ॥ ८ ॥

कृमिकर्णक का लक्षण—जिस कर्ण रोग में जब (मांस और रक्त के सड़ने से) कानों में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं अथवा जब मक्षिकायें बैठकर कृमि उत्पन्न कर देती हैं तब वैद्य कृमि के लक्षणों से युक्त होने से इस व्याधि को 'कृमिकर्णक' कहते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—कर्णविद्रधि या कर्णशोथ आदि की अवस्था में कर्ण को प्रक्षालन कर स्वच्छ न रक्खा जाय तो उस पर मक्खियां बैठकर अण्डे दे देती है और कृमि उत्पन्न होकर बढ़ने लगते हैं और कान में अनेक प्रकार की पीड़ायें उत्पन्न करते हैं।

यह व्याधि त्रिदोषज होती है जैसा कि [1]निमिको अभीष्ट है। कफ, पित्त और जल से युक्त रक्त तथा मांस की सड़न में अनेक वर्ण के कृमि उत्पन्न होते हैं और अनेक प्रकार की वेदनाओं को करते हुए कान को भक्षण करते हैं। इस त्रिदोषज रोग को 'कृमिकर्णक' कहते हैं।

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य च ।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निःस्पन्दे मन्दवेदना ॥ १० ॥

---

१. श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे ।
मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ॥
भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः ।
क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥ श्रीनिमि.

कानों में प्रविष्ट कीटादि के लक्षण—जब कीट-पतङ्गादि कान के स्रोतों में किसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं तब उससे व्याकुलता और कान में सूई चुभोने जैसी पीड़ा तथा फरफराहट होती है और जब क्रिमि नहीं चलता है तब वेदना मन्द हो जाती है। इस प्रकार के लक्षण जब उत्पन्न हो तब कानों में कीट प्रवेश किया है ऐसा समझना चाहिए॥ ९–१०॥

कर्णविद्रधिलक्षणम्—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधि-
र्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः।
स रक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत
प्रतोदधूमायनदाहचोषवान्॥ ११॥

कर्णविद्रधि का लक्षण—एक प्रकार की विद्रधि क्षत या आघात से उत्पन्न होती है और दूसरी प्रकार की विद्रधि वात-पित्तादि दोषों से उत्पन्न होती है। इस विद्रधि में लाल, पीले तथा अरुण वर्ण के रक्त (पूय) का स्राव होता है, कान में सूई के चुभोने के समान पीडा, कान में धुवां सा निकलना, जलन तथा चूसने के समान पीडा होती है॥ ११॥

विमर्शः—कर्णविद्रधि दो प्रकार की होती है आगन्तुक क्षत आघात-आदि से तथा निज या दोषज। वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज भेद से निज (दोषज) विद्रधि चार प्रकार की होती है।

बाह्यकर्ण में उत्पन्न फोड़े को 'कर्णविद्रधि' कहते हैं। क्षत तथा आघात होने पर पूयोत्पादक जीवाणु का संक्रमण हो जाने से विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। इन विद्रधियों में—निम्नलिखित लक्षण होते हैं। सिर के पार्श्व तथा जबड़े में तीव्र पीड़ा होती है और वह कन्धे तक चली जाती है।

कर्ण के चारो तरफ शोथ होता है। शंख प्रदेश में शोथ उत्पन्न होता है स्पर्शासह्यता होती है। और विद्रधि के अधिक बढ़ने पर कान बहरा हो जाता है।

कर्णपाकलक्षणम्—

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्।

कर्णपाक के लक्षण—पित्तदोष के अधिक प्रकोप से कान के अन्दर पाक होता है जिसमें कोथ (सड़न) तथा आर्द्रता रहती है। इसको 'कर्णपाक' कहते हैं।

पूतिकर्णकलक्षणम्—

कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात्॥ १२॥
पूयं स्रवति वै पूति स ज्ञेयः पूतिकर्णकः।

कर्णशोफार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १३ ॥

पूतिकर्णक का लक्षण—कान में उत्पन्न विद्रधि के परिपक्व हो जाने से अथवा कान में जल भर जाने से जो दुर्गन्धयुक्त पूय का स्राव होता है उसे 'पूतिकर्णक' कहते हैं। कान का शोथ, अर्बुद तथा अर्श के लक्षण जो अर्श के निदान में कह आये हैं उसी के अनुसार जानना चाहिए। केवल स्थान का भेद होता है। अर्थात् पूर्वोक्त रोगों के लक्षणों के सदृश इसके भी लक्षण होते हैं ॥ १२-१३ ॥

विमर्शः—कर्णशोथ-वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज भेद से चार प्रकार का तथा कर्णार्बुद वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदोज तथा सिराज भेद से सात प्रकार के होते हैं।

कर्णार्श भी चार प्रकार का होता है। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा रक्तज। स्थान विशेष के प्रभाव से सहज तथा त्रिदोषज अर्श कान में नहीं उत्पन्न होता है। कान में अर्श रोग के मस्से के समान जो विकृति होती है उसे 'कर्णार्श' कहते हैं।

वातजादिभेदेन कर्णरोगलक्षणानि—

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।

वातादि भेद से कर्णरोग के लक्षण—वातजन्य कर्णरोग में कर्णनाद, अत्यधिक वेदना, कान में मैल का शुष्क हो जाना, स्राव का थोड़ा होना तथा श्रवणशक्ति का नाश ये लक्षण होते हैं।

शोफः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥ १४ ॥

पित्तजन्य कर्णरोग में लाल वर्ण का शोथ, फटने की तरह पीड़ा, जलन और पीले रंग का दुर्गन्ध युक्त स्राव ये लक्षण होते हैं ॥ १४ ॥

वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशुक्लशोफस्निग्धश्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च ।

कफजन्य कर्णरोग में वैश्रुत्य (विपरीत श्रवण), कान में खुजली, अस्थायी शोथ, सफेद तथा स्निग्ध स्राव तथा मन्द वेदना-ये लक्षण होते हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥ १५ ॥

सन्निपातजन्य कर्णरोग में तीनों दोषों के लक्षण तथा स्राव बढ़े हुए दोषों के रंग का होता है ॥ १५ ॥

परिपोटकलक्षणम्—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते ।
कर्णशोफो भवेत्पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ॥ १६ ॥
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ।

परिपोटक का लक्षण—सुकुमारता के कारण कान (कर्णवेध द्वारा किये गये छिद्रों) पर ध्यान न देने से (धीरे २ बढ़ाने का प्रयास न करने से) और बाद में एकाएक बढ़ाने से कर्णपाली में वेदना तथा विदारयुक्त शोथ हो जाता है, इस का वर्ण काला अथवा गुलाबी रंग का होता है। इस स्तब्ध (स्थिर) वातजन्य शोथ को 'परिपोटक' कहते हैं।

उत्पातलक्षणम्—

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनोद्घर्षणादपि ॥ १७ ॥
शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकसमन्वितः।
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ॥ १८ ॥

उत्पात का लक्षण—अत्यधिक भारी आभूषणों को धारण करने से, चोट या रगड़ने से कर्णपाली में दाह, पाक तथा वेदना से युक्त श्याव या रक्त वर्ण का रक्त- पित्तजन्य शोथ उत्पन्न हो जाता है उस रोग को "उत्पात" कहते हैं ॥ १७–१८ ॥

उन्मन्थकलक्षणम्—

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति।
कफं संगृह्य कुरुते शोफं स्तब्धमवेदनम्।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ १९ ॥

उन्मन्थक का लक्षण—बलपूर्वक करने के छेद को बढ़ाने से कर्णपाली में वात प्रकुपित हो जाता है। तथा कफ को ग्रहणकर स्तब्ध (स्थिर) और अल्प पीड़ावाले शोथ को उत्पन्न कर देता है। इस खुजलीयुक्त कफवातजन्य विकार को 'उन्मन्थक' कहते है ॥ १९ ॥

दुःखवर्धनलक्षणम्—

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूदाहरुजान्वितः।
शोफो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥ २० ॥

दुःखवर्द्धन का लक्षण—कान के अनुपयुक्त स्थान (प्राकृतिक छिद्र के अतिरिक्त स्थान) पर किये गये छिद्र के चौडे हो जाने पर खुजली, पाक और वेदना से युक्त जो त्रिदोषज शोथ और पाक होता है उसे 'दुःखवर्धन' कहते हैं ॥ २० ॥

परिलेहीलक्षणम्—

कफासृक्कृमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडिका रुजादाहसमन्विताः ॥ २१ ॥
कफासृक्कृमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः।
लिहेत्सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥ २२ ॥

इति कर्णरोगनिदानम्।

परिलेही का लक्षण—कफ, रक्त तथा कृमि प्रकुपित होकर कर्णपाली में सरसों के बराबर छोटी २ फैलनेवाली पीड़ा तथा दाह से युक्त फुन्सियों को उत्पन्न कर देते हैं। कफ, रक्त तथा क्रिमियों से उत्पन्न वह रोग फैलकर कर्ण-शष्कुली के साथ कर्णपाली को अवलेहन कर मांसरहित कर देता है अतः इसे 'परिलेही' कर्ण रोग कहते हैं ॥ २१–२१ ॥

कर्णरोगों का अधिष्ठान भेद तथा दोषों की प्रबलता के अनुसार कोष्ठक—

रोग	अधिष्ठानभेद	दोषों की प्रबलता
कर्णकण्डू	बाह्यकर्ण	वात-कफ
कर्णगूथ	,,	पित्त-कफ
कृमिकर्ण	,,	सान्निपातिक
कर्णविद्रधि	,,	वात-पित्त-कफ-त्रिदोष-क्षत, अभिघात
कर्णार्श	,,	वात, पित्त, कफ, त्रिदोष
कर्णार्बुद	,,	वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, रक्तज
कर्णस्राव	मध्यकर्ण	
प्रतिनाह	,,	सान्निपातिक
कर्णपाक	,,	पित्त
पूतिकर्ण	,,	,,
प्रणाद या कर्णनाद	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात
कर्णक्ष्वेड	अन्तःकर्ण	वात तथा पित्त
बाधिर्य	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात
कर्णशोथ	बाह्य, मध्य तथा अन्तःकर्ण,	वात पित्त श्लेष्मा आगन्तुक
कर्णशूल	बाह्य तथा मध्य कर्ण	वात सुश्रुतानुसार, अन्य आचार्यों के मत के अनुसार—वात० पित्त, कफ, त्रिदोष रक्त—

कर्णरोगों को चरकाचार्य चार, सुश्रुताचार्य अट्ठाइस तथा वाग्भट पच्चीस मानते हैं।

कर्णरोग-निदान समाप्त।

अथातः कर्णरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

कर्णरोगे सामान्यचिकित्सा—

सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम्।
अव्यायामः शिरःस्नानं ब्रह्मचर्यमकत्थनम्॥ २३॥

कर्णरोग निदान के बाद इसकी चिकित्सा कहते हैं।

कर्णरोग में सामान्य चिकित्सा—सभी प्रकार के कर्णरोग में सामान्यतः घृत का सेवन करना रसायन होता है और इसमें व्यायाम न करना, शिर से स्नान न करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना तथा मौन रहना या कम बोलना हितकर होता है॥ २३॥

कर्णशूले नाडीस्वेदयोगः—

बिल्वैरण्डार्कवर्षाभूदधित्थमधुशिग्रुभिः।
बस्तगन्धाश्वगन्धाभ्यां तर्कारीयवरेणुभिः॥ २४॥
आरनालशृतैरेभिर्नाडीस्वेदः प्रयोजितः।
कफवातसमुत्थानं कर्णशूलं निरस्यति॥ २५॥

कर्णशूल-नाडीस्वेद योग—बेल की छाल, एरण्ड की जड़, मदार की जड़, पुनर्नवा, दधित्थ (कैथ), मधु, सहिजन, बस्तगन्धा (अजमोदा), अश्वगन्धा (असगन्ध), तर्कारी (अरणी), यवक्षार तथा आरनाल (काञ्जी विशेष), इन द्रव्यों के क्काथ से (क्काथ करने योग्य द्रव्यों को क्काथ बनाकर तथा द्रवपदार्थों को मिलाकर) [1]नाडीस्वेद (नाडी के द्वारा स्वेदन) करे। यह नाडीस्वेद कफवातजन्य कर्णशूल को दूर करता है॥ २४–२५॥

कर्णशूले कतिपयकर्णपूरणयोगाः—

कपित्थमातुलुङ्गाम्रशृङ्गवेररसैः शुभैः।

---

१. नाड़ीस्वेद की विधि—बिल्वादि औषधों को एक पात्र में रखकर उसमें दवा के चौगुना पानी मिला दे और उसको आग पर चढा दे। पात्र के एक पार्श्व में एक हस्तिशुण्डाकार नलिका लगा दे और रोगी को उसके पास बैठा दे। इसके बाद पात्र के नीचे आग लगा दे और उस पात्र में लगे नाडी के द्वारा निकलते हुए भाप से रोगी के कान का स्वेदन करे अथवा इसके क्काथ को कान में भरकर पूरण करे। यह क्रिया एक सौ मात्रा उच्चारण या दोषों के अनुसार पांच सौ मात्रा उच्चारण-काल तक या एक हजार मात्रा उच्चारण काल तक करनी चाहिए। इसमें लगभग एक या सवा घण्टा समय लगता है। इसके बाद थोड़ा गरम स्वच्छ जल से प्रक्षालन कर वातनाशक औषध छोड़ देते हैं।

सुखोष्णैः पूरयेत्कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥ २६ ॥
धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयेत् ।
रुजाया मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥ २७ ॥

कर्णशूल में कुछ कर्णपूरण योग—कर्णरोग की शान्ति के लिये कैथ, मातुलुङ्ग (विजौरा नींबू), आम तथा अदरक इन द्रव्यों का रस निकालकर थोड़ा गरम कर कान को भर दे। कान में रस को भरकर रक्खे रहें और कान के मूल स्थान को मर्दन करे। यह मर्दन कर्म या कर्णपूरण तब तक रहने दे जब तक पीड़ा शान्त न हो जाय या जब तक एक सौ मात्रा का उच्चारण पूरा न हो जाय ॥ २६-२७ ॥

शृङ्गवेरं च मधुकं सैन्धवं तैलमेव च ।
कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतद्वा वेदनापहम् ॥ २८ ॥

अथवा शृङ्गवेर (अदरक का रस), मुलेठी का चूर्ण, सेन्धा नमक तथा सरसों का तेल थोड़ा गरम कर वेदना को शान्त करने के लिये प्रयोग करे ॥ २८ ॥

लशुनार्द्रकशिग्रूणां मुरङ्ग्या मूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ॥ २९ ॥
समुद्रफेनचूर्णेन युक्त्या वाऽप्यवचूर्णयेत् ।

लहसुन, अदरक, सहिजन, मुरङ्गी, मूली तथा कदली का स्वरस थोड़ा गरम कर कान में भरना श्रेष्ठ है। अथवा समुद्रफेन के चूर्ण को युक्तिपूर्वक कान में छोड़े।

आर्द्रकसूर्यावर्तकशोभाञ्जनकमूलस्वरसाः ॥
मधुतैलसैन्धवयुताः पृथगुष्णाः कर्णशूलहराः ॥ ३० ॥

अरदक, सूर्यावर्तक (हुरहुर), सहिजन की जड़—इन सबों के स्वरस मधु, तैल तथा सेन्धा नमक मिलाकर थोड़ा गरम कर अलग-अलग कान में छोड़ने से कान के शूल को दूर करते हैं ॥ ३० ॥

देवदारुं वचां हिंगुं कुष्ठं मरिचसैन्धवम् ।
गोमयस्य रसं तैलं पक्वदोषहरं श्रुतेः ॥ ३१ ॥

देवदारु, वच, हिंगु, कूठ, मरिच तथा सेन्धा नमक, गोबर का रस तथा तैल कान के पक्वदोष को दूर करता है। अथवा अलग-अलग इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध सरसों का तैल बहते हुए कान को ठीक करता है ॥ ३१ ॥

वज्रीकाण्डात्त्वचाहीनादग्नितापनपीडनात् ।
यज्जलं तद्भृते कर्णे शूलं शाम्यति देहिनाम् ॥ ३२ ॥

वज्री (सेहुंड) के काण्ड की छिलका को निकाल कर आग में पकाकर और मसलकर निकाले हुए रस को कान में धारण करने से मनुष्यों के कान की पीड़ा शान्त हो जाती है ॥ ३२ ॥

तीक्ष्णशूलातुरे कर्णे सशब्दे क्लेदवाहिनि।
बस्तमूत्रं क्षिपेत्कोष्णं सैन्धवेन विमिश्रितम् ॥ ३३ ॥

स्रावयुक्त शब्द होनेवाले भयङ्कर शूल से पीड़ित कान में बकरी के मूत्र में सेन्धानमक मिलाकर थोड़ा गरम कर छोड़े। अर्थात् यह कर्णशूल को नष्ट करता है ॥ ३३ ॥

अश्वत्थपत्रखल्लं वा विधाय बहुपत्रकम् ।
अङ्गारपूर्णं तैलाक्तं निदध्याच्छ्रवणोपरि ॥ ३४ ॥
यत्तैलं स्रवते तस्मात्खल्लादङ्गारतापितात्।
तत्प्राप्तं श्रवणस्रोतः सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥ ३५ ॥

अश्वत्थ (पीपल) के पत्तों को कूट पीसकर टिकिया बनाकर या बहुत से पत्तों को तैल लगाकर कान के ऊपर रखें और अंगार (जलते हुए आग) से सेंके। उस टिकिया या पत्तों से आग के ताप से जो स्राव निकलता है वह कान में जाने से शीघ्र ही वेदना को दूर करता है। (अर्थात् अश्वत्थ के पत्तों को या उसके कल्क को आग में तपाकर मसलकर रस निकाल ले और गरम-गरम कान में छोड़े। यह कान की पीड़ा को दूर करता है) ॥ ३४-३५ ॥

अर्कस्य पत्रं परिणामपीत-
माज्येन लिप्तं शिखिना च तप्तम्।
आपीड्य तोयं श्रवणे निषिक्तं
निहन्ति शूलं बहुवेदनं च ॥ ३६ ॥

अपने आप पके हुए मदार के पीले पत्तों में घृत लगाकर आग में गरम करे और उसको मसल कर रस निकाल ले तथा कान में छोड़े। यह रस कान में छोड़ने से बहुत वेदनावाले कान के शूल को नष्ट करता है ॥ ३६ ॥

कर्णशूले दीपिकातैलाद्यास्तैलयोगाः—

महतः पञ्चमूलस्य काण्डान्यष्टाङ्गुलानि च।
क्षौमेणावेष्ट्य संसिच्य तैलेनादीपयेत्ततः ॥ ३७ ॥
यत्तैलं च्यवते तेभ्यो धृतेभ्यो भाजनोपरि।
ज्ञेयं तद्दीपिकातैलं सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥ ३८ ॥

कान के शूल में दीपिका-तैलाद्य तैल योग—महत्पञ्चमूल (बेल, गम्भारी, पाढल, अरलू तथा अरणी) के आठ अंगुल लम्बे प्रमाण के काण्डों (पतली

लकड़ियों) को लेकर उनमें कपड़ा लपेट दे और उनको तैल में भिगोकर गरम करे। उनसे जो तैल रक्खे हुए पात्र के ऊपर निकलता है उसे 'दीपिका तैल' कहते हैं। यह कान की वेदना को शीघ्र ही दूर करता है ॥ ३७-३८ ॥

एवं कुर्याद्भद्रकाष्ठे कुष्ठे च सारनालके।
मतिमान् दीपिकातैलं कर्णशूलनिवारणम् ॥ ३९ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति इसी प्रकार फरहद, कूठ, सारनालक (विजयसार) में भी करे अर्थात् इन वृक्षों के काण्ड को क्षौम वस्त्र लपेटकर आग से जलाये उससे जो तैल निकलता है उसको भी 'दीपिका तैल' कहते हैं। यह दीपिका तैल कान के शूल को दूर करता है ॥ ३९ ॥

वंशावलेखसंयुक्तं मूत्रे चाजाविके भिषक्।
पचेत्तैलं धृतं कर्णे कर्णशूलनिषूदनम् ॥ ४० ॥

वैद्य बकरी तथा भेड़ के मूत्र में वंशावलेख (बांस का छिलका) मिलाकर तैल पकावे। यह तैल कान में धारण करने से कान के शूल को नाश करता है ॥ ४० ॥

कुष्ठशुण्ठीवचादारुशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः।
बस्तमूत्रशृतं तैलं पूरणं श्रवणार्तिनुत् ॥ ४१ ॥

कूठ, सोंठ, वच, देवदारु, सोया का बीज, हिंगु तथा सेन्धा नमक इन द्रव्यों के कल्क के साथ बकरी के मूत्र में तैल-पाक विधि के अनुसार पकाया हुआ तैल कान में छोड़ने से कान की पीड़ा को दूर करता है ॥ ४१ ॥

जातीपत्रयुतं पक्वं गोमूत्रं वस्त्रगालितम्।
ईषदुष्णं भृतं कर्णे शूलपूतिविनाशनम् ॥ ४२ ॥

जातीपत्र (चमेली का पत्र) गाय के मूत्र में पकाकर कपड़े से छानकर थोड़ा गरम-गरम कान में छोड़ने से कर्णशूल तथा पूतिकर्ण को नाश करता है ॥ ४२ ॥

हिङ्गुतुम्बरुशुण्ठीभिः साध्यं तैलं तु सार्षपम्।
कर्णशूले प्रणादे तु पूरणं हितमुच्यते ॥ ४३ ॥

हिंगु, तुम्बरु तथा सोंठ—इन द्रव्यों को मिलाकर पकाया हुआ सरसों का तैल कर्णशूल तथा कर्णनाद रोग में कान में छोड़ना हितकर होता है। अर्थात् यह तैल कर्णशूल तथा कर्णनाद को नाश करता है ॥ ४३ ॥

कर्णक्ष्वेडादौ मधुशुक्तयोगः—

जम्बीराणां फलाहारं पिप्पलीमूलसंयुतम्।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ॥ ४४ ॥
मासेन सञ्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम्।

कर्णक्ष्वेडे कर्णनादे कटुतैलेन पूरणम् ।
नादबाधिर्ययोः कुर्याद्वातशूलोक्तमौषधम् ॥ ४५ ॥

कर्णक्ष्वेडादि में मधुशुक्त योग—विजौरा नींबू के फल का रस (एक सेर) तथा पिपरामूल (एक पाव) मिलाकर मधु के वर्तन में रखकर धान की राशि में एक मास तक रक्खे और उसके बाद छानकर रख ले। इस छाने हुए रस को 'मधुशुक्त' कहते हैं। इस रस को सरसों के तैल के साथ कर्णक्ष्वेड तथा कर्णनाद एवं कर्णबाधिर्य में कर्णशूल रोग में बताये गये औषधों का प्रयोग करे ॥ ४४-४५ ॥

कर्णनादेऽपामार्गतैलम्—

खरमञ्जरिभस्मजले तत्कृतकल्केन साधितं तिलजम् ।
अपहरति कर्णनादं बाधिर्यं कर्णपूरणतः ॥ ४६ ॥

कर्णनाद में अपामार्ग तैल—खरमञ्जरी (अपामार्ग) की भस्म के जल में अपामार्ग के कल्क के साथ पकाया हुआ तिल का तैल कान में छोड़ने से कर्णनाद तथा कर्णबाधिर्य को दूर करता है। (अपामार्ग की भस्म का जल चार सेर, इसी का कल्क एक पाव, तैल एक सेर लेकर तैल पकावे) ॥ ४६ ॥

बाधिर्ये दशमूल्यादितैलम्—

दशमूलीकषायेण तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।
तत्कल्केनैव दातव्यं बाधिर्ये परमौषधम् ॥ ४७ ॥

कर्णबाधिर्य में दशमूल्यादि तैल—दशमूल (बेल की छाल, गम्भारी की छाल, पाढल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) का क्काथ (तैल के चौगुना) तथा दशमूल का कल्क (तैल की चौथाई) लेकर एक प्रस्थ तिल का तैल पकावे और कर्णबाधिर्य (कान के बहरापन) में इस उत्तम औषध (तैल) को छोड़े ॥ ४७ ॥

कर्णशूलादौ दशमूलादिकषायः—

दशमूली वरा भद्रा भार्गी चैषां शृतं जलम् ।
व्योषहिङ्गुयुतं पीतं बाधिर्यं तेन शाम्यति ॥ ४८ ॥
सुदारुणे कर्णशूले क्ष्वेडे नादे च कर्णयोः ।
मुखनासाक्षिरोगेषु शीर्षरोगेषु शस्यते ॥ ४९ ॥
एष एव विधिः कार्यः प्रणादे नस्यपूर्वकः ।
गुडनागरतोयेन नस्यं स्यादुभयोरपि ॥ ५० ॥

कर्णशूल आदि में दशमूलादि कषाय—दशमूली (बेल, गम्भारी पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, बनभंटा, भटकटैया तथा गोखरू), त्रिफला (हरें, बहेड़ा, आंवला), भद्रा (वचा) तथा भांगरा समभाग इन

द्रव्यों के कषाय में व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) का चूर्ण तथा शु० हिंगु मिलाकर पान करने से कर्णबाधिर्य रोग शान्त होता है। यह कषाय भयंकर कर्णशूल, कर्णक्ष्वेड, कर्णनाद, मुख तथा नासिका के रोग में और शिरोरोग में प्रशस्त है। कर्णप्रणाद में भी नस्यपूर्वक इसी विधि को करे। गुड़ तथा सोंठ के क्वाथ से दोनों (कर्णक्ष्वेड तथा कर्णप्रणाद) में नस्य कर्म करे ॥४८–५०॥

कर्णस्रावप्रतीकारः—

चूर्णं पञ्चकषायाणां कपित्थरससंयुतम् ।
कर्णस्रावे प्रशंसन्ति पूरणं मधुना सह ॥ ५१ ॥

कर्णस्राव का प्रतिकार—पञ्चकषाय ([1]पञ्चवल्कल कषाय) का चूर्ण कैथ के रस में मिलाकर मधु के साथ कर्णस्राव रोग में कान में छोड़ने के लिये प्रशस्त बताते हैं ॥ ५१ ॥

सर्जत्वक्चूर्णसंयुक्तः कार्पासीफलजो रसः ।
मधुना संस्कृतोऽसौ तु कर्णस्रावे प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

सर्ज (शाल) की छाल का चूर्ण कपास के फल का रस तथा मधु मिलाकर पकावे और कान में छोड़े। यह योग कर्णस्राव में प्रशस्त है ॥ ५२ ॥

कर्णनाडीचिकित्सा—

असह्यवेदना पूतिं वहन्ती कर्णनाडिका ।
नागकर्णिरसैः पूर्णा शमं यात्यतिवेगतः ॥ ५३ ॥

कर्णनाडी चिकित्सा—नागकर्णी (एरण्ड) की जड़ के रस से कान को भरने से असह्य वेदनावाली पूयस्रावी कर्णनाडिका शीघ्र ही शान्त हो जाती है ॥ ५३ ॥

शम्बूकस्य तु मांसेन कटुतैलं विपाचयेत् ।
तस्य पूरणमात्रेण कर्णनाडी प्रशाम्यति ॥ ५४ ॥

शम्बूक (घोंघा) के या सीप के (सजीव घोंघा या सीप) मांस के साथ सरसों का तैल पकावे। इस तैल को कान में छोड़ने से कर्णनाडी रोग शान्त होता है ॥ ५४ ॥

चूर्णेन गन्धकशिलारजनीभवेन
मुष्टयंशकेन कटुतैलपलाष्टकं यत् ।
धत्तूरपत्ररसतुल्यमिदं विपक्वं
नाडीर्जयेच्चिरभवा अपि कर्णजाताः ॥ ५५ ॥

गन्धक, शिलाजीत तथा हल्दी का चूर्ण एक-एक मुष्टी (एक-एक छटांक)

---

१. 'पञ्चवल्कल' वट, पीपर, पाकड़, उदुम्बर, वेतस।

कर्णक्ष्वेडे कर्णनादे कटुतैलेन पूरणम् ।
नादबाधिर्ययोः कुर्याद्वातशूलोक्तमौषधम् ॥ ४५ ॥

कर्णक्ष्वेडादि में मधुशुक्त योग—बिजौरा नींबू के फल का रस (एक सेर) तथा पिपरामूल (एक पाव) मिलाकर मधु के बर्तन में रखकर धान की राशि में एक मास तक रक्खे और उसके बाद छानकर रख ले। इस छाने हुए रस को 'मधुशुक्त' कहते हैं। इस रस को सरसों के तैल के साथ कर्णक्ष्वेड तथा कर्णनाद एवं कर्णबाधिर्य में कर्णशूल रोग में बताये गये औषधों का प्रयोग करे ॥ ४४–४५ ॥

कर्णनादेऽपामार्गतैलम्—

खरमञ्जरिभस्मजले तत्कृतकल्केन साधितं तिलजम् ।
अपहरति कर्णनादं बाधिर्यं कर्णपूरणतः ॥ ४६ ॥

कर्णनाद में अपामार्ग तैल—खरमञ्जरी (अपामार्ग) की भस्म के जल में अपामार्ग के कल्क के साथ पकाया हुआ तिल का तैल कान में छोड़ने से कर्णनाद तथा कर्णबाधिर्य को दूर करता है। (अपामार्ग की भस्म का जल चार सेर, इसी का कल्क एक पाव, तैल एक सेर लेकर तैल पकावे) ॥ ४६ ॥

बाधिर्ये दशमूल्यादितैलम्—

दशमूलीकषायेण तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।
तत्कल्केनैव दातव्यं बाधिर्ये परमौषधम् ॥ ४७ ॥

कर्णबाधिर्य में दशमूल्यादि तैल—दशमूल (बेल की छाल, गम्भारी की छाल, पाढल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, बनभंटा, भटकटैया, गोखरू) का क्वाथ (तैल के चौगुना) तथा दशमूल का कल्क (तैल की चौथाई) लेकर एक प्रस्थ तिल का तैल पकावे और कर्णबाधिर्य (कान के बहरापन) में इस उत्तम औषध (तैल) को छोड़े ॥ ४७ ॥

कर्णशूलादौ दशमूलादिकषायः—

दशमूली वरा भद्रा भार्गी चैषां शृतं जलम् ।
व्योषहिङ्गुयुतं पीतं बाधिर्यं तेन शाम्यति ॥ ४८ ॥
सुदारुणे कर्णशूले क्ष्वेडे नादे च कर्णयोः ।
मुखनासाक्षिरोगेषु शीर्षरोगेषु शस्यते ॥ ४९ ॥
एष एव विधिः कार्यः प्रणादे नस्यपूर्वकः ।
गुडनागरतोयेन नस्यं स्यादुभयोरपि ॥ ५० ॥

कर्णशूल आदि में दशमूलादि कषाय—दशमूली (बेल, गम्भारी पाढल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, बनभंटा, भटकटैया तथा गोखरू), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), भद्रा (वचा) तथा भांगरा समभाग इन

द्रव्यों के कषाय में व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) का चूर्ण तथा शु० हिंगु मिलाकर पान करने से कर्णबाधिर्य रोग शान्त होता है। यह कषाय भयंकर कर्णशूल, कर्णक्ष्वेड, कर्णनाद, मुख तथा नासिका के रोग में और शिरोरोग में प्रशस्त है। कर्णप्रणाद में भी नस्यपूर्वक इसी विधि को करे। गुड तथा सोंठ के क्वाथ से दोनों (कर्णक्ष्वेड तथा कर्णप्रणाद) में नस्य कर्म करे ॥४८–५०॥

कर्णस्रावप्रतीकारः—

चूर्णं पञ्चकषायाणां कपित्थरससंयुतम् ।
कर्णस्रावे प्रशंसन्ति पूरणं मधुना सह ॥ ५१ ॥

कर्णस्राव का प्रतिकार—पञ्चकषाय ([1]पञ्चवल्कल कषाय) का चूर्ण कैथ के रस में मिलाकर मधु के साथ कर्णस्राव रोग में कान में छोड़ने के लिये प्रशस्त बताते हैं ॥ ५१ ॥

सर्जत्वक्चूर्णसंयुक्तः कार्पासीफलजो रसः ।
मधुना संस्कृतोऽसौ तु कर्णस्रावे प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

सर्ज (शाल) की छाल का चूर्ण कपास के फल का रस तथा मधु मिलाकर पकाये और कान में छोड़े। यह योग कर्णस्राव में प्रशस्त है ॥ ५२ ॥

कर्णनाडीचिकित्सा—

असह्यवेदना पूतिं वहन्ती कर्णनाडिका ।
नागकर्णिरसैः पूर्णा शमं यात्यतिवेगतः ॥ ५३ ॥

कर्णनाडी चिकित्सा—नागकर्णी (एरण्ड) की जड़ के रस से कान को भरने से असह्य वेदनावाली पूयस्रावी कर्णनाडिका शीघ्र ही शान्त हो जाती है ॥ ५३ ॥

शम्बूकस्य तु मांसेन कटुतैलं विपाचयेत् ।
तस्य पूरणमात्रेण कर्णनाडी प्रशाम्यति ॥ ५४ ॥

शम्बूक (घोंघा) के या सीप के (सजीव घोंघा या सीप) मांस के साथ सरसो का तैल पकावे। इस तैल को कान में छोड़ने से कर्णनाडी रोग शान्त होता है ॥ ५४ ॥

चूर्णेन गन्धकशिलारजनीभवेन
मुष्टिप्रमाणकेन कटुतैलपलाष्टकं यत् ।
धत्तूरपत्ररसतुल्यमिदं विपक्वं
नाडीर्जयेच्चिरभवा अपि कर्णजाताः ॥ ५५ ॥

गन्धक, शिलाजीत तथा हल्दी का चूर्ण एक-एक मुष्टी (एक-एक छटांक)

---

1. 'पञ्चवल्कल' वट, पीपर, पाकड़, उदुम्बर, वेतस ।

के साथ आठ पल (आठ छटांक) सरसो का तैल तथा समभाग धत्तूर के पत्तों का रस मिलाकर पकावे। यह तैल पुराने कान में उत्पन्न कर्णनाडी को भी जीत लेता है॥ ५५॥

कर्णप्रतिनाहचिकित्सा—

अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
विरिक्तकोष्ठ-शिरसः क्रियां प्राप्तां समाचरेत्॥ ५६॥

कर्णप्रतिनाह-चिकित्सा—कर्णप्रतिनाह नामक कर्णरोग में स्नेहन तथा स्वेदनकर्म को करे और कोष्ठ-विरेचन तथा शिरो-विरेचन के बाद प्राप्त क्रिया अर्थात् औषध-चिकित्सा को करे॥ ५६॥

कर्णपाकचिकिसा—

कर्णपाकस्य भैषज्यं कुर्यात् क्षतविसर्पवत्।
नाडीस्वेदोऽथ वमनं धूमो मूर्धविरेचनम्॥ ५७॥

कर्णपाक की चिकित्सा चत तथा विसर्प की चिकित्सा की तरह नाडीस्वेद, वमन, धूम और शिरोविरेचन करे॥ ५७॥

कर्णकण्डूचिकित्सा—

विधिश्च कफहा सर्वः कर्णकण्डूं व्यपोहति।
तैलमाक्षिकसिन्धूत्थैरार्द्रकस्वरसान्वितैः॥ ५८॥
सुखोष्णैः कफवातोत्थं कर्णशूलं प्रशाम्यति।

कर्णकण्डू की चिकित्सा—कफनाशक सभी विधियां कर्णकण्डू (कान की खुजली) को दूर करती है। मधु, सेन्धानमक, अदरक का स्वरस मिलाकर पकाया हुआ तैल थोड़ा गरमकर कान में छोड़ने से कफवातजन्य कर्णशूल को शान्त करता है।

पूतिकर्णचिकित्सा—

हरितालं सगोमूत्रं पूतिकर्णस्य पूरणम्॥ ५९॥
निर्गुण्ड्यर्केण सिद्धं तु तैलं वा कर्णयोजितम्।

पूतिकर्णचिकित्सा—हरिताल को गोमूत्र में मिलाकर कान में छोड़े। अथवा निर्गुण्डी के रस से सिद्ध तैल कान में छोड़े।

वरुणाम्रकपित्थाम्लजबूपल्लवसाधितम्॥ ६०॥
पूतिकर्णापहं तैलं जातीपत्ररसोऽथवा।
घृतं रसाञ्जन नार्याः क्षीरं क्षौद्रं च मिश्रितम्॥ ६१॥
प्रशस्यते चिरोत्थेऽपि सास्रावे पूतिकर्णके।

वरुण, आम, कैथ, इमली तथा जामुन के पल्लव से सिद्ध तैल पूतिकर्ण को

दूर करता है। अथवा चमेली के पत्तों का रस, घृत, रसाञ्जन, स्त्री का दूध तथा मधु मिलाकर कान में छोड़ना पुराने स्रावयुक्त पूतिकर्णक रोग में प्रशस्त है।

निर्गुण्डीस्वरसस्तैलं सिन्धुधूमरजो गुडः ॥ ६२ ॥
पूरणं पूतिकर्णस्य सुमनोमधुसंयुतः ।

निर्गुण्डी का रस, सरसों का तैल, सेन्धानमक, भोजनालय के धूवां का चूर्ण, गुड़, सुमनस् (चमेली के पत्ते का रस) तथा मधु मिलाकर पूतिकर्णरोग की शान्ति के लिये कान में छोड़े।

जातीपत्ररसे तैलं विपक्कं पूतिकर्णजित् ॥ ६३ ॥

चमेली के पत्तों के रस में पकाया हुआ तैल पूतिकर्ण रोग को जीत लेता है ॥ ६३ ॥

कृमिकर्णचिकित्सा—

सूर्यावर्तकस्वरसं सिन्दुवाररसं तथा ।
लाङ्गलीमूलकरसं त्र्यूषणेनावचूर्णिते ॥ ६४ ॥
पूरयेत्कृमिकर्णे तु जन्तूनां नाशन परम् ।

कृमिकर्णक की चिकित्सा—सूर्यावर्तक (हुरहुर) का स्वरस तथा सिन्दुवार का स्वरस, लाङ्गलो (कलिहारी) की जड़ का रस—इन तीनों द्रव्यों के रस में त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच) का चूर्ण मिलाकर कृमिकर्णरोग को शान्त करने के लिये कान में छोड़े। यह कान के क्रिमियों को अच्छी तरह नाश करता है।

कृमिकर्णकनाशार्थं कृमिघ्नं योजयेद्विधिम् ॥ ६५ ॥
वार्ताकधूमश्च हितः सार्षपस्नेह एव च ।

कान के क्रिमियों को नाश करने के लिये क्रिमिनाशक विधि का प्रयोग करे। कृमिकर्णक रोग में वनभंटा के फल का धूमनस्य तथा सरसो का तैल हितकर होता है।

जम्बूपत्र फलं पक तद्रसेनातिपूरितात् ॥ ६६ ॥
पतन्ति कृमयः कर्णाद् दुर्विनीता इवापदि ।

जामुन के पत्तों का रस तथा जामुन के पके फल का रस कान में छोड़ने से कान से कीड़े गिर जाते हैं। जैसे आपत्ति के आने पर दुर्विनीत व्यक्ति नष्ट हो जाते है।

कर्णगूथकचिकित्सा—

क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाय्य च ॥ ६७ ॥
शोधयेत्कर्णगूथं तु भिषक्सम्यक्छलाकया ।
धूपनं कर्णदौर्गन्ध्ये गुग्गुलुः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६८ ॥

राजवृक्षादितोयेन सुरसादिजलेन वा।
कर्णप्रक्षालनं कुर्याच्चूर्णैरेषां च पूरणम्।

कर्णगूथक की चिकित्सा—बुद्धिमान वैद्य कर्णगूथक रोग में तैल को कान में छोड़कर गीला करे और स्वेदन द्वारा उसे पिघलाये तथा इसके बाद शलाका से शोधन करे। अर्थात् कर्णगूथक को निकाल दे। कान के दुर्गन्धि में गुग्गुलु का धूप देना श्रेष्ठ होता है। [1]राजवृक्षादि के क्वाथ से या [2]सुरसादिगण के क्वाथ से कान को प्रक्षालन करे और उन्हीं द्रव्यों के चूर्ण को कान में छोड़े॥ ६७–६८॥

कर्णविद्रधिचिकित्सा—

विद्रधौ चापि कुर्वीत विद्रध्युक्तं च भेषजम्॥ ६९॥

कर्णविद्रधि की चिकित्सा—कर्णविद्रधि में विद्रधिरोग में कहे गये औषधों का प्रयोग करे॥ ६९॥

कर्णमूले कतिपययोगाः—

तैलाक्तवस्त्रशकलावृतदेवदारु-
काष्ठाद्विनिःसरति यज्ज्वलनप्रतप्तात्।
तत्तैलमाशु हरति श्रुतिरन्ध्रपीडां
श्रीवृक्षकाष्ठशकलेऽप्ययमेव कल्पः॥ ७०॥

कर्णशूल में कुछ योग—तैल से लिप्त वस्त्र के टुकड़ों से आवेष्टित देवदारु की लकड़ी से आग में तपाने से जो तैल निकलता है वह तैल शीघ्र ही कान के अन्दर की पीड़ा को दूर करता है। यही कल्प श्रीवृक्ष (गम्भारी) के

---

१. राजवृक्षादि (आरग्वधादि) गण—आरग्वध, मदनफल, गोपघोण्टा (बैर का भेद), कंटकी, कुटज, पाठा, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव, छतिवन, कुरण्टक (पियाबासा पीले तथा नीले पुष्प का), गुडूची, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या काकमांची), करञ्जद्वय (करञ्ज, पूतिकरञ्ज), परवल, किराततिक्तक (चिरायता), सुषवी (करैला) ये राजवृक्षादिगण हैं।

२. सुरसादिगण—सुरसा, श्वेतसुरसा (कृष्ण तथा श्वेत तुलसी), मरुवक (मरुआ या फणिज्झक), अर्जक (आजवला), भूस्तृण (रोहिषतृण), सुगन्धक (गन्धतृण), सुमुख (तुलसीभेद) कृष्णार्जक (कालमाल), कासमर्द (कसौंदी), क्षवक (नकछिकनी) खरपुष्पा (नकछिकनी या वर्वरिका भेद), विडङ्ग, कट्फल (कायफर), सुरसी (सफेद निर्गुण्डी), निर्गुण्डी (नीलपुष्पी निर्गुण्डी "सम्भालू"), कुलाहल (मुण्डिया "कुकुरशुंगा"), मूसाकर्णी, फंजी (भारङ्गी), प्राचीबल (काकजंघा), काकमाची, विषमुष्टि (राजनिम्ब, बकायन या कर्कोटकी अथवा कुचला)।

लकड़ी के टुकड़ों में भी करना चाहिए अर्थात् गम्भारी के लकड़ी को लेकर उसके ऊपर तैल में भिगोये हुए कपड़े को लपेटे और आग में तपाये। उससे जो तैल निकलता है वह कान की पीड़ा को दूर करता है ॥ ७० ॥

तप्ताङ्गारोपरिक्षिप्तवस्त्रबद्धे कणापुटे।
यो धूमस्तद्भृते कर्णे पूतिशूलं विनश्यति ॥ ७१ ॥

पीपर को कपड़े की पोटली में बाँधकर जलते हुए अंगार के ऊपर रखने से जो धूम निकलता है उसको कर्णपुट में धारण करने से कर्णपूति तथा कर्ण-शूल नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

सिन्धूत्थहिङ्गुसुरदारुवचाः सकुष्ठ-
विश्वौषधाः समधृता विनिधाय पक्वम्।
तैलं सगोमयरसं श्रुतिपूरणेन
हन्ति प्रसह्य सकलानपि कर्णरोगान् ॥ ७२ ॥

सेन्धानमक, शु० हिंगु, देवदारु, वच, कूठ तथा सोंठ—इन द्रव्यों के कल्क के साथ गोबर का रस मिलाकर पकाया हुआ तैल कान में धारण करने से हठपूर्वक सभी प्रकार के कर्णरोगों को नाश करता है (तैल एक सेर, गोबर का रस एक सेर, कल्क द्रव्य एक पाव तथा पानी चार सेर मिलाकर तैल पकावे) ॥ ७२ ॥

आवेष्ट्य सूर्यतरुपत्रचयेन वह्ना-
वुत्तापितात्स्रवसि यत्सलिलं रसोनात्।
यद्वा स्नुहीशकलतो गलितं तदाशु
कर्णव्यथां हरति पूरणतः प्रभाते ॥ ७३ ॥

सूर्यतरु (मदार) के पत्तों से बांधकर आग में पकाये हुए लहसुन से जो रस निकलता है अथवा सेहुंड के टुकड़ों को आग में पकाने से जो रस निकलता है वह रस सबेरे कान में छोड़ने से कान की पीड़ा को दूर करता है ॥ ७३ ॥

बस्तमूत्रयुतसैन्धवचूर्णं कर्णपूरणविधौ विनियुक्तम्।
नाडिकाद्वयमवस्थितमर्तिं श्रोत्रयोर्हरति पाकसमुत्थाम् ॥ ७४ ॥

बकरी के मूत्र में सेन्धानमक मिलाकर कान में डालने के लिये नाडिका यन्त्र में रखकर प्रयोग करने से कान के कर्णपाक से उत्पन्न पीड़ा को दूर करता है ॥ ७४ ॥

कर्णपालिवर्धकाः कतिपययोगाः—

शतावरीवाजिगन्धापयस्यैरण्डबीजकैः।
तैलं विपक्वं सक्षीरं पालीनां पुष्टिकृत्परम्।

अश्वगन्धा तथाऽलाबुश्चन्दनं सर्षपाः समाः ॥ ७५ ॥

कर्णपालिका के बढ़ानेवाले कुछ योग—शतावरी, अश्वगन्धा, पयस्या (क्षीरकाकोली) तथा एरण्ड बीज (रेंड़ी का बीज) समभाग—इन द्रव्यों के कल्क (तैल के चौथाई) के साथ तैल के चौगुने दूध में पकाया हुआ तैल कर्णपाली को अच्छी तरह पुष्ट करता है ॥ ७५ ॥

माहिषं नवनीतं च कल्कः कर्णविवर्धनः ।
पालिपुष्टिकरं तैलं लामीद्रक्षण (?) साधितम् ॥ ७६ ॥

अश्वगन्धा, अलाबू (कड़वी लौकी) तथा सरसों समभाग—इन द्रव्यों का कल्क तथा भैंस का मक्खन लेप करने से कान बढ़ानेवाला है। लामी तथा द्रक्षण से सिद्ध किया हुआ तैल कर्णपाली को मजबूत करता है ॥ ७६ ॥

जातीदलप्रसवपीडनजेन पूर्णः
कर्णो रसोनसुरभीसलिलेन वापि ।
पूत्यामयं त्यजति तत्क्षणसंप्रनष्ट-
तीव्रव्यथापरिचयप्रतिपन्नसौख्यः ॥ ७७ ॥

चमेली के मुलायम पत्तों को मसलकर निकाले हुए रस अथवा लहसुन के रस से कान को भर देने से कर्णपूतिरोग छोड़ देता है और उसी समय भयंकर पीड़ाओं को नष्ट कर सौख्य को प्रदान करता है। अर्थात् यह योग बढ़ी हुई भयंकर पीड़ा को नष्ट कर सुख देता है ॥ ७७ ॥

मुशलीकन्दक्षोदो माहिषनवनीतमिश्रितोऽभ्यङ्गात् ।
वर्धयति कर्णपालीं सप्ताहं धान्यराशिधृतः ॥ ७८ ॥

मुसलीकन्द का चूर्ण भैंस के घृत में मिलाकर एक सप्ताह तक धान्य (अनाज) की राशि में रखे और उसको निकाल कर लेप करे यह कर्ण को बढ़ाता है ॥ ७८ ॥

गुञ्जाफलैर्विदलितैः क्वथितान्महिष्याः
क्षीरात् क्रमेण जनितं घृतमाहृतानाम् ।
अभ्यञ्जनादनुदिनं कुरुते मृदुत्वं
विस्तीर्णतां च परमामिह कर्णपाल्याः ॥ ७९ ॥

गुञ्जाफल (घुंघुची) को कूटकर उसको भैंस के दूध में पकाकर उसके दही से निकाला हुआ घृत प्रतिदिन अभ्यङ्ग करने से कर्णपाली को मृदु तथा अधिक विस्तीर्ण (बड़ा) बना देता है ॥ ७९ ॥

कटुकतुम्बकबीजसमुद्भवं खरजलेऽष्टगुणे सविषं शृतम् ।
भवति तैलमलं श्रवणोचितं श्रवणपाशकवृद्धिविधायकम् ॥ ८० ॥

कड़वीतुम्बी (कड़वी लौकी) के बीज को कूटकर अठगुने खारे जल में विष (वत्सनाभ) मिलाकर पकाने से जो तैल निकलता है वह कर्णपाली को बढ़ानेवाला होता है ॥ ८० ॥

कुष्ठाश्वगन्धागजपिप्पलीनां चूर्णं समानां नवनीतपक्वम् ।
कर्णप्रवृद्धिं स्तनतुङ्गतां च काठिन्यमुच्चैर्विदधाति लेपात् ॥ ८१ ॥

कूठ, अश्वगन्धा, तथा गजपीपर, समभाग—इन द्रव्यों को नवनीत (मक्खनों) में पकाकर लेप करने से कान की वृद्धि, स्तन को ऊँचा तथा अच्छी तरह कठिन बनाता है ॥ ८१ ॥

बाधिर्ये काकजङ्घायोगः—

समूलकाकजङ्घाया रसस्तैलेन पाचितः ।
तेन पूरितकर्णस्य बाधिर्यं शाम्यति ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

कर्णबाधिर्य में काकजङ्घा योग—मूलसहित काकजंघा (कौवाढेंगा) के रस को तैल में पकाकर कान में छोड़ने से निश्चित ही बाधिर्यरोग शान्त होता है ॥ ८२ ॥

क्रिमिकर्णकप्रतीकारः—

कृष्णभ्रमरिकापत्ररसस्तैलसमन्वितः ।
सकाञ्जिको वा निःक्षिप्तः कर्णजन्तुविनाशकृत् ॥ ८३ ॥

कृमिकर्णक का प्रतिकार—कृष्ण भ्रमरिका (कालीभार्गी) के पत्तों का रस तैल में या काञ्जी में मिलाकर कान में छोड़ने से कान की कृमियों को नाश करता है ॥ ८३ ॥

शिग्रुमूलरसे तैले पाचिते मधुनान्विते ।
भृते कर्णेऽतिवेगेन शूलं शाम्यति देहिनः ॥ ८४ ॥

सहिजन की जड़ के रस में तैल पकाकर उसमें मधु मिलाकर कान में डालने से मनुष्यों के कान के शूल को अति शीघ्र शान्त करता है ॥ ८४ ॥

सतैलककपित्थेन सव्रणा कर्णपालिका ।
लिप्ता पश्चाद्वचाचूर्णसंयुता निर्व्रणा भवेत् ॥ ८५ ॥

इति श्रीवैद्यसोढलग्रथिते गदनिग्रहे तृतीये शालाक्यतन्त्रखण्डे
कर्णरोगाधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥

कैथ मिलाकर पकाये हुए तैल से व्रणयुक्त कर्णपालिका का लेप करने से तथा बाद में वचा का चूर्ण लगाने से कर्णपालिका का व्रण नष्ट हो जाता है ॥ ९५ ॥

वैद्य सोढलविरचित गदनिग्रह के तीसरा शालाक्यतन्त्र में
दूसरा कर्णरोगाधिकार समाप्त ।

अथ नेत्ररोगाधिकारस्तृतीयः ।

अथातो नेत्ररोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

कर्णरोग के बाद नेत्ररोग का निदान कहते हैं ।

नेत्ररोगसंप्राप्तिः—

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद् दूरेक्षणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्दिर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥ १ ॥
द्रवान्नपानान्निशि सेविताच्च विण्मूत्रशुक्रानिलसंग्रहाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकाच्छिरोभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।
बाष्पग्रहात्सूर्यनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥ ३ ॥

नेत्र रोग की सम्प्राप्ति—अधिक धूप में रहने के बाद सहसा शीतल जल में प्रवेश करने से, दूर की वस्तुओं को अधिक देर तक देखने से, स्वप्न-विपर्यय (उचित समय पर न सोना या दिन में सोना और रात्रि में जागना), स्वेदन, (धूप) तथा धूल और धूम को सेवन करने से (आंखों के साथ संसर्ग होने से), वमन को रोकने से तथा वमन के अतियोग से अर्थात् वमन के अत्यधिक निकलने से, रात्रि में द्रवाधिक्य अन्न के अत्यधिक सेवन करने से, वेग-विधारण (मल, मूत्र, वीर्य तथा वात आदि के वेग को विधारण) करने से, निरन्तर रोते रहने से, अत्यधिक क्रोध तथा शोक करने से, सिर में चोट लगने तथा अत्यधिक मद्य पान करने से, ऋतुओं के विपर्यय से (ऋतुओं के अनुसार समय का न होने से), शारीरिक तथा मानसिक कष्ट अधिक होने से, अत्यधिक स्त्री-प्रसङ्ग करने से, आंसुओं को रोकने से तथा सूर्य को निरन्तर देखने से प्रकुपित हुए दोष आंखों में विकारों (नेत्र रोगों) को उत्पन्न करते हैं ॥ १–३ ॥

विमर्शः—नेत्रों की रक्षा करने के लिये महर्षियों ने अधिक जोर दिया है ।[1] मनुष्यों को जीवन पर्यन्त नेत्रों की रक्षा में लगे रहना चाहिए क्योंकि सभी साधनों के होते हुए भी नेत्र के बिना रात और दिन समान है । ऐसे नेत्रहीन व्यक्तियों के लिये दृश्य संसार व्यर्थ है ।

---

१. चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा ।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते ॥
अ० हृ० ३१२

आचार्य सुश्रुत ने नेत्ररोगों की संख्या षट्सप्तति यानी छिहत्तर ७६ बताई है। इसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा। सर्वप्रथम नेत्र की रचना की जानकारी अत्यावश्यक है क्योंकि नेत्र शरीर का ज्ञान रहने से नेत्ररोगों के समुचित ज्ञान में सहायता मिलती है।

आर्षग्रन्थों में नेत्रगोलक (नेत्रबुद्बुद वा नयनबुद्बुद) की लम्बाई, चौड़ाई, गहराई या मोटाई के अतिरिक्त उसके आकार तथा उसके आभ्यन्तरिक रचना का वर्णन किया गया है।

अक्षिगोलक[1] अपने अंगुष्ठोदर के समान दो अंगुल का दिखाई देता है और चारो ओर से (लम्बाई या चौड़ाई) ढाई २॥ अंगुल होता है। कहीं २ पर अक्षिगोलक दो अंगुल का होता है ऐसा वचन मिलता है "विद्याद् द्व्यङ्गुल-बाहुल्यम्"। अर्थात् नेत्रगोलक का आयाम दो अगुल तथा वर्त्मसंयुक्त नेत्र-गोलक ढाई अंगुल का होता है। अपने अपने अङ्गुष्ठोदर के समान प्रत्येक व्यक्ति के अक्षिगोलक की लम्बाई, चौड़ाई ढ़ाई अंगुल की होती है। नेत्र का आकार गाय के स्तन के समान गोल होता है। आधुनिक मतानुसार नेत्र का सम्पूर्ण माप एक इञ्च या इससे कुछ अधिक होता है। इस प्रकार नेत्र के माप के विषय में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्तव्यों में अधिक साम्य है।

नेत्र की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से बताई गई है "पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात्कृष्णं सितं जलात्। आकाशादश्रुमार्गाश्च जायते नेत्रबुद्बुदम्। अर्थात् नेत्रगोलक का मांसल भाग पृथ्वी से, रक्त अग्नि से, कृष्ण भाग वायु से श्वेत मण्डल जल से तथा अश्रु मार्ग आकाश से बनते हैं।

सुश्रुत ने कृष्ण मण्डल तथा दृष्टि का माप निम्न प्रकार से बताया है "नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते। कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः"। नेत्रगोलक का आयाम ढाई अगुल होता है और उसका तीसरा भाग ($\frac{1}{3}$ भाग) कृष्ण मण्डल का होता है। दृष्टिमण्डल कृष्णमण्डल का सातवां भाग $\frac{1}{7}$ होता है। दृष्टि का आकार मसूर के दाल के समान होता है। नेत्रगोलक बाहर से देखने पर दो भागों में बटा हुआ दिखाई देता है इसके आगे का भाग काला और पारदर्शक होता है उसे 'कृष्णमण्डल' कहते हैं। यह कुल नेत्र का $\frac{1}{6}$वां भाग होता है। पीछे का $\frac{5}{6}$ भाग सफेद होता है और इसे 'श्वेत मण्डल' कहते हैं। कृष्ण मण्डल में जो छिद्र के समान दिखाई देता है इसको 'दृष्टिमण्डल या कनीनिका' (पुपिल) कहते हैं।

---

१. विद्याद् द्व्यंगुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम्।
द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्॥

प्राचीन आचार्यों ने नेत्र[1] को तीन भागों में विभक्त किया है। मण्डल, सन्धि तथा पटल नेत्र में मण्डल ५, सन्धि ६ तथा पटल ६ होते हैं।

(क) [2]मण्डल—(१) पक्ष्ममण्डल (२) वर्त्ममण्डल, (३) श्वेत मण्डल, (४) कृष्णमण्डल, (५) दृष्टिमण्डल।

(ख) सन्धि[3] (१) पक्ष्मवर्त्मगत, सन्धि, (२) वर्त्मशुक्लगत सन्धि, (३) शुक्ल-कृष्णगत सन्धि, (४) कृष्ण दृष्टिगत सन्धि, (५) कनीनिकागत सन्धि, (६) अपांगगत सन्धि।

(ग) [4]पटल दो वर्त्मपटल तथा चार नेत्रपटल। आधुनिक विद्वान् तीन पटल मानते हैं (१) [5]बाह्यपटल (२) मध्य[6] पटल (३) [7]अन्तः पटल सुश्रुताचार्य ने नेत्र में होनेवाले ७६ रोगों[8] का वर्णन किया है। जिनमें नव सन्धिगत नेत्र रोग, एक्कीस वर्त्मगत नेत्र रोग, ग्यारह शुक्लगत नेत्ररोग, चार कृष्ण गतरोग, सत्तरह सर्वगत नेत्ररोग, बारह दृष्टिगत नेत्ररोग तथा

---

१. मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने।
यथाक्रमं विजानीयात् पञ्च षट् च षडेव च॥

२. पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथाक्रमम्॥

३. पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिवर्त्मशुक्लगतोऽपरः।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः॥
ततः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः।

४. द्वे वर्त्म पटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि।
जायन्ते तिमिरं तेषु व्याधिः परमदारुणः॥
तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चाश्रितम्॥
पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते।

५. वहिः पटल = सौत्रिक पटल Febrous tıuıe, स्केलरा Sclra, कृष्णमण्डल corne,

६. मध्यपटल = तारा मण्डल Irıs, कोरायड chorıs,

७. अन्तःपटल दृष्टि वितान (Retina)

८. षट्सप्ततिविकाराणामेषां संग्रहकीर्तना।
नव नवसन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः॥
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः।
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु॥
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ।

बाह्य दो रोग इस प्रकार छिहत्तर नेत्ररोग होते हैं। दोषों[1] के अनुसार गणना करने पर भी वायु से दश, पित्त से दश, कफ से तेरह, रक्त से सोलह, सान्निपातिक पच्चीस तथा बाह्य दो कुल मिलाकर छिहत्तर नेत्र रोग होते हैं। इन ७६ नेत्ररोगों का नाम, अधिष्ठान तथा दोषों की प्रबलता के अनुसार वर्णन करेंगे जिससे नेत्ररोगों का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

सुश्रुत के अनुसार नेत्र रोग का सामान्य निदान

(१) प्रचण्ड गर्मी से आकर एकाएक शीतल जल में स्नान करना, (२) दूरेक्षण-बल लगाकर (आंखों पर जोर देकर) दूर तक देखना, (३) सूक्ष्म निरीक्षण—बहुत छोटी चीजों का देखना, (४) स्वप्नविपर्यय—नियमित समय के अनुसार निद्रा का सेवन न करना, (५) बाष्पग्रह—आसुओं के वेग को रोकना, (६) प्रसक्तसंरोदन—आंसुओं के वेग को रोककर रोदन करना या निरन्तर रोते रहना, (७) कोप—अत्यधिक क्रोध करना, (८) शोक—अत्यधिक शोक करना, (९) क्लेश—दैहिक तथा मानसिक क्लेश का होना (१०) अभिघात—यान्त्रिक या रासायनिक द्रव्यों से आघात का होना, (११) बाष्पादि के द्वारा आंखों का अत्यधिक स्वेदन करना, (१२) धूम निषेवण—अधिक धूयें में रहना, (१३) वेग-विनिग्रह—मल, मूत्र, वीर्य तथा वात आदि वेगों को रोकना, (१४) छर्दिविघात—कफ के वेगों को रोकना, (१५) वमन का अतियोग होना या अधिक वमन का होना, (१६) अति मैथुन—अति मैथुन के कारण शरीर के क्षीण हो जाने से नेत्ररोग हो जाते हैं। (१७) शुक्त, आरनाल, अम्ल, कुलथी, उड़द आदि द्रव्यों का अधिक सेवन करना, इत्यादि कारणों से दोष विकृत होकर नेत्ररोग उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त (१८) अवाक्शिर सोना (नीचे सिर करके सोना), (१९) सिर को ऊंचा करके सोना, (२०) ज्वर होना तथा (२१) ऋतु का विपर्यय आदि भी नेत्ररोग के सामान्य कारण हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार नेत्र रोग के निदान सात भाग में विभक्त हैं। (१) [2]आदिबलप्रवृत्त (कुलज, वंशज) तथा जन्मबलप्रवृत्त—जन्मलब्ध या सहज विकार, दोषबलप्रवृत्त, संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दवबलप्रवृत्त, स्वभावबलप्रवृत्त।

---

१. वाताद्दश तथा पित्तात्कफाच्चैव त्रयोदश ॥
रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः।
तथा बाह्यौ पुनर्द्वे च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ॥

२. ते पुनः सप्तविधा व्याधयः आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ताः इति सु० सू० २४।

(२) दैहिक अभिघातज,

(३) यान्त्रिक अभिघातज,

(४) रसायनिक अभिघातज,

(५) कीटाणुजन्य अभिघातज,

(६) अपक्रान्तिजन्य विकृति (स्वभावबलप्रवृत्तनेत्ररोग),

(७) अर्बुदजन्य विकार आदि । इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य ग्रन्थों में नेत्ररोग के निदानों में बहुत कुछ समता पाई जाती है ।

सर्वनयनगतसप्तदशरोगलक्षणानि—

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण नेत्रगत सत्तरह नेत्ररोगों के लक्षण—वात से, पित्त से, कफ से तथा रक्त से चार प्रकार का भयंकर अभिष्यन्द रोग उत्पन्न होता है । यह चारों प्रकार का अभिष्यन्द रोग सभी प्रकार के नेत्ररोगों को उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥

विमर्श—जिस रोग में आंखों से अधिक स्राव हो उसे 'अभिष्यन्द' कहते हैं । सामान्यतः इसको ग्रामीण भाषा में आंख आना या आंख दुःखना कहते हैं । इस अवस्था विशेष में नेत्र की श्लेष्मल कला में रक्त की अधिकता तथा शोथ होता है । इसको नेत्र श्लेष्मावरण शोथ भी कहते हैं । यह रोग गर्मी के दिनों में अधिक होता है ।

इसके निम्नलिखित लक्षण होते हैं ।

(१) नेत्र का लाल होना—रक्ताधिक्य के कारण नेत्र कला रक्तवर्ण की हो जाती है ।

(२) स्राव—नेत्रस्राव अधिक होता है । सौम्य प्रकार में पिच्छिल स्वरूप का होता है किन्तु भयंकर प्रकार में पूय भी मिश्रित रहता है । रात्रि में सोने पर जो स्राव निकलता है वह सूख कर पलकों के किनारों पर चिपक जाता है । इस स्राव के संसर्ग होने पर स्वस्थ व्यक्ति में भी इसका उपसर्ग हो जाता है ।
(३) नेत्र में पीड़ा—इसकी प्रारम्भावस्था में वेदना कम होती है किन्तु रोग की प्रवृद्धावस्था में वेदना बढ़ जाती है और आंखों में बालू पड़े हुए के समान प्रतीति होती है । उससे नेत्रों में कड़क होती है और इसके कारण शिरःशूल भी होता है ।

(४) प्रकाशासह्यता अथवा प्रकाश से त्रास—रोगी को अन्धकार में रहना अच्छा लगता है । प्रकाश में उसकी आंखें बन्द हो जाती है ।

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ५ ॥

वातिक अभिष्यन्द का लक्षण—वातजन्य-अभिष्यन्द में नेत्रों में सूचीवेधन के समान वेदना, जकड़न, रोमाञ्च, आंखों में किड़किड़ाहट अथवा रगड़, रूक्षता, सिर में पीड़ा, नेत्रों में मल का अभाव, तथा शीतल आंसू का निकलना ये लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ६ ॥

पैत्तिक नेत्राभिष्यन्द—पित्तजन्य नेत्राभिष्यन्द में नेत्रों में जलन, पाक, शीतल पदार्थों को सेवन करने की इच्छा, धूवां निकलने के समान प्रतीत होना, आंसुवों का अधिक निकला तथा गरम होना और नेत्रों में पीलापन होना ये लक्षण होते हैं ॥ ६ ॥

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोफः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।
स्रावो बहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ७ ॥

श्लैष्मिक नेत्राभिष्यन्द—कफज नेत्राभिष्यन्द में उष्ण पदार्थों को सेवन करने की इच्छा, आंखों में भारीपन तथा उनमें सूजन, खुजली, आंखों का लिप्त रहना, अत्यधिक शीतलता, तथा नेत्रों में पिच्छिलस्राव का अधिक मात्रा में निकलना ये लक्षण होते हैं ॥ ७ ॥

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ८ ॥

रक्ताभिष्यन्द—रक्तज-अभिष्यन्द में ताम्रवर्ण के आंसुओं का निकलना, नेत्रों में लालिमा, नेत्रों के चारों तरफ की केशिकावों का लाल होना तथा पैत्तिक नेत्राभिष्यन्द के सभी लक्षण होते हैं। इस रोग में नेत्र की कलाओं के केशिकाओं में विशेष रक्तिमा की प्रतीति होती है ॥ ८ ॥

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥ ९ ॥

समुचित चिकित्सा न करनेवाले मनुष्यों के अभिष्यन्दों के बढ़ने से आंखों में तीव्रवेदना को उत्पन्न करनेवाले उतने ही अधिमन्थ उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् वाताभिष्यन्द से वाताधिमन्थ, पित्ताभिष्यन्द से पित्ताधिमन्थ, कफाभिष्यन्द से कफाधिमन्थ तथा रक्ताभिष्यन्द से रक्ताधिमन्थ उत्पन्न होता है। दोषानुसार अधिमन्थों में तोद, भेद-आदि विभिन्न प्रकार की वेदनायें अभिष्यन्द की अपेक्षा तीव्र प्रकार की होती हैं। (यह सर्व नेत्रगत रोग है इससे सम्पूर्ण नेत्र में भयङ्कर वेदना होती है इसी को 'एक्यूट ग्लोकोमा' (तीव्र ग्लोकोमा) कहते हैं ॥ ९ ॥

उत्पाट्यत इवात्यर्थ नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।

शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ १० ॥

इस अधिमन्थ रोग के उत्पन्न होने पर रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसकी आंखे तथा आधे सिर को कोई उखाड़ रहा है तथा मथन कर रहा है। इन लक्षणों के साथ पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त रोग को 'अधिमन्थ रोग' कहते है॥ १० ॥

विमर्शः—वातज, पित्तज, कफज तथा रक्तज ये चार प्रकार के अधिमन्थ रोग होते हैं। आधुनिक विज्ञान में इसको 'तीव्र ग्लोकोमा' कहते हैं। इसमें भयंकर शिरोवेदना होती है तथा अक्षिगोलक आगे के तरफ फूल जाता है। [1]वाग्भट के अनुसार इस रोग में सिर, दन्त, कपोल तथा शंख प्रदेश में भी पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त कृष्ण मण्डल के मध्य में धुंधलापन, दृष्टि की मन्दता, दृष्टि का विस्फार तथा कृष्ण मण्डल के चारो तरफ लालिमा। ये लक्षण इसके पूर्वरूप में प्रतीत होते हैं। ये लक्षण कुछ समय रहने के बाद नष्ट हो जाते हैं। पुनः कुछ दिन के बाद किसी उत्तेजक कारण से रोग उत्पन्न हो जाता है। धीरे-धीरे दृष्टि शक्ति नष्ट होने लगती है, आँखों में तीव्र वेदना होती है, कभी-कभी मिचली, वमन आदि शारीरिक लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी की पलके सूज जाती हैं।

हन्याद् दृष्टिं सप्तरात्रात्कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्संभवः पञ्चरात्रात्।
षड्रात्राद्वातिको वै निहन्यान्मिथ्याचारात्पैत्तिकः सद्य एव ॥ ११ ॥

श्लैष्मिक-अधिमन्थ सात दिन में, रक्त-जन्य-अधिमन्थ पांच दिन में, वातिक-अधिमन्थ छः दिन मे तथा पैत्तिक अधिमन्थ मिथ्याचार (कुपथ्य) करने से शीघ्र ही दृष्टि शक्ति का नाश कर देता है। (सद्यः अर्थात् तीन दिन के अन्दर) दृष्टि का नाश कर देता हैं। कभी २ देखा गया है कि तीव्र प्रकार का अधिमन्थ कुछ घटों में ही दृष्टि का नाश कर देता है॥ ११ ॥

उदीर्णवेदनं नेत्रं शोथरागसमन्वितम् ।
घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥ १२ ॥

सामनेत्र रोग का लक्षण—भयंकर शूल, रक्तिमा, सूजन, कड़कड़ाहट, सूई के चुभोने के समान वेदना, शूल तथा आखों से स्राव निकलना ये साम नेत्र रोग के लक्षण हैं॥ १२ ॥

विमर्श :—स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् ।
लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट् ॥

---

१. अधिमन्था यथास्वं च सर्वे स्यन्दाधिकव्यथाः।
शंखदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः ॥

अंजनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् ।
नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं चापि विवर्जयेत् ॥

अर्थात् सामनेत्र रोग में स्वेद, प्रलेप, तिक्तअन्नपान, धूम्रपान चार दिन का समय, तथा लंघन (उपवास) ये छः पाचन होते हैं। इसमें अंजन का प्रयोग, घृतपान, कषाय रस प्रधान पदार्थों का सेवन, गरिष्ठ भोजन तथा स्नान करना छोड़ देना चाहिए ॥ १२ ॥

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वं दोषमादिशेत् ॥ १३ ॥

पक्व नेत्र रोग में पक्व दोष का लक्षण—आंखों में मन्द वेदना, कण्डू, सूजन, नेत्र से स्राव का शान्त होना तथा आंखों के रङ्ग (लालिमा) का ठीक होना ये नेत्र रोग में पक्व दोष के लक्षण हैं ॥ १३ ॥

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः ।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोफजः ।
शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे ॥ १४ ॥

शोथजन्य नेत्रपाक में खुजली, उपदेह तथा अश्रु स्राव होता है। इसका वर्ण पके हुए गूलर के फल के समान होता है। पहले इसमें शोथ होता है और उसके बाद पकता है। अशोथज नेत्रपाक में शोथ को छोड़कर अन्य सभी लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥ १५ ॥

हताधिमन्थ का लक्षण—जब वातिक अधिमन्थ उपेक्षा करने पर बलपूर्वक भयंकर पीड़ाओं से दृष्टि को नष्ट कर देता है तो उसे 'हताधिमन्थ' कहते हैं। यह रोग असाध्य होता है ॥ १५ ॥

विमर्श :—सुश्रुताचार्य तथा आचार्य [1]विदेहः इस रोग के दो रूप मानते हैं पहला दृष्ट्युत्क्षेपण (नेत्र का बाहर निकल जाना), दूसरा सम्पूर्णनेत्रशोष (सूखकर सम्पूर्ण नेत्र का अन्दर बैठ जाना)। इसमें वायु नेत्र की शिराओं में प्रविष्ट होकर दृष्टि-शक्ति को नष्ट कर देता है। दृष्टि-नाश होने पर वायु

---

१. अन्तर्गतशिरायां तु यदा तिष्ठति मारुतः ।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति ।
तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः ॥
नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः ।
अथवा शोषयेदक्षि क्षीणतेजोबलाश्रयम् ।
तत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥

शूल, तोद तथा मन्थन करता हुआ नेत्र-गोलक को बाहर की ओर निकाल देता है यह उत्क्षेपण की अवस्था है। दूसरी अवस्था में अग्नि बल के क्षीण हो जाने पर वायु नेत्रगोलक को सुखा डालता है। आंखें सूखे कमल के समान हो जाती हैं। यह वातकोपजन्य असाध्य व्याधि 'हताधिमन्थ' कहलाती है।

वारं वारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥ १६ ॥

वातपर्यय नेत्ररोग—जिस रोग में वायु बार-बार भ्रुकुटि तथा नेत्र में पहुँचकर बारी-बारी से अनेक प्रकार की तीव्र पीडायें उत्पन्न करता है उसे 'वातपर्यय या वातपर्याय' कहते हैं ॥ १६ ॥

यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म संदह्यते चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥

शुष्काक्षिपाक—नेत्ररोग की जिस अवस्था में पलक बन्द होकर स्पर्श में कठिन तथा रूक्ष हो जाते हैं उनमें दाह होता है, रोगी को धुंधुला दिखाई देता है तथा नेत्रों के खोलने में कष्ट होता है या खोलने पर नेत्रों में अत्यधिक रूक्षता दिखाई देती है उसे 'शुष्काक्षिपाक' कहते हैं ॥ १७ ॥

यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ १८ ॥

अन्यतोवात—जिस रोगी की अवटु (ग्रीवा का पश्चात् भाग) मन्या (ग्रीवा-पार्श्वस्थ-सिरायें) कान, सिर तथा हनु में अथवा अन्य प्रदेश में स्थित वायु भ्रुकुटि या आंख में पीडा करता है तो उस अवस्था को (इन लक्षणों से युक्त रोग को) 'अन्यतोवात' कहते हैं ॥ १८ ॥

विमर्श—नेत्र के समीपस्थ या दूर के अंगों में स्थित विकृति के कारण जब भ्रू तथा नेत्र में वेदना होती है तो नेत्र रोग हो गया है ऐसा ज्ञात होता है। विदेह[1] ने भी कहा है कि दोनों मन्याओं के बीच में या पृष्ठभाग में उठी हुई वायु जब शंख प्रदेश, नेत्र एवं भ्रू में भेदन, तोदन सी वेदना उत्पन्न करती है तो उसे 'अन्यतोवात' कहते हैं।

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते।
सदाहशोफं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥

अम्लाध्युषित—अधिक खट्टे पदार्थों का सेवन करने से सम्पूर्ण नेत्र नील-

---

१. मन्ययोरन्तरे वायुरुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा।
करोति भेदं निस्तोदं शंखे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा ॥
तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः। विदेह

रक्त होकर पक जाता है और इसमें जलन, सूजन, होती है तथा स्राव निकलता है ऐसे रोग को 'अम्लाध्युषित' कहते हैं ॥ १९ ॥

अवेदनं चापि सवेदनं वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः ।
मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग्व्याधिः शिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥२०॥

शिरोत्पात—जिस रोग में नेत्र की सिरायें ताम्रवर्ण की या रक्तवर्ण की हो जायँ, जिसमें वेदना की उपस्थिति हो या वेदना न भी हो और अत्यधिक रक्त-वर्ण की होती जाय उस रोग को 'शिरोत्पात' नेत्र रोग कहते हैं । (इसको आधुनिक पुस्तकों में "पैनस" (pannus) कहते हैं ॥ २० ॥

मोहाच्छिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु शिराप्रहर्षः ।
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥ २१ ॥

शिराप्रहर्ष—जब अज्ञानता के कारण सिरोत्पात रोग की उपेक्षा की जाती है तब सिराप्रहर्ष नामक रोग उत्पन्न होता है । आंखों से ताम्रवर्ण का तथा गाढ़ा स्राव निकलता है और रोगी किसी भी वस्तु को देखने में असमर्थ रहता है ॥ २१ ॥

सर्वगत नेत्ररोगों का विवरण-कोष्ठक

रोग का नाम	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सामान्य चिकित्सा
अभिष्यन्द	नेत्र-श्लेष्मावरण	—	औषध-साध्य
वाताभिष्यन्द	,,	वातिक	,,
पित्ताभिष्यन्द	,,	पैत्तिक	,,
कफाभिष्यन्द	,,	श्लैष्मिक	,,
रक्ताभिष्यन्द	,,	रक्तज	,,
वाताधिमन्थ	,,	वातिक	,,
पित्ताधिमन्थ	,,	पैत्तिक	,,
श्लेष्माधिमन्थ	,,	श्लैष्मिक	,,
रक्ताधिमन्थ	,,	रक्तज	,,
हताधिमन्थ	सर्वगत	वातिक	असाध्य
वातपर्याय या वातपर्यय	,,	वातिक	वातघ्नोपचार
शोथज या अशोथज पाक	,,	वातपित्तज	औषधसाध्य
अन्यतोवात	,,	वातिक	वातघ्नोपचार साध्य
शुष्काक्षिपाक	,,	,,	
अम्लाध्युषित	,,	पैत्तिक	,,
सिरोत्पात	,,	,,	सिरावेध
सिराहर्ष	,,	,,	,,

कृष्णभागगतचतुर्विधनेत्ररोगलक्षणानि—

निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।
स्रावं स्रवेद् दुष्टमतीव यच्च तत्सव्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥ २२ ॥

कृष्ण भागगत चार प्रकार के नेत्ररोगों का लक्षण—सव्रणशुक्र—कृष्ण भाग (कार्निया) में जो गहराई में रहनेवाला तथा कठिनाई दिखाई देनेवाला सूचीविद्ध के समान (वर्तुलाकार) स्थान दिखाई देता है जिससे अत्यधिक उष्ण दूषितस्राव निकलता है उसे 'सव्रण शुक्ल या सव्रण शुक्र' कहते हैं ॥ २२ ॥

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
अवेदनं वा न च युग्मशुक्रं तन् सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ २३ ॥

जो सव्रण शुक्र दृष्टि के समीप में न हो, तीव्र प्रकार का न हो, जिससे अत्यधिक स्राव न होता हो, जिसमें वेदना थोड़ी तथा सौम्य प्रकार की हो तथा जिसमें दो शुक्र न हो इन लक्षणों से युक्त सव्रण शुक्र कभी-कभी साध्य होता है। इसके विपरीत लक्षणवाला दो शुक्र होने पर असाध्य होता है ॥ २३ ॥

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोपं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम्।
वैहायसाभ्रप्रतिमप्रकाशं तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ २४ ॥

अव्रणशुक्र—कृष्ण मण्डल में निरन्तर अभिष्यन्द के फलस्वरूप जो जलन से युक्त शंख, चन्द्रमा, पुष्प के वर्ण के समान श्वेतवर्ण का हो जाता है अथवा कृष्णमण्डल पतले बादल से ढके हुए आकाश के सदृश दिखाई देता है उसे 'अव्रणशुक्र' कहते हैं और यह व्याधि-सुसाध्य होती है ऐसा नेत्र विशेषज्ञों का कहना है ॥ २४ ॥

विमर्श—अभिष्यन्द की समुचित चिकित्सा न करने के परिणाम-स्वरूप कृष्णमण्डल में व्रण बन जाते हैं और उनका रोपण होने के बाद वहाँ व्रणवस्तु की उत्पत्ति हो जाती है जिससे कृष्णभाग की पारदर्शकता क्षीण हो जाती है और दृष्टि में धुंधुलापन आ जाता है। ये आकार में छोटे या बड़े तथा संख्या में एक या अनेक हो सकते हैं। इसका अभिष्यन्द प्रधान कारण होता है। इसके उत्पन्न हो जाने से दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसको बोल-चाल की भाषा में फूला पड़ना कहते हैं। कृष्णमण्डल के अपार-दर्शकता की घनता के अनुसार तीन भागों में बांटा जा सकता है।

(१) अभ्र-सदृश घनानुकारी—इसमें कृष्णमण्डल मेघाच्छन्न आकाश के सदृश सौम्य प्रकार के धुंधुलेपन से ढका रहता है। इस अवस्था से दृष्टि-शक्ति का ह्रास न्यून मात्रा में रहती है। इसे "नेबुला" कहते हैं।

(२) गम्भीर—इस अवस्था में कृष्णमण्डल धुंधुलापन घन, वृत्ताकार तथा भूरा रङ्ग का हो जाता है। इसे 'घन नेबुला' कहते हैं।

(३) अति घन—इस अवस्था में यह सफेद और अत्यधिक घन हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक और अवस्था होती है जिसमें तारा-मण्डल व्रण वस्तु से संसक्त हो जाता है। इसको "संसक्त ग्लूकोमा" कहते हैं।

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्रं शिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं च चलं शिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च ॥ २५ ॥

अव्रण शुक्र की साध्यासाध्यता—द्वितीय अथवा तृतीय पटल में होनेवाला अत्यधिक घन तथा पुराना अव्रण शुक्र कृच्छ्र साध्य होता है। मध्य में छिद्र युक्त अथवा मांस से ढका हुआ, गतिशील और सिराओं से आवृत होने के कारण जो शुक्र सूक्ष्म (पतला) हो जाता है उसे असाध्य जानना चाहिए।

द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम्।

दूसरे पटल मे होने वाला चारो तरफ से लाल वर्ण का तथा पुराना अव्रण शुक्र असाध्य होता है। इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

उष्णाश्रुपातः पिडिका च नेत्रे यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्रम् ॥
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥ २६ ॥

जिस अव्रण शुक्र नेत्र रोग में गरम-गरम आँसू निकले, नेत्र में मूंग के दाल के सदृश पिडिका हो जाय तथा जिस शुक्र का वर्ण तीतर पक्षी के पंखों के समान हो जाय वह भी असाध्य होता है ॥ २६ ॥

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं तु ॥
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥ २७ ॥

अक्षिपाकात्यय—जब सम्पूर्ण कृष्णमण्डल को दोषों के प्रकोपों से उत्पन्न श्वेतता ढक लेती है तो उसे तीनों दोषों से उत्पन्न एव असाध्य रोग को 'अक्षि-पाकात्यय' रोग कहते हैं। इसकी चिकित्सा निषेध कर करनी चाहिए॥ २७ ॥

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः।
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥ २८ ॥

अजकाजात—जिस रोग में बकरी के मेंगनी के समान, पीड़ा युक्त, कुछ रक्तवर्ण का तथा लालवर्ण के पिच्छिल अश्रुस्राव करानेवाला, प्रवर्द्धमान, कृष्ण मण्डल को भेदन कर निकलता है उसे 'अजकाजात' कहते हैं ॥ २८ ॥

कृष्णगत रोगों का विवरण-कोष्ठक

नाम रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सा० चिकित्सा
सव्रण शुक्र	कृष्ण मण्डल (कार्निया)	रक्तज	,,
अव्रण शुक्र	,,	,,	,,
अक्षिपाकात्यय	,,	त्रिदोषज	असाध्य
अजकाजात	,,	कफज (साध्य)	वेधन तथा विस्रावण

दृष्टिभागगतद्वादशनेत्ररोगाणां लक्षणानि—

प्रथमे पटले दोषो यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थितः ।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥ २९ ॥

दृष्टि-मण्डल गत बारह नेत्ररोगों का लक्षण—जिस रोगी को दृष्टि के प्रथम पटल में वातपित्तादि दोष अवस्थित रहते हैं वह रोगी कभी-कभी अव्यक्त रूपों को देखता है ॥ २९ ॥

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ।
मक्षिकामशकांश्चैव जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥
मण्डलानि पताकाश्च मरीचीः कुण्डलानि च ।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः ।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ ३२ ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ।

तिमिरोत्पादक दोषों के द्वितीय पटल में स्थित होने पर उत्पन्न तिमिर रोग में दृष्टि अधिक विह्वल होकर अविद्यमान रूपों को देखती है । यथा—रोगी के नेत्र के सामने मक्खी, मच्छर तथा मकड़ी के जाले दिखाई देते हैं और गोलाकार पदार्थ, पताका (ध्वजा), अनेक प्रकार की मरीचि (किरण), कर्ण-कुण्डल, कूदते हुए मेढ़क आदि का स्वरूप एवं वर्षा, बादल तथा अन्धकार आदि दिखाई देते है । वह रोगी दूर में स्थित वस्तुओं को समीप में तथा समीप में स्थित वस्तुओं को दूर में विषय भ्रान्ति के कारण समझता है । अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी रोगी सूई के छिद्र तथा धागा को नहीं देख सकता । अर्थात् सूई मे डोरा नहीं पिरो सकता ।

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ॥ ३३ ॥
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः ।
कर्णनासाक्षिहीनानि विकृतानीव पश्यति ॥ ३४ ॥
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ।

तिमिर रोग को उत्पन्न करनेवाले दोष जब तृतीय पटल में स्थित रहते हैं तब रोगी ऊपर की वस्तुओं को देखता है किन्तु नीचे को वस्तुओं को नहीं देख पाता । बड़ी वस्तुओं को भी कपड़ों से आच्छादित सा देखता है । मनुष्यों को कान, नाक तथा आंख से रहित एवं विकृत आकृति की तरह देखता है । वातादि दोष के बलवान् होने पर दोषों के अनुसार दृष्टि का वर्ण (रङ्ग) भी हो जाता है ।

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरि स्थिते ॥ ३५ ॥

पार्श्वस्थे च तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे सकुलानीव पश्यति ।
दृष्टिमध्यगते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ॥ ३६ ॥
द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद् बहुधा चानवस्थिते ।
दृष्ट्यां दोषे स्थिते तिर्यगेकं पश्यति वै द्विधा ॥ ३७ ॥

दोषों के नीचे अवस्थित होने पर समीप में स्थित वस्तु को, ऊर्ध्वभाग में स्थित होने पर दूर की वस्तु को, और पार्श्व की स्थिति होने पर पार्श्व की वस्तु को नहीं देख पाता। यदि दोषों की स्थिति चारो ओर हो तो रोगी वस्तुओं को अनेक रूपों को मिला जुला सा देखता है। दोष के दृष्टि के मध्य में स्थित होने पर रोगी बड़ी वस्तु को छोटी देखता है। दोष दो स्थानों पर स्थित होने से दो तरह का तथा अस्थिर होने पर अनेक प्रकार से देखता है। दृष्टि में जब दोष तिर्यक् (तिरछा) होकर स्थित रहता है तब रोगी एक वस्तु को दो देखता है ॥ ३५–३७ ॥

तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ।
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परे ॥ ३८ ॥
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः ॥ ३९ ॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ।

वही (तृतीय पटल में स्थित) तिमिर नामक दोष जब चतुर्थ पटल में पहुंच कर दृष्टि को अच्छी तरह चारो तरफ से अवरुद्ध कर देता है तब लिङ्ग-नाश (दृष्टि शक्ति का नाश) कर देता है। यदि यह अन्धकार स्वरूप का महारोग अधिक न बढ़ा हो तो रोगी आकाश मे चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, बिजुली तथा अन्य स्वच्छ एवं चमकदार तैजस पदार्थों को देख सकता है।

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः ॥ ४० ॥

वही (तृतीय पटल में उत्पन्न तिमिर नामक दोष जो रञ्जित होकर 'काच' कहलाता है चतुर्थ पटल में पहुंचने पर) लिङ्ग नाश (अधिक रञ्जित होकर) 'नीलिका काच' कहा जाता है ॥ ४० ॥

विमर्श—प्रथम तीन पटलों में दोष या विकार होने पर दृष्टिज्ञान में भी न्यूनाधिक विकार आता है किन्तु चतुर्थपटल में विकार होने पर दृष्टिज्ञान में अवश्य ही विकृति हो जाती है। अतः प्रथम तीन पटलों में विकारों को तिमिर तथा चतुर्थ पटल में उत्पन्न विकार को लिंगनाश कहा जाता है। चतुर्थपटल में भी विकार धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं उसकी प्रारम्भावस्था में तिमिर के ही लक्षण होते हैं। पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार प्रथम (बाह्य) पटल को कञ्जन

टाइचा तथा स्क्लीरा, द्वितीय को तारा मण्डल युक्त मध्यपटल या कोरायड, तृतीय को अन्तः पटल या रेटिना और चतुर्थपटल को दृष्टिमणि या लैन्स कहा जा सकता है। तृतीयपटल में दोष होने पर जो दृष्टिदोष होता है उसे 'तिमिर' कहते हैं और उसमें रंग उत्पन्न होने पर उसे ही 'काच' कहते हैं। इस प्रकार चतुर्थपटल गत दोष को लिंगनाश तथा नीलिकाकाच, मोतियाबिन्द (Cataract) (कैटरैक्ट) कहते हैं।

वातेनापि च रूपाणि भ्रमन्तीव हि पश्यति।
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः॥ ४१॥

वातिकतिमिर—वातजन्य तिमिर रोग में रोगी चञ्चल, मलिन, अरुणवर्ण तथा व्याविद्ध (कुटिल) रूपों को देखता है॥ ४१॥

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान्।
नृत्यन्तश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति॥ ४२॥

पैत्तिकतिमिर—पित्तजन्य तिमिररोग में रोगी सूर्य, खद्योत (जुगनू), शक्रचाप (इन्द्रधनुष) तथा विजुली के रूप एवं नृत्य करते हुए मोरों के रूप को देखता है और सभी वस्तुओं को भी नीला ही देखता है॥ ४२॥

कफेन रूपाणि तथा स्निग्धानि च सितानि च।
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः॥ ४३॥

श्लैष्मिकतिमिर—कफज तिमिर रोग में रोगी स्निग्ध (चिकना) तथा श्वेतवर्ण के रूपों को देखता है और सम्पूर्ण वस्तुओं को जल में डूबे हुए के समान तथा निश्चल देखता है॥ ४३॥

पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च।
ससितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः॥ ४४॥

रक्तजतिमिर—रक्तजन्य तिमिररोग में रोगी सभी पदार्थों को रक्तवर्ण की तथा अनेक प्रकार के अन्धकार दिखाई देते हैं और सफेद वस्तु भी काले तथा पीले वर्ण के दिखाई देते है॥ ४४॥

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति।
बहुधा वा द्विधा वापि सर्वाण्येव समन्ततः।
हीनाधिकाङ्गान्यथवा ज्योतींष्यपि च भूयसा॥ ४५॥

सान्निपातिक तिमिर—सान्निपातिक तिमिररोग में रोगी को चित्र विचित्र या विपरीत रूप दिखाई देता है। सभी पदार्थों को चारो तरफ अथवा एक को दो या अनेक देखता है। यदा-कदा मनुष्य आदि को अंगरहित या अधिक अङ्ग-वाला और ताराओं को भी विकृत रूप में देखता है॥ ४५॥

पित्तं कुर्यात्परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा।

पीता दिशस्तु खद्योतानादित्यं चापि पश्यति ॥ ४६ ॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च ।
वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥ ४७ ॥

पित्त के तेज (रक्त) से मिश्रित पित्त परिम्लायि काच को उत्पन्न करता है। इसमें रोगी को सभी दिशायें पीली दिखाई देती हैं और यत्र-तत्र खद्योत (जुगनू) तथा सूर्य दिखाई पड़ते हैं। रोगी वृक्षों को इधर-उधर बिखरे हुए तथा जुगनू एवं भास्वर (तैजस) पदार्थों से व्याप्त सा देखता है। इसके बाद राग या वर्ण भेद से लिङ्गनाश (तिमिर) के छः भेद बतायेंगे ॥ ४६-४७ ॥

विमर्श—परिम्लायि तिमिर मे सभी पदार्थ पीले दिखाई देते है। यह रोग याप्य होता है। तृतीयपटल[1] में पहुँचने पर तिमिर रंगयुक्त हो जाता है। प्रथम तथा द्वितीयपटल में आश्रित तिमिर रागरहित रहता है तथा क्रमशः साध्य एवं कष्टसाध्य होता है। तृतीयपटल में आश्रित रागयुक्त तिमिर[2] याप्य होता है।

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात् ।
कफात्सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥ ४८ ॥

वातिकतिमिर का वर्ण अरुण पैत्तिक तिमिर का वर्ण म्लायी (पीतनील) तथा नील, कफजतिमिर का वर्ण सफेद, रक्तजतिमिर का वर्ण लाल तथा सान्निपातिकतिमिर का वर्ण विचित्र रंग का होता है ॥ ४८ ॥

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम् ।
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥ ४९ ॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम् ।

वातप्रकोप से दृष्टिमण्डल में मोटे काच की अरुणवर्ण की प्रभा के सदृश अरुणवर्ण की प्रभा दिखाई देता है। परिम्लायी (रक्तपित्तजन्य) काच में दृष्टिमण्डल मलयुक्त तथा नीलवर्ण का हो जाता है। दोष के क्षय होने से उसमें कभी-कभी स्वयं दिखाई देने लगता है।

अरुण मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५० ॥

---

१. तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते ।
अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ॥
कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते । (सात्यकि)

२. सर्वाण्येव तिमिराणि प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि तृतीयपटलगतानि रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति तदा याप्यानि तथा च प्रथमद्वितीयपटलयोः शोणिताभावाद्रागाभावः ।

पित्ततो मण्डलं नीलं कांस्याभं पीतमेव च ।
श्लेष्मणा बहुलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥ ५१ ॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः ।
मृद्यमाने तु नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥ ५२ ॥
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ ५३ ॥

वात के कारण दृष्टिमण्डल अरुणवर्ण का चञ्चल तथा स्पर्श में रूक्ष होता है। पित्त के कारण दृष्टिमण्डल नीले, कांसी के सदृश श्वेत-पित्त या पीले वर्ण का होता है। कफ के कारण दृष्टिमण्डल मोटा, पीला या शंख, कुन्दपुष्प अथवा चन्द्रमा के सदृश एवं चलायमान कमल के पत्ते पर स्थित जल की बूंद के समान श्वेत वर्ण का हो जाता है और नेत्रों को मलने पर मण्डल इधर-उधर विसक जाता है। रक्त के कारण मण्डल प्रवाल या रक्त कमल के पत्र के सदृश लाल होता है। त्रिदोषज लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल का रंग चित्र (विविध वर्ण का) हो जाता है। इसमें दोषों की प्रबलता के अनुसार दोषजन्य अन्य लक्षण भी होते हैं। ५०—५३ ॥

पित्तेन दुष्टेन गतेन वृद्धिं पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः ।
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ॥ ५४ ॥
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ।
रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ॥ ५५ ॥

पित्तविदग्धदृष्टि—दूषित पित्त के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि निरन्तर कुछ पीतवर्ण की होती जाती है, वह सभी पदार्थों को पीतवर्ण का देखता है उस मनुष्य को 'पित्तविदग्धदृष्टि' कहते हैं। पैत्तिक दोष की स्थिति तृतीयपटल में होने पर रोगी दिन में नहीं देख पाता है केवल रात्रि में ही देखता है। रात्रि में शीतलता के कारण पित्त कम हो जाता है अतः रात्रि में देखता है ॥५४-५५॥

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि च मन्यते सः ।
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ॥ ५६ ॥
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येच्च रूपाणि कफाल्पभावात् ।

कफविदग्धदृष्टि—कफ से दूषित दृष्टिवाला व्यक्ति सभी रूपों को श्वेतवर्ण का ही देखता है। जब स्वल्प भी दोष तीनों पटलों में स्थित हो जाता है तब हठपूर्वक नक्तान्धता (रतौंधी) को उत्पन्न करता है। दिन में कफ की कमी से तथा सूर्य के प्रभाव से उसे ठीक दिखाई पड़ता है।

शोकज्वरायासशिरोभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ॥ ५७ ॥

धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः।

धूमदर्शी—शोक, ज्वर, अत्यधिक परिश्रम तथा शिरःशूल आदि कारणों से जिस व्यक्ति की दृष्टि अभ्याहत (आक्रान्त) हो जाती है वह सभी पदार्थों को धूम से ढका हुआ-सा देखता है। इन लक्षणों से युक्त रोगी को 'धूमदर्शी' कहते हैं।

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्राद्ध्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत् ॥

ह्रस्वजाड्य—जिस रोग में रोगी दिन में कठिनाई से देख पाता है और जिसमें बड़ी वस्तु को छोटा देखता है उसे 'ह्रस्वजाड्य' कहते हैं ॥ ५८ ॥

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्।
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ॥

नकुलान्ध्य—जिस रोगी की दृष्टि तीनों दोषों से व्याप्त होकर नकुल के समान चमकती है और जो दिन में अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रूपों को देखता है उस विकार (रोग) को 'नकुलान्ध्य' कहते हैं ॥ ५९ ॥

दृष्टिविरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति।
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ६० ॥

गम्भीरिका—वात से उपसृष्ट दृष्टि विरूप तथा संकुचित होकर अन्दर चली जाती है। इसमें आंखों में तीव्र पीड़ा होती है। इस रोग को विद्वान् लोग 'गम्भीरिका' कहते हैं ॥ ६० ॥

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च।
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ॥ ६१ ॥
सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य।
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ॥ ६२ ॥
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैडूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः।
विकीर्यते सीदति भिद्यते च नृणामभीघातहता तु दृष्टिः ॥ ६३ ॥

आगन्तुक लिङ्गनाश निमित्तज तथा अनिमित्तज भेद से दो प्रकार के होते हैं। (विष तथा पुष्प-आदि की गन्ध एवं तीव्रवात से होनेवाले) शिरःशूल के कारण जो लिङ्गनाश होता है उसे 'निमित्तजलिङ्गनाश' कहते है। इसमें अभिष्यन्द के लक्षण मिलते हैं। देवता, गन्धर्व, ऋषि तथा बड़े-बड़े सर्प आदि एवं सूर्य के सदृश चमकनेवाली वस्तुओं को देखने से मनुष्य की दृष्टि नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के लिङ्गनाश को 'अनिमित्तज लिङ्गनाश' कहते हैं। इस अनिमित्तज लिङ्गनाश में नेत्र बिलकुल विकाररहित रहता है और दृष्टि भी वैदूर्यमणि के समान वर्णवाली तथा निर्मल होती है। मनुष्यों की अभिघात से

जालाभः कठिनशिरो महान् सरक्तः
सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

जाल की आकृति के समान कठोर सिरावोंवाला बड़ा एवं रक्तवर्ण का जो आवरण नेत्र के शुक्लभाग में हो जाता है, उसे शिराजाल कहते हैं।

शुक्लस्थाः सितपिडिकाः शिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः शिराजाः ।

कृष्णभाग के समीप नेत्र के शुक्लभाग में उत्पन्न सिराओं से ढकी हुई श्वेतवर्ण की पिड़कावों को 'शिराजपिडिका' कहते हैं।

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥ ६८ ॥

नेत्र के श्वेतभाग में कांस्य के वर्ण के सदृश एवं जलविन्दु के समान उभड़ी हुई तथा कठिन ग्रन्थि को "बलास' या 'बलासग्रथित" कहते हैं ॥ ६८ ॥

शुक्लभागगत रोगों का विवरण-कोष्ठक

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सा० चिकित्सा
अर्म	नेत्रश्लेष्मावरण	—	छेदन
प्रस्तार्यर्म	,,	त्रिदोषज	,,
शुक्लार्म	,,	कफज	,,
अधिमांसार्म	,,	त्रिदोषज	,,
स्नाय्वर्म	,,	,,	,,
लोहितार्म	नेत्रश्लेष्मावरण	रक्तज	छेदनकर्म
शुक्तिका	,,	पित्तज (साध्य)	पैत्तिक अभिष्यन्दवत्
पिष्टक	,,	कफज (साध्य)	श्लैष्मिक अभिष्यन्दवत्
सिराजपिडिका	,,	रक्तज (साध्य)	छेदनकर्म
बलासक	,,	कफज (साध्य)	लेखन
अर्जुन	,,	रक्तज (साध्य)	औषध साध्य

नेत्रसन्धिगतनवरोगाणां लक्षणानि—

पक्वः शोफः सन्धिजो यः सतोदः स्रवेत्पूयं सो हि पूयालसाख्यः ।

पूयालसक "नेत्र सन्धिगत नव रोगों के लक्षण"—सन्धि (कनीनिक सन्धि) में जो तोदयुक्त पका हुआ शोथ होता है और जिस पक्वशोथ में दुर्गन्धित पूय का स्राव निकलता है उसे "पूयालसक" कहते हैं।

विमर्श—"आचार्य सुश्रुत ने छः सन्धियों का वर्णन किया है।

पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः ।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा ॥

कनीनिकागतो ज्ञेयः पञ्चश्चापाङ्गगः स्मृतः"।

और इन सन्धियों में नव रोग होते हैं—

"पूयालसः सोपनाहः स्रावः पर्वणिकाऽलजी।
क्रिमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव"।

पूयालसक कनीनिका सन्धिगत एक त्रिदोषज साध्य विकार है जैसा कि विदेह के वचन से प्रतीत होता है—

"शोथक्लेद-समाविष्टं तोदभेद-समाकुलम्।
पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्"॥

इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूयालसक रोग कनीनिका सन्धिगत एक रोग है।

आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यह अश्रु-आशय का शोथ या अश्रु-आशय की विद्रधि कह सकते हैं।

ग्रन्थिः स्थूलो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः॥ ६९॥

उपनाह—दृष्टि की सन्धि में बड़ी, थोड़ी पकी हुई तथा खुजली से युक्त एवं पीड़ारहित ग्रन्थि को "उपनाह" कहते हैं॥ ६९॥

विमर्श—उपनाह वातश्लेष्मज[1] होते हुए भी इसमें कफ की प्रधानता रहती है अतः इसको श्लेष्मोपनाह भी कहते हैं। यह कृष्णपटल तथा दृष्टि के बीच की सन्धि में होता है।

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावाँल्लक्षणैः स्वैरुपेतान्।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा॥ ७०॥

अश्रुवाही स्रोतों के द्वारा वातादिदोष सन्धियों में पहुंच कर अपने-अपने लक्षणों से युक्त स्रावों को उत्पन्न करते है। इस स्रावयुक्त रोग को "नेत्रनाडी" भी कहते हैं। इस नेत्रनाडी के चार प्रकार के लक्षण बताये जायेंगे॥ ७०॥

पाकात्सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पूयं पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु।

पूयास्राव—पक जाने के कारण (कानीनिक) सन्धि में जो पूय का स्राव होता है उस पूयस्रावी उस त्रिदोषज व्याधि को 'पूयास्राव' नेत्ररोग कहते हैं।

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु श्लेष्मास्रावोऽसौ विकारो मतस्तु॥

श्लेष्मास्राव—जिस रोग में श्वेत, घन (गाढ़ा) तथा पिच्छिल (स्निग्ध) स्राव होता है उसे 'श्लेष्मास्राव' कहते है॥ ७१॥

---

१. वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः।
अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयेदल्पवेदनम्॥
श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्…………………… ॥ विदेह॥

रक्तास्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम् ।

रक्तास्राव—शोणित (रक्त) से उत्पन्न जिस रोग में (कनीनिका सन्धि में) अधिक रक्त का स्राव हो उसे 'रक्तास्राव' कहते हैं ।

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं पित्तास्रावः संस्रवेच्चापि नाड्या ॥ ७२ ॥

पित्तास्राव—जिस रोग में सन्धि (कनीनिका सन्धि) से हल्दी के रंग का पीला, गरम तथा जल के सदृश स्राव होता है उसे 'पित्तास्राव' कहते हैं ॥ ७२ ॥

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना ज्ञेया वैद्यैः पर्वणी वृत्तशोफा ।

पर्वणी—शुक्ल तथा कृष्णमण्डल के बीच की सन्धि में ताम्रवर्ण की, पतली दाह तथा शूल से युक्त, वृत्ताकार सूजन से युक्त जो पिडिका उत्पन्न होती है, उस (रक्तजन्य) रोग को "पर्वणी" कहते हैं । (यह रोग कफ तथा वात युक्त भी होता है किन्तु रक्त की प्रबलता के कारण इसको रक्तज मानते हैं) ।

जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥

अलजी—उसी सन्धि (शुक्ल-कृष्णमण्डल सन्धि के बीच) में "पर्वणी" के लक्षणों से युक्त व्याधि को (पिडिका को) "अलजी" कहते हैं ।(अलजी की पिडिका स्थूल या बड़ी होती है) ॥७३ ॥

विमर्शः—मूल श्लोक के पूर्व लिङ्ग शब्द से यह ज्ञात होता है कि पर्वणी तथा अलजी दोनों रोगों का लक्षण समान है ऐसी स्थिति में दोनों में क्या भेद है इसका उत्तर सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने दिया है कि "तनुस्थूलत्वाभ्यामनयोर्भेदः" अर्थात् पर्वणी पतली या छोटी होती है और अलजी बड़ी या स्थूल होती है । विदेह[1] ने भी पर्वणी को रक्त, कफ तथा वात जन्य एवं अंकुर की आकृतिवाली और अलजी को वात-आदि तीनों दोषों से उत्पन्न एवं रक्तजन्य तथा गोस्तनाकार बताया है । अर्जुन नामक नेत्ररोग शुक्लमण्डल में खरगोश के रक्त के वर्ण का केवल एक बिन्दु होता है किन्तु कल्याण-विनिश्चय नामक ग्रन्थ के अनुसार "शक्रगोपनिभं शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः" अर्थात् वर्षाकालीन शक्रगोप (वीरबहूटी) नामक लाल कीड़े के समान होता है । इसलिये केवल

१. शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु चायन्तेऽसृक्कफानिला ।
पर्वणी पिडका तैस्तु जायन्ते त्वंकुरोपमाः ।
ताम्रा सदाहा चोपोष्ण-पीतकाश्रुसमाकुला ॥
कफपित्ते तु संमूर्च्छ्य सह रक्तेन मारुतः ।
शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद् गोस्तनाकृतिम् ॥
पिडकामलजीं ता तु विद्धि तोदाश्रुसकुलाम् ॥ इति विदेहः ।

एक छोटे बिन्दु के समान हो ऐसा नियम नहीं है। यह शुक्लमण्डल गत रोग है। "पर्वणी" रोग शुक्ल तथा कृष्णमण्डल गत सन्धि के बीच छोटा या पतला तथा रक्तकृत तथा वात-कफजन्य होता है। "अलजी" रोग भी इसी शुक्ल-कृष्णमण्डलगत सन्धि में होता है किन्तु यह त्रिदोषज तथा रक्तज होता है। इसकी पिडिका बड़ी या मोटी होती है। अर्जुन नामक नेत्र रोग रक्तज होता है।

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रमयः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥ ७४ ॥

कृमिग्रन्थि—सन्धि में उत्पन्न क्रिमि वर्त्म तथा पक्ष्म में कण्डू उत्पन्न करते हैं। ये विविध रंग रूप के होते हैं और ये वर्त्म तथा शुक्लमण्डल के बीच की सन्धि में पहुंच कर नेत्र के आभ्यन्तरिक भाग को दूषित करते हैं अर्थात् नेत्र को भी अन्दर से दूषित करते जाते हैं। इस रोग को क्रिमिग्रन्थि कहते हैं ॥ ७४ ॥

नेत्रसन्धिगत रोगों का विवरण कोष्ठक

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सा० चिकित्सा
पूयालसक	कानीनिक सन्धि	सन्निपातज	रक्तविस्रावण, स्वेदन
उपनाह	,,	कफज	छेदन कर्म
स्राव	,,	त्रिदोषज	असाध्य
पूयास्राव	,,	,,	—
श्लेष्मास्राव	,,	कफज	—
रक्तास्राव	,,	रक्तज	—
पित्तास्राव	,,	पित्तज	—
पर्वणी	कृष्ण तथा शुक्ल-मण्डल की सन्धि	रक्तज	छेदन कर्म
अलजी	,,	त्रिदोषज	असाध्य
क्रिमिग्रन्थि	कानीनिक वर्त्म तथा पक्ष्म सन्धि	कफज साध्य	भेदन कर्म

वर्त्मगतैकविंशतिनेत्ररोगाणां लक्षणानि—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडिका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥ ७५ ॥

वर्त्मगत एक्कीस नेत्ररोगों के लक्षण—उत्सङ्गिनी-जो वर्त्म के बाहर तरफ और अन्दर के तरफ मुखवाली ताम्रवर्ण की अनेक छोटी एवं मोटी पिडिकाओं

से भरपूर खुजली से युक्त त्रिदोषज पिडिका होती है उसे 'उत्सङ्गिनी' पिडिका कहते हैं ॥ ७५ ॥

विमर्श—यह वर्त्मगत रोग है। नेत्रगोलक को ढकनेवाले आंख को खोलने तथा बन्द करनेवाले दोनों पटलों को वर्त्म कहते हैं। यह पिडिका वर्त्म के बाहर की ओर अन्तर्मुखी ताम्र के वर्ण की, छोटी एवं मोटी पिडिकाओं से घिरी रहती है तथा उसमें खुजली होती है। आचार्य विदेह[1] के अनुसार यह पिडिका कठिन एवं मन्द वेदनावाली होती है तथा अधोवर्त्म में उत्पन्न होती है। इसका मुख अन्दर के तरफ होता है। मोटी होने के कारण बाहर से भी दिखाई देती है। कभी-कभी इस पिडिका के स्वयं विदीर्ण हो जाने से रक्त वर्ण का मांस बाहर दिखाई देता है। तथा उससे मुर्गी के अण्डे के रस के समान कुछ स्राव निकलता है।

वर्त्मान्ते पिडिका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च।
कुम्भीकबीजसदृशाः कुम्भीकाः सान्निपातिकाः ॥ ७६ ॥

कुम्भीका—वर्त्म (पटलधारा) के अन्त में अनार के बीज के समान जो त्रिदोषज पिडकायें होती हैं और जो अनेक बार फूलकर फूटती हैं तथा बहती हैं उन्हें 'कुम्भीका' कहते हैं। (कच्छ देश में उत्पन्न एक कुम्भीका नाम की लता होती है जिसका फल अनार के फल के तरह होता है। उसी के बीज की तरह यह पिडिका होती है अतः इसका नाम 'कुम्भीका' पड़ा है) ॥ ७६ ॥

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
रुजावत्यश्च पिडिकाः पोथक्य इति संज्ञिताः ॥ ७७ ॥

पोथकी—वर्त्म (पलकधारा) में स्राव तथा कण्डू से युक्त, भारी, लाल सरसों के सदृश पीडायुक्त जो पिडकायें उत्पन्न हो जाती हैं उन्हें 'पोथकी' कहते हैं ॥ ७७ ॥

विमर्श—आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह पोथकी (रोहे) एक चिरकालीन एवं संक्रामक रोग है। इस रोग में पलक के भीतर वर्त्मीय नेत्रश्लेष्मावरण में अनेक पिडिकायें निकल आती हैं। रोगी अत्यन्त उद्विग्न रहता है नेत्र से अश्रुस्राव होता है, नेत्र गड़ा-सा रहता है और खुल नहीं सकता है। इसको 'ट्रकोमा' कहते हैं। इसमें निम्नलिखित लक्षण होते हैं।

---

१. वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते।
अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते ॥
पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः।
उत्सङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना ॥
सा प्रभिन्ना स्रवेत्स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम् ॥ इति विदेहः

१—आँखों में खुजली तथा दाह होता है।

२—आँख में किरकिराहट होती है।

३—धूल तथा धूम आदि के संसर्ग से अश्रुस्राव अधिक होता है।

४—प्रकाशासह्यता होती है।

५—पलकों में सूजन तथा ऊपर के पलक का निम्न पतन होता है।

६—कफमिश्रित पूयमय स्राव होता है।

७—वर्त्मीय नेत्रश्लेष्मावरण लाल स्थूल तथा निम्नोन्नत हो जाता है।

८—नेत्रश्लेष्मावरण भी रक्तवर्ण का हो जाता है।

यह रोग सङ्क्रामक होने के कारण पोथकी रोग से पीडित व्यक्ति के नेत्र स्राव का सम्पर्क दूसरे व्यक्ति की आंख के साथ होने से उस व्यक्ति में भी इस पोथकी (रोहे) रोग की उत्पत्ति होती है। इसका संक्रमण अनेक प्रकार से हो सकता है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं—

१—पहली अवस्था—इस अवस्था में उपरिवर्त्म के श्लेष्मावरण में अंकुर दिखाई पड़ते हैं। इसमें आँखों से अश्रुस्राव, लालिमा तथा प्रकाशासह्यता ये लक्षण भी होते हैं।

दूसरी अवस्था—इस अवस्था में दानों (अंकुरों) का स्वरूप बढ़ जाता है। उसका रङ्ग भूरा तथा पीला हो जाता है। यह स्राव से परिपूर्ण रहता है। इसमें पोथकीजन्य सिराहर्ष या रक्तराजी होता है। श्वेतमण्डल में सिराओं का एक गुच्छा कृष्णमण्डल की ओर बढ़ता हुआ दीख पड़ता है। वह कृष्ण-मण्डल के ऊपर तथा नीचे तक बढ़ता है। वहाँ एक सूक्ष्म व्रण उत्पन्न होता है जिसको 'पोथकीव्रण' कहते हैं।

तीसरी अवस्था—यह रोपण की अवस्था है। इस अवस्था के लक्षण तथा चिह्न पहले की दोनों अवस्थाओं से युक्त रहते है। वर्त्मगत अंकुर तथा दाने लुप्त होने लगते हैं, किन्तु नेत्रश्लेष्मावरण अपने स्वाभाविक अवस्था में नहीं आ पाते। उसमें व्रणवस्तु की पतली-पतली श्वेताभ रेखायें दिखाई देती हैं। रोग की चिरकालीनावस्था मे सम्पूर्ण नीचे की सतह पाण्डुवर्ण चिकनी तथा रोपणव्रण वस्तुमय झिल्ली में बदल जाती है। वर्त्मकोण में श्लेष्मावरण पीला अथवा नीलेवर्ण का श्वेत हो जाता है।

चौथी अवस्था—पोथकी से कृष्णमण्डल के आक्रान्त रहने से बहुत से उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं तथा व्रणवस्तु के संकोच के कारण पक्ष्मकोप, वर्त्म का अन्तरावर्तन या वाह्यावर्तन, अजकाजात, नेत्रशुष्कता तथा शुक्तिका आदि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

(क) अव्रण शुक्ल या सव्रण शुक्ल

(ख) नेत्रश्लेष्मावरण-शुष्कता

(ग) वर्त्मशोथ या कर्दमवर्त्म

(घ) पूयालस

(च) वर्त्मगोलक-संसक्ति ।

पिडिका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता ।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषक. ॥ ७८ ॥

वर्त्मशर्करा—जो छोटी-छोटी पिडकाओं से आवृत, वर्त्म में स्थित, खुरदरी तथा मोटी पिडका होती है उसे 'वर्त्मशर्करा' कहते हैं। यह रोग वर्त्म (पलक) को दूषित करनेवाला होता है ॥ ७८ ॥

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडिका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥ ७६ ॥

अर्शोवर्त्म—जिस वर्त्म में (बाहर तथा भीतर दोनों ओर) ककड़ी के बीज के सदृश मन्दवेदना से युक्त स्निग्ध तथा कठोर पिडकायें उत्पन्न होती हैं उसे 'अर्शोवर्त्म' कहते हैं ॥ ७९ ॥

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।
व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः ॥ ८० ॥

शुष्कार्श—वर्त्म (पलक) के अभ्यन्तर उत्पन्न लम्बे अंकुरवाली, खुरदरी, कठोर तथा भयंकर पिडका को 'शुष्कर्श' नामक रोग कहते हैं ॥ ८० ॥

दाहतोदवती ताम्रा पिडिका या तु वर्त्मजा ।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥ ८१ ॥

अञ्जननामिका—दाह तथा तोद से युक्त ताम्रवर्ण की मुलायम, मन्द वेदनावाली जो सूक्ष्म पिडका वर्त्म (पलक) में उत्पन्न होती है उसे 'अञ्जननामिका' कहते हैं ॥ ८१ ॥

विमर्श—उत्सङ्गिनी तथा अञ्जननामिका के लक्षणों में बहुत कुछ साम्य है। फिर भी उसमें कुछ भेद होता है उसको कोष्ठक द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

उत्सङ्गिनी	अञ्जननामिका
१—यह वर्त्मधारा के पास पलकों में होती है।	१—यह पक्ष्मों (बरौनी) के मूल में वर्त्मधारा पर होती है।
२—यह महीनों तथा वर्षों तक रहती है।	२—यह एक सप्ताह में पक कर फूट जाती है।

३—इसमें प्रारम्भ से वेदना नहीं होती है। कभी-कभी पकने पर हो सकती है।	३—इसमें प्रारम्भ से ही वेदना होती है।
४—इसमें दाह, तोद आदि लक्षण नहीं होते हैं।	४—इसमें छोटे फोड़े के समान दाह, तोद आदि लक्षण होते हैं।

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडिकाभिः समन्ततः।
सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद् बहलवर्त्म तत् ॥ ८२ ॥

बहलवर्त्म—जिस मनुष्य का वर्त्म (पलक) चारों तरफ से त्वचा के वर्ण के समान तथा स्थिर पिड़काओं से आवृत होकर मोटी हो जाय उसे 'बहलवर्त्म' या 'बहुलवर्त्म' कहते हैं ॥ ८२ ॥

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः।
न स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥ ८३ ॥

वर्त्मबन्धक—जो व्यक्ति खुजली तथा थोड़े तोद से युक्त वर्त्म-शोथ से आंखों को आच्छादित न कर सके उस वर्त्म-शोथ को 'वर्त्मबन्धक' कहते है ॥ ८३ ॥

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदः ॥ ८४ ॥

क्लिष्टवर्त्म—जिस व्याधि में सम्पूर्ण वर्त्म मृदु मन्दवेदनावाले तथा ताम्रवर्ण के हो जाते हैं और एकाएक रक्तवर्ण के हो जाते है उसे 'क्लिष्टवर्त्म' कहते हैं। (यह श्लेष्मरक्तज रोग है इसमें दोनों वर्त्म दूषित होते है।[1]) ॥ ८४ ॥

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥ ८५ ॥

वर्त्मकर्दम—जब क्लिष्टवर्त्म में ही रक्त पित्त से युक्त होकर विदाह उत्पन्न करता है तब वर्त्म (पलक) क्लिन्न (गीला) हो जाता है इस प्रकार के रोग को 'वर्त्मकर्दम' कहते हैं ॥ ८५ ॥

वर्त्म यद् बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं च जायते।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥ ८६ ॥

श्याववर्त्म—जिस अवस्था में वर्त्म (पलक) बाहर तथा भीतर से श्याववर्ण का और सूजा हुआ (शोथयुक्त) तथा पीड़ा से युक्त हो जाता है

---

१. श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम्।
बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते ॥ इति विदेहः

उस अवस्था को वर्त्मगत नेत्ररोग के विशेषज्ञ 'श्याववर्त्म' रोग कहते हैं ॥ ८६ ॥

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात्क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥ ८७ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्म—जिस रोगी का वर्त्म (पलक) बाहर से शोथयुक्त तथा पीड़ा रहित होता है और अन्दर उसमें अत्यधिक क्लेद एवं स्राव होता है ऐसे रोग को 'प्रक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं ॥ ८७ ॥

यस्य धौतान्य धौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः ।
वर्त्मान्यपरिपक्कानि अपरिक्लिन्नवर्त्म तत् ॥ ८८ ॥

अपरिक्लिन्नवर्त्म—जिस व्यक्ति के वर्त्म (पलक) बार-बार प्रक्षालन करने पर (या न प्रक्षालन करने पर) भी चिपक जाते हैं और वर्त्म पकते नहीं हैं तो उसे 'अपरिक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं ॥ ८८ ॥

विमर्श—इसी को आचार्य विदेह पिल्ल रोग कहते हैं—

"पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाच्यते ।
ताम्रं निर्लोम तच्चापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम् ॥"

विदेह ने पिल्ल रोग में निर्लोम होना विशेष लक्षण बताया है । अपरिक्लिन्नवर्त्म चारों पलकों में होता है इसका निर्देश श्लोक में 'वर्त्मानि' इस बहुवचन पाठ से मिलता है ।

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥ ८९ ॥

वातहतवर्त्म—जिस रोगी के वर्त्म (वर्त्म तथा शुक्लगत) सन्धि के विमुक्त हो जाने पर चेष्टारहित होकर पलक बन्द नहीं होते उसे नेत्ररोग विशेषज्ञ 'वातहतवर्त्म' कहते हैं ॥ ८९ ॥

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमवलम्बितम् ॥ ९० ॥

वर्त्मार्बुद—जो वर्त्म (पलक) के भीतरी भाग में विषम (वर्तुलाकार), अल्प वेदना से युक्त; रक्तवर्ण का तथा अतिशीघ्र बढनेवाला गांठ के रूप में रोग होता है उसे 'वर्त्मार्बुद' कहते हैं ॥ ९० ॥

निमेषिणीः शिरा वायुः प्रविष्टः सन्धिसंश्रयाः ।
प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तं विदुः ॥ ९१ ॥

निमेष—जब वायु (वर्त्मशुक्लगत) सन्धि में रहनेवाली निमेषिणी सिराओं में प्रवेश कर वर्त्मों (पलकों) को अत्यधिक संचालित कर देती है तो उस रोग को 'निमेष' कहते हैं ॥ ९१ ॥

वर्त्मस्थो यो विवर्धेत लोहितो मृदुरङ्कुरः।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥ ९२ ॥

शोणितार्श—जो वर्त्म (पलक) के मध्य में लालवर्ण का कोमल अंकुर उत्पन्न हो जाता है उस रक्तजन्य रोग को 'शोणितार्श'[1] कहते हैं। यह बार-बार काटने पर भी बढ़ता है ॥ ९२ ॥

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।
लगणो नाम स व्याधिलिङ्गतः परिकीर्तितः ॥ ९३ ॥

लगण—जो पलक में होनेवाली, पाकरहित, कठोर, स्थूल तथा पीड़ारहित ग्रन्थि होती है उसे 'लगण' नामक वर्त्मगत रोग कहते हैं ॥ ९३ ॥

त्रयो दोषा बहिः शोफं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनः।
प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं बिसवद्बिसवर्त्म तत् ॥ ९४ ॥

बिसवर्त्म—तीनों दोष प्रकुपित होकर पलकों के बाह्य भाग में शोथयुक्त छिद्रों को उत्पन्न कर देते हैं। कमलनाल के तरह इससे आन्तरिक स्राव निकलता रहता है। अतः इस रोग को 'बिसवर्त्म' कहते हैं ॥ ९४ ॥

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा।
तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम त विदुः ॥ ९५ ॥

कुञ्चन—जब वात पित्तादि दोष प्रकुपित होकर वर्त्म (पलक) का संकोच कर देते हैं तब रोगी किसी भी पदार्थ को देखने में असमर्थ हो जाता है। अतः इस प्रकार की विकृति को 'कुञ्चन' कहते हैं ॥ ९५ ॥

पक्ष्मगतरोगद्वयलक्षणम्—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९६ ॥
असिते सितभागे च मूलकोशात्पतन्त्यपि।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥ ९७ ॥

पक्ष्मगत दो रोगों का लक्षण—पक्ष्मकोप—जब वायु विपरीत दिशा में मोड़ कर पक्ष्म (बरौनी) को आंखों में प्रवेश करा देता है और वे बार-बार नेत्रगोलक पर रगड़ खाते हैं जिसके कारण कृष्णमण्डल तथा श्वेतमण्डल में शोथ उत्पन्न हो जाता है और पक्ष्म (बरौनी) अपने मूल कोष से गिरने भी लगते हैं। इस अत्यन्त भयंकर रोग को 'पक्ष्मकोप' कहते हैं ॥ ९६–९७ ॥

---

१. वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः।
जनयत्यंकुरं ताम्रं वर्त्मनि च्छिन्नरोहणम् ॥
तच्छोणितार्शोऽसाध्यं स्याद्रक्तस्राव्यथ नीरुजम्। विदेह

विमर्श—पक्ष्मकोप को बोलचाल की भाषा में 'परवाल' कहते हैं। इसमें पक्ष्म (बरौनी) के कुछ बाल अप्राकृत रूप से अन्दर की तरफ मुड़ जाते हैं और शुक्ल एवं कृष्णमण्डल पर रगड़ के कारण क्षोभ एवं शोथ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी पक्ष्मधारा के प्राकृत बालों के अतिरिक्त भीतर की ओर एक दूसरी पंक्ति भी पलकों में उत्पन्न हो जाती है। यह पक्ष्माशय या बरौनी में दोषों के स्थित होने पर उत्पन्न होती है। प्राकृत पक्ष्म बाहर की ओर होते हैं किन्तु इस द्वितीय धारा की दिशा अन्दर नेत्र की ओर होती है जिसके कारण परवाल श्वेतभाग तथा कृष्णभाग पर रगड़ कर उनमें सूजन पैदा कर देते है। इसके कारण, निरन्तर अश्रुस्राव, नेत्रकला में क्षोभ तथा शोथ, प्रकाशासह्यता एवं अव्रण शुक्र आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चन्द्रिकाकार श्री गदाधर पक्ष्मकोप का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं— 'दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीव्राणि च खराणि च। विवर्तयन्ति पक्ष्माणितैर्घृष्टं चाक्षि दूयते। उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते। वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते' आधुनिक ग्रन्थों में प्राकृत बालों को अन्दर की तरफ मुड़ने को ट्रिकियेसिस तथा दूसरी पंक्ति को डिस्ट्रिकियेसिस कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्विवर्तन में भी यह दशा मिलती है। नेत्रकला के पुराने शोथ तथा पोथकी (रोहे 'ट्रकोमा') के उपद्रव स्वरूप पलक की तरुणास्थि मोटी तथा कठोर हो जाती है। अन्त मे वह अन्दर की ओर मुड़ कर वर्त्म के अन्तविवर्तन की अवस्था उत्पन्न कर देती है।

इन तीनों प्रकार का वर्णन कल्याण-विनिश्चय तथा अष्टांग-हृदय से सुस्पष्ट हो जाता है—

पक्ष्मोपरोधे संकोचः वर्त्मनां जायते तथा।
खरतान्तर्मुखत्वं च रोम्णामन्यानि वा पुनः॥
कण्टकैरिव तीक्ष्णाग्रैर्घृष्टं तैरक्षि शूयते।
उच्यते चानिलादिद्विडल्पाहः शान्तिरुद्धृतैः॥ अ० हृ० उ० १०

अर्थात् जब वर्त्मों का संकोच इस तरह हो जाता है कि रोम (पक्ष्म) खर एवं अन्दर की तरफ मुखवाले हो जाते है या प्राकृत रोमों में खरता एवं अन्तर्मुखता आ जाती है या दूसरी पक्ष्म पंक्ति का उद्भव हो जाता है तब ये रोम नेत्रों में घर्षण कर शोथादि उपद्रवों को उत्पन्न करते है।

कल्याण-विनिश्चय में दूसरी पंक्ति के उद्भव को 'उपपक्ष्म' कहे गये हैं—

'पक्ष्मोपरोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोमवान्।
रोमैरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैस्त्रिभिः॥

इस प्रकार पूर्वोक्त आधुनिक तीनों प्रकार के पक्ष्मकोप की निम्नलिखित संज्ञायें

उपपन्न होती हैं।(क) वर्त्मसंकोच[1] या पक्ष्मोपरोध (ख) पक्ष्मवर्तन या पक्ष्मकोप, (ग) उपपक्ष्म[3]

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्॥ ९८॥

इति नेत्ररोगनिदानम्॥

पक्ष्मशात—पक्ष्मवर्त्म के आशय में स्थित पित्त पलकों के रोगों को गिराकर आंख में खुजली तथा दाह उत्पन्न कर देता है। इस रोग को 'पक्ष्मशात' कहते हैं॥ ९८॥

विमर्श—इस प्रकार सभी नेत्र रोग सुश्रुत के अनुसार ७६ होते हैं। सन्धिगत रोग ९, वर्त्मगत रोग एक्कीस २१, शुक्लमण्डल गतरोग ११, कृष्णमण्डल गतरोग ४. सर्वगतरोग १७, दृष्टिगतरोग १२ तथा पक्ष्मगतरोग २, इस प्रकार ७६ नेत्र रोग होते हैं।

वर्त्मगत रोगों का विवरण-कोष्ठक

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सा० चि०
उत्सङ्गिनी	अधोवर्त्म	सन्निपातज	भेदन
कुम्भीकपिडका	वर्त्म (पलक)	त्रिदोषज	"
पोथकी	"	त्रिदोषज (साध्य)	लेखन
वर्त्मशर्करा	वर्त्मान्तः प्रदेश	सन्निपातज (साध्य)	"
वर्त्मार्श	वर्त्म	त्रिदोषज	"
शुष्कार्श	"	त्रिदोषज (साध्य)	"
अंजननामिका	"	रक्तज	भेदन
बहलवर्त्म	"	सन्निपातज (साध्य)	लेखन
वर्त्मबन्धक	"	" "	"
क्लिष्टवर्त्म	"	" "	"
वर्त्मकर्दम	"	" "	"
श्याववर्त्म	"	" "	"
क्लिन्न वर्त्म	"	कफज (साध्य)	"
अक्लिन्नवर्त्म	"	सन्निपातज (साध्य)	"
वातहतवर्त्म	वर्त्म	वातज (असाध्य)	×

---

१. Entropion (इन्ट्रोपेन) २. Trichiasis (ट्रिकियेसिस)
३. Districhiasis (डिस्ट्रिकियेसिस)।

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	सा० चि०
वर्त्मार्बुद	वर्त्म	रक्त तथा पित्त	छेदन
निमेष	,,	वातज (असाध्य)	X
शोणितार्श	,,	रक्तज	छेदन
लगण	,,	कफज (साध्य)	भेदन
विसवर्त्म	,,	त्रिदोषज	,,
कुञ्चन	,,	,,	,,

पक्ष्मगत रोग विवरण-कोष्ठक

पक्ष्मकोप	वर्त्म एवं पक्ष्म	सन्निपातज (याप्य)	आहरणलेखन
पक्ष्मशात	,, ,,	पित्तज	,,

नेत्र रोग का निदान समाप्त ।

अथातो नेत्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

नेत्र रोग के निदान के बाद उसकी चिकित्सा का निरूपण करते हैं ।

अभिष्यन्दे सामान्यचिकित्सा—

लङ्घनालेपनस्वेदशिराव्यधविरेचनैः ।
उपाचरेदभिष्यन्दानञ्जनाश्च्योतनादिभिः ॥ ९९ ॥

अभिष्यन्द में सामान्य चिकित्सा—सभी प्रकार (चार प्रकार के—वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द तथा रक्ताभिष्यन्द) के अभिष्यन्द रोगों को लङ्घन (उपवास), आलेपन, स्वेदन, शिराव्यध, विरेचन, अञ्जन तथा आश्च्योतन के द्वारा उपचार करे ॥ ९९ ॥

विमर्शः—लघन—उपवास करना, नेत्र रोग में उपवास करने से अधिक लाभ होता है । आंख तथा उदर के रोग, प्रतिश्याय, व्रण और ज्वर ये उपवास करने से पांच रात्रि में ठीक हो जाते हैं । "अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः । पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लघनात्" ॥ यो० र०

आलेपन—वर्त्मादिगत वर्त्मरोग मे आलेप लगाना ।

स्वेदन—शुष्कस्वेद—रूई या कपड़े को स्वच्छ कपड़े में लपेट कर एक पोटली बना लें और उसे अंगीठी की आंच पर तावा रखकर उस पर आँखों के सहने योग्य गरम कर स्वेदन करना चाहिए यह पोटली दो होनी चाहिए जिससे एक से सेकता रहे और ठण्ढ होने पर दूसरी से सेके ।

आर्द्र स्वेद—एक बर्तन में पानी डालकर अंगीठी पर रख देते हैं और उसमें आवश्यकता के अनुसार नमक, फिटकरी, अफीम की खाली ठोंठी, त्रिफलाचूर्ण या बोरिक एसिड (टङ्कण ५ ग्रेन एक औंस पानी मे) मिला देते हैं और गरम कर उतार लेते हैं । पुनः उसमें लिन्ट या चार-चार इञ्च के जमाई रूई के

टुकड़ों को भिगोकर तथा पानी निचोड़ कर आँखों को स्वेदन करते हैं। इस प्रकार ठंढा होने पर पुनः दूसरी पट्टी से उसी तरह स्वेदन करते हैं। स्वेदन करने से सभी प्रकार के शोथों मे लाभ होता है।

शिराव्यध—सिरावेध-सिरा को भेदन कर रक्तमोक्षण कराया जाता है। (Venesection)।

विरेचन—अभिष्यन्द में दस्तकारक औषधों से विरेचन कराने से दोषों का प्रशमन होता है। क्योंकि विबन्ध के कारण इस रोग को बढ़ने में सहायता मिलती है अतः विबन्ध को दूर करना रोग को नाश करने में सहायक होता है।

अञ्जन—नेत्र रोगों के स्थानिक उपचारों में प्रयोग होनेवाले योगों की एक साधारण संज्ञा है। गुटिका, चूर्ण, रस आदि अनेक प्रकार की कल्पनाओं से बने हुए लेखन, रोपण और प्रसादन गुणवाले विविध प्रकार के 'अञ्जन' होते हैं। रोगों की प्रबलता में गुटिका का प्रयोग, मध्यम बल होने पर रसक्रिया का प्रयोग, तथा हीन बल होने पर चूर्णाञ्जन का प्रयोग करते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व उपचार उत्तम है। [1]गुटिका सर्वश्रेष्ठ अञ्जन है।

अञ्जन तीन प्रकार के होते हैं—१. लेखन—यह एक प्रकार का शोधन अञ्जन होता है। यह नेत्र, वर्त्म, शिराकोष तथा स्रोताश्रित दोषों को बलपूर्वक मुख, नासिका तथा आंख के मार्ग से निकाल देता है। यह मधुर रसवाले द्रव्यों को छोड़कर अन्य रस वाले द्रव्यों से बनाये जाते हैं। इसका दोषों के अनुसार प्रयोग होता है। २. रोपण—कषाय तथा तिक्त रसवाले द्रव्यों से निर्माण किया जाता है। तथा इसका प्रयोग स्नेह के साथ होता है। यह स्निग्ध तथा शीत गुणभूयिष्ठ होता है जिससे दृष्टि को बल मिलता है। ३. प्रसादन—मधुर रसभूयिष्ठ द्रव्यों से तथा स्नेह के संयोग से बनता है। यह प्रसाद गुणवाला अञ्जन है। इसके प्रयोग से दृष्टिदोषों का प्रसादन होता है।

तीनों प्रकार के अञ्जनों को लगाने का समय अलग-अलग होता है। लेखन (शोधन) अंजन प्रातःकाल, रोपण अंजन सायंकाल तथा प्रसाद अंजन को रात्रि में लगाया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि दोषों के अनुसार कफज रोगों में प्रातःकाल, वातिक रोगों में सायंकाल तथा पित्तज रोगों में रात्रि के समय अंजन का प्रयोग करना चाहिए। नेत्रों को आश्चोतन क्रिया द्वारा शुद्ध करने के बाद अञ्जन का प्रयोग करना हितकर होता है। रोग का स्वरूप

---

१. गुटिका-रस-चूर्णानि विविधान्यञ्जनानि तु।
यथापूर्वं बल तेषां श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः॥

स्पष्ट हो जाने तथा अनेक दोषों का सम्मेलन न होने पर नेत्र में अंजन लगाने का विधान[1] है।

अञ्जन लगाने के लिये मल्लिका-पुष्प के मुकुल के सदृश मुखवाली, कलाय के सदृश मण्डलाग्र, आठ अङ्गुल लम्बी, बीच में पतली, कर्कश आदि दोष से रहित, पकड़ने योग्य शलाका (सलाई) का प्रयोग करना चाहिए। यह [2]शलाका सोना, चाँदी, रजत, शृङ्ग, तांमा, वैदूर्य, कांसा तथा लोहा आदि का निर्मित होना चाहिए।

आश्चोतन—रोगी को वातरहित स्थान में बैठाकर बायें हाथ से नेत्र को खोलकर रुई के फाहे से दवा को लेकर तीन अंगुल की ऊंचाई से नेत्र के कृष्णमण्डल के उपरिभाग में १० बूंद छोड़े और साफ एवं मुलायम कपड़ा से आंखों को पोंछ कर गरम जल में कपड़ा या रुई भिगोकर स्वेदन कर्म करे। इस आश्चोतन का प्रयोग वातज तथा कफजन्य रोगों में लाभ करता है। रक्त-पित्तजन्य रोगों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

नेत्ररोगे लङ्घनम्—

अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात्॥ १००॥

नेत्ररोग में लङ्घन का विधान—आंख तथा पेट में उत्पन्न रोग और प्रतिश्याय, व्रण एवं ज्वर ये पाँच रोग पाँच रात्रि तक लङ्घन करने से नष्ट हो जाते हैं॥ १००॥

नेत्ररोगे पाचनम्—

स्वेदः प्रलेपास्तिक्तान्न सेको दिनचतुष्टयम्।
लङ्घन चाक्षिरोगाणामामाना पाचन परम्॥ १०१॥

नेत्ररोग में पाचन विधि—आम अक्षिरोग के लिये स्वेदन कर्म, प्रलेप, तिक्तरस प्रधान अन्नों का सेवन, सेक नेत्ररोग होने से चार दिन तथा लङ्घन ये उत्तम पाचन होते हैं। अर्थात् ये अवस्था तथा उपचार नेत्रदोषों को पाचन करनेवाले होते हैं॥ १०१॥

आमे नेत्ररोगेऽञ्जनादिनिषेधः—

श्रीवासातिविषारोध्रैश्चूर्णितैरल्पसैन्धवैः।
अव्यक्तेऽक्षिगदे कार्यं प्रोतस्थैर्गुण्ठनं बहिः॥ १०२॥

---

१. व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले।
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत्॥

२. सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्य-कांस्यजम्।
आयसानि च योज्यानि शलाका च यथाक्रमम्॥

अञ्जनं पूरणं क्वाथपानमामे न शस्यते ।

आमनेत्र रोग में अञ्जन आदि का निषेध—नेत्र रोग के स्पष्ट न होने पर श्रीवास (श्रीवेष्टक), अतीस, लोध समभाग और थोड़ा सेन्धानमक—इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण बनावे और उसको प्रोत (कपड़े) में रखकर बाहर से अवगुण्ठन करे। आमनेत्र रोग में आंखों में अञ्जन लगाना तथा क्वाथ पीना लाभदायक नहीं होता है।

आश्चोतनयोग्यावस्था—

यदाक्षिरोगं मन्येत सरुजं व्यक्तलक्षणम् ॥ १०३ ॥
वेदनानिग्रहार्थं च कुर्यादाश्चोतनं तदा ।

आश्च्योतन योग्य-अवस्था—यदि नेत्र रोग के लक्षण स्पष्ट हो जाँय और उसमें पीड़ा होती हो तो वेदना को नष्ट करने के लिये आश्च्योतन (औषधि मिश्रित द्रव पदार्थ दो १० बूंद आंख में छोड़ना) कर्म करे।

वातजनेत्ररोगे विल्वाद्याश्चोतनम्—

आश्चोतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः ॥ १०४ ॥
कोष्णैः सैरण्डबृहतीतर्कारीमधुशिग्रुभिः ।

वातज नेत्र रोग में विल्वाद्य-आश्च्योतन—वातजन्य नेत्ररोग में बिल्वादि गणोक्त द्रव्य एरण्ड, वनभंटा, जयन्ती, मुलेठी तथा सहिजन की छाल समभाग इन द्रव्यों के ईषदुष्ण (आंख में सहने योग्य) क्वाथ से आंख में आश्च्योतन (स्नेहन, लेखन के अनुसार क्रमशः १० बूंद, ७ या ८ बूंद रोपण तथा १२ बूंदें आंख में छोड़ कर साफ करना) कर्म करे।

नेत्ररोगे सेचनार्थमेरण्डादिक्षीरम्—

एरण्डपल्लवे मूले त्वचि चाजं पयः शृतम् ॥ १०५ ॥
कण्टकार्याश्च मूलेषु सुखोष्णं सेचने हितम् ।

नेत्ररोग में सेचनार्थ एरण्डादि क्षीर—एरण्ड का पल्लव, मूल तथा छाल मिलाकर पकाया हुआ बकरी का दूध तथा कण्टकारी की जड मिलाकर पकाया हुआ दूध (क्षीरनिर्माण-विधि के अनुसार इन द्रव्यों का कल्क बनाकर सिद्ध किया हुआ क्षीर) (आंख में सहने योग्य) थोड़ा गरम-गरम आंखों को सेचन करने के लिये हितकर होता है।

अञ्जनयोग्यः०कालः—

ततः संपक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत् ॥ १०६ ॥
हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते ।
पूर्वाह्ने चापराह्ने च ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ॥ १०७ ॥
वर्षास्वनभ्रे नात्युष्णे वसन्ते तु सदैव हि ।

अंजन करने योग्य काल—आश्च्योतन (सेचन) कर्म करने के बाद दोषों के परिपक्व हो जाने पर अञ्जन का प्रयोग करे। हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं में मध्याह्नकाल (दोपहर) में अंजन करना हितकर होता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल तथा शरद ऋतु में सायंकाल या दोनों ऋतुओं में दोनों समय, वर्षा ऋतु में बादल के हट जाने के बाद अत्यधिक गर्मी न रहने पर किसी भी समय और वसन्त ऋतु में प्रातः,सायं तथा मध्याह्न काल में अञ्जन का प्रयोग करना हितकर है।

अञ्जनद्रव्यमात्रा—

हरेणुमात्रां कुर्वीत वर्ति तीक्ष्णाञ्जने भिषक् ॥ १०८ ॥
प्रमाण मध्यमेऽध्यर्धं द्विगुण च मृदौ भवेत्।

अञ्जन द्रव्य की मात्रा—बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण द्रव्यों की अञ्जन-वर्ति हरेणु (रेणुका बीज) के बराबर बनावे। मध्यम द्रव्यों (न अति तीक्ष्ण तथा न अति मृदु) की वर्ति डेढ़ रेणुका बीज के बराबर और मृदु द्रव्यों की वर्ति दो रेणुका बीज के बराबर बनावे।

विडङ्गमात्र ह्रस्वं तु मध्यं द्वावुत्तमं त्रयम् ॥ १०९ ॥
रसक्रियाया वर्तीना प्रमाणं परिकीर्तितम्।

रसक्रिया की वर्ति का परिमाण एक विडङ्ग के बराबर की मात्रा ह्रस्व, दो विडङ्ग के बराबर की मात्रा मध्यम तथा तीन विडङ्ग के बराबर की मात्रा उत्तम बताई गई है।

वैरेचनिकचूर्ण तु द्विशलाक विधीयते ॥ ११० ॥
मृदौ तु त्रिशलाका स्याच्चतस्रः स्नैहिकाञ्जने।

चूर्णाञ्जन में वैरेचनिक (तीक्ष्ण) द्रव्यों का चूर्ण दो शलाका, मृदु द्रव्यों का चूर्ण तीन शलाका तथा स्नैहिक अंजन का-चार शलाका आंख में अंजन करने का विधान किया गया है। अर्थात् चूर्ण (सुरमा) का अञ्जन-प्रयोग शलाका से आंख के अन्दर किया जाता है। उसकी मात्रा पूर्वोक्त प्रकार से बताई गई है।

अञ्जनशलाकार्थं प्रशस्ता धातवः, अञ्जनशलाकालक्षणं च—

सुवर्णरौप्यताम्रायःकांस्यनागमयाः कृताः ॥ १११ ॥
शलाका अञ्जने शस्ता अष्टाङ्गुलमिताः शुभाः।
वक्त्रतो मुकुलाकाराः कलायपरिमण्डलाः ॥ ११२ ॥

अञ्जन-शलाका के योग्य धातुयें तथा अंजन-शलाका का लक्षण—अञ्जन करने के लिये सुवर्ण, रौप्य (चांदी), ताँबा, लोहा, कांसा या नाग (सीसा

धातु) के आठ अङ्गुल की शलाका प्रशस्त तथा कल्याणकारक होती है। इसका मुख मल्लिका पुष्प के मुकुल के समान तथा अन्त कलाय (मटर) के समान मण्डलाग्र होना चाहिए। (यह शलाका[1] बीच में पतली-कर्कश आदि दोष से रहित तथा हाथ में पकड़ने योग्य होनी चाहिए) ॥ १११–११२ ॥

अञ्जनविधिः—

वामे करतले कृत्वा सजलं निकषोपमम्।
दक्षिणेनाञ्जनं गृह्य करेण निकषेच्छनैः ॥ ११३ ॥
तेन कल्केन मतिमान् शलाकाग्रं प्रलिप्य च।
उत्थाप्य चोत्तरं वर्त्म वामेनाङ्गुलपर्वणा।
वर्त्मशुक्लान्तरे चाल्पां शलाकां संप्रवर्तयेत् ॥ ११४ ॥

अञ्जन विधि—बाँयें हाथ की तलहट में कसौटी के समान काला जल-मिश्रित अंजन को रखकर दाहिने हाथ से शलाका को लेकर धीरे २ मिलाये और उसी कल्क से शलाका के अग्रभाग को प्रलिप्त कर बुद्धिमान् चिकित्सक बांयें हाथ की अङ्गुलियों के पर्व से वर्त्म (पलक को ऊपर उठाकर वर्त्म = पलक) तथा शुक्लमण्डल के मध्य में शलाका के थोड़े भाग को प्रवेश कर अंजन लगाये और शलाका निकाल ले ॥ ११३–११४ ॥

विमर्श—किसी पात्र में अञ्जन को रखकर उसमें साफ जल या डिस्टिल वाटर मिलाकर बांयें हाथ के तलवे में रक्खे और दाहिने हाथ से शुद्ध साफ शलाके से धीरे से मिला दे इसके बाद उस अञ्जन-कल्क से शलाका के अग्र-भाग को लिप्त कर शलाका को कनीनिका से अपाङ्ग की तरफ निकाल कर लगावे या अपाङ्ग की ओर से कनीनिका को लगाकर निकाले।[2] यदि वर्त्म के ऊपर लगा हो या वर्त्मों में चिपकनेवाला हो तो अंगुली से लगावे। अञ्जन लगाते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि अञ्जन की मात्रा अधिक न हो अन्यथा क्षत होने की सम्भावना होती है।

अजन को पात्र में रखने के लिये कुछ नियम[3] हैं। जैसे मधुर अंजन सोने

---

१. वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला।
अष्टाङ्गुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा ॥

२. वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः।
शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत्कानीनमञ्जनम् ॥
अपाङ्गं वा यथायोगं कुर्याच्चापि गतागतम्।
वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ॥

३. तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद् भाजनान्यपि।
सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्य—कांस्यजम् ॥
आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम्।

के पात्र में, अम्ल अंजन चांदी के पात्र में, लवण रस प्रधान अंजन मेषशृङ्गमय पात्र में, कषाय रस प्रधान अंजन ताम्र या लौहपात्र में, कटु अंजन वैदूर्य मणि के निर्मित पात्र में, तिक्त अंजन कांस्यपात्र में तथा शीतगुणप्रधान अंजन नलादि के बने पात्र में रखना चाहिए ।

वाताक्षिरोगे बृहत्यादिवर्तिः—

बृहत्येरण्डमूलत्वक्शिग्रोर्मूलं ससैन्धवम् ।
अजाक्षीरेण पिष्टा स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥ ११५ ॥

वातिक नेत्ररोग में बृहत्यादि वर्ति—बृहती (बड़ी कटेरी), एरण्ड की जड़ तथा छाल, सहिजन की जल तथा सेंधानमक समभाग—इन द्रव्यों को बकरी के दूध के साथ पीसकर वर्ति बनावे । यह वर्ति वातजन्य रोग को दूर करने-वाली है ॥ ११५ ॥

अभिष्यन्दे हरिद्राद्यञ्जनम्—

हरिद्रे मधुकं द्राक्षा देवदारु च पेषयेत् ।
आजेन पयसा पिष्टमभिष्यन्दे तदञ्जनम् ॥ ११६ ॥

अभिष्यन्द नेत्ररोग में हरिद्रा-आदि अञ्जन—दोनों हल्दी (आमाहल्दी, दारुहल्दी), मुलेठी, मुनक्का तथा देवदारु समभाग—इन द्रव्यों को चूर्ण बनावे और इस चूर्ण को बकरी के दूध में पीसकर कल्क बना ले । इस कल्क को नेत्राभिष्यन्द रोग में अंजन करे ॥ ११६ ॥

पित्ताक्षिरोगे प्रपौण्डरीकादिसेकः—

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्वनिशामलयपद्मकैः ।
शीतैर्मधुसमायुक्तैः सेकः पित्ताक्षिरोगजित् ॥ ११७ ॥

पैत्तिक नेत्ररोग में प्रपौण्डरीकादि सेक—प्रपौण्डरीक, यष्ट्याह्व (मुलेठी), दारुहल्दी, मलयागिरि चन्दन तथा कमल का फूल समभाग—इन द्रव्यों का कल्क बनावे और इसमें मधु तथा शीतल जल मिलाकर (रूई की फाहा भिगो-भिगो कर) सेक करे । यह सेक पैत्तिक नेत्ररोग को जीत लेता है ॥ ११७ ॥

नेत्रशोफादौ द्राक्षाद्याश्चोतनम्—

द्राक्षामधुकमञ्जिष्ठाजीवनीयैः शृतं पयः ।
प्रातराश्चोतनं पथ्यं शोफशूलाक्षिरोगिणाम् ॥ ११८ ॥

नेत्र के शोथ-आदि में द्राक्षाद्याश्चोतन—मुनक्का, मुलेठी, मजीठ तथा [1]जीवनीयगण इन समभाग औषधों से सिद्ध किया हुआ दूध का शोथ तथा

---

१. जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी । ये जीवनीयगण हैं ।

शूलयुक्त नेत्र के रोगियों के आंख में आश्चोतन करना पथ्य है अर्थात् इससे नेत्र की सूजन तथा शूल दूर होता है ॥ ११८ ॥

कफजनेत्ररोगप्रतीकारः—

कफजे लङ्घनस्वेदौ मद्यं तिक्तादिभोजनम् ।
तीक्ष्णैः प्रधमनं कुर्यात्तीव्रैश्चैवोपनाहनम् ॥ ११९ ॥

कफजन्य[1] नेत्ररोग का प्रतिकार—कफजन्य नेत्ररोग में लंघन, स्वेदन, मद्यपान, तिक्त, कटु, कषाय रसप्रधान भोजन तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रधमन एवं तीव्र (तीक्ष्ण) द्रव्यों से उपनाहन (पुल्टिस) का प्रयोग करे ॥ ११९ ॥

फणिज्जकास्फोतकपित्थबिल्वपत्तूरपीलुस्वरसार्जभृङ्गैः ।
स्वेदं विदध्यादथवा च लेपं बर्हिष्ठशुण्ठीसुरदारुकुष्ठैः ॥ १२० ॥

फणिज्जक (मरुवा), आस्फोत (मन्दार), कैथ की छाल, बेल की छाल, पत्तूर, पीलुवृक्ष का स्वरस, अर्ज (तुलसीभेद) पत्र तथा भृङ्गराज—इन द्रव्यों के क्वाथ से स्वेदन करे। अथवा बर्हिष्ठ (नेत्रवाला), सोंठ, देवदारु तथा कूठ इन द्रव्यों को पीसकर कफज नेत्ररोग में लेप करे ॥ १२० ॥

नेत्रशोफादौ शुण्ठ्यादिपिण्डः—

शुण्ठीनिम्बदलैः पिण्डः सुखोष्णैः सह सैन्धवैः ।
धार्यश्चक्षुषि पिण्डोऽयं शोफकण्डूविषापहः ॥ १२१ ॥

नेत्रशोथ में शुण्ठ्यादि पिण्ड—सोंठ, नीम की पत्ती तथा सेंधानमक इन द्रव्यों को जल के साथ महीन पीसकर पिण्ड (पिण्डाकार पुल्टिस) बनावे और थोड़ा गरम कर (आंखों के सहन करने योग्य) नेत्र के ऊपर रक्खे। यह पिण्ड नेत्र के शोथ, कण्डू तथा विष को नाश करता है ॥ १२१ ॥

कफजनेत्रशूले पारिजातादियोगः—

वल्कलं पारिजातस्य तैलं काञ्जिकसैन्धवम् ।

---

१. वार्ताकुकर्कोटककारवेल्लं नवीनमोचं नवमूलकञ्च ।
पुनर्नवामार्कवकाकमाची–पत्तूरशाकानि कुमारिका च ॥
द्राक्षा च कुस्तुम्बुरु-मग्निमन्थ-रोध्रं वरा क्षौद्रमथोपनाहनम् ।
नारीपयश्चन्दनमिन्दुखण्डं तिक्तानि सर्वाणि लघूनि चान्ये ॥
लावो मयूरो वनकुक्कुटश्च कूर्मः कुलिङ्गोऽथ कपिञ्जलश्च ।
विजानता पथ्यमिदं प्रयुक्तं यथामलं नेत्रगदं निहन्ति ॥
शालितण्डुलगोधूम-मुद्गसैन्धवगोघृतम् ।
गोपयश्च सिताक्षौद्रं पथ्यं नेत्रगदे स्मृतम् ॥
सर्वं शाकमचक्षुष्यं चक्षुष्यं शाकपञ्चकम् ।
जीवन्ती वास्तु मत्स्याक्षी-मेघनादः पुनर्नवा ॥

कफजाताक्षिशूलघ्नं गिरिघ्नं कुलिशं यथा ॥ १२२ ॥

कफजन्य नेत्रशूल में पारिजातादि योग—पारिजात (फरहद) की छाल, तैल, काञ्जी तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों का योग (पिण्ड या लेप) कफजन्य-नेत्र के शूल को नाश करता है। जैसे इन्द्र का वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है॥ १२२ ॥

नेत्ररोगे सैन्धवाद्याश्चोतनम्—

सिन्धूत्थरोध्रसितजीरकतिन्तिडीक-
पत्रं नवं दृषदि चूर्णितमम्बरस्थम्।
आश्चोतनं नयनयोरसकृत्प्रयुक्त-
मेतद्धि रुक्श्वयथुरोगविकारहारि ॥ १२३ ॥

नेत्ररोग में सैन्धवाद्य-आश्चोतन—सेंधानमक, लोध, सफेद जीरा तथा तिन्तिडीक पत्र (इमली का नवीन पत्ता) समभाग इन द्रव्यों को साफ पत्थर पर पीसकर तथा कपड़ा पर रखकर नेत्रों में अनेक बार आश्चोतन करे। यह आश्चोतन नेत्र की पीडा तथा शोथरोग को एवं नेत्र के विकारों को दूर करता है ॥ १२३ ॥

ससैन्धवं रोध्रमथाज्यभृष्टं सौवीरपिष्टं सितवस्त्रबद्धम्।
आश्चोतनं तन्नयनस्य कुर्यात्कण्डूं च दाहं च रुजं च हन्यात् ॥१२४॥

लोध की छाल को सौवीर (कांजी) के साथ पीसकर सेंधानमक मिलाकर घृत में पका ले और सफेद कपड़ा से बांधकर नेत्र का आश्चोतन करे। यह आश्चोतन नेत्रों की खुजली, दाह तथा पीडा को नाश करता है ॥ १२४ ॥

कफजनेत्ररोगे रसाञ्जनाद्याश्चोतनम्—

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे श्वदंष्ट्रा विश्वभेषजम्।
आश्चोतनं कफहरं सुखोष्णं मधुसंयुतम् ॥ १२५ ॥

कफज नेत्ररोग में रसाञ्जनाद्य-आश्चोतन—रसाञ्जन, हल्दी, दारुहल्दी, गोखरू, सोंठ समभाग इन द्रव्यों के कल्क से मधु मिलाकर तथा थोड़ा गरम कर (स्वच्छ कपड़ा में बांधकर) आँखों के ऊपर आश्चोतन करना कफजन्य नेत्ररोगों को दूर करता है ॥ १२५ ॥

वातरक्तजनेत्ररोगे एरण्डमूलाद्याश्चोतनम्—

एरण्डमूलं सफलप्ररोहं विजर्जरं क्षीरयुतं गवां च।
स्याद्वातरक्तापहमुग्रमेतदाश्चोतनं सद्भिषजो वदन्ति ॥ १२६ ॥

वातरक्तजन्य नेत्ररोग मे एरण्डमूलाद्य आश्चोतन—रेंड की जड़, फल तथा अंकुर को अच्छी तरह कूटकर गाय का दूध मिलाकर (या गाय के दूध में

पीसकर) अच्छे वैद्य आश्चोतन करने के लिये बताते हैं। यह आश्चोतन इस प्रकार वातरक्तजन्य नेत्ररोग को नाश करता है ॥ १२६ ॥

पित्तवातजनेत्ररोगे प्रपौण्डरीकाद्याश्चोतनम्—

प्रपौण्डरीकं मधुकं हरिद्रा छागं पयो वाऽप्यथवापि नार्याः।
आश्चोतनं शर्करया विमिश्रं पित्तानिलार्तेर्विनिवृत्तये तु ॥ १२७ ॥

पित्तरक्तजन्य नेत्ररोग में प्रपौण्डरीकाद्य-आश्चोतन—प्रपौण्डरीक, मुलेठी, हल्दी, समभाग इन द्रव्यों को बकरी के दूध में या स्त्री के दूध में पीसकर तथा शक्कर मिलाकर पित्तवातजन्य नेत्ररोग की निवृत्ति के लिये आश्चोतन करे ॥ १२७ ॥

वातकफजनेत्ररोगे तगराद्याश्चोतनम्—

नतं श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयं च ह्रीवेरमित्येकशृतं त्वजानाम्।
क्षीरोदके सैन्धवसंप्रयुक्तमाश्चोतनं वातकफापहं स्यात् ॥ १२८ ॥

वातकफज नेत्ररोग में तगराद्य-आश्चोतन—नत (तगर), गोखरू, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी तथा हाऊवेर—इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पकाकर तथा सेन्धानमक मिलाकर आश्चोतन करना वातकफजन्य नेत्ररोग को नाश करता है ॥ १२८ ॥

पित्तरक्तवातजनेत्ररोगे दार्व्याद्याश्चोतनम्—

दार्वीहरिद्रात्रिफलं समुस्तं सशर्करं माक्षिकसंप्रयुक्तम्।
आश्चोतनं मानुषदुग्धमिश्रं पित्तास्रवाते तु भिषग्विदध्यात् ॥ १२९ ॥

पित्तरक्तवातजन्य नेत्ररोग में दार्व्यादि आश्चोतन—दारुहल्दी, आमाहल्दी, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), नागरमोथा, समभाग—इन द्रव्यों के महीन पीस कर उसमें शक्कर, मधु तथा स्त्री का दूध मिलाकर भयकर पित्तज, रक्तज तथा वातज नेत्ररोग में वैद्य आश्चोतन करे ॥ १२९ ॥

निम्बस्य पत्रैः परिलिप्य रोध्रं स्वेदाग्निना चूर्णमथापि कल्कम्।
आश्चोतनं मानुषदुग्धयुक्तं पित्तास्रवातापहमुग्रमुक्तम् ॥ १३० ॥

नीम के पत्तों को महीन पीस कर उससे लोध की छाल को लिप्त कर आग में पकावे और उसको चूर्ण या कल्क बनावे। इस चूर्ण या कल्क में स्त्री का दूध मिलाकर आश्चोतन करना, भयकर पित्तज, रक्तज तथा वातज नेत्ररोग का नाश करनेवाला कहा गया है ॥ १३० ॥

दोषविशेषेण क्रियाविशेषः—

सुखोष्णैर्वातजः पित्तरक्तजो मृदुशीतलैः।
तीक्ष्णरूक्षोष्णविशदैः प्रशाम्यति कफात्मकः ॥ १३१ ॥
तीक्ष्णोष्णमृदुशीतानां व्यत्यासात्सान्निपातिकः।

कोष्णमाश्चोतनं मिश्रैर्भेषजैः सान्निपातिके ॥ १३२ ॥

दोषों के अनुसार क्रियाविशेष—वातज नेत्ररोग थोड़ा गरम, पित्तज तथा रक्तज नेत्ररोग मृदु तथा शीतल और कफजन्य नेत्ररोग तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, मृदु तथा विशद द्रव्यों से शान्त होता है। सान्निपातिक नेत्ररोग तीक्ष्ण, उष्ण, मृदु तथा शीतल द्रव्यों के व्यत्यास से (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक दोषों की उल्वणता के अनुसार) दोषशामक, तीक्ष्ण, उष्ण, मृदु एवं शीतल द्रव्यों से शान्त होता है। सान्निपातिक नेत्ररोग में औषध-मिश्रित थोड़ा गरम आश्चोतन करना चाहिए ॥ १३१-१३२ ॥

आश्चोतनकालो मात्रा च—

तस्य कालो दिवा सर्वो यामश्च प्रथमो निशि।
प्रकुञ्चः श्लैष्मिके व्याधौ पाणिशुक्तिश्च वातिके ॥ १३३ ॥
आश्चोतनप्रमाणं स्याद् द्वे शुक्ती चास्रपैत्तिके।
अथवाऽऽश्चोतनं यावद्दीयमानं सहेन्नरः ॥ १३४ ॥
अहोरात्रे तच्च सकृद्द्वित्रिवासरमुच्यते ।
लेखने सप्त चाष्टौ वा बिन्दवः स्नैहिके दश ॥ १३५ ॥
आश्चोतने प्रयोक्तव्या द्वादशैव तु रोपणे ।

आश्चोतन का समय तथा मात्रा—आश्चोतन का समय दिन का चारो पहर तथा रात्रि का प्रथम याम (प्रहर) होता है।

श्लैष्मिक नेत्ररोग में आश्चोतन की मात्रा एक प्रकुञ्च (एक पल 'छटांक'), वातिक नेत्ररोग में पाणिशुक्ति (एक तोला या दो तोला) तथा रक्तज तथा पित्तज नेत्ररोग में दो शुक्ति (एक छटांक) होती है अथवा उतना आश्चोतन करना चाहिए जितना मनुष्य सहन कर सके। इस आश्चोतन का प्रयोग दिन तथा रात में एक दिन, दो दिन या तीन दिन तक करना चाहिए। लेखन करने वाले आश्चोत द्रव्यों की मात्रा सात या आठ बूंद, स्नेहन करनेवाले द्रव्यों की मात्रा दस बूंद, स्नेहन करनेवाले द्रव्यों की मात्रा बारह बूंद प्रयोग करना चाहिए।

आश्चोतनसम्यग्योगलक्षणानि—

सम्यगाश्चोतने युक्ते वैमल्यं नेत्रयोर्भवेत् ॥ १३६ ॥
वेदनोपशमो व्याधिनिवृत्तिर्नेत्रलाघवम् ।

सम्यक्-आश्चोतन का लक्षण—अच्छी तरह आश्चोतन करने पर नेत्र निर्मल (स्वच्छ) हो जाते हैं। पीड़ा शान्त हो जाती है, रोग नष्ट हो जाता है और आंखें हलकी हो जाती हैं।

आश्चोतनस्य मिथ्यातियोगलक्षणानि—

मिथ्याकृतेऽथवा वृद्धिर्गौरवाविलनेत्रता ॥ १३७ ॥
अतीवाश्चोतिते नेत्रे रागदोषपरिस्रवाः ।

आश्चोतन का मिथ्यायोग तथा योग का लक्षण—आश्चोतन का मिथ्या-योग होने पर आंखों में रोग की वृद्धि, गुरुता तथा मलिनता होती है। और अतियोग होने पर नेत्र में रक्तिमा दोषों की वृद्धि तथा नेत्रस्राव होता है।

रक्ताभिष्यन्दे लोध्रादिसेकः—

तिरीटत्रिफलायष्टिशर्कराभद्रमुस्तकैः ॥ १३८ ॥
पिष्टः शीताम्बुना सेको रक्ताभिष्यन्दनाशनः ।

रक्ताभिष्यन्द में लोध्रादि सेक—तिरिट (लोध), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), मुलेठी, शक्कर तथा नागरमोथा समभाग—इन द्रव्यों को शीतल जल के साथ पीस कर उससे सेक करे। यह रक्ताभिष्यन्द को नाश करता है।

रक्ताभिष्यन्दे कसेर्वाद्याश्चोतनम्—

कसेरुमधुकानां च चूर्णमम्बरसंयुतम् ॥ १३९ ॥
न्यस्तमप्स्वन्तरिक्षासु हितमाश्चोतन भवेत् ।

रक्ताभिष्यन्द में कसेर्वाद्याश्चोतन—कसेरु (नागरमोथा) तथा मुलेठी के चूर्ण को वस्त्र में बाँध कर ओस में रातभर रखकर (या आकाशीय जल में डुबोकर) आश्चोतन करना रक्तज अभिष्यन्द में हितकर होता है।

रक्ताभिष्यन्दप्रतीकारः—

तिक्तस्य सर्पिषः पानं बहुशश्च विरेचनम् ॥ १४० ॥
अक्ष्णोरपि समन्ताच्च पातनं च जलौकसाम् ।
पित्ताभिष्यन्दशमनो विधिश्चाप्युपपादितः ॥ १४१ ॥

रक्ताभिष्यन्द का प्रतिकार—तिक्तक द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान करना, अनेक बार विरेचन करना, आंखों के चारों तरफ जलौकापात (जोंक लगाना) ये सब प्रयोग पित्ताभिष्यन्द को शान्त करनेवाला कहा गया है ॥१४०–१४१॥

सर्वनेत्ररोगे शिग्रुपत्रपल्लयोगाः—

शिग्रुपत्ररसैः सेकः सर्वनेत्ररुजापहः ।

सभी प्रकार के नेत्ररोग में सहिजन के पत्तों का योग—सहिजन के पत्तों के रस से सेक करना सभी प्रकार के नेत्ररोगों को नाश करनेवाला है।

शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुघृष्टस्ताम्रसंपुटे ।
घृतेन धूपितो हन्ति शोफहर्षाश्रुवेदनाः ॥ १४२ ॥

सहिजन के पत्तों के कल्क ताम्र के पात्र में लिप्त कर सुखा ले और उसको

घृत से धूपित करे यह शोफ, नेत्रहर्ष तथा नेत्रस्राव की पीड़ा को शान्त करता है ॥ १४२ ॥

वातपित्तकफसन्निपातजां नेत्रयोर्बहुविधामपि व्यथाम् ।
शीघ्रमेव जयति प्रयोजितः शिग्रुपल्लवरसः समाक्षिकः ॥ १४३ ॥

मधु मिलाकर प्रयोग किया हुआ सहिजन के पत्तों का रस वातिक, पैत्तिक, कफज तथा सान्निपातिक नेत्रों की अनेक प्रकार की पीड़ाओं को शीघ्र ही जीत लेता है ॥ १४३ ॥

सर्वनेत्ररोगे पथ्यादिलेपः—

पथ्यागैरिकसिन्धूत्थदार्वीताक्ष्यैः समांशकैः ।
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥ १४४ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में पथ्यादि लेप—हर्रे, गेरू, सेन्धानमक, दारुहल्दी, तार्क्ष्यशैल (रसाञ्जन), दारुहल्दी के काढ़े को बकरी के दूध में पकाकर उसमें तूतिया मिलाकर बनाया हुआ तुत्थाञ्जन को भी तार्क्ष्यशैल कहते हैं । समभाग इन द्रव्यों को जल में पीसकर नेत्रों के बाह्यभाग में लेप करना सभी प्रकार के नेत्ररोगों को नष्ट करता है ॥ १४४ ॥

वेदनानिग्रहार्थं तमालपत्रादिलेपः—

पत्रं स्थौणेयकं कुष्ठं मालतीभाविताস্तिलाः ।
वेदनानिग्रहे लेपः कोष्णोऽयं स्नेहसयुतः ॥ १४५ ॥

नेत्र वेदना को दूर करने के लिये तमालपत्रादि लेप—तमालपत्र, स्थौणेयक (थुनेर 'गठिवन भेद' कुकुरौंधा), कूठ, मालती (चमेली) के पत्तों के रस से भावित तिल समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर उसमें घृत मिलाकर थोड़ा गरम कर नेत्र की वेदना को दूर करने के लिये नेत्र के बाह्यभाग में चारों तरफ लेप करे ॥ १४५ ॥

नेत्रशूले श्वेतरोध्रयोगः—

श्वेतरोध्रं घृतभृष्टं चूर्णितं तान्तवस्रुतम् ।
उष्णाम्बुना विमृदित सेकः शूलहरः परः ॥ १४६ ॥

नेत्रशूल में सफेद लोध का योग—सफेद लोध को घृत में भूनकर चूर्ण बनावे और कपड़े से छान ले । इस चूर्ण को गरम जल के साथ मर्दन कर टिकिया बनावे और नेत्र को सेक करे । यह सेक नेत्रशूल को अच्छी तरह दूर करनेवाला है ॥ १४६ ॥

सर्वनेत्ररोगे प्रपौण्डरीकादिसेकः—

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्वदार्वीरोध्राब्दचन्दनैः ।
एरण्डाम्बुयुतः सेकः सर्वनेत्ररुजापहः ॥ १४७ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में प्रपौण्डरीकादि लेप—प्रपौण्डरीक, मुलेठी, दारुहल्दी, लोध, मुस्ता (मोथा) तथा रक्तचन्दन, समभाग इन द्रव्यों के चूर्ण को महीन पीसकर रेंड के क्वाथ में मिलाकर (थोड़ा गरम कर) सेक करे। यह सभी प्रकार के नेत्ररोग को नाश करता है ॥ १४७ ॥

नेत्रकोपे निम्बपत्रादिवटिका—

पिष्टैर्निम्बस्य पत्रैरतिविमलतरैर्जातिसिन्धूत्थमिश्रै-
रन्तर्गर्तं दधाना पटुतरगुटिका भृष्टरोध्रेण घृष्टा।
तूलैः सौवीरसान्द्रैरतिशयमृदुभिर्वेष्टिता सा समन्ता-
च्चक्षुःकोपोपशान्तिं चिरमुपरि दृशो भ्राम्यमाणा करोति ॥

नेत्रकोप में निम्बपत्रादि गुटिका—नीम की पत्ती को अच्छी तरह मुलायम पीसकर उसमें चमेली की पत्ती तथा सेंधानमक पीसकर मिला दे और लोध की छाल को पीसकर उसके बीच में रखकर सुन्दर-सुन्दर गुटिका बनावे तथा उस गुटिका को गाढ़े काञ्जी में मुलायम रुई को लिप्त कर (भिगोकर) इससे लपेट दें और आंखों के ऊपर अधिक देर तक घुमाये अर्थात् आंखों के ऊपर बार-बार घुमाकर सेके। इससे नेत्रकोप (पचमकोप) शान्त हो जाता है।

यथास्वौषधचूर्णस्य मात्रां बदरसंमिताम्।
विशुद्धे मृदुनि क्षौमे बद्ध्वा चाक्षि स्पृशेन्नरः।
परिदाहोऽश्रुपातश्च रागः शोथश्च शाम्यति ॥ १४९ ॥

पूर्वोक्त औषधों के चूर्ण को बेर की बराबर मात्रा में लेकर मुलायम तथा स्वच्छ कपड़ा में बाँधकर आँख के ऊपर स्पर्श करे। इससे नेत्र का दाह, नेत्र-स्राव (आँसू का गिरना), नेत्र की लालिमा तथा नेत्र की सूजन शान्त हो जाती है ॥ १४९ ॥

नवनेत्रकोपे ताम्बूलादियोगः—

ताम्बूलशिग्रुकरवीरशिरीषदन्ती-
श्यामादधित्थसुरसासुमनार्जकानाम्।
प्रत्येकशो मधुयुतः स्वरसोऽञ्जनेन
कोपं नवं नयनयोः सहसैव हन्ति ॥ १५० ॥

नवीन नेत्रकोप में ताम्बूलादि योग—ताम्बूल (पान) का पत्ता, सहिजन, कनेर, शिरीष, दन्ती (जमालगोटे की जड़), कालानिशोथ, दधित्थ (कैंथ), तुलसी, सुमन (मुचकुन्द का पुष्प) तथा अर्जक (वनतुलसी) इन प्रत्येक द्रव्यों का स्वरस मधु मिलाकर अंजन करने से नेत्रों का नवीन कोप (नवीन नेत्रकोप रोग) शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १५० ॥

अक्षिकोपे करवीरादियोगः—

सद्यः प्रकुपिते नेत्रे करवीराग्रपल्लवैः ।
अञ्जयेच्छान्तये यावन्मुखं हि तिक्तकं भवेत ॥ १५१ ॥

नेत्रकोप में करवीरादि योग—नवीन नेत्र-प्रकोप में नेत्र प्रकोप की शान्ति के लिये कनेर के अग्रपल्लव से आँखों में तब तक अंजन करे, जब तक मुंह तिक्तक (कड़ुआ) न हो जाय ॥ ५१ ॥

अक्षिकोपे तुत्थादिचूर्णाञ्जनम्—

तुत्थकमधुकामलक बदरीपत्रं च संपुटे दग्धम् ।
उत्कुपितमात्रलोचनरोगप्रतिघाति तच्चूर्णम् ॥ १५२ ॥

नेत्रकोप में तुत्थादि चूर्णाञ्जन—तूतिया, मुलेठी, आंवला तथा बेर का पत्ता, समभाग—इन द्रव्यों को शरावसम्पुट में बन्द कर जलावे और इसको अच्छी तरह महीन पीसकर अञ्जन करे। यह चूर्णाञ्जन नवीन उत्पन्न नेत्रकोप एवं नेत्ररोग को नाश करता है ॥ १५२ ॥

नेत्रशोफादौ बिल्वपत्रादियोगः—

बिल्वपत्ररसः पूतः साज्यः सिन्धुबलान्वितः ।
शोथे वराटिकाघृष्टो धूपितो गोमयाग्निना ॥ १५३ ॥

नेत्रशोथ आदि में बिल्वपत्रादि योग—बेल के पत्तों का रस छानकर उसमें सेन्धानमक का चूर्ण तथा बरियार का स्वच्छ रस एवं घृत मिलाकर नेत्रशोथ में आँखों में छोड़े ॥ १५३ ॥

पयसाऽऽलोडितः श्लक्ष्णः पूरणाच्छोथशूलनुत् ।
अभिष्यन्देऽधिमन्थे च स्रावे रक्ते च शस्यते ॥ १५४ ॥

वराटिका कौड़ी घिसकर उसको गाय के उपलों में जलाकर सूक्ष्म-चिकना चूर्ण बनावे और गाय के या बकरी के दूध में मिलाकर आँखों में भर दे और कुछ समय तक रक्खे। यह योग नेत्रशूल तथा नेत्रशोथ को दूर करता है और सभी प्रकार के नेत्राभिष्यन्द, नेत्राधिमन्थ, नेत्रस्राव एवं नेत्र की लालिमा में प्रशस्त है। अर्थात् इन रोगों को नष्ट करता है ॥ १५४ ॥

अक्षिकोपेऽरण्यकुलत्थयोगः—

वस्त्रबद्धं शकृद्वारिस्विन्नारण्यकुलत्थजम् ।
चूर्णं सद्योऽक्षिकोपघ्नं निशीथे योजितं सकृत् ॥ १५५ ॥

नेत्रकोप में वनउड़दी का योग—अरण्यकुलत्थ (वन उड़दी) को कपड़े में बाँधकर थोड़े जल मे उबालकर तथा सुखाकर चूर्ण बनावे। यह चूर्ण (बकरी के दूध में मिलाकर) रात में एक बार प्रयोग करने से नेत्रकोप को नष्ट करता है ॥ १५५ ॥

मलवणकटुतैलं काञ्जिकं कांस्यपात्रे
घटितमुपलघृष्टं धूपितं गोमयाग्नौ ।
सपवनकफकोपं छागदुग्धावसिक्तं
जयति स च सशूल-स्रावशोफं सरागम् ॥ १५६ ॥

वनउड़दी को कांसा के बर्तन में सेंधानमक सरसों का तैल तथा कांजी मिलाकर पत्थर के ऊपर घिसकर तथा बकरी का दूध मिलाकर गोबर के उपलों की आग में जलाकर आँखों को धूपित करे। यह वातकफजन्य नेत्रकोप, नेत्रशूल, नेत्रस्राव, नेत्रशोथ तथा नेत्र की लालिमा को जीत लेता है ॥ १५६ ॥

अभिष्यन्दचिकित्साया अधिमन्थेऽप्यतिदेशः—

अयमेव विधिः सर्वो मन्थादिष्वपि शस्यते ।

नेत्राभिष्यन्द का चिकित्सा का नेत्राधिमन्थ में प्रयोग करने का आदेश—इन सभी विधियों को नेत्राधिमन्थ में भी प्रयोग करना प्रशस्त है।

अधिमन्थे दाहविधानम्—

अशान्ते सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत् ॥ १५७ ॥

नेत्राधिमन्थ में दाह का विधान—यदि पूर्वोक्त चिकित्सा से अधिमन्थ शान्त न हो तो भौं के ऊपर दाहकर्म करे ॥ १५७ ॥

नेत्रपाकचिकित्सा—

जलौकापातनं शस्तं नेत्रपाके विरेचनम् ।
शिराव्यधं वा कुर्वीत सेकाल्लेपांश्च शुक्रवत् ॥ १५८ ॥

नेत्रपाक-चिकित्सा—नेत्रपाक में जलौकापातन (जोंक लगाना) तथा विरेचन कराना प्रशस्त है। या शिराव्यध एवं नेत्रशुक्र (फुल्लिका) के तरह सेंकों तथा लेपों का प्रयोग करें ॥ १५८ ॥

षडङ्गगुग्गुलुः—

बिभीतकशिवाधात्रीपटोलारिष्टवासकैः ।
क्वाथो गुग्गुलुना पेयः शोथाक्षिपाकशूलहा ॥ १५९ ॥
पिल्लं च सव्रणं शुक्रं रागादींश्च विनाशयेत् ।
एतैरेव घृतं पक्वं रोगास्तांस्ताञ्जयेद् भृशम् ॥ १६० ॥

षडङ्गगुग्गुलु—बहेड़ा, हर्रे, आंवला, परोरा की पत्ती, नीम की छाल तथा अडूसा (समभाग)—इन द्रव्यों के क्वाथ को गुग्गुलु के साथ पान करे। यह षडङ्गगुग्गुलु नेत्रशोथ, नेत्रपाक तथा नेत्रशूल को नाश करता है। इसके अतिरिक्त पिल्लरोग, सव्रणशुक्र एवं नेत्र की लालिमा आदि को भी नाश करता है। पूर्वोक्त द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क के साथ (घृत[1] निर्माण विधि के

---

1. घृतनिर्माण विधि म० नि० प्र० खण्ड पृ० ४ में देखें।

अनुसार) पकाया हुआ घृत पूर्वोक्त सभी रोगों को अच्छी तरह जीत लेता है ॥ १५९–१६० ॥

रक्तस्रावे वासादियोगः—

आटरूषाभयानिम्बधात्रीमुस्ताक्षकूलकैः ।
रक्तस्रावं कफं हन्ति चक्षुष्यं वासकादिकम् ॥ १६१ ॥

रक्तस्राव में वासा (अडूसा) आदि का योग—आटरूष (अडूसा), हर्रे, नीम, आंवला, नागरमोथा, बहेड़ा तथा कूलक समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ या इन द्रव्यों से सिद्ध घृत रक्तस्राव तथा कफजन्य नेत्ररोग (नेत्रस्राव-नेत्राधिमन्थ आदि) को नाश करता है। यह वासकादिक योग आंखों के लिये हितकर है ॥ १६१ ॥

अभिष्यन्दादौ त्रिफलाक्वाथः—

पथ्यास्तिस्रो बिभीतकाः षड् धात्र्यो द्वादशेति च ।
प्रस्थार्धसलिले क्वाथ्यमष्टभागावशेषितम् ॥ १६२ ॥
पीत्वाऽभिष्यन्दमास्रावं रागं च तिमिरं जयेत् ।
सरम्भशूलरागाश्रुनाशनं दृक्प्रसादनम् ॥ १६३ ॥

अभिष्यन्द आदि में त्रिफला का क्वाथ—हर्रे तीन नग, बहेड़ा छः नग, आंवला बारह नग—इन द्रव्यों को आधा सेर जल में पकावे और आठवाँ भाग शेष रहने पर छानकर पान करे यह क्वाथ नेत्राभिष्यन्द, नेत्रास्राव, नेत्र की लालिमा तथा तिमिर (पटलगत काच, लिङ्गनाश आदि) रोग को जीत लेता है और नेत्रशूल, नेत्र की लालिमा तथा अश्रुस्राव को नाश करने वाला एवं नेत्र को स्वच्छ तथा शक्तिमान् बनानेवाला है ॥ १६२–१६३ ॥

सर्वनेत्ररोगे दार्वीसेकः—

षोडशभिः सलिलपलैः पलं तथैकं कटङ्कटेर्याः सिद्धम् ।
सेकोऽष्टभागशिष्टः क्षौद्रयुतः सर्वदोषहरः ॥ १६४ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में दारुहल्दी का सेक—जल सोलह पल (सोलह छटांक) में कटकटेरी (दारुहल्दी) एक छटांक पकावे आठवां भाग (दो छटांक) शेष रहने पर मधु (दो तोला) मिलाकर आंखों का सेंक करे। यह सेक सभी प्रकार के नेत्र-सम्बन्धी रोगों को दूर करनेवाला है ॥ १६४ ॥

नेत्राभिघातचिकित्सा—

नेत्रे त्वभिहते कुर्याच्छीतमाश्चोतनं हितम् ।
दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात्
स्निग्धैर्हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगैः ।

स्वेदाग्निधूमभयशोकरुजाभितापै-
रभ्याहतामपि तथैव भिषक्चिकित्सेत् ॥ १६५ ॥

नेत्राभिघात की चिकित्सा—नेत्राभिघात रोग में शीतल द्रव्यों से आश्चोतन (आंखों का प्रक्षालन) करना हितकर होता है। नेत्राभिघात से नेत्र को आराम देनेवाली विधि को करे। वैद्य स्वेदन, अग्निकर्म, धूम, भय, शोक, पीड़ा तथा अभिताप (गर्मी) से दृष्टि के नष्ट हो जाने पर भी स्निग्ध, शीतल तथा मधुर द्रव्यों के प्रयोग से चिकित्सा करे ॥ १६५ ॥

तिमिरे चित्रकादिकषायः—

चित्रकमूलत्रिफलापटोलयवसाधितं पिबेदम्बु ।
सघृतं निशि चक्षुष्यं तिमिरं च विशेषतो हन्ति ॥ १६६ ॥

तिमिररोग में चित्रकादि कषाय—चित्रक (चीता) की जड़, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), परवल की पत्ती तथा इन्द्रयव (समभाग)—इन द्रव्यों से सिद्ध किये हुए क्वाथ को घृत मिलाकर रात में पान करे। यह क्वाथ नेत्र को बल देनेवाला तथा विशेषकर तिमिर रोग को नाश करता है ॥ १६६ ॥

सर्वनेत्ररोगे वासादिकषायः—

वासानिम्बपटोलपत्रकटुकागाङ्गेयवत्सादनी-
भूनिम्बेन्द्रयवाग्निदारुरजनीधाऽयक्षपथ्याह्वयम् ।
शुण्ठीवल्कलरक्तचन्दनयुतं निष्क्वाथ्यमष्टांशकं
प्राक्पीतं विनिहन्ति नेत्रजनितान्रोगानशेषान्बहून् ॥
तिमिरपटलकण्डूनीलिकास्यन्दमन्थान्
द्विविधमपि च शुक्रं सव्रणं चाव्रणं च ।
सुचिरजमथ पिल्लं पिष्टकं चार्जुनं च
द्रुततरमुपहन्याद्दाहशूलाश्रुरोगान् ॥ १६८ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में वासादि कषाय—अडूसा, नीम, परवल, तालीसपत्र, कुटकी, गाङ्गेय (नागरमोथा), वत्सादनी (गुडूची), भूनिम्ब (चिरायता), इन्द्रयव, अग्नि (चित्रक), देवदारु, रजनी (दारुहल्दी, आमाहल्दी), आंवला, बहेड़ा, हर्रे, सोंठ, वल्कल (कोरैया) तथा रक्तचन्दन (समभाग)—इन सभी द्रव्यों को सोलह गुने जल में क्वाथ कर आठवें भाग को (एक छटांक की मात्रा में) प्रातःकाल पान करने से नेत्र में उत्पन्न सभी प्रकार के अनेक रोगों को नाश करता है। यह क्वाथ नेत्रपटल में होनेवाले तिमिररोग, नेत्रकण्डू, नीलिका, नेत्रस्राव, नेत्राधिमन्थ, दोनों प्रकार के अव्रणशुक्र (फुल्लिका), सव्रणशुक्र, पिल्लरोग,

पिष्टक, अर्जुनरोग तथा नेत्रदाह, नेत्रशूल, अश्रुस्राव आदि अनेक रोगों को शीघ्र ही नाश करता है ॥ १६७-१६८ ॥

आगन्तुजनेत्ररोगचिकित्सा—

आगन्तुदोषं प्रसमीक्ष्य कार्यं वक्त्रोष्मणा स्वेदनमादितस्तु ।
आश्चोतनं स्त्रीपयसा च सद्यो यच्चापि पित्तक्षतजापहं स्यात् ॥१६९॥

आगन्तुक नेत्ररोग की चिकित्सा—नेत्र में आगन्तुक दोषों को देखकर प्रारम्भ से ही मुख की गर्मी (कपड़े की पोटली को मुख के भाफ से गरम कर) से स्वेदन करे, स्त्री के दूध से आश्चोतन (स्त्री के दूध को आंखों में छोड़े) तथा इसके अतिरिक्त पैत्तिक तथा क्षतजन्य नेत्ररोगों को दूर करनेवाले प्रयोगों को शीघ्र ही करे ॥ १६९ ॥

सूर्योपरागानलविद्युदादिविलोकनेनोपहतेक्षणस्य ।
सतर्पणस्निग्धहिमादिकार्यं सायं निषेव्यास्त्रिफलाप्रयोगाः ॥ १७० ॥

सूर्योपराग (सूर्यग्रहण को देखने से), अग्नि, बिजुली आदि के देखने से देखने की शक्ति के नष्ट हो जाने पर सतर्पण, स्निग्ध एवं शीतल सेक, आश्चोतन आदि उपचारों को सायंकाल करे और त्रिफला के योगों को सेवन करे ॥ १७० ॥

अभिघातजाक्षिशूले निशादिपूरणम्—

निशाब्दत्रिफलादार्वीसितामधुकसंयुतम् ।
अभिघाताक्षिशूलघ्नं नारीक्षीरेण पूरणम् ॥ १७१ ॥

अभिघातज नेत्रशूल में हल्दी आदि को पूरण करना—हल्दी, मोथा, त्रिफला, दारुहल्दी सिता मिला (या मल्लिका मेंहदी की पत्ती) तथा मुलेठी (समभाग)—इन द्रव्यों को स्त्री के दूध में पीस कर तथा छान कर आंखों में पूरण करना (आंखों में भरना) नेत्राभिघात तथा नेत्रशूल को नाश करता है ॥ १७१ ॥

अभिघातजनेत्ररोगस्य साध्यासाध्यविचार.—

प्रथमे पटले दोषः साध्यः स्यादभिघातजः ।
द्वितीये पटले याप्यस्तृतीये तु न सिध्यति ॥ १७२ ॥

नेत्राभिघात तथा नेत्रशूल का साध्यत्व तथा असाध्यत्व का विचार—प्रथम पटल में नेत्राभिघातजन्य रोग साध्य होता है । द्वितीय पटल में याप्य तथा तृतीय पटल में आघातजन्य रोग सिद्ध नहीं होता अर्थात् असाध्य होता है ॥ १७२ ॥

शुष्कपाके सैन्धवाद्यञ्जनम्—

सैन्धवं दारु शुण्ठी च मातुलुङ्गरसो घृतम् ।

पिष्टक, अर्जुनरोग तथा नेत्रदाह, नेत्रशूल, अश्रुस्राव आदि अनेक रोगों को शीघ्र ही नाश करता है ॥ १६७–१६८ ॥

आगन्तुजनेत्ररोगचिकित्सा—

आगन्तुदोषं प्रसमीक्ष्य कार्यं वक्त्रोष्मणा स्वेदनमादितस्तु ।
आश्चोतनं स्त्रीपयसा च सद्यो यच्चापि पित्तक्षतजापहं स्यात् ॥१६९॥

आगन्तुक नेत्ररोग की चिकित्सा—नेत्र में आगन्तुक दोषों को देखकर प्रारम्भ से ही मुख की गर्मी (कपड़े की पोटली को मुख के भाफ से गरम कर) से स्वेदन करे, स्त्री के दूध से आश्चोतन (स्त्री के दूध को आंखों में छोड़े) तथा इसके अतिरिक्त पैत्तिक तथा क्षतजन्य नेत्ररोगों को दूर करनेवाले प्रयोगों को शीघ्र ही करे ॥ १६९ ॥

सूर्योपरागानलविद्युदादिविलोकनेनोपहतेक्षणस्य ।
सतर्पणस्निग्धहिमादिकार्यं सायं निषेव्यास्त्रिफलाप्रयोगाः ॥ १७० ॥

सूर्योपराग (सूर्यग्रहण को देखने से), अग्नि, बिजुली आदि के देखने से देखने की शक्ति के नष्ट हो जाने पर संतर्पण, स्निग्ध एवं शीतल सेक, आश्चोतन आदि उपचारों को सायंकाल करे और त्रिफला के योगों को सेवन करे ॥ १७० ॥

अभिघातजाक्षिशूले निशादिपूरणम्—

निशाब्दत्रिफलादार्वीसितामधुकसंयुतम् ।
अभिघाताक्षिशूलघ्नं नारीक्षीरेण पूरणम् ॥ १७१ ॥

अभिघातज नेत्रशूल में हल्दी आदि को पूरण करना—हल्दी, मोथा, त्रिफला, दारुहल्दी सिता मिला (या मल्लिका मेंहदी की पत्ती) तथा मुलेठी (समभाग)—इन द्रव्यों को स्त्री के दूध में पीस कर तथा छान कर आंखों में पूरण करना (आंखों में भरना) नेत्राभिघात तथा नेत्रशूल को नाश करता है ॥ १७१ ॥

अभिघातजनेत्ररोगस्य साध्यासाध्यविचार.—

प्रथमे पटले दोषः साध्यः स्यादभिघातजः ।
द्वितीये पटले याप्यस्तृतीये तु न सिध्यति ॥ १७२ ॥

नेत्राभिघात तथा नेत्रशूल का साध्यत्व तथा असाध्यत्व का विचार—प्रथम पटल में नेत्राभिघातजन्य रोग साध्य होता है । द्वितीय पटल में याप्य तथा तृतीय पटल में आघातजन्य रोग सिद्ध नहीं होता अर्थात् असाध्य होता है ॥ १७२ ॥

शुष्कपाके सैन्धवाद्यञ्जनम्—

सैन्धवं दारु शुण्ठी च मातुलुङ्गरसो घृतम् ।

स्तन्योदकाभ्यां कर्तव्यं शुष्कपाके तदञ्जनम् ॥ १७३ ॥

शुष्कपाक में सैन्धवाद्यञ्जन—सेन्धानमक, देवदारु, सोंठ, नीबू का रस तथा घृत, पानी, सेन्धानमक, देवदारु तथा सोंठ को महीन चूर्ण बनाकर उसमें नींबू का रस, घृत, स्त्री का दूध तथा पानी मिलाकर नेत्र के शुष्कपाक रोग में अञ्जन करे ॥ १७३ ॥

अम्लाध्युषितचिकित्सा—

अम्लाध्युषितशान्त्यर्थं कुर्याल्लेपान् सुशीतलान् ।
तैल्वकं त्रैफलं सर्पिर्जीर्णं वा केवलं पिबेत् ॥ १७४ ॥
शिरावेधं विना कार्यः पित्तस्यन्दहरो विधिः ।

अम्लाध्युषित-चिकित्सा—अम्लाध्युषित नेत्ररोग की शान्ति के लिये शीतल लेपों को करे । तैल्वक[1] घृत तथा त्रिफला[2] घृत या पुराना घृत पान करे और शिरावेध को छोड़कर पित्ताभिष्यन्द को दूर करनेवाली सभी विधियों को करे ।

शिरोत्पातचिकित्सा—

सर्पिः क्षौद्रं चाञ्जनं स्याच्छिरोत्पातस्य भेषजम् ॥ १७५ ॥
तद्वत्सैन्धवकासीसं स्तन्यपिष्टं प्रपूजितम् ।

शिरोत्पात-नेत्र की चिकित्सा—नेत्र के शिरोत्पात-नामक रोग में घृत का अंजन तथा शहद का अञ्जन औषध है । इसी प्रकार सेन्धा नमक तथा कासीस इन दोनों को स्त्री के दूध में या बकरी के दूध में पीसकर अञ्जन करना हितकर होता है ।

शिराहर्षचिकित्सा—

शिराहर्षेऽञ्जनं कुर्यात्फाणितं मधुसंयुतम् ॥ १७६ ॥

शिराहर्ष की चिकित्सा—शिराहर्ष-नामक नेत्ररोग में मधु मिलाकर, फाणित (राव) का अञ्जन करे ॥ १७६ ॥

मधुना तार्क्ष्यशैलं वा कासीसं वा समाक्षिकम् ।
वेतसाम्लस्तन्ययुक्तं फाणितं तु ससैन्धवम् ॥ १७७ ॥

तार्क्ष्यशैल (रसाञ्जन "दारुहल्दी के काढ़ा के समभाग बकरी के दूध में घिस कर तथा उसको पकाकर तैयार किया हुआ अंजनविशेष") को मधु के

---

१. गदनि० प्र० ख० पृष्ठ ६ में देखें ।
२. " " २२ मे देखें ।

साथ या कासीस को मधु मिलाकर अथवा अम्लवेत के चूर्ण में बकरी का दूध, फाणित (राब) तथा सेन्धा नमक मिलाकर अंजन करे ॥ १७४–१७७ ॥

नेत्ररोगे तर्पणविधिः—

गव्यक्षीरोत्थितं सर्पिस्तर्पणार्थं विधीयते ।
दृष्टिप्रसादनं श्रेष्ठं तिमिरस्यापकर्षकम् ॥ १७८ ॥
अभिष्यन्दाधिमन्थाभ्यां कर्षितेऽक्षिणि बलावहम् ।
दोषानुत्सादयत्याशु तथैवाशु नियच्छति ॥ १७९ ॥

नेत्ररोग में तर्पणविधि—नेत्ररोग में गाय के दूध से निकाला गया घृत तर्पण के लिये बताया गया है। यह दृष्टि को प्रसन्न (स्वच्छ) करनेवाला और तिमिर रोग को दूर करने में श्रेष्ठ है। यह तर्पण-विधि नेत्राभिष्यन्द तथा नेत्राधिमन्थ के द्वारा नेत्र के दुर्बल हो जाने पर दृष्टि को बल देनेवाला है और नेत्र के दोषों को नाश करता है तथा उसी प्रकार शीघ्र ही दृष्टिदोषों को दूर कर देता है ॥ १७८–१७९ ॥

उत्तानशायिनः कार्यं निश्चलस्य यथासुखम् ।
प्रतिसूर्याग्निराहते नीरजोधूममारुते ॥ १८० ॥
गृहे सुखे निराबाधे वीतक्रोधभयस्य च ।
माषपिष्टमयाधारं दृढीकृत्यापरिस्रवम् ॥ १८१ ॥
अधाङ्गुलोर्ध्वविस्तारं मूले द्व्यङ्गुलमेव च ।
प्रमाणेनाक्षिकोशस्य यच्च स्यान्नाक्षिरोगकृत् ॥ १८२ ॥
पक्ष्माणि यावन्मज्जन्ति रोमान्तादाभ्रुवस्तथा ।
ततो वस्त्रेण पीतेन नीलेन हरितेन वा ॥ १८३ ॥
यत्नैराच्छाद्य नयने ततः ,पश्येद्यथासुखम् ।

वमन, विरेचन, शिरोविरेचन आदि के द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर प्रसन्न, क्रोधरहित, निर्भय रोगी को सूर्य का धूप, अग्नि, धूल, धुवां तथा हवा-रहित एवं विघ्न-बाधारहित आराम देनेवाले घर में निश्चल, उत्तान (सीधा) तथा सुखपूर्वक सुला दे और उसके नेत्रों के चारों तरफ उड़द के आटे की दृढ मण्डलाकार बांध (मेढ़) बना दे जिसमें कोई द्रवपदार्थ निकलने के लिये छिद्र न हो। इस मण्डल को मूल भाग में दो अंगुल तथा ऊपर आधा अंगुल चौड़ा बनावे। यह नेत्रगोलक के प्रमाण के अनुसार बनावे जो नेत्ररोग को उत्पन्न करनेवाला न हो। इसके बाद नेत्र के चारों तरफ बनाये हुए आलवाल (कियारी) में पूर्वोक्त घृत को (या घृतमण्ड को घृत के ऊपर के स्वच्छ भाग को) सुखोष्ण जल मिलाकर भौं पर्यन्त भर दे जितने तर्पण

द्रव्य में पक्ष्म (पलक बरौनी), तक डूब जाय। पश्चात् नेत्रों को पीले, नीले या हरित वर्ण के वस्त्र से अच्छी तरह ढँककर सुखपूर्वक पलकों को खोल कर देखे।

यावत्सहस्रमात्रा स्याद्धारयेन्मारुतामये ॥ १८४ ॥
पित्तजे रक्तजे चाष्टौ कफजे षट्शतानि च।
सन्निपातात्मकेऽपि षट् च पञ्चस्वस्थविधौ तथा ॥ १८५ ॥
ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि रोहयेत्।
प्रायोगिकेण धूमेन कफं चास्य विशोधयेत् ॥ १८६ ॥

यह तर्पण कर्म वातज नेत्ररोग में एक हजार मात्रा उच्चारण काल तक, पित्तज तथा रक्तज नेत्ररोग में आठ सौ मात्रा उच्चारण काल तक, कफज नेत्ररोग में ६ सौ मात्रा उच्चारण काल तक, सान्निपातिक नेत्ररोग में छः सौ मात्रा उच्चारण काल तक तथा स्वस्थ नेत्र में पांच सौ मात्रा उच्चारण काल तक करना चाहिए अर्थात् पूर्वोक्त मात्रा उच्चारण काल तक तर्पण द्रव्य को नेत्रों में धारण करे। इसके बाद नेत्र के पलकों के ऊपर से अपांग के तरफ स्नेह को निकाल कर नेत्र को साफ कर दे और प्रायोगिक (नेत्ररोग में प्रयोग किये जानेवाले) धूप से कफ का संशोधन करे ॥ १८४–१८६ ॥

स्वस्थनेत्रे विधातव्यं द्व्यन्तर तर्पणं भवेत्।
अहन्यहनि वातोत्थे पित्तरक्ते दिनान्तरे ॥ १८७ ॥
तर्पण सन्निपातोत्थे द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं कफे ।

स्वस्थ नेत्र में दो दिन का अन्तर देकर तर्पण करे। वातजन्य नेत्ररोग में प्रतिदिन, पित्तज तथा रक्तज नेत्ररोग में एक दिन का अन्तर देकर, सन्निपातज नेत्ररोग में दो दिन का अन्तर देकर तथा कफजन्य नेत्ररोग मे तीन दिन का अन्तर देकर तर्पण कर्म करे।

कदुष्णं कफवाते तु शीतलं पित्तशोणिते ॥ १८८ ॥

कफजन्य तथा वातजन्य नेत्ररोग में सुखोष्ण तर्पण तथा पित्तजन्य एवं रक्तजन्य नेत्ररोग में शीतल तर्पण करे ॥ १८८ ॥

सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं चाक्षिपाटवम् ।
निवृत्तिर्व्याधिसंशान्तिः क्रियालाघवमेव च ॥ १८९ ॥
तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि शश्वद्वातादि लक्षयेत्।

अच्छी तरह नींद का आना, समय पर जाग उठना, नेत्रों में लघुता का अनुभव होना, नेत्र के वर्ण की निर्मलता, विशदता तथा रोग का नष्ट होना तथा आंखों को खोलने तथा मूंदने में कष्ट न होना ये सब अच्छी तरह तर्पण

होने पर तृप्ति के लक्षण होते हैं। इसको वात आदि दोषों के अनुसार निरन्तर तर्पण के लक्षणों को देखता रहे।

व्रणशुक्रे षडङ्गगुग्गुलुः—

व्रणशुक्रप्रशान्त्यर्थं षडङ्गं गुग्गुलुं पिबेत्।

व्रणशुक्र में षडङ्ग गुग्गुलु—व्रणशुक्र की शान्ति के लिये षडङ्ग[1] गुग्गुलु को पान करे।

क्षतशुक्रे कतकाद्यञ्जनम्—

कतकस्य फलं शङ्खं तिल्वकं रौप्यमेव च ॥ १६० ॥
कांस्ये निघृष्टं स्तन्येन क्षतशुक्राक्षिरागजित्।

क्षतशुक्र में कतकाद्यञ्जन—कतक (निर्मली) का फल, शंख, तिल्वक (लोध) का छाल तथा चांदी—इन द्रव्यों को कांसा के पात्र में बकरी के दूध के साथ घिस कर अंजन करने से क्षतशुक्र तथा नेत्र की लालिमा को जीत लेता है।

व्रणशुक्रे चन्दनाद्या वर्तिः—

चन्दनं गैरिकं लाक्षा मालतीकलिकान्विता ॥ १६१ ॥
व्रणशुक्रहरा वर्तिः शोणितस्य प्रसादनी।

व्रणशुक्र में चन्दनाद्यावर्ति—रक्तचन्दन, गेरू, लाख तथा चमेली की कली इन द्रव्यों को एकत्र जल के साथ पीस कर वर्ति बनावे। यह वर्ति व्रणशुक्र को दूर करनेवाली है तथा नेत्र की रक्तिमा साफ करती है।

शुक्रे तमालपत्राद्या वर्तिः—

तमालपत्रं गोदन्तं शंखः फेनोऽस्थि गार्दभम् ॥ १६२ ॥
ताम्रं च बस्तमूत्रेण वर्तिः शुक्रविनाशिनी।

नेत्रगतशुक्र रोग में तमालपत्राद्या-गुटिका—तमालपत्र (पलास की जड़ की छाल), गोदन्त (हरिताल), शंख, समुद्रफेन, गदहे की हड्डी तथा तांबा इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र में पीसकर (घिसकर) वर्ति बनावे। यह वर्ति नेत्रशुक्र (फुल्लिका) को नाश करती है।

व्रणशुक्रे रत्नाद्या वर्तिः—

रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि धातवस्त्र्यूषणं त्रुटिः ॥ १६३ ॥
करञ्जबीजं लशुनं व्रणसादि च भेषजम्।
सव्रणव्रणगम्भीरत्वक्स्थशुक्रघ्नमञ्जनम् ॥ १६४ ॥

---

१. षडङ्गगुग्गुलु देखें नेत्ररोगाधिकार श्लोक १५९ में।

व्रणशुक्र में रत्नाद्यावर्ति—रत्न[१], उपरत्न[२] दांत, शृङ्ग, धातु,[३]

---

१. मुक्ताफलं हीरकञ्च वैदूर्यं पद्मरागकम् ।
पुष्पराग च गोमेदं नीलं गारुत्मतं तथा ॥
प्रवालयुक्तान्येतानि महारत्नानि वै नव ॥
वृष्यं महायुष्यमतीव नेत्र्यं वर्ण्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम् ।
मेध्यं विशेषाद्विविधामयघ्नं सुधोपमं स्यात् सुमृतं तु हीरम् ॥
माणिक्यं लेखनं शीतं कषायं मधुरं सरम् ।
चक्षुष्यं मङ्गलं दाहदुष्टग्रहविषापहम् ॥
मौक्तिकं तु मधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम् ।
विद्रुमं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम् । र. त.
कपर्दकः—गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः ।
खटी (खड़िया)—व्रणदोषकफास्रघ्नी नेत्ररोगनिकृन्तनी ।

२. उपरत्नानि काचश्च कर्पूराश्मा कपर्दिका ।
मुक्ताशुक्तिस्तथा शंख इत्यादीनि बहून्यपि ॥
गुणा यथैव रत्नानामुपरत्नेषु ते तथा ।
किन्तु किञ्चित्ततो हीना विशेषोऽयमुदाहृतः ॥ नि० भा० प्र०

३. स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च वंगं यशदमेव च ।
सीसं लोहं च सप्तैते धातवो गिरिसम्भवाः ॥
सप्तोपधातवः स्वर्णमाक्षिकं तारमाक्षिकम् ।
तुत्थं कांस्यं च रीतिश्च सिन्दूरञ्च शिलाजतु ॥ नि० भा० प्र०
स्वर्ण—शीतं स्वादुरसायनञ्च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुष्प्रदम् ।
कांस्य—कांस्यं तु तिक्तमुष्णं चक्षुष्यं वातकफविकारघ्नम् ।
ताम्र—दुर्नामग्रहणीगदप्रशमनं नेत्रामयेषूत्तमम् ।
वङ्ग—चक्षुष्य सुमतिप्रदं क्षयहरं शुक्रैकसंवर्द्धनम् ।
यशद—यशदं तुवरं शिशिरं कटुकं परमं नयनामयनाशकरम् ।
लौह—वीर्ये शीत गुरु च तुवर लेखनञ्चातिनेत्र्यम् ।
स्वर्णमाक्षिक—तिक्तं स्वर्यं च चक्षुष्यं त्रिदोषघ्नं परं मतम् ।
तुत्थ—कफघ्नमथ चक्षुष्यं व्रणदोषनिषूदनम् ।
खर्पर—चक्षुष्यः सर्वमेहघ्नो रक्तप्रदरनाशनः ।
कासीस—श्वित्रघ्नं नेत्र्यमतुलं विषघ्नं कचरंजनम् ।
स्रोतोऽञ्जन—रक्तपित्तक्षयकरं नेत्रामयनिषूदनम् ।
सौवीरांजन—रक्तपित्तप्रशमनं नेत्रामयहरं परम् ।
स्वर्णगैरिक—विषापहं तथा वर्ण्यं मृतं लोचनयोर्हितम् ।

त्र्यूषण¹(सोंठ, पीपर, मरिच), इलायची, करञ्ज का बीज तथा लहसुन ये सभी द्रव्य व्रणशुक्र को नष्ट करनेवाले औषध हैं। इन द्रव्यों का अञ्जन सव्रणशुक्र, अव्रणशुक्र, व्रणगम्भीर नेत्ररोग तथा चर्मगत नेत्रशुक्र रोग को नाश करनेवाला है॥ १९३-१९४॥

शुक्रे बृहत्याद्यञ्जनम्—

वार्ताकीरजनीशंखशिलामरिचसैन्धवैः ॥
अंशाद् द्विगुणितैरेभिरञ्जनं शुक्रनाशनम् ॥ १९५॥

शुक्र (फुल्ली) रोग में बृहत्याञ्जन—वार्ताकी (वनभंटा), हल्दी, शंख, शिलाजीत, मरिच तथा सेन्धानमक—इन द्रव्यों को क्रमशः दुगुना लेकर अर्थात् वनभंटा एक भाग, हल्दी दो भाग, शंख चार भाग, शिलाजीत आठ भाग, मरिच सोलह भाग तथा सेन्धानमक बत्तीस भाग लेकर अंजन तैयार करे। यह अंजन नेत्रशुक्र को नाश करता है॥ १९५॥

व्रणशुक्रे कतकफलाद्यञ्जनम्—

कतकफलरजततिन्दुकफलास्थि सहशङ्खनाभि मधुकेन।
ताम्रकपालनिघृष्टं व्रणशुक्रनिवारणं सद्यः ॥ १९६॥

व्रणशुक्र में कतकफलाद्यञ्जन—¹कतकफल (रीठा करंज का फल), रजत (चांदी), तिन्दुक (तेंदू) फल की गुठली, शंखनाभि तथा मुलेठी इन द्रव्यों को ताम्र के पात्र में घिस कर अञ्जन करने से व्रणशुक्र नेत्ररोग शीघ्र ही दूर हो जाता है॥ १९६॥

व्रणशुक्रे रक्तहरणम्—

शिरया वा हरेद्रक्तं जलौकोभिश्च लोचनात्।

व्रणशुक्र में रक्तनिर्हरण का विधान—व्रणशुक्र में नेत्र से शिरावेध द्वारा या जोंक लगाकर रक्त को निकाल दें।

क्षतशुक्रादौ पुण्डरीकयोगः—

एकं वा पुण्डरीकं च छागक्षीरावसेचितम् ॥ १९७॥
रोगांश्च वेदनां हन्यात्क्षतपाकात्ययाजकान्।

क्षतशुक्रादि में पुण्डरीक योग—एक ही श्वेतकमल का पुष्प बकरी के दूध में पीसकर अवसेचन करने से नेत्रक्षत, नेत्र-पाकात्यय तथा अजकाजात आदि नेत्ररोगों को तथा नेत्र की पीड़ा को नाश करता है।

क्षतशुक्रेऽवसादनो गणः—

कासीसं सैन्धवं किण्व कुरुविन्दो मनःशिला ॥ १९८॥

---

१. चक्षुष्यं वातकृच्छीतं रक्तपित्तं तृषां वमिम्।
कतकस्य च बीजं तु चक्षुष्यं तुवरं गुरुम्।

कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ।
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ॥ १९९ ॥
व्रणेपून्नतमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ।

क्षतशुक्र में अवसादन योग—कासीस, सेन्धानमक, किण्व ([1]मद्यबीज), कुरुविन्द (नागरमोथा), मैनसिल, मुर्गी के अण्डे का छिलका, चमेली के पुष्प की कली, शिरीष का फल, करञ्ज का फल तथा धातुओं की भस्में ये सब द्रव्य नेत्रव्रण तथा नेत्र में उत्पन्न उन्नत मांसग्रन्थि के अवसादन के लिये प्रशस्त हैं। अर्थात् ये द्रव्य अवसादन गण के हैं।

शुक्रे भद्रमुस्तायोगः—

छागमूत्रेण सघृष्टभद्रमुस्ताञ्जनेन हि ।
चिरकालोद्भवं पुष्पं रक्तत्वं चापि नश्यति ॥ २०० ॥

व्रणशुक्र रोग मे भद्रमुस्ता योग—नागरमोथा को बकरी के दूध में घिस कर अञ्जन करने से पुराना नेत्रपुष्प (व्रणशुक्र) तथा नेत्र की रक्तिमा नष्ट हो जाती है ॥ २०० ॥

शुक्रे धात्रीफलादिसेचनकषायः—

धात्रीफलं निम्बकपित्थपत्र यष्ट्याह्वरोध्र कदर तिलाश्च ।
क्वाथः सुशीतो नयनेऽभिषिक्तः सर्वप्रकारं विनिहन्ति शुक्रम् ॥२०१॥

व्रणशुक्र में धात्रीफलादि सेचनकषाय—धात्रीफल (आवला), नीम तथा कैथ का पत्ता, यष्टि (मुलेठी), लोध, कदर (वनवेर) तथा तिल (समभाग) इन द्रव्यों का क्वाथ शीतल कर नेत्र में अभिषेक (सेचन) करने से सभी प्रकार के नेत्रशुक्र रोगों को नाश करता है ॥ २०१ ॥

नेत्रपाके जातीपुष्पाद्यञ्जनम्—

जात्याः पुष्पं सैन्धवं शृङ्गवेरं कृष्णबीजं कीटशत्रोश्च सारम् ।
एतत्पिष्ट्वा नेत्रपाकेऽञ्जनार्थं क्षौद्रोपेतं निर्विशङ्कैः प्रयोज्यम् ॥ २०२ ॥

नेत्रपाक में जातीपुष्पाद्यञ्जन—चमेली का फूल, सेन्धानमक, अदरक, पिप्पली का बीज, कीटशत्रु (वायविडङ्ग) का सार—इन सभी द्रव्यों को पीसकर तथा उसमें मधु मिलाकर नेत्रपाक रोग में अञ्जन के लिये निःशंक प्रयोग करना चाहिए ॥ २०२ ॥

शुक्रे तुत्थयोगः—

तुत्थकं वारिणा घृष्टं शुक्रं हन्त्यक्षिपूरणात् ।

नेत्रशुक्र रोग में तुत्थ (तूतिया) का योग—तूतिया जल में घिस कर आंख में भरने (आंख में छोड़ने) से नेत्र के शुक्ररोग को नाश करती है ।

---

1. चावल आदि को उबाल कर तैयार किया हुआ मदिरा का बीज ।

शुक्रघ्नी वर्तिः—

समुद्रफेनदक्षाण्डत्वक्सिन्धूत्थैः सशङ्खकैः ॥ २०३ ॥
शिग्रुबीजयुतैर्वर्तिः शुक्रघ्नो शिग्रुवारिणा ।

शुक्रघ्नी वर्ति—समुद्रफेन, दक्षाण्डत्वक् (मुर्गी[1] के अण्डे का छिलका), सैन्धानमक, शंख तथा सहिजन का बीज (समभाग)—इन द्रव्यों को सहिजन के पत्ते के रस के साथ पीस कर वर्ति बनावे। यह वर्ति नेत्र के शुक्ररोग को नाश करती है।

शुक्रादौ विलेखनाञ्जनम्—

दक्षाण्डत्वक्शिलाशंखकाचचन्दनगैरिकैः ॥ २०४ ॥
तुल्यैरञ्जनयोगोऽयं पुष्पार्मादिविलेखनः ।

नेत्रशुक्र रोग में विलेखनार्थ अञ्जन—मुर्गी के अण्डे का छिलका, मैनसिल, शङ्ख, काच, चन्दन तथा स्वर्णगैरिक समभाग—इन द्रव्यों का अञ्जन योग नेत्रपुष्प (शुक्ररोग) तथा वर्त्मार्म आदि रोगों को लेखन करता है।

शुक्रे शिरीषादिप्रघर्षणम्—

शिरीषबीजमरिचपिप्पलीसैन्धवैरपि ॥ २०५ ॥
शुक्रप्रघर्षणं कार्यमथवा सैन्धवेन च ।

शुक्ररोग में शिरीषादि प्रघर्षण—शिरीष का बीज, मरिच, पीपर तथा सैन्धानमक—इन द्रव्यों से शुक्ररोग को घर्षण करे या केवल सैन्धानमक से ही घर्षण करे।

शुक्रे करञ्जादिवर्तिः—

गृहीत्वा नक्तमालस्य पलचूर्णं सुसाधितम् ॥ २०६ ॥
रसेन हि पलाशस्य कुसुमोत्थेन बुद्धिमान् ।
वर्तिर्नेत्राञ्जने योज्या आसन्नकुसुमापहा ॥ २०७ ॥

शुक्ररोग में करञ्जादि वर्ति—नक्तमाल (करञ्ज) के बीज का महीन चूर्ण एक पल (एक छटांक) लेकर पलास (परास) के पुष्प के रस में मर्दन कर वर्ति बनावे और नेत्र में अञ्जन करे। यह वर्ति शीघ्र उत्पन्न होने वाले नेत्रशुक्र को नाश करनेवाली है ॥ २०६-२०७ ॥

क्षतशुक्रे दन्तवर्तिः—

दन्तैर्दन्तिवराहोष्ट्रगवाश्वाजखरोद्भवैः ।
सशङ्खमौक्तिकाम्भोधिफेनैर्मरिचपादकैः ॥ २०८ ॥
क्षतशुक्रमपि व्यापि दन्तवर्तिर्निवर्तयेत् ।

---

1. धातुवृद्धिकरं नेत्र्यं लेपात्तु कान्तिकारकम् ।

व्रतशुक्र में दन्तवर्ति—दन्ति (हाथी), सूकर, ऊँट, गौ, अश्व, बकरी तथा गदहा इन सबों का दांत, शंख, मुक्ता (मोती) अम्भोधिफेन (समुद्रफेन) और मरिच एक-एक भाग—इन द्रव्यों को लेकर महीन पीस कर वर्ति बनावे। यह दन्तवर्ति सम्पूर्ण नेत्र में फैले हुए रोग तथा व्रतशुक्र रोग को भी दूर करती है।

शुक्रे सेचनयोगः—

क्षुण्णपुन्नागपत्रेण परिभावितवारिणा ॥ २०९ ॥
श्यामाक्वाथाम्बुना वाऽथ सेचनं शुक्रनाशनम् ।

नेत्रशुक्र रोग में सेचन योग—पुन्नाग (नागकेसर वृक्ष) के पत्तों को कूटकर और जल में मिलाकर छान ले तथा उस जल से नेत्र को सेचन करे। अथवा श्याम (कालानिशोथ) के क्वाथ से नेत्र को सींचे। यह सेचन नेत्रशुक्र को नाश करता है।

शुक्रे शङ्खादिचूर्णाञ्जनम्—

शंखस्य भागाश्चत्वारस्ततोऽर्धेन मनःशिला ॥ २१० ॥
मनःशिलार्धं मरिचं मरिचार्धेन सैन्धवम् ।
एवं चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं शुक्रलेखनमुत्तमम् ॥ २११ ॥

शुक्ररोग में शखादि चूर्णाञ्जन—शंख चार भाग, मैनसिल दो भाग, मरिच एक भाग तथा सेन्धानमक आधा भाग—इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर सूक्ष्म चूर्ण बनाले। यह श्रेष्ठ चूर्णांजन नेत्रशुक्र को अच्छी तरह लेखन करनेवाला है ॥ २१०–२११ ॥

शुक्रे स्वर्णमाक्षिकाद्याश्चत्वारोऽञ्जनयोगाः—

ताप्यं मधूकसारो वा बीजं चाक्षस्य सैन्धवम् ।
मधुनाऽञ्जनयोगाः स्युश्चत्वारः शुक्रशान्तये ॥ २१२ ॥

नेत्रशुक्र रोग में स्वर्णमाक्षिकादि-चार अंजन योग—ताप्य (स्वर्णमाक्षिक), मधूकसार (महुआ का सार), बहेड़ा का बीज तथा सेन्धानमक इन सबों को अलग २ महीन पीसकर मधु के साथ मिलाकर अंजन करे। यह चारों अंजन योग नेत्रशुक्र रोग को शान्त करते हैं ॥ २१२ ॥

शुक्रे कृष्णीकरणमञ्जनम्—

तालस्य नालिकेरस्य तथैवारुष्करस्य च ।
करवीरस्य वंशानां कृत्वा क्षारं परिस्रुतम् ॥ २१३ ॥
करभास्थिकृतं चूर्णं क्षारेण परिभावितम् ।
सप्तकृत्वोऽष्टकृत्वो वा श्लक्ष्णचूर्णं तु कारयेत् ॥ २१४ ॥
एतच्छुक्रेषु साध्येषु कृष्णीकरणमुत्तमम् ।

यानि शुक्राण्यसाध्यानि तेषां परममञ्जनम् ॥ २१५ ॥

शुक्ररोग में शुक्र को काला करनेवाला अंजन—ताल, (ताड़), नारियल, अरुष्क (भिलावां), कनेर तथा बांस की छाल बराबर-बराबर इन द्रव्यों को लेकर जला कर क्षार बनावे और उसको क्षारविधि के द्वारा छान ले। इसके बाद हाथी के हड्डी का चूर्ण बनाकर पूर्वोक्त क्षारजल से सात या आठ बार भावित कर महीन चूर्ण बना ले और इससे नेत्रशुक्र में अजन करे। यह अंजन साध्यशुक्र को काला करने के लिये उत्तम योग है, और असाध्य शुक्ररोगों को भी दूर करने के लिये उत्तम अंजन कहा गया है ॥२१३–२१५॥

अजकाजाते सैन्धवादियोगः—

सैन्धवं वाजिपादं वा गोरोचनसमन्वितम् ।
शेलुत्वग्रससंयुक्तं पूरणं चाजकापहम् ॥ २१६ ॥

अजकाजात नेत्ररोग में सैन्धवादि योग—सेन्धानमक, वाजिपाद (घोड़े के पैर का नाखून) अथवा गोरोचन समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को लसोढ़ा की छाल के रस में मिला कर नेत्र में भरने से अजकाजात नामक नेत्ररोग नष्ट हो जाता है ॥ २१६ ॥

शुक्रादौ शशकाद्यं घृतम्—

शशकस्य कषायेण सर्पिषः कुडवं पचेत् ।
यष्टिप्रपौण्डरीकस्य कल्केन पयसा समम् ॥ २१७ ॥
छगल्याः, पूरणाच्छुक्रक्षतपाकाजकात्ययान् ।
हन्ति भ्रूशंखशूलं च दाह रागं विशेषतः ॥ २१८ ॥

शुक्र आदि रोग में शशकाद्य घृत—शशक (खरगोश 'खरहा') के मांस का क्वाथ एक सेर, घृत एक कुडव (एक पाव), यष्टि (मुलेठी) तथा प्रपौण्डरीक इन दोनों द्रव्यों का कल्क एक छटांक तथा बकरी का दूध एक पाव, इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर घृतपाक विधि के अनुसार घृत पकावे। यह घृत नेत्र में भरने से नेत्रशुक्र रोग, नेत्रक्षत, अक्षिपाक, अजकाजात तथा अक्षिपाकात्यय एवं विशेषकर भौं तथा शंखप्रदेश का शूल, नेत्रदाह और नेत्र की लालिमा को नाश करता है ॥ २१७–२१८ ॥

तिमिरादौ कृष्णाद्यं तैलम्—

कृष्णाविडङ्गमधुयष्टिकसिन्धुजन्म-
विश्वौषधैः पयसि सिद्धमिद छगल्याः ।
तैलं नृणा तिमिरशुक्रशिरोक्षिशूल-
पाकात्ययाञ्जयति नस्यविधौ प्रयुक्तम् ॥ २१९ ॥

तिमिर-आदि रोग में कृष्णाद्य तैल—कृष्णा (पीपर), विडंग, मुलेठी,

सेन्धानमक तथा सोंठ समभाग इन द्रव्यों का कल्क (एक पाव), तिल तैल (एक सेर) तथा बकरी का दूध (चार सेर) इन द्रव्यों को एकत्र कर तैल सिद्ध करे। यह तैल नस्यकर्म के लिये प्रयोग करने से तिमिर रोग, नेत्रशुक्र, शिरःशूल, नेत्रशूल तथा नेत्रपाकात्यय आदि रोगों को जीत लेता है ॥ २१९ ॥

शुक्रादौ शोणितस्रावः—

न विना शोणितं शुक्रक्षतपाकात्ययाजकाः।
भवन्ति रुधिरं तेषु जलौकोभिरतो हरेत् ॥ २२० ॥

शुक्र आदि रोग में रक्तस्राव-विधि—नेत्रशुक्र, नेत्रक्षत, नेत्रपाक, अक्षिपाकात्यय तथा अजकाजात आदि रोग बिना रक्त के दूषित हुए नहीं उत्पन्न होते हैं। अतः इन रोगों में जलौका (जोंक) लगाकर रक्तस्राव कराये ॥२२०॥

तिमिरस्य साध्यासाध्यादिविचारः—

मूलं दृष्टिविनाशाय तिमिरं समुदाहृतम्।
ऋषिभिस्त्वरितं तस्मात्तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ॥ २२१ ॥

तिमिररोग का साध्य तथा असाध्यत्व विचार—तिमिररोग दृष्टिशक्ति को नाश करनेवाला बताया गया है। अतः उसकी चिकित्सा चिकित्सकों के द्वारा शीघ्र की जानी चाहिए ॥ २२१ ॥

एकदेशे तु यो दोषो दृष्ट्यां तिष्ठति पिण्डितः।
यत्संस्थानः स भवति तादृशं तेन पश्यति ॥ २२२ ॥
तृतीये पटले काचं चतुर्थे नीलिकाह्वयम्।
साध्यमप्राप्तरागं स्यात्तिमिरं हि क्रियावतः।
याप्यं संप्राप्तरागं स्याद्वर्ज्यं पाटलतां गतम् ॥ २२३ ॥

जो दोष दृष्टिमण्डल के एकदेश में पिण्डाकार होकर रुकता है और वह जिस स्थान में होता है वह उस नेत्र से उसी प्रकार का देखता है। वह तृतीय पटल में काच तथा चतुर्थ पटल में नीलिका रोग कहलाता है। चिकित्सा करनेवाले रोगी का तिमिररोग रक्तवर्ण का न हो गया हो तो वह साध्य होता है, रक्तवर्ण का हो गया हो तो याप्य होता है तथा पाटल (सफेदी लिये हुए लाल) वर्ण का होने पर असाध्य हो जाता है ॥ २२२–२२३ ॥

तिमिरे पथ्यम्—

त्रिफला घृतं मधु यवाः पादाभ्यङ्गः शतावरी मुद्गाः।
चक्षुष्यः संक्षेपाद्वर्गः कथितो भिषग्भिरयम् ॥ २२४ ॥

तिमिररोग में पथ्य—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), घृत, मधु, यव, पैर में तैल की मालिश, शतावरी तथा मूंग की दाल इन द्रव्यों को संक्षेप में

वैद्यगण चक्षुष्य (नेत्र के लिये हितकर) कहते हैं । अर्थात् ये सब तिमिर रोग में पथ्य हैं ॥ २२४ ॥

जीवन्तिशाकं सुनिषण्णकं च सतण्डुलीयं वरवास्तुकं च ।
चिल्ली तथा मूलकपोतिका च दृष्टिप्रदं शाकुनजाङ्गलं च ॥ २२५ ॥

जीवन्तीशाक (डोडी शाक), सुनिषण्णक (सिरिआरी/चौपतिया), शाक, तण्डुलीयक (चौराई) शाक, उत्तम बथुआ का शाक, चिल्ला (लालचिल्ली), मूली का शाक, पोतिका (पोई का शाक), पक्षी का मांस तथा जाङ्गल पशुओं का मांस ये सब नेत्र के लिये हितकर है ॥ २२५ ॥

पटोलकर्कोटककारवेल्लवृन्ताकतर्कारिकरीरजानि ।
शाकानि शिग्रुनलकानि चैव हितानि दृष्टेर्घृतसाधितानि ॥२२६॥

परवल, कर्कोटक (ककोड़ा), कारवेल्ल (करैली), वृन्ताक (बैंगन), तर्कारी (गनियारी) तथा करीर (करील) इन द्रव्यों का शाक, शिग्रु (सहिजन) एवं नलक (कलाय 'मटर') का शाक, ये सब शाक घृत में पकाकर सेवन करने से नेत्र के लिये हितकर हैं ॥ २२६ ॥

तिमिरे त्रिफलायोगाः—

तिमिरं रागतां याति रागः काचत्वमेव च ।
काचात्सञ्जायते नीली तदाऽन्धो जायते नरः ॥ २२७ ॥

तिमिर रोग में त्रिफला योग—तिमिर रोग में पहले लालिमा होती है, लालिमा काच के रूप में परिवर्तित हो जाती है, काच से नीली रोग तथा नीली रोग होने पर रोगी अन्धा हो जाता है ॥ २२७ ॥

लिह्यात्सदा च त्रिफलां सुचूर्णितां
घृतप्रगाढां तिमिरे च पित्तजे ।
समीरजे तैलयुतां कफात्मके
मधुप्रगाढां विदधीत युक्तितः ॥ २२८ ॥

पित्तज तिमिर रोग मे त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के सूक्ष्म चूर्ण को घृत मिलाकर चाटे । वातजन्य तिमिर रोग में त्रिफला चूर्ण को तैल मिलाकर तथा कफजन्य तिमिर रोग में मधु मिलाकर युक्तिपूर्वक चाटे ॥ २२८ ॥

कल्कः क्राथोऽथवा चूर्णं त्रिफलाया निषेवितम् ।
मधुना हविषा वाऽपि समस्ततिमिरान्तकृत् ॥ २२९ ॥

त्रिफला का कल्क, क्राथ या चूर्ण मधु या घृत के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के तिमिर रोग को नाश करता है ॥ २२९ ॥

त्रैफलेनाथ हविषा लिह्यात्त्रिफलां निशि ।
यष्टीमधुकसंयुक्तां मधुना च परिप्लुताम् ॥ २३० ॥

मासमेकं हिताहारः पिबन्नामलकोदकम् ।
सौपर्णं लभते चक्षुरित्याह भगवान्निमिः ॥ २३१ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) चूर्ण को मुलेठी का चूर्ण तथा मधु मिलाकर त्रिफला[1] घृत के साथ रात में चाटनेवाला और हितकर भोजन करनेवाला मनुष्य एक मास तक आंवला का जल (रस) पान करता हुआ गरुड़ के समान दृष्टि प्राप्त करता है। यह भगवान् निमि का कथन है ॥२३०–२३१॥

त्रिफलाक्वाथकल्केन सपयस्कं घृतं शृतम् ।
तिमिराण्यचिराद्धन्याद्घृत पीतं निशामुखे ॥ २३२ ॥

त्रिफला का क्वाथ (घृत के चौगुना), कल्क (घृत के चौथाई) तथा गाय का दूध (घृत के बराबर) मिलाकर [2]घृतनिर्माणविधि के अनुसार घृत सिद्ध करे। यह घृत सायकाल रात में पान करने से शीघ्र ही तिमिर रोगों को नाश करता है ॥ २३२ ॥

शतावरीपायस एव केवलस्तथा कृतो वाऽऽमलकेषु पायसः ।
प्रभूतसर्पिस्त्रिफलोदकोत्तरो यवौदनं वा तिमिर व्यपोहति ॥ २३३ ॥

केवल [3]शतावरी की खीर या आवला[4] की खीर अथवा यव का भात पर्याप्त घृत तथा त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन करने से तिमिर रोग को दूर करता है ॥ २३३ ॥

त्रिफलाऽयोरजोयष्टिसर्पिःक्षौद्रसमन्विता ।
दिनान्ते शीलिता वृष्या सर्वनेत्रगदाञ्जयेत् ॥ २३४ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला) का चूर्ण, लौहभस्म तथा मुलेठी का चूर्ण समभाग ये द्रव्य मधु तथा घृत (विषम मात्रा में) के साथ सेवन करने से बल को बढ़ानेवाले हैं और सभी प्रकार के नेत्ररोगों को जीत लेते हैं ॥ २३४ ॥

घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीं पटोलमुद्गामलकं यवानपि ।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते ॥ २३५ ॥

पुराना घृत, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला), शतावरी, परवल, मूग, आँवला तथा यव के बने पदार्थों को जो व्यक्ति नियमपूर्वक सेवन करता है उसको भयंकर भी तिमिर रोगों से भय नहीं होता है। अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थों को नियमपूर्वक सेवन करने से भयंकर तिमिर रोग भी नष्ट हो जाते है ॥२३५॥

---

१. त्रिफला घृत ग० नि० प्र० पृ० ३५ में देखें।

२. घृतनिर्माणविधि ग० नि० प्र० ख० पृ० ४ में देखें।

३. शतावरी के चूर्ण को चौगुना दूध में मिलाकर खीर बनावे।

४. आँवला को दूध में पकाकर खीर बनावे।

यस्त्रैफलं चूर्णमपथ्यवर्जी
सायं समश्नाति हविर्मधुभ्याम् ।
स मुच्यते नेत्रगतैर्विकारै-
र्भृत्यैर्यथा क्षीणधनो नरेन्द्रः ॥ २३६ ॥

जो व्यक्ति अहितकर पदार्थों को त्याग देता है और त्रिफला के चूर्ण को सायंकाल घृत तथा मधु के साथ (विषम मात्रा में) भक्षण करता है वह सभी प्रकार के नेत्ररोगों से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार नौकर राजा के धनहीन हो जाने पर छोड़ देते हैं ॥ २३६ ॥

जाता रोगा विनश्यन्ति न भवन्ति कदाचन ।
त्रिफलायाः कषायेण प्रातर्नयनधारणात् ॥ २३७ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला) के शीतल कषाय से प्रातःकाल नेत्र में धारण करने से या प्रक्षालन करने से नेत्र के रोग नष्ट हो जाते हैं और पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ २३७ ॥

जलगण्डूषैः प्रातर्बहुशोऽम्भोभिः प्रपूर्य मुखम् ।
निर्दयमुक्षन्नक्षि क्षपयति तिमिराणि ना सद्यः ॥ २३८ ॥

मनुष्य प्रातःकाल जल के कुल्ला को जल्दी-जल्दी मुख में अनेक बार भर कर आंखों को निर्दयतापूर्वक बन्द करता है तथा खोलता है वह शीघ्र ही तिमिर रोगों को दूर कर देता है ॥ २३८ ॥

भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्य चक्षुषोर्यदि दीयते ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥ २३९ ॥

यदि भोजन करने के बाद हाथ धोकर अपने हाथ के तलवों को घिसकर नेत्रों में लगाता है तो वह जल शीघ्र ही तिमिर रोगों को दूर कर देता है ॥ २३९ ॥

तिमिरादौ सुखावती वर्तिः—

कतकस्य फलं शंखं सैन्धवं त्र्यूषणं सिता ।
फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ॥ २४० ॥
सर्वमेतत्समं कृत्वा छागीक्षीरेण पेषयेत् ।
तिमिरं पटलं काचं मलं चार्मं व्यपोहति ॥ २४१ ॥
कण्डूक्लेदार्बुदं हन्ति शुक्रं चाशु सुखावती ।

तिमिर आदि रोग में सुखावती वर्त्ति—कतक (रीठा करंज) का फल, शंख, सेन्धानमक, त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), शक्कर, समुद्रफेन, रसांजन (रसौत), मधु, वायविडंग तथा मैनसिल—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर बकरी के दूध के साथ पीस ले और वर्ति बना ले यह सुखावती वर्ति

जल में घिसकर नेत्र में लगाने से तिमिर रोग, पटलगत रोग, काचरोग, नेत्र का मल, (वर्त्मकर्दम रोग) तथा वर्त्मगत अर्मरोग (वर्त्मार्म) को दूर करती है और नेत्र की खुजली, क्लेद, अर्बुदरोग तथा शुक्ररोग को शीघ्र ही नाश करती है।

तिमिरादौ बृहच्चन्द्रोदया वर्तिः—

हरीतकी वचा कुष्ठं पिप्पली मरिचानि च।
बिभीतकस्य मज्जा च शंखनाभिर्मनःशिला ॥ २४२ ॥
सर्वमेतत्समं कृत्वा छागीक्षीरेण पेषयेत्।
नाशयेत्तिमिरं शुक्रं पटलान्यर्बुदानि च ॥ २४३ ॥
अधिकानि च मांसानि यश्च रात्रौ न दृश्यते।
अपि द्विवार्षिकं पुष्पं मासेनैकेन नाशयेत् ॥ २४४ ॥
वर्तिश्चन्द्रोदया नाम नृणां दृष्टिविशोधिनी।

तिमिर आदि रोगों में बृहच्चन्द्रोदयावर्ति—हर्रे, वच, कूठ, पीपर, मरिच, बहेड़ा का मज्जा (बहेड़ा के गुठली के अन्दर का भाग), शंख की नाभि, तथा मैनसिल—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर वर्ति बनाये। यह वर्ति तिमिर रोग, शुक्ररोग नेत्रपटलगत रोग तथा नेत्रार्बुद को नाश करती है। अधिमांस, नक्तान्ध्य तथा दो वर्ष का पुराना पुष्परोग (फुल्ली) को भी एक मास तक आंख में लगाने से नाश करती है। यह चन्द्रोदया नाम की वर्ति मनुष्यों की दृष्टि को साफ (स्वच्छ) करनेवाली है।

तिमिरादौ लघुचन्द्रोदया वर्तिः—

रसांजनं सशैलेयं कुङ्कुमं समनःशिलम्।
शंखं सश्वेतमरिचं शर्करा चात्र सप्तमी ॥ २४५ ॥
एषा चन्द्रोदया नाम वर्तिर्वैदेहनिर्मिता।
हन्यात्पिल्लं च कण्डूं च तिमिरं चापि सेविता ॥ २४६ ॥

तिमिर-आदि रोग में लघुचन्द्रोदया वर्ति—रसांजन, शैलेय (शिलाजीत या छड़ीला), नागकेशर, मैनसिल, शंख, सफेद मरिच तथा शक्कर—इन द्रव्यों को समभाग एकत्रकर जल में पीसकर वर्ति बनाले। यह विदेह की बनाई हुई चन्द्रोदया नाम की वर्ति नेत्र में लगाने से पिल्लरोग, नेत्रकण्डू तथा तिमिर रोग को नष्ट करती है ॥ २४५–२४६ ॥

तिमिरादौ लघुभानुमती वर्तिः—

बीजं करञ्जवृक्षस्य निस्तुषं द्विदलीकृतम्।
चूर्णितं भावयेत्सम्यक्पुष्याञ्जनदशांशकम् ॥ २४७ ॥

जातीरसे त्रिसप्ताहं पिष्ट्वा तेनैव कल्पिता।
वर्तिर्भानुमती नाम छायायां परिशोषिता ॥ २४८ ॥
तोयघृष्टाऽञ्जनाद्धन्ति तिमिरं भास्करो यथा।
सुखस्वप्नावबोधं च कुरुते शीलिता ध्रुवम् ॥ २४६ ॥

तिमिर आदि रोग में लघुभानुमती वर्ति—करंज वृक्ष के वीज का छिलका निकाल कर उसको दो दाल वनाकर चूर्ण वना ले और उसमें दस भाग रसांजन मिलाकर चमेली के पत्ते के रस में पीस ले और उसी रस से एक्कीस दिन तक भावना देकर वर्ति वनावे तथा छाया में सुखा ले। इसको भानुमती वर्ति कहते हैं। यह भानुमती वर्ति जल में घिसकर अंजन करने से तिमिर रोग को नाश करती है जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है। यह वर्ति निरन्तर आंखों में लगाने से निश्चय ही सुखकर नींद का अनुभव कराती है ॥२४७–२४९ ॥

बृहद्भानुमती वर्तिः—

शुक्लोपला जलनिधिप्रभवश्च फेनः
शैलेयचन्दनयुता खलु शंखनाभिः।
भागानिमान् समरिचान् समनःशिलांशान्
कुर्याद्रसाञ्जनचतुर्गुणसंप्रयुक्तान् ॥ २५० ॥
नक्तान्ध्यपिल्लतिमिरक्षतकाचकण्डू-
शुक्लाक्षिपाककफदोषकृतांश्च रोगान्।
भानुर्यथैव तिमिराण्यपहन्ति नूनं
मध्वायुता जयति भानुमतीह वर्तिः ॥ २५१ ॥

बृहद् भानुमती वर्ति—श्वेतोपला (सफेद पत्थर "मुक्ता" या चीनी), समुद्रफेन, शिलाजीत या छड़ीला, रक्तचन्दन, शख की नाभि, मरिच तथा मैनसिल एक-एक भाग, रसांजन चार भाग—इन सभी द्रव्यों को एकत्रकर महीन पीस ले और मधु मिलाकर वर्ति बना ले। यह भानुमती वर्ति नक्तान्ध्य (रतौंधी), पिल्लरोग, तिमिररोग, नेत्रक्षत, काचरोग, नेत्र की खुजली, शुक्ररोग, अक्षिपाक तथा कफदोष से उत्पन्न सभी प्रकार के नेत्र रोगों को अवश्य ही नाश करती है जैसे सूर्य अन्धकारों को नाश कर देता है। इन नेत्ररोगों को भानुमती वर्ति जीत लेती है ॥ २५०–१५१ ॥

कुमारीवर्तिः—

स्यादभया तुत्थसमा तुत्थादप्यष्टमो मरिचभागः।
वर्तिरियं हि कुमारी गतमपि चक्षुर्निवर्तयति ॥ २५२ ॥

कुमारी वर्ति—अभया (हर्रे) एक भाग, तूतिया एक भाग, काली मरिच आठवां भाग—इन द्रव्यों को जल में पीसकर वर्ति वनावे। यह कुमारी

नाम की वर्ति नेत्र में लगाने से नष्ट हुई दृष्टि को भी लौटा देती है। अर्थात् नेत्र के अन्धापन को दूर करती है॥ २५२॥

तिमिरे चतुर्दशाङ्गी वर्तिः—

मधुकरसांजनताम्रत्रिकटुविडङ्गपुण्डरीकाणि ।
सलवणतुत्थत्रिफलारोध्राणि नभोऽम्बुपिष्टानि॥ २५३॥
वर्तिश्चतुर्दशाङ्गी नयनामयनाशिनी शिलास्तम्भे।
लिखिता हिताय जगतस्तिमिरापहा विशेषेण॥ २५४॥

तिमिर रोग में चतुर्दशाङ्गी वर्त्ति—मुलेठी, रसांजन, ताम्रभस्म, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), वायविडंग, पुण्डरीक (प्रपौण्डरीक), सेन्धानमक, तूतिया, त्रिफला (हरें, बहेड़ा, आंवला) तथा लोध—इन द्रव्यों को एकत्र कर आकाश के जल के साथ (या परिस्रुत जल के साथ) पीसकर वर्ति बनावे। यह सभी प्रकार के नेत्ररोग को नाश करनेवाली चतुर्दशाङ्गी वर्ति संसार के हित के लिये शिलास्तम्भ (पत्थर के प्लाट) पर लिखी गई है। यह विशेषकर तिमिररोग को नाश करती है॥ २५३–२५४॥

तिमिरे पञ्चशतावर्तिः—

नीलोत्पलपत्रशतं मुद्गशतं यवशतं च निस्तुषकम्।
मालत्याः कुसुमशतं पिप्पल्यास्तन्दुलशतं च॥ २५५॥
पञ्चशतैषा वर्तिर्लिखिता यवनैः शिलास्तम्भे।
अन्धमनन्धं कुरुते यस्य च नोत्पाटिते नयने॥ २५६॥

तिमिररोग में पञ्चशता वर्ति—नीलकमल का एक सौ पत्ता, छिलका उतारा हुआ मूंग एक सौ तथा यव एक सौ, चमेली का फूल एक सौ और पीपर का तण्डुल (पीपर का चावल) एक सौ इन सभी द्रव्यों को जल के साथ पीस कर वर्ति बनावे। इस पञ्चशता वर्ति को यवनों ने (यूनानी हकीमों ने) शिलास्तम्भ पर लिखा है। यह वर्ति जिस रोगी के नेत्र बाहर न निकल गये हों उनके अन्धापन को दूर करती है। अर्थात् इस वर्ति का प्रयोग करने से दृष्टिशक्ति रहने पर अन्धापन दूर हो जाता है॥ २५५–२५६॥

तिमिरे विमलावर्तिः—

एकः पिप्पलिभागो द्विगुणा त्वभया यकृच्च त्रिगुणम्।
अभयातुल्यं तार्क्ष्यं विमला तिमिरापहा वर्तिः॥ २५७॥

तिमिररोग में विमला वर्ति—पीपर एक भाग, हरें दो भाग, यकृत् (लीवर-बकरी का यकृत्) तीन भाग, तार्क्ष्य (तारमाक्षिक = रूपामाखी) दो भाग—इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर जल के साथ पीस कर वर्ति बनावे। यह विमला नाम की वर्ति तिमिर रोगों को नाश करती है॥ २५७॥

तिमिरे अपराजिता वर्तिः—

अभयानां पलं दद्यात्तुत्थकाच्च शुभात्पलम् ।
तार्क्ष्यशैलार्धकर्षश्च तत्समं मरिचं सितम् ॥ २५८ ॥
अभयावर्तिरित्येषा जलपिष्टाऽपराजिता ।
कण्डूतिमिरकाचार्मपिल्लाभिष्यन्दनाशिनी ॥ २५९ ॥

तिमिर रोग में अपराजिता वर्ति—हर्रे एक पल (एक छटांक), शु० तूतिया एक पल (एक छटांक), तार्क्ष्यशैल (रूपामाखी) आधा कर्ष (आधा तोला), तथा सफेद मरिच आधा तो० इन सभी द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे । यह अभया वर्ति 'अपराजिता' वर्ति है अर्थात् कभी भी निष्फल होनेवाली नहीं है । यह अपराजिता वर्ति नेत्र की खुजली, तिमिररोग, काच (मोतियाबिन्द), अर्म (वर्त्मार्म), पिल्लरोग तथा नेत्राभिष्यन्द को नाश करती है ॥ २५८–२५९ ॥

तिमिरे दृष्टिप्रदा वर्तिः—

हरीतकी हरिद्रा च पिप्पल्यो मरिचानि च ।
कण्डूतिमिरजिद्वर्तिर्न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥ २६० ॥

तिमिररोग में दृष्टिप्रदा वर्ति (प्रथम)—हर्रे, हल्दी, पीपर तथा मरिच समभाग—इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे । यह दृष्टिप्रदा वर्ति नेत्रकण्डू तथा तिमिररोग को जीत लेती है । यह कभी भी निष्फल होने वाली नहीं है ॥ २६० ॥

तिमिरे दृष्टिप्रदा वर्तिः—

त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः ।
नीलोत्पलविडङ्गानि फेनं च सरितां पतेः ॥ २६१ ॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने ।
सप्तरात्रस्थितं भूयो पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत् ॥ २६२ ॥
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः ।

तिमिररोग में दृष्टिप्रदा वर्ति (द्वितीय)—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला), मुर्गी के अण्डे का छिलका, कासीस, लौहभस्म, नीलकमल का फूल, वायविडङ्ग, तथा समुद्रफेन—इन सभी द्रव्यों को बकरी के दूध के साथ पीसकर उसी के दूध से तांबा के पात्र में भावित करे और सात दिन तक रक्खे । इसके बाद पुनः बकरी के दूध के साथ पीस कर वर्ति बना ले । यह वर्ति जिस अन्धे रोगी की दृष्टिशक्ति नष्ट नहीं हुई है उसको दृष्टि देनेवाली है ॥ २६१–२६२ ॥

तिमिरे कुसुमिका वर्तिः—

अशीतिस्तिलपुष्पाणि षष्टिः पिप्पलितण्डुलाः ।

जातीपुष्पाणि पञ्चाशन्मरिचानि च षोडश ॥ २६३ ॥
एषा कुसुमिका वर्तिर्गतं चक्षुर्निवर्तयेत् ।

तिमिररोग में कुसुमिका वर्ति—तिल के पुष्प अस्सी, पिप्पली के तण्डुल साठ, चमेली के पुष्प पचास तथा मरिच सोलह—इन सभी द्रव्यों को पीसकर वर्ति बनावे। यह कुसुमिका वर्ति अन्धों को दृष्टि देनेवाली है।

तिमिरादौ श्रीनागार्जुनी चतुर्दशाङ्गी वर्तिः—

त्रिफलाव्योषसिन्धूत्थयष्टीतुत्थरसाञ्जनम् ।
प्रपौण्डरीकं जन्तुघ्नं रोध्रं ताम्रं चतुर्दशम् ॥ २६४ ॥
द्रव्याण्येतानि संचूर्ण्य वर्तिः कार्या नभोऽम्बुना ।
नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके ॥ २६५ ॥
नाशाय तिमिराणां च पटलानां तथैव च ।
सद्यः प्रकोप स्तन्येन स्त्रियो विजयते ध्रुवम् ॥ २६६ ॥
किंशुकस्य रसेनाथ पिल्लपुष्पकरक्तताः ।
अञ्जनाद्रोध्रतोयेन आसन्नतिमिरं जयेत् ॥ २६७ ॥
चिरसञ्छादिके नेत्रे बस्तमूत्रेण संयुता ।
उन्मूलयत्यकृच्छ्रेण प्रसादं चाधिगच्छति ॥ २६८ ॥

तिमिर आदि रोग में श्री नागार्जुनी चतुर्दशाङ्गी वर्ति—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), सेन्धानमक, मुलेठी तूतिया, रसाञ्जन, प्रपौण्डरीक, जंतुघ्न (वायविडङ्ग), लोध्र तथा ताम्र (तांमा)—इन सभी द्रव्यों को चूर्ण बनाकर आकाश के जल के साथ पीसकर वर्ति बना ले। इस वर्ति को नागार्जुन ने पटना के शिलास्तम्भ पर लिखवाया है। यह तिमिररोग तथा पटलगत रोगों को नाश करनेवाली है। यह वर्ति स्त्री के दूध के साथ घिसकर लगाने से नेत्र के शीघ्र होने वाले प्रकोपों को निश्चय ही जीत लेती है। पलाश-पुष्प के रस के साथ लगाने से पिल्लरोग, पुष्पक (फुल्ली) रोग तथा नेत्र की लालिमा और लोध के रस के साथ अञ्जन करने से होने वाले तिमिररोग को जीत लेती है। चिरकालीन आच्छादित नेत्रशुक्र रोग में बकरी के मूत्र के साथ घिस कर अञ्जन करने से सुखपूर्वक शुक्र रोग को नष्ट कर देती है तथा दृष्टि स्वच्छ हो जाती है ॥ २६४-२६८ ॥

नेत्ररोगे चन्द्रप्रभा वर्तिः—

अञ्जनं श्वेतमरिचं पिप्पली मधुयष्टिका ।
विभीतकस्य मध्यं च शङ्खनाभिर्मनःशिला ॥ २६९ ॥
एतानि समभागानि छागीक्षीरेण पेषयेत् ।
छायाशुष्कां कृतां वर्तिं नेत्ररोगेषुयोजयेत् ॥ २७० ॥

अर्बुदं पटलं काच तिमिरं रक्तराजिकाम् ।
अधिमांसं मलं चैव यद्रात्रौ न च दृश्यते ॥ २७१ ॥
वर्तिश्चन्द्रप्रभा नाम राज्यन्धमपि नाशयेत् ।

नेत्ररोग में चन्द्रप्रभा वर्ति—रसाञ्जन, सफेद मरिच, पीपर, मुलेठी, वहेड़ा की मिगी (वहेड़ा के बीज का मध्यभाग), शंखनाभि तथा मैनसिल समभाग—इन द्रव्यों को लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर वर्ति बनावे और छाया में सुखाकर सभी प्रकार के नेत्र रोग में प्रयोग करे। यह चन्द्रप्रभा वर्ति, नेत्रार्बुद पटलगत रोग, काच (मोतियाविन्द), तिमिररोग, नेत्रगत रोग, राजि की लालिमा, अधिमांस, वर्त्मकर्दम, जिस रोग में रात्रि में न दिखाई देता हो ऐसा नेत्ररोग तथा राज्यन्ध (रतौंधी) को भी नाश करती है।

कौलीतिका वर्तिः—

पलानि विंशति दार्व्या मूलतः संप्रकल्पयेत् ।
जले च षोडशगुणे रात्रिमेकां निधापयेत् ॥ २७२ ॥
मृदावग्नौ क्राथयेत चतुर्थांशावशेषितम् ।
निःस्राव्य क्राथयेद्भूयस्त्वजाक्षीरेण संयुतम् ॥ २७३ ॥
पादिकेन भिषग्दद्यादवलेहत्वमागतम् ।
अप्रदग्ध तु तं कल्कं छायायां परिशोषयेत् ॥ २७४ ॥
कौलीतिका वर्तिरियं सर्वनेत्ररुजापहा ।
सर्वाभिष्यन्दशमनी स्वयं प्रोक्ता पिनाकिना ॥ २७५ ॥

कौलीतिका वर्ति—दारुहल्दी की जड़ वीस पल लेकर सोरहगुने जल में भिगोकर रात भर रक्खे और मन्द आंच में पकावे, चौथाई शेष क्राथ को छानकर उसमे क्राथ के चौथाई बकरी का दूध मिलाकर अवलेह के तरह पकावे। गाढ़ा हो जाने पर वर्ति बनाकर छाया मे सुखा ले। यह कौलीतिका नामक वर्ति सभी प्रकार के नेत्ररोगों को नाश करनेवाली है तथा चारों प्रकार के अभिष्यन्द रोगों को शान्त करनेवाली है। इस कौलीतिका नामक वर्ति को शंकरजी ने स्वयं बताया है ॥ २७२–२७५ ॥

तिमिरे सुपर्णी वर्तिः—

पिप्पली सतगरोत्पलपत्रां वर्तयेत्समधुकां सहरिद्राम् ।
एतया सततमञ्जयितव्यं यः सुपर्णसममिच्छति चक्षुः ॥ २७६ ॥

तिमिररोग मे सुपर्णी वर्ति—पीपर, तगर, नीलकमल का पत्ता, मुलेठी, तथा दारुहल्दी समभाग—इन द्रव्यों को जल के साथ पीस वर्ति बना आंखों में अञ्जन करे। जो व्यक्ति अपने नेत्र को गरुड़ के समान दूरदर्शी बनाना चाहता है वह इस वर्ति को घिसकर अञ्जन करे ॥ २७६ ॥

तिमिरे सुदर्शना वर्तिः—

उदधिजलजः फेनः शंखः सचन्दनपद्मक-
प्रवरमरिचं पिप्पल्यो यत्तथाऽऽलमनःशिले।
धरणसमितानष्टौ भागान् सकुङ्कुमनागरान्
मधुसमयुतां वर्ति कृत्वा द्विरंशरसाञ्जनाम् ॥ २७७ ॥
मलतिमिरहा कण्डूघ्न्येषा तथाऽर्बुदनाशिनी
स्रवति च भृशं येषां नेत्रं तदप्युपशाम्यति।
यदपि सरुजं सास्रावं यच्छिरानुगतं भवे-
त्तदपि निरुजं नेत्रं सद्यः सुदर्शनयाऽञ्जितम् ॥ २७८ ॥

तिमिररोग में सुदर्शना वर्ति—समुद्रफेन, शंख, रक्तचन्दन, पद्मकाठ, श्वेत-मरिच, पीपर, हरताल तथा मैनसिल एक २ धरण, (चार ४ माशा), नागकेशर चार भाग (सोलह मासा), सोंठ चार भाग (सोलह मासा), मधु आठ भाग (बत्तीसमासा) तथा रसाञ्जन दो भाग (आठमासा)—इन द्रव्यों में पीसने योग्य द्रव्यों को पीस मधु के साथ वर्ति बनावे। यह वर्ति वर्त्मकर्दम तथा तिमिररोग, नेत्रकण्डू तथा नेत्रार्बुद को नाश करनेवाली है जिन रोगियों के नेत्र में अत्यधिक स्राव होता है उसको भी शान्त करती है।

नेत्र के जो रोग भी पीड़ा एवं स्रावयुक्त शिरागत होता है वह भी इस सुदर्शना वर्ति से अञ्जन करने पर शीघ्र ही पीड़ा एवं स्राव-रहित हो जाता है ॥ २७७–२७८ ॥

तिमिरे जङ्घास्थिवर्तिः—

गोजङ्घां मानुषीं चैव षण्मासान् क्लेदयेज्जले।
जात्यन्धोऽप्यनया वर्त्या त्वचिरेण प्रपश्यति ॥ २७९ ॥

तिमिररोग में जंघास्थिवर्ति—गाय की जंघा की हड्डी तथा मनुष्य की हड्डी को छः मास तक भिगोकर रक्खें और उसको पीसकर वर्ति बनावे। इस वर्ति से अञ्जन करने पर अन्धा भी शीघ्र ही देखने लगता है ॥ २७९ ॥

अक्षबीजाद्या वर्तिः—

अक्षबीजमरिचामलकत्वक्तुत्थयष्टिमधुकैः समभागैः।
वर्तयः सुविहिता जलपिष्टा नाशयन्ति तिमिराण्यचिरेण ॥ २८० ॥

अक्षबीजाद्या वर्ति—बहेड़ा का बीज, मरिच, आँवला की छाल, तूतिया तथा मुलेठी समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनाये। यह वर्ति शीघ्र ही तिमिर रोगों को नाश करती है ॥ २८० ॥

सुदर्शना वर्तिः—

त्रिकटुकविडङ्गसैन्धवमधुकशिलातुत्थरोचनारोध्रैः।

त्रिफलातगररसाञ्जनकुसुमाञ्जनपाटलाकुसुमैः ॥ २८१ ॥
गैरिकसमुद्रफेनप्रपौण्डरीकप्रियङ्गुलाक्षाभिः ।
कतकफलसिन्धुवारकसितमरिचपलाशनिर्यासैः ॥ २८२ ॥
नलदहरिद्राशंखकनीलोत्पलयुगलकेसरोशीरैः ।
कुङ्कुमसुमनःकोरकमञ्जिष्ठाभिश्च तुल्यांशम् ॥ २८३ ॥
पिष्टं कटङ्कटेरीजटाघनकषायफाणितोपेतम् ।
अञ्जनमेलापत्रककर्पूरवराङ्गसंमिश्रम् ॥ २८४ ॥
पिहितमनातपशुष्कं वर्तीकृतमञ्जयेदनेनाक्षि ।
सलिलनिघृष्टेन सदा न भवति नयनामयी पुरुषः ॥ २८५ ॥
पृथक्पृथगनिलशोणितकफपित्तसमुद्भवा रुजः सबलाः ।
नश्यन्ति सुदर्शनया षट्सप्ततिभेदनामानः ॥ २८६ ॥

सुदर्शना वर्ति—त्रिकटुक (सोंठ, पीपर, मरिच), वायविडङ्ग, सेंधानमक, मुलेठी, शिलाजीत, तूतिया, गोरोचन, रोध, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), तगर, रसाञ्जन, कुसुमाञ्जन, पाटलाकुसुम (पाढल का फूल), स्वर्णगैरिक, समुद्रफेन, प्रपौण्डरीक, फूलप्रियगु, लाख, कतक (निर्मली), सिन्दुवार, सफेद मरिच, पलाश की गोंद, नलद (खस), शंख, नीलकमल तथा रक्तकमल का केशर, खस, नागकेशर, सुमनकोरक (चमेली के फूल की कली) तथा मंजीठ समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर कटङ्कटेरी (दारुहल्दी) की जड़ तथा मोथा के कषाय को गाढ़ा बनाकर मिला दे और उसमें रसाञ्जन, इलायची, तेजपत्र, दालचीनी इन द्रव्यों का चूर्ण एवं कपूर मिलाकर वर्ति बनावे। इसके बाद उस वर्ति को छाया में सुखाकर शीशी में रक्खे। इस वर्ति को जल के साथ घिसकर अंजन करने से मनुष्य नेत्ररोग से पीड़ित नहीं होता है। इस सुदर्शनावर्ति को प्रयोग करने से अलग-अलग वातजन्य, रक्तजन्य, कफजन्य तथा पित्तजन्य बलवान छिहत्तर नेत्ररोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २८१–२८६ ॥

सर्वनेत्ररोगे सर्वतोभद्रा वर्तिः—

हरिद्रामलकीकृष्णाकतकश्वेतसर्षपैः ।
व्योषवारियुता वर्तिः सर्वनेत्रामयापहा ॥ २८७ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में सर्वतोभद्रा वर्ति—हल्दी, आंवला, पीपर, कतक (निर्मली) तथा सफेद सरसों इन द्रव्यों के चूर्ण को व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) के क्वाथ के साथ भावितकर वर्ति बनावे। यह वर्ति सभी नेत्ररोगों को नाश करनेवाली है ॥ २८७ ॥

तिमिरे षडङ्गी वर्तिः—

चन्दनत्रिफलापूगपलाशतरुशोणितैः ।

जलपिष्टैः पडङ्गीति वर्तिस्तिमिरनाशिनी ॥ २८८ ॥

नेत्ररोग में पडङ्गी वर्ति—रक्तचन्दन, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), पूग (सुपारी) तथा परास की गोंद (या परास का रस)—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे। यह षडङ्गी वर्ति तिमिर-रोग को नाश करनेवाली है ॥ २८८ ॥

तिमिरे शोभना वर्तिः—

व्योषोत्पलाभयाकुष्ठताक्ष्यैर्वर्तिः कृता हरेत्।
अर्बुदं पटलस्रावतिमिरार्माणि शोभना ॥ २८९ ॥

तिमिररोग में शोभनावर्ति—व्योप (सोंठ, पीपर, मरिच), नील कमल, हर्रे, कूठ तथा रूपामाखी समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे। यह शोभना वर्ति वर्त्मार्बुद, पटलगतरोग (तिमिर, लिंगनाश आदि), नेत्रस्राव, तिमिररोग तथा वर्त्मार्म आदि नेत्ररोगों को दूर करती है ॥ २८९ ॥

नेत्रक्लेदादौ नवाङ्गी वर्तिः—

त्र्यूषणत्रिफलासिन्धुशिलालेन नवाङ्गिका।
क्लेदोपदेहकण्डूघ्नी वर्तिः शस्ता कफापहा ॥ २९० ॥

नेत्रक्लेद-आदि में नवाङ्गी वर्ति—त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), सेन्धानमक, शिलाजीत तथा हरताल इन नव द्रव्यों को जल के साथ पीसकर बनाई हुई वर्ति नेत्रक्लेद, उपदेह (आंख की चिपचिपाहट) तथा नेत्रकण्डू को नाश करनेवाली तथा कफजन्य नेत्ररोगों को दूर करने में श्रेष्ठ है ॥ २९० ॥

शुक्रादौ शस्त्रवर्तिः—

समुद्रफेनदक्षाण्डत्वक्सिन्धूत्थैः सशंखकैः।
शिग्रुबीजयुतैर्वर्तिः शुक्रादीञ्छस्त्रवल्लिखेत् ॥ २९१ ॥

शुक्र-आदि रोग में शस्त्रवर्ति—समुद्रफेन, मुर्गी के अण्डे का छिलका, सेन्धानमक, शंख तथा सहिजन का बीज समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे। यह वर्ति शुक्र (फुल्लिका) आदि रोगों को शस्त्र के समान लेखन करती है ॥ २९१ ॥

चतुर्भद्रिका वर्तिः—

लाक्षागैरिकचन्दनसुमनोमुकुलैः सहाम्भसा पिष्टैः।
शुक्रार्मघ्नी वर्तिः प्रसादनी चैव रक्तस्य ॥ २९२ ॥

चतुर्भद्रिका वर्ति—लाख, स्वर्णगैरिक, रक्तचन्दन तथा सुमनमुकुल (चमेली के फूल की कली) समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर बनाई हुई

वर्ति नेत्रशुक्र तथा नेत्रार्म को नाश करती है और नेत्र की लालिमा दूर करने-वाली है अर्थात् आंखों को स्वच्छ बनाती है ॥ २९२ ॥

शुक्रे करञ्जबीजवर्तिः—

कृता करञ्जबीजैस्तु वर्तिः पुष्पं हरेन्नृणाम् ।
पलाशकुसुमोत्थेन परिपिष्टा रसेन तु ॥ २९३ ॥

शुक्ररोग में करञ्जबीजवर्ति—करञ्ज के बीजों को पलास के फूल के रस के साथ पीसकर बनाई हुई वर्ति मनुष्यों के नेत्र पुष्प (फुल्ली) को दूर करती है ॥ २९३ ॥

तिमिरे प्रभावती गुटिका—

मनःशिला देवकाष्ठं रजन्यौ त्रिफलोषणम् ।
लाक्षालशुनमञ्जिष्ठासैन्धवैलाः समाक्षिकाः ॥ २९४ ॥
रोध्रं शाबरजं चूर्णमायसं ताम्रमेव च ।
कालानुसारिवं चापि कुक्कुटाण्डदलान्यपि ॥ २९५ ॥
तुल्यानि पयसा पिष्ट्वा गुटिकेयं प्रभावती ।
कण्डूतिमिरशुक्रार्मरक्तराजीजिदञ्जनात ॥ २९६ ॥

तिमिररोग में प्रभावती गुटिका—मैनसिल, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), उष्ण (मरिच), लाख, लहसुन, मंजीठ, सेंधानमक, इलायची, स्वर्णमाक्षिक, लोध, शाबर (सफेदलोधी) का चूर्ण, लौहभस्म, ताम्रभस्म, कालानुसारिवा (शिलाजीत या तगर) तथा मुर्गी के अण्डे का छिलका समभाग इन द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर गुटिका बनावे । यह प्रभावती नाम की गुटिका अंजन करने से नेत्र की खुजली, तिमिररोग, नेत्रशुक्र, वर्त्मार्म तथा रक्त राजी की लालिमा को जीत लेती है ॥२९४-२९६॥

तिमिरे कोकिला गुटिका—

व्योषायश्चूर्णसिन्धूत्थत्रिफलाञ्जनसंस्कृता ।
गुटिका जलपिष्टेय कोकिला तिमिरापहा ॥ २९७ ॥

तिमिररोग में कोकिला गुटिका—व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), लौह-भस्म, सेन्धानमक, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा रसाञ्जन—इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर गुटिका बनावे । यह कोकिला नामक गुटिका तिमिर रोग को नाश करती है ॥ २९७ ॥

प्रकाशिका गुटिका—

नदीजसिन्धूत्रिकटून्यथाऽञ्जनं
मनःशिलाले द्विनिशे गवां शकृत् ।
सचन्दनेयं गुटिका प्रकाशिका
प्रशस्यते रात्रिदिनेष्वपश्यताम् ॥ २९८ ॥

प्रकाशिका गुटिका—नदीज (यावनाल 'शरविशेष नदी के किनारे उत्पन्न होनेवाला), सेन्धानमक, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), रसाञ्जन, मैनसिल, हरताल, हल्दी, दारुहल्दी, गाय का गोबर तथा रक्तचन्दन—इन द्रव्यों को जल के साथ पीस कर गुटिका बनावे। यह प्रकाशिका नामक गुटिका रात्रि तथा दिन में नहीं देखनेवालों के लिये है। (दिवान्ध एवं रात्र्यन्ध के लिये प्रशस्त है) ॥ २९८ ॥

तिमिरे द्वितीया नागार्जुनी नाम गुटिका—

हरिद्रा निम्बपत्राणि पिप्पल्यो मरिचानि च।
भद्रमुस्त विडङ्गानि सप्तमं विश्वभेषजम् ॥ २९९ ॥
एतानि समभागानि छागमूत्रेण पेषयेत्।
कोलास्थिका गुटी छायाशुष्का नागार्जुनीति सा ॥ ३०० ॥
वारिणा तिमिरं हन्ति मधुना पटलं तथा।
निशान्ध्य भृङ्गराजेन नारीदुग्धेन पुष्पकम् ॥ ३०१ ॥
गवां मूत्रेण पिटिकां काञ्जिकेन च कामलाम्।
उशीररससंयुक्ता विषं वृश्चिकसंभवम् ॥ ३०२ ॥

तिमिररोग में द्वितीय नागार्जुनी नामक गुटिका—हल्दी, नीम की पत्ती, पीपर, मरिच, नागरमोथा, वायविडङ्ग तथा सोंठ, समभाग—इन सातों द्रव्यों को लेकर बकरी के मूत्र के साथ पीस ले और बैर की गुठली के बराबर गुटिका बनाकर छाया में सुखा ले, इसको नागार्जुनी गुटिका कहते हैं। यह गुटिका जल के साथ घिस कर लगाने से तिमिररोग को, मधु के साथ पटलगत रोगों को, भंगरैया के रस के साथ रात्र्यन्ध (रतौंधी) को, स्त्री के दूध के साथ पुष्पक (फुल्ली) रोग को, गाय के मूत्र के साथ नेत्रपिडिकाओं को, काञ्जी के साथ कामला (पिलिया) रोग को तथा खस के क्वाथ के साथ घिसकर लगाने से बिच्छू के डंक मारने से उत्पन्न विष को नाश करती है ॥ २९९-३०२ ॥

दिनरात्र्यन्धयोर्गुटिकाञ्जनम्—

नीलोत्पलस्य किञ्जल्कं गोशकृद्रससंयुतम्।
गुटिकाञ्जनमेतत्स्याद्दिनरात्र्यन्धयोर्हितम् ॥ ३०३ ॥

दिनान्ध एवं रात्र्यन्ध में गुटिकाञ्जन—नीलकमल का केशर तथा गाय का गोबर—इन द्रव्यों को मिलाकर बनाया हुआ गुटिकाञ्जन दिनान्ध तथा रात्र्यन्ध रोग में हितकर है ॥ ३०३ ॥

पिप्पलीत्रिफलालाक्षालोहचूर्णं ससैन्धवम्।
भृङ्गराजरसे घृष्टं गुटिकाञ्जनमिष्यते ॥ ३०४ ॥
अर्मं सतिमिरं काचं कण्डूं शुक्रं तदञ्जनम्।

अञ्जना नेत्ररोगाणां [illegible] ॥ २०४ ॥

पीपर [illegible] (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), [illegible] ... मसनाग—इन द्रव्यों को [illegible] गुटिका बनावे। इसको गुटिकाञ्जन कहते हैं। यह गुटिकाञ्जन [illegible], [illegible], काचरोग (मोतियाबिन्द), [illegible], शुक्र [illegible] ([illegible]) [illegible] रोगों का नाश करता है ॥ २०४–२०५ ॥

तिमिरे रसक्रियाञ्जनम्—

पिप्पलीक्षीरेण [illegible] [illegible] [illegible]

रसेन मधुना [illegible] रसक्रिया ॥ २०६ ॥

तिमिररोग में रसक्रियाञ्जन—पीपलों को [illegible] दूध [illegible] कर तथा मधुरस के साथ वेणुनद्ध ([illegible]) में रक्खा जाता है इसको रसक्रिया कहते हैं। ([illegible] में नेत्रमलहम के रखने का विधान लिखा है क्योंकि वेणुनद्ध शुद्ध एवं विसंक्रमित माना जाता था) ॥ २०६ ॥

पुष्पाह्वयनागजनितो [illegible]

सिन्धूत्थगैरिकशिलामरिचैः समांशैः।

पिष्टैः सुमाक्षिकरसेन रसक्रियेयं

हन्त्यर्मकाचतिमिरार्जुनवर्त्मरोगान् ॥ २०७ ॥

चमेली का फूल, नागकेसर, ([illegible]), मिश्री, मनुष्य के [illegible], [illegible], सेन्धानमक, स्वर्णगैरिक, मैनसिल तथा मरिच समभाग—इन द्रव्यों को स्वच्छ मधु के साथ महीन पीस कर रसक्रिया (मलहम) तैयार करे। यह रसक्रिया नेत्र में अञ्जन करने से नेत्रार्म, काच (मोतियाबिन्द), तिमिर-रोग नेत्रार्जुन तथा वर्त्मरोगों को नाश करती है ॥ २०७ ॥

तिमिरे द्वितीया रसक्रिया—

धात्रीरसांजनक्षौद्रसर्पिभिस्तु रसक्रिया।

पित्तानिलाक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा ॥ २०८ ॥

तिमिररोग में दूसरी रसक्रिया—आंवला का चूर्ण, रसाञ्जन, मधु तथा घृत मिलाकर रसक्रिया (मलहम) तैयार करे। यह रसक्रिया पित्तवातजन्य नेत्ररोगों को नाश करनेवाली, तिमिर रोग एवं पटलगत रोगों को दूर करती है ॥ २०८ ॥

अन्धत्वे तृतीया रसक्रिया—

कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं नवश्चामलकाद्रसः।

रसक्रियेयमचिरादन्धानां दर्शनप्रदा ॥ २०९ ॥

आन्ध्य (अन्धा) रोग में तीसरी रसक्रिया—काले सांप की वसा, मधु तथा नवीन आंवला का रस समभाग—इन द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई रसक्रिया (मलहम) प्रयोग करने से अन्धों को शीघ्र ही नेत्रशक्ति (देखने की शक्ति) देनेवाली है ॥ ३०९ ॥

काचादौ चतुर्थी रसक्रिया—

गुडः फेनोऽञ्जनं कृष्णा मरिचं कुङ्कुमाद्रसः ।
रसक्रियेयं सक्षौद्रा काचार्मोपहमञ्जनम् ॥ ३१० ॥

काच आदि रोग में चौथी रसक्रिया—गुड, समुद्रफेन, रसाजन, पीपर, कालीमरिच, नागकेशर का रस तथा मधु समभाग—इन द्रव्यों को लेकर पीसने वाली चीजों को पीसकर तथा मिलाकर रसक्रिया (मलहम) तैयार करले। यह रसक्रिया (मलहम) अंजन करने से काच रोग (मोतियाबिन्द) तथा अर्म (वर्त्मार्म) आदि रोगों को नाश करती है ॥ ३१० ॥

काचादौ पञ्चमी रसक्रिया—

शिलासैन्धवकासीसशङ्खव्योषरसांजनैः ।
सक्षौद्रा काचशुक्रार्मतिमिरघ्नी रसक्रिया ॥ ३११ ॥

काच आदि रोग में पाचवी रसक्रिया—मैनसिल, सेन्धानमक, कासीस, शंखभस्म, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) तथा कालीमरिच समभाग—इन द्रव्यों को महीन पीसकर मधु मिलाकर रसक्रिया (मलहम) तैयार करे। यह रसक्रिया काच रोग, शुक्रगतरोग (फुल्लिका आदि) अर्मरोग तथा तिमिर-रोग को नाश करती है ॥ ३११ ॥

तिमिरे सौवीराञ्जनचूर्णम्—

भृङ्गोद्भवस्वरसभावितमाजदुग्धे
मूत्रे गवां पयसि च त्रिफलाकषाये ।
द्राक्षारसे च परिशुद्धमिति क्रमेण
सौवीरकाञ्जनमिदं तिमिरामयघ्नम् ॥ ३१२ ॥

तिमिररोग में सौवीरांजनचूर्ण—सौवीरक (रसांजन) को गरम कर क्रमशः बकरी का दूध, गाय का मूत्र एवं दूध, त्रिफला का कषाय तथा मुनक्का के रस में बुझाकर शुद्ध कर ले और भृङ्गराज के रस से भावित कर अजन तैयार करले। यह सौवीराञ्जन प्रयोग करने से तिमिररोग को नाश करता है ॥ ३१२ ॥

तिमिरे द्वितीयं चूर्णाञ्जनम्—

अञ्जनं तगर पत्रं कर्पूरं नीलमुत्पलम् ।
हरिद्रार्धांशसंयुक्तमञ्जन तिमिरापहम् ॥ ३१३ ॥

तिमिररोग में द्वितीयचूर्णाञ्जन—रसाञ्जन, तगरपत्र (पलास पत्र या तालीस पत्र), कपूर, नीलकमल एक-एक भाग, हल्दी आधाभाग—इन सभी द्रव्यों को पीसकर अञ्जन तैयार करे। यह अञ्जन तिमिररोग को नाश करता है ॥ ३१३ ॥

तिमिरे तृतीयं चूर्णाञ्जनम्—

शतमुत्पलपत्राणां मुद्गाना तावदेव तु।
पिप्पलीतण्डुलशतमेभिः सौवीरकं समम् ॥ ३१४ ॥
एतत्सूक्ष्मीकृतं चूर्णं वृद्धानां तिमिरापहम्।
साय प्रातः प्रयुञ्जीत यथा शीताञ्जनं तथा ॥ ३१५ ॥

तिमिररोग में तृतीय चूर्णाञ्जन—नीलकमल का पत्ता एक सौ, मूंग एक सौ, पिप्पली का तण्डुल एक सौ तथा इन सभी द्रव्यों के बराबर सौवीरक (रसाञ्जन) मिलाकर महीन चूर्ण बनावे। यह चूर्णाञ्जन (सुरमा) वृद्धों के तिमिररोग को नाश करता है। इस शीताञ्जन को नियमानुसार सायं-प्रातः प्रयोग करे ॥ ३१४–३१५ ॥

चतुर्थं चूर्णाञ्जनम्—

कृष्णसर्पवदने सहविष्कं दग्धमञ्जनमनिर्गतधूमम्।
चूर्णितं नलदपत्रविमिश्रं भिन्नतारमपि रक्षति चक्षुः ॥ ३१६ ॥

चतुर्थ चूर्णांजन—काले सांप के शरीर में घृत तथा रसांजन को भरकर अन्तर्धूम जलावे और उसमें नलदपत्र (खस) का महीन चूर्ण मिलाकर पीस ले। यह चूर्णांजन कनीनिका के चत हो जाने पर नेत्र की रचा करता है ॥ ३१६ ॥

पञ्चमं चूर्णाञ्जनम्—

द्राक्षामृणालीस्वरसे क्षीरमद्यवसासु च।
पृथग्दिव्याप्सु स्रोतोज सप्तकृत्वो निषेचयेत् ॥ ३१७ ॥
तच्चूर्णं सुस्थितं शङ्खे दृक्प्रसादनमञ्जनम्।
शस्तं सर्वाक्षिरोगेषु विदेहपतिनिर्मितम् ॥ ३१८ ॥

पांचवाँ चूर्णाञ्जन—स्रोतोञ्जन को गरम कर अलग-अलग, अंगूर का रस, कमल के पत्तों का रस, दूध, मद्य, वसा तथा आकाश जल में सात-सात बार बुझावे और उसको चूर्ण बनाकर शंख में (या चीनी मिट्टी के पात्र में) रखे। यह जनक का बनाया हुआ स्रोतोञ्जन दृष्टि को प्रसन्न करनेवाला तथा सभी प्रकार के नेत्ररोग में प्रशस्त है ॥ ३१७–३१८ ॥

तिमिरे षष्ठं चूर्णाञ्जनम्—

निर्दग्धं बादराङ्गारैस्तुत्थं चेत्थ निषेचितम्।

क्रमादजापयःसर्पिःक्षौद्रे तस्मात्पलद्वयम् ॥ ३१९ ॥
कार्षिकैस्ताप्यमरिचस्रोतोजकटुकानतैः ।
पटुरोध्रशिलापथ्याकणैलांजनफेनकैः ॥ ३२० ॥
युक्तं पलेन यष्ट्याह्वमूषान्तर्ध्मातचूर्णितम् ।
हन्ति काचार्मनक्तान्ध्यरक्तराजीः सुशीलितम् ।
चूर्णं विशेषात्तिमिरं तिमिरं भास्करो यथा ॥ ३२१ ॥

तिमिर छठां चूर्णाञ्जन—तुत्थ (तूतिया) को वेर के लकड़ी के अंगार को जलाकर क्रमशः बकरी का दूध, गाय का घी तथा मधु में बुझावे और उस तूतिया में से दो पल (दो छटांक) ले ले, उसके बाद स्वर्णमाक्षिक, मरिच, स्रोतोञ्जन, कुटकी, तगर, पटु (सेन्धानमक), लोध, मैनसिल, हर्रे, पीपर, बड़ी इलायची, अंजन तथा समुद्रफेन एक-एक कर्ष (एक-एक तोला), मुलेठी एक पल (एक छटांक)—इन सभी द्रव्यों को मूषायन्त्र में रखकर अन्तर्धूम जलाकर चूर्ण बना ले। यह चूर्ण अच्छी तरह नेत्र में लगाने से काच (मोतियाबिन्द), अर्म (वर्त्मार्म), नक्तान्ध्य (रतौंधी) रक्त राजी की लालिमा तथा विशेषकर तिमिर रोग को नाश करता है। जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ३१९–३२१ ॥

सप्तमं चूर्णाञ्जनम्—

गोमूत्रे छगलरसेऽम्लकाञ्जिके च
स्त्रीस्तन्ये हविषि विषे च माक्षिके च ।
यत्तुत्थं ज्वलितमनेकशो निषिक्तं
तत्कुर्याद् गरुडसमं नरस्य चक्षुः ॥ ३२२ ॥

सातवां चूर्णाञ्जन—तूतिया को गरम कर (तपाकर) गाय का मूत्र, छगल (बकरी) का दूध, अम्ल कांजिक, स्त्री का दूध, घृत, विष का रस तथा मधु में अनेक बार बुझावे। इसके बाद उस चूर्ण को लेकर चूर्ण बना ले, यह चूर्णाञ्जन प्रयोग करने से मनुष्य की दृष्टि को गरुड़ के समान दूरदर्शी बना देता है ॥ ३२२ ॥

अष्टम चूर्णाञ्जनम्—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं नयनामृतम् ॥ ३२३ ॥

आठवां चूर्णाञ्जन—रसेन्द्र (पारद) तथा सांप की केंचुल समभाग तथा दोनों के बराबर रसाञ्जन लेकर चूर्ण बना ले और उसमें थोड़ा सा कपूर मिला दे। यह अंजन नेत्र के लिये अमृत के समान है ॥ ३२३ ॥

नवमं चूर्णाञ्जनम्—

मांसीत्रिजातकायःकुङ्कुमनीलोत्पलाभयातुत्थैः ।
सितकाचशङ्खफेनमरिचाञ्जनपिप्पलीमधुकैः ॥ ३२४ ॥
चन्द्रेऽश्विनीसनाथे चूर्णितैरंजयेद्युगलमक्ष्णोः ।
तिमिरार्मरक्तराजीकण्डूकाचादिशममिच्छन् ॥ ३२५ ॥

नवम चूर्णाञ्जन—जटामांसी, त्रिजातक (दालचीनी, छोटीइलायची, तेजपात), अयस् (कान्त लौहभस्म), नागकेशर, नीलकमल का फूल, हर्रं, तूतिया, मिश्री, काच (कांच), शंखभस्म, समुद्रफेन, मरिच (श्वेतमरिच), अंजन (रसांजन), पीपर तथा मुलेठी समभाग इन द्रव्यों को चूर्ण बनावे और ताराओं से युक्त चांदनी रात में दोनों आखों में अंजन करे। यह अंजन तिमिररोग, अर्मरोग, रक्तराजि की लालिमा, नेत्रकण्डू तथा काचरोग (मोतियाबिन्द) को शान्त करता है ॥ ३२४-३२५ ॥

दशम चूर्णाञ्जनम् -

दद्यादुशीरनिर्यूहे चूर्णितं कणसैन्धवम् ।
तच्छृतं सघृतं भूयः पचेत्क्षौद्रं क्षिपेद्घने ।
शीतेचास्मिन् घृतमिदं सर्वजे तिमिरेऽञ्जनम् ३२६ ॥

दशवां चूर्णांजन—खस के क्वाथ में पीपर तथा सेंधानमक का चूर्ण मिला दे और इस क्वाथ को घृत मिलाकर पुनः पकावे। गाढ़ा हो जाने पर ठण्डा कर उसमें मधु मिला दे। इस घृत को सन्निपातज तिमिररोग में अंजन करे। (खस का क्वाथ चार सेर, पीपर तथा सेन्धानमक का चूर्ण एक पाव, घृत एक सेर तथा मधु एक पाव लेकर अंजन तैयार करे)। यह अजन सन्निपात तिमिररोग को नाश करता है ॥ ३२६ ॥

एकादश चूर्णाञ्जनम्—

अस्थीनि मज्जापूर्णानि सत्त्वानां रात्रिचारिणाम् ।
स्रोतोजाञ्जनयुक्तानि वहत्यम्भसि वासयेत् ॥ ३२७ ॥
मासं विंशतिरात्रं वा ततश्चोद्धृत्य शोषयेत् ।
समेपश्रृङ्गीपुष्पाणि सयष्ट्याह्वानि तानि तु ।
चूर्णितान्यञ्जनं श्रेष्ठं तिमिरे सान्निपातिके ॥ ३२८ ॥

ग्यारहवां चूर्णांजन—रात्रि में घूमनेवाले (बाघ, भालू, चीता) आदि जानवरों की मज्जा-सहित हड्डियों को स्रोतोऽञ्जन (सफेद सुरमा) के साथ बहते हुए जल में एक माह या बीस दिन तक रक्खे, इसके बाद उसको निकालकर सुखा ले और मेढासिंघी, पुष्पांजन तथा मुलेठी इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर चूर्णांजन बना ले। सान्निपातिक तिमिररोग में यह चूर्णांजन

श्रेष्ठ है। अर्थात् यह सान्निपातिक तिमिररोग को नाश करता है ॥३२७-३२८॥

द्वादशं चूर्णाञ्जनम्—

दमागदनिचयोपेतामुपकुल्यां भूगतां समुद्धृत्य।
अजितनयनस्त्वनया क्षपयत्यह्नाय तिमिरचयम् ॥ ३२९ ॥

बारहवां चूर्णांजन—दमागदनिचयोपेता पृथ्वी (रेह या विमट की मिट्टी) में रखी हुई उपकुल्या (पीपर) को निकाल कर उसको महीन चूर्ण बनावे। यह चूर्णांजन आंखों में अंजन लगाने से दिन के लिये तिमिररोग के समूहों को नाश करता है ॥ ३२९ ॥

त्रयोदश चूर्णाञ्जनम्—

कण्टालिकामृताक्वाथ वस्त्रपूत पुनः पचेत्।
घनीभूतं समादाय लोहभाण्डे निधापयेत् ॥ ३३० ॥
मात्रामादाय तस्माद्धि माणिमन्थेन योजयेत्।
घृष्ट्वा तेनाञ्जिताक्षस्तु सर्वनेत्रगदाञ्जयेत् ॥ ३३१ ॥
शुक्रकाचाजकाजातवर्त्मार्बुदगदांस्तथा ।
अभिष्यन्दं विशेषेण पटलं चापि नाशयेत् ॥ ३३२ ॥
रहस्य परमं ह्येतदंजनाना वर स्मृतम्।
नातः परतर किंचित्तिमिरान्तकरं परम् ॥ ३३३ ॥

तेरहवा चूर्णांजन—कण्टालिका (कण्टकारी) तथा गुडूची को चौगुने जल में क्वाथकर चौथाई शेष क्वाथ को कपड़े से छानकर पुनः पकावे। गाढ़ा हो जाने पर लोहे के पात्र में रखे। उसमें मे मात्रापूर्वक (तीन रत्ती) लेकर उसमें माणिमन्थ (सेन्धानमक) समभाग मिला दे और उसको घिसकर आंखों में अंजन करे। यह अंजन सभी प्रकार के नेत्ररोगों को जीत लेता है और नेत्रशुक्ल (फुल्ली), काच (मोतियाविन्द), अजकाजात, वर्त्मार्बुदरोग, नेत्राभिष्यन्द तथा विशेषकर पटलगत रोगों को नाश करता है। यह अंजनों में अत्यधिक उत्तम अंजन हैं। इससे बढ़कर तिमिररोग को नाश करनेवाला कोई अंजन नहीं है ॥ ३३०-३३३ ॥

चतुर्दशं चूर्णाञ्जनम्—

चक्षुष्येण युता फलत्रयरसस्विन्नेन मुक्तत्वचा
दार्वीत्वग्द्रुतहाटकद्युतिनिभा कर्पूरपादान्विता।
आत्रेयस्य बृहस्पतेरपि मुनेर्जातो महान्विस्मयो
जात्यन्धेष्वपि योजिताऽञ्जनविधौ दृष्टिं करोत्युज्ज्वलाम् ॥३३४॥

चौदहवां चूर्णांजन—चक्षुष्य (सहिजन) के बीज को त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के क्वाथ में उबाल कर तथा छिलका निकालकर और नवीन

सोने के समान वर्णवाले दारुहल्दी की छाल (समभाग) दोनों द्रव्यों का महीन पीसकर उसके चौथाई कपूर मिलाकर अंजन तैयार कर ले। यह अंजन प्रयोग करने से जन्मजात अन्धों में भी स्वच्छ दृष्टिशक्ति को ला देता है। यह देखकर आत्रेय मुनि तथा बृहस्पति को भी महान् आश्चर्य हुआ था ॥३३४॥

पञ्चदशं चूर्णाञ्जनम्—

कुङ्कुमागुरुकर्पूरकुष्ठैलापत्रकेसरैः ।
रक्तचन्दनतुल्यांशैः सममेषां सुवीरकम् ॥ ३३५ ॥
चूर्णाजनमिदं श्रेष्ठं नराणां तिमिरापहम् ।
सर्वनेत्रामयं हन्याद्वशीकरणमुत्तमम् ॥ ३३६ ॥

पन्द्रहवां चूर्णांजन—कुंकुम (नागकेशर), अगर, कपूर, कूठ, बड़ी इलायची का बीज, तेजपत्र, केशर तथा रक्तचन्दन समभाग—इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण बनावे और इन सभी द्रव्यों के बराबर सुवीरक (श्वेत सुरमा) को पीस कर मिला दे। यह उत्तम चूर्णांजन मनुष्यों के तिमिररोगों को नाश करने में श्रेष्ठ है और सभी प्रकार के नेत्ररोगों को नाश करता है तथा उत्तमवशीकरण है ॥ ३३५-३३६ ॥

कतकाद्यंजनम्—

कतकफलशङ्खनाभीः सौवीरकमंजनं भुजङ्गवसा ।
नित्याञ्जनेन पुरुषः पश्यति जन्मान्तरान्धोऽपि ॥ ३३७ ॥

कतकाद्यंजन—कतकफल (निर्मली) शंखनाभि, सौवीरकांजन (श्वेत सुरमा) तथा भुजङ्गवसा (सांप की चर्बी)—इन सभी द्रव्यों को पीसकर अंजन तैयार कर ले। मनुष्य इस अंजन को प्रतिदिन लगाने से दूसरे जन्म का अन्धा भी देखने लगता है। अर्थात् बहुत दिनों से नेत्रान्ध्य-पीड़ित व्यक्ति देखने योग्य हो जाता है ॥ ३३७ ॥

तिमिरे हरीतक्यंजनम्—

अंजनमधुघृतगर्भा धात्रीकल्केन बाह्यतो लिप्ता ।
अन्तर्धूमविदग्धा हरीतकी सर्वतिमिरघ्नी ॥ ३३८ ॥

तिमिररोग में हरीतक्यंजन—हरीतकी (हर्रे) की गुठली निकाल कर उसके अन्दर रसांजन, मधु तथा घृत भरकर ऊपर से आंवला के कल्क का लेप कर अन्तर्धूम जला दे और उसको निकाल कर अंजन तैयार करे। यह अंजन आंखों में लगाने से सभी प्रकार के तिमिररोग को नाश करता है ॥ ३३८ ॥

नेत्ररोगे गोपयःसर्पिषोर्योगः—

कृष्णाया कृष्णवत्साया गोःपयः सर्पिरेव च ।
पानेऽक्षिण तर्पणे नस्ये परमं चक्षुषोर्हितम् ॥ ३३९ ॥

नेत्ररोग में गाय के दूध तथा घृत का योग—कालीगाय या काली बछड़े वाली गाय का दूध तथा घी पान करने से और आंखों में तर्पण करने से तथा नस्य लेने से आंखों के लिये उत्तम हितकारक होते हैं ॥ ३३९ ॥

तिमिरे त्रिकट्वाद्यञ्जनम्—

त्रीणि कटूनि करंजफलानि द्वे च निशे सह सैन्धवकेन ।
बिल्वतरोर्वरुणस्य च मूलं वारिचरं दशमं प्रवदन्ति ॥ ३४० ॥
हन्ति तमस्तिमिरं पटलं च पिच्चिटशुक्रमथार्जुनकं च ।
अंजनक जनरंजनकं च दृङ्न विनश्यति वर्षशतं च ॥ ३४१ ॥

तिमिररोग में त्रिकट्वाद्यञ्जन—सोंठ, पीपर, मरिच, करञ्जफल, आमाहल्दी, दारुहल्दी, सेन्धानमक, बेल की जड़, वरुण की जड़ तथा वारिचर (कमल की नाल) समभाग इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर अञ्जन तैयार करे। यह अञ्जन लगाने से नेत्रतम (नेत्र के सामने अन्धकार मालूम होना), तिमिररोग, पटलगतरोग, पिच्चिटशुक्र (व्रणयुक्त पटलगत शुक्र) रोग तथा अर्जुनरोग को नाश करता है, मनुष्यों के आंखों को सुन्दर बना देता है और सैकड़ों वर्ष तक देखने की शक्ति नष्ट नहीं होती है ॥ ३४०-३४१ ॥

तिमिरे नीलोत्पलाद्यञ्जनम्—

नीलोत्पलं विडङ्गानि पिप्पली रक्तचन्दनम् ।
अंजनं सैन्धवं चैव सद्यस्तिमिरनाशम ॥ ३४२ ॥

तिमिररोग में नीलोत्पलाद्यञ्जन—नीलकमल का फूल, वायविडङ्ग, पीपर, रक्तचन्दन, रसाञ्जन तथा सेन्धानमक इन सभी द्रव्यों का अंजन नेत्र में लगाने से तिमिर रोग को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ३४२ ॥

तिमिरे तमालपत्राद्यञ्जनम्—

पत्रगैरिककर्पूरयष्टीनीलोत्पलाञ्जनम् ।
नागकेसरसंयुक्तमशेषतिमिरापहम् ॥ ३४३ ॥

तिमिररोग में तमालपत्राद्यंजन—पत्र (तमालपत्र), स्वर्णगैरिक, कपूर, मुलेठी, नीलकमल का फूल, रसांजन तथा नागकेशर—इन सभी द्रव्यों को पीसकर अंजन लगाने से सभी प्रकार के तिमिररोगों को नाश करता है (सभी द्रव्यों को पीसने के बाद कपूर को मिलाना चाहिए) ॥ ३४३ ॥

शुक्तिका-चिकित्सा—

कोष्णस्य सर्पिषः पानैर्विरेकालेपसेचनैः ।
स्वादुशीतैः प्रशमयेच्छुक्तिकामजनैस्ततः ॥ ३४४ ॥
अंजने शर्करामस्तुक्षौद्रैश्चाश्च्योतनं हितम् ।

शुक्तिका-चिकित्सा—नेत्रशुक्तिका रोग को उष्ण घृतपान, विरेचन,

आलेपन, सेचन तथा मधुर एवं शीतल अंजन द्रव्यों से शान्त करे। इसके बाद अंजन करने पर शक्कर, मस्तु (दही का तोड़) तथा मधु से आश्चोतन करना हितकर होता है।

अर्जुनचिकित्सा—

शंखक्षौद्रेण संयुक्तः कतकः सैन्धवेन च ॥ ३४५ ॥
सितयाऽर्णवफेनो वा पृथगंजनमर्जुने ।
सितया मधुकट्वङ्गमस्तुक्षौद्राम्बुसैन्धवैः ॥ ३४६ ॥
पूरणं हन्ति लौहित्यं रक्ताराजीमथार्जुनम् ।
पैत्त विधिमशेषेण कुर्यादर्जुनशान्तये ॥ ३४७ ॥

अर्जुनचिकित्सा—अर्जुनरोग में कतक (निर्मली) का फल, सैन्धानमक, तथा शङ्खभस्म—इन द्रव्यों के चूर्ण मधु के साथ मिलाकर उससे या समुद्रफेन के साथ या मिश्री के साथ अलग २ अंजन करे। मिश्री, मधु कट्वङ्ग-मस्तु (दूधमें कट्वङ्ग (अरलू) को पकाकर बनाये हुए दही का तोड), मधु, जल तथा सेन्धानमक से नेत्र को पूरण करना (भरना) रक्तराजि की लालिमा तथा अर्जुनरोग को नाश करता है। नेत्रार्जुन की शान्ति के लिये सभी पैत्तिकनेत्ररोग-शामक विधि (चिकित्सा) को करे॥ ३४५-३४७॥

रसांजनं फाणितशर्करा तथा रसश्च यष्टीमधुकोत्पलानाम् ।
क्षौद्रं च शीतानि ससैन्धवानि हितानि तान्यर्जुननाशनार्थम् ॥

अर्जुनरोग को नाश करने के लिये रसाञ्जन, फाणित शर्करा (राव), मुलेठी तथा नीलकमल के फूल या पत्ता का रस, मधु तथा शीतल पदार्थ (मक्खन आदि) से युक्त सेन्धानमक हितकर होता है॥ ३४८॥

पिष्टके पिप्पल्याद्यञ्जनम्—

वैदेहीश्वेतमरिचनागरं सैन्धवं समम् ।
मातुलुङ्गरसैः पिष्टमजनं पिष्टकापहम् ॥ ३४९ ॥

पिष्टकरोग में पिप्पल्याद्यञ्जन—वैदेही (पीपर), सफेद मरिच, सोंठ तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों को बिजौरा नीम के रस के साथ पीसकर अञ्जन करे। यह अञ्जन नेत्रपिष्टक रोग को नाश करता है॥ ३४९॥

श्लेष्मोपनाहप्रतीकारः—

भित्त्वोपनाहं कफजं पिप्पलीमधुसैन्धवैः ।
विलिखेन्मण्डलाग्रेण प्रच्छयेद्वा समन्ततः ॥ ३५० ॥

श्लेष्मोपनाह का प्रतीकार—कफजन्य उपनाह रोगों को भेदन कर पीपर

का चूर्ण मधु तथा सेन्धानमक मिलाकर इससे विलेखन करे या मण्डलाग्र (गोलमुख वाला) पत्र से पाछ दे अर्थात् नस्तर लगावे ॥ ३५० ॥

नेत्रस्रावचिकित्सा—

पथ्याक्षधात्रीफलमध्यबीजैस्त्रिद्व्येकभागैर्विदधीत वर्तिम् ।
तयाऽञ्जयेदश्रुमपि प्रवृद्धमक्ष्णोर्हरेत्कण्डुमपि प्रवृद्धाम् ॥ ३५१ ॥

नेत्रस्राव की चिकित्सा—हर्रे बीज का मध्य (मींगी) तीन भाग, बहेड़ा के बीज का मध्य (मींगी) दो भाग तथा आवला के बीज का मध्य (मींगी) एक भाग—इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर वर्ति बनावे और इस वर्ति को घिसकर आंखों में अञ्जन करे। यह वर्ति बढ़े हुए नेत्राश्रु (नेत्रस्राव) तथा बढे हुए नेत्र-कण्डू को भी दूर करती है ॥ ३५१ ॥

स्रावे तु त्रिफलाक्वाथं यथादोषं प्रयोजयेत् ।
क्षौद्रेणाज्येन पिप्पल्या मिश्रं विध्येच्छिरां तथा ॥ ३५२ ॥

नेत्रस्राव में दोषों के अनुसार त्रिफला के क्वाथ का प्रयोग करे। और मधु तथा घृत के साथ पीपर के चूर्ण को वर्ति बनाकर उससे शिरा का वेधन करे ॥ ३५२ ॥

क्रिमिग्रन्थिचिकित्सा—

त्रिफलामूत्रकासीससैन्धवैः सरसाञ्जनैः ।
रसक्रिया क्रिमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात्प्रतिसारणम् ॥ ३५३ ॥

क्रिमिग्रन्थि की चिकित्सा—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला), गोमूत्र, कासीस, सेन्धानमक तथा रसाञ्जन—इन द्रव्यों से रसक्रिया (मलहम) बनावे और नेत्र की कृमिग्रन्थि के फूट जाने पर प्रतिसारण कर्म करे ॥ ३५३ ॥

अञ्जननामिकाचिकित्सा—

स्विन्नां भित्त्वा विनिष्पीड्य भिन्नामञ्जननामिकाम् ।
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥ ३५४ ॥
रसांजनमधुभ्यां च भिन्नां वा शस्त्रकर्मवित् ।
प्रतिसार्याञ्जनैर्युञ्ज्यादुष्णैर्दीपशिखाह्वयैः ।
स्वेदयेदुष्णयाऽङ्गुल्या हरेद्रक्तं जलौकसा ॥ ३५५ ॥

अञ्जननामिका की चिकित्सा—अञ्जननामिका-नामक नेत्ररोग को परिपक्व हो जाने पर भेदन कर फूट जाने पर दबाकर पूय निकाल दे और मैनसिल, बड़ी इलायची, तगर, सेन्धानमक, एवं मधु से प्रतिसारण करे। अथवा भेदन किये हुए अञ्जननामिका को शस्त्रकर्म को जानने वाला रसाञ्जन तथा मधु से प्रतिसारण करे। और प्रतिसारण करने के बाद उष्ण दीप द्वारा शिखा के अञ्जन

(दीपशिखा से निकाला हुआ काजल) से अञ्जन करे। अङ्गुली गरम कर स्वेदन करे तथा जोक लगा कर रक्त को निकाले ॥ ३५४-३५५ ॥

लगणचिकित्सा—

रोचनाक्षारसिन्धूत्थपिप्पल्यः क्षौद्रमेव च ।
प्रतिसारणमेकैकं भिन्ने लगण इष्यते ॥ ३५६ ॥

लगण की चिकित्सा—लगणरोग के भिन्न हो जाने पर (फट जाने पर) गोरोचन, यवक्षार, सेन्धानमक, पीपर तथा मधु इनमें से एक २ द्रव्यों से प्रतिसारण करे ॥ ३५६ ॥

निमेषप्रतीकारः—

निमेषे निशया पेयं सर्पिस्तेन च पूरणम् ।

निमेषरोग का प्रतीकार—नेत्रनिमेषरोग में हल्दी मिलाकर घी पीवे। और हल्दी-मिश्रित घृत से नेत्रों को पूरण करे।

बिशग्रन्थिचिकित्सा—

छेदयित्वा बिशग्रन्थिं छिद्राण्यस्य निराश्रयम् ॥ ३५७ ॥
पक्वं भित्त्वा तु शस्त्रेण सैन्धवेनावचूर्णितम् ।
वर्त्मावलेख्यं बहुशस्तद्वच्छोणितमोक्षणम् ॥ ३५८ ॥

बिशग्रन्थि की चिकित्सा—निराश्रित बिशग्रन्थिनामक नेत्ररोग को छेदन कर, तथा पक जाने पर शस्त्र से भेदन कर सेन्धानमक के चूर्ण से अवचूर्णन करे और अनेक वार उसका लेखन करे। इसी प्रकार अनेक वार रक्तमोचण भी करे ॥ ३५७-३५८ ॥

पिल्लचिकित्सा—

पुनः पुनर्विरेकं च पिल्लरोगातुरो भजेत् ।
पिल्ली स्निग्धो वमेत्पूर्वं शिरावेधः स्रुतेऽसृजि ॥ ३५९ ॥
शिलारसाञ्जनव्योषगोपित्तैश्चक्षुरंजयेत् ।

पिल्लचिकित्सा—पिल्लरोग से पीड़ित व्यक्ति पहले बार-बार विरेचन करे और स्निग्ध वमन करे। इसके बाद रक्तस्राव होने पर शिरावेध द्वारा रक्त-मोचण कराये तथा मैनसिल, रसाञ्जन, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर गाय का पित्त मिलाकर आंखों में अंजन करे।

हरितालवचादारुसुरसारसपेषितम् ॥ ३६० ॥
अभयारसपिष्टं वा तगरं पिल्लनाशनम् ।
भावितं बस्तमूत्रेण सस्नेहं देवदारु च ॥ ३६१ ॥

हरिताल, वच, देवदारु इन द्रव्यों को तुलसी के रस के साथ पीसकर या तगर को हर्रे के रस से पीस अथवा देवदारु को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर

घृत मिलाकर अंजन करे। यह अजन पिल्ल रोग को नाश करता है।

त्रिदशदारुरजः परिभावितं मसृणमाजजलेन पुनः पुनः।
हरति पूरणतः सकला नृणां नयनपद्मविनाशकृतो रुजः॥ ३६२॥

त्रिदशदारु (देवदारु) का महीन चूर्ण बकरी के मूत्र से अनेक बार (सात बार) भावित कर आंखों में भरने से मनुष्यों के नेत्र के पलकों में होनेवाली सभी पीडाओं को नाश करता है॥ ३६२॥

सर्वनेत्ररोगे नेत्रे जलसेचनम्—

शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः
कालत्रयेऽपि नयनद्वितय जलेन।
आसिञ्चति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि-
रोगव्यथाविधुरतां भजते मनुष्यः॥ ३६३॥

सभी प्रकार के नेत्र रोग में जल से आंखों का सेचन जो मनुष्य प्रतिदिन तीनों समय (प्रातः, दोपहर तथा सायं) शीतल जल से मुख को भरकर (मुख में कुल्ला लेकर) जल से दोनों आंखों को प्रक्षालन करता है वह मनुष्य निश्चय ही कभी भी नेत्ररोग की व्यथा से दुःखी नहीं होता है॥ ३६३॥

नेत्ररोगे नासिकाया जलपानम्—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो
बलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः॥ ३६४॥

नेत्र रोग में नासिका द्वारा जलपान—जो मनुष्य रात के समाप्त होने पर प्रातः काल उठकर नाक के छेदों (नासिका रन्ध्र) से जल पीता है वह बुद्धिमान् व्यक्ति गरुड के समान दूरदर्शी नेत्रवाला, वलि (मुख में झुरी पड़ना), पलित (असमय में बाल का पकना) से रहित तथा सभी प्रकार के नेत्र रोगों से छुटकारा पा जाता है॥ ३६४॥

अक्षिकोपे श्वेतकरवीरयोगः—

श्वेतकरवीरकिसलयविच्छेदरसेन पूरिताक्षस्य।
तत्कालसमुत्पन्नो नयनोत्कोपः शमं याति॥ ३६५॥

अक्षिकोप में श्वेत करवीर का योग—सफेद कनेर के पुष्प को तोड़ने से निकले हुए रस (दूध) को नेत्र में छोड़ने से थोड़े समय का उत्पन्न हुआ नवीन अक्षिकोप शान्त हो जाता है॥ ३६५॥

अक्षिकोपेऽपामार्गयोगः—

प्रत्यक्पुष्पामूलं ताम्रमयभाजने ससिन्धूत्थम्।

मस्तुसहितं निघृष्टं नयनोत्कोपं हरत्याशु ॥ ३६६ ॥

अक्षिकोप में अपामार्ग योग—जड़ सहित अपामार्ग महीन पीसकर सेन्धा नमक मिलाकर तांबे के पात्र में मस्तु (दही के तोड़) के साथ घिसकर लगाने से शीघ्र ही अक्षिकोप को नाश करता है ॥ ३६६ ॥

नेत्ररोगे सहदेवीयोगः—

कर्णे निबद्धं नयनामयघ्नं दण्डोत्पलायाः प्रवदन्ति मूलम् ।
क्षौद्रान्वितः शिग्रुदलोद्भवो वा रसोऽक्षिण दत्तोऽक्षिरुजापहः स्यात् ॥३६७॥

नेत्ररोग में सहदेवी-योग—दण्डोत्पला (सहदेई) की जड़ कान में बांधने से सभी प्रकार के नेत्र रोग को नाश करती है । ऐसा लोग कहते हैं । और इसके रस को या सहिजन के रस को आंख में छोड़ने से नेत्र रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३६७ ॥

नील्यां कारवेल्लीयोगः—

मूलेन कारवेल्ल्यास्तुरङ्गमूत्रान्वितेन पिष्टेन ।
परिपूरितनयनानां नीलीदोषः शमं याति ॥ ३६८ ॥

नीलीरोग में कारवेल्ली योग—कारवेल्ली (करैली) की जड़ को तुरङ्ग (घोड़े) के मूत्र के साथ पीसकर तथा छान कर उसके रस को आंखों में भरने से नीलीनामक नेत्ररोग शान्त होता है । ३६८ ॥

नेत्ररोगे रक्तचन्दनाद्या वर्तिः—

अरुणचन्दनमागधिकानिशाः
कतकबीजयुता गगनाम्भसा ।
समभिपेष्य कृता नयनामयान्
हरति वर्तिरुदीर्णतरानपि ॥ ३६९ ॥

नेत्ररोग में चन्दनाद्या वर्ति—रक्त चन्दन, पीपर, हल्दी तथा कतक का बीज (निर्मली) समभाग—इन द्रव्यों को आकाश के जल से पीसकर वर्ति बनावे और नेत्र में लगावे । यह वर्ति बढ़े हुए नेत्ररोगों को दूर करती है ॥ ३६९ ॥

नेत्ररोगे धात्रीयोगः—

वृक्षस्थिताद्विगलितो नखभेदनेन
धात्रीफलात्परिणतात्परिपूर्णरूपात् ।
रोगान् रसो हरति लोचनसंप्रभूतान्
दोषैः कृतान् पवनपित्तकफैः प्रदुष्टैः ॥ ३७० ॥

नेत्ररोग में धात्री योग—वृक्ष में स्थित परिपक्व आंवला के फल से खोंट

द्वारा विदारण (काटने) से निकला हुआ रस नेत्रों में लगाने से दूषित वात, पित्त तथा कफ आदि दोषों से उत्पन्न नेत्र के रोगों को दूर कर देता है ॥ ३७० ॥

वातजनेत्रशूले आसेचनयोगः—

शुक्लोरुबूकद्रुमपत्रमूलैराजं पयः साधितमम्बुयुक्तम् ।
आसेचनादीक्षणयोः समीरसंभूतशूलोपशम करोति ॥ ३७१ ॥

वातज नेत्रशूल में आसेचन योग—सफेद एरण्ड के पत्ता तथा जड़ के कल्क के साथ (घृत के चौथाई) घृत के चौगुने जल में सिद्ध किया हुआ बकरी का घृत दोनों आंखों में आसेचन करने (सींचने) से दूषित वात से उत्पन्न नेत्रशूल को शान्त करता है ॥ ३७१ ॥

नील्यादौ चन्दनाद्यञ्जनम्—

क्रमसंप्रवृद्धमलयजसैन्धवपथ्यापलाशरसक्लृप्तम् ।
अञ्जनमपहर्तुमलं नीलीपटलार्मपुष्पाणि ॥ ३७२ ॥

नीली आदि रोग में चन्दनाद्यञ्जन—मलयागिरि चन्दन (सफेद चन्दन) एकभाग, सेन्धा नमक दो भाग, हर्रे तीन भाग तथा पलाश के पत्तों का रस चार भाग—इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर अंजन तैयार करे। यह अंजन आंखों में लगाने से नीली नेत्ररोग, पटलगतरोग, वर्त्मार्म आदि रोग एवं पुष्पक (शुक्ररोग) आदि रोगों को दूर करने मे समर्थ है ॥ ३७२ ॥

शुक्रे श्वेतगिरिकर्ण्यादियोगः—

श्वेताद्रिकर्ण्याः सपुनर्नवाया मूलैः सुपिष्टैर्यवचूर्णयुक्तैः ।
विलोचन पूरितमम्बुयुक्तैर्विमुच्यते पुष्पकृतोपसर्गात् ॥ ३७३ ॥

शुक्ररोग में गिरिकर्ण्यादि योग—श्वेताद्रिकर्णी (सफेद अपराजिता), तथा पुनर्नवा की जड़ को अच्छी तरह महीन पीसकर यव का चूर्ण मिला दे और उसको जल में घोलकर आंखों में भर दे। इस प्रकार आंखों में भर देने से नेत्रपुष्प (शुक्र) रोगजन्य उपसर्ग से मुक्त हो जाता है ॥ ३७३ ॥

शुक्रे करंजाद्या वर्तिः—

किंशुकस्वरसभावितं मुहुर्नक्तमालतरुबीजजं रजः ।
वर्तियोगविधिना विनाशयत्याशु नेत्रगतपुष्पपाण्डुताम् ॥ ३७४ ॥

शुक्ररोग में करञ्जाद्या वर्ति—नक्तमाल (करंज) वृक्ष के बीज के चूर्ण को पलाश के पत्ते के रस से अनेक वार (सात वार) भावित कर वर्ति बनावे और सुखा ले। यह वर्ति घिस कर नेत्र में लगाने से नेत्रगतपुष्प (शुक्र) रोगजन्य पाण्डुता (पीलिया) को शीघ्र ही नाश कर देती है ॥ ३७४ ॥

शुक्रे बिभीतमज्जादियोगः—

कलितरुफलमज्जा चातिसुश्लक्ष्णपिष्टा
हरति नयनपुष्पं प्रातरेवांजनेन ।
श्रवणमलसमेतं मध्वथ क्षुद्रमत्स्यो
हुतवहपुटदग्धो नैशमान्ध्यं क्षिणोति ॥ ३७५ ॥

शुक्ररोग में विभीतकमज्जादि योग—कलितरु (बहेडा) के फल की मज्जा अत्यन्त महीन पीस कर प्रातःकाल आंखों में अञ्जन करने से नयनपुष्प (नेत्र शुक्र) रोग को दूर करती है । कान का मल, मधु तथा छोटी मछली इन सबों को शराव-सम्पुट में रख कर अग्नि में जलाकर और पीस कर आंखों में अजन करने से रतौंधी रोग क्षीण हो जाता है ॥ ३७५ ॥

नक्तान्ध्ये कर्णमलयोगः—

मलः प्रबलविक्रमः श्रवणसंभवः शर्वरी-
भवान्ध्यभरसंहृतौ मधुविमिश्रितश्चक्षुषः ।
स एव घनसारवान् हरति माक्षिकप्लावितः
सुदूरतिमिरं तथा पटलकण्डुकाचस्रवान् ॥ ३७६ ॥

नक्तान्ध्यरोग में कर्णमल योग—कान का मल (कान का किट्ट), मधु मिलाकर अञ्जन करने से नेत्र के नक्तान्ध्य (रतौंधी) को दूर करता है । वही कपूर तथा मधु मिलाकर लेप करने से पुराने भयकर तिमिररोग (मोतियाबिन्द), नेत्रपटल की खुजली, काच (तृतीयपटल में स्थित तिमिररोग की द्वितीयावस्था 'रागयुक्त तिमिर') तथा नेत्रस्राव को दूर करता है ॥ ३७६ ॥

तिमिरे गुञ्जामूलयोगः—

गुंजामूलं बस्तमूत्रेण पिष्टं निर्घृष्टं वा वारिणा भद्रमुस्ता ।
आन्ध्य सद्यस्तैमिरं हन्ति पुंसामत्युद्गाढ नेत्रयोरंजनेन ॥ ३७७ ॥

तिमिररोग में गुञ्जामूल योग—गुञ्जा—(घुंघुची) की जड़ बकरी के मूत्र के साथ पीसकर या नागरमोथा जल के साथ घिस कर दोनों नेत्रों में अंजन करने से मनुष्यों के भयंकर आन्ध्य (अन्धता) तिमिररोग को नाश करता है ॥ ३७७ ॥

पटले द्रोणपुष्पीयोगः—

हरति पटलमक्ष्णोस्तण्डुलाम्बुप्रपिष्टा
सिचयगलितसारा नावनाद् द्रोणपुष्पी ।
शमयति च रसोऽस्या नेत्रयोरंजनेन
प्रसभमपि चिरोत्थं कामलारोगमाशु ॥ ३७८ ॥

पटलरोग में द्रोणपुष्पीयोग—द्रोणपुष्पी (गूमा) चावल के धोवन के

साथ पीस कर अच्छी तरह छानकर नावन करने से (छोड़ने से) आंख के पटलरोग को दूर करती है और इसका रस आंखों में अंजन करने से पुराने कामला रोग को शीघ्र ही हठपूर्वक शान्त करता है ॥ ३७८ ॥

कामलायां कतिपयोगाः—

अङ्कोलमूलमथवाऽर्कजटा प्रपिष्टा
स्वच्छेन तण्डुलजलेन सुसंप्रयत्नात् ।
स्यात् कामलामयहरी कृतनावनाना-
माघ्रातमात्रमपि जालिनिकाफलं वा ॥ ३७९ ॥

कामला (नेत्रगत कामला) रोग में कुछ योग—अंकोल (ढ़ेरा) या अर्कजटा (मदार की जड़), स्वच्छ तण्डुलजल (चावल का धोवन) के साथ अच्छी तरह पीस तथा छान कर नावन करने से कामला रोग को दूर करता है। अथवा जालिनिका (नेनुआ) का फल सूँघने मात्र से ही कामलारोग को दूर करता है ॥ ३७९ ॥

जीमूतकेन सहितं निशि स्थितं वारि कामलां हरति ।
शिशिरजलपिष्टमथवा नस्येन कुमारिकामूलम् ॥ ३८० ॥

जीमूतक (देवदाली 'बन्दाल') को रातभर पानी में रक्खे और उस पानी को प्रातःकाल पान करे। यह कामलारोग को दूर करता है। अथवा घृत-कुमारी (घीकुआर) की जड़ को शीतलजल में पीस कर नस्य लेने से कामला-रोग दूर होता है ॥ ३८० ॥

हिङ्गुना द्रोणपुष्प्या वा रसेनाञ्जितलोचनः ।
अचिरात्कामलाव्याधिं नरो विजयते ध्रुवम् ॥ ३८१ ॥

हिंगु का घोल या द्रोणपुष्पी (गूमा) के रस से नेत्र में अंजन करने से मनुष्य कामलारोग को शीघ्र अवश्य जीत लेता है ॥ ३८१ ॥

अञ्जनं कामलार्तानां द्रोणपुष्पीरसः शुभः ।
शङ्खगैरिकधात्रीणां चूर्णं वा सम्प्रकल्पयेत् ॥ ३८२ ॥

कामलारोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिये द्रोणपुष्पी (गूमा) के रस का अंजन करना उत्तम है। अथवा शंख, गेरू तथा आंवले के चूर्ण का अंजन करे ॥ ३८२ ॥

गुडार्द्रकयुता हन्ति कामलां त्रिफला सिता ।
जालिनीफलमाघ्रातं नस्यं वा तण्डुलाम्भसा ।

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), गुड़ तथा अदरक मिलाकर खाने से कामलारोग को नाश करती है। अथवा नेनुआ का फल चावल के धोवन में पीस कर सूँघने से कामलारोग को दूर करता है।

एरण्डमूलिका पीता मधुना हन्ति कामलाम् ॥ ३८३ ॥

एरण्ड (रेंड) की जड़ का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर चाटने से कामला रोग को नाश करती है ॥ ३८३ ॥

पिल्ले काकमाचीफलधूपः—

काकमाचीफलैकेन घृतयुक्तेन बुद्धिमान् ।
धूपयेत्पिल्लरोगार्तं पतन्ति क्रिमयोऽचिरात् ॥ ३८४ ॥

पिल्लरोग में काकमाची-फल का धूप—बुद्धिमान् वैद्य मकोय के एक ही फल को घृत मे मिलाकर पिल्लरोग (परिक्लिन्न[१] 'वर्त्म का चिपकना') से पीडित व्यक्ति को धूपन कराये अर्थात् आंखों मे धूम का प्रयोग करे। इससे नेत्रगत कृमि शीघ्र ही गिर जाते है ॥ ३८४ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्मनि रसाञ्जनाद्यंजनम्—

रसांजन सर्जरसो जातीपुष्प मनःशिला ।
समुद्रफेनो लवण गैरिकं मरिचानि च ॥ ३८५ ॥
एतत्समांशं मधुना पिष्टं प्रक्लिन्नवर्त्मनि ।
सांजनं क्लेदकण्डूघ्न पक्ष्मणां च प्ररोहणम् ॥ ३८६ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्म (पलक का चिपकने) म रसांजनाद्यञ्जन—रसांजन, सर्जरस (राल), चमेली का फूल, मैनसिल, समुद्रफेन, सेन्धानमक, गेरू तथा काली मरिच, समभाग—इन द्रव्यों को मधु के साथ महीन पीसकर आंखों के प्रक्लिन्न वर्त्मरोग (पलक का चिपकना) मे अंजन करे। यह अंजन पलकों का चिपकना तथा कण्डू को नाश करनेवाला तथा पलकों के बालों को जमानेवाला है ॥ ३८५–३८६ ॥

नेत्रकण्डौ नादेयाद्यञ्जनम्—

नादेयमग्र्यं मरिचं सितं च नेपालजाता च समप्रमाणा ।
समातुलुङ्गद्रव एष योग' कण्डूं निहन्यात्सकृदंजनेन ॥ ३८७ ॥

नेत्र की कण्डू (खुजली) में नादेयाद्यंजन—नादेय (सेन्धानमक), अग्र्य (रोचन), सफेद सहिजन का वीज, सित (मूली का बीज) तथा नेपाली धनिया समभाग—इन द्रव्यों को लेकर मातुलुङ्ग (बिजौरा) नीबू के रस में घोटकर अजन तैयार कर ले। यह अंजन योग एक ही बार आंजन करने से नेत्र की खुजली को नाश करता है ॥ ३८७ ॥

पिल्ले गुहामूलाद्यञ्जनम्—

ताम्रपात्रे गुहामूल सिन्धूत्थमरिचान्वितम् ।

---

[१] अंकिलोब्लीफेरोन (Ankyloblepharon) एक नेत्रवर्त्मगत रोग जिसमें वार २ धोने पर भी वर्त्म (पलक) चिपक जाते हैं।

आरनालेन संपिष्टमंजनं पिल्लनाशनम् ॥ ३८८ ॥

पिल्लरोग में गुहामूलाद्यंजन—तामा के पात्र में गुहामूल (पिठवन) की जड़, सेन्धानमक, मरिच समभाग—इन द्रव्यों को आरनाल (कांजी) से अच्छी तरह महीन पीस कर अंजन तैयार करे। यह अंजन पिल्लरोग (पलक का चिपकना) को नाश करता है ॥ ३८८ ॥

पिल्ले मंजिष्ठाद्यंजनम्—

मंजिष्ठामधुकोत्पलोदधिमलत्वक्सेव्यगोरोचना-
मांसीचन्दनशङ्खपत्रगिरिमृत्तालैः सपुष्पांजनैः ।
सर्वैरेव समांशमंजनमिदं शस्तं सदा चक्षुषो-
र्हन्ति क्लेदमथाशु शोणितरुजः पिल्लार्मशुक्रापहम् ॥ ३८९ ॥

पिल्लरोग में मंजिष्ठाद्यंजन—मंजीठ, मुलेठी, कमल का फूल, उदधिमल (समुद्रफेन), दालचीनी, सेव्य (खस), गोरोचन, जटामासी, रक्तचन्दन, शख, तेजपत्र, गिरिमृत् (गोपी चन्दन), हरिताल तथा पुष्पांजन समभाग—इन द्रव्यों को लेकर महीन पीसकर अंजन बनाले। यह अंजन नेत्रक्लेद (नेत्र की चिपचिपाहट), नेत्रशोणित (आँख का आना), नेत्रपीड़ा, पिल्लरोग (आखों का चिपकना) तथा नेत्रशुक्र (फूली) को नाश करता है ॥ ३८९ ॥

पिल्ले तुत्थकाद्यंजनम्—

तुत्थकस्य पलं श्वेतमरिचानि च विंशतिः ।
त्रिंशता कांजिकपलैः पिष्ट्वा ताम्रे निधापयेत् ।
पिल्लानपिल्लान् कुरुते बहुवर्षोत्थितानपि ॥ ३९० ॥

पिल्लरोग में तुत्थकाद्यंजन—तूतिया एक पल (एक छटाक), सफेद मरिच बीस पल (बीस छटांक)—इन द्रव्यों को कांजी तीस पल (तीस छटांक) में पीस कर ताम्रपात्र में रक्खे। कुछ दिन रखने के बाद इस अंजन को आंखों में लगाये। यह अंजन पुराने पिल्लरोग को दूर करता है ॥ ३९० ॥

पिल्ले पुष्पकासीसाद्यंजनम्—

पुष्पकासीसचूर्णं वा सुरसारसभावितम् ।
ताम्रे दशाहं तत्पैल्लपक्ष्मरोगजिदंजनात् ॥ ३९१ ॥

पिल्लरोग में पुष्पकाशीशाद्यंजन—अथवा पुष्पकासीस (कासीस विशेष) का चूर्ण, तुलसी के रस से भावित कर ताम्रपत्र पर दश दिन तक लेप कर दे। यह अंजन लगाने से पिल्लरोग तथा पक्ष्म रोगों को नष्ट करता है ॥ ३९१ ॥

पिल्ले पटोलादिक्काथः—

पटोलमुद्गामलकैस्तोयं सिद्धं पिबेन्निशि ।
किंचिच्छीतं मधुयुतं हन्ति पिल्लाक्षिजं रुजम् ॥ ३९२ ॥

पिल्लरोग में पटोलादि क्काथ—परोरा की जड़, मूंग तथा आंवला समभाग इन द्रव्यों को लेकर जल में पकाये और चौथाई शेष क्काथ को छान कर शीतल होने पर मधु मिलाकर रात में पान करे। यह पिल्लनामक नेत्ररोग की पीड़ा को दूर करता है॥ ३९२॥

पिल्ले हरितालाद्यंजनम्—

आलस्य भागो द्विगुणं च ताम्रं ताम्रात्तु सौवीरकमर्धतस्तु।
पैल्लेषु रोमाणि करोत्यभीक्ष्णमेका शलाका विनिपात्यमाना॥३९३॥

पिल्लरोग में हरितालाद्यञ्जन—हरताल एकभाग, तामा दो भाग, सौवीरक (सौवीरांजन) आधा भाग—इन द्रव्यों को एकत्र कर अच्छी तरह घोटकर अंजन तैयार करे। यह अंजन प्रतिदिन एक शलाका लगाने से पिल्लरोग में गिरे हुए रोम उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् यह अंजन पिल्ल रोग को नाश करता है॥ ३९३॥

पिल्ले पलाशवृन्तयोगः—

पलाशवृन्तमाहृत्य दध्ना कांस्ये निधापयेत्।
आश्चोतनं श्लेष्महरं पक्ष्मणां च प्ररोहणम्॥ ३९४॥

पिल्लरोग में पलाश-वृन्तयोग—पलाश के वृन्त (ढूसा) लेकर दही के साथ कांसा के वर्तन में रक्खे और इस दही के जल से आश्चोतन (आंखों में टपकाना) करे। यह आश्चोतन श्लेष्मजन्य नेत्र रोग को दूर करता है तथा पलक के गिरे हुए बालों को उगा देता है॥ ३९४॥

पक्ष्मोपरोधचिकित्सा—

याप्यः पक्ष्मोपरोधस्तु रोमोद्धरणलक्षणैः।
वर्त्मन्युपचितं लेख्यं स्राव्यमुत्क्लिष्टशोणितम्॥ ३९५॥
प्रवृद्धान्तर्मुखं लोम सहिष्णोरुद्धरेच्छनैः।
संदंशेनोद्धरेद् दृष्ट्वालक्ष्य रोमाणि बुद्धिमान्॥ ३९६॥
सूच्यग्रेणाग्निवर्णेन रोमकूपं विनिर्दहेत्।
प्रदेहाः शीतला नस्यक्रिया पक्ष्मोपरोधजित्॥ ३९७॥
रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया।
पक्ष्मकोपे पुनर्नैव कदाचिद्रोमसंभवः॥ ३९८॥
संदंशेनोद्धरेत्पक्ष्ममध्यस्थान् प्रति बालकान्।
लाटतैलभृते कूपे नेत्रयोर्न तदुद्भवः॥ ३९९॥

पक्ष्मोपरोध-चिकित्सा—पक्ष्मोपरोध (पलक का बालों से ढक जाना) रोग बालों को निकालने से याप्य होता है। क्योंकि बाल निकालने के बाद पुनः उग आते हैं। वर्त्म (पलक) के बढ़ जाने पर लेखन कर्म करे और बढ़े

हुए रक्त को निकलवा दे। बालों के बढ़कर अन्दर की तरफ मुख होने पर सहनशील रोगी के बाल को धीरे २ निकाल दे। बुद्धिमान् व्यक्ति आँखों से बालों को अच्छी तरह देखकर संदंश (सड़सी 'चिमटी) से निकाल ले। इसके बाद सूई के अग्रभाग को आग पर लाल कर उससे रोमकूप को दग्ध कर दे। इस पक्ष्मोपरोध रोग में शीतल लेप तथा नस्य क्रिया प्रयोग करने से पक्ष्मोपरोध रोग नष्ट हो जाता है। आंख को बचाकर गरम सोने की शलाका से पलक को दग्ध करे। इस प्रकार करने से पक्ष्म-कोप रोग में फिर पलक में बाल नहीं उत्पन्न होते हैं। पलक के बीच स्थित प्रत्येक बालों को चिमटी से निकाल दे। और नेत्रों के बालों को निकाल कर उस रोमकूप मे लाट तैल (लाट देश मे उत्पन्न एक प्रकार का तैल) भर दे। इससे फिर बालों की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ३९५-३९९ ॥

पूयालसे लोहादियोगः—

अयोरजस्ताम्ररजः सुपिष्टं सपिप्पलीकाम्लकवेतसं च।
क्षौद्रेण युक्तं लवणेन चैव पूयालसं हन्त्यचिरेण युक्तम् ॥ ४०० ॥

पूयालसक रोग में लोहादियोग—लौहभस्म, तामा का भस्म, पिसा हुआ पिप्पली का चूर्ण तथा अम्लवेत का चूर्ण, सेन्धानमक तथा शहद समभाग—इन द्रव्यों को मिलाकर अंजन के लिये प्रयोग करे। यह अंजन पूयालसक रोग को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४०० ॥

नक्तान्ध्ये गोधायकृदंजनम्—

विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं प्रपूरितं मागधिकाभिरग्निना।
निषेवितं तद्यकृदंजनेन वा निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥४०१ ॥

नक्तान्ध्य में गोधायकृदञ्जन—[1]गोधा ('गोह' जन्तुविशेष) के यकृत् को आधा चीरकर उसमे पीपर का चूर्ण भर दें और मन्द आंच से पकावें और अंजन के लिये प्रयोग करें या केवल यकृत् का ही अंजन करें। यह अंजन आंख में लगाने से रतौंधी को अवश्य ही नाश करता है इसमे सन्देह नहीं है ॥ ४०१ ॥

नक्तान्ध्ये छागयकृद्योगः—

तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मागधासमन्वितम्।
निषेवितं तन्मनुजैरसंशयं जयेत्क्षपान्ध्यं सकृदंजनेन वा ॥ ४०२ ॥

नक्तान्ध्य में छाग-यकृद् योग—अथवा बकरी के यकृत् (लीवर) में पीपर का चूर्ण मिलाकर आग पर पकाकर सेवन करे। यह मनुष्यों के सेवन करने

---

१. शशक, शल्लकी, गोधा—इति मनुः

पर रतौंधी अवश्य ही नष्ट हो जाती है। या एक ही बार अंजन करने से यह योग रतौंधी को जीत लेता है ॥ ४०२ ॥

नक्तान्ध्ये पिप्पलीयोगः—

कणा छागयकृन्मध्ये पक्वा तद्रसपेषिता ।
अचिराद्धन्ति नक्तान्ध्यं तद्वत्सक्षौद्रमूषणम् ॥ ४०३ ॥

रक्तान्ध्य में पिप्पली योग—बकरी के यकृत् में पीपर को पकाकर तथा उसी के रस से पीसकर सेवन करने से यह योग रतौंधी को शीघ्र ही नाश करता है। इसी प्रकार मरिच चूर्ण तथा शहद मिलाकर अंजन करने से रतौंधी को नष्ट करता है ॥ ४०३ ॥

तिमिरे गण्डूपदाद्यञ्जनम्—

संगृह्योपरतानलक्तकरसेनामृज्य गण्डूपदान्
लाक्षारञ्जिततूलवर्तिनिहितान्यष्टीमधून्मिश्रितान् ।
प्रज्वाल्योत्तमसर्पिषाऽनलशिखासन्तानक कज्जलं
दूरासन्ननिशान्ध्यकाचतिमिरध्वंसकृच्चाञ्जनात् ॥ ४०४ ॥

तिमिररोग में गण्डूपदाद्यजन—मरे हुए गण्डूपद (केचुओं) को लेकर तथा लाख के रस में मसलकर मुलेठी का चूर्ण तथा मधु को मिलाकर इस लाख रस से रंगे हुऐ रूई की वर्ति बनाकर सुखा ले। इसके बाद उत्तम घृत में वर्ति को जलाकर उसके लव के धूयें से (औरतें जैसे कजरौटा पर काजल तैयार कर लेती हैं) काजल तैयार कर ले। यह काजल अंजन करने से दूरदृष्टि-नाश, नजदीक का दृष्टिनाश, रतौंधी, मोतियाबिन्द तथा तिमिररोग को नाश करता है ॥ ४०४ ॥

निशान्ध्ये कतिपययोगाः—

तार्क्ष्यगैरिकतालीसैर्निशान्ध्यहितमञ्जनम् ।
दध्ना निघृष्टं मरिचं रात्र्यन्धांजनमुत्तमम् ॥ ४०५ ॥

निशान्ध्य (रतौंधी) मे कुछ योग—तार्क्ष्य ([1]तुत्थरसांजन या रसांजन), गैरिक (गेरू) तथा तालीसपत्र का चूर्ण समभाग इन द्रव्यों का बनाया हुआ अंजन रात्र्यन्ध (रतौंधी) को नाश करने के लिये उत्तम अजन है।

काली मरिच दही के साथ घिसकर अंजन करने से रतौंधी को नाश करते हैं ॥ ४०५ ॥

---

१. दारुहल्दी के क्वाथ के समभाग बकरी के दूध में तूतिया को घिसकर तैयार किए हुए अंजन विशेष को तार्क्ष्य या तार्क्ष्यशैल भी कहते है।

क्षणदान्धदृष्टिजननी कपित्थमृदुपत्रपिष्टपूपलिका ।
मधुना कृतमंजनं वा तत्फलवृन्तेन घृष्टेन ॥ ४०६ ॥

कैथ के मुलायम पत्तों को पीस उस पिष्ट से पूपलिका (घृत में पकाकर पूआ सदृश टिकिया) बनावे और आखों पर बाँधे। इससे रतौंधी नष्ट हो जाती है और दिखाई देने लगता है। अथवा कैथ के फल की ढेपी को मधु में घिसकर अंजन करे। यह अंजन रतौंधी को नाश करता है ॥ ४०६ ॥

मधु रजनी दारुनिशा रसांजनं जातिपल्लवस्वरसः ।
अयमुपशमयति योगः सवितेव तमः क्षपास्वान्ध्यम् ॥ ४०७ ॥

मधु, हल्दी, दारुहल्दी, रसांजन तथा चमेली के पत्ते का रस, इन सभी द्रव्यों को मिलाकर बनाया हुआ अंजन रतौंधी को नाश करता है जैसे सूर्य अन्धकार को नाश कर देता है ॥ ४०७ ॥

मरिच नील्यपामार्गः कासमर्दः पुनर्नवा ।
एतच्छिफात्रयं घृष्टं छगलीपयसा सह ॥ ४०८ ॥
ताम्रपात्रे भृते नेत्रे निराान्ध्यं याति वेगतः ।

मरिच, नील, अपामार्ग की जड़, कासमर्द (कसौंदी) की जड़ तथा पुनर्नवा की जड़, इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर ताम्र के पात्र में बकरी के दूध के साथ घिसकर नेत्र में अंजन करने से रतौंधी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

मधु कर्णमल चाक्षिण पातितं तद्विनाशकृत् ॥ ४०९ ॥

मधु तथा कान के मल (कर्णकिट्ट) को मिलाकर आंखों में अंजन करने से यह योग रतौंधी को नष्ट करता है ॥ ४०९ ॥

विभीतफलमज्जायाश्चूर्णं मधुसमन्वितम् ।
एतन्नेत्रे भृतं हन्ति कुभृत्यः स्वामिनं यथा ॥ ४१० ॥

बहेड़ा के फल की मज्जा का महीन चूर्ण मधु मिलाकर नेत्रों में लगाने से रतौंधी को नाश करता है। जैसे दुष्ट नौकर अपने स्वामी को नाश कर देता ॥ ४१० ॥

नेत्ररोगेऽञ्जनार्थं शलाका—

श्रेष्ठाजलं भृङ्गरसं सविपाव्यमजापयः ।
यष्टीरसं च यत्सीसं सप्तकृत्वः पृथक्पृथक् ॥ ४११ ॥
तप्तं तप्तं पायितं तच्छलाका नेत्रे युक्ता साऽञ्जनानञ्जना वा ।
तैमिर्यार्मस्रावपैच्छिल्यपैल्लं कण्डूं जाड्यं रक्तराजी च हन्ति ॥४१२॥

नेत्ररोग में अंजन लगाने के लिये शलाका—श्रेष्ठाजल (त्रिफला का काढ़ा), भृङ्गराज (भंगरैया) का स्वरस, विषा (अतीस) का क्वाथ, गाय का घी, बकरी का दूध तथा मुलेठी के रस में सीसा की (आठ अंगुल की) शलाका को

गरम कर अलग-अलग रस में तथा घृत एवं दूध में सात बार बुझावे। इस प्रकार सात बार बुझाकर तैयार किया हुआ शलाका अंजन के साथ या विना अंजन के ही आंख में लगाने से नेत्र का तिमिररोग, अर्म (वर्त्मार्म), नेत्रस्राव, पैच्छिल्य (क्लिन्नवर्त्म), नेत्रकण्डू, जाड्य (आंखों की अकड़न) तथा नेत्र की लालिमा को नाश करती है ॥ ४११-४१२ ॥

त्रिफलसलिलयोगे भृङ्गराजद्रवे च
हविषि च विषकल्के क्षीर आजे मधूग्रे।
प्रतिदिनमथ तप्तं सप्तधा सीसमेतत्
प्रणिहितमथ पश्चात्कारयेत्तच्छलाकाम् ॥ ४१३ ॥
तिमिरपटलकण्डूस्रावरक्तप्रकोपान्
किरिकिरिभिरुपेतं वर्त्म पिल्लत्रिदोषान्।
असितसितसमुत्थान् सन्धिवर्त्माभिजातान्
हरति नयनरोगान् सेव्यमाना शलाका ॥ ४१४ ॥

त्रिफला का क्वाथ, भृङ्गराज का रस, घृत, विष (वत्सनाभ) का कल्क, बकरी का दूध तथा मधूग्र (मुलेठी का रस या मधु) में सीसा की शलाका को तपा तपाकर प्रतिदिन सात वार बुझाये और उसको अच्छी तरह तैयार कर बाद में आंखों मे शलाका का प्रयोग करे। यह शलाका प्रतिदिन लगाने से तिमिर (द्वितीय पटलगत दृष्टिमान्द्य) रोग, नेत्रपटलगत रोग, नेत्रकण्डू, नेत्रस्राव, आखों की लालिमा, किरकिरी से युक्त वर्त्मरोग, त्रिदोषज पिल्ल (परिक्लिन्नवर्त्म) रोग, कृष्णपटलगत, शुक्लपटलगत, सन्धिगत तथा वर्त्मगत (नेत्र के पलकों में होनेवाले) नेत्र के रोगों को दूर करती है ॥४१३-४१४॥

लिङ्गनाशव्यधनविधिः—

रूपाणां लिङ्गिनी नाम तन्नाशाल्लिङ्गनाशनः।
सर्वेषु लिङ्गनाशेषु वेध्यः पक्वः कफात्मकः ॥ ४१५ ॥
(मृद्यमाने च नयने मण्डलं यद्विसर्पति।)

लिङ्गनाश (मोतियाबिन्द) को बेधने (निकालने) की विधि—जिसके द्वारा रूप का ग्रहण होता है उसको लिङ्ग कहते हैं वही जब रूप ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है तो उसे लिङ्गनाश कहते हैं। इस प्रकार जब आंखों को मलने के बाद मण्डलाकृति दिखाई देती है तो लिङ्गनाश समझना चाहिए।

न चेदर्धेन्दुघर्माम्बुबिन्दुमुक्ताकृतिः स्थिरः ॥ ४१६ ॥
विषमो वा तनुर्मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोष. सरुजो वा सलोहितः ॥ ४१७ ॥
कासश्वासक्षतक्षीणकर्णशूलादिरोगिणाम् ।

गर्भिणीक्षामभीरूणां तृष्णाभुक्तवतस्तथा ॥ ४१८ ॥
मद्यलौल्यजराजीर्णक्षयशोफविकारिणाम् ।
ऊनविंशतिवर्षस्य नाशीत्यभ्यधिकस्य च ॥ ४१९ ॥
न चासंपक्वदोषस्य लिङ्गनाशं तु वेधयेत् ।
पटोलाद्येन सस्नेह्य त्रिफलाद्येन सर्पिषा ॥ ४२० ॥
लिङ्गनाशे कफोद्भूते यथावद्विधिपूर्वकम् ।
विद्ध्वा दैवकृते छिद्रे नेत्रं स्तन्येन सेचयेत् ॥ ४२१ ॥
ततो दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः ।
नयनं सर्पिषाऽभ्यज्य वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ ४२२ ॥
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ।
उद्गारकासक्षवथुनिष्ठीवोत्कम्पनानि च ॥ ४२३ ॥
तत्कालं नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणा स्नेहपीतवत् ।
त्र्यहात् त्र्यहाच्च धावेत कषायैरनिलापहैः ॥ ४२४ ॥
वायोर्भयात्त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षि पूर्ववत् ।
दशरात्रं च संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम् ॥ ४२५ ॥

यदि लिङ्गनाश की आकृति आधे चन्द्रमा के आकार का धूप के जलकण के आकार का तथा मोती के आकार का न हो, विषम हो या बीच में पतला हो, लकीरवाला हो या अधिक प्रभा से युक्त हो ऐसे लिङ्गनाश को वेधन नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो कास, श्वास, क्षतक्षीण, कर्णशूल आदि रोग से पीड़ित हो, गर्भिणी हो, दुर्बल हो, डरपोक हो, प्यास तथा भूख से पीड़ित हो, मद्यपान करने में लोलुप हो या मद्यपान करने से दुर्बल हो अथवा बुढ़ापा से दुर्बल, क्षयरोग से पीड़ित तथा शोथ से युक्त हो और उन्नीस वर्ष से कम तथा अस्सी वर्ष से अधिक हो, ऐसे रोगियों का एवं दोषों का परिपाक ठीक न हुआ हो अर्थात् मोतियाबिन्द पका न हो तो मोतियाबिन्द का वेधन नहीं करना चाहिए।

मोतियाबिन्द के परिपक्व हो जाने पर पटोलाद्य[1] घृत तथा त्रिफलाद्य[2] घृत से स्नेहन कर कफजन्य लिंगनाश (मोतियाबिन्द) को अच्छी तरह सावधान होकर विधिपूर्वक दैवकृत[3] छिद्र में वेधन कर नेत्र को स्त्री के दूध से सेचन

१. पटोलाद्य घृत गदनि० प्र० ख० पृ० ३६ में देखे।

२, त्रिफलाद्य घृत गदनि० प्र० ख० पृ० ३५ में देखे।

३. दैवकृत छिद्र—जो स्वभाव से ही छिद्र के समान हो और जहाँ पर शिराजाल न हो। यह छिद्र अपांग के समीप कृष्णभाग से दो भाग छोड़कर शुक्लभाग में स्थित है, जहां शिराजाल अधिक नहीं है।

करे और शलाका के अग्र से दृष्टिमण्डल को लेखन करे। इसके बाद रूप दिखाई देने पर धीरे से शलाका को निकाल ले और आंख को घृत से अभ्यङ्ग कर (पूरण कर) कवलिका (रूई का फाहा या गाज) रखकर वस्त्र की पट्टी से बांध दे। तत्पश्चात् रोगी को धूलि, धूम, तेज हवा आदि से रहित निराबाध घर में बिस्तर के ऊपर उत्तान लिटा दे। इस समय डकार लेना, खांसना, छींकना, थूकना तथा शरीर को कँपाना नहीं चाहिए। उसके आहार आदि का

मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् शिराजाल-विवर्जिते॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विध्यस्तं यववक्त्रया॥
मध्यप्रदेशिन्यङ्गुष्ठ-स्थिर-हस्त-गृहीतया।
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत्।
स्निग्ध-स्विन्नस्य तस्याथ काले नात्युष्ण-शीतले॥
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्वां नासां पश्यतः समाम्।
संसिच्य विद्धमात्रं तु योषित्-स्तन्येन कोविदः।
स्थिरे दोषे चले वापि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः॥
सम्यक् शलाकां संस्थाप्य भङ्गैरनिल-नाशनैः।
शलाकाग्रेण तु ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्॥
विध्यतो योन्यपार्श्वेऽथ्यनस्तं रुद्ध्वा नासिकापुटम्।
उच्छिङ्घनेन हर्तव्यो दृष्टिमण्डलगः कफः।
निरभ्र इव घर्मांशुर्यदा दृष्टिः प्रकाशते।
तदासौ लिखितं सम्यग् ज्ञेया सा चापि निर्व्यथा॥

सु० उ० १७

शलाका का स्वरूप—

अष्टांगुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
अगुष्ठ-पर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः॥
ताम्रमयी शातकुम्भी शलाका स्यादनिन्दिता।

निन्दित शलाका—

शलाका कर्कशा स्थूल-खरा दोष-परिप्लुतम्।
व्रणं विशालं स्थूलाग्रा तीक्ष्णा हि स्यादनेकधा॥
जलास्रावं तु विषमा क्रिया संगमथास्थिरा।
करोति वर्जिता दोषस्तस्मादेभिर्हिता भवेत्॥

नियन्त्रण ठीक उसी प्रकार रखना चाहिए जिस प्रकार स्नेहपान कराये व्यक्ति में किया जाता है।

प्रत्येक तीसरे दिन पट्टी को खोलकर वातनाशक कषायों से नेत्रों को प्रक्षालन करना चाहिए और वायु के भय से बचाने के लिये तीन २ दिन के बाद स्वेदन कर्म भी पूर्ववत् करना चाहिए।

इस प्रकार दश दिनों तक रोगी को (उत्तान-शयनादि) संयमपूर्वक रखना चाहिए और इसके बाद नेत्र-प्रसादन अञ्जन आदि कर्मों को करने के लिये उपदेश देना चाहिए और हलका भोजन मात्रापूर्वक देना चाहिए।

पश्चात्क्रमेण सेवेत लघ्वन्नं चापि मात्रया।
रागशोफार्बुदं रोषो बुद्बुदं केकराक्षिता ॥ ४२६ ॥
अधिमन्थादयश्चान्ये रोगाः स्युर्दुष्टवेधजाः।
अहिताहारतो वाऽपि यथास्वं तानुपाचरेत् ॥ ४२७ ॥

लिङ्गनाश में पूर्व बताये हुए (बाल-स्थविरादि) शस्त्रकर्म के अयोग्य, अपरिपक्व, श्वास-कासादि-पीडित रोगियों के शस्त्रकर्म करने पर या दैवकृत छिद्र के अतिरिक्त अन्य स्थान से शलाका प्रवेश करने से [1]लालिमा, शोथ,

---

१. एवं त्वशक्ये निर्हर्तुं दोषे प्रत्यागतेऽपि वा।
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्याधौ भूयो विधीयते ॥
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ॥
उद्गार-कासक्षवथू-ष्ठीवनोत्कम्पनानि च।
तत्काल नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणा स्नेहपीतवत् ॥
त्र्यहात् त्र्यहाच्च सेवेत कषायैरनिलापहैः।
वायोर्भयात् त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षिवाह्यतः ॥
दशाहमेव संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम्।
पश्चात् कर्म च सेवेत लघ्वन्नं चापि मात्रया ॥
सिराव्यधविधौ पूर्वं नरा ये च विवर्जिताः।
न तेषां नीलिकां विध्येदन्यत्राभिहिताद् भिषक् ॥
पूर्यते शोणितेनाक्षि सिरावेधं विसर्पता।
तत्र स्त्रीस्तन्य-यष्ट्याह्वं पक्वं सेके हितं घृतम् ॥
अपाङ्गासन्नविद्धे तु शोफशूलाश्रु-रक्तता।
तत्रोपनाह भ्रूमध्ये कुर्याच्चोष्णाज्य-सेवनम् ॥
व्यधेन्नासन्न-कृष्णेन रागः कृष्णं च पीड्यते।

अर्बुद, रूक्षता, बुद्बुद, किरकिरापन तथा अधिमन्थ आदि अनेक नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते है। इसके अतिरिक्त अहितकर आहार आदि के करने पर भी पूर्वोक्त उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इन उपद्रवों का उपचार अच्छी तरह करना चाहिए अर्थात् उन-उन उपद्रवनाशक उपचारों को करे ॥ ४२६–४२७ ॥

रुजायामक्षिरोगे वा भूयो योगान्निबोध मे।
कल्किता सघृता दूर्वा यवगैरिकसारिवाः ॥ ४२८ ॥
मुखलेपे प्रयोक्तव्या रुजारागोपशान्तये।

नेत्ररोग में या नेत्र में पीड़ा होने लगे तो पुनः निम्नलिखित योगों को मुझसे सुनो। दूर्वा, यव, गेरू तथा अनन्तमूल समभाग इन द्रव्यों को पीसकर घृत के साथ कल्क बनाकर नेत्र की पीड़ा तथा लालिमा की शान्ति के लिये मुख के ऊपर उसे लेप कर प्रयोग करना चाहिए।

पयस्यासारिवापत्रमञ्जिष्ठामधुकैरपि ॥ ४२९ ॥
अजाक्षीरान्वितैर्लेपः सुखोष्णः पथ्यभोजिनः।

पयस्या (अर्कपुष्पी या क्षीरकाकोली), सारिवा, तालीसपत्र, मञ्जीठ तथा मुलेठी समभाग इन द्रव्यों को बकरी के दूध के साथ पीसकर लेप तैयार करे और थोड़ा-सा गरम प्रयोग करे तथा पथ्यपूर्वक भोजन करे।

शाम्यत्येवं न चेच्छूलं स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत् ॥ ४३० ॥
ततः शिरां हरेच्चापि मतिमान् कीर्तितं यथा।
दृष्टेरतः प्रसादार्थमञ्जने शृणु मे शुभे ॥ ४३१ ॥

यदि इन उपचारों को करने पर भी शूल की शान्ति नहीं होती है तो स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद शिरामोक्षण कराये।

यदि इससे भी उपद्रव शान्त न हो तो बुद्धिमान व्यक्ति पूर्वोक्त कथनानुसार शिरा का दाह कराये। इसके बाद शस्त्रकर्म सफल हो जाने पर दश दिन के बाद नेत्र का प्रसादन करने के लिये दो अञ्जनों को मुझ से सुनो ॥ ४३०–४३१ ॥

पुष्पवर्तिः—

मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि शिरीषधवयोरपि।
मालत्याश्चैव तुल्यानि मुक्ता वैडूर्यमेव च ॥ ४३२ ॥
अजाक्षीरेण संपिष्य ताम्रे सप्ताहमावपेत्।
प्रविधाय च तद्वर्ति योजयेदञ्जने भिषक् ॥ ४३३ ॥

तत्राधः शोधनं सेकः सर्पिषा रक्तमोक्षणम् ॥
तत्राप्युपरि विद्धे तु कष्टा रुक् संप्रवर्तते।
तत्र कोष्णेन हविषा परिषेकः प्रशस्यते ॥ सु० उ०

पुष्पवर्ति (पहला अंजन)—मेढाश्रृङ्गी, शिरीष, धव तथा चमेली इन सभी का फूल, मुक्ता और वैदूर्य इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीसकर ताम्र के बर्तन में एक सप्ताह तक रखे। पुनः इसकी वर्ति (लम्बी पतली गोली) बनावे और वैद्य नेत्रों में अंजन करे ॥ ४३२-४३३ ॥

स्रोतोञ्जनाद्या वर्तिः—

स्रोतोजं विद्रुमं फेनः सागरस्य मनःशिला ।
मरिचानि च वा वर्तीः कारयेत्पूर्ववद्भिषक् ॥ ४३४ ॥

स्रोतोऽञ्जनाद्या वर्ति (दूसरा अंजन)—स्रोतोज (सौवीराञ्जन 'सफेद सुरमा'), प्रवाल, समुद्रफेन, मैनशिल तथा मरिच समभाग इन द्रव्यों को पीसकर पूर्ववत् वर्ति बनावे और वैद्य इस अंजन को नेत्रों में लगाये। (ये प्रसादन अञ्जन नेत्र-शक्ति को स्थिर बनाते हैं) ॥ ४३४ ॥

रसाञ्जनघृतक्षौद्रतालैः सस्वर्णगैरिकैः ।
गोशकृद्रससंयुक्तं पित्तोपहतदृष्टये ॥ ४३५ ॥

रसाञ्जन, घृत, मधु, हरिताल, स्वर्णगैरिक (सोनागेरू) तथा गाय के गोबर का रस इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर अंजन तैयार करे और पित्तोपहत दृष्टि में प्रयोग करे ॥ ४३५ ॥

बृहत्त्रिफलाद्यं घृतम्—

त्रिफलाया रसः प्रस्थः प्रस्थो भृङ्गरसस्य च ।
वृषस्य च रसः प्रस्थः शतावर्याश्च तत्समः ॥ ४३६ ॥
अजाक्षीरं गुडूच्याश्चामलक्याः स्वरसस्तथा ।
प्रस्थं प्रस्थं समाहृत्य सर्वैरेभिर्घृतं पचेत् ॥ ४३७ ॥
कल्कः सिताकणाद्राक्षात्रिफलानीलमुत्पलम् ।
मधुकं क्षीरकाकोली मधुपर्णी निदिग्धिका ॥ ४३८ ॥
तत्साधुसिद्धं विज्ञाय शुचौ भाण्डे निधापयेत् ।
ऊर्ध्वपानमधःपानं मध्ये पानं च शस्यते ॥ ४३९ ॥
यावन्तो नेत्ररोगास्तान् पानादेवापकर्षति ।
आरक्ते रक्तदुष्टे च रक्ते चातिस्रुते तथा ॥ ४४० ॥
नक्तान्ध्ये तिमिरे काचे नीलिकापटलार्बुदे ।
अभिष्यन्देऽधिमन्थे च पक्ष्मकोपे च दारुणे ॥ ४४१ ॥
नेत्ररोगेषु सर्वेषु वातपित्तकफेषु च ।
अदृष्टिं मन्ददृष्टिं च वातपित्तप्रदूषिताम् ॥ ४४२ ॥
स्रवतो वातपित्ताभ्यां सकण्ड्वासन्नदूरदृक् ।
गृध्रदृष्टिकरं सद्यो बलवर्णाग्निवर्धनम् ।

सर्वनेत्रामयं हन्यात्त्रिफलाद्यं महाघृतम् ॥ ४४३ ॥

बृहत् त्रिफलाद्य घृत—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) का रस, भृङ्गराज का रस, अडूसा का रस, शतावरी का रस, बकरी का दूध, गुडूची का रस तथा आंवला का रस प्रत्येक एक २ प्रस्थ (एक सेर) इन सभी रसों के साथ घृत (दो सेर) और सिता (मिश्री), पीपर, मुनक्का, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), नीलकमल, मुलेठी, क्षीरकाकोली, मधुपर्णी, (मधूलिका 'मुलेठी' विशेष) तथा कण्टकारी (एक-एक छटांक) इन द्रव्यों का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। घृत सिद्ध हो जाने पर स्वच्छ घृत के वर्तन में रख दें। यह घृत भोजन के पहले, भोजन के वाद तथा भोजन के मध्य में पान करना प्रशस्त होता है। यह पान करने से नेत्र के सभी रोगों को दूर करता है। यह त्रिफलाद्य महाघृत नेत्र की लालिमा, दूषित रक्त, रक्तस्राव, रतौंधी, तिमिररोग, काचरोग, नीलिका, पटलगत रोग, नेत्रार्बुद, नेत्राभिष्यन्द, अधिमन्थ, भयंकर पक्ष्मकोप, वातिक, पैत्तिक तथा कफज सभी प्रकार के नेत्ररोग मे प्रशस्त है। वातपित्त से दूषित दृष्टि का नाश, मन्द दृष्टि, वातिक तथा पैत्तिक नेत्रस्राव, नेत्रकण्डू, आसन्न-दृष्टि तथा दूरदृष्टि को दूरकर गृध्र के समान दृष्टि को करनेवाला, शीघ्र ही वल, वर्ण तथा जाठराग्नि को वढ़ानेवाला और सभी प्रकार के नेत्ररोग को नाश करता है ॥ ४३६–४४३ ॥

नेत्रशूले लवणस्रुतिः—

सैन्धवं दधिसंघृष्टं ताम्रे नीलत्वमागतम्।
लवणस्रुतिरेवासौ पूरणान्नेत्रशूलहृत् ॥ ४४४ ॥

नेत्रशूल में लवणस्रुति—सेंधानमक को दही में मिलाकर ताँवा के वर्तन में रक्खें, जव नीला हो जाय तो छान ले इसी को 'लवणस्रुति' कहते हैं। यह लवणस्रुति नेत्र में लगाने से नेत्रशूल को दूर करती है ॥ ४४४ ॥

एकमेव हरेत्क्षिप्रं पैचूठ्यं सम्यगञ्जनात्।
हण्डिकालेपचूर्णं तु दुर्वारमपि देहिनाम् ॥ ४४५ ॥

एक ही पैचूठ्य अञ्जन अच्छी तरह अंजन करने से शीघ्र ही नेत्रशूल को दूर करता है। और हण्डिका लेप चूर्ण प्राणियों के भयंकर नेत्रशूल को भी दूर करता है ॥ ४४५ ॥

नेत्रस्रावे मरिचाद्यञ्जनम्—

मरिचांशः शिलार्धेन योजितः सुप्रचूर्णितः।
नेत्रस्रावं हरत्याशु नराणामयमञ्जनात् ॥ ४४६ ॥

नेत्रस्राव में मरिचाद्यञ्जन—मरिच एक भाग तथा मैनसिल आधा भाग

इन दोनों को अच्छी तरह चूर्ण बनाकर अंजन तैयार करे। यह अंजन नेत्र में लगाने से मनुष्यों के नेत्रस्राव को शीघ्र दूर करता है ॥ ४४६ ॥

यः संजातबलो दोषः शङ्खरौप्यशशिप्रभः।
पद्मपत्राम्बुबिन्द्वाभस्तं च नीली व्यपोहति ॥ ४४७ ॥

जिस नेत्रस्राव में दोषों की प्रबलता हो, शंख, चांदी, चन्द्रमा एवं कमलपत्र के जलबिन्दु के समान सफेद स्राव निकलता हो उस नेत्रस्राव को नीली वृक्ष (नीलिका) का अञ्जन दूर करता है ॥ ४४७ ॥

पटले शृङ्गवेराद्यञ्जनम्—

शृङ्गवेर भृङ्गराज यष्टीतैलेन मर्दितम्।
नस्यमेतेन दातव्य महापटलनाशनम् ॥ ४४८ ॥

पटलरोग में शृङ्गवेराद्यञ्जन—शृङ्गवेर (सोंठ) तथा भृङ्गराज को मुलेठी के तैल में मर्दन कर नस्य लेने से भयंकर पटलरोग को नाश करता है ॥ ४४८ ॥

दिवा तीक्ष्णाञ्जनप्रयोगनिषेधः—

दिवा न तु प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्।
विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति ॥ ४४९ ॥
तस्मात्स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते।
रात्रेश्चाम्भोगुणाच्चापि पुष्यत्यञ्जनकर्षितम् ॥ ४५० ॥
यथा हि कनकादीनां मणीनां विविधात्मनाम्।
धौतानां विमला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः ॥ ४५१ ॥
एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्चोतनादिभिः।
दृष्टिर्निराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत् ॥ ४५२ ॥

दिन में तीक्ष्ण अञ्जन प्रयोग का निषेध—दिन में तीव्र अञ्जन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अश्रुस्राव आदि विरेक (निकलने) के कारण दुर्बल दृष्टि दिन में सूर्य के तेज को पाकर और क्षीण हो जाती है। अतः रात्रि में ही तीव्र अञ्जन का प्रयोग, नेत्रस्राव आदि कराना चाहिए। क्योंकि रात्रि में जल का गुण होने के कारण अञ्जन से दुर्बल दृष्टि पुष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सोना तथा अनेक प्रकार के मणियों को अच्छी तरह शुद्धि तैल, चैल (कपड़ा) तथा बाल आदि के द्वारा होती है उसी प्रकार मनुष्यों के नेत्रों में अञ्जन तथा आश्च्योतन आदि के द्वारा दृष्टि स्वच्छ होकर सुशोभित होती है जैसे निर्मल आकाश में चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ ४४९–४५२ ॥

अञ्जनभेदाः—

त्रिधैवाञ्जनसंयोगो गुटिकारसचूर्णतः।

योज्या नेत्रे स्वच्छवस्त्रबद्धरोध्रादिपोटली ॥ ४५३ ॥

अञ्जन के भेद—गुटिका, रस तथा चूर्ण के संयोग से अञ्जन तीन प्रकार का होता है। स्वच्छ वस्त्र में बांधकर लोध की पोटली आंख में प्रयोग करनी चाहिए ॥ ४५३ ॥

रोध्रचूर्णसमं निम्बपत्रचूर्णमनेन च ।
बद्ध्वा पोटलिकां नीरे क्षिप्त्वा तामथ पीडयेत् ॥ ४५४ ॥
तद्रसो निर्मलो नेत्रपूरितः क्षणमात्रतः ।
श्लेष्मरोगं निहन्त्याशु नैर्मल्यं कुरुते तथा ॥ ४५५ ॥

लोध के चूर्ण के बराबर नीम की पत्ती के चूर्ण को लेकर पोटली में बांध ले और जल में छोड़ कर अच्छी तरह मसल दे। उससे जो स्वच्छ रस निकले उसको आंख में छोड़ दे। यह रस आंख में छोड़ने से शीघ्र ही नेत्र के श्लेष्म रोग (नेत्रस्राव) को नाश करता है और नेत्र को स्वच्छ बनाता है ॥ ४५४–४५५ ॥

नेत्ररोगे हरिद्रादिपिण्डिका—

हरिद्रारोध्रबब्बूलपुष्पाणि पुष्पतूरिका ।
फलत्रिकं कृता पिण्डिर्हन्ति नेत्रोद्भवां व्यथाम् ॥ ४५६ ॥

नेत्ररोग में हरिद्रादि-पिण्डिका—हल्दी, लोध, बबूल का पुष्प, पुष्पतूरिका (द्रव्यविशेष) तथा फलत्रिक (हर्रे, बहेड़ा, आंवला)—इन द्रव्यों को पीस कर बनाई हुई पिण्डी नेत्र में प्रयोग (पुल्टिस बांधना) करने से नेत्र में उत्पन्न पीड़ा को नाश करती ॥ ४५६ ॥

कफजनेत्ररोगे सैन्धवाद्यञ्जनम्—

लवणं सैन्धवं तक्रं मरिचं कांस्यभाजने ।
निघृष्य नेत्रयोर्दत्तं हन्ति रोगं कफोद्भवम् ॥ ४५७ ॥

कफज नेत्ररोग में सैन्धवाद्यञ्जन—सेन्धानमक, तक्र (मट्ठ) तथा मरिच के साथ ताम्र के पात्र में घिसकर आंखों में अंजन करने से कफजन्य नेत्ररोग को नाश करता है ॥ ४५७ ॥

स्त्रीपयो यावको हिङ्गुस्त्रयं नेत्रभृतं द्रुतम् ।
दहत्यक्ष्णोः स्थितं दुःखं शुष्कं दारु यथाऽनलः ॥ ४५८ ॥

स्त्री का दूध, यावक (यवक्षार) तथा हिंगु ये तीनों नेत्र में लगाने से या भरने से शीघ्र ही नेत्र की पीड़ा को जला (नाश कर) देते हैं। जैसे अग्नि सूखे लकड़ी को जला देती है ॥ ४५८ ॥

सर्वनेत्ररोगे पारदाद्यञ्जनम्

सूतकं गन्धकोपेतं चाङ्गेरीरसमूर्च्छितम् ।

अञ्जनं दृष्टिदं नृणां सर्वनेत्रामये हितम् ॥ ४५९ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में पारदाञ्जन—पारद तथा गन्धक मिलाकर चांगेरी (तीनपत्तिया) के रस में मूर्च्छित कर अञ्जन करने से मनुष्यों को दृष्टि को देने वाला है तथा सभी प्रकार के नेत्ररोग में हितकर है ॥ ४५९ ॥

अपामार्गशिफा घृष्टा मधुना सैन्धवेन च ।
ताम्रपात्रे भृता नेत्रे हन्ति पीडां तदुद्भवाम् ॥ ४६० ॥

अपामार्ग की जड़ मधु तथा सेन्धानमक के साथ ताम्रपात्र में घिसकर नेत्र में अञ्जन करना नेत्र की पीड़ा को नष्ट करती है ॥ ४६० ॥

नवनेत्रकोपे ताम्बूलादिरसयोगः—

ताम्बूलशिग्रुकरवीरशिरीषदन्ती-
श्यामादधित्थसुमनासुरसार्जकानाम् ।
प्रत्येकशो मधुयुतः स्वरसोऽञ्जनेन
कोपं नवं नयनयोः सहसैव हन्ति ॥ ४६१ ॥

नवीन नेत्र-प्रकोप में ताम्बूलादि रसयोग—ताम्बूल (पान), सहिजन, कनेर, शिरीष, दन्ती, काला निशोथ, कैथ, सुमना (चमेली), सुरसा (तुलसी) तथा अर्जक (तुलसीभेद सफेद बबई)—प्रत्येक द्रव्यों के स्वरस के साथ मधु मिलाकर अंजन करने से नेत्र के नवीन नेत्रकोप को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४६१ ॥

नेत्ररोगे धात्रीरसयोगः—

तरुस्थितनखोद्भिन्नपक्वामलकवारिणा ।
नेत्रयुग्मे भृते पीडा शीघ्रं शाम्यति देहिनः ॥ ४६२ ॥

नेत्ररोग में धात्री-रसयोग—पेड़ में लगे हुए परिपक्व आंवला को नख से भेदन कर निकाला हुआ जल (रस) दोनों आँखों में लगाने से मनुष्य की नेत्रपीड़ा को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४६२ ॥

अक्षिशूले सैन्धवादियोगः—

आयसे ताम्रपात्रे वा सैन्धवं दधिमर्दितम् ।
कांस्यघृष्टे निशाकृष्णे त्वञ्जनं चाक्षिशूलहृत् ॥ ४६३ ॥

अक्षिशूल में सैन्धवादि योग—लौहपात्र या ताम्रपात्र में सेन्धानमक दही मसल कर या कांसा के बर्तन में घिस कर रात्रि में अञ्जन करने से नेत्रशूल को दूर करता है ॥ ४६३ ॥

सर्वनेत्ररोगे रसाञ्जनादिलेपः—

रसाञ्जनाभयादारुगैरिकं सैन्धवान्वितम् ।
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥ ४६४ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में रसाञ्जनादि लेप—रसाञ्जन (सौवीरांजन), हर्रें, देवदारु, गेरू तथा सेन्धानमक समभाग लेकर इन द्रव्यों को जल में पीसकर नेत्र के बाहर लेप करने से सभी प्रकार के नेत्ररोग को दूर करते हैं ॥ ४६४ ॥

सर्वनेत्ररोगे सौगताञ्जनम्—

निशाद्वयाभयाकृष्णामांसीकुष्ठं विचूर्णितम् ।
सर्वनेत्रामयान् हन्यादेतत्सौगतमञ्जनम् ॥ ४६५ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में सौगताञ्जन—हल्दी, दारुहल्दी, हर्रें, पीपर, जटामांसी तथा कूठ, समभाग—इन द्रव्यों को चूर्ण कर अञ्जन करावे। यह 'सौगत अञ्जन' सभी प्रकार के नेत्ररोगों को नाश करता है ॥ ४६५ ॥

तिमिरे पिप्पल्याद्यञ्जनम्—

कणा करञ्जबीजानि त्रिफला च रसाञ्जनम् ।
रोध्रं स्वर्णफलं शुण्ठी काञ्जिकेनातिपेषयेत् ॥ ४६६ ॥
छायाशुष्कस्य तस्याथ गुटिका वारिचूर्णिता ।
निशान्ध्यं हन्ति तिमिरं कण्डूं चाम्लकसंयुता ॥ ४६७ ॥

तिमिररोग में पिप्पल्याद्यंजन—पीपर, करञ्ज का बीज, त्रिफला (हर्रें, बहेड़ा, आंवला), रसाञ्जन, लोध, स्वर्णफल (सुवर्ण कदली द्रव्य विशेष) तथा सोंठ—इन सभी द्रव्यों को कांजी के साथ अच्छी तरह पीसकर छाया में सुखाकर गुटिका बना ले और उसको जल में घिसकर बिजौरा नीबू का रस मिलाकर आंखों में अंजन करे। यह अंजन रतौंधी, तिमिररोग तथा नेत्रकण्डू को नाश करता है ॥ ४६६–४६७ ॥

तिमिरे शङ्खनाभ्याद्या वर्तिः—

शंखनाभी वचा पथ्या मरिचं कुष्ठमक्षजा ।
मज्जैताः समभागेन सपिष्टा नरवारिणा ॥ ४६८ ॥
वटिकां कारयेत्तेन छायाशुष्कां तदञ्जनात् ।
तिमिरं पिच्चिटं पुष्पं पटलं संप्रणश्यति ॥ ४६९ ॥

तिमिररोग में शंखनाभ्याद्या वर्ति—शंखनाभि, वच, हर्रें, मरिच, कूठ और बहेड़े की मज्जा समभाग—इन द्रव्यों को समान भाग मनुष्य के मूत्र के साथ पीसकर वटी बना कर छाया में सुखा ले। इस वटिका को घिसकर अंजन करने से तिमिररोग, पिच्चिट ,नेत्रपुष्प (फुल्ली) तथा नेत्रपटलगतरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ४६८–४६९ ॥

सर्वनेत्ररोगे त्रिफलादियोगः—

त्रिफला लोहचूर्णं च पटोली मधुयष्टिका ।
सर्वमेकांशतः पथ्या विभीतामलकं क्रमात् ॥ ४७० ॥

द्वित्र्यक्षिभागिकं रुद्रभागाः स्युस्तवराजकात् ।
सर्पिषा भक्षिते यान्ति विचूर्णेऽक्षिरुजोऽखिलाः ॥ ४७१ ॥

सभी प्रकार के नेत्ररोग में त्रिफलादि योग—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), लौहचूर्ण, पटोली (स्वादुपत्रफला 'पटोल विशेष'), मुलेठी एक २ भाग, हर्रे दो भाग, बहेड़ा तीन भाग, आंवला तीन भाग, तवराजक (तवराज शर्करा 'खण्डसार' शर्करा विशेष) ग्यारह भाग—इन सभी द्रव्यों को चूर्ण बनाकर घृत के साथ भक्षण करे। यह त्रिफलादि योग भक्षण करने से सभी प्रकार के नेत्र रोग दूर हो जाते हैं ॥ ४७०-४७१ ॥

नक्तान्ध्ये हरिद्राद्यञ्जनम्—

जातीपत्ररसे पिष्टं निशायुग्मं रसाञ्जनम् ।
निशान्ध्यं नाशयत्येव यथा पापं जिनः स्मृतः ॥ ४७२ ॥

रतौंधी में हरिद्राद्यञ्जन—चमेली के पत्ते के रस में आमाहल्दी, दारुहल्दी तथा रसाञ्जन पीसकर अञ्जन करने से रतौंधी को नाश करता है। जैसे जिन (जैन महावीर) स्मरण करने से पाप को नष्ट कर देते है ॥ ४७२ ॥

शुक्रे काचाद्यञ्जनम्—

काचचन्दनदक्षाण्डत्वगेलामधुसैन्धवैः ।
वारिपिष्टैः समैर्नेत्रे पुष्पादिहरमञ्जनम् ॥ ४७३ ॥

नेत्र शुक्र रोग में काचाद्यञ्जन—काच (काच लवण, सोचर नमक या कचिया नोन'), चन्दन, मुर्गी के अण्डे का छिलका, बड़ी इलायची, मुलेठी तथा सेन्धा नमक समभाग—इन द्रव्यों को जल के साथ महीन पीसकर नेत्र में अंजन करे। यह अञ्जन नेत्र-पुष्प, शुक्र (फुल्ली) आदि नेत्र रोगों को दूर करता है ॥ ४७३ ॥

पुष्पे चन्द्रप्रभा वर्तिः—

त्रिफला सैन्धवं लोहं चूर्णं त्रिकटुकं समम् ।
छगलीपयसा पक्वं छायाशुष्कं च तद्गुटी ॥ ४७४ ॥
दुग्धघृष्टा भृता नेत्रे पुष्पहृत्काञ्जिकेन सा ।
तिमिरं मधुना हन्ति पटलं च शिवाम्भसा ॥ ४७५ ॥
निशान्ध्यं कामलां हन्ति काकमाचीरसप्लुता ।
रम्भाम्भसा च श्वयथुं गुटी चन्द्रप्रभाभिधा ॥ ४७६ ॥

पुष्प रोग में चन्द्रप्रभा वर्ति—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), सेन्धा नमक, लोहा का चूर्ण, त्रिकटु, (सोंठ, पीपर, मरिच) समभाग—इन द्रव्यों को बकरी के दूध के साथ पकाकर गुटिका बनाले और छाया में सुखा लें। यह गुटी बकरी या स्त्री के दूध में घिसकर नेत्र में लगाने से या काञ्जी के साथ

घिसकर लगाने से पुष्प (फूली) को दूर करती है। मधु के साथ घिसकर लगाने से तिमिर रोग, दूर्वा के रस के साथ घिसकर लगाने से पटलगत रोग, काकमाची (मकोय) के रस के साथ घिसकर लगाने से रतौंधी तथा नेत्रगत कामला रोग को तथा केले के तने के रस के साथ घिसकर लगाने से नेत्रशोथ को नाश करती है ॥ ४७५–४७६ ॥

तिमिरादौ गुडूच्यादियोगः—

तिमिरकाचार्मकण्डूनेत्रप्रकोपपुष्पपटलानि ।
अपहरति नेत्ररोगान् गुडूचिरससैन्धवं मधुना ॥ ४७७ ॥

तिमिर आदि रोग में गुडूच्यादि योग—गुडूची का रस तथा सेंधा नमक मधु के साथ मिलाकर अञ्जन करने से यह योग तिमिररोग, काचरोग, अर्मरोग, नेत्रकण्डू, नेत्रप्रकोप, फूली तथा पटलगत नेत्ररोगों को दूर करता है ॥ ४७७ ॥

सैन्धवं वारिणा पिष्टं मधुकं कुठेरकम् ।
निहन्त्येष रसो नस्यान्निद्रां घूर्णां च वेगतः ॥ ४७८ ॥

सेंधा नमक, मुलेठी तथा कुठरी (बनभंटा) इन सबों को जल में पीसकर निकाला हुआ रस नस्य लेने से निद्रा तथा घूर्ण (घुमरी=आंख में चक्कर आना) को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४७८ ॥

पुष्पे भद्रमुस्ताञ्जनम्—

छागमूत्रेण सपिष्टभद्रमुस्ताञ्जनेन वै ।
चिरकालोद्भवं पुष्पं रक्तत्वं च विनश्यति ॥ ४७९ ॥

पुष्परोग में भद्रमुस्ताञ्जन—बकरी के मूत्र के साथ भद्रमुस्ता (नागरमोथा) पीसकर अञ्जन करने से चिरकालीन पुष्प (फुल्ली) तथा रक्तता नष्ट होती है ॥ ४७९ ॥

काचादौ जातिपुष्पादिगुटिका—

प्रत्यग्रजातिपुष्पाणि यावको रक्तचन्दनम् ।
गुटिका हन्ति काचान्ध्यं तिमिरं पटलं तथा ॥ ४८० ॥

काचादि में जातिपुष्पादि गुटिका—चमेली के पुष्प की कोढ़ी, यावक (यवक्षार) तथा रक्तचन्दन—इन द्रव्यों की गुटिका घिसकर नेत्र में लगाने से काचरोग, अन्धापन, तिमिररोग तथा पटलगत रोग को नाश करती है ॥४८०॥

नेत्ररोगाणां सामान्यचिकित्सा—

षट्सप्ततिर्नेत्रगता विकारास्तेषामभिष्यन्दसमुद्भवानाम् ।
श्लेष्माश्रयत्वादतिलङ्घनं प्राक् प्रशस्यते चापि रसौदनस्ततः ॥४८१॥
अतः परं च त्रिफलाकषायः पाने पटोलादिफलत्रिकाद्ये ।
घृते हिते कायविशोधनं च सरक्तसंशोधनमञ्जनादि ॥ ४८२ ॥

नेत्ररोगों की सामान्य चिकित्सा—आंख के छिहत्तर रोग बताये गये हैं। उनमें अभिष्यन्द से उत्पन्न होनेवाले रोगों के आश्रयीभूत (कारणभूत) श्लेष्मा होने के कारण सर्वप्रथम अधिकतर लङ्घन करना उत्तम होता है और इसके बाद मांसरस तथा भात खाना लाभदायक होता है। तदनन्तर त्रिफला कषाय का पान, पटोलादि[1] घृत का पान तथा फलत्रिकादि[2] घृत का पान हितकर होता है और वमन-विरेचनादि के द्वारा शरीर का संशोधन, रक्त का संशोधन एवं अंजन आदि का प्रयोग सभी प्रकार के नेत्ररोगों की सामान्य चिकित्सा है॥ ४८१-४८२॥

नेत्ररोगे पुनर्नवायोगः—

घृतेन पुष्पं मधुनाऽश्रुपात तैलेन कण्डूं तिमिरं जलेन।
रात्र्यन्धतां काञ्जिकयोगयुक्त्या पुनर्नवा नेत्रनवं करोति॥ ४८३॥

नेत्ररोग में पुनर्नवा योग—पुनर्नवा (गदहपूरना) की जड़ पीसकर घृत मिलाकर अंजन करने से पुष्प (फुल्ली), मधु के साथ मिलाकर अश्रुपात (आंखों में आंसू का आना), तैल के साथ नेत्रकण्डू, जल के साथ तिमिररोग तथा कांजी के साथ घिसकर प्रयोग (अञ्जन) करने से रतौंधी को नाश करती है और नेत्रको नवीन बना देती है॥ ४८३॥

पुष्पे तुत्थाद्यञ्जनम्—

तुत्थं च काचं च समुद्रफेनं मनःशिला माक्षिकलोहचूर्णम्।
नारं कपालं सह कुक्कुटाण्डमाजन्मजातं विनिहन्ति पुष्पम्॥४८४॥

पुष्परोग में तुत्थाद्यञ्जन—तुत्थ (तूतिया), काच (सोंचर नमक या कचियानोन), समुद्रफेन, मैनशिल, माक्षिक (स्वर्णमाक्षिक), लौहचूर्ण, मनुष्य की खोपड़ी तथा मुर्गी के अण्डे का छिलका समभाग—इन सभी द्रव्यों को एकत्र पीस कर अंजन तैयार करे। यह अंजन आंख में लगाने से जन्मजात (पुराना=जन्म के समय से ही उत्पन्न) पुष्परोग (फुल्ली) को नाश करता है॥ ४८४॥

पुष्पे गर्दभखुरयोगः—

रासभस्य खुरं दग्ध्वा तच्चूर्णं नेत्रपूरितम्।
पुष्पहृन्मत्स्यपित्तं च लोचनस्थं निशान्ध्यहृत्॥ ४८५॥

नेत्रपुष्प (फुली) रोग में गदहे के खुर का योग—गदहे के खुर को आग में जलाकर उसकी भस्म आंख में लगाने से नेत्रपुष्प (फुल्ली) रोग को दूर

1. गदनि पृ० ३६ में देखें।
2. ,, ,, ३५ में देखें।

करता है और मछली का पित्त आंख में लगाने से रतौंधी को दूर करता है ॥ ४८५ ॥

नेत्रपीडायां स्वेदयोगः—

काञ्जिके प्रक्षिपेत्तप्तामिष्टिकां तद्भवेन च ।
बाष्पेण स्वेदयेच्चक्षुर्महापीडोपशान्तये ॥ ४८६ ॥

नेत्रपीड़ा मे स्वेद योग—इष्टिका (ईंट) को आग में तपाकर कांजी में छोड़े और उससे उत्पन्न वाष्प (भाफ) से नेत्रों को स्वेदन करे । इसके स्वेदन से नेत्र की अत्यधिक बढ़ी हुई पीड़ा शान्त हो जाती है ॥ ४८६ ॥

वमनीवरपत्राणि दुग्धेनोत्क्वाथ्य यत्नतः ।
स्वेदयेच्चक्षुषी सम्यङ्नेत्रपीडोपशान्तये ॥ ४८७ ॥

वामनी (शणपुष्पी=वन सनई) के मुलायम पत्तों को प्रयत्नपूर्वक दूध में पकाकर उस के भाफ से नेत्रों की पीड़ा की शान्ति के लिये अच्छी तरह स्वेदन करे ॥ ४८७ ॥

शर्यातिं च सुकन्यां च च्यवनं शक्रमश्विनौ ।
ये भुक्त्वा संस्मरिष्यन्ति तेषां चक्षुर्न हीयते ॥ ४८८ ॥

इति श्रीवैद्यसोढलग्रथिते गदनिग्रहे तृतीये शालक्यतन्त्रखण्डे
नेत्ररोगाधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

जो लोग भोजन करने के बाद शर्याति, सुकन्या, च्यवन, इन्द्र तथा अश्विनीकुमारों को स्मरण करते है उनकी दृष्टिशक्ति क्षीण नहीं होती है ॥ ४८८ ॥

इति श्री वैद्य शोढलग्रथित तृतीय शालाक्य तन्त्रखण्ड में
तीसरा नेत्ररोगाधिकार समाप्त

अथ नासारोगाधिकारश्चतुर्थः।

अथातो नासिकारोगनिदानं व्याख्यास्यामः।

नेत्ररोगाधिकार के बाद नासिकारोग का निदान कहते हैं।

पीनसलक्षणम्—

आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ॥ १ ॥
त चानिलश्लेष्मभवं विकार ब्रूयात्प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्।

पीनसरोग का लक्षण—जिस व्यक्ति की नासिका (वायु के द्वारा शुष्क कफ से) भरी हो, सूख गई हो, गीलापन हो और उसमें जलन हो रही हो तथा जो गन्ध और रस का ज्ञान न कर सके, उस व्यक्ति को अपीनस (पीनस) नामक रोग से पीड़ित समझे। इसको वातकफजन्य विकार कहते है और इसमें प्रतिश्याय के समान लक्षण मिलते है ॥ १ ॥

विमर्श—नासिका शारीर तथा कार्य—गन्ध ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय को 'घ्राण' तथा उसके अधिष्ठानभूत स्थूल अवयव को 'नासिका' कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य भाग के अग्रभाग में त्वचा से आवृत मांसपेशी तथा पिछले भाग में अस्थि एवं तरुणास्थि के भाग रहते है। आभ्यन्तर भाग को 'नासिका गुहा' कहते है जो अस्थ्यावरण से आच्छादित अस्थि तथा तरुणास्थि के मध्यस्थित पर्दे से दो भागों में विभक्त रहती है। नासिका की पार्श्ववर्त्ती दीवारों के अन्दर की ओर तीन उभरे हुए स्थान होते है जिन्हें क्रमशः अधः, मध्य और ऊर्ध्व शुक्तिकायें कहते हैं। शुक्तिकायें श्लेष्मलकला से ढकी हुई अस्थिमय रचनावाली होती है। श्लेष्मलकला अधोभाग में प्रहर्षणधातु (Erectile tissuse) होते हैं। इन शुक्तिकावों (Conchaes) के वीच नासिका-पार्श्ववर्ती पोली हड्डियों (ऊर्ध्व [१]हन्वस्थि, [२]झर्झरास्थि और [३]जतुकास्थि के वायुविवरों[४]) से सम्बद्ध अनेक छिद्र होते है जिन्हे 'सुरंगा' कहते हैं। इन के द्वारा पूर्वोक्त विवरों का स्राव नासिका द्वारा वाहर निकलता है। एक सुरंगा[५] के द्वारा नासिकागुहा का सम्बन्ध नेत्र से भी रहता है। यह सुरंगा नासाश्रुवाही स्रोत[६] भी कहलाती है। इसी के द्वारा नासिका-रोगों का

---

१. Maxlllary. २. Ethmoid. ३. Sphenoid.
४ Air sinuses. ५. Duct. ६. Noso Iuchrimal duct.

प्रभाव नेत्रों के ऊपर भी पड़ता है, जैसे किसी तीक्ष्ण वस्तु की गन्ध से नेत्रस्राव होने लगता है या तीव्र प्रतिश्याय में अक्षिगोलकों में भी वेदना होने लगती है। पश्चात् भाग में नासागुहा का सम्बन्ध गले तथा उसके द्वारा श्वासप्रणाली से होता है। नासा की श्लेष्मलकला की पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें बाल के तरह अङ्कुर होते हैं। वे अपनी अनुलोमगति से नासास्थित स्राव आदि त्याज्य भागों को बाहर निकालते है और बाहर के असात्म्य पदार्थों को अन्दर प्रवेश करने से रोकते हैं। इनमें विकार होने से या इनके कार्य की विषमता से अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं।

नासिका का बाह्यभाग गन्ध-ग्रहण में सहायक है। यह गन्धवाही परमाणुओं को एकत्रित करके नासिकागुहा में फैले हुए घ्राणनाड़ी के अग्रभाग तक पहुँचा देता है और घ्राणनाड़ी के द्वारा गन्ध का ग्रहण होता है।

नासिका के अन्य निम्नलिखित कार्य होते हैं—

(अ) नासिका के भीतर आगे की ओर बाल होने से वायु के द्वारा धूल आदि असात्म्यपदार्थ नहीं जाने पाते।

(ब) स्वर ठीक रहता है—नासिकारहित व्यक्ति मिनमिन करके बोलते हैं।

(स) फुफ्फुस के अन्दर जानेवाली वायु को यह गीला तथा गरम करती है।

गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय का घ्राण-केन्द्र मस्तिष्क में असक नामक अवयव में रहता है। यही वस्तुतः घ्राणेन्द्रिय है स्वाभाविक या उपद्रव-स्वरूप घ्राणेन्द्रिय में विकार होने से गन्धज्ञान का अभाव अथवा विचित्र प्रकार के गन्धों का अनुभव हो सकता है।

मस्तिष्क के भीतर घ्राणकेन्द्र तथा रसकेन्द्र समीप मे ही रहता है। इसीलिये नासारोग उत्पन्न करनेवाले दोष से स्वाद या रसकेन्द्र के प्रभावित हो जाने से स्वाद में भी विकृति आ जाती है। इसी कारण से प्रतिश्याय में अत्यधिक स्वादिष्ट भोजन में भी किसी प्रकार के स्वाद का अनुभव नहीं होता है।

पीनस-अपीनस दोनों एक ही रोग के नाम हैं कहीं-कहीं प्रतिश्याय के पर्याय में भी उल्लेख मिलता है। [1]वाग्भट ने पीनस के प्रवृद्ध स्वरूप को

---

१. कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतास्यपीनसम्।
कुर्याद् घुर्घुरकं श्वासं पीनसाधिकवेदनम्॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका।
अजस्रं पिच्छिलं शीत पक्व सिंघाणकं घनम्॥ वाग्भ०

अपीनस संज्ञादी है। कहीं कहीं पर अपीनस को पित्तकफज माना है। "[1]मस्तुलुङ्ग' में जब संचित कफ पित्त से विदग्ध हो जाता है तब नासा के द्वारा लाल वर्ण का अथवा रक्त-मिश्रित चिपचिपे तथा अत्यधिक सिंहाणक (दुष्ट कफ 'नेटा') का स्राव होता है; खुजली, दाह और पाक होता है। इस लक्षणवाले रोग को 'अपीनस' कहते हैं।

इस रोग को सुश्रुत ने वात-कफज तथा कुछ अन्य आचार्यों ने पित्तकफज माना है। इसमें विरोध की प्रतीति हो रही है तथापि सम्प्राप्ति विशेष से दोषान्तर-सम्बन्ध और लक्षणों में भिन्नता हो सकती है, अतः दोनों ही की मान्यता है। आचार्य गदाधर 'अनिल' के स्थान पर 'अनल' शब्द रखकर इस रोग को पित्तकफज ही मानते हैं।

पूतिनासलक्षणम्—

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले संमूच्छितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम्॥ २॥

पूतिनास का लक्षण—जिस रोग में गले एवं तालु के मूल भाग में स्थित, विदग्ध दोषों से मिश्रित वायु दुर्गन्धित होकर मुख तथा नासा से निकलता है उस रोग को 'पूतिनास' (या पूतिनस्य) कहते हैं। अर्थात् जब गले और तालुमूल में स्थित दूषित पित्तकफ एवं रक्त के साथ मिल जाने से दुर्गन्धित होकर वायु मुख और नासिका से निकले तो उसे 'पूतिनस्य' कहना चाहिए।

विमर्श—आचार्य[2] विदेह ने पूतिनस्य लक्षण भिन्न प्रकार से किया है।

इन्होंने 'अपीनस' का नाम 'अवीनस' रखकर 'पीनस' तथा 'अपीनस' का झगड़ा दूर किया है। पीनस से अतिरिक्त 'अवीनस' होता है जो पीनस का वर्द्धमान स्वरूप है और उसमें नाक में कफ बढ़कर नासास्रोत को रोक देता है और अवीनस-नामक रोग पैदा करता है, श्वास में घुर्घुर शब्द सुनाई देता है। पीनस की अपेक्षा इसमें वेदना अधिक होती है। भेड़ की नाक के समान उसमें से नासास्राव होते रहने से नासिका सर्वदा क्लिन्न रहती है। नाक से हमेशा पिच्छिल, शीत, पका हुआ तथा गाढा स्राव होता रहता है।

१. मस्तुलुङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते।
तदासृक् पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं स्रवेत्॥
सकण्डू-दाहपाकं तु तं तु विद्यादपीनसम्॥

२. कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम्।
विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाक्षिशङ्खजाम्॥
ततः प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूति पीतकम्।
पूतिनस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डू-ज्वरप्रदम्॥ विदेह

कफपित्त और रक्त सिर में एकत्रित होकर उष्णता से विदग्ध हो जाते हैं और आंख तथा शंख प्रदेश में भयंकर वेदना को उत्पन्न करते हैं। इसके बाद नासा से दुर्गन्धित तथा पीले रङ्ग का रक्तमिश्रित स्राव निकलता है। नासिका में खुजली होती है तथा ज्वर भी उत्पन्न होता है। इस रोग को 'पूतिनस्य' कहते हैं (Atrophicrhinitis) एट्रोफिक राइनाइटिस की एक अवस्था है।

नासापाकलक्षणम्—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः।
त नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥ ३ ॥

नासापाक का लक्षण—जिस रोग में नासिका में स्थित होकर पित्त छोटी छोटी फुन्सियां उत्पन्न कर देता है अथवा नासिका में तीव्र पाक होता है या जिस रोग में नासिका में गीलापन और सड़न उत्पन्न हो उस रोग को 'नासापाक' कहते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—चरक के अनुसार नासापाक का लक्षण निम्न प्रकार है—

सदाहरागश्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्। अर्थात् नासापाक में पित्त के साथ रक्त भी कारण है। पहले नासिका-शोथ होता है उसके बाद नासिका पक जाती है। इसके कारण नासिका लाल हो जाती है और उसमें जलन होती है। अनेक छोटी छोटी फुन्सियां उत्पन्न होकर आपस में मिल जाती हैं और नासिका सूज जाती है। कभी कभी पहले से ही सम्पूर्ण नासिका शोथयुक्त होकर पक जाने पर उसमें गीलापन तथा सड़न हो जाती है। इसीको 'नासापाक' कहते हैं। इसको नासापुटगत विकार कह सकते हैं।

पूतिरक्तलक्षणम्—

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः।
नासा स्रवेत्पूयमसृग्विमिश्रं त पूतिरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ४ ॥

पूतिरक्त का लक्षण—जिस रोग में वात, पित्त, कफ आदि दोषों के विदग्ध (विकृति) होने से अथवा अनेक प्रकार के आघातों से, मस्तक पर चोट लगे हुये व्यक्ति की नासिका से रक्त से मिला हुआ पूय निकलता है उस रोग को 'पूतिरक्त' कहते हैं ॥ ४ ॥

क्षवथुलक्षणम्—

घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्त रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥ ५ ॥

क्षवथु का लक्षण—जिस व्यक्ति की नासिका से नासिका में स्थित मर्म में दूषित हुआ वायु कफ के साथ मिल कर तीव्र शब्द करता हुआ बार-बार निकलता है उसको 'क्षवथु' कहते हैं ॥ ५ ॥

तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घट्टितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ ६ ॥

तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन तथा क्षोभक वस्तुओं को सूँघने अथवा एक टक सूर्य को देखने से या सूत्र (तागा) और तृण आदि के द्वारा नासिका-तरुणास्थि-स्थित (फण[1]) मर्म अथवा तरुणास्थि तथा मर्म (शृङ्गाटक[2] मर्म) में क्षोभ होने से 'आगन्तुज क्षवथु' उत्पन्न होती है ॥ ६ ॥

विमर्श—क्षवथु (छींक) का आना शरीर की स्वाभाविक क्रिया है किन्तु जब वातादि दोषों से दूषित होकर नासिका से बार बार छींक निकलता है उसको रोग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है निज तथा आगन्तुज, निज—दुष्ट वायु के कफाश्रित होकर नासिकास्थित मर्म में स्थित होने से जो तीव्र शब्द निकलता है वह 'निज' या 'दोषज' कहलाता है किन्तु जब तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन तथा क्षोभक पदार्थों के सूंघने आदि से जो बार २ छींक निकलती है उसे 'आगन्तुज क्षवथु' कहते हैं।

भ्रंशथुलक्षणम्—

प्रभ्रश्यते नासिकयोर्हि यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफश्च।
प्राक्सञ्चितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

भ्रंशथु का लक्षण—जिसके सिर में पहले से संचित गाढ़ा विदग्ध तथा नमकीन कफ सूर्य के संताप से पिघल कर दोनों नासापुटों से गिरता है उसको 'भ्रंशथु' कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्श—क्षवथु का बार बार आक्रमण होने से भ्रंशथु-नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके बार बार आक्रमण होने से नासा की कला मोटी पड़ जाती है और उपसर्ग का प्रसार नासा-वायुविवरों की श्लेष्मल कला तक भी हो जाता है और वह भी मोटी पड़ जाती है। इसके मोटी होने के कारण वहां पर गाढ़े स्राव का संग्रह रहता है और गर्मी से पिघलकर नासिका से निकलता है—

न केवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्।
अन्यतोऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतो बलात् ॥

अतः उसके अवस्था-विशेष का नाम ही 'भ्रंशथु' है।

दीप्तलक्षणम्—

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिश्चरेद्धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥ ८ ॥

---

१. घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे (सु० शा० ६)

२. घ्राणश्रोत्राक्षि-जिह्वा-संतर्पणीयानां सिराणां मध्ये सिरासन्निपाताः शृङ्गाटकानि तानि चत्वारि मर्माणि ॥ (सु० शा० ६)

दीप्त का लक्षण—जिस रोगी के नासारोग में अत्यन्त दाहयुक्त नासिका से धूंये के समान वायु निकले और नासिका जलती हुई सी प्रतीत हो उस रोग को 'दीप्त' कहते है ॥ ८ ॥

विमर्श—वाग्भट के अनुसार—यह रोग रक्त के विदाह से उत्पन्न होता है—

रक्तेन नासादग्धेव बाह्यान्तःस्पर्शनासहा ।
भवेद् धूमोपमोच्छ्वासा सा दीप्तिर्दहतीव च ॥

प्रतिनाहलक्षणम्—

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

प्रतिनाह का लक्षण—जब वायु के साथ दूषित कफ श्वास-मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर देता है तो उस रोग को 'प्रतीनाह' कहते है ।

विमर्श—इस रोग को नासावरोध भी कह सकते हैं । नासा की रचना-सम्बन्धी विकृति (नासा-जवनिका की वक्रता तथा नासाविवरों का स्वाभाविक संकोच), नासा-कला की विकृति (नासाकला की वृद्धि, नासार्श तथा नासिका-गुहा में अत्यधिक स्राव का संचय) और नासा की नाड़ियों की अत्यधिक उत्तेजना (इसमें बार-बार शोथ होने से) नासा-कला मोटी हो जाती है और वह नासाभाग को रोक देती है) ये प्रतीनाह (नासावरोध) के कारण होते है ।

नासास्रावलक्षणम्—

घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम् ॥ ९ ॥

नासास्राव का लक्षण—नासिका से गाढ़ा (या अधिक) या पतला (या कम) पीले या सफेद वर्ण के दोष (कफ) का जो स्राव निकलता है उसे 'नासास्राव' कहते है ॥ ९ ॥

विमर्श—इस रोग को सुश्रुत ने 'नासा-परिस्राव' के नाम से निरूपण किया है और इसका प्रकोप रात्रि में अधिक होता है । वाग्भट तथा विदेह को भी यही समत है ।

अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्या विवर्णं स्रवतीह नासा ।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ॥

सु० उ० २२

नासापरिशोषलक्षणम्—

घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च ।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥ १० ॥

नासापरिशोष का लक्षण—जिस रोग में वायु से नासिका-स्रोत सूख

जाता है, पित्त से प्रतप्त हो जाता है और रोगी कष्ट से ऊपर तथा नीचे श्वास-क्रिया करता है उसे 'नासापरिशोष' कहते हैं ॥ १० ॥

पीनमस्यामपक्वलक्षणम्—

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः ।
क्षामः ष्ठीवेत्तथाऽभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥
आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

पीनस का आम तथा पक्व-लक्षण—जिसमें शिर में भारीपन हो, अरुचि, नासिका से पतला स्राव, क्षीण स्वर तथा बार-बार थूकने की प्रवृत्ति हो, ऐसे लक्षणों से युक्त पीनस रोग को 'आम पीनस' कहते है।

जिसमें आम कम होते हैं और गाढ़ा कफ नासा स्रोतों में चिपका रहता है। और रोगी का स्वर तथा वर्ण शुद्ध रहता है ऐसे लक्षण से युक्त पीनस रोग को 'पक्व पीनस' कहते हैं ॥ ११–१२ ॥

प्रतिश्यायलक्षणम्—

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पशोकैः ॥ १३ ॥
सस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेच्च ।
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक्समस्तास्तु तथैव शोणितम् ।
प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति ॥ १४ ॥

प्रतिश्याय का लक्षण—मूत्र-पुरीषादि वेगों का रोकना, अजीर्ण भोजन, धूलि-सेवन, अत्यधिक सम्भाषण, क्रोध, ऋतुओं की विषमता, सिर को कष्ट देनेवाला धूम-सदृश कारण, रात्रि में जागरण, अत्यधिक दिन में सोना, अत्यधिक ठण्डा जल एवं ओस का सेवन, अत्यधिक मैथुन करना, भाप और धूम का सेवन,' इन कारणों से घनीभूत श्लेष्मा के स्थान सिर में वायु प्रकुपित होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। पृथक् पृथक् या एक साथ मिले हुए वात, पित्त और कफ एवं रक्त सिर में संचित होकर और अनेक प्रकार के कारणों से प्रकुपित होकर प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं ॥ १३–१४ ॥

विमर्शः—प्रतिश्याय को बोल-चाल की भाषा मे 'सर्दी लगना' या 'जुकाम' होना कहते हैं। प्रतिश्याय का अर्थ होता है सामने के तरफ गमन करना अर्थात् वायु के अभिमुख (ओर) कफ-आदि का गमन जिस रोग में हो उसे 'प्रतिश्याय' कहते है "नासिका के मूल में स्थित कफ, रक्त तथा पित्त वायु से

---

१. घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा ।
मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति ॥ चरक

आध्मात सिर से वायु की ओर जाते हैं। 'वातं प्रति अभिमुखं श्यायो गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः (बहुव्रीहिः)' अर्थात् वायु की ओर या नासिका से बाहर की तरफ कफ आदि दोषों का जिसमें निकलने की प्रवृत्ति हो उसे 'प्रतिश्याय' कहते हैं। प्रति उपसर्गपूर्वक 'श्यैङ् गतौ' धातु से प्रतिश्याय की सिद्धि हुई है।

प्रतिश्याय के कारण दो वर्गों में विभक्त किये गये हैं। (१) सद्योजनक (आशुकारी) तथा (२) चयपूर्वक हेतु (चिरकारी)।

(१) सद्योजनक कारण :—मैथुन, शिरोभिताप, धूम, धूल, शीत, अधिक उष्णता तथा मल-मूत्रादि का वेगधारण आदि प्रथम श्लोक-कथित कारण सद्यः प्रतिश्याय के कारण हैं।

(२) कालान्तर-जनक (चयपूर्वक) हेतु :—वातादि दोषों का अलग-अलग या सभी मिलकर सिर में सञ्चित होना तथा रक्त का सिर में सञ्चित होना एवं क्रोध आदि द्वितीय श्लोक-कथित कारण कालान्तर प्रतिश्याय के कारण हैं। प्रतिश्याय को अंग्रेजी में एक्यूट राइनाइटिस, (Acute Rhinitis), कोराइजा (Coryza) या कामन कोल्ड (Common Cold) कहते हैं।

नासा-रोगों में प्रतिश्याय प्रधान रोग माना गया है। इससे नासिका के पीनस आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अधिक बढ़ने पर उचित उपचार न किया गया तो कास, श्वास तथा क्षय रोग की भी उत्पत्ति हो जाती है 'प्रतिश्यायाद्यो कासः कासात् संजायते क्षयः' (निदान)।

प्रतिश्याय की अवस्था में नासा की श्लेष्मल कला में सूजन आ जाती है। उसमें रक्ताधिक्य हो जाता है। अतः लालिमा तथा ग्रन्थियों का स्राव बढ़ जाता है और नासाद्वार से स्राव बाहर निकलने लगता है।

वात आदि दोषों का संचय अपने २ स्थानों में ही होता है तो अपने स्थान में संचित दोषों को अपने ही स्थान में प्रतिश्याय उत्पन्न करना चाहिए। सिर में उसकी उत्पत्ति कैसे बताई गई है यह आशंका होती है। यद्यपि दोष-संचय अपने स्थान पर ही होता है तथापि प्रकुपित होने पर प्रसार के द्वारा सिर में पहुंच जाता है। सुश्रुत के अनुसार प्रसर भी प्रकोप की एक अवस्था-विशेष है 'प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति' (सु० सू० २१) अर्थात् प्रकुपित दोषों का बासी सुराबीज, जल एवं पीठी के समान फैलाव होता है। इसीलिये 'चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां

---

१. नारीप्रसङ्गे शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः।
संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्॥
(सु० उ० त० २४)

यथाक्रमम्' आदि वाक्यों में प्रकोप का ही उल्लेख मिलता है, प्रसर का नहीं। अथवा दूसरा समाधान यह है कि वायु की ऊर्ध्व गति होने से उदान वायु सिर में भी रहती है। सिर मे स्थित त्वचा और सिराओं में पित्त और रक्त की भी उपस्थिति रहती है तथा कफ का सिर प्रधान स्थान है। अतः सिर में भी इन दोषों का सञ्चय माना जा सकता है। यहां पर सिर शब्द से सिर के कपाल में स्थित वायुविवरों (Air Stnuses) को समझना चाहिये।

प्रतिश्यायपूर्वरूपम्—

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽभिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥ १५ ॥

प्रतिश्याय का पूर्वरूप—

अत्यधिक छींकों का आना, सिर में अत्यन्त भारीपन, शरीर में अकड़न की प्रतीति, रोमाञ्च होना तथा अनेक प्रकार के उपद्रवों (तालुदारण, कण्ठध्वंस, मुखस्राव आदि) की उत्पत्ति—ये प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं ॥ १५ ॥

विमर्श :—उपद्रव शब्द से प्रतिश्याय के पूर्व होनेवाले अनेक विकारों का ग्रहण होता है। आचार्य विदेह ने इसके पूर्व के उपद्रवों को निम्न प्रकार से वर्णन किया है। यथा—

पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति।
घ्राणधूमायन मन्थः क्षवथुस्तालुदारणम् ॥
कण्ठध्वंसो मुखस्रावः शिरसः पूरणं तथा—इति।

अर्थात् नासा में धूम निकलने तथा मथने के सदृश प्रतीति, तालु फटने के समान पीड़ा, कण्ठध्वंस (गले का बैठना), मुख से स्राव निकलना तथा शिर में भारीपन आदि होना प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं।

पूर्वरूप के बाद रूपावस्था के (रोग होने के) लक्षण स्पष्ट होते हैं। नासिका से अधिक स्राव होने लगता है, आंखों से अश्रुस्राव होता है, ज्वर बढ़ जाता है, रोगी दौर्बल्य का अनुभव करता है तथा शिर में पीड़ा होती है। इन साधारण लक्षणों के अतिरिक्त दोषों के अनुसार दूसरे लक्षणों की भी उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥
भवेत्स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके।

वातिक प्रतिश्याय—वातिक प्रतिश्याय में नासिका में आनाह (वायु के कारण फूलना) तथा अवरोध होता है, नासा से पतला स्राव निकलता है, गला, तालु तथा ओठ सूखते हैं, शंख प्रदेश में सूई चुभाने जैसी वेदना होती

है, मुख का स्वाद नष्ट हो जाता है और स्वर का उपघात (स्वरभग) हो जाता है।

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात्स्रवति पैत्तिके ॥ १७ ॥
कृशोऽतिपाण्डुः सतप्तो भवेत्तृष्णाभिपीडितः।
सधूममग्निं सहसा वमतीव च मानवः ॥ १८ ॥

पैत्तिक प्रतिश्याय—पैत्तिक प्रतिश्याय में नासा से उष्ण तथा थोड़े पीले वर्ण का स्राव निकलता है। रोगी व्यक्ति दुबला, अत्यधिक पाण्डु वर्ण का, परेशानी से युक्त तथा गर्मी से पीड़ित रहता है। वह एकाएक धूमसहित अग्नि के समान गरम वमन सा करता है। अर्थात् मुख से अत्यधिक गरम वायु निकलती है ॥ १७–१८ ॥

घ्राणात्कफ कफकृते श्वेतपाण्डुर्व्रजेद्बहुः।
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः ॥ १९ ॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः।

श्लैष्मिक प्रतिश्याय—कफज प्रतिश्याय में नासिका से अधिक मात्रा में शीतल (या श्वेत) तथा पाण्डु वर्ण के कफ का स्राव होता है। रोगी का वर्ण तथा आंखें श्वेत वर्ण की हो जाती हैं, आखें सूज जाती हैं तथा सिर भारी हो जाता है। रोगी कण्ठ (गले), तालु, ओठ तथा सिर में अत्यधिक खुजली से पीड़ित रहता है।

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो योऽकस्मात्सन्निवर्तते ॥ २० ॥
सपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः[1]।
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां हि सर्वजे।

सान्निपातिक प्रतिश्याय—जिस व्यक्ति का प्रतिश्याय बार बार उत्पन्न होकर अपने आप विना कारण ही ठीक हो जाता है और पुनः हो जाता है और कभी पकता है और कभी अपक्व ही रहता है उसे "सन्निपातज प्रतिश्याय' कहते है। सन्निपातज प्रतिश्याय में पीनस रोग के सभी लक्षण मिलते हैं। (अतः पीनस-प्रतिश्याय का पर्यायवाची शब्द है)।

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥ २१ ॥
पुनरानह्यते चापि पुनर्विव्रियते तथा।
निःश्वासश्चातिदुर्गन्धो नरो गन्ध न वेत्ति च ॥ २२ ॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात्कृच्छ्रसाधनम्।

दुष्ट प्रतिश्याय का लक्षण—नासिका बार बार गीली होती है और सूख

---

१. नृणां दुष्टप्रतिश्यायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः।

जाती है, बार-बार उसमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है और बार बार खुल जाती है, श्वास अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त निकलता है और रोगी को गन्ध का ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त प्रतिश्याय को 'दुष्ट प्रतिश्याय' कहते हैं और यह कष्टसाध्य होता है।

विमर्श—दुष्ट प्रतिश्याय पाचों प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सन्निपातज तथा रक्तज) के प्रतिश्यायों का अवस्था-विशेष है। यह अवस्था प्रत्येक प्रतिश्याय में उत्पन्न हो सकती है। विरुद्धोपक्रम होने से यह कष्टसाध्य होता है।

रक्तजे च प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥ २४ ॥

रक्तज प्रतिश्याय—रक्तजन्य प्रतिश्याय में नासा (नाक) से रक्तस्राव होता है, रोगी के नेत्र ताम्र वर्ण के सदृश हो जाते हैं और वह उरोघात[1] से पीड़ित रहता है। उच्छ्वास (श्वास) तथा मुख से दुर्गन्ध निकलती है तथा वह रोगी गन्ध का ज्ञान नहीं कर पाता ॥ २३–२४ ॥

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २५ ॥
मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः स्निग्धश्वेतास्तथाऽणवः ।
क्रिमिजो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥ २६ ॥

सभी प्रकार के प्रतिश्यायों की असाध्यता—सभी प्रतिश्याय चिकित्सा न करनेवाले व्यक्ति के कालान्तर मे दूषित हो जाते है। प्रतिश्याय की इस अवस्था में सफेद, चिकने और सूक्ष्म कृमि पड़ जाते हैं और इसके लक्षण कृमिजन्य शिरोरोग के तुल्य होते हैं ॥ २५–२६ ॥

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान् ।
शोषाग्निसादकासान्वा वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ २७ ॥

प्रतिश्याय के उपद्रव—सभी प्रकार के प्रतिश्याय (पीनस) अधिक[1]

---

१. उरःक्षताङ्कुर-स्तम्भः पूतिकर्णकफोरसः ।
सकासः संज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः ॥ (तन्त्रान्तर)

१. चिकित्सा का अभाव या अपथ्य-सेवन से प्रतिश्याय दुष्ट प्रतिश्याय का रूप धारण कर लेता है और इससे पीनस या पूतिनस्य जैसे रोग हो जाते हैं। नासाविवरों में बढ़ने से नासाविवर-कलाशोथ उत्पन्न करता है। श्रुतिसुरंगा में उपसर्ग हो जाने से 'मध्यकर्ण-शोथ' होकर बधिरता हो जाती है। गन्ध-नाड़ी

बढ़ जाने से बहरापन, अन्धापन, गन्धज्ञान, शून्यता, नेत्रों के भयंकर रोग और शोथ, मन्दाग्निता तथा खांसी को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

अर्बुद सप्तधा शोफाश्चत्वारोऽर्शश्च षड्विधम् ।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥ २८ ॥

इति नासारोगनिदानम् ।

सात[1] प्रकार के अर्बुद, चार प्रकार के शोथ, छः प्रकार के अर्श तथा चार प्रकार के रक्तपित्त जो बताये गये हैं वे नासिका में भी होते हैं ऐसा समझना चाहिए ॥ २८ ॥

नासारोग-निदान समाप्त ।

अथातो नासारोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

नासिका रोग-निदान के बाद चिकित्सा को कहते हैं ।

वातिकप्रतिश्यायचिकित्सा—

वातिके तु प्रतिश्याये पिबेत्सर्पिर्यथाक्रमम् ।
पञ्चभिर्लवणैः सिद्धं प्रथमेन गणेन वा ॥ २९ ॥
नस्यादिषु विधिं कृत्स्नमवेक्षेतार्दितेरितम् ।

वातिक प्रतिश्याय की चिकित्सा—वातजन्य प्रतिश्याय में क्रम के अनुसार पञ्चलवणों (सेन्धा, सौवर्चल, विड, सांभर, सामुद्र) से सिद्ध तथा प्रथमगण (विदार्यादिगण[2]) से सिद्ध घृत का पान करे। अर्दितरोग में कहे हुए विधि को

पर प्रभाव होने से गन्धज्ञान का अभाव हो जाता है । गले और श्वासनलिका की ओर बढ़ने से श्वास-कास आदि उत्पन्न होते हैं ।

१. नासिका में एकतीस रोग होते है। अपीनस से पाँच प्रकार के प्रतिश्याय तक पन्द्रहरोग, वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस और मेदजनित सर्व साधारण छः अर्बुद तथा कर्णरोग के सदृश सात वा सान्निपातिक अर्बुद, वात, पित्त, कफ तथा सन्निपातजनित चार चार शोथ तथा अर्श, रक्तपित्त चार होने पर भी चारों रक्तपित्तत्व-सामान्य होने से एक, इस प्रकार नासिका के एकत्तीस रोग है ।

२. विदारीकन्द, एरण्ड; मेदासिंघो, वृश्चीव (पथरी), देवदारु, शूर्पपर्णी (माषपर्णी 'वन उड़द'), मुद्गपर्णी (वनमूग), कंडूकरी (केवाछ) । जीवन-ह्रस्व (शतावर, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक । सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू), गोपसुता (सारिवा), त्रिपादी (हसपादी);

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली-वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्यः ।
कण्डूकरी जीवन-ह्रस्वसंज्ञे द्वे पञ्चके गोपसुता त्रिपादी ॥

नस्य आदि में प्रयोग करे। (शताह्वादि-धूम्रपान—सौंफ, दालचीनी, बरियार, अरलू, एरण्डमूल, बेल की छाल तथा अमलतास—इन सभी द्रव्यों को मोम, चर्बी, घृत मिलाकर वर्ति बनाकर उसका धूम्रपान करे। घृत-मिश्रित सत्तू को जलाकर उसके धूंए नाड़ी-द्वारा नाक से पिलाने की क्रिया करे। इससे वातिक प्रतिश्याय शान्त होता है।

पित्तरक्तोत्थप्रतिश्यायचिकित्सा—

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥ ३० ॥
परिषेकान् प्रदेहांश्च कुर्यादपि च शीतलान् ।

पित्तरक्तोत्थ प्रतिश्याय की चिकित्सा—पैत्तिक प्रतिश्याय में मधुरादिगण की औषधियों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शीतल परिषेक तथा शीतल प्रदेह रखना चाहिए।

विमर्श—इसमें मधुर विरेचन, श्रीवेष्टकादि कल्क, श्रीवेष्टकादि राल, देवदारु, पतङ्ग, लालचन्दन, प्रियंगु, मधु-शर्करा, मुनक्का, मुलेठी, गिलोय, वन-गोभी, गम्भारी का फल—इन द्रव्यों का काढ़ा बनाकर मुख में धारण कर कुल्ला करना, धवादि तैल का नस्य—धवकी छाल, त्रिफला, त्रिवृत्, लोध्र, मुलेठी, गम्भारी तथा हल्दी समभाग में लेकर दशगुना दूध मिलाकर तिल का तैल पकावे। इस तैल के नस्य से 'पैत्तिक प्रतिश्याय' नष्ट होता है। भृङ्गराज स्वरस—पुटपाक-विधि से स्वरस निकाल कर नस्य देना चाहिए। पैत्तिक प्रतिश्याय की चिकित्सा रक्तज प्रतिश्याय में भी करना चाहिए। यदि रक्तज प्रतिश्याय में कृमि पड़ गये हों तो कृमिजन्य शिरोरोग में जो चिकित्सा कही गई है उसको करे। रक्तप्रतिश्याय में अधिक स्राव होने पर सरसो तथा आंवले को पीस कर शिर पर लेप करने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

कफजप्रतिश्यायचिकित्सा—

कफजे सर्पिषा स्निग्धं तिलमाषविपक्वया ॥ ३१ ॥
यवाग्वा वामयित्वा वा कफघ्नं क्रममाचरेत् ।

कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा—कफजन्य प्रतिश्याय में तिल तथा माष से सिद्ध घृत पान करावे या यवागू से वमन कराकर कफनाशक उपायों को करे।

विमर्श—कफनाशक कुछ प्रयोग—लंघन कर कफ सुखाना, पीले सरसों को

विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः ॥
(अ० सू०, अ० ५ १९.११)

पीसकर लेप करना, सैन्धवादि नस्य का प्रयोग। बलादि तैल का प्रयोग—बला, अतिबला, छोटी और बड़ी भटकटैया, वायविडङ्ग, गोखरू, सफेद विष्णुक्रान्ता, मुद्गपर्णी, रास्ना तथा पुनर्नवा—इन द्रव्यों से सिद्ध तैल का नस्य कफज प्रतिश्याय में हितकर है। त्रिवृतादि धूम्रपान, एवं दार्व्यादि धूम्रपान हितकर होता है।

प्रतिश्याये धूमपानयोगाः—

दार्वीङ्गुदीनिकुम्भैश्च किणिह्याः स्वरसेन च ॥ ३२ ॥
वर्त्योऽथ कृता योज्या धूमपाने यथाविधि।

प्रतिश्याय मे धूमपान योग—दारुहल्दी, इङ्गुदी तथा निकुम्भ (निशोथ)—इन द्रव्यों को पीसकर किणिही (अपामार्ग) के स्वरस के साथ वर्ति बनाकर विधिपूर्वक प्रतिश्याय में धूमपान करे।

घृततैलसमायुक्तं शिग्रुधूमं पिबेन्नरः ॥ ३३ ॥
प्रतिश्यायहरं प्रोक्तं कासहिक्कानिवारणम्।

घृत तथा तैल मिलाकर सहिजन का धूमपान करे। यह प्रतिश्याय को दूर करता है तथा कास (खांसी) तथा हिचकी को शान्त करनेवाला है।

अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसंपुटे ॥ ३४ ॥
नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत्।

अथवा वैद्य सत्तू में घृत मिलाकर मल्लक-सम्पुट (केला के पुष्प के समान ऊर्ध्वमुखवाला यन्त्र विशेष 'चिलम') में जलाकर नवीन प्रतिश्याय के रोगियों के लिये धूम का प्रयोग करे। (या घृतमिश्रित सत्तू को जलाकर उसके धूवें को नाडीयन्त्र के द्वारा नाक में धूम का प्रयोग करे।)

प्रतिश्याये जयापत्रयोगः—

पुटपक्वं जयापत्रं सिन्धुतैलसमन्वितम् ॥ ३५ ॥
प्रतिश्यायेषु सर्वेषु शीलितं परमौषधम्।

प्रतिश्याय में जयापत्र योग—जया (अरणी) के पत्तों में सेन्धानमक तथा तैल मिलाकर पुटपाक-विधि से स्वरस निकाल कर प्रतिश्याय में नस्य दे। यह नस्य सभी प्रकार के प्रतिश्याय में लाभप्रद उत्तम औषध है।

प्रतिश्याये सामान्यचिकित्सा—

शिरसोऽभ्यञ्जनस्वेदनस्यकट्वम्लभोजनैः ॥ ३६ ॥
वमनैर्घृतपानैश्च तान् यथास्वमुपाचरेत्।

प्रतिश्याय में सामान्य चिकित्सा—प्रतिश्याय में सिर का अभ्यंजन, स्वेदन, नस्य, कटु तथा अम्लरस-मिश्रित भोजन, वमन तथा घृतपान—इन प्रयोगों को आवश्यकतानुसार करे।

प्रतिश्यायेऽवपीडनस्ययोगः—

पिप्पल्यः शिग्रुबीजानि विडङ्गं मरिचानि च ॥ ३७ ॥
अवपीडः प्रशस्तोऽय प्रतिश्यायनिवारणः ।

प्रतिश्याय में अवपीडनस्त योग—पीपर, सहिजन का बीज, विडङ्ग तथा मरिच इन द्रव्यों का अवपीड नस्य (नाक में टपकाना) प्रशस्त होता है। यह नस्य प्रतिश्याय को दूर करनेवाला है।

प्रतिश्याये व्योषादियोगः—

व्योषं पृथक्समस्तं वा जम्बीरार्द्रकनागरम् ॥ ३८ ॥
गुड शुक्तं प्रतिश्यायी प्राग्भक्तमुपयोजयेत् ।

प्रतिश्याय में व्योषादि योग—प्रतिश्याय से पीड़ित रोगी व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) को अलग-अलग या एक साथ बिजौरा नींबू का रस, अदरक या सोंठ, गुड़ तथा शुक्त इन द्रव्यों को भोजन के पहले प्रयोग करे।

प्रतिश्याये पञ्चमूलतोयम्—

पञ्चमूलबलाकोलकुलत्थयवनागरैः ॥ ३९ ॥
प्रतिश्यायेऽन्नपानेषु कार्यस्तोयपरिग्रहः ।

प्रतिश्याय में पञ्चमूलतोय—पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी तथा गोखरू), बरियार, बैर, कुलथ, यव तथा सोंठ, समभाग इन सभी द्रव्यों के क्वाथ को प्रतिश्याय रोग में मनुष्य भोजन के साथ पीने के लिये प्रयोग करे।

नवप्रतिश्याये पाचनयोगौ—

ऊषण गुडसंयुक्त स्निग्धं दध्यम्लभोजनम् ॥ ४० ॥
नवप्रतिश्यायहर विशेषात्कफपाचनम् ।

नवीन प्रतिश्याय में दो पाचन योग—मरिच, गुड, घृत, दही तथा अम्ल पदार्थ का भोजन करना, नवीन प्रतिश्याय को दूर करता है और विशेषकर कफ का पाचन करता है।

व्योषक्षवकजम्बीरशिग्रुकाणां च भक्षणात् ॥ ४१ ॥
आशु याति परीपाकं प्रतिश्यायः कफात्मकः ।
ततः पक्वं कफं ज्ञात्वा हरेच्छीर्षविरेचनैः ॥ ४२ ॥

व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), क्षवक (अपामार्ग का बीज), बिजौरा, नींबू तथा सहिजन इन द्रव्यों को खाने से कफजन्य प्रतिश्याय शीघ्र ही परिपक्व हो जाता है। इसके बाद परिपक्व कफ को जानकर शिरोविरेचन के द्वारा दूर करे ॥ ४१–४२ ॥

पीनसे दधियोगः—

गुडमरिचविमिश्रं पीतमाशु प्रकामं
हरति दधि नराणां पीनसं दुर्निवारम् ।
यदि च सघृतमन्नं क्षुण्णगोधूमवल्लैः
कृतमपहृतदोषं तत्कुतोऽस्यावकाशः ॥ ४३ ॥

पीनसरोग में दधियोग—गुड़ तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर अपनी इच्छा के अनुसार दही का सेवन करने से मनुष्यों के भयंकर पीनस रोग को शीघ्र ही दूर होता है। यदि गेहूँ के आटे में गुड़ मिलाकर घी में पकाया हुआ हलुआ, मालपूआ तथा अपूप भक्षण करे तो दोषों के नष्ट हो जाने पर पीनस रोग होने का कैसे अवसर मिल सकता है। अर्थात् गेहूँ के आटे का घी में बना हुआ हलुआ, मालपूआ, लपसी आदि सेवन करने से पीनसरोग नहीं होता है और उत्पन्न हुआ पीनस रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

पीनसे कतिपययोगानामतिदेशः—

पञ्चमूलीशृत क्षीरं स्याच्चित्रकहरीतकी ।
सर्पिर्गुडः षडङ्गश्च यूष. पीनसशान्तये ॥ ४४ ॥

पीनसरोग में कुछ योगों को सेवन करने का विधान—पीनसरोग की शान्ति के लिये पञ्चमूली (सरिवन, पिठवन, वनभटा, भटकटैया तथा गोखरू) के क्वाथ से सिद्ध दूध, चित्रक-हरीतकी रसायन, घृत, गुड़ तथा षडङ्गयूष को सेवन करे ॥ ४४ ॥

पीनसे व्योषाद्य चूर्णम्—

व्योषचित्रकतालीसतिन्तिडीकाम्लवेतसम् ।
सचव्याजाजितुल्यांशमेलात्वकपत्रपादिकम् ॥ ४५ ॥
व्योषादिकमिदं चूर्णं पुराणगुडसंयुतम् ।
पीनसश्वासकासघ्नं रुचिस्वरकरं परम् ॥ ४६ ॥

पीनसरोग में व्योषाद्यचूर्ण—व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), चित्रक, तालीसपत्र, तिन्तिडीक (इमली), अम्लवेंत, चव्य तथा अजाजी (जीरा), समभाग, बड़ी इलायची, दालचीनी तथा तेजपत्र चौथाई २ भाग, इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर महीन चूर्ण बनावे और इसमें पुराना गुड़ मिलाकर (छ मास की मात्रा में) सेवन करे। यह व्योषादिक चूर्ण पीनसरोग, श्वासरोग तथा खांसी को नाश करता है और रुचि को बढ़ानेवाला तथा उत्तम स्वर को बनाने वाला है ॥ ४५–४६ ॥

कफपीनसे पाठाद्यं तैलम्—

पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः ।

दन्त्या च तैलं संसिद्धं नस्यं स्यात्कफपीनसे ॥ ४७ ॥

कफजन्य पीनस में पाठाद्य तैल—पाठा (पाढ़ी), दारुहल्दी, हल्दी, मूर्वा (मड़ोरफली या 'मोरवेल'), पीपर, चमेली का पत्ता तथा दन्ती समभाग इन द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध तैल का नस्य कफजन्य पीनस रोग में करे। (तैल के चौगुना उपरोक्त द्रव्यों का क्वाथ तथा तैल के चौथाई उन्हीं द्रव्यों के कल्क के साथ तैल[1] निर्माण विधि के अनुसार तैल पकावे) ॥ ४७ ॥

नासारोगे शिग्रुकतैलम्—

शिग्रुदन्तीवचाव्योषक्षुद्रास्वरससैन्धवैः ।
नस्यदानाज्जयेत्सिद्धं तैलं नासागतान् गदान् ॥ ४८ ॥

नासारोग में शिग्रुक (सहिजन) का तैल—सहिजन, दन्तीमूल, वच, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), क्षुद्रा (भटकटैया) का स्वरस तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क के साथ (तैल निर्माण विधि के अनुसार) तैल सिद्ध करे। यह तैल नाक में नस्य देने से सभी प्रकार के नासिका-रोगों को नाश करता है ॥ ४८ ॥

लाङ्गलीकन्दसुरसव्योषकुष्ठैः सकट्फलैः ।
नस्यं तु पीनसं हन्यात्पूतिनासं च दारुणम् ॥ ४९ ॥

लाङ्गली (कलिहारी) का कन्द, तुलसी, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), कूठ तथा कट्फल (कायफर) समभाग—इन द्रव्यों के चौगुना तिल का तैल लेकर पकावे। यह तैल नस्य देने से पीनस भयकर पूतिनासा (नासिका रोग) को नाश करता है ॥ ४९ ॥

पूतिनासे सुरसादितैलम्—

सुरसव्योषकुष्ठैस्तु लाक्षाकट्फलयोजितैः ।
सविडङ्गैः पचेत्तैलं सार्षपं पूतिनाशनम् ॥ ५० ॥

पूतिनासरोग में सुरसादि तैल—सुरस (तुलसी भेद), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), कूठ, लाख, कायफर तथा विडङ्ग समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ कल्क के चौगुना सरसों का तैल तैल-निर्माण विधि के अनुसार पकावे। यह सुरसादि तैल पूतिनास रोग को नाश करता है ॥ ५० ॥

नासारोगे विडङ्गाद्य तैलम्—

विडङ्गसिन्धुयष्ट्याह्वैर्देवदारुकटुत्रिकैः ।
पचेन्नासामयार्तिघ्नं तैलं नस्यप्रयोगतः ॥ ५१ ॥

नासारोग में विडङ्गाद्य तैल—वायविडङ्ग, सेन्धानमक, मुलेठी, देवदारु

---

१. तैल-निर्माण-विधि गदनि० प्र० ख० पृ० ७२ में देखें।

तथा कटुत्रिक (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार कल्क के चौगुना तैल तथा तैल के चौगुना जल या इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ के साथ) तैल पकावें। यह तैल नस्य के लिये प्रयोग करने से नासारोग को नाश करता है ॥ ५१ ॥

पूतिनासे त्रिकट्वाद्यं तैलम्—

त्रिकटुकविडङ्गसैन्धव-बृहतीफलशिग्रुसुरसदन्तीभिः।
तैलं गोजलसिद्धं नस्यं स्यात्पूतिनासस्य ॥ ५२ ॥

पूतिनासरोग में त्रिकट्वाद्य तैल—त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), वाय विडङ्ग, सेन्धानमक, वनभंटा का फल, सहिजन का बीज, तुलसी तथा दन्तीमूल समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ कल्क के चौगुना तैल तथा तैल के चौगुना गाय का मूत्र लेकर तैल सिद्ध करे (तैलनिर्माण-विधि के अनुसार) यह तैल नस्य देने से पूतिनास रोग को नाश करता है ॥ ५२ ॥

पीनसे कलिङ्गाद्यवपीडस्तैलं च—

कलिङ्गहिङ्गुमरिचं लाक्षासुरसकट्फलम् ।
कुष्ठोग्राशिग्रुजन्तुघ्नमवपीडः प्रशस्यते ॥ ५३ ॥

पीनसरोग में कलिङ्गाद्यवपीड तथा तैल—कलिंग (वहेड़ा), हिंगु, मरिच, लाख, तुलसी, कायफर, कूठ, उग्रा (वच), सहिजन का बीज तथा जन्तुघ्न (वायविडङ्ग) समभाग—इन द्रव्यों का अवपीड नस्य पीनसरोग में प्रशस्त होता है (इन द्रव्यों के कल्क का रस नाक में छोड़े) ॥ ५३ ॥

तैरेव मूत्रसंपिष्टैः कटुतैलं विपाचयेत् ।
अपीनसे पूतिनासे शमनं कीर्तितं परम् ॥ ५४ ॥

इन्हीं पूर्वोक्त द्रव्यों को गाय के मूत्र के साथ पीसकर कल्क बनावे और उसके साथ सरसों का तैल तैल-निर्माण विधि के अनुसार (कल्क के चौगुना सरसों तैल तथा तैल के चौगुना जल मिलाकर) पकावे। यह तैल अपीनसरोग तथा पूतिनासरोग को अच्छी तरह शान्त करनेवाला कहा गया है ॥ ५४ ॥

हिङ्ग्वादितैलम्—

हिङ्गुव्योषविडङ्गकट्फलवचारुक्तीक्ष्णगन्धायुतै-
र्लाक्षाहेमवतीकलिङ्गकयवैः पुष्पोद्भवैः सौरसैः ।
इत्येभिः कटुतैलमेतदनले मन्दे समूत्रं शृतं
पीतं नासिकया यथाविधि भवेन्नासामयिभ्यो हितम् ॥ ५५ ॥

हिङ्ग्वादि तैल—हिंगु, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), वायविडङ्ग, कायफर, वचा, रुक् (कूठ), तीक्ष्णगन्धा (वचाविशेष या शङ्खपुष्पी), लाख, हेमवती (सत्यनाश), कलिङ्गक (वहेड़ा), यव तथा तिलक वृक्ष का स्वरस समभाग

इन द्रव्यों के कल्क के साथ गाय के मूत्र में मन्दाग्नि से सिद्ध सरसों का तैल विधिपूर्वक नासिका के द्वारा पान करने से (नस्य लेने से) नासिकारोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिये हितकर होता है ॥ ५५ ॥

नासापाकचिकित्सा—

पञ्चवल्कलिकालेपः सेकश्चैव प्रशस्यते ।
नासापाकरुजार्तानां नराणां संप्रशान्तये ॥ ५६ ॥

नासापाक की चिकित्सा—नासापाक रोग से पीड़ित व्यक्तियों के नासापाक-शान्ति के लिये पञ्चवल्कलिका (वट, गूलर, पीपल, पाकड़ तथा वेत) का लेप तथा सेक करना लाभदायक होता है ॥ ५६ ॥

नासापाके पित्तहृद्यद्विधानं कार्यं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरं च ।
हार्यं रक्तं क्षीरवृक्षत्वचश्च योज्याः सेके साज्यकाश्च प्रदेहाः ॥ ५७ ॥

नासापाक में पैत्तिक नासिका-रोगों को दूर करने के लिये जो जो बाह्य तथा आभ्यन्तर उपचार का विधान किया गया है—उन सभी उपचारों को करना चाहिए। तथा रक्तनिर्हरण करना चाहिए और क्षीरी वृक्ष (गूलर) की छाल सेकने के लिये एवं उसका कल्क घृत मिलाकर प्रदेह (पुल्टिस) के लिये प्रयोग करे ॥ ५७ ॥

पूतिरक्तचिकित्सा—

पूयास्रे रक्तपित्तघ्ना कषाया नावनानि च ।

पूतिरक्त की चिकित्सा—पूतिरक्त में रक्तपित्त को नाश करनेवाले कषाय तथा नावन (नस्य) का प्रयोग करे।

क्षवथौ शुण्ठ्याद्यं तैलम्—

शुण्ठीकुष्ठकणाबिल्वद्राक्षाकल्ककषायवत् ।
साधितं तैलमाज्यं वा नस्यं क्षवथुरुक्प्रणुत् ॥ ५८ ॥

क्षवथु में शुण्ठ्याद्य तैल—सोंठ, कूठ, पीपर, बेल का गूदा तथा मुनक्का, समभाग—इन द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ तैल या घृत नस्य देने से क्षवथु (छींक) रोग को नाश करता है। (घृत या तैल के चौगुना उपरोक्त द्रव्यों का क्वाथ तथा चौथाई कल्क लेकर तैल-निर्माण-विधि के अनुसार तैल या घृत सिद्ध करना चाहिए) ॥ ५८ ॥

क्षवथुचिकित्सा—

घृतगुग्गुलुमिश्रस्य सिक्थकस्य प्रयत्नतः ।
धूमं क्षवथुरोगघ्नं भ्रंशथुघ्नं च बुद्धिमान् ॥ ५९ ॥

क्षवथु (छींक) रोग की चिकित्सा—बुद्धिमान व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक मोम,

गुग्गुलु तथा घृत मिलाकर उसके धूम का प्रयोग करे। यह धूम क्षवथुरोग तथा भ्रंशथुरोग को नाश करता है ॥ ५९ ॥

दीप्तचिकित्सा—

दीप्ते रोगे पत्तिके पैत्तिकं च कार्यं कुर्यात्स्वादु यच्छीतलं च।

दीप्त चिकित्सा—पैत्तिक दीप्तरोग में पित्तनाशक मधुर एवं शीतल उपचारों को करना चाहिए।

नासानाहचिकित्सा—

नासानाहे स्नेहपानं प्रधान स्निग्धा धूमा मूर्धबस्तिश्च नित्यम् ॥६०॥

नासानाह की चिकित्सा—नासानाहरोग में स्नेहपान प्रधान उपचार है और स्निग्ध धूम तथा मूर्धवस्तियों का प्रतिदिन प्रयोग करना प्रशस्त होता है ॥ ६० ॥

नासार्शश्चिकित्सा—

रक्तकरवीरपुष्पं जात्यसनमल्लिकानां च।
एतैः समं तु तैल नासार्शोनाशनं दृष्टम् ॥ ६१ ॥

नासार्श की चिकित्सा—लाल कनेर, चमेली, असन (विजयसार) तथा मल्लिका (मेंहदी) के पुष्पों के बराबर तैल मिलाकर लगाने से नासार्श नष्ट होता है ॥ ६१ ॥

गृहधूमकणादारुक्षारनक्ताह्वसैन्धवैः।
सिद्ध शिखरिबीजैश्च तैल नासार्शसे हितम् ॥ ६२ ॥

गृहधूम (रसोईघर का धूम), पीपर, देवदारु, यवक्षार, नक्ताह्व (कलिहारी), सेन्धानमक तथा अपामार्ग के बीज समभाग—इन द्रव्यों के कल्क एवं क्काथ से (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध तैल नासार्श के लिये हितकर होता है ॥ ६२ ॥

नासाप्रवृत्तरक्तपित्तचिकित्सा—

हरीतकीदाडिमपुष्पदूर्वालाक्षारसो नस्यविधानयोगात्।
निवारयत्येव चिरप्रवृद्ध नृणां तु नासान्तरशोणितौघम् ॥ ६३ ॥

नासिका से निकलते हुए रक्तपित्त की चिकित्सा—हर्रे, अनार का फूल, दूर्वा तथा लाख का रस, समभाग—इन द्रव्यों का रस नस्य लेने से मनुष्यों के पुराने समय से वढ़े हुए नासिका से निकलते हुए रक्तसमूह को रोक देता है ॥ ६३ ॥

संपेषितः पर्युषितोदकेन पटान्तनिश्चोतितनिर्मलश्च।
घ्राणोद्भवार्शांसि निहन्ति सद्यो नस्येन कन्दः कटुतुम्बिकायाः ॥६४॥

कड़वी तुम्बी (कड़वी कद्दू) का कन्द बासी जल से पीसकर कपड़ा से

छानकर निकाले हुए निर्मल रस का नस्य देने से नासिकार्श को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ६४ ॥

वारिपिष्टं त्रयं दूर्वा कुसुम्भी दाडिमीफलम् ।
नस्यतो नासिकारक्त स्तम्भयेत्प्रवहद्बहु ॥ ६५ ॥

दूर्वा, कुसम्भी (वर्रे का फूल) तथा अनार का फल, इन तीनों द्रव्यों को जल के साथ पीसकर इसके रस को छान कर नस्य लेने से अत्यधिक निकलते हुए नासिका के रक्त को रोक देता है ॥ ६५ ॥

जम्बूपत्ररसो दूर्वारसो दाडिमपुष्पयुक् ।
नासायां नस्यतो रक्तं पतद्धारयतेऽनिशम् ॥ ६६ ॥

जामुन के पत्ते का रस, दूर्वा का रस, अनार के पुष्प का रस इन रसों को मिलाकर तथा छान कर नासिका में नस्य देने से निरन्तर निकलते हुए रक्त को रोक देता है ॥ ६६ ॥

निपतद्धारयेद्रक्तं नासायां गोघृतान्विता ।
शर्करा नस्यतोऽवश्यमापदं कालिका यथा ॥ ६७ ॥

नासिका में गाय का घी तथा शक्कर को मिलाकर नस्य देने से निकलते हुए रक्त को अवश्य ही रोक देता है । जैसे कालिका आपत्ति को आने से रोक देती है ॥ ६७ ॥

शङ्खगैरिकयोः कल्कं धातक्या मधुकस्य वा ।
घ्राणस्रावास्रजित्प्रोक्तं योषित्क्षीरेण नावनम् ॥ ६८ ॥

शंख तथा गेरु का कल्क या धाय के फूल एवं मुलेठी का कल्क स्त्री के दूध के साथ मिलाकर नावन (नस्य) लेने से नाक से निकलते हुए रक्त को जीत लेता है । अर्थात् निकलते हुए रक्त को रोक देता है ॥६८॥

नस्यो दाडिमपुष्पोत्थो रसो दूर्वोद्भवोऽथवा ।
आम्रास्थिजः पलाण्डोर्वा नासिकापूतिरक्तजित् ॥ ६९ ॥

अनार के फूल का रस, दूर्वा का रस, या आम के लकड़ी का रस अथवा प्याज का रस नस्य देने से नासिका से निकलते हुए दुर्गन्धित रक्त को जीत लेता है ॥ ६९ ॥

पूतिनासे व्याघ्रयाद्यं तैलम्—

व्याघ्रीदन्तीवचाशिग्रुसुरसव्योषसैन्धवैः ।
पाचितं नावनात्तैलं पूतिनासगदापहम् ॥ ७० ॥

पूतिनासरोग में व्याघ्रयाद्य तैल—व्याघ्री (भटकटैया), दन्ती, वचा, सहिजन का बीज, तुलसी, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) तथा सेन्धानमक,

समभाग इन द्रव्यों से (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध किया हुआ तैल नस्य देने से पूतिनासरोग को नाश करता है ॥ ७० ॥

पीनसे कतिपययोगाः—

मरीचगुडमिश्रेण दधिपानेन शाम्यति ।
पीनसो वल्लगोधूमक्षिप्राभोजनतोऽथवा ॥ ७१ ॥

पीनस रोग में कुछ योग—मरिच का चूर्ण तथा गुड़ मिलाकर दही पीने से पीनसरोग शान्त होता है अथवा गेहूं के दरिया की खीर खाने से पीनसरोग शान्त होता है ॥ ७१ ॥

नासारोगे गृहधूमाद्यं तैलम्—

गृहधूमकणादारुक्षारनक्ताह्वसैन्धवैः ।
सिद्धं शिरीषबीजैश्च तैलं नासागदापहम् ॥ ७२ ॥

नासारोग में गृहधूमाद्य तैल—भोजनालय का धूम, पीपर, देवदारु, यवक्षार, कलिहारी, सेन्धानमक तथा शिरीष का बीज समभाग—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल (तैलनिर्माण-विधि के अनुसार) नस्य लेने से नासिका के रोगों को दूर करता है ॥ ७२ ॥

अभया दाडिमीपुष्पं लाङ्गली पिष्टमम्भसा ।
नस्यतो हन्ति नासाया रक्तस्रावमतिद्रुतम् ॥ ७३ ॥

हर्रें, अनार का फूल तथा कलिहारी—इन द्रव्यों को जल के साथ पीस कर नस्य लेने से नासिका से निकलते हुए रक्त को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ७३ ॥

शय्यारूढो जलं शीतं निद्राकाले च यः पिबेत् ।
तस्य पीनसजं दुःखं शमं याति दिनत्रये ॥ ७४ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे तृतीये शालाक्यखण्डे
नासारोगचिकित्साधिकारश्चतुर्थः ।

जो व्यक्ति शय्या पर सोये हुए निद्रा के समय में (अर्थात् प्रातःकाल सोकर उठने के पहले) शीतल जल को पान करता है उसका पीनसरोग से उत्पन्न दुःख तीन दिन में शान्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

वैद्यशोढल-विरचित गदनिग्रह के तृतीय शालाक्य खण्ड में चौथा
नासारोग-चिकित्साधिकार समाप्त ।

अथ मुखरोगाधिकारः पञ्चमः ।

अथातो मुखरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

नासारोग निरूपण के बाद मुखरोग का निदान कहते हैं ।

मुखरोगसंख्या—

मुखरोगाः सप्तषष्टिः सप्तस्वायतनेषु च ।

तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, अष्टादश कण्ठे, चत्वारः, सर्वेष्वायतनेषु ।

मुख रोग की संख्या—मुख के रोग सड़सठ हैं। वे सात स्थानों (ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, कण्ठ तथा मुखगत सभी स्थान) में होते हैं।

यहां ओष्ठ में आठ, दन्तमूल में पन्द्रह, दन्त मे आठ, जिह्वा में पांच, तालु में नव, कण्ठप्रदेश में अट्ठारह तथा मुख के सभी अवयवों में चार रोग होते हैं।

विमर्शः—मुखरोग की संख्या के विषय में बहुत मतभेद है। सुश्रुत[1] के मतानुसार मुखरोग पैंसठ हैं, वाग्भट[2] के अनुसार पचहत्तर, भोज[3] के अनुसार पैंसठ तथा शोढ़ल[4] के मतानुसार सड़सठ मुखरोग हैं।

नीचे दिये हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जायगा—

[5]मुखरोग

रोग	शोढल	सुश्रुत	भोज	वाग्भट
१. ओष्ठरोग	८	८	८	१२ (एक गण्डगत)
२. दन्तरोग	८	८	८	१०

---

१. मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु, तत्र आयतनानि ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालु, कण्ठ, सर्वाणि चेति । (सुश्रुत)

२. एकादशैको दश च त्रयोदश तथा च षट् ।
अष्टाष्टादशाष्टौ च क्रमात् ॥ अ० सं०

३. मुखरोगाः पञ्चषष्टिः भवन्ति । यदाहभोजः—दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दशपञ्च च । नव तालुनि जिह्वायां पञ्चसप्तदशामयाः । कण्ठे त्रयः सर्वसराः एकषष्टिः चतुःपराश्च ।

४. मूलग्रन्थ में देखें ।

५. मुखरोग से मुखाश्रित रोगों का ग्रहण होता है । मुख के दो भाग होते हैं । आभ्यन्तर भाग तथा बाह्यभाग । यहां मुखरोग से मुख के आभ्य-

रोग	शोढल	सुश्रुत	भोज	वाग्भट
३. दन्तमूल रोग	१५	१५	१५	१३
४. जिह्वारोग	५	५	५	६
५. तालुगतरोग	९	९	९	८
६. कण्ठगत रोग	१८	१७	१७	१८
७. सर्वसर रोग	४	३	३	८
	६७	६५	६५	७५

वाग्भट ने ओष्ठ-विकारों मे खण्डौष्ठ, जलार्बुद, गण्डालजी तथा अर्बुद इन चार अतिरिक्त रोगों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार जिह्वा में एक, तालुरोग में एक, कण्ठरोग मे एक तथा सर्वसर रोगों में पांच अतिरिक्त रोगों का वर्णन किया है और दन्तमूल रोग में दो कम कर दिया है अतः इसके अनुसार रोगों की संख्या पचहत्तर हो जाती है।

मुखरोग की उत्पत्ति प्रायः कफ-प्रधान दोषों से ही होती है। इसके जो कारण बताये गये हैं वे प्रायः सभी पदार्थ कफवर्द्धक ही हैं।

आनूप-पिशित-क्षीरदधिमत्स्यातिसेवनात्।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः॥ (यो० र०)

किन्तु ये सभी पदार्थ कफवर्द्धक होते हुए भी रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के द्वारा पित्त और वायु को भी प्रकुपित कर देते हैं और रोगों के स्पष्ट होने के समय जिन दोषों के लक्षणों की प्रधानता होती है उसी के अनुसार उनका वातज, पित्तज आदि नाम रख दिया जाता है।

ओष्ठगताष्टरोगलक्षणम्—

तत्रोष्ठप्रकोपाः-वातपित्तकफसन्निपातरक्तमांसमेदोभिघातनिमित्ताः॥

ओष्ठगत आठ रोगों का लक्षण—ओष्ठ को विकृत करनेवाले आठ प्रकार के रोग होते हैं। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, साम्निपातिक, रक्तज, मांसज, मेदोज तथा अभिघातज। इन आठों कारणों से ये ओष्ठ के आठ रोग होते हैं।

न्तर भाग में होनेवाले रोगों का ही वर्णन किया गया है। मुखरोग के अधिष्ठानभूत अवयव जो मुखगह्वर में होते हैं वे सात हैं ओष्ठ, दन्त, दन्तमूल, जिह्वा, तालु, कण्ठ तथा सम्पूर्णमुख। इन्हीं अवयवों में मुखरोग होते हैं जो पहले बताये जा चुके हैं।

ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च।
गलो मुखादि सकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते॥ यो० र०

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ ।
दाल्येते परिपाटयेते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥ १ ॥

वातिक ओष्ठ रोग का लक्षण—वात के प्रकोप के कारण होठ कर्कश (खुरदरे), कड़े, अकड़े हुए, तथा वातिक वेदना से युक्त होते हैं और ओष्ठों की त्वचा फट जाती है तथा कुछ त्वचा निकल जाती है ॥ १ ॥

आचितौ पिटिकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् ।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥ २ ॥

पैत्तिक ओष्ठ का लक्षण—पैत्तिक ओष्ठ-प्रकोप में ओष्ठ अत्यधिक सरसो की आकृतिवाले पिड़िकाओं से व्याप्त हो जाते हैं, पिड़िकाओं में जलन, पाक तथा नीले वर्ण एवं पीतवर्ण के स्राव होते है ॥ २ ॥

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिटिकाभिरवेदनौ ।
कण्डूमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥ ३ ॥

श्लैष्मिक ओष्ठ-प्रकोप का लक्षण—कफज ओष्ठ-प्रकोप में ओष्ठ त्वचा के रंगवाली पिड़िकाओं से व्याप्त रहते हैं, उनमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है । वे खुजली से युक्त, सूजे हुए, चिपचिपे शीतल तथा भारी होते हैं ॥ ३ ॥

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकान्वितौ ॥ ४ ॥

सन्निपातज-ओष्ठ प्रकोप का लक्षण—सन्निपातज ओष्ठ-प्रकोप में दोनों ओष्ठ कभी काले, कभी कुछ पीले तथा कभी कुछ सफेद वर्ण के अनेक प्रकार की पिड़िकाओं से व्याप्त रहते हैं ॥ ४ ॥

खर्जूरफलवर्णाभिः पिटिकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ५ ॥

रक्तज ओष्ठ-प्रकोप के लक्षण—रक्त से दूषित ओष्ठ खजूर के फल के सदृश वर्णवाली पिडिकाओं से व्याप्त, वेदनायुक्त, रक्तस्रावी एवं रक्त के वर्ण के होते हैं ॥ ५ ॥

मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥ ६ ॥

मांसज ओष्ठ-प्रकोप का लक्षण—मांस से दूषित ओष्ठ भारी, मोटे और मांसपिण्ड के समान उभरे हुए (अर्बुदाकार) होते हैं । रोगी के मुख के दोनों ओर (ओष्ठों के बाहर तथा भीतर) कृमि पड़ जाते हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—पाश्चात्त्य ग्रन्थों में 'पैपीलोम' या 'एपिथिलियोमा आफ दी लिप्स' इससे मिलते जुलते रोग मिलते है । अधिकतर यह विकार चिलम से

धूम्रपान करनेवाले व्यक्तियों में पाया जाता है। ओष्ठों के बार बार रगड़ खाने से उसमें धीरे अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं और बढ़कर अर्बुद का रूप धारण कर लेते हैं। इसमें पूय या पूयाभ स्राव होते हैं और कभी-कभी इसमें कीड़े भी पड़ जाते हैं। रक्तस्राव होता है तथा वेदना अत्यधिक होती है।

मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू।
अच्छं स्फटिकसंकाश स्रावं प्रस्रवतो गुरू ॥ ७॥

मेदोज ओष्ठ-प्रकोप के लक्षण—इसमें ओष्ठ घृत-मण्ड (घृत का ऊपरी स्वच्छ भाग) के वर्ण के समान वर्णवाले, कण्डू से युक्त, स्थिर, मुलायम, स्फटिक मणि के समान स्वच्छ स्राव को करनेवाले तथा भारी होते हैं।॥ ७॥

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः।
ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ॥ ८॥

आघातज ओष्ठ-प्रकोप के लक्षण—ओष्ठों में चोट लग जाने से क्षत के समान विदीर्ण या रक्तवर्ण, फटे हुए, छिले हुए, गांठदार तथा खुजली से युक्त होते हैं॥ ८॥

विमर्श—अभिघातज ओष्ठ-प्रकोप में कफ तथा रक्त का अनुबन्ध रहता है यह भोज के कथन से मालूम होता है—

क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ।
भवतः सपरिस्रावौ कफ-रक्तप्रदूषितौ ॥

अर्थात् क्षत एवं अभिघातजनित ओष्ठ लालवर्ण के, वेदना एवं स्राव युक्त और कफ तथा रक्त से दूषित होते है। वाग्भट इन आठ रोगों के अतिरिक्त ओष्ठ के चार रोग और अधिक मानते हैं।

१. खण्डौष्ठ—इसमें वात के प्रकोप से ओष्ठ स्वाभाविक दो हो जाते है—

तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधा कृतः।

यह एक प्रकार का सहज विकार है। गर्भ के प्रारम्भ-काल में ओष्ठ दक्षिण तथा तथा वाम भाग अलग २ रहते हैं और बाद में आपस में मिल जाते हैं। कभी २ इनके अच्छी तरह न मिलने से जन्म के बाद दोनों के बीच अन्तर रह जाता है। इसको 'खण्डौष्ठ' कहते हैं। इसको शस्त्रकर्म के द्वारा मिलाया जाता है। इसको सहज वात-विकृति होने से वातिकौष्ठ में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

२. अर्बुद—रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ।
खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तार्बुदं भवेत् ॥

इसका अन्तर्भाव रक्तज—ओष्ठरोग में हो सकता है। क्योंकि यह लक्षण रक्तज-ओष्ठरोग के अवस्था-विशेष का है।

३. जलार्बुद—जल-बुद्बुदवद् वातकफादोष्ठे जलार्बुदम्। (अ० हृ० उ०) इसका अन्तर्भाव रक्तज या मांसज ओष्ठरोग में किया जा सकता है। यह आधुनिक ओष्ठगत श्लेष्मग्रन्थि है। उपेक्षा करने पर तथा गम्भीर मूल होने पर अर्बुद के रूप में परिणत हो जाता है।

४. गण्डालजी—स्थिरः शोफो गण्डे दाहज्वरान्वितः। अ० हृ० उ० त० १) इसका अन्तर्भाव मांसज भेद में किया जा सकता है। इसमें चिरकारिता तथा बार बार होने की प्रवृत्ति होती है ऐसा अलजी शब्द से प्रतीत हो रहा है अन्त में यह उभयतोमुखी हो सकती है।

अधिष्ठान एवं दोषों की प्रबलता के अनुसार ओष्ठरोगों का कोष्ठक—

रोग	स्थानविशेष	दोषों की प्रबलता
१. वातजन्य ओष्ठरोग	ओष्ठ (लिप्स)	वातजन्य (Cracked lips)
२. पित्तज ,,	,,	पित्तजन्य (Herpes lips)
३. कफज ,,	,,	कफजन्य (Lalialis lips)
४. सन्निपातज ,,	,,	त्रिदोषज ,,
५. रक्तज ,,	,,	रक्तज ,,
६. मांसजन्य ,,	,,	— (Epilhelioma of the lip)
७. मेदज ,,	,,	— (Mecrochelia)
८. अभिघातज ,, या क्षतज ओष्ठकोप (खण्डौष्ठ)	,,	वा० क० रक्तज (Here lip)

दन्तमूलगतपञ्चदशरोगलक्षणम्—

अथ दन्तमूलगतास्तु-शीतादो, दन्तपुप्पुटको, दन्तवेष्टकः, सौषिरो, महासौषिरो, परिदर, उपकुशो, दन्तवैदर्भो, वर्धनो, अधिमांसो, नाड्यः पञ्चेति ॥

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥ १ ॥

दन्तमूल गत पन्द्रह रोगों का लक्षण—दन्त के मूलगत रोग—शीताद, दन्तपुप्पुटक, दन्तवेष्टक, सौषिर, महासौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ,

वर्धन, अधिमांस तथा दन्तनाड़ी पांच, इस प्रकार दन्तमूलगत पन्द्रह रोग होते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श :—बालकों के उत्पन्न होने के पांचवे महीने बाद दांतों की उत्पत्ति होती है। वे दांत दोनों (ऊपर तथा नीचे) हनुओं में उत्पन्न होते हैं। इन दांतों का आकार शिखर के समान होता है और वे ही छठें या सातवें महीने में निकलना प्रारम्भ हो जाते हैं। ये संख्या में बीस हो जाते हैं। पहले कर्तन-क्रिया को करानेवाले नीचे तथा ऊपर दो दो दांत उत्पन्न होते हैं। उसके बाद चर्वण'क्रिया (चबानेवाले) को करनेवाले ऊपर तथा नीचे चार दांत उत्पन्न होते है। इसके बाद भेदन करनेवाले चार दांत तथा पुनः चर्वण करनेवाले चार दांतों की उत्पत्ति होती है। ये दांत लगभग पांच वर्ष की अवस्था तक निकल आते हैं और छठें वर्ष से वे टूटने लगते है तथा उनके स्थान पर दूसरे दांत उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्रिया बारहें वर्ष से लेकर सोलहवे वर्ष तक समाप्त हो जाती है और उन प्रथम उत्पन्न दांतों के स्थान पर दूसरे मजबूत दाँत उत्पन्न हो जाते हैं। दांत ऊपर के हनु (जबड़ा) की अपेक्षा नीचे के हनु (जबड़ा) में पहले उत्पन्न होते है। ये दांत पच्चीसवें वर्ष तक दोनों हनुओं में प्रायः सख्या मे बत्तीस हो जाते हैं। दो बार उत्पन्न होने के कारण इनको 'द्विज' कहते हैं।

दांतों के उत्पन्न होने के समय बालकों को ज्वर, अतिसार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते है जो दांत के बाहर निकल आने पर स्वयं शान्त हो जाते हैं। इसीलिये भैषज्य-रत्नावली में कहा गया है कि दांतों के उत्पन्न होने के समय उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति के लिये बालकों की चिकित्सा आदि के लिये प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि दांतों के निकल आने पर वे उपद्रव स्वयं शान्त हो जाते हैं।"

दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत्।
स्वमेवोपशाम्यन्ति जातदन्तस्य ते गदाः ॥

वाग्भट ने भी कहा है—

'दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्।
पृष्ठभङ्गे विडालानां मयूराणां शिखोद्गमे।
दन्तोद्भेदे तु बालानां न हि किञ्चिन्न दूयते ॥,

दांत के तीन भाग होते हैं—(१) दन्तशिखर (२) दन्तग्रीवा, (३) दन्तमूल। पहला भाग दन्तशिखर ऊपर दिखाई देता है, दूसरा भाग दन्तग्रीवा दांतों का अव्यक्त भाग है और तीसरा भाग दन्तमूल दोनों हनुओं के अस्थियों के आभ्यन्तर भाग दन्तोलूखल में स्थित है।

सभी दांत आभ्यन्तर में शून्य होते हैं। आयुर्वेद के अनुसार दांतों की स्थिति किसी अस्थि में नहीं है बल्कि ये स्वयं अस्थि स्वरूप हैं इनका आभ्यन्तरिक शून्य भाग मृदु सौत्रिक तन्तुओं की केशिकाओं से परिपूर्ण रहता है और प्रत्येक दांतों के मूलगत छिद्रों के द्वारा रक्तवाहिनी धमनियां तथा वातनाडी प्रवेशकर दांतों का पोषण करती हैं।

दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः॥ १०॥

शीताद—जिस व्यक्ति के दांत के मसूड़ों से अपनेआप बिना कारण ही रक्त निकलता है और जिसके मसूड़े दुर्गन्धित काले, गीले और मृदु होकर गिरने लगते हैं तथा एक दूसरे को पका देते हैं इस कफरक्तजन्यरोग को 'शीताद' कहते हैं॥ १०॥

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुः सरुजो महान्।
दन्तपुप्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः॥ ११॥

दन्तपुप्पुटक—जिस रोगी के दो या तीन दांतों के जड़ में पीड़ायुक्त बड़ी सूजन हो जाती है उस कफरक्तजन्य व्याधि को 'दन्तपुप्पुटक' कहते हैं॥११॥

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः॥ १२॥

दन्तवेष्ट—जिस रोग में मसूड़ों से पूयमिश्रित रक्त निकलता है और दांत हिलने (चलायमान) लगते हैं। तथा पाक भी होता है। इस दूषित रक्तजन्य रोग को 'दन्तवेष्ट' कहते हैं॥ १२॥

विमर्श—यह दुष्ट रक्त के कारण उत्पन्न होनेवाला रोग है। इसमें दन्तमूल से पूय तथा रक्तस्राव होता है। दांत हिलने लगते हैं और दांत ढीले पड़ जाते हैं। इस रोग को पायेरिया 'पल्पीयोलैरिस' कहा जा सकता है। आधुनिक वर्णन के अनुसार श्वास से दुर्गन्ध आना, जिह्वा का सफेद रहना तथा दांतों के मूल में शर्करा का एकत्रित होना आदि लक्षण मिलते हैं। इसमें दन्तमूल (मसूड़ों) का व्रणशोथ होता है, उसके पार्श्वभाग में शोथ हो जाता है और पूयकोष फैलकर दांतों के मूल तक पहुँच जाते हैं। मसूड़ों से रक्तस्राव होता है और किनारे से दबाने पर पूय निकलने लगता है। इसके बाद दांत हिलने लगते हैं और गिर जाते हैं। इसके पहले दन्तशर्करा का अधिक मात्रा में संचय हो जाता है।

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः।
लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् सौषिरो गदः॥ १३॥

सौषिर—जिस रोग में दांत के मूल में पीड़ायुक्त सूजन हो और लाला-

स्राव (लार निकलना) होता हो, इस कफरक्तजन्य रोग को 'सौषिर' कहते हैं ॥ १३ ॥

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालुश्चाप्यवदीर्यते ।
दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते ॥ १४ ॥
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महासौषिरसंज्ञितः ।

महासौषिर—जिस सौषिर रोग में दांत अपने स्थान (मसूड़ों) से हिलने लगते है तालु (तथा ओष्ठ) भी फट जाते हैं, दांत के मसूड़े पक जाते हैं और मुख में पीड़ा होने लगती है। इस त्रिदोषज व्याधि को 'महासौषिर' कहते हैं।

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ॥ १५ ॥
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ।

परिदर—जिस व्याधि में दात के मसूड़े गल जाते हैं और रोगी रक्तष्ठीवन (रक्त ही थूकता है) करता है उस पित्त, रक्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले रोग को 'परिदर' कहते हैं।

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च ॥ १६ ॥
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते ॥ १७ ॥
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ।

उपकुश—जिस रोग में मसूड़ों में जलन तथा पाक होता हो और उन्हीं कारणों से दांत हिलने लगते हों, आपस में दांतों के टकराने से रक्त निकलते हों तथा मन्द-मन्द पीड़ा होती हो, रक्त के निकल जाने पर सूजन हो जाती हो और मुख से दुर्गन्ध निकलती हों। इस रक्तपित्तजन्य रोग को 'उपकुश दन्तरोग' कहते है।

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान् ॥ १८ ॥
भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः ।

दन्तवैदर्भ—दांत के मसूड़ों मे रगड़ लग जाने से जो बड़ी सूजन उत्पन्न हो जाती है और दांत हिल जाते हैं उस अभिघातजन्य व्याधि को 'दन्तवैदर्भ' कहते है।

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ॥ १९ ॥
वर्धनः स मतो व्याधिर्जाते रुक्च प्रशाम्यति ।

वर्धन—वात के प्रकोप से तीव्र वेदना के साथ एक अधिक दांत निकल जाता है उस 'वर्धन' कहते हैं। दांत के निकल जाने पर पीड़ा शान्त हो जाती है।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ् शोफो महारुजः ॥ २० ॥
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ।

अधिमांसक—जबड़े के पीछे के दांत के मसूड़े में भयंकर पीड़ायुक्त बड़ी सूजन हो जाती है और लालास्राव (लार निकलना) होता है उस कफजन्य व्याधि को 'अधिमांसक' कहते है ।

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः ॥ २१ ॥
दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ २२ ॥

दन्तनाड़ी—वायु धीरे-धीरे दांत की जड़ में स्थित होकर पांच प्रकार के दन्तनाडी रोग को उत्पन्न करता है जैसा कि पहले (शल्यप्रकरण में वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा शल्यज भेद से) कहा जा चुका है ॥२१-२२॥

विमर्श—कभी-कभी साध्य दन्तमूलगत रोगों की उपेक्षा करने से दन्तवेष्ट (पायेरिया) रोग तथा दांतों के मध्य संचित पूय के कारण नाडीव्रण बन जाते हैं। शल्यप्रकरण में कहे गये पांच प्रकार के नाडीव्रण के लक्षण के अनुसार यहां भी पांच प्रकार का नाडीव्रण होता है । इसको वाग्भट ने स्पष्ट कहा है—

दन्तमांसाश्रितान् रोगान् यः साध्यानप्युपेक्षते ।
अन्तस्तस्यास्रवन् दोषः सूक्ष्मां संजनयेद् गतिम् ॥
पूयं मुहुः सा स्रवति, त्वङ्मांसास्थिप्रभेदिनी ।
ताः पुनः पञ्च विज्ञेया लक्षणैः स्वैर्यथोदितैः ॥ (अ० ३.)

दन्तमूलगत रोगों के अधिष्ठान के भेद तथा दोषों के प्रावल्य के अनुसार कोष्ठक

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता
१. शीताद	दन्तमूल	कफरक्त (Bleeding of spongyngums)
२. दन्तपुप्पुटक	,,	,, (Ginguitis of Gumboil)
३. दन्तवेष्ट	,,	,, (Pyaorrhoea Alveolasis)
४. सौषिर	,,	कफवात —
५. महासौषिर	,,	त्रिदोषज (Cancrumoris)
६. परिदर	,,	कफपित्तरक्त (Gangrenous Stomatitis)
७. उपकुश	,,	पित्तरक्त —
८. दन्तवैदर्भ	,,	अभिघात (Gingivitis)
९. वर्धन	दन्त	वात (Extra or wisdomtooth)

१०. अधिमांस	,,	कफ (Impacted wisdom)
११. १५. दन्तनाडी	,,	वात, पित्त, कफ, त्रिदोष, शल्यज त्रिदोष (Sinuses of the Gums)

दन्तगताष्टरोगलक्षणम्—

दन्तगतास्तु—दालनः, कृमिदन्तको, दन्तहर्षो, भञ्जनकः, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनुमोक्षश्चेति ॥

दन्तगत आठ रोगों के लक्षण—दन्तगत—आठ रोग—दालन, कृमिदन्तक, दन्तहर्ष, भञ्जनक, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तक तथा हनुमोक्ष ये दन्तगत आठ रोग होते हैं।

दाल्यन्ते बहुधा दन्ता यस्मिन् तीव्ररुगन्विताः।
दालनः स तु विज्ञेयो गन्धवाहनिमित्तजः ॥ २३ ॥

दालन—जिस रोग में तीव्र पीड़ा से युक्त दांत अनेक प्रकार से फटते हुए मालूम पड़ते हैं उस गन्धवाह-निमित्तज (वातजन्य) व्याधि को 'दालन' कहते हैं ॥ २३ ॥

कृष्णश्छिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः कृमिदन्तकः ॥ २४ ॥

कृमिदन्तक—जो दांत काले छिद्रवाला होता है, हिलता है, जिससे स्राव निकलता है और जिसमें शोथ तथा विना कारण ही तीव्र पीड़ा होती है उस वातजन्य रोग को 'कृमिदन्तक' कहते हैं ॥ २४ ॥

दशनाः शीतमुष्ण च सहन्ते स्पर्शनं न च।
यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं मारुतसंभवम् ॥ २५ ॥

दन्तहर्ष—जिस रोगी के दांत शीतल स्पर्श तथा उष्ण स्पर्श को नहीं सहन करते हैं उस वातजन्य रोग को 'दन्तहर्ष' कहते हैं ॥ २५ ॥

शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै।
सा दन्तानां गुणघ्नी तु विज्ञेया दन्तशर्करा ॥ २६ ॥

दन्तशर्करा—जिस रोगी के दांतों मे मल शर्करा (कंकड) के समान स्थिर हो जाते हैं उस दांत के गुणों को नाश करनेवाली व्याधि को 'दन्तशर्करा' कहते हैं ॥ २६ ॥

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ २७ ॥

कपालिका—जब शर्करा के साथ दांत के छिलके निकलने लगते हैं। उस दांत को नाश करनेवाली व्याधि को 'कपालिका' कहते है ॥ २७ ॥

पित्तेनासृग्विमिश्रेण दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ॥ २८ ॥

श्यावदन्तक—जो दांत रक्त-मिश्रित पित्त से पूर्णतया दग्ध या लिप्त होकर काला या पीला पड़ जाता है उसे 'श्यावदन्तक' कहते है ॥ २८ ॥'

वातेन तैस्तैर्भावैर्हि हनुसन्धिर्विसंहतः ।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥ २९ ॥

हनुमोक्ष—वायु के द्वारा अपने अपने प्रकोपक कारणों से हनुसन्धि में स्थित होकर हनुसन्धिगत विकार उत्पन्न हो जाता है उस अर्दित नामक वातव्याधि के लक्षणवाले रोग को 'हनुमोक्ष' कहते हैं ॥ २९ ॥

भञ्जनक—(वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते ।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञकः ॥

जिस रोग में मुख टेढ़ा हो जाय और दांत टूट जाय, उस कफ-वातजन्य व्याधि को 'भञ्जनक' दन्त रोग कहते हैं ।)

दन्तगत रोगों का अधिष्ठान एवं दोष-प्राबल्य

रोग	अधिष्ठान	दोष प्राबल्य (Toothache)
१. दालन	दन्त	वात
२. कृमिदन्तक	,,	वात (Dental carries)
३. दन्त हर्ष	,,	कफवात
४ दन्तशर्करा	,,	,, (Tartar)
५. कपालिका	,,	,, (Enamel Separation)
६. श्यावदन्तक	,,	पित्तरक्त —
७. हनुमोक्ष	,,	वात (Lock jaw Dislocation of jaw)
८. भञ्जनक	,,	वात (Odontitis)

जिह्वागतपञ्चरोगलक्षणम्—

अथ जिह्वागतास्तु—कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैरलस उपजिह्विका चेति ।

जिह्वागत पांच रोगों के लक्षण—जिह्वागत—वातज, पित्तज तथा कफज कण्टक रोग तीन, अलसक एक और उपजिह्विका एक इन सबों को मिलाकर पांच रोग होते हैं ।

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।

वातिक जिह्वाकण्टक—वातिक जिह्वाकण्टक रोग में जिह्वा फटी हुई

संज्ञारहित, रस-ज्ञानरहित और शाक के पत्ते के समान (खुरदरी) हो जाती है।

पित्तेन नीला परिदह्यते च चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ॥ ३० ॥

पैत्तिक जिह्वाकण्टक—पैत्तिक जिह्वाकण्टक रोग में जिह्वा में दाह होता है और वह लाल वर्ण के बड़े बड़े कण्टकों से व्याप्त हो जाती है ॥३०॥

कफेन गुर्वी बहला चिता च मांसोद्गमैः शाल्मलिकण्टकाभैः।

श्लैष्मिक जिह्वाकण्टक—कफज जिह्वाकण्टक रोग में कफ से दूषित जिह्वा भारी, मोटी तथा सेमर के कांटों समान मांसों के उभार (मांसांकुरों) से युक्त हो जाती है।

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ॥ ३१ ॥
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम्।

अलसक जिह्वारोग—जिह्वा के नीचे भाग में जो कफ तथा रक्त के दूषित होने से तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाता है उसे अलसक '(अलास)' कहते है वह बढ़ कर जीभ को जकड़ देता है और इसके बाद जिह्वा के मूल में भयकर पाक हो जाता है।

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुस्तु जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूकफदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥ ३२ ॥

उपजिह्विका—जीभ के अग्रभाग के समान जीभ को ऊपर उठाकर दूषित कफ और रक्त के कारण एक शोथ उत्पन्न होता है उसे 'उपजिह्विका' कहते हैं। इस रोग में लार निकलता है, खुजली होती है तथा दाह के लक्षण होते हैं ॥ ३२ ॥

जिह्वागत रोगों का अधिष्ठान एवं दोष-प्राबल्य

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य
जिह्वाकण्टक	जिह्वा	Tongue—(Chronic Superficial)
१. वातकण्टक	,,	वात (Cracked or fissured)
२. पित्तकण्टक	,,	पित्त (Redgland Tongue)
३. कफकण्टक	,,	कफ (Ietheosis)
४. अलसक	,,	कफरक्त (Sublingual Abscess)
५. उपजिह्विका	,,	,, (Ranula or selivary)

तालुगतनवरोगलक्षणम्—

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुषो, मांसकच्छपः, अर्बुदं, मांससङ्घातः, तालुपुप्पुटः, तालुशोषः, तालुपाक इति ॥

तालुगत नवरोग के लक्षण—तालुगतरोग—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुष, मांसकच्छप, अर्बुद, मांससंघात, तालुपुप्पुट, तालुशोष तथा तालुपाक ये 'तालुगत नवरोग' होते हैं।

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात्प्रवृद्धो दीर्घः शोफो ध्मातबस्तिप्रकाशः।
तृष्णाकासश्वासकृत्संप्रदिष्टो व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्ना॥ ३३॥

गलशुण्डी—कफ तथा रक्त के दूषित होने से तालु के मूल भाग में वायु से परिपूर्ण वस्ति (थैली) के समान तथा प्यास और श्वास एवं कास को उत्पन्न करनेवाले लम्बे बढ़े हुए शोथ को वैद्य लोग 'कण्ठशुण्डी' (गलशुण्डी) कहते हैं॥ ३३॥

शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाको प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

तुण्डिकेरी—दूषित कफ और रक्त से उत्पन्न होनेवाले, मोटे, दाह तथा पाकयुक्त शोथ को 'तुण्डिकेरी' कहते है।

शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराढ्यः॥ ३४॥

अध्रुष—रक्त से उत्पन्न स्तब्ध तथा लाल वर्ण के ज्वर एवं भयंकर पीड़ा-युक्त शोथ को 'अध्रुष' कहते हैं॥ ३४॥

कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा
रक्ताज्ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा च।

कच्छप—कछुये के पीठ के समान उठे हुए पीड़ारहित देर से उत्पन्न होने-वाले कफजन्य रोग को 'कच्छप' कहते हैं।

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम्॥ ३५॥

अर्बुद—तालु के मध्यभाग में लालकमल के आकार के, पीड़ारहित, देर से उत्पन्न होनेवाले रक्तजन्य शोथ को 'तालवर्बुद' या 'रक्तार्बुद' कहते हैं॥ ३५॥

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं वा ताल्वन्तःस्थं मांससंघातमाहुः।

मांससंघात—दूषित कफ से उत्पन्न तालु के बीच में शोथयुक्त पीड़ारहित दुष्टमांस को 'मांससंघात' कहते है।

नीरुक्स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तात्पुप्पुटस्तालुदेशे॥३६॥

तालुपुप्पुट—तालु-प्रदेश में दूषित कफ से उत्पन्न पीड़ारहित चिरस्थायी बेर के समान उत्पन्न शोथ को 'तालुपुप्पुट' कहते हैं॥ ३६॥

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात्।

तालुशोष—वात के प्रकोप से तालु में अत्यधिक शुष्कता तथा विदारण होता है और तीव्र श्वासवृद्धि होती है उसे 'तालुशोष कहते हैं।

पित्तं कुर्यात्पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येनं तालुपाक वदन्ति ॥ २७ ॥

तालुपाक—तालु में दूषित पित्त अत्यन्त भयंकर पाक को उत्पन्न करता है उसे 'तालुपाक' कहते है ॥ ३७ ॥

विमर्श—तालुगत रोगों के अधिष्ठान तथा दोषप्राबल्य—

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता
१. गलशुण्डिका	गल (Throat)	वातरक्त (Elongated ubulus)
२. तुण्डिकेरी	,,	,, (Elongated tonsil)
३. कच्छप	तालु (Palate)	,, (Sarcoma)
४. अध्रुष	,,	रक्त (Palatitis)
५. अर्बुद	,,	,, (Cancer)
६. मांससंघात	,,	कफ (Adenoma of the Palate)
७. तालुपुप्पुट	,,	कफमेद (Epulis of the Palate)
८. तालुशोष	,,	वात —
९. तालुपाक	,,	पित्त (Ulceration of the Palate)

कण्ठगताष्टादशरोगलक्षणम्—

अथ कण्ठगतास्तु-रोहिण्यः पञ्च, कण्ठशालूक, अधिजिह्वा, वलयो, बलासः, एकवृन्दो, वृन्दः, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधिः, गलौघः, स्वरघ्नो, मांसतानो, विदारी चेति ॥

कण्ठगत अट्ठारह रोगों के लक्षण—कण्ठगत रोहिणी पाँच, कण्ठशालूक, अधिजिह्वा, वलय, बलास, एकवृन्द, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधि, गलौघ, स्वरघ्न, मांसतान तथा विदारी ये कण्ठगत अट्ठारह रोग होते हैं।

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
पृथक्समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्
सृजन्ति यान् साऽसुहरा च रोहिणी ॥ ३८ ॥

रोहिणी—गले मे बढ़े हुए वात, पित्त तथा कफ (अलग अलग या मिलकर) मांस तथा रक्त को दूषित करके गले का अवरोध करनेवाले मांसाङ्कुरों को उत्पन्न कर जो प्राणों को नष्ट कर देते हैं। उस प्राणनाशक व्याधि को 'रोहिणी' कहते हैं ॥ ३८ ॥

विमर्श—कुछ विद्वानों का मत है कि पाचों प्रकार का रोहिणीरोग त्रिदोषज होता है किन्तु दोषों की उल्बणता के अनुसार वातिक आदि नामकरण

किया जाता है। सुश्रुत ने एकदोषज एवं सन्निपातज दोनों प्रकार की रोहिणी का वर्णन किया है। आचार्य भोजने भी, 'वात-पित्त-कफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा। कण्ठं यदा निवर्त्तन्ते' के अनुसार दोनों प्रकार के रोहिणी का वर्णन किया है। इसी के अनुसार इसकी मारकता[1] का भी काल-निर्देश किया है यदि इसकी उचित चिकित्सा न हुई। वातिक रोहिणी सात दिन में, पैत्तिक पांच दिन में, श्लैष्मिक तीन दिन में तथा सान्निपातिक रोहिणी सद्योमारक होती है।

रोहिणी को आधुनिक विद्वान् डिफ्थीरिया (Diphtheria) कहते हैं। डिफ्थीरिया का दण्डाणु बैसिलस डिफ्थीरिया है जिससे इस व्याधि की उत्पत्ति होती है। इसके उपसर्ग से गले में एक झिल्ली बन जाती है जो स्वरयन्त्र तथा नासिका में फैल कर श्वास को रोक देती है। इसका सञ्चयकाल दो से चार दिन होता है। कभी-कभी इससे ज्यादा भी होता है। यह एक बच्चों का रोग है। इस रोग का प्रसार रोगी या वाहक के छींकने, खांसने तथा बोलने से स्वस्थ बालक में होता है। इसके प्रधान लक्षण ज्वर, भाषण-शक्ति का ह्रास श्वासकृच्छ्रता, गले में मांसांकुरों या स्फोटों की उत्पत्ति आदि प्रायः मिलते हैं। हृदय दुर्बल हो जाता है, नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। ठीक समय से चिकित्सा न होने पर श्वासावरोध या हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। इस रोग में हृदय के दुर्बल होने से रक्तचाप कम हो जाता है कभी २ मूर्च्छा तथा मृत्यु भी हो सकती है। नाडी-संस्थान में भी विकृति हो जाती है जिससे ग्रसनिका की पेशियों का घात हो जाता है और उसी से रोगी नाक से बोलता तथा भोजन उदर में न जाकर नासिका की ओर चढ़ जाता है। आंख

---

१. तालुः शुष्यति कण्ठश्च वातेनायाम्यते यदा।
कण्ठेऽस्यान्नं प्रसज्येत सप्ताहात् स जहात्यसून्॥
उष्यते चूष्यते पित्ताद् धूप्यते परिदह्यते।
अङ्गारैरिव जह्यात् स प्राणानाशु चतुर्दिनात्॥
कफादन्तर्बहिःशोथः श्वासः कण्ठश्च बाध्यते।
यस्य सोऽसूँस्त्यजेद्रोगी त्र्यहाद्रोहिणिपीडितः॥
लक्षणं पित्तरोहिण्यास्तुल्य शोणितजन्मनः।
सर्वदोषकृता या तु सर्वलिङ्गसमन्विता॥
असाध्यां तां विजानीयाद्रोहिणीं सन्निपातजाम्।
एषा सद्यो मारयति तिस्र आद्याः क्रिया विना॥ (भोज)

की पेशियों का घात होने से देखने की शक्ति कम हो जाती है। कभी २ पक्षाघात और पङ्गुता भी हो जाती है। श्वसन-संस्थान की विकृति के कारण श्वसनी शोथ तथा श्वसनी फुफ्फुस-पाक में डिफ्थीरिया के उपद्रव हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी रोहिणी रोग होते हैं। उनके स्थान-भेद से भिन्न २ नाम हैं।

१. कण्ठगत रोहिणी—जिसका वर्णन किया जा चुका है।

२. स्वरयन्त्र रोहिणी

३. अनुनासिक रोहिणी

४. कर्णरोहिणी

५. नेत्रकलागत रोहिणी

६. योनिगत रोहिणी,

७. व्रणोत्पन्न रोहिणी,

इन सबों में एक प्रकार सी झिल्ली बनती है जिससे उन उन अङ्गों के कार्यों का अवरोध हो जाता है। इस रोग का निदान झिल्ली को देखने, स्पर्श करने, रक्तस्राव होने तथा झिल्ली-अणुवीक्षणात्मक परीक्षा द्वारा होता है। अन्य विशेष लक्षणों से भी रोग का निश्चय किया जाता है।

जिह्वां समन्ताद् भृशवेदना ये
मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् ॥ ३९ ॥

वातिक रोहिणी—जिह्वा के चारों ओर भयंकर पीड़ा से युक्त गले में अवरोध उत्पन्न करनेवाले और वातिक उपद्रव कम्प, स्तम्भ आदि से युक्त जो मांसाकुर उत्पन्न होते है उसे 'वातिक रोहिणी' कहते हैं॥ ३९ ॥

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा स्यात्।

पैत्तिक रोहिणी—शीघ्र उत्पन्न होने वाली, शीघ्र ही दाह युक्त तथा पकने वाली भयंकर ज्वर से युक्त रोहिणी को 'पैत्तिक रोहिणी' कहते है।

स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका
गुर्वी स्थिरा सा कफसंभवा वै॥ ४० ॥

श्लैष्मिक रोहिणी—स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करनेवाली, देर में पकनेवाली, स्थिर तथा भारी मांसांकुरोंवाली रोहिणी 'कफज रोहिणी' कहलाती है ॥ ४० ॥

गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या
त्रिदोषलिङ्गा त्रयसंभवा स्यात् ।

साविपातिक रोहिणी—गम्भीर धातुओं में पाक उत्पन्न करनेवाली, चिकित्सा करने पर भी शान्त न होनेवाली तथा तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ), के लक्षणों से युक्त 'रोहिणी सन्निपातज' कही जाती है।

स्फोटाचिता पित्तसमानलिङ्गा
साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम् ॥ ४१ ॥

रक्तज रोहिणी—स्फोटकों से व्याप्त तथा पित्तज रोहिणी के समान लक्षणों वाली रोहिणी 'रक्तज रोहिणी' कहलाती है और यह रोहिणी साध्य होती है ॥ ४१ ॥

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो
ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्य-
स्त कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ ४२ ॥

कण्ठशालूक—बेर की गुठली के सदृश आकारवाली, कफ से उत्पन्न तथा काटे या शूक के समान खुरदरी, स्थिर और शस्त्र-क्रिया द्वारा सिद्ध होनेवाली जो ग्रन्थि गले में होती है उसे 'कण्ठशालूक' कहते हैं ॥ ४२ ॥

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफोत्थो
जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रः ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एव
विवर्जयेदागत-पाकमेनम् ॥ ४३ ॥

अधिजिह्वा—जिह्वा के समान जिह्वा के मूल के ऊपर रक्तयुक्त कफजन्य शोथ को 'अधिजिह्वा' कहते हैं। यदि यह पक जाय तो चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ ४३ ॥

विमर्श—चरक तथा वाग्भट के अनुसार यह उपजिह्विका कही जा सकती है तथा जिह्वा के नीचे होनेवाले शोथ को 'अधिजिह्वा' कहते हैं।

बलास एवायतमुन्नतं च
शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं
विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४४ ॥

वलय—केवल कफ ही अन्न-प्रणाली को अवरुद्ध कर फैले हुए, उन्नत तथा चिकित्सा करने पर भी न शान्त होनेवाले असाध्य शोथ को जो उत्पन्न

करता है उसे 'वलय' कहते हैं। (वलय तथा चरकोक्त विदालिका[1] एक ही है) ॥ ४४ ॥

गले तु शोफं कुरुते प्रवृद्धौ
कफानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मच्छिद दुस्तरमेनमाहु-
र्बलाससञ्ज्ञं निपुणा विकारम् ॥ ४५

वलास—जिस रोग में कफ और वायु प्रकुपित होकर गले में श्वास-कृच्छ्र तथा पीड़ा से युक्त मर्मघाती शोथ को उत्पन्न कर देते हैं, उस कष्टसाध्य रोग को विद्वान् लोग 'वलास' कहते है ॥ ४५ ॥

वृत्तोन्नतोऽन्तः श्वयथुः सदाहः
सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूनः ॥ ४६ ॥

एकवृन्द—जिस रोग में कफ तथा रक्त के द्वारा गले के अन्दर गोलाकार उभरा हुआ, दाह और खुजली से युक्त पाकरहित थोड़ा मुलायम तथा भारी शोथ उत्पन्न होता है उसे 'एकवृन्द' कहते हैं ॥ ४६ ॥

समुन्नतं वृत्तममन्ददाह
तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपा-
द्विद्यात् सतोदं पवनात्मकं तु ॥ ४७ ॥

वृन्द—जिस रोग में पित्त और रक्त के प्रकोप से अधिक उठे हुए, गोल, भयंकर दाह तथा तीव्र ज्वर से युक्त व्याधि उत्पन्न होती है उसे 'वृन्द' कहते हैं। इसमें वायु का सम्बन्ध होने से सूई से चुभाने के समान पीड़ा होती है ॥ ४७ ॥

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषा-
ज्ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या ॥ ४८ ॥

शतघ्नी—गले के मार्ग को रोकनेवाली, कठिन, अत्यधिक मांसाकुरों से

---

१. गलस्य सन्धौ चिबुके गले च सदाह-राग-श्वसनासु चोग्रः ।
शोफो भृशार्तिस्तु विडालिका स्याद् हन्याद् गले चेद् वलयीकृता सा ॥
(च. चि. १२)

व्याप्त, अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त, प्राणों को नष्ट करनेवाली शतघ्नी (छननी) के समान त्रिदोषजन्य ग्रन्थि को 'शतघ्नी' कहते हैं ॥ ४८ ॥

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽल्परुक् स्यात्कफरक्तमूर्तिः ।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ॥ ४९ ॥

गिलायु—जिस रोग में गले मे आमले की गुठली के बराबर, स्थिर (निश्चल) भयंकर पीडायुक्त कफ, रक्त-जन्य ग्रन्थि उत्पन्न होती है। उसे 'गिलायु' कहते हैं। इसके कारण' भोजन किया हुआ अन्न गले में अटका सा रहता है, और यह शस्त्रसाध्य रोग है ॥ ४९ ॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु
तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥ ५० ॥

गलविद्रधि—जो शोथ तीनों दोषों से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण गले में फैल जाती है और जिसमें सभी दोषों की वेदनायें होती हैं, उसे 'गलविद्रधि' कहते हैं। वह सामान्य 'त्रिदोषज विद्रधि' के समान लक्षणवाली है ॥ ५० ॥

शोथो महानन्नजलावरोधी
तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥ ५१ ॥

गलौघ—कफ तथा रक्त-जन्य, अन्न तथा जल को अवरुद्ध करनेवाला, भयंकर ज्वर से युक्त और वायु की गति को रोकनेवाला, बढ़े हुए शोथ को 'गलौघ' कहते हैं ॥ ५१ ॥

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्त
भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात्स्वरघ्नः ॥ ५२ ॥

स्वरघ्न—जिस रोग में रोगी वात-मार्गों (श्वास-नलिका, फुफ्फुस एवं श्वसनी) के कफ से लिप्त होने पर निरन्तर कष्ट से श्वास लेता है, जिसका स्वर भिन्न है और जिसका गला शुष्क एवं नियन्त्रण-रहित हो गया हो ऐसे रोगी के इस रोग को 'स्वरघ्न' कहते हैं ॥ ५२ ॥

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रणुत्सर्वकृतो विकारः ॥ ५३ ॥

मांसतान—जो फैला हुआ, अधिक कष्ट देनेवाला और नीचे के तरफ लटकता हुआ, त्रिदोषजन्य शोथ धीरे धीरे गला को रोक देता है उस प्राणनाशक रोग को 'मांसतान' कहते हैं ॥ ५३ ॥

सदाहतोदं श्वयथुं सरक्त-
मन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारी
पार्श्वे विशेषात्स तु येन शेते ॥ ५४ ॥

विदारी—दाह तथा सूई के चुभाने जैसी वेदना से युक्त, लाल वर्ण का, दुर्गन्धित तथा सड़े हुए मांसवाला जो पित्तजन्य शोथ गले के अन्दर और मुख में उत्पन्न होता है उसे 'विदारी' कहते हैं। रोगी जिस पार्श्व से सोता है, अधिकतर वह भी मुख के उसी ओर होता है ॥ ५४ ॥

विमर्श—कण्ठगत रोगों का अधिष्ठान एवं दोष-प्रावल्य—

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता	
१. रोहिणी	गल (Throat)	१. वात, २. पित्त, ३. कफ (Diphtheria) ४. त्रिदोष, ५. रक्त (Adenoids)	
६. कण्ठशालूक	"	कफ	
७. अधिजिह्वा	"	कफरक्त (Epigletitis)	
८. वलय	"	कफ	—
९. बलास	"	कफवात	—
१०. एकवृन्द	"	कफरक्त	—
११. वृन्द	"	पित्तरक्त	—
१२. शतघ्नी	"	त्रिदोष	—
१३. गिलायु	"	कफरक्त	—
१४. गलविद्रधि	"	त्रिदोष (Pharyngeal Abscess)	
१५. गलौघ	"	कफरक्त	—
१६. स्वरघ्न	"	कफपित्त	—
१७. मांसतान	"	त्रिदोषज	—
१८. विदारी	"	पित्त	—

मुखपाकलक्षणानि—

सर्वसरास्तु—वातपित्तकफशोणितजाताः ॥

मुखपाक का लक्षण—सर्वसर रोग, वातज, पित्तज, कफज तथा रक्तज होते है।

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ता-
द्यस्याचितं सर्वसरः स वातात्।

वातिक मुखपाक—जिसका मुख तोदयुक्त स्फोटों से चारो तरफ से व्याप्त हो उसे 'सर्वसर' या 'मुखपाक' कहते है।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-
र्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ॥ ५५ ॥

पैत्तिक मुखपाक—जिसका मुख रक्त वर्ण का, दाहयुक्त और पीली फुन्सियों (स्फोटों) से व्याप्त हो उसे 'पैत्तिक मुखपाक' कहते हैं ॥ ५५ ॥

कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णै-
र्यस्याचितं चापि स वै कफेन।

कफज मुखपाक—जिसका मुख वेदनारहित, कण्डूयुक्त और त्वचा के वर्ण के छालों से व्याप्त हो उसे 'कफज मुखपाक' (सर्वसर) कहते हैं।

रक्तेन पित्तोदित एक एव
कैश्चित्प्रदिष्टो मुखरोगसंज्ञः ॥ ५६ ॥

इति मुखरोगनिदानम्।

रक्तज मुखपाक—रक्तज मुखपाक का लक्षण पैत्तिक मुखपाक के लक्षण के समान ही होता है। अतः कुछ लोग इसको एक ही (रक्तज या पित्तज) मानते हैं ॥ ५६ ॥

विमर्श—सर्वसर मुखरोग के अधिष्ठान एवं दोष-प्राबल्य—

रोग	अधिष्ठान	दोषों की प्रबलता
सर्वसर	सर्वमुखपाक	(Stomatitis) (M. Membrene of mouth)
१. वातिकमुखपाक	,,	वातिक (Ulcerative Stomotitis)
२. पैतिक ,,	,,	पैतिक (Gangrenous Stomatitis)
३. श्लैष्मिक ,,	,,	कफज (Apthores Stomatitis)
४. सन्निपातज ,,	,,	त्रिदोषज —

मुख रोग-निदान समाप्त।

अथातो मुखरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इसके बाद मुखरोग की चिकित्सा कहते हैं ।

वातजौष्ठप्रकोपचिकित्सा—

ओष्ठप्रकोपे वातोत्थे शाल्वणेनोपनाहनम् ।
बस्तिकर्मणि नस्ये च तैलं वातहरैः शृतम् ॥ ५७ ॥
स्वेदोऽभ्यङ्गः स्नेहपानं रसायनमपीष्यते ।

वातज ओष्ठ-प्रकोप की चिकित्सा—वातजन्य ओष्ठप्रकोप में शाल्वण से उपनाहन करे । वातनाशक औषधों से सिद्ध तैल का प्रयोग बस्तिकर्म तथा नस्य कर्म में करे । इस रोग में स्वेदन, अभ्यङ्ग, स्नेहपान तथा रसायन का प्रयोग अभीष्ट है ।

श्रीवेष्टकं सर्जरसं गुग्गुलुं सुरदारु च ।
यष्टीमधुकचूर्णं च विदध्यात्प्रतिसारणम् ॥ ५८ ॥

श्रीवेष्टक (देवदारु के गोंद से बने हुए सुगन्धित द्रव्य विशेष), सर्जरस (राल), गुग्गुल, देवदारु तथा मुलेठी के चूर्ण का [1]प्रतिसारण करे ॥ ५८ ॥

पित्तजौष्ठप्रकोपचिकित्सा—

वेधं शिराणा वमनं विरेकं तिक्तस्य पानं रसभोजनं च ।
पित्तोपसृष्टेष्वधरेषु कुर्याच्छीतान् प्रलेपान् परिषेचनं च ॥ ५९ ॥
रक्तपित्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत् ।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियाः कुर्यादशेषतः ॥ ६० ॥

पित्तज ओष्ठप्रकोप की चिकित्सा—पित्तजन्य ओष्ठप्रकोप में शिरावेध, वमन, विरेचन, तिक्त रस का पान, तथा मांसरस का भोजन और शीतल द्रव्यों का प्रलेप तथा परिसेचन आदि (पैत्तिक विद्रधि के सदृश उपचार) करे । रक्तज, पित्तज तथा अभिघातज ओष्ठप्रकोप में जोंक लगाकर रक्तपातन कराये और पैत्तिक विद्रधि-प्रशमनार्थ बताये गये सभी उपचारों को करे ॥ ५९-६० ॥

कफजौष्ठप्रकोपचिकित्सा—

शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवलधारणम् ।
हृतरक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठपाके कफात्मके ॥ ६१ ॥

---

१. अंगुली से उठाकर चूर्ण, कल्क, रसक्रिया अथवा मधु को किसी स्थान में फैलाना या लेप करना 'प्रतिसारण' कहलाता है । शल्य तन्त्र के अनुसार बेर की गुठली के बराबर पिण्ड (वस्तु) से दोष एवं व्याधि के अनुसार पाँच या सात बार हीन, मध्य तथा उत्तम व्याधियों में प्रतिसारण करे ।

कफज-ओष्ठप्रकोप की चिकित्सा—कफजन्य-ओष्ठपाक में शिरोविरेचन (नस्य द्वारा), कफनाशक धूम का प्रयोग, कफनाशक द्रव्यों के द्वारा स्वेदन, कवल-धारण (कुल्ला मुख में धारण करना) आदि उपचार रक्त के निर्हरण करने के बाद करे ॥ ६१ ॥

त्रिकटु स्वर्जिकाक्षारः क्षारश्च यवशूकजः ।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥ ६२ ॥

त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), सज्जीखार, तथा यवखार—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण (अङ्गुलि द्वारा लेप) करे ॥ ६२ ॥

मेदोजौष्ठप्रकोपचिकित्सा—

मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः ।

मेदोज-ओष्ठप्रकोप की चिकित्सा—मेदजन्य-ओष्ठप्रकोप में भेदन तथा शोधन करने के बाद दग्ध कर्म करना हितकर होता है ।

प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ।
हितं च त्रिफलाचूर्णं मधुयुक्तं प्रलेपने ॥ ६३ ॥

प्रियङ्गु (फूलप्रियङ्गु), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला), समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण मे मधु मिलाकर प्रतिसारण करना हितकर होता है और त्रिफला चूर्ण में मधु मिलाकर लेप करना भी हितकर होता है ॥ ६३ ॥

ओष्ठत्वग्भेदे योगद्वयम्—

मञ्जिष्ठकम्पिल्लकतुत्थदार्वीजीवन्तिकल्कैः पयसा समांशैः ।
पक्त्वा पयः सर्जरसं ससिक्थं दद्यात्तदोष्ठत्वचभेदहन्तृ ॥ ६४ ॥

ओष्ठ के त्वचा भिन्न हो जाने पर दो योग—मजीठ, कबीला, तूतिया, दारुहल्दी तथा जीवन्ती समभाग दूध के बराबर—इन द्रव्यों को लेकर कल्क बनावे और उसके साथ राल तथा मोम मिलाकर दूध को पकावे और लेप करे यह ओष्ठ के त्वचा-भेद में लाभ करता है । अर्थात् ओष्ठ की फटी हुई त्वचा को अच्छा कर देता है ॥ ६४ ॥

तैलं घृतं सर्जरसं ससिक्थं गुडं तथा सैन्धवगैरिके च ।
पक्त्वा समांशं दशनच्छदानां त्वग्भेदहन्तृ व्रणरोपणं च ॥ ६५ ॥

तैल, घृत, राल, मोम, गुड़, सेन्धानमक तथा गेरू समभाग—इन द्रव्यों को एक साथ पकाकर लेप तैयार करे । यह लेप लगाने से ओष्ठ की फटी हुई त्वचा को ठीक करता है तथा व्रण को रोपण कर देता है अर्थात् घाव को अच्छा कर देता है ॥ ६५ ॥

मुखरोगेषु रक्तस्रावणविधिः—

मुखदन्तमूलगलजाः प्रायो रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः ।

तस्मात्तेषामसकृद्रुधिरं विस्रावयेद् दुष्टम् ॥ ६६ ॥

मुखरोग में रक्तस्रावण-विधि—मुखरोग, दन्तमूलरोग तथा गले के रोग में प्रायः कफ दोष एवं रक्तदोषों की प्रबलता अधिक रहती है। अतः इन रोगों में अनेक वार दूषित रक्त का निर्हरण करावे ॥ ६६ ॥

शीतादचिकित्सा—

शीतादे हृतरक्ते तु लेपनं गौरसर्षपैः।
निःक्वाथ्य त्रिफलां मुस्तां गण्डूषः सरसाञ्जनः ॥ ६७ ॥

शीतादि की चिकित्सा—शीताद-नामक दन्तमूलरोग में रक्त-निर्हरण कराने के बाद सफेद सरसों का लेप करे, और त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा नागरमोथा को क्वाथ कर रसाञ्जन मिलाकर कुल्ला कराये ॥ ६७ ॥

दन्तरक्तस्रावे पीतकं चूर्णम्—

कुष्ठं दार्वी रोध्रमब्दं समङ्गा पाठा तिक्ता तेजिनी पीतिका च।
चूर्णं शस्तं घर्षणं तद् द्विजानां रक्तस्रावं हन्ति कण्डूं रुजं च ॥ ६८ ॥
चलदन्तस्थिरकरं धार्यं बकुलचर्वणम्।

दांत के रक्तस्राव में पीतक चूर्ण—कूठ, दारुहल्दी, लोध नागरमोथा, मंजीठ, पाढ़ी, कटुकी, तेजबल तथा हल्दी समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण दांतों में घर्षण करने में दांतों से होनेवाला रक्तस्राव, खुजली तथा दाँत की पीड़ा को नाश करता है। मौलसरी की छाल को चबाकर मुख में रखने से हिलते हुए दाँत स्थिर हो जाते (बैठ जाते) हैं।

दन्तपुप्पुटकचिकित्सा—

दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम् ॥ ६९ ॥
सपञ्चलवणक्षारं सक्षौद्रं प्रतिसारणम्।

दन्तपुप्पुटक की चिकित्सा—तरुण दन्तपुप्पुटक रोग में रक्तमोचण (रक्तस्राव) करे और पञ्चलवण (सेन्धा, सौवर्चल, विड, साँभर तथा सामुद्र) तथा यवक्षार मधु में मिलाकर प्रतिसारण (लेप) करे।

दन्तहर्षचिकित्सा—

दन्तानां तोदहर्षौ च जायेते वाततस्तयोः ॥ ७० ॥
उष्णतैलाढ्यवातघ्ना निर्यूहाः कवलग्रहाः।
माक्षिकं पिप्पलीसर्पिर्मिश्रितं धारयेन्मुखे ॥ ७१ ॥
दन्तशूलहरं प्रोक्तं प्रधानमिदमौषधम्।

दन्तहर्ष की चिकित्सा—दाँतों में तोद (सूई के छेदने के समान पीड़ा) तथा दन्तहर्ष (दाँत में पानी लगना) वात के प्रकुपित होने से होता है। इन

दोनों रोगों में उष्ण तैल आढयवात (लकवा)-नाशक निर्यूह (क्काथ) का कवलग्रह आदि प्रयोग करे और पीपर के चूर्ण में मधु तथा घृत मिलाकर वटी बनाकर मुख में धारण करे। यह दाँत के शूल को दूर करने के लिये प्रधान औषध कहा गया है।

दन्तवेष्टकचिकित्सा—

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणं तु प्रतिसारयेत् ॥ ७२ ॥
रोध्रपत्त्चाङ्गमधुकद्राक्षाचूर्णमधूत्तरैः ।
गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रसितशर्कराः ॥ ७३ ॥
जातीपत्रपुनर्नवातिलकणाकोरण्टकुष्ठं वचा,
शुण्ठीदीप्यहरीतकीसमधृतं चूर्णं मुखे धारयेत् ।
वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दुर्गन्धनिर्नाशनं
शूलघ्नं श्वयथुघ्नरक्तशमनं दन्ताश्च वज्रायते ॥ ७४ ॥

दन्तवेष्ट की चिकित्सा—दन्तवेष्ट रोग में रक्त निकालने के बाद लोध, पत्राङ्ग (पतङ्ग), मुलेठी तथा मुनक्का—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर व्रण को प्रतिसारण करे अर्थात् व्रण के ऊपर इस योग का अंगुली से लेप करे और क्षीरी वृक्ष (गूलर, वट, पीपर, पाकड़ आदि) की छाल के क्काथ में मधु तथा मिश्री मिलाकर कुल्ला करे। जातीपत्र (चमेली का पत्ता), पुनर्नवा, तिल, पीपर, कोरण्ट (पीली झिण्टी), कूठ, वचा, सोंठ, अजवायन, तथा हर्रे समभाग—इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण बनावे और मुख में धारण करे। यह चूर्ण वात तथा कफ को नाश करनेवाला, कृमि को दूर करनेवाला, मुख-दुर्गंध को नाश करनेवाला, शूलनाशक, शोथनाशक तथा रक्तस्राव को शान्त करने वाला है और दाँतों को वज्र के समान मजबूत बना देता है। (इस चूर्ण में जल की भावना देकर या मधु मिलाकर वटी बना लेनी चाहिए। वटी मुख में कुछ समय तक रखने के योग्य होती है) ॥ ७२–७४ ॥

सौषिरचिकित्सा—

सौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसाञ्जनैः ।
सक्षौद्रः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः ॥ ७५ ॥

सौषीर-चिकित्सा—दन्त-सौषिररोग में रक्तनिर्हरण कराने के बाद लोध, मोथा तथा रसाञ्जन के चूर्ण में मधु मिलाकर लेप करना उत्तम होता है। और क्षीरी वृक्षों के क्काथ में मधु मिलाकर कुल्ला करना हितकर होता है ॥ ७५ ॥

उपकुशचिकित्सा—

संशोध्योभयतो विध्येच्छिरां चोपकुशे ततः ।
काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेद्भिषक् ॥ ७६ ॥

क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत् ।

उपकुश की चिकित्सा—दन्तमूलगत-उपकुश रोग में चारों तरफ से संशोधन (स्वच्छ) कर शिरावेध (नश्तर) करे और काकोदुम्बरिका (कठूमर) की पत्ती तथा गोजीपत्र (वनगोभी के पत्ते) से वैद्य विस्रावण (रक्तनिस्सारण) कराये । इसके बाद व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) का चूर्ण, सेन्धानमक तथा मधु मिलाकर प्रतिसारण (अंगुली के द्वारा मंजन) करे ।

पिप्पल्यः सर्षपाः श्वेता नागरं नैचुलं फलम् ॥ ७७ ॥
सुखोदकेन संमर्द्य कवलं तस्य योजयेत् ।
कल्कैः पटोलचन्दनमञ्जिष्ठानिम्बमधुकरजनीनाम् ।

पीपर, सफेद सरसों, मोथा तथा समुद्रफल समभाग—इन द्रव्यों को कूट कर थोड़े गरम जल में मिलाकर कुल्ला के लिये प्रयोग करे ।

तैलं सिद्धं शमयेद् गण्डूषैः सौषिरोपकुशौ ॥ ७८ ॥

परवल, रक्तचन्दन, मंजीठ, निम्ब, मुलेठी तथा हल्दी इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल कवल (कुल्ला) धारण करने से सौषिर तथा-उपकुश रोग को शान्त करता है ॥ ७८ ॥

परिदरचिकित्सा—

क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः ।

परिदर की चिकित्सा—बुद्धिमान् वैद्य परिदर रोग में शीतादरोग में कहीं गई क्रिया (उपचार) करे ।

शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत् ॥ ७९ ॥
ततः क्षीरं प्रयुञ्जीत क्रियाः सर्वाः सुशीतलाः ।

दन्तवैदर्भरोग में शस्त्र के द्वारा दांत की जड़ का संशोधन करे । उसके बाद दूध का प्रयोग करे और सभी शीतल उपचारों को करे ।

अधिदन्तचिकित्सा—

उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत् ॥ ८० ॥
क्रिमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता ।

अधिदन्त की चिकित्सा—अधिक दन्त को निकाल कर कुशल वैद्य अग्निकर्म करे और कृमिदन्त रोग के उपचार के तरह उपचार करे ।

अधिमांसचिकित्सा—

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरेतैश्चूर्णैरुपाचरेत् ॥ ८१ ॥
पाठावचातेजवतीस्वर्जिकायावशूकजैः ।
क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः ॥ ८२ ॥
पटोलनिम्बत्रिफलाकषायैश्चात्र धावनम् ।

शिरोविरेकश्च हितो धूमो वैरेचनश्च यः ॥ ८३ ॥

अधिमांस की चिकित्सा—दन्तमूलगत अधिमांस रोग को छेदन कर पाढ़ी, वच, तेजवल, सज्जीक्षार तथा यवक्षार समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण में मिलाकर उपचार करे। और इस में मधु तथा पीपर का चूर्ण मिलाकर कवल (कुल्ला) धारण करे। इस रोग में परवल, नीम तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला) के क्वाथ से दन्तधावन करे। इसके अतिरिक्त इसमें शिरोविरेचन एवं वैरेचनिक धूम का प्रयोग हितकर होता है ॥ ८१-८३ ॥

दन्तनाडीचिकित्सा—

नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत् ।
यद्दन्तमधिजायेत नाडीदन्तं तमुद्धरेत् ॥ ८४ ॥

दन्तनाडी की चिकित्सा—पाँचों प्रकार के दन्तनाडी रोग में शल्य तन्त्र में बताये हुए नाडीव्रण-नाशक उपचार करे। जिस दाँत मे नाडीदन्त (दन्तनासूर) हो जाय उसको उखाड़ दे ॥ ८४ ॥

छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत् ।
शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा ॥ ८५ ॥
गतिर्हिनस्ति हन्वस्थि दशने समुपेक्षिते ।
तस्मात्समूलं दशनमुद्धरेद्भग्नमस्थि च ॥ ८६ ॥

यदि ऊपर की पंक्ति का दाँत न हो तो शस्त्र से दन्तमसूड़ा के मांस को काटकर तथा साफ कर क्षार या अग्नि से दग्ध कर दे। दन्तनाड़ीवाले दाँत की उपेक्षा करने पर हन्वस्थि की गति को नष्ट कर देता है इस कारण से जड़-सहित दाँत को उखाड़े और टूटी हुई हड्डी को भी उखाड़े ॥ ८५-८६ ॥

उद्धृते तूत्तरे दन्ते शोणितं यत्प्रसिच्यते ।
रक्तातियोगात्पूर्वोक्ता घोरा रोगा भवन्ति हि ॥ ८७ ॥
चलमप्युत्तरं दन्तमतो नापहरेद्भिषक् ।

ऊपर की पंक्ति के दाँत उखाड़ने पर जो शोणित निकलता है उससे अधिक रक्त निकलने के कारण पूर्वोक्त भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं। अतः वैद्य को ऊपर की पंक्ति के हिलते हुय दाँत को कभी भी नहीं उखाड़ना चाहिए।

कषायं जातिमदनकटुकास्वादुकण्टकैः ॥ ८८ ॥
रोध्रखदिरमञ्जिष्ठायष्ट्याह्वैश्चापि यत्कृतम् ।
तैलं संशोधनं हन्यात्तद्धि दन्तगतां गतिम् ॥ ८९ ॥

जाती (चमेली), मदनफल, कुटकी तथा गोखरू समभाग—इन द्रव्यों के कल्क से जो बनाया हुआ तैल है वह संशोधन करनेवाला है और वह दाँत

के हिलने को दूर कर दृढ़ बना देता है। अर्थात् इस योग के प्रयोग से दाँत स्थिर एवं दृढ़ हो जाते हैं ॥ ८८-८९ ॥

कषायं परतः कृत्वा पिष्ट्वा रोध्रादि कल्कितम्।
कण्टकी मदनो योऽग्यः स्वादुकण्टा विकङ्कतः ॥ ९० ॥

कषाय को छोड़ कर लोध आदि पूर्वोक्त द्रव्यों का तथा छोटी कटेरी, मदनफल, गोखरू एवं विकङ्कत (कटाय, रामबबूर') इन द्रव्यों को पीस कर कल्क बनावे और उससे सिद्ध किया हुआ तैल का प्रयोग करे ॥ ९० ॥

शङ्खिन्यङ्कोलसुमनःकरवीरसुवर्चलाः।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥ ९१ ॥
सुखोष्णः स्नेहकवलः सर्पिषस्त्रैवृतस्य वा।
निर्यूहश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनः ॥ ९२ ॥
स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्नैहिकमेव च।

अपामार्ग, अंकोल (ढेरा), चमेली का पत्ता, कनेर का पत्ता तथा सुवर्चला (हुरहुर) इन शोधन करनेवाले द्रव्यों के कषाय, आरग्वधादि वर्ग का कषाय, अथवा निशोथ से सिद्ध घृत का थोड़ा गरम स्निग्ध कवल (कुल्ला)-धारण तथा वातनाशक औषधियों का कषाय दन्तहर्ष (दाँत में पानी लगना) को नाश करनेवाला है। दन्तनाड़ी एवं दन्तहर्षरोग में घृत-मिश्रित द्रव्यों का धूम तथा नस्य हितकर होता है।

दन्तशर्कराचिकित्सा—

अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक् ॥ ९३ ॥
लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्तां प्रतिसारयेत्।
दन्तहर्षक्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥ ९४ ॥

दन्तशर्करा की चिकित्सा—दाँत के जड़ों को नष्ट न कर वैद्य शर्करा को निकाल दे। इसके बाद लाख के चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण (अंगुलि से लेप) करे और दन्तहर्ष को नष्ट करनेवाले सभी उपचारों को भी करे ॥ ९३-९४ ॥

कपालिकाचिकित्सा—

कपालिका कृच्छ्रसाध्या तत्राप्येषा क्रिया हिता।

कपालिका की चिकित्सा—कपालिका दन्तरोग कष्टसाध्य होता है। वहाँ भी दन्तशर्करा के बताये गये उपचार हितकर होते हैं।

क्रिमिदन्तकचिकित्सा—

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं क्रिमिदन्तजम् ॥ ९५ ॥
तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः।

भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः।
हिङ्गु सोष्णं च मतिमान् कृमिदन्ते प्रदापयेत् ॥ ९६ ॥

कृमिदन्तक की चिकित्सा—कृमिदन्तक के न हिलते हुए दाँत को स्वेदन करने के बाद रक्तविस्रावण (रक्तनिर्हरण), वातनाशक औषधियों से अवपीडन, स्निग्ध द्रव द्रव्य का कवल-ग्रहण (कुल्ला मुख मे रखना), देवदार्वादि तथा पुनर्नवा का लेप और स्निग्ध भोजन के द्वारा जीत ले। अर्थात् पूर्वोक्त उपचारों से कृमिदन्तक रोग को नष्ट करे।

बुद्धिमान् व्यक्ति कृमिदन्त में हिंगु तथा मरिच का प्रयोग करे। (इसके प्रयोग से कृमियों के मूर्च्छित हो जाने पर शान्ति मिलती है) ॥ ९५-९६ ॥

बृहतीभूमिकदम्बकपञ्चाङ्गुलकण्टकिक्वाथैः।
गण्डूषस्तैलयुतः कृमिदन्ते वेदनोपशमः ॥ ९७ ॥

वनभंटा, धूलिकदम्ब (कदम्ब), पञ्चाङ्गुल (एरण्ड) तथा कण्टकि (भटकटैया), इन द्रव्यों के क्वाथ में तैल मिलाकर कुल्ला करना कृमिदन्त रोग की पीड़ा को शान्त करता है ॥ ९७ ॥

सर्षपकरञ्जकोषातकिनिर्गुण्डीखदिरनिम्बपीलूनाम्।
तैलं रुजं द्विजानां शमयेद्वार्ताकधूमश्च ॥ ९८ ॥

सरसों, करञ्ज, नेनुआ, निर्गुण्डी, खैर, नीम तथा पीलु का तैल और वनभंटा या भटकटैया के बीज का धूम दाँत की पीड़ा को शान्त करता है ॥ ९८ ॥

नीली धात्री स्नुही बिम्बी हेमक्षीरी च पञ्चमी।
आसामन्यतमान्मूलं धारणात्कृमिदन्तजित् ॥ ९९ ॥

नीली (नील), आँवला, सेहुंड, बिम्बी (कुन्दरु) तथा पाँचवी सत्यानाशी इन द्रव्यों को किसी एक की जड़ मुख मे धारण करने से कृमिदन्तरोग नष्ट हो जाता है ॥ ९९ ॥

संपीड्य दशनैर्गाढं मूलं सम्यक्प्रधारितम्।
नाशयेद् दुग्धिकायास्तु कृमीन् दन्तसमुद्भवान् ॥ १०० ॥

दुग्धिका (दूधिया) की जड़ दाँतों से खूब चबाकर मुँह में अच्छी तरह धारण करने से दाँतों की क्रिमियों को नाश करती है ॥ १०० ॥

सौषिरे विदार्यादितैलम्—

चलमुद्धृत्य वा स्थानं दहेद्वै सौषिरस्य च।
ततो विदारीयष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुभिः।
तैलं दशगुणक्षीरसिद्धं नस्ये प्रपूजितम् ॥ १०१ ॥

सौषिर रोग में विदार्यादि तैल—सौषिर रोग में चलते हुए दांत को निकालकर उसके स्थान को दग्ध कर दे। इसके बाद बिदारीकन्द, मुलेठी,

सिंघाड़ा तथा कसेरू समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ दशगुने दूध में (तैल-निर्माण विधि के अनुसार) तैल सिद्ध करे। और इसका प्रयोग सौषिर रोग में करे। यह तैल नस्य के लिये प्रशस्त है॥ १०१॥

हनुमोक्षचिकित्सा—

हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्यादर्दितवत्क्रियाम्।

हनुमोक्ष की चिकित्सा—हनुमोक्ष नामक दन्तरोग में वातव्याधि के अर्दित रोग में बताई गई चिकित्सा एवं क्रिया को करे।

दन्तरोगेऽपथ्यानि—

फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्॥ १०२॥
तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्तरोगी विवर्जयेत्।

दन्तरोग में अपथ्य—दांत के रोग से पीड़ित व्यक्ति खट्टे फल, शीतल जल, रूक्ष अन्न का सेवन, दन्तधावन तथा अत्यन्त कड़े भक्ष्य पदार्थों को त्याग दे।

कण्टकचिकित्सा—

ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक्चिकित्सितम्॥ १०३॥
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्यं भिषजा खलु।

कण्टक-चिकित्सा—वातजन्य ओष्ठप्रकोप में जो चिकित्सा पहले बताई जा चुकी है उस चिकित्सा को वैद्य सभी प्रकार के वातजन्य जिह्वाकण्टक रोग में करे।

पित्तजेषु निघृष्टेषु निःस्रुते दुष्टशोणिते॥ १०४॥
प्रतिसारणगण्डूषा नस्यं च मधुरं हितम्।

पित्तजन्य जिह्वाकण्टक में घर्षण करने के बाद दूषित रक्त के निकल जाने पर मधुर द्रव्यों के क्वाथ से कुल्ला करना तथा नस्य लेना हितकर है।

कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये॥ १०५॥
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यं च प्रतिसारणम्।
गृह्णीयात्कवलं चापि गौरसर्षपसैन्धवैः॥ १०६॥
पटोलनिम्बवार्ताकक्षारयूषैश्च भोजयेत्।

कफजन्य जिह्वाकण्टक रोग में लेखन कर रक्त निकाल देने के बाद पिप्पल्यादि चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करे और सफेद सरसों तथा सेन्धानमक का कवल धारण करे तथा परवल, नीम, वनभंटा तथा यवक्षार के यूष के साथ भोजन करे।

उपजिह्वाचिकित्सा—

उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्॥ १०७॥

शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनामुपाचरेत् ।

उपजिह्वा की चिकित्सा—उपजिह्वा को लेखन कर यवक्षार से प्रतिसारण (अंगुलि से लेप करे) और शिरोविरेचन, गण्डूषधारण तथा धूम के द्वारा उपचार करे।

मालत्यग्रसमुत्थश्च पल्लवो वारिपेषितः ।
नाशयेल्लेपनेनैव नराणामुपजिह्विकाम् ॥ १०८ ॥

चमेली के अग्रभाग के मुलायम पत्तों को जल के साथ पीसकर लेप करने मात्र से ही मनुष्यों का उपजिह्विका रोग नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

उपजिह्वाया व्योषाद्यं तैलम्—

व्योषक्षाराभयावह्नि-चूर्णमेतत्प्रघर्षणम् ।
उपजिह्वाप्रशान्त्यर्थमेभिस्तैलं विपाचयेत् ॥ १०९ ॥

उपजिह्विका रोग में व्योषाद्य तैल—उपजिह्विका रोग में व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), यवक्षार, हर्रे तथा चित्रक समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण घर्षण करे और इन्हीं द्रव्यों के कल्क के साथ तैल पकाये तथा उस तैल को उपजिह्विका की शान्ति के लिये प्रयोग करे ॥ १०९ ॥

गलशुण्डीचिकित्सा—

तालुमूले कफासृग्भ्यां जायते गलशुण्डिका ।
छित्त्वा तां व्योषसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥ ११० ॥

गलशुण्डी की चिकित्सा—दूषित कफ एवं रक्त के द्वारा तालु के मूल भाग में गलशुण्डिका होती है। उसको शस्त्र के द्वारा काट कर निकाल दे और व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर उसको मधु में मिलाकर प्रतिसारण (लेप) करे ॥ ११० ॥

गलशुण्डी शमं याति वज्रीक्षीरेण लेपिता ।

वज्रीक्षीर (सेहुण्ड का दूध) का लेप करने से गलशुण्डी शान्त हो जाती है।

कुष्ठोषणवचासिन्धुकणापाठाम्लवेतसैः ॥ १११ ॥
सक्षौद्रैर्भिषजा कार्यं गलशुण्ड्याः प्रघर्षणम् ।

कूठ, मरिच, वच, सेन्धानमक, पीपर, पाढ़ी तथा अम्लवेत, समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर उससे बुद्धिमान् वैद्य गलशुण्डी का प्रघर्षण करे।

स्नुक्क्षीरं काष्ठिकाग्रेण कृत्वा तु गलशुण्डिकाम् ॥ ११२ ॥
स्पृशेदाशु विनाशाय तथा चैवोपजिह्विकाम् ।
गलशुण्डीं तु संछिद्य कुर्यात्प्राप्तमिदं क्रमम् ॥ ११३ ॥

सेहुड़ का दूध काष्ठिका (वनकदली) के अग्रभाग से उठाकर गलशुण्डिका को शीघ्र नष्ट करने के लिये स्पर्श (लेप) करे और उपजिह्विका को भी उसी प्रकार लेप करे। अर्थात् सेहुड़ का दूध लेप करने से गलशुण्डी तथा उपजिह्विका दोनों रोग शान्त हो जाते हैं। गलशुण्डी को छेदन करने के बाद निम्नलिखित उपचार कर्म को करे ॥ ११२–११३ ॥

मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः।
क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तं प्रतिसारयेत् ॥ ११४ ॥

मरिच, अतीस, पाढ़ी, वच, कूठ तथा कुटन्नट (केवटीमोथा)—इन द्रव्यों के चूर्ण में मधु तथा सेन्धानमक मिलाकर उससे गलशुण्डिका रोग को प्रतिसारण (लेप) करे ॥ ११४ ॥

वचामतिविषां रास्नां पाठां कटुकरोहिणीम्।
निःक्वाथ्य पिचुमन्दं च कवलं तत्र दापयेत् ॥ ११५ ॥
क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः।

वच, अतीस, रासन, पाठा कटुरोहिणी (कटुकी) तथा नीम समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उसका कवल (कुल्ला) धारण कराये। इसके बाद भोजन के लिये यवक्षार से सिद्ध मूंग के यूष को दे।

दालनादिचिकित्सा—

दालने कृमिसंघाते तुण्डिके तालुपुप्पुटे ॥ ११६ ॥
एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि।

दालन आदि रोगों की चिकित्सा—दालन, कृमिदन्त या कृमिसंघात, गलशुण्डिका तथा तालुपुप्पुट इन रोगों में शस्त्रकर्म करने के बाद विशेषकर पूर्वोक्त गलशुण्डिका के उपचार मे बताई गई विधि (उपचार) को करे।

तालुपाकचिकित्सा—

तालुपाके प्रकर्तव्यं विधानं पित्तसाधनम् ॥ ११७ ॥

तालुपाक-चिकित्सा—तालुपाक रोग में पित्तशामक उपचारों को करे ॥ ११७ ॥

तालुशोषचिकित्सा—

स्नेहस्वेदस्तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः।

तालुशोष की चिकित्सा—तालुशोष रोग में वातनाशक स्नेहन तथा स्वेदन आदि चिकित्सा करे ॥

कण्ठरोहिणीचिकित्सा—

साध्यानां रोहिणीना च हित शोणितमोक्षणम् ॥ ११८ ॥
छर्दनं धूमपानं च गण्डूषो नस्यकर्म च।

कण्ठरोहिणी की चिकित्सा—साध्य रोहिणी रोगों में रक्तमोक्षण कराना

हितकर होता है। और छर्दन, धूम्रपान, कवल-धारण तथा नस्यकर्म लाभदायक होता है।

वातिकी तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ॥ ११९ ॥
सुखोष्णैस्तैलकवलान् कारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः।

वातजन्य कण्ठरोहिणी को रक्तमोक्षण के बाद पञ्चलवण से प्रतिसारण करे और थोड़े गरम तैल के कवल (कौर-कुल्ला) को निरन्तर धारण करे।

पतङ्गशर्कराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत् ॥ १२० ॥
द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहः।

पैत्तिक कण्ठरोहिणी को पतङ्ग का चूर्ण शक्कर तथा मधु मिलाकर प्रतिसारण करे और मुनक्का तथा फालसा के क्वाथ का कवल धारण भी करे। यह उपचार पैत्तिक कण्ठरोहिणी में हितकर है।

आगारधूमकटुकैः कफजां प्रतिसारयेत् ॥ १२१ ॥
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम्।
नस्यकर्मणि दातव्यं केवलं च कफोच्छ्रये ॥ १२२ ॥

कफजन्य कण्ठरोहिणी को भोजनालय का धूम तथा कुटकी के चूर्ण से प्रतिसारण (लेप) करे और केवल कफोल्वण कण्ठरोहिणी में श्वेतवच, वायविडङ्ग तथा दन्तीमूल समभाग—इन द्रव्यों के कल्क में सिद्ध तैल को सेन्धानमक मिलाकर नस्यकर्म के लिये प्रयोग करे ॥ १२१–१२२ ॥

पित्तवद्धारयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसंभवाम्।

वैद्य रक्तजन्य कण्ठरोहिणी की चिकित्सा पैत्तिक कण्ठरोहिणी की चिकित्सा के तरह करे।

कण्ठशालूकचिकित्सा—

विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत् ॥ १२३ ॥
एककालं तथाऽन्नं च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः।

कण्ठशालूक की चिकित्सा—कण्ठशालूक रोग में रक्तमोक्षण कराने के बाद तुण्डिकेरी की तरह चिकित्सा तथा उपचार करे और एक समय थोड़ा सा स्निग्ध अन्न (हलुआ या खीर) भोजन करे।

अधिजिह्वाचिकित्सा—

उपजिह्विकवच्चापि प्रकुर्यादधिजिह्वके ॥ १२४ ॥
उन्नम्य जिह्वामाकृष्टां बडिशेनाधिजिह्विकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णोष्णैर्घर्षणादिभिः ॥ १२५ ॥

अधिजिह्वा की चिकित्सा—अधिजिह्वा रोग में उपजिह्विका के तरह उपचार करे। तीक्ष्ण एवं उष्ण द्रव्यों के घर्षण के द्वारा जिह्वा को ऊपर उठाकर बडिश

नामक यन्त्र से अधिजिह्विका को पकड़ कर मण्डलाग्र नामक शस्त्र से छेदन कर दे। इसके बाद उपजिह्विका में बताये गये प्रतिसारण, कवल-धारण आदि उपचारों को करे॥ १२४-१२५॥

एकवृन्दचिकित्सा—

एकवृन्दं संलिख्य विधिं शोधनमाचरेत्।

एकवृन्द की चिकित्सा—एकवृन्द-नामक कण्ठरोग को भेदन या लेखन कर शोधन करनेवाले उपचार को करे।

गिलायुचिकित्सा—

गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत्॥ १२६॥

गिलायु की चिकित्सा—गिलायु नामक जो कण्ठ का रोग है उसको शस्त्र-कर्म के द्वारा सिद्ध करे॥ १२६॥

गलविद्रधिचिकित्सा—

अमर्मस्थमपक्कं च भेदयेद् गलविद्रधिम्।
कण्ठरोगेष्वसृङ्मोक्षस्तीक्ष्णैर्नस्यादिकर्म च॥ १२७॥
क्वाथपानं च दार्वीत्वङ्निम्बतार्क्ष्यकलिङ्गजम्।
हरीतकीकषायो वा पेयो माक्षिकसंयुतः॥ १२८॥

गलविद्रधि की चिकित्सा—जो गलविद्रधि मर्मस्थान में न हो और परिपक्क न हुई हो, उसको भेदन करे। सभी प्रकार के कण्ठरोगों में रक्तनिर्हरण, तीक्ष्ण द्रव्यों (क्षार आदि) के द्वारा नस्य, प्रतिसारण आदिकर्म, दारुहल्दी, दालचीनी, नीम, तार्क्ष्य (पातालगरुडी) तथा बहेड़ा समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ-पान, मधु मिलाकर हर्रे के क्वाथ का पान करे॥ १२७-१२८॥

कटुकातिविषापाठादारुमुस्तकलिङ्गकाः।
गोमूत्रकथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः॥ १२९॥

कुटकी, अतीस, पाठा, देवदारु, नागरमोथा तथा बहेड़ा समभाग—इन द्रव्यों को गाय के मूत्र में क्वाथ कर पान करे। इन द्रव्यों का क्वाथ कण्ठ के रोगों को नाश करनेवाले हैं॥ १२९॥

कण्ठरोगेषु यवाग्रजाद्या गुटिका—

यवाग्रजं तेजवतीं सपाठां रसाञ्जनं दारुनिशां सकृष्णाम्।
क्षौद्रेण कुर्याद् गुटिकां मुखेन तां धारयेत्सर्वगलामयेषु॥ १३०॥

कण्ठरोगों में यवाग्राद्या गुटिका—यवाग्रज (यवक्षार), तेजवल, पाढ़ी, रसाञ्जन, दारुहल्दी तथा पीपर समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर मधु के साथ गुटिका बनावे और इस गुटिका को सभी प्रकार के कण्ठ के रोगों में मुख में रखकर उसके रस को गले में ले जाय॥ १३०॥

कण्ठरोगेषु पञ्चकोलाद्या गुटिका—

पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः ।
पलाशमुष्ककक्षारौ यवक्षारश्च चूर्णितम् ॥ १३१ ॥
द्विगुणेन गुडेनैता गुटिकाः कोलमात्रकाः ।
सप्ताहं संस्थिता भस्मे तप्ते मुष्ककभस्मनि ।
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः ॥ १३२ ॥

सभी प्रकार के कण्ठ रोगों में पञ्चकोलाद्या गुटिका—पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ), तालीसपत्र, बड़ी इलायची, मरिच, दालचीनी, पलाश तथा मुष्कक (पाढ़ल) का क्षार, और यवक्षार समभाग—इन द्रव्यों को चूर्ण कर, चूर्ण के दुगुना गुड़ की चासनी में मिलाकर बैर के बराबर गुटिका बनावे और थोड़े गरम पाढ़ल के भस्म (राख में) एक सप्ताह तक रक्खे और इसके बाद प्रयोग में ले।

यह गुटिका सभी प्रकार के कण्ठ रोगों में धारण करने से अमृत के सदृश गुणकारी है। अर्थात् सभी प्रकार के कण्ठरोगों को नाश करती है ॥१३१–१३२॥

मुखपाकचिकित्सा—

वातात्सर्वसर चूर्णैर्लावणैः प्रतिसारयेत् ।
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥ १३३ ॥

मुखपाक की चिकित्सा—वातजन्य सर्वसर (मुखपाक) रोगों को पञ्चलवण या लावन के लिये उपयुक्त चूर्णों से प्रतिसारण (लेप) करे। इस रोग में वातनाशक (एरण्ड, रास्ना आदि) द्रव्यों से सिद्ध (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) तैल-कवल-धारण तथा नस्य कर्म के लिये हितकर है ॥ १३३ ॥

पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः ।
सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥ १३४ ॥
प्रतिसारणगण्डूषान् धूमं संशोधनानि च ।

पैत्तिक सर्वसर (मुखपाक) रोग में वमन-विरेचनादि से शुद्ध शरीरवाले रोगी के लिये सभी पित्तनाशक शीतल तथा मधुर उपचार करे।

कफात्मके सर्वसरे क्रमं कुर्यात्कफापहम् ॥ १३५ ॥

कफजन्य सर्वसर (मुखपाक) में कफनाशक प्रतिसारण, गण्डूष (कुल्ला धारण), धूम्रपान तथा संशोधन आदि उपचार करे ॥ १३५ ॥

मुखपाके शिरावेधः शिरःकायविरेचनम् ।
कार्यं च बहुधा नित्यं जातीपत्रस्य चर्वणम् ॥ १३६ ॥

मुखपाक में शिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण, शिरोविरेचन, कायविरेचन आदि

अनेक प्रकार के उपचार करे और प्रतिदिन चमेली के पत्ते को चवाकर मुख में धारण करे ॥ १३६ ॥

जातीपत्रामृताद्राक्षापाठादार्वीफलत्रिकैः ।
क्वाथः क्षौद्रयुतः शीतो गण्डूषो मुखपाकनुत् ॥ १३७ ॥

चमेली का पत्ता, गुडूची, मुनक्का, पाढ़ी, दारुहल्दी तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) समभाग—इन द्रव्यों का शीतल क्वाथ मधु मिलाकर गण्डूष (कुल्ला) करने से सभी प्रकार के मुखपाक को नाश करता है ॥ १३७ ॥

पटोलनिम्बजम्ब्वाम्रमालतीधवपल्लवाः ।
पञ्चपल्लवकः श्रेष्ठः कषायो मुखधावने ॥ १३८ ॥

परवल, नीम, जामुन, आम, चमेली तथा धव वृक्ष के पल्लव के कषाय और पञ्चपल्लव[1] (आम, जामुन, कैथ, विजौरा नींबू, वेल) का कषाय मुख धोने के लिये श्रेष्ठ है। अर्थात् इसके काढ़ा से कुल्ला करना मुखपाक को दूर करता है ॥ १३८ ॥

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया ।
सक्षौद्रो मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहः ॥ १३९ ॥

दारुहल्दी के स्वरस को क्वाथकर गाढ़ा किये हुए पदार्थ को रसक्रिया कहते हैं। यह घनीभूत पदार्थ (रसक्रिया) मधु मिलाकर सेवन करने से मुखरोग, रक्तदोष तथा नाडीव्रण को नाश करता है ॥ १३९ ॥

मुखरोगे सप्तच्छदादिक्वाथः—

सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्तहरीतकीतिक्तकरोहिणीभिः ।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथं पिबेत्पाकहरं मुखस्य ॥ १४० ॥

मुखरोग में सप्तच्छदादि क्वाथ—छतिवन, खस, परवल की पत्ती, मोथा, हर्रे, कटुकी, मुलेठी, अमलतास तथा रक्तचन्दन समभाग—इन द्रव्यों के क्वाथ को पान करे। यह मुखपाक को दूर करनेवाला है ॥ १४० ॥

मुखरोगे पटोलादिक्वाथः—

पटोलशुण्ठीत्रिफलाविशालात्रायन्तितिक्ताद्विनिशामृतानाम् ।
पीतः कषायो मधुना निहन्ति मुखस्थितश्चास्यगदानशेषान् ॥१४१॥

मुखरोग में पटोलादिक्वाथ—परवल की पत्ती, सोंठ, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), इन्द्रायण, त्रायमाणा, कटुकी, आमाहल्दी, दारुहल्दी तथा गुडूची

---

१. आम्र-जम्बू-कपित्थ-बीजपूर-बिल्व-पल्लवेषु ।
आम्र-जम्बू-कपित्थानां बीजपूरक-बिल्वयोः ।
गन्धकर्मणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम् ॥

समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ मधु मिलाकर पान करने से मुख में होनेवाले सभी मुख के रोगों को नाश करता है ॥ १४१ ॥

क्वथिता त्रिफला पाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः ।
निषेव्या भक्षणीया वा त्रिफला मुखपाकहा ॥ १४२ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), पाढ़ी, मुनक्का तथा चमेली की पत्ती समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ सेवन करने से अथवा त्रिफला भक्षण करने से मुखपाक को नाश करती है ॥ १४२ ॥

मुखरोगे पटोलादिकषायः—

पटोलमुस्तामलकोत्पलानि दुरालभाचन्दनसारिवाश्च ।
शृतानि शीतानि मुखामयेषु तोयानि सक्षौद्रसितोपलानि ॥ १४३ ॥

मुखरोग में पटोलादि कषाय—परवल की पत्ती, मोथा, आंवला, नीलकमल, दुरालभा (यवासा या धमासा), रक्तचन्दन तथा सारिवा समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ कर शीतल किया हुआ कषाय सभी प्रकार के रोगों में मधु तथा मिश्री मिलाकर पान करे ॥ १४३ ॥

मुखरोगे किराततिक्तकादिकषायः—

किराततिक्तं कटुरोहिणी च जातिप्रवालाः सपटोलनिम्बाः ।
भिन्ने मुखे माक्षिकसंप्रयुक्ताः कषाययोगाः प्रतिसारणानि ॥ १४४ ॥

मुखरोग में किराततिक्तकादि कषाय—किराततिक्त (चिरायता), कटुकी, चमेली के पल्लव, परवल का पञ्चाङ्ग तथा नीम की छाल समभाग—इन द्रव्यों का गाढ़ा कषाय मधु मिलाकर मुख के कट जाने पर प्रतिसारण (लेप) करे ॥ १४४ ॥

मुखरोगे द्राक्षादिकषायः—

द्राक्षा पटोलं मधुकं सनिम्बं त्रिवृद्धरिद्रा सुमनःप्रवालाः ।
ससैन्धवं क्षौद्रयुतं वदन्ति सुखोष्णकल्कं व्रणशोधनीयम् ॥ १४५ ॥

मुखरोग में द्राक्षादि कषाय—मुनक्का, परवल, मुलेठी, नीम, निशोथ, हल्दी, चमेली के पल्लव तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों के कल्क मधु मिलाकर थोड़ा गरम कर प्रयोग करने से व्रण को शोधन करनेवाले कहे जाते हैं ॥ १४५ ॥

द्राक्षागुडूचीसुमनःप्रवालदार्वीयवासत्रिफलाकषायः ।
क्षौद्रेण युक्तः कवलग्रहोऽयं मुखस्य पाकं शमयत्युदीर्णम् ॥ १४६ ॥

मुनक्का, गुडूची, चमेली का पल्लव, दारुहल्दी, यवासा तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), समभाग—इन द्रव्यों का कषाय मधु मिलकर

कवलग्रह (कुल्ला ग्रहण) करने से यह योग तीव्र मुखपाक को शान्त करता है ॥ १४६ ॥

मुखपाके तिलादिगण्डूषः—

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ।
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो मुखपाकनुत् ॥ १४७ ॥

मुखपाक में तिलादिगण्डूष—तिल, नीलकमल, घृत, शक्कर तथा दूध मधुसहित इन द्रव्यों का गण्डूष (कुल्ला धारण) जले मुखवाले व्यक्ति का 'मुखपाक' दूर करता है ॥ १४७ ॥

स्वरभङ्गे जातीपत्रादिलेहः—

जातीपत्रं कणा लाजा मातुलुङ्गदलं मधु ।
एला लेहे भवेन्नादः किन्नरस्वरतोऽधिकः ॥ १४८ ॥

स्वरभंग में जातीपत्रादि लेह—चमेली की पत्ती, पीपर, धान का लावा, बिजौरा निम्बू का पत्ता, मधु तथा बड़ी इलायची—इन द्रव्यों का अवलेह 'स्वरभङ्ग' रोग में चाटने पर किन्नर के स्वर से भी अधिक उत्तम स्वर हो जाता है ॥ १४८ ॥

व्यङ्गे जातीपत्रादिलेपः—

जातीपत्राणि जातेश्च फलं सपिष्य वारिणा ।
तस्य लेपे कृते याति मुखे दुर्व्यङ्गलाञ्छनम् ॥ १४९ ॥

व्यङ्गरोग में जातीपत्रादि लेप—चमेली के पत्र तथा जायफल इन दोनों द्रव्यों को जल के साथ पीसकर मुख में लेप करने पर मुख का दुर्व्यंङ्ग-चिह्न (मुख-दूषिका या मुहासे) नष्ट हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

मुखरोगे लाक्षारसाद्यं तैलम्—

तैलं लाक्षारसं क्षीरं पृथक्प्रस्थं समं पचेत् ।
चतुर्गुणेरिमक्वाथे द्रव्यैश्च पलसंमितैः ॥ १५० ॥
रोध्रकट्फलमञ्जिष्ठापद्मकेसरपद्मकैः ।
चन्दनोत्पलयष्ट्याह्वैस्तैलगण्डूषधारणम् ॥ १५१ ॥
दालनं दन्तचालं च दन्तमोक्षं कपालिकाम् ।
शीतादं पूतिवक्त्रं च अरुचिं विरसास्यताम् ।
हन्यादाशु गदानेतात् कुर्याद्दन्तानपि दृढान् ॥ १५२ ॥

मुखरोग में लाक्षारसादि तैल—तैल एक प्रस्थ (चौंसठ तोला), लाक्षारस एक प्रस्थ तथा दूध एक प्रस्थ इन तीनों द्रव्यों को इरिम (अरिमेद 'विटखदिर') के चौगुने क्वाथ में कल्कार्थ—लोध, कायफर, मंजीठ, कमल का पराग, पद्मकाठ, रक्तचन्दन, नीलकमल तथा मुलेठी एक एक पल इन द्रव्यों

के कल्क के साथ तैल (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) पकावे और इस तैल का गण्डूष (कुल्ला) धारण करे। यह तैल दांत के दालनरोग, दन्तचाल (दांत का हिलना), दन्तमोक्ष (दांत का निकल जाना), कपालिका, शीताद, पूतिवक्त्र, अरुचि तथा मुखका फीकापन आदि इन मुख एवं दांत के रोगों को शीघ्र ही नाश करता है और दांतों को मजबूत बनाता है ॥ १५०–१५२ ॥

मुखरोगे खदिरादिगुटिका—

खदिरस्य तुलां सम्यग्जलद्रोणे विपाचयेत् ।
शेषाष्टभागे तत्रैव प्रतिवाप प्रदापयेत् ॥ १५३ ॥

मुखरोग में खदिरादि गुटिका—खैर एक तुला (पांच सेर = ४ कि० ६६५ ग्राम० ५२० मि. ग्रा.), जल एक द्रोण (१०२४ तो०=११ कि० ८९ ग्रा० ३८७ मि० ग्रा०), में अच्छी तरह पकावे अष्टमांश शेष रहने पर पुनः उसे गाढ़ाकर प्रक्षेप द्रव्य (चमेली का पत्ता, कपूर, सुपारी तथा शीतलचीनी इन द्रव्यों का चूर्ण) मिलाकर वटी बनालें (और मुख में धारण करे यह मुख के सौभाग्य को बढ़ानेवाली है । अर्थात् मुख को स्वच्छ बनानेवाली है) ॥ १५३ ॥

मुखरोगे जात्याद्या गुटिका—

जातीकर्पूरपूगानि कक्कोलकफलानि च ।
इत्येषां गुटिका धार्या मुखसौभाग्यवर्धिनी ।
दन्तौष्ठमुखरोगेषु जिह्वाताल्वामयेषु च ॥ १५४ ॥

मुखरोग में जात्याद्या गुटिका—चमेली की पत्ती, कपूर, सुपारी तथा शीतलचीनी, कपूर को छोड़कर, इन तीनों द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण बनावे और थोड़ा सा कपूर मिलाकर जल के साथ गुटिका बनाले। इस सौभाग्य को बढ़ानेवाली अर्थात् मुख को स्वच्छ करनेवाली गुटिका को दन्तरोग, मुखरोग, जिह्वागतरोग तथा तालुगत रोगों में मुख में धारण करे ॥ १५४ ॥

विमर्श—खदिरादि गुटिका तथा जात्याद्या गुटिका एक ही योग है ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि खदिरादि गुटिका में खैर के अष्टमांश शेष क्वाथ में 'तत्रैव प्रतिवापं प्रदापयेत् ।' कह कर छोड़ दिया गया है और इसके बाद जाती, कर्पूरपूगानि कक्कोलकफलानि च' इत्यादि द्रव्यों की वटी बनाने के लिये निर्देश किया गया है। इसका समन्वय करने से यही प्रतीत हो रहा है कि यह खदिरादि गुटिका का ही योग है। बीच में जात्याद्या गुटिका का प्रमादवश या प्रिंट की गड़बड़ी से छप गया है।

मुखरोगे कतिपययोगाः—

निशाजीवन्तिकादारुमञ्जिष्ठाशालितन्दुलैः ।

मुखरोगहरं पक्वं दुग्धं सिक्थघनान्वितम् ॥ १५५ ॥

मुखरोग में कुछ योग—हल्दी, जीवन्ती, देवदारु, मंजीठ तथा जड़हन धान का चावल—इन द्रव्यों के साथ मोम तथा नागरमोथा का चूर्ण मिला कर पकाया हुआ दूध लेप करने से मुख के रोगों को दूर करता है ॥ १५५ ॥

कुम्भीरपादसंयुक्तं क्षीरं पक्वं सुशीतलम् ।
एतत्पादप्रलेपेन दन्ता नैव चलन्ति हि ॥ १५६ ॥

कुम्भीर (नाक-जलचर विशेष) का पैर डालकर पकाया हुआ दूध शीतल कर पैर में लेप करने से दांत नहीं हिलते हैं। (या कुम्भीर-नामक प्रभद्रादि गण-पठित द्रव्य दूध के चौथाई डाल कर पकाया हुआ दूध पैर में लेप करने से दांत हिलते नहीं है अर्थात् मजबूत हो जाते हैं ॥ १५६ ॥

सिक्थकं यावकोपेतं कटुतैलेन पाचितम् ।
उष्णे विपादिकां हन्ति लेपतो वेगतोऽखिलाम् ॥ १५७ ॥

मोम तथा यवक्षार मिलाकर सरसों के तैल में पकाया हुआ थोड़ा २ गरम लेप लगाने से सभी विपादिका (बेवाय = एक प्रकार का क्षुद्र कुष्ठरोग) को नाश करता है ॥ १५७ ॥

कनकभुजगवल्लीमालतीपत्रदूर्वा-
रसबलिकुनटीभिर्मर्दितस्तैलयुक्तः ।
अपहरति रसेन्द्रो मर्दनात्कुष्ठकण्डू-
स्फुटनकठिनमङ्गे श्यामलत्वं त्वचायाः ॥ १५८ ॥

कनक (धतूर), भुजगवल्ली (नागवल्ली लता), पान, चमेली की पत्ती, दूर्वारस, बलि (गन्धक) तथा कुनटी (मैनशिल)—इन द्रव्यों के साथ तैल मिलाकर मर्दन किया (घोटा हुआ) रसेन्द्र (पारा) शरीर में मर्दन (मलने) से कुष्ठ रोग, कण्डु, भयंकर स्फोटक (फोड़िया-फुन्सी) तथा त्वचा की श्यामलता (कालापन) को दूर करता है ॥ १५८ ॥

मुखरोगे खदिरादिगुटिका—

गायत्रिसारतुलयेरिमवल्कलानां
सार्धं तुलायुगलमम्बुघटैश्चतुर्भिः ।
निःक्वाथ्य पादमवशेष्य सुवस्त्रपूतं
भूयः पचेदथ शनैर्मृदुपावकेन ॥ १५९ ॥
तस्मिन् घनत्वमुपगच्छति चूर्णमेषां
श्लक्ष्णं क्षिपेच्च कवलग्रहभागिकानाम् ।
एलामृणालसितचन्दनचन्दनाम्बु-
श्यामातमालविकसाघनलोहयष्टी- ॥ १६० ॥

लज्जाफलत्रयरसाञ्जनधातकीभ-
श्रीपुष्पगैरिककटङ्कटकट्फलानाम् ।
पद्माटलोध्रवटरोहयवासकानां
मांसीनिशासुरभिवल्कलसंयुतानाम् ॥ १६१ ॥
कङ्कोलजातिफलकोललवङ्गकानि
चूर्णीकृतानि विदधीत पलांशकानि ।
शीतेऽवतार्य घनसारचतुःपलं च
क्षिप्त्वा कलायसदृशीर्गुटिकाः प्रकुर्यात् ॥ १६२ ॥
शुष्का मुखे विनिहिता विनिवारयन्ति
रोगान् गलोष्ठरसनाद्विजतालुजातान् ।
कुर्यान्मुखे सुरभितां पटुतां रुचिं च
स्थैर्यं परं दशनगां रसनालघुत्वम् ॥ १६३ ॥

मुखरोग में खदिरादि गुटिका—खैरसार (एक तुला पांच सेर), इरिमे (विटखदिर की छाल ढाई तुला=साढ़े बारह सेर) इन दोनों को लेकर जल चार घट (चार द्रोण=४७ कि०, ५६१ ग्रा० ५४८ मि० ग्रा०) में क्राथकर चतुर्थांश-अवशिष्ट क्वाथ को वस्त्र से छान ले और पुनः मन्द आंच से धीरे धीरे पकावे। उसके गाढ़ा हो जाने पर एक एक तोला (११ ग्रा० ६६४ मि० ग्रा०) निम्न लिखित द्रव्यों का महीन चूर्ण मिलादे। बड़ी इलायची, मृणाल (कमल का नाल), सफेद चन्दन, रक्तचन्दन, सुगन्धवाला, निशोथ, तमाल, विकसा (मंजीठ), घन (मोथा), लोह (अगरु), मुलेठी, लज्जालु, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), रसाञ्जन, धाय का फूल, गजपीपर, श्रीपुष्प (प्रपौण्डरीक = पुण्डरीय), गेरु, कटङ्कट (दारु हरिद्रा), कायफर, पद्माट (पट्ठा काठ), लोध, वटरोह (वटांकुर), यवासा; जटामांसी, हल्दी तथा सुरभिवल्कल (वकुल = मौलेसरी की छाल) एक एक तोला इन द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण और कंकोल (शीतल चीनी), जायफर, कोल (बैर) तथा लवंग एक एक पल (छटांक) इन द्रव्यों का महीन चूर्ण मिला दे। उतार कर शीतल हो जाने पर कपूर चार पल (छटांक) मिलाकर मटर के बराबर गुटिका बनावे। और छाया में सूख जाने पर मुख मे रक्खे। यह गुटिका मुख में रखने पर गला के रोग, ओष्ठगत रोग, जिह्वारोग, दन्तरोग तथा तालुगत रोगों को दूर करती है और मुख को सुगन्धित एवं कर्मण्य बनाती है तथा रुचि को उत्पन्न करती है। दांतों को अत्यन्त दृढ़ बनाती है और जिह्वा को हल्की कर देती है ॥१५९-१६३॥

ओष्ठस्फुटने जीवन्तिकादिघृतम्—

जीवन्तिकामदनतुत्थकचित्रवल्लीदार्वीयुतं कलमशालिसमन्वितं च ।

दुग्धं शृतं शमयति स्फुटनोपसर्गमालेपनादधरसंश्रयमाशु पुंसाम् ॥१६४॥

ओष्ठ के फटने में जीवन्तिकादि क्षीर—जीवन्ती, मदनफल, तूतिया, चित्रवल्ली (इन्द्रायण) तथा दारुहल्दी—इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर तथा जड़हन धान के चावल का चूर्ण दूध मिलाकर पकावे। गाढ़ा हो जाने पर ओष्ठों में लेप करे। यह लेप मनुष्यों के ओष्ठों को फटने से बचाता है तथा फटे हुए ओष्ठों को शीघ्र ही शान्त करता है ॥ १६४ ॥

मुखाद्रक्तप्रवृत्तौ काकोदुम्बरिकामूलयोगः—

काकोदुम्बरिकामूलं पिष्टं तन्दुलवारिणा ।
पानान्निवारयत्याशु प्रवृत्तं वदनादसृक् ॥ १६५ ॥

मुख से रक्त निकलने पर काकोदुम्बरिका मूल का योग—काकोदुम्बरिका (कठडूमर) का मूल चावल के धोवन के साथ पीसकर पान करने से मुख से निकलते हुए रक्त को शीघ्र ही रोक देता है ॥ १६५ ॥

मुखरोगे जातीपत्रयोगः—

संचर्वितैर्वक्त्रधृतैः प्रशान्तिं वक्त्रामयो गच्छति जातिपत्रैः ।
दन्तास्तु बीजैर्बकुलद्रुमस्य स्थानच्युता अप्यचला भवन्ति ॥ १६६ ॥

मुखरोग में जातीपत्र योग—चमेली के पत्तों को चबाकर मुँह में रखने से मुख का रोग शान्त हो जाता है और मौलेसरी के बीज को चबाकर मुख में रखने से अपने स्थान से हटे हुए तथा हिलते हुए भी दांत स्थिर (मजबूत) हो जाते है ॥ १६६ ॥

मुखदौर्गन्ध्ये मुस्तादियोगः—

मुस्तैलवालुमधुकैर्गदधान्यकाभ्यां
शुण्ठ्या च संनिहितया वदनान्तराले ।
स्वाभाविकोऽपि मुखमुज्झति पूतिगन्धो
वार्ता तु मद्यलशुनादिभवस्य कैव ॥ १६७ ॥

मुख के दुर्गन्धित होने पर मुस्तादि योग—मोथा, एलवालु तथा मुलेठी इन द्रव्यों के चूर्ण को कूठ तथा धनियां के चूर्ण और इलायची के साथ मुख के अन्दर रखने से स्वाभाविक भी मुख का दुर्गन्ध मुख को त्याग देता है। मद्य तथा लहसुन आदि के सेवन करने से उत्पन्न दुर्गन्ध के लिये क्या कहना है। अर्थात् सभी प्रकार के मुख-दुर्गन्ध को यह मुस्तादि योग दूर करता है ॥ १६७ ॥

मुखरोगे हरीतकीयोगः—

गोमूत्रमध्ये क्वथिता प्रगाढं मिश्यन्विता वालककुष्ठयुक्ता ।
निहन्ति पथ्या निहिता मुखान्तर्दौर्गन्ध्यमन्यानपि वक्त्रदोषान् ॥१६८॥

मुखरोग में हरीतकी योग—गाय के मूत्र में अच्छी तरह पकाई गई हरीतकी, सौंफ, सुगन्धवाला तथा कूठ के साथ मुख में रखने से मुख के अन्दर के दुर्गन्ध तथा मुख के अन्य दोषों को भी नाश करती है ॥ १६८ ॥

मुखदौर्गन्ध्ये कुष्ठादियोगः—

गदमरुबकजातीकोशजातीफलत्वग्-
विरचितगुटिकाभिर्वक्त्रमध्ये धृताभिः ।
व्रजति झटिति नाशं पूतिरास्यस्य गन्धः
सविधगतनितान्तोद्वेजिताशेषलोकः ॥ १६९ ॥

मुख-दौर्गन्ध्य में कुष्ठादि योग—गद (कूठ), मरुबक (मदनफल), जातीकोश (जायफर) तथा जायफर की छाल, समभाग—इन द्रव्यों की गुटिका बनाकर मुख में धारण करने से मुख का दुर्गन्ध शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १६९ ॥

मुखरोगे तैलाक्तदन्तधावनयोगः—

दौर्गन्ध्यमुखरोगघ्नं कटुतिक्तकषायकम् ।
अभ्यस्यमानं तैलाक्तमन्वहं दन्तधावनम् ॥ १७० ॥

मुखरोग में तैलाक्त मुखधावन—कटु, तिक्त तथा कषाय सरसों के तैल में मिलाकर प्रतिदिन दन्तधावन के लिये प्रयोग करने से मुख का दुर्गन्ध तथा मुख के रोगों को नाश करते हैं ॥ १७० ॥

चूर्णदग्धमुखप्रतीकारः—

ताम्बूलमध्यस्थितचूर्णकेन दग्धं मुखं यस्य भवेत्कदाचित् ।
तैलेन गण्डूषमसौ विदध्यादथारनालेन पुनः पुनर्वा ॥ १७१ ॥

चूना से जले हुए मुख का प्रतिकार—यदि पान के मध्य में लगाये हुए चूना से किसी का मुख जल गया हो तो वह तैल से कुल्ला करे या आरनाल (कांजी) से बार-बार कुल्ला करे ॥ १७१ ॥

कण्ठशालूके शेफालिकामूलयोगः—

शेफालिकामूलमुशन्ति कण्ठशालूकहन्तृ प्रविचर्वितं सत् ।
रोगं निहन्यादुपजिह्विकाख्यं नासान्तरप्रस्रुतरक्तधाराम् ॥ १७२ ॥

कण्ठशालूक में शेफालिका मूल योग—शेफालिका (निर्गुण्डी) की जड़ चबाने से कण्ठशालूक को नाश करनेवाली कही जाती है और उपजिह्विका-नामक रोग को नाश करती है एवं नासिका से निरन्तर निकलती हुई रक्त की धारा को रोक देती है ॥ १७२ ॥

कण्ठरोगे नस्यार्थं तैलम्—

मज्जासिद्धं देवदारी-फलानां मिश्रीभूतं वाजिनो वर्चसा यत् ।

तैलं तरस्याच्छीर्षकण्ठामयानां नाशायालं नस्यकर्मप्रयोगात् ॥१७३॥

कण्ठरोग में नस्य के लिये तैल—देवदारु के फल की मज्जा तथा घोड़े की लीद मिलाकर सिद्ध किया हुआ तैल नस्य कर्म में प्रयोग करने से सिर के रोग तथा कण्ठ के रोगों को अच्छी तरह दूर करता है ॥ १७३ ॥

कृमिदन्तके कतिपययोगाः—

गुञ्जावराहकर्ण्योरन्यतरस्याः समुद्धृतं मूलम् ।
दन्तैश्चर्वितमार्ति दशनघुणोत्थां निवारयति ॥ १७४ ॥

कृमिदन्तक में कुछ योग—गुञ्जा (घुंघुची 'रत्ती') तथा वराहकर्णी (अश्वगन्धा) इन दोनों मे से किसी एक का मूल निकालकर दांतों से चबाने पर दन्तकृमिजन्य पीड़ा को शान्त करता है ॥ १७४ ॥

मूलानि दुग्धिकाया नीलिन्या वा वराहकर्ण्या वा ।
स्नुहो वा घ्नन्ति घुणं दन्तैः संचर्व्यमाणानि ॥ १७५ ॥

दुधिया या नीलिनी (नीलिका) या वराहकर्णी (अश्वगन्धा) अथवा सेहुड का मूल दांतों से चबाकर (मुह मे धारण करने से) दांत के क्रिमियों को नाश करता है ॥ १७५ ॥

यस्याङ्गुष्ठस्य नखो भवति समुद्धृष्टलाङ्गलीलिप्तः ।
तदितरदिग्भवदशनक्रिमिरचिरात्पतति निर्जीवः ॥ १७६ ॥

जिस व्यक्ति के अगूठे के नखपर लांगली (कलिहारी) की छाल को घिसकर लेप किया जाता है उसके दूसरे तरफ के दांत में उत्पन्न क्रिमि निर्जीव होकर गिर जाते हैं ॥ १७६ ॥

कुम्भीरसेनान्वितदुग्धसिद्धघृतावसिक्ता दशना न शब्दम् ।
कुर्वन्ति सुप्तस्य विलेपिता वा भवन्ति केचित्कर्कटिकाङ्घ्रिणा वा ॥
इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे मुखरोगाधिकारः पञ्चमः ॥
संपूर्णश्चाय शालाक्याख्यस्तृतीयः खण्डः ।

कुम्भी (लाल फूल वाली पाढ़ल या कायफर) के रस तथा दूध से सिद्ध घृत को दांतों में लेप करने से दांत शब्द नहीं करते हैं अर्थात् हिलते नही है । अथवा कर्कटिका (केकड़ा) के पैर को दूध मे पीसकर लेप करने से सुन्न दाँत अपने कार्य को करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ १७७ ॥

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह मे पाँचवा
मुख रोगाधिकार समाप्त ।

शालक्य नामक तीसरा खण्ड समाप्त ।



॥ श्रीः ॥

गदनिग्रहः

(शल्यतन्त्रं नाम चतुर्थः खण्डः)

तत्रादौ ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डनिदानं व्याख्यास्यामः ।

सर्वप्रथम ग्रन्थि-अपची-अर्बुद तथा गलगण्ड का निदान कहते हैं ।

(निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥ १ ॥)

(जिस के गले में मुष्क (अण्डकोष) के समान बँधा हुआ (स्थिर) शोथ लटकता है वह बड़ा हो या छोटा हो उसको 'गलगण्ड' कहते हैं ॥ १ ॥)

वातजादिभेदेन ग्रन्थिलक्षणानि—

वातादयो मांसमसृक्प्रदुष्टाः संदुष्य मेदश्च तथा शिराश्च ।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं तु शोफं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ २ ॥

वातज आदि के भेद से ग्रन्थिरोग का लक्षण—वात, पित्त तथा कफ दूषित होकर मांस, रक्त, मेद एवं सिरा को दूषित कर गोल, उठे हुए, गांठदार शोथ को उत्पन्न कर देते हैं अतः इस रोग को 'ग्रन्थि' कहते हैं ॥ २ ॥

विमर्श—ग्रन्थि (सिस्ट Gyst) एक छोटी गोल सीमित आकारवाली एक गांठ है जिसमें गर्त के चारों ओर कलाओं का एक कोष होता है और कोष के भीतर द्रव अथवा अर्धद्रव तरल पदार्थ भरा रहता है । यहां पर वातादि दोष-दुष्टि से वृद्धि रूप दुष्टि लेनी चाहिए क्योंकि क्षीण दोष विकार को उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं । केवल उनका स्वाभाविक कार्य कम हो जाता है । दोष स्वयं क्षीण होकर विरोधी दोषों को बढ़ाते हैं जिससे वात-क्षय से मन्दचेष्टता आदि, पित्तक्षय से मन्दोष्णता आदि तथा कफक्षय से रूक्षता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं क्योंकि कहा भी गया है कि एक दोष के क्षीण होने पर विरोधी दोषों की वृद्धि होती है 'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्' इति । इस ग्रन्थि के फटने पर स्राव निकलता है । इसकी चिकित्सा में उस ग्रन्थि को कोषसहित निकाल कर उस स्थान को जलाकर व्रणवत् चिकित्सा करने का विधान किया गया है । अतः कोषावृत, द्रवपूर्ण, उन्नत एवं परिमित गांठ को 'ग्रन्थि' कहते

हैं। ये पांच प्रकार के होते हैं। वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, मेदोज तथा सिराज लक्षण आगे कहेंगे।

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च।
कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ ३ ॥

वातिक ग्रंथि—वातिक ग्रन्थि में तनावट, छेदन के समान पीड़ा, तथा सूई से चुभाने के समान वेदना होती है। रोगी को प्रतीत होता है कि कोई फेंक रहा है, मथन तथा भेदन कर रहा है। ग्रन्थि कृष्णवर्ण की, मृदु एवं वस्ति (मसक) के समान शोथयुक्त होती है। फटने पर स्वच्छ स्राव निकलता है ॥ ३ ॥

दन्दह्यते धूम्यति वृश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवापि पित्ताद्भिन्न भवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥ ४ ॥

पैत्तिक ग्रन्थि—पैत्तिक ग्रन्थि में अत्यधिक जलन-सन्ताप, छेदन, पाक तथा जलते हुए के तरह प्रतीत होता है। गांठ का वर्ण लाल या पीला होता है। फूटने पर अत्यधिक उष्ण स्राव निकलता है ॥ ४ ॥

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः पाषाणवत्संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ ५ ॥

श्लैष्मिक ग्रन्थि—कफज ग्रन्थि शीतल, त्वचा के वर्ण के सदृश, अल्प पीड़ा-युक्त, अत्यधिक खुजलीवाली, पत्थर के सदृश कठिन तथा देर से बढ़नेवाली होती है। फूटने पर गाढ़ा सफेद वर्ण का पूय निकलता है ॥ ५ ॥

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डूः।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥ ६ ॥

मेदोज ग्रन्थि—मेदोज ग्रन्थि शरीर की वृद्धि तथा ह्रास के अनुसार बढ़ने और घटनेवाली, चिकनी, बड़ी, खुजली से युक्त एवं अल्प वेदनावाली होती है। फूटने पर इससे तिल की खली एवं घृत के सदृश मेद का स्राव होता है ॥ ६ ॥

विमर्श—त्वचा में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ रहती हैं स्वेदग्रन्थि और मेद पिण्ड। प्राकृतावस्था मे इन की नलिकाओं से एक प्रकार की चिकनी वस्तु निकलती रहती है जिससे त्वचा मे रूक्षता नहीं आती है। इनकी सूक्ष्म मुख वाली छोटी थैलिया होती है जो पतले मुखवाली नालिकाओं के द्वारा त्वचा पर आकर खुलती हैं। यदि किसी कारणवश इन ग्रन्थियों के मुख का अवरोध हो जाता है तो ये फूलकर ग्रन्थि रोग का स्वरूप धारण कर लेती है। स्राव निकलने पर ग्रन्थि कम हो जाती है और पुनः स्राव के इकट्ठे हो जानेपर ग्रन्थि बढ़ जाती है। इस प्रकार यह रोग अधिक दिन तक चलता रहता है। मेदःपिण्ड

शरीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा मुख पर अधिक होते हैं। ये मुखदूषिका या मुहांसे के रूप में अधिक मिलते हैं। इन ग्रन्थियों को 'मेदोजग्रन्थि' कहते हैं।

मेदोज ग्रन्थि का शरीर के बढ़ने के साथ वृद्धि तथा घटने के साथ ह्रास होता है। अर्थात् जब मेद की अधिकता होती है तब ग्रन्थि बढ़ जाती है और जब मेद घट जाता है तब ग्रन्थि कम हो जाती है। भोजने[1] इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

जब दुष्ट वात मेद को मांस या त्वचा में पहुँचा देता है तब वहाँ मेदोज ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। इसका स्वरूप श्याव या अरुण होता है। दबाने या फटने पर तिल की खली या जमे हुए घृत के समान स्राव निकलता है।

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुर्हि शिराप्रतानम्।
संपीड्य संकोच्य विशोष्य चापि ग्रन्थि करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥७॥
ग्रन्थिः शिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ ८ ॥

सिराज ग्रन्थि—अनेक प्रकार के व्यायामों को करने से दुर्बल मनुष्य में प्रकुपित वायु रक्तवाहिनियों के जाल को आक्षेपित करके संकुचित एवं सपीडित करके और सुखाकर उभरी हुई तथा गोल ग्रन्थि को शीघ्र ही उत्पन्न करती है इसको 'सिराज ग्रन्थि' कहते हैं। वह ग्रन्थि यदि वेदनायुक्त एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलनेवाली होती है तो कृच्छ्रसाध्य होती है। यदि वह वेदनारहित तथा निश्चल हो और सभी गाठें बड़ी एव मर्मस्थल पर उत्पन्न हुई हों तो भी असाध्य ही होती हैं ॥ ७–८ ॥

विमर्श—सिराज ग्रन्थि प्रायः रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण बनती हैं। इसको इस समय सिरोत्फुल्ल या रक्तग्रन्थि कहते हैं।

ये दो प्रकार की होती हैं। (१) पूर्ण विस्फार या तुम्बिकाकार—इसमें रक्तवाहिनियों के चारों तरफ दीवारें फूलती हैं विस्फार के सामने तथा पश्चात् भाग में रक्तवाहिनिया पतली रहती हैं। (२) पार्श्वीय या अपूर्ण विस्फार—इसमें रक्तवाहिना की एक ओर की दीवार फूलती है। दूसरी ओर की दीवार स्वाभाविक अवस्था में रहती है।

---

१. मेदो वायुर्यदा मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि।
तत्र मेदोभवो ग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः॥
कृशः कृशे महान् स्थूले ग्रन्थिर्भिन्नश्च पीडितः।
तिलकल्कनिभः स्रावो घृतवच्चास्य जायते॥ (भोज)

अधिक व्यायाम करने से रक्तवाहिनियों में रक्त-संचार अधिक बढ़ जाता है और वे कुछ फूल जाती हैं। अधिक समय तक अधिक व्यायाम करने से वह सूजन चिरकालीन स्वरूप धारण कर लेती है। रक्तवाहिनी को दीवार जिस स्थान पर दुर्बल होता है। दोष वहीं पहुच कर ग्रन्थि उत्पन्न कर देते हैं। यह दुर्बलता अधिक श्रम तथा आघात के कारण होती है। पाश्चात्य ग्रन्थ में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

अपचीलक्षणम्—

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेपूपचितं तु मेदः।
ग्रन्थि स्थिर वृत्तमथायत च स्निग्धं कफश्चाप्यरुज करोति॥ ९॥

अपची का लक्षण (Chronic lymphadenitis)—हन्वस्थि, कक्षा (कांख), अक्षक, बाहुसन्धि, मन्या तथा गला में एकत्रित हुआ कफ और मेद स्थिर, गोल, दीर्घ, मृदु और अल्प पीड़ायुक्त ग्रन्थि उत्पन्न करते है॥ ९॥

तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकप्रमाणैर्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः।
अनन्यवर्णैरुपचीयमान चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति॥ १०॥

वह आंवला, कर्कन्धु, बेर या मछली के अण्डजाल के सदृश परिणामवाली होती है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थियां निकलती चलती हैं। ये क्रमशः अनेक वर्ण की संख्या एवं परिमाण में बढ़ती जाती हैं। इनकी बढ़ने की प्रवृत्ति होती है अतः इसको 'अपची' कहते हैं। अर्थात् प्रकर्ष से अतिशय उपचय या वृद्धि करनेवाली वस्तु[1] विशेष को अपची सज्ञा दी जा सकती है॥ १०॥

कण्ड्वन्वितास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये।
मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी॥ ११॥

वे ही ग्रन्थियां कण्डू से युक्त, अल्प वेदनावाली, कुछ समय के बाद फूटकर बहने लगती हैं, कुछ नष्ट होती हैं और कुछ नयी-नयी उत्पन्न होती हैं। इस तरह यह रोग मेद तथा कफ से उत्पन्न होनेवाला वरसों तक बना रहता है और यह बहुत भयकर होता है॥ ११॥

विमर्श—सुश्रुत के अनुसार एक ही रोग की दो अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। प्रथमावस्था में ग्रन्थियों का निकलना, बढ़ना, पाक का अभाव,

---

१. स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैर्दीप्तानले यूनि बलान्विते च।
कर्कन्धु-कोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागल-वंक्षणेषु॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।
ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तकाला· स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये॥
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति केचित्।

कण्डू का रहना तथा अल्प पीड़ा की उपस्थिति आदि लक्षण मिलते हैं। दूसरी अवस्था में ग्रन्थियों में पाक तथा स्राव प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार कहने के लिये प्रथमावस्था को 'गण्डमाला' तथा द्वितीयावस्था को 'अपची' कह सकते हैं। वस्तुतः ये दोनों स्वतन्त्र रोग नहीं हैं एक ही रोग के अवस्था-विशेष हैं। [1]चरक ने स्वतन्त्र गण्डमाला नामक रोग का उल्लेख किया है, जिसमें कण्ठ के पार्श्व में बहुत-सी गाठों का निकलना बताया है। इसके बाद पाक की उत्पत्ति होती है यही सुश्रुत तथा वाग्भटोक्त अपची का रूप धारण कर लेती है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं कहा गया है।

आचार्य [2]भोज ने दोनों का समन्वय अच्छी तरह किया है। उन्होंने इस रोग को त्रिदोषज माना है और मेद को 'दूष्य' कहा है और दोषों की दो प्रकार की गति होकर कुछ ऊपर की तरफ कक्षा, मन्या तथा गले के पार्श्व में ग्रथियां बनाती हैं और अधोगमन होकर वंक्षण एव जंघादिप्रदेशों में ग्रन्थियां बनाती हैं। ये ग्रन्थियां अनेक प्रकार की होती है इसको 'अपची' कहते हैं। इसकी वातोल्बण ग्रन्थियों में रूक्षता तथा पीड़ा की अधिकता होती है, पित्तोल्वण में शीघ्र पाक तथा दाहादि लक्षण विशेष होते हैं, कफोल्वण में गाँठें न पकनेवाली, कठिन, चिकनी तथा अल्प पीड़ावाली होती हैं। ऐसी कफजन्य ग्रथियाँ जिनमें मेद की प्रचुरता होती है और मृदु अङ्गों में जैसे कण्ठ मन्या, कक्षा, वंक्षण-सन्धि, कण्ठ एवं हनु-सन्धि के नीचे बनती हैं उनका आकार माला के तरह होता है अतः उसको 'गण्डमाला' कहते हैं। यह गण्ड-माला भी अपची के लक्षणवाली होती है।

यह (अपची) रोग लसिका-ग्रन्थियों का रोग है जो चिरकालीन स्वरूप का होता है। यह अनेक लसिकाग्रन्थियों के शोथ के फलस्वरूप होता है। इस रोग का व्यावहारिक ज्ञान करने के लिये उनके विशेष लक्षणों का

---

१. गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः ।

(चरक)

२. वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् ।
जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥
कुर्वन्ति ग्रन्थितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः ।
तान् दोषावूर्ध्वगौ वक्षःकक्षामन्यागलाश्रितः ॥
नाना प्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा स्वपची स्मृता ।
तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्धनुसन्धिषु ॥
गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम् । (भोज)

निर्देश करना आवश्यक है। इस रोग में जिस स्थान की लसिका-ग्रन्थियां विशेष रूप से विकृत होती हैं उनका नाम निम्नलिखित है।

१. हन्वस्थि प्रदेश की (Submaxillary Gland)

२. कक्षाप्रदेश की (Axillary Glands)

३. अंसकप्रदेश की (Supra or Infraclavicular gland)

४. बाहुसन्धि की (Post Cervical Gland)

५. मन्याप्रदेश की (Deep Cervical Glands)

६. गलप्रदेश की (Superficial cervical Glands)

७. वंक्षणप्रदेश की (Inguinal Glands)

ये ग्रन्थियां धीरे-धीरे बढ़ती हैं। इनमें स्राव होता है, इनका नाश होता है और वे पुनः नई-नई हो जाती हैं। ये ग्रन्थियां आपस में मिली होती हैं तथा ये वरसों तक बनी रहती हैं। यह दीर्घकालीन रोग है।

आधुनिक ग्रन्थों में गण्डमाला के तीन भेद बताये गये हैं। (१) क्षतज, (२) फिरङ्गज, (३) क्षयज।

क्षतज तथा फिरङ्गज में पूयोत्पादन नहीं होता जब तक कि कोई बाहर से उपसर्ग न हो। किन्तु क्षयज प्रकार में अपने-आप अपचय होने लगता है।

क्षयजप्रकार—यह रोग बाल्य एवं युवावस्था में बीस वर्ष की पहले की आयु में अधिक होता है। इस रोग का प्रधान कारण राजयक्ष्मा का जीवाणु माना जाता है। सहायक कारणों में कुलजन्य प्रवृत्ति-अनेक चिरकालीन रोगों के कुपरिणाम या स्वास्थ्यवर्द्धक खाद्य पदार्थ तथा स्वच्छ जल-वायु का अभाव, अत्यधिक दौर्बल्यकारक मैथुन आदि कारणों की उपस्थिति है। गला, आन्त्र तथा श्वासमार्गकी ग्रन्थियों पर विषैला प्रभाव अधिक पड़ता है। इसमें पेशियों और आमाशय के प्राचीर की ग्रंथियों को छोड़कर शरीर की सभी ग्रन्थियां प्रभावित हो जाती हैं। इस प्रकार को 'ग्लैन्ड टी. बी.' कहते हैं।

वातजादिभेदेनार्बुदलक्षणानि—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्॥ १२॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं सशोफं तमर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।

वातज आदि के भेद से अर्बुद का लक्षण—शरीर के किसी एक भाग में बढ़े हुए वातादि दोष मांस तथा रक्त को दूषित कर गोल, स्थिर, अल्पवेदना वाले, बड़े, अधिक गहराई में होनेवाले, देर में बढ़ने और न पकनेवाले मांस-पिण्ड के समान उभरे हुए शोथ को उत्पन्न कर देते हैं। उस रोग को विद्वान् लोग 'अर्बुदरोग' कहते हैं।

वातेन पित्तेन कफेन वापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च ॥ १३ ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति ।

वह अर्बुदरोग वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज तथा मेदोज भेद से छः प्रकार का होता है। उनके लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं।

विमर्श—अर्बुद शरीर के धातुओं से ही उत्पन्न हुए नये धातुवों का एक ठोस पिण्ड है जिसको अर्बुद कहते हैं। इससे शरीर की कोई आवश्यकता पूरी नहीं होती है। यह वृक्ष की बांदे (बांझो) के समान शरीर पर सुरक्षित रहता है, इसके उत्पन्न होने से शरीर को कोई लाभ नहीं होता है। और इसके ऊपर वातिक संस्थान का कोई भी नियन्त्रण नहीं रहता है और न इसके अन्त होने का समय होता है। इसको आजकल ट्यूमर (Tumour) कहते हैं।

यह दो प्रकार का होता है।

१. सौम्य अर्बुद २. घातक अर्बुद

१. सौम्य अर्बुद—इन के चारों ओर कोष होते हैं और मर्यादित रहते हैं। इनको काटकर कोषसहित निकाला जा सकता है। इनमें पुनः उत्पन्न होने की प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्बुद प्रायः एक ही द्विरर्बुद होता है तथा अध्यर्बुद नहीं होता है। ये धीरे-धीरे बढ़ते हैं। इनमें फटने पर थोड़ी पीड़ा होती है। किन्तु ये न तो पकते हैं और न इनमें से रक्तस्राव होता है। यह परिभाषा सौम्य अर्बुदों का है। जब ये ही अर्बुद मर्मस्थल पर दबाव डालते हैं तो घातक हो सकते हैं। इन अर्बुदों में वातज, पित्तज, कफज तथा मेदोज अर्बुद के समावेश हैं। ये सभी साध्य होते हैं।

आधुनिक मत के अनुसार इनके दोष-निरपेक्ष नाम बताये गये हैं। शरीर के जिस धातु-विशेष के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है। उसी के अनुसार इनका नामकरण होता है। जैसे श्लेष्मार्बुद, त्वगर्बुद, मेदोऽर्बुद, अस्थ्यर्बुद, तरुणास्थ्यर्बुद, दन्तार्बुद, मज्जार्बुद, नाड्यर्बुद आदि।

२. घातक अर्बुद—ये प्राणनाशक होते हैं। ये मर्यादित नहीं होते हैं किन्तु सभी तरफ के धातुओं में फैलते हैं अतः काट कर निकालने पर भी पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। दोष के शेष रहने पर अर्बुद की पुनः उत्पत्ति होती है। ये अर्बुद सौम्य अर्बुदों की अपेक्षा तीव्र प्रकार के होते हैं, तेजी से बढ़ते हैं। इन में व्रणोत्पत्ति तथा रक्तस्राव होता है जिसके कारण पाण्डुरोग भी हो जाता है। इसमें द्विरर्बुद तथा अध्यर्बुद करने की प्रवृत्ति होती है। इनकी सूक्ष्म रचना धातुओं से भिन्न होती है और ये चिकित्सा की दृष्टि से साध्य नहीं होते है। इस वर्ग में मांसार्बुद तथा रक्तार्बुद आ सकते है। आधुनिक ग्रन्थों में 'कैन्सर' या 'एपिथिलियोम' और 'सिरस कैन्सर' घातक-अर्बुद माने गये है। स्थान के अनु-

सार भिन्न लक्षण होते हैं। जिह्वा पर या मुख में होने पर भोजन नहीं खाया जाता, अन्न-प्रणाली में होने पर अन्न नहीं निगला जाता तथा आमाशय में होने पर अन्न का परिपाक नहीं होता, तथा वमन एवं रक्त-वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आन्त्र में होने पर मलावरोध तथा पाचन-क्रिया ठीक २ नहीं होती है।

अर्बुदों की उत्पत्ति में निम्न-लिखित तीन कारण होते हैं। (१) दूषित दोष, (२) मुष्टि या अन्य वस्तु से प्रहार तथा (३) अर्दित (शरीर पर बार-बार पीड़ित) अंग।

अर्बुद के प्रकार

साध्य (सौम्य) — घातक (असाध्य)

१. वातार्बुद—अस्थ्यर्बुद
   दन्तार्बुद
   नाड्यर्बुद
   तरुणास्थ्यर्बुद
   सौत्रिकार्बुद
   नाड्यावरणार्बुद
२. पित्तार्बुद—सिरार्बुद या धमन्यर्बुद
३. श्लेष्मार्बुद
   पेश्यर्बुद
   अस्थिमज्जार्बुद
४. मेदोजार्बुद—लाईपोमा (lipoma)

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं शिरास्तु संपीड्य संकोच्य गतस्तु पाकम् ॥१४॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धिम्।
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात् ॥ १५ ॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

रक्तार्बुद—प्रकुपित वातादि दोष रक्त और सिराओं को पीडित तथा संकुचित कर एवं दबाकर पाक की अवस्था में आ जाता है तथा स्रावमिश्रित मांसांकुरों से परिपूर्ण हो जाता है, शीघ्रता से वृद्धि को प्राप्त होता है एवं मांसपिण्डों को उन्नत (उभरा हुआ) बनाता है। उसमें से निरन्तर दूषित रक्तस्राव होता है। यह रक्तार्बुद असाध्य होता है। रक्तार्बुद से पीड़ित रोगी रक्तक्षय आदि उपद्रव होने के कारण पाण्डुवर्ण का (पीला) हो जाता है।

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं समुपैति शोफम् ॥ १६ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ १७ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं,

मांसार्बुद—मुष्टि-प्रहार आदि से पीड़ित अंग में मांस दूषित होकर अल्प-वेदनायुक्त, स्निग्ध स्पर्शवाला, त्वचा के वर्ण का न पकनेवाला, पत्थर के समान कठिन तथा स्थिर शोथ उत्पन्न करता है। अत्यधिक मांस खानेवाले मनुष्य का मांस प्रायः दूषित हो जाता है जिससे मांसार्बुद होते हैं। यह मांसार्बुद असाध्य होते हैं।

विमर्श—पाश्चात्य मत के अनुसार रक्तार्बुद को 'सार्कोमा' या 'कार्सियोमा' कह सकते हैं। वे दोनों अर्बुद घातक श्रेणी के हैं। सार्कोमा प्रायः अस्थ्यावरण एवं अस्थिमज्जा में उत्पन्न होता है। यह बाल्यावस्था तथा युवावस्था में अधिक उत्पन्न होता है। सौम्य प्रकार का सार्कोमा धीरे-धीरे बढ़ता है और स्पर्श करने पर कठिन प्रतीत होता है। अत्यधिक घातक प्रकार का सार्कोमा बहुत तेजी से बढ़ता है, वह मृदु होता है और उसमें से रक्तसचार अधिक मात्रा में होती है। इसका विषैला असर रसवाहिनियों के द्वारा इधर-उधर दूसरे अर्बुद (द्विरर्बुद तथा अध्यर्बुद) को उत्पन्न करता है। प्राथमिक सार्कोमा हन्वस्थि, प्रगण्डास्थि, नासास्थि, ऊर्वस्थि, प्रकोष्ठास्थि तथा लसिका-ग्रन्थियों में होता है। कार्सियोमा-बाह्यत्वचा तथा श्लैष्मिक कला पर अधिक होता है। यह ओष्ठ, जिह्वा, मुख, अन्नप्रणाली, आमाशय, मलाशय एव आन्त्र आदि स्थानों में उत्पन्न होता है। स्त्रियों का गर्भाशय तथा स्तन एव पुरुषों का अष्ठीला ग्रन्थि तथा शिश्न इसके प्रधान स्थान है। इसके चिह्न रक्तार्बुद के तरह मिलते हैं।

मांसार्बुद कैंसर के एक प्रकार स्किरस 'Scirrhus' को कह सकते हैं। क्योंकि इन दोनों के लक्षण आपस में मिलते-जुलते हैं। अन्य अर्बुदों की अपेक्षा स्थानीय क्षोभ या पीड़न इस अर्बुद की उत्पत्ति में प्रधान कारण होता है। यह अर्बुद अधिक मांस सेवन करनेवालों में विशेष रूप से पाया जाता है। यह रोग भारत की अपेक्षा अमेरिका तथा यूरोप में अधिक उत्पन्न होता है। क्योंकि उन देशों में मांस अधिक खाया जाता है। कैन्सर की उत्पत्ति में अन्य कारणों के अतिरिक्त मांसभक्षण भी एक कारण है।

अर्बुदानामसाध्यलक्षणानि—

साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्तु ।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥ १८ ॥

अर्बुदों के असाध्य लक्षण—सामान्य प्रकार के साध्य (सौम्य) अर्बुदों में भी स्राव से युक्त, मर्मप्रदेश के अर्बुद, नासा महास्रोत आदि स्रोतों में उत्पन्न होनेवाले अर्बुद, और स्थिर अर्बुदों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए अर्थात् ये भी असाध्य होते हैं ॥ १८ ॥

संजायते यत्त हि पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः ।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत्क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥ १९ ॥

प्रथम अर्बुद के रहते ही अथवा उसके छेदन द्वारा निकालने के बाद भी उसी स्थान पर जो अन्य दूसरा अर्बुद उत्पन्न होता है उसे वैद्य लोग 'अध्यर्बुद' कहते हैं। एक ही या अन्य स्थान पर एक अर्बुद के साथ अथवा कुछ समय बाद में उत्पन्न होनेवाला दूसरा अर्बुद 'द्विरर्बुद' कहलाता है। यह भी असाध्य होता है ॥ १९ ॥

अर्बुदानां पाकाभावे हेतुः—

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु ।
दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥ २० ॥

अर्बुदों के न पकने का कारण—कफ और मेद की बहुलता तथा दोषों की स्थिरता एवं उनकी कठिनता के कारण सभी अर्बुद स्वभाव से ही नहीं पकते हैं ॥ २० ॥

वातः कफश्चैव भृश प्रवृद्धौ मन्ये तु संगृह्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ २१ ॥

वातज आदि भेद से गलगण्ड Simple Goitre का लक्षण—वात, कफ तथा मेद अत्यधिक प्रकुपित होकर मन्या।में पहुँच अपने-अपने लक्षणों से युक्त धीरे-धीरे बढ़नेवाले गण्ड (गांठ) को गले में उत्पन्न करते हैं। उसे 'गलगण्ड' कहते हैं ॥ २१ ॥

विमर्श—गलगण्ड-नामक रोग (गले की वृद्धि) अवटुका ग्रन्थि 'Thyroid gland' के बढ़ने से होती है। आधुनिक काल में इसे 'गाइटर (Goitre)' कहते हैं। यह गाँठ सामने की ओर गले मे होती है इसका वजन लगभग ढाई तोले का होता है। यह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बड़ा होता है। मासिक-धर्म तथा गर्भ की अवस्था मे यह कुछ बढ़ जाता है। इस ग्रन्थि का कार्य स्वास्थ्य के लिये बहुत आवश्यक है। इसके द्वारा शरीर की वृद्धि तथा आहार-परिवर्तन का नियन्त्रण होता है। यह ग्रन्थि आयोडीन (जम्बुकी) को ग्रहण कर उससे 'थायोरोक्सिन' नामक द्रव्य बनाती है जो रक्त में जाकर उपरोक्त कार्य करती है। इस द्रव्य की कमी तथा अधिकता होने से स्थानिक तथा सार्वदेहिक प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर के अन्य

अवयवों की अपेक्षा स्वयं यह ग्रन्थि थायोरोक्सिन की न्यूनाधिकता से अधिक प्रभावित होती है। इसकी क्रिया मधुनिषूदनी (Insulin) के विपरीत होती है। आयोडीन की कमी के कारण इसकी स्थायी वृद्धि होती है। आयोडीन, दूध, अण्डा, प्याज तथा मूली में अधिक मात्रा में पाया जाता है। शारीर क्रिया-विज्ञान के अनुसार इसे अवटुका ग्रन्थि का उपचय कहते हैं। इसकी वृद्धि के कारण—आयोडीन की कमी के अतिरिक्त (१) मेद की अधिकता, (२) खटिक की अधिकता, (३) विटामीन (जीवतिक्ति) ए. तथा बी. की कमी, (४) फास्फेट की कमी, तथा (५) आन्त्र में पाचक जीवाणुओं की कमी आदि भी 'गलगण्ड' के कारण होते हैं।

तोदान्वितः कृष्णशिरावनद्धः कृष्णारुणो वा पवनात्मकस्तु ।
मेदोन्वितश्चोपचितश्च कालाद्भवेत्प्रतिस्तब्धतरोऽरुजश्च ॥ २२ ॥
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ।
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ॥ २३ ॥

वातिक गलगण्ड—वातजन्य गलगण्ड सूई चुभोने जैसी पीड़ा से युक्त, काली सिराओं से व्याप्त, काला या अरुण (लाल) वर्ण का, अधिक काल तक बढ़ने से मेदयुक्त, पीड़ारहित, स्पर्श में कर्कश, देर से बढ़नेवाला तथा पाकरहित और कभी कभी आगन्तुक कारणों से अकस्मात् पकनेवाला होता है। रोगी का मुख स्वादरहित हो जाता है तथा तालु और गला सूखा रहता है ॥ २२–२३ ॥

स्थिरः सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डूः शीतो महांश्चापि कफात्मकश्च ।
चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ॥ २४ ॥
माधुर्यमास्यस्य च यस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ।

कफज गलगण्ड—कफजन्य, गलगण्ड स्थिर (निश्चल), त्वचा के वर्ण का, भारी, अत्यधिक कण्डू से युक्त, स्पर्श में शीतल तथा अधिक बड़ा होता है। यह अधिक दिनों में बढ़ता है, अधिक देर से पकता है तथा इसमें कभी कभी मन्द मन्द वेदना भी होती है। रोगी के मुख का स्वाद मीठा बना रहता है और गला एवं तालु कफ से लिप्त सा रहता है।

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः स्वल्परुजोऽतिकण्डूः ॥ २५ ॥
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेन शब्दं कुरुते च नित्यम् ॥ २६ ॥

मेदोज गलगण्ड—मेदजन्य गलगण्ड, स्निग्ध, मृदु, पाण्डुवर्ण का तथा दुर्गन्ध युक्त होता है। उसमें खुजली होती है, मन्द मन्द वेदना होती है। इसका मूल पतला रहता है, शरीर के अनुसार इसकी भी वृद्धि तथा ह्रास का

क्रम चलता रहता है। रोगी का मुख चिकना रहता है और उसके गले में सर्वदा गद्गद या अस्पष्ट शब्द होता रहता है ॥ २५–२६ ॥

गलगण्डानामसाध्यलक्षणम्—

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डिनं तु भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेच्च ॥ २७ ॥

असाध्य गलगण्ड के लक्षण—कठिनाई से सास लेनेवाले, दुर्बल एवं एक वर्ष पुराने गलगण्ड से पीडित, अरुचि से युक्त, क्षीण एवं स्वरभेदवाले रोगी को वैद्य छोड़ दे। अर्थात् इन उपद्रवों से युक्त गलगण्ड का रोगी असाध्य होता है ॥ २७ ॥

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान्वा यदि वा ह्रस्वस्तं गण्डमिति निर्दिशेत् ॥ २८ ॥

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डनिदानं समाप्तम् ।

जिसके गले में बड़ा अथवा छोटा मर्यादित शोथ वृषण के सदृश लटकता है उसे 'गलगण्ड' कहते हैं ॥ २८ ॥

विमर्श—गलगण्ड की गांठें जब बहुत बढ़ जाती हैं तब शरीर के जिन अवयवों पर दबाव डालती हैं वहा अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं। (१) टेटुए पर दबाव पड़ने से वह चिपटा हो जाता है। एक तरफ अपसारित हो जाता है जिस से श्वास-प्रश्वास में कठिनाई होकर श्वासकृच्छ्र हो जाता है। (२) स्वरयन्त्र की नाड़ी पर दबाव पड़ने से स्वरभेद एवं स्वरावसाद होकर भिन्नस्वर हो जाता है। (३) रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से गले की सिरायें फूल जाती है जिससे गला काली सिराओं से भर जाता है और मस्तिष्क में अच्छी तरह रक्त संचार न होने से मूर्च्छा, चक्कर, भ्रम आदि वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। (४) अन्नप्रणाली पर दबाव पड़ने से निगलने में कठिनाई होती है और अरुचि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अवटुका ग्रन्थि का एक और रोग होता है जिसे आधुनिक वैद्य उद्दचि गलगण्ड '(Exopthalmic goitre)' कहते है।

यह अवटुका ग्रन्थि के स्राव की अधिकता से होती है। इसके निम्न उपद्रव होते हैं।

१. हृदय की गति प्रति मिनट १२० से १५० तक हो जाती है।

२. मातृकाधमनी (Corotid artery) में स्पन्दन साफ दिखाई देता है।

३. आंखे बाहर को निकली रहती हैं।

४. पलक सदा खुले रहते हैं।

५. हाथों में कम्पन होता है।

६. क्षुद्र श्वास हो जाता है। (दम फूलता है)।

७. रोगी का स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है।

गलगण्ड के ये पूर्वोक्त लक्षण कृच्छ्रसाध्यता को बताते हैं। इस प्रकार के गलगण्ड की चिकित्सा का निषेध करना चाहिये।

ग्रन्थि-अपची-अर्बुद तथा गलगण्ड का निदान समाप्त।

अथातो ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

ग्रन्थि-अपची आदि के निदान के बाद इनकी चिकित्सा को कहते हैं।

गण्डमालायां वरुणमूलक्वाथः—

मधुनाऽढ्योऽसकृत्पीतः क्वाथो वरुणमूलजः।
गण्डमालां निहन्त्याशु चिरकालानुबन्धिनीम्॥ २९॥

गण्डमाला में (अपची की प्रथमावस्था में) वरुणमूल का क्वाथ—वरुण के मूल का क्वाथ मधु मिलाकर बार-बार पान करने से चिरकालीन (पुरानी) गण्डमाला को नाश करता है॥ २९॥

गण्डमालादौ अलम्बुषास्वरसः—

अलम्बुषादलोद्भूतात्स्वरसाद् द्वे पले पिबेत्।
अपच्यां गण्डमालायाः कामलायाश्च शान्तये॥ ३०॥

गण्डमाला में अलम्बुषा-स्वरस—अलम्बुषा (फूलसोला 'लज्जालुभेद') के पत्तों का दो छटांक स्वरस, अपची, गण्डमाला तथा कामलारोग की शान्ति के लिये पान करे॥ ३०॥

गण्डमालायां काञ्चनारयोगः—

पिष्टा चोष्णाम्बुना पेयाः काञ्चनारत्वचः शुभाः।
विश्वभेषजसंयुक्ता गण्डमालापहाः पराः॥ ३१॥

गण्डमालारोग में कांचनार (योग)—काचनार की मुलायम छाल गरम जल से पीसकर तथा सोंठ का चूर्ण मिलाकर पान करे। यह योग गण्डमाला को अच्छी तरह नाश करता है॥ ३१॥

गण्डमालायां निर्गुण्डीमूलनस्यम्—

गण्डमालामयार्तानां नस्यकर्मणि योजयेत्।
निर्गुण्ड्यास्तु शिफां सम्यग्वारिणा परिपेषिताम्॥ ३२॥

गण्डमाला में निर्गुण्डीमूल का नस्य—निर्गुण्डी की जड़ को जल के साथ अच्छी तरह पीस कर गण्डमाला से पीड़ित रोगियों के नस्य कर्म में प्रयोग करे॥ ३२॥

गण्डमालायां नस्ययोगौ—

कोशातकीनां स्वरसेन नस्यं तुम्ब्यास्तु वा पिप्पलिसंयुतेन ।
तैलेन वाऽरिष्टभवेन कुर्याद्वचोपकुल्ये सह मार्क्षिकेण ॥ ३३ ॥

गण्डमाला में दो नस्य योग—गण्डमाला रोग में कोशातकी (तरोई) के स्वरस से या पीपर का चूर्ण मिलाकर तुम्बी (कड़वा कद्दू) के स्वरस से नस्य ले। अथवा नीम के तैल में या वच तथा पीपर का चूर्ण मिलाकर मधु से नस्य ले ॥ ३३ ॥

गण्डमालायां छुच्छुन्दरीतैलम्—

अभ्यङ्गान्नाशयेन्नृणां गण्डमालां सुदारुणाम् ।
छुच्छुन्दर्या विपक्वं तु क्षणात्तैलवरं ध्रुवम् ॥ ३४ ॥

गण्डमाला में छुच्छुन्दरी तैल—छुच्छुन्दरी (छुछुन्दर 'मूषकविशेष') का मांस मिलाकर पकाया हुआ उत्तम तैल लेप करने से मनुष्यों के भयंकर गण्डमाला को क्षणभर में अवश्य ही नाश कर देता है ॥ ३४ ॥

गण्डमालायां त्रिफलायोगः—

सकाञ्चनारा त्रिफला जले शृता
प्रशस्यते मागधिकावचूर्णिता ।
सगण्डमालागलगण्डरोगिणां
फलत्रिकाढ्यं यवमुद्गभोजनम् ॥ ३५ ॥

गण्डमाला में त्रिफला—कचनार तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), समभाग—इन द्रव्यों का बनाया हुआ क्वाथ पीपर मिलाकर सेवन कराना गलगण्ड तथा गण्डमाला के रोगियों के लिये प्रशस्त है। इन रोगियों को त्रिफला मिलाकर यव की रोटी तथा मूग की दाल भक्षण करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

गण्डमालायां मञ्जिष्ठाद्यं तैलम्—

मञ्जिष्ठाविषयुक्तेन पुण्डरीकान्वितेन तु ।
सैन्धवेन पचेत्तैलं गण्डमालाविनाशनम् ॥ ३६ ॥

गण्डमाला में मञ्जिष्ठाद्य तैल—मंजीठ, विष (वत्सनाभ), पुण्डरीक (श्वेतकमल) तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल-निर्माण विधि के अनुसार) तैल पकावे। मञ्जिष्ठाद्य तैल गण्डमाला को नाश करता है ॥ ३६ ॥

गण्डमालायां कटुतुम्ब्याद्यं तैलम्—

तुम्बीरसेन कटुकेन चतुर्गुणेन
कल्कीकृतैर्मगधजादिगणौषधैश्च ।
तैलं शृतं हरति देहिषु गण्डमाला-
मत्युल्बणानपि गले गलगण्डरोगान् ॥ ३७ ॥

गण्डमाला में कटुतुम्ब्याद्य तैल—कड़वी कद्दू के चौगुने रस तथा पिप्पल्यादि गण की औषधों के चतुर्थांश (तैल के) कल्क के साथ पकाया हुआ तैल लेप करने से मनुष्यों के अत्यन्त भयंकर गले में उत्पन्न गण्डमाला तथा गलगण्ड रोगों को दूर करता है ॥ ३७ ॥

गण्डमालायां निम्बपत्रादिलेपः—

क्षुण्णानि निम्बपत्राणि क्षुण्णैर्भल्लातकैः सह ।
शरावसंपुटे दग्ध्वा सह सिद्धार्थकैः समैः ॥ ३८ ॥

गण्डमाला में निम्बपत्रादि तैल—नीम की पत्ती का चूर्ण, भल्लातक का चूर्ण तथा सफेद सरसो समभाग —इन द्रव्यों को शराव-सम्पुट में जलाकर बकरी के मूत्र के साथ पीसकर गण्डमाला में लेप करे ॥ ३८ ॥

पिष्टानि छागमूत्रेण गण्डमालाप्रलेपनम् ।
शस्त्रैः सुप्रच्छितां धौतां गण्डमालां प्रलेपयेत् ॥ ३९ ॥

गण्डमाला को पहले शस्त्र से प्रच्छित कर (पछुना लगाकर) तथा धोकर लेप लगाये ॥ ३९ ॥

गण्डमालायामारग्वधमूलयोगः—

आरग्वधशिफां क्षिप्रं सम्यक्तन्दुलवारिणा ।
पिष्ट्वा नस्यप्रलेपाभ्यां गण्डमालां समुद्धरेत् ॥ ४० ॥

गण्डमाला में आरग्वध योग—आरग्वध (अमलतास) की ताजी जड़ को चावल के धोवन के साथ अच्छी तरह पीसकर उनका नस्य ले तथा गण्डमाला के ऊपर लेप करे। यह योग गण्डमाला को दूर करता है ॥ ४० ॥

गण्डमालायां काञ्चनारयोगः—

पलमर्धपलं वाऽपि सार्धं वा तन्दुलाम्बुना ।
काञ्चनारत्वचं पीत्वा गण्डमालामपोहति ॥ ४१ ॥

गण्डमाला में काञ्चनार योग—गण्डमाला से पीड़ित रोगी काञ्चनार की छाल का चूर्ण एक पल, आधापल या चौथाई पल (छटाक) चावल के धोवन के साथ पान करे। यह योग गण्डमाला को दूर करता है ॥ ४१ ॥

गलगण्डे इन्द्रवारुणीमूलयोगः—

पिष्ट्वा तन्दुलतोयेन घृतमात्रापरिप्लुतम् ।
मूलं तु शक्रवारुण्या गण्डमालापहं पिबेत् ॥ ४२ ॥

गलगण्ड में इन्द्रवारुणीमूल योग—इन्द्रवारुणी की जड़ चावल के धोवन के साथ पीसकर तथा घृत मिलाकर गण्डमाला रोग दूर करने के लिये पान करे ॥ ४२ ॥

गण्डमालायां गिरिकर्णीमूलयोगः—

प्रातः पिबेच्छिफां पिष्ट्वा गण्डमालां व्यपोहति ।
गिरिकर्ण्योः सितायास्तु घृतेन परिमिश्रिताम् ॥ ४३ ॥

गण्डमाला में गिरिकर्णीमूल योग—श्वेत अपराजिता की जड़ पीसकर उसमें घृत मिलाकर प्रातःकाल पान करे। यह योग गण्डमाला को दूर करता है ॥ ४३ ॥

गण्डमालायां कतिपययोगाः—

पाययेदभयारिष्टं गण्डीरारिष्टमेव वा ।
पिप्पलीवर्धमानं वा गण्डमालासु योजयेत् ॥ ४४ ॥

गण्डमाला में कुछ योग—गण्डमाला रोग में अभयारिष्ट[1] या [2]गण्डीरारिष्ट पान कराये और [3]पिप्पली वर्द्धमान का प्रयोग करे ॥ ४४ ॥

गण्डादौ सर्षपादिलेपः—

सर्षपाः शिग्रुबीजानि शणबीजातसीयवाः ।
मूलकस्य च बीजानि तक्रेणाम्लेन पेषयेत् ॥ ४५ ॥
गण्डानि ग्रन्थयश्चैव गण्डमाला सुदारुणा ।
आलेपात्तेन शाम्यन्ति विलयं यान्ति चाचिरात् ॥ ४६ ॥

गलगण्ड आदि रोगों में सर्षपादि लेप—सरसो, सहिजन का बीज, सनई का बीज, अतसी (तीसी), यव तथा मूली का बीज समभाग—इन द्रव्यों को लेकर खट्टे मट्ठा के साथ पीस ले। इस लेप के लगाने से गलगण्ड, ग्रन्थिरोग तथा गण्डमालारोग शान्त हो जाते हैं और इस योग के प्रयोग से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ४५–४६ ॥

गण्डमालायां नस्यार्थं तैलम्—

गण्डमालापहं तैलं सिद्धमाखोटकत्वचा ।
बिम्ब्यश्वमारनिर्गुण्डीसाधितं वापि नावनात् ॥ ४७ ॥

गण्डमाला में नस्यार्थ तैल—आखोटक (अक्षोटक 'अखरोट') की छाल के कल्क से सिद्ध तैल, या बिम्बी (कुन्दुरु), अश्वमार (कनेर) तथा निर्गुण्डी समभाग—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल नस्य लेने से गण्डमालारोग को नाश करता है ॥ ४७ ॥

---

१ गदनिग्रह प्रयोग खण्ड पृ० सं० ३६२ में देखें।

२. पृ० सं० ३९७ में देखे।

३. गदनि० द्वितीयभाग विषमज्वराधिकार (श्लोक सं ५६७) में देखें।

गण्डमालायां नस्ययोगः—

निर्गुण्डीस्वरसैर्वापि लाङ्गलीकन्दकल्कितम् ।
तैलं नस्येन हन्त्याशु गण्डमालां सुदारुणाम् ॥ ४८ ॥

गण्डमाला में नस्य योग—निर्गुण्डी के स्वरस से अथवा लाङ्गली (कलिहारी) के कन्द के कल्क से (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध तैल नस्य लेने से भयंकर गण्डमाला को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४८ ॥

गण्डमालायां पूपलिकायोगः—

वनकार्पासिकामूलं तन्दुलैः सह योजितम् ।
पक्त्वा पूपलिकां खादेदपचीनाशनाय च ॥ ४९ ॥

गण्डमाला में पूपलिका योग—वनकपास की जड़ को पीसकर चावल के चूर्ण के साथ मिलाकर पूपलिका (पूआ 'अपूप') बनावे और अपची रोग को नाश करने के लिये भक्षण करे ॥ ४९ ॥

अपच्यां शोभाञ्जनादिलेपः—

शोभाञ्जनं देवदारु काञ्जिकेन तु पेषयेत् ।
कोष्णप्रलेपतो हन्यादपचीमपि निश्चयम् ॥ ५० ॥

अपची रोग में शोभाञ्जनादि लेप—सहिजन का बीज, तथा देवदारु समभाग दोनों को काञ्जी के साथ पीस ले । यह योग गरम-गरम लेप करने से अपची रोग को निश्चय ही नाश करता है ॥ ५० ॥

अपच्यां शस्त्रचिकित्सा—

पार्ष्णि प्रति द्वादश चाङ्गुलानि भित्त्वेन्द्रबस्ति परिवर्ज्य सम्यक् ।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात् ॥

अपची रोग में शस्त्रचिकित्सा—पार्ष्णि (गुल्फ पश्चाद्) भाग (Calcaoneous) से बारह अङ्गुल ऊपर तक माप ले और उसके समीप में स्थित इन्द्रबस्ति नामक मर्म (Calf museles) को बचाकर मत्स्याण्ड-सदृश जो मेदोजाल वहां दिखाई पड़ता है उसको ठीक तरह से विदीर्ण कर स्पष्ट हो जाने पर बुद्धिमान वैद्य अग्नि-कर्म (दाह) करे ॥ ५१ ॥

मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक् ।
अङ्गुलान्तरितं सम्यगपचीनां प्रशान्तये ॥ ५२ ॥

मणिबन्ध के ऊपर एक-एक अङ्गुल का अन्तर देकर शस्त्र के द्वारा तीन रेखायें करे । इसके द्वारा अपची रोग नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

विमर्श—'पार्ष्णि' पूति से कुछ विद्वान् का यह मत है कि जिस भाग में अपची है, उसके विपरीत भाग में दाह करे । अर्थात् यदि अपची वामभाग में

हो तो दक्षिण भाग में दाह करे और यदि दक्षिण भाग में हो तो वामभाग में करे तथा दोनों भाग में हो तो दोनों भाग में दाह कर्म करे।

बारह अङ्गुल माप कर जो दाह करने का विधान किया गया है उसका यह अर्थ है कि दश अङ्गुल मापने के बाद जो दो अंगुल की दूरी है वहाँ दाह-कर्म करे। इस प्रकार बारह अंगुल का समावेश हो जाता है। दाहकर्म के लिये अग्नितप्त लौह की शलाका लेनी चाहिए। यदि स्वर्ण की शलाका उपलब्ध हो तो अधिक उत्तम है। दाहकर्म का उद्देश्य यह है कि अपची रोग पुनः उत्पन्न न हो और इसके द्वारा अपची का मूलोच्छेद हो जाता है।

दूसरे विद्वान् का मत यह है कि कर्ण[1] के समान गुल्फवाले पाद और जङ्घा के सन्धिस्थान (खुडक या खुल्फ) से पूरी जङ्घा की लम्बाई बीस अङ्गुल की होती है। उससे ऊपर की ओर से आठवां भाग (ढाई अङ्गुल) छोड़ कर घोणा (नासिका के समान उठी हुई उत्तरीय कण्डरा) का सीधा वेधन करे। इन्द्रबस्ति को बचा दे। अर्थात् दो अगुल में स्थित इन्द्रबस्ति है किन्तु ढाई अंगुल बचाने का कारण यह है कि इन्द्रबस्ति अधिक सुरक्षित रहे। कुछ लोगों का विचार यह है कि असिमात्र (दो अगुल) ही छोड़ना चाहिए।

अपची का कारण जङ्घा-कण्डरागत मेदो-मूल ही है अतः उसका दाहकर्म के द्वारा पूर्ण उन्मूलन हो जाता है। इसी उद्देश्य से दग्धकर्म किया जाता है।

वात, पित्त और कफ वृद्ध होकर जंघा-कण्डरा में स्थित मेद को दूषित कर मत्स्याण्ड के समान बहुत सी ग्रन्थियों को उत्पन्न करते हैं। अतः जङ्घा में ही कर्म (दग्ध कर्म) कर मूलोच्छेदन करना चाहिए। इस प्रकार का भोज[2] ने भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

वाग्भट[3] ने इन्द्रबस्ति के ऊपर ही वेधन आवश्यक नहीं माना है उनका तात्पर्य यह है कि यदि औषधोपचार से अपची शान्त न हो तो रोग के दूसरे पार्श्व के जङ्घे में बस्तिमर्म के ऊपर या नीचे मेद को निकालकर दाह-कर्म करे।

---

१. आ गुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तोस्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य।
घोणार्जुवेधः सुरराजबस्तेर्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति॥

२. वात-पित्त-कफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्।
जङ्घयोः कण्डरां प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्।
तस्माज्जंघायामेव कर्मणा मूलोच्छेदः॥

३. इत्यशान्तौ गदस्यान्यपार्श्वं-जङ्घा-समाश्रितम्।
बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद् वा मेदश्छित्वाग्निना दहेत्॥

मणिबन्ध के ऊपर एक २ अंगुल का अन्तर देकर तीन रेखा बनाने का विधान किया गया है। इन रेखाओं का स्थान मणिबन्ध तथा कूर्पर-गर्त के बीच का होना चाहिए। मणिबन्ध-सन्धि से नव अंगुल से कुछ अधिक दूरी तक रेखाओं को बनाना उचित है।

अपच्यां जीमूतकादिघृतम्—

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव।
सर्पिः कृतं हन्त्यपचीं प्रवृद्धां द्विधा प्रवृत्तं तदुदारवीर्यम् ॥ ५३ ॥

अपचीरोग में जीमूतकादि घृत—जीमूतक (देवदाली) तथा कोषातकी (कड़वी तरोई), इन दोनों का कल्क और दन्ती, द्रवन्ती एवं निशोथ समभाग—इन द्रव्यों का कल्क, इन दोनों प्रकार के कल्कों को घृत के चतुर्थांश लेकर घृत के चौगुने जल में घृत सिद्ध करे और इस घृत को पान कराये। यह उत्तम पराक्रमवाला घृत द्विधा प्रवृत्त होकर (वमन-विरेचन कराकर), बढ़ी हुई अपची रोग को नाश करता है ॥ ५३ ॥

अपच्यां लेपयोगाः—

गुन्दकटाहगुडान्वितगोधूमक्षोदबन्धनाद्रात्रौ।
तैलघृष्टरविमूलैरालेपस्तदनु दिवसान्तम् ॥ ५४ ॥
तदनुज्वालनपूर्वं करम्भबन्धः प्रशस्यते रात्रौ।
प्रातर्विकङ्कतस्य कङ्गुणिमूलस्य वा लेपः ॥ ५५ ॥
पनसशिफालेपो वा वायसनिम्बस्य चूर्णपिण्डी वा।
अपचीमपि कण्ठगतां पूययुतां हरति योगोऽयम् ॥ ५६ ॥

अपची में लेप योग—गुन्द कटाह गुड़ तथा गेहूं का आटा दोनों मिला टिकिया बनाकर रात्रि में बांधने से अपची रोग नष्ट होता है। उसके बाद सायंकाल मदार की जड़ को तैल में घिसकर आलेप करना, तदनन्तर गरम कर करम्भबन्ध (दही तथा सत्तू मिलाकर) रात्रि में बाधना प्रशस्त होता है। प्रातःकाल विकङ्कत (कण्टाई 'रामबबूर' 'यज्ञवृक्ष') की छाल का लेप या कङ्गुणि-मूल (प्रियगु की जड़) का लेप या कटहल की जड़ का लेप अथवा वायस-निम्ब (बकायन) के चूर्ण की पीड़ी (टिकिया) आदि योग कण्ठ में उत्पन्न, पूय से युक्त (पूयस्रावबाली) अपची को भी दूर करता है ॥ ५४–५६ ॥

अपच्या निर्गुण्ड्याद्यं वमनम्—

निर्गुण्डिजातीदलदेवदारुजीमूतकं माक्षिकसैन्धवाढ्यम्।
अद्भिः प्रतप्तं वमनं प्रधानं कुष्ठापचीषूत्तममादिशन्ति ॥ ५७ ॥

अपची मे निर्गुण्ड्याद्य वमन—निर्गुण्डी, चमेली की पत्ती, देवदारु तथा जीमूतक (देवदाली) समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर तथा गरमकर

उसमें मधु एवं सेन्धानमक मिलाकर वमन करने के लिये पान कराये। इस प्रधान वमन योग को कुष्ठरोग तथा अपची रोग में उत्तम बताते हैं ॥ ५७ ॥

अपच्यां शिरोविरेचनयोगाः—

कैडर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं तैलं हितं मूर्धविरेचने च।
मधूकसारश्च हितोऽवपीडे फलं च शिग्रोः खरमञ्जरेर्वा ॥५८॥

अपची मे शिरोविरेचन योग—अपची रोग के लिये कैडर्य (कायफर), बिम्बी (कुन्दरू) तथा कनेर समभाग इन द्रव्यों के कल्क से (तैल-निर्माण विधि के अनुसार) सिद्ध तैल शिरोविरेचन में हितकर है। और मधूकसार (महुवे का सार), सहिजन का चूर्ण या अपामार्ग का चूर्ण अवपीडन नस्य में लाभदायक है ॥ ५८ ॥

ग्रन्थ्यामग्निक्षारोपदेशः—

ग्रन्थीनमर्मप्रभवानपक्वानुद्धृत्य चाग्निं निदधीत पश्चात्।
क्षारेण पक्वान् प्रतिसारयेच्च तैलं तु संलिख्य यथोपदिष्टम् ॥ ५९ ॥

ग्रन्थिरोग में अग्निकर्म तथा क्षारकर्म का उपदेश—ग्रन्थि यदि मर्मस्थान में न हो तो उसको अपक्वावस्था में ही अवपाटन कर निकाल दे और उसके बाद अग्निकर्म करे। परिपक्व ग्रन्थि को क्षार से प्रतिसारण करे और उसका लेखन कर बताये विधि के अनुसार तैल का प्रयोग करे ॥ ५९ ॥

अश्वत्थकाण्डं निचुलं गवां दन्तं च दाहयेत्।
सप्ताहाद् गलसंपृक्तं भस्म हन्त्यपचीव्रणान् ॥ ६० ॥

पीपल की लकड़ी, निचुल (समुद्रफल) तथा गाय के दांत इन सभी द्रव्यों को जलाकर भस्म बनावे। यह भस्म गले में लगाने से एक सप्ताह में अपची के व्रणों को नाश करता है ॥ ६० ॥

गलगण्डे पथ्यम्—

यवमुद्गपटोलानि कटु रूक्षं च भोजनम्।
छर्दिं सरक्तमुक्तिं च गलगण्डे प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

गलगण्ड रोग मे पथ्य—गलगण्ड रोग में यव, मूंग, परवल, कडुवा पदार्थ तथा रूक्षपदार्थ भोजन करे और वमन तथा रक्तमोक्षण कराये ॥ ६१ ॥

गलगण्डे निचुलादिलेपः—

निचुलं शिग्रुमूलानि दशमूलमथापि वा।
आलेपनं च गण्डेषु सुखोष्णं तु प्रशस्यते ॥ ६२ ॥

गलगण्ड रोग में निचुलादि लेप—निचुल (समुद्रफल), सहिजन की जड़ या दशमूल (बेल की छाल, गम्भारी, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन,

पिटवन, वनभण्टा, अटकटैया, गोखरू) का थोड़ा-थोड़ा गरम आलेपन (लेप) गलगण्ड रोग में लाभदायक होता है ॥ ६२ ॥

देवदारु विशाले च कफगण्डे प्रलेपनम् ।

देवदारु तथा इन्द्रायण का लेप कफजन्य गलगण्ड रोग में प्रयोग करे।

तन्दुलोदकपिष्टेन मूलेन परिलेपितः ।
हस्तिकर्णपलाशस्य गलगण्डः प्रशाम्यति ॥ ६३ ॥

हस्तिकर्ण (एरण्ड) तथा पलाश की जड़ को चावल के धोवन के साथ पीसकर लेप करने से गलगण्ड (घेघा) शान्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

गलगण्डे नस्ययोगः—

जीर्णकर्कारुकरसो विडसैन्धवसंयुतः ।
नस्येन हन्ति तरुणं गलगण्डमसंशयम् ॥ ६४ ॥

गलगण्ड में नस्य योग—पुराने कर्कारुक (राजककड़ी या कूष्माण्ड 'कोहड़ा) की जड़ का रस विडनमक तथा सेन्धानमक मिलाकर नस्य लेने से तरुण गलगण्ड को अवश्य ही नाश करता है ॥ ६४ ॥

गलगण्डे जलकुम्भीक्षारयोगः—

जलकुम्भीकजं भस्म पक्वं गोमूत्रगालितम् ।
पिबेत्कोद्रवतक्राशी गलगण्डोपशान्तये ॥ ६५ ॥

गलगण्ड रोग में जलकुम्भी क्षारयोग—जलकुम्भी की भस्म गोमूत्र में पकाकर तथा छानकर गलगण्ड रोग की शान्ति के लिये पान करे और कोदो का भात तथा मट्ठा भक्षण करे ॥ ६५ ॥

गलगण्डे मण्डूरयोगः—

महिषीमूत्रविमिश्रं लोहमलं संस्थित घटे मासम् ।
अन्तर्धूमविदग्धं लिह्यान्मधुना च गलगण्डी ॥ ६६ ॥

गलगण्ड रोग में मण्डूर योग—लोहमल (मंडूर) को भैंस के मूत्र में मिलाकर घड़े में एक मास तक वन्द रखने के बाद अन्तर्धूम-विदग्ध (शराव-सम्पुट में वन्दकर अन्तर्धूम जलाकर) भस्म को गलगंड रोगी मधु के साथ चाटे ॥ ६६ ॥

गलगण्डे सूर्यावर्तादिलेपः—

सूर्यावर्तरसोनाभ्यां गलगण्डोपनाहनम् ।
स्फोटास्रावैः शमयति गलगण्डं न संशयः ॥ ६७ ॥

गलगंड रोग में सूर्यावर्तादि योग—सूर्यावर्त (हुरहुर) तथा लहसुन पीसकर इसका गलगंड के ऊपर उपनाहन करे। यह गलगंड को पकने, फूटने तथा स्राव होने से बचाता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६७ ॥

गलगण्डे अमृतवल्ल्याद्यं तैलम्—

तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहिंस्राहृयावृक्षकपिप्पलीभिः ।
सिद्धं बलाभ्यां तु सदेवदारु हिताय नित्यं गलगण्डरोगी ॥ ६८ ॥

गलगंडरोग में अमृतवल्ल्याद्य तैल—गलगंड रोग से पीड़ित रोगी अमृतवल्ली (गुडूची), नीम, हिंस्रा (जटामांसी या 'हिंस्र'), वृक्षक (कुटज 'कोरैया') पीपर, बरियार, गंगेरन तथा देवदारु समभाग इन द्रव्यों के क्वाथ तथा कल्क से (तैल से चौगुना क्वाथ तथा तैल के चौथाई कल्क) सिद्ध तैल प्रतिदिन गलगंड रोग को दूर करने के लिये पान करे ॥ ६८ ॥

गलगण्डे शिरावेधः—

जिह्वायाः पार्श्वतोऽधस्ताच्छिरा द्वादश कीर्तिताः ।
तासां स्थूलशिरे द्वे तु छिन्द्यात्कृष्टे शनैः शनैः ॥ ६९ ॥
बडिशेनैव संगृह्य कुशपत्रेण बुद्धिमान् ।
स्रुते रक्ते व्रणे तस्मिन्दद्यात्सगुडमाक्षिकम् ॥ ७० ॥
भोजनं चानभिष्यन्दि यूषः कौलत्थ इष्यते ।
उपर्युपरि छिन्द्यात्तद्गलगण्डे शिरात्रयम् ।
कर्णयुग्मबहिःसन्धिमन्याभ्याशे स्थितं च यत् ॥ ७१ ॥

गलगंड में शिरावेध—जिह्वा के पार्श्व के नीचे बारह शिरायें बतायी गई हैं। उनमें से मोटी बडिश नामक यन्त्र से पकड़कर खिंची हुई दो शिराओं को कुशपत्र नामक शस्त्र से धीरे-धीरे छेदन करे। रक्त के निकल जाने पर उस व्रण में गुड़ तथा स्वर्णमाक्षिक मिलाकर लेप कर दे। अनभिष्यन्दि (दही आदि अभिष्यन्दी पदार्थों को छोड़कर) भोजन तथा कुलथी का यूष सेवन करना लाभदायक है। गलगंड रोग में दोनों कानों के बाहर सन्धि तथा मन्या के समीप में स्थित तीन शिराओं को ऊपर-ऊपर छेदन करे ॥ ६९–७१ ॥

कटुतुम्बीतैलम्—

विडङ्गक्षारसिन्धूत्थरास्नाग्निव्योषदारुभिः ॥ ७२ ॥
कटुतुम्बीफलरसे कटुतैलं विपाचितम् ।
चिरोत्थमपि नस्येन गलगण्डं विनाशयेत् ॥ ७३ ॥

कटुतुम्बी तैल—वायविडंग, यवक्षार, सेन्धानमक, उग्रा (वचा), रासन, चित्रक, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) तथा देवदारु समभाग इन द्रव्यों के (तैल के चौथाई) कल्क के साथ कड़वी लौकी के फल के रस (तैल के चौगुना) में सरसों का तैल (तैल निर्माण विधि के अनुसार) पकावे। यह तैल नस्य लेने से पुराने भी गलगंड रोग को नाश करता है ॥ ७२–७३ ॥

वातजगलगण्डचिकित्सा—

संस्वेद्य गण्डं पवनोत्थमादौ नाड्याऽनिलघ्नौषधपत्रभङ्गैः ।
अम्लैस्तु मूत्रैर्विविधैः पयोभिरुष्णैश्च तैलैः पिशितैश्च विद्वान् ॥ ७४ ॥
विस्रावयेत्स्विन्नमतन्द्रितश्च रूढव्रणे चाप्युपरोपणं तु ।
शणातसीमूलकशिग्रुकिण्वैः पियालमज्जानुयुतैस्तिलैश्च ॥७५॥
कोलामृताशिग्रुपुनर्नवार्कगजादिनामाकरहाटकुष्ठैः ।
एकैशिकावृक्षकतिल्वकैश्च सुराम्लपिष्टैरसकृत्प्रदिह्यात् ॥ ७६ ॥

वातज गलगंड रोग में सर्वप्रथम गलगंड को नाड़ी, वातनाशक एरंड आदि के पत्ते तथा सोम, अम्ल द्रव द्रव्य, अनेक प्रकार के गाय-बकरी आदि के मूत्र, गरम जल, गरम तैल तथा गरम मांस आदि से स्वेदन करे। इसके बाद विद्वान् वैद्य आलस्य-रहित होकर स्वेदन किये हुए गलगंड का रक्तस्राव करावे। रोपण-वढा व्रण बन जाने पर रोपण (घाव भरने वाली) चिकित्सा करे। रोपण-चिकित्सा में—वन सनई, अलसी (तीसी), मूली का बीज, सहिजन का बीज तथा किण्व (मद्यकीट), पियाल (चिरौंजी) की मज्जा और उसके साथ तिल, कोल (वैर), गुडूची, सहिजन, पुनर्नवा, मदार, गजादिनामा (गज-पीपर), करहाट (मैनफल) तथा कूट और एकैशिका (पाठा 'पाढ़ी'), वृक्षक (कोरैया) एवं तिल्वक वृक्ष की छाल इन द्रव्यों को सुरा, तथा अम्ल-रस के साथ पीसकर बार-बार लेप लगाये ॥ ७४–७६ ॥

कफजगलगण्डचिकित्सा—

स्नेहोपनाहैः कफसंभवं तु संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात् ।
ततोऽजगन्धातिविषाविशल्याविषाणिकाकुष्ठशताह्वयाभिः ॥ ७७ ॥
पलाशभस्मोदकपेपिताभिर्दिह्यात्सुगुञ्जाभिरशीतलाभिः ।

कफजन्य गलगंढ की चिकित्सा—कफजन्य गलगंड को स्नेहन तथा उपनाहन (पुल्टिस) के द्वारा स्वेदन कर रक्तविस्रावण करावे। इसके बाद अजमोदा, अतीस, विशल्या (कलिहारी) विषाणिका (काकड़ासिंघी, कूठ, सौंफ तथा गुञ्जा (रत्ती) इन द्रव्यों को पलाश के भस्मोदक (पलास-क्षारोदक) के साथ पीस कर तथा गरमकर लेप लगाये।

मेदोजगलगण्डचिकित्सा—

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां विध्येच्छिरां स्निग्धवतो नरस्य ॥७८॥
श्यामासुधालोहकरीषदन्तीरसाञ्जनैश्चापि हिताः प्रदेहाः ।
मूत्रेण चालोड्य हिताय सारान् प्रात पिबेत्सारमहीरुहाणाम् ॥

मेदोजन्य गलगण्ड की चिकित्सा—मेदोजन्य गलगण्ड रोग में स्नेहन किये हुए मनुष्य का पूर्वोक्त प्रकार से शिरावेधन करे। इसके बाद निशोथ, सेहुण्ड,

लोह (अगर), करीष (सूखा गोवर), दन्ती तथा रसाञ्जन इन द्रव्यों का लेप हितकर होता है। सारवाले वृक्षों के सार को गाय के मूत्र में मिलाकर मेदोज गलगण्ड को दूर करने के लिये प्रातःकाल पान करे॥ ७८–७९॥

खदिरार्कासनादीनि सुधाश्यामारसाञ्जनम्।
दग्ध्वा ह्युद्धृत्य मेदःस्थे गण्डे दद्यात्प्रलेपनम्॥ ८०॥

खैर, मदार, असनवृक्ष, सेहुंड, निशोथ तथा रसाञ्जन इन द्रव्यों को जलाकर मेदोजन्य गलगण्ड में लेप करे॥ ८०॥

तिक्तालाबुफले पक्के सप्ताहमुषितं जलम्।
मद्यं वा गलगण्डघ्नं पानाच्च पथ्यसेविनः॥ ८१॥

कड़वी लौकी के पके फल को जल या मद्य में एक सप्ताह तक रखे और इसके बाद उसमें से लेकर वह योग पथ्य सेवन करनेवाले रोगी के गलगण्ड को नाश करनेवाला है॥ ८१॥

वातार्बुदचिकित्सा—

कर्कारुकैर्वारुकनालिकेरपिण्याकपञ्चाङ्गुलबीजचूर्णैः।
वातार्बुदं क्षीरघृताम्लसिद्धैरुष्णैः सतैलैरुपनाहयेच्च॥ ८२॥

वातजन्य अर्बुद की चिकित्सा—कर्कारुक (कोहड़ा), एर्वारु (ककड़ी), नारियल, पिण्याक (तिल की खली), पञ्चाङ्गुल (एरण्ड) का बीज समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण, दूध, घृत, इमली तथा तैल मिलाकर पश्चाद् गरमकर वातजन्य अर्बुद का उपनाहन (पुल्टिस बांधना) करे॥ ८२॥

वातार्बुदे चाप्युपनाहनानि स्निग्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः।
स्वेदं विदध्यात्कुशलस्तु नाड्या शृङ्गेण रक्तं बहुशो हरेच्च॥ ८३॥

वातजन्य-अर्बुद में अनेक प्रकार के उपनाहन (पुल्टिस), घृतपक्व मांस तथा वेसवार (लवंग, मरिच, पान का पत्ता तथा चावल मिला कर तैयार किया मांसविशेष) से स्वेदन करे और कुशल वैद्य नाड़ी (नलिका) तथा सिंगी से अनेक बार रक्तनिर्हरण करे॥ ८३॥

पित्तार्बुदचिकित्सा—

स्नेहोपनाहा मृदवस्तु पथ्याः पित्तार्बुदे कायविरेचनं च।
निघृष्य चोदुम्बरशाकगोजीपत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिम्पेत्।
श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियङ्गुपत्तङ्गरोध्रार्जुनयष्टिकाह्वैः॥ ८४॥

पित्तजन्य अर्बुद की चिकित्सा—पैत्तिक-अर्बुद रोग में स्निग्ध पदार्थों का उपनाहन, मृदु शीतल वस्तुओं का सेवन तथा शरीर का विरेचन कराना पथ्य है। इसमें गूलर का पत्ता तथा गोजी (वनगोभी) का पत्ता पीस कर उसमें मधु मिलाकर अनेक बार लेप करे। इसके अतिरिक्त सर्जरस (राल),

प्रियंगु, पतङ्ग, लोध की छाल, अर्जुन की छाल तथा मुलेठी समभाग—इन द्रव्यों को महीन पीसकर इसका भी लेप करे ॥ ८४ ॥

कफजार्बुदचिकित्सा—

शुद्धस्य जन्तोः कफजेऽर्बुदे तु रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत् ॥
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च दोषान् हरन्ति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात् ।

कफजन्य अर्बुद की चिकित्सा—कफजन्य-अर्बुद में स्नेहन, स्वेदन आदि से शुद्ध शरीरवाले व्यक्ति का रक्त-निर्हरण हो जाने के बाद जो द्रव्य ऊपर तथा नीचे के दोषों को हरण करनेवाले हैं उन द्रव्यों के कल्क से अर्बुद को लेप करे ॥ ८५ ॥

लेपनं शङ्खचूर्णेन सह मूलकभस्मना ।
कफार्बुदापह कुर्याद् ग्रन्थ्यादिषु विशेषतः ॥ ८६ ॥

शंख का चूर्ण तथा मूली की भस्म एक साथ मिलाकर कफार्बुद को नाश करनेवाले लेप को करे । ग्रन्थि आदि रोगों में विशेषकर इस लेप को करे ॥ ८६ ॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कैर्मांसप्रगाढैर्दधिमर्दितैस्तु ।
लेपं विदध्यात्क्रमयो यथाऽत्र मुञ्चन्त्यपत्यान्यथ मक्षिका वा ॥ ८७ ॥
अल्पावशिष्टं कृमिभिः प्रजग्धं लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात् ।
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसैः संवेष्ट्य पत्रैरथवाऽऽयसैर्वा ॥ ८८ ॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेच्च मुहुर्मुहुः प्राणमवेक्ष्यमाणः ।
यदृच्छया चोपगतं तु पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्यथोक्तम् ॥ ८९ ॥

निष्पाव (भटवासु), तिल की खली, तथा कुलथी—इन द्रव्यों के कल्क और मांस को दही में मर्दन कर लेप लगाये, जिससे क्रिमि या मक्षिका अपने अण्डों को छोड़े। क्रिमियों के न खाने से यदि थोड़ा अवशिष्ट रह जाय तो लेखन करे और इसके बाद अग्निकर्म के द्वारा जला दे । जो थोड़ी जड़ रह जाय उसको पत्तों से बांध कर रांगा, तांमा, शीशा या लोहे से क्षारकर्म, अग्निकर्म तथा शस्त्रकर्म करे तथा रोगी के प्राणों को बार-बार निरीक्षण करता रहे । और यदि वह अपने आप पक जाय तो पके हुए व्रण की तरह उपचार करे जैसा कि बताया गया है ॥ ८७–८९ ॥

सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति ।
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्युः सशेषाणि यथा विषाणि ॥ ९० ॥

जो व्यक्ति अर्बुदों के दोषों को शेष रहने देता है उसके अर्बुद पुनः उत्पन्न हो जाते हैं । अतः अर्बुदों को निश्शेष निकाल दे। शेष रहने पर अवशिष्ट विष के तरह उपद्रव करते हैं ॥ ९० ॥

आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः कषायपिष्टैर्व्रणशोधनार्थम् ।
शुद्धे च तैलं विदधीत भार्गीविडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम् ॥ ९१ ॥

आस्फोत (मदार), चमेली तथा कनेर के पत्तों को पीस कर उसके कषाय से संशोधन (साफ) करे। शुद्ध हो जाने पर भारंगी, वायविडंग, पाढ़ी तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) इन द्रव्यों के कल्क से पकाया हुआ (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) तैल का लेप करें ॥ ९१ ॥

उपोदिकारसाभ्यक्तास्तत्पत्रपरिवेष्टिताः ।
प्रणश्यन्त्यचिरान्नॄणां पिटिकार्बुदजातयः ।
लवणेनाथवा स्वेदात् सीसकेन तथैव च ॥ ९२ ॥

उपोदिका (पोई शाकविशेष) के रस का लेप कर उसके पत्तों को बांधने से मनुष्यों की पिड़िका तथा अर्बुद, ग्रन्थि आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अथवा सैन्धानमक तथा शीशा से स्वेदन करने पर भी उसी प्रकार अर्बुद, पिड़िका आदि नष्ट हो जाते है ॥ ९२ ॥

मेदोर्बुदचिकित्सा—

हरिद्रारोध्रपत्तङ्गगृहधूममनःशिलाः ।
मधुप्रगाढो लेपोऽयं मेदोर्बुदहरः परः ॥ ९३ ॥

मेदोजन्य अर्बुद की चिकित्सा—हल्दी, लोध, पत्तंग, भोजनालय का धूम, तथा मैनशिल—इन द्रव्यों के चूर्ण का मधु मिलाकर लेप मेदोजन्य-अर्बुद को अच्छी तरह दूर करने वाला है ॥ ९३ ॥

मेदोर्बुदं स्निग्धमथो विदार्य विशोध्य सीव्येद् गतरक्तमाशु ।
पश्चाद्धरिद्रादिक एष लेपः करञ्जतैलं विदधीत शुद्धे ॥ ९४ ॥

मेदोजन्य-अर्बुद को स्नेहन करने के बाद विदीर्ण कर तथा संशोधन कर रक्त निकल जाने के बाद शीघ्र ही सीवन (सीना) कर दे। इसके बाद शुद्ध हो जाने पर पूर्वोक्त यह हरिद्रादि लेप लगाये और करञ्ज-तैल को भी लेप के लिये प्रयोग करे ॥ ९४ ॥

शर्करार्बुदचिकित्सा—

एतामेव क्रियां कुर्यादशेषां शर्करार्बुदे ।

शर्करार्बुद की चिकित्सा—शर्करार्बुद में पूर्वोक्त (मेदोजन्य-अर्बुद की चिकित्सा) सभी क्रियाओं को करे।

अर्बुदे सामान्यचिकित्सा—

उपोदिकाकाञ्जिकतक्रपिष्टा तयोपनाहो लवणेन मिश्रः ।
दृष्टोऽर्बुदानां प्रशमाय कैश्चिद्दिने दिने मर्मशरीरजानाम् ॥ ९५ ॥

अर्बुदरोग मे सामान्य चिकित्सा—उपोदिका (पोई) के पत्तों को काञ्जी

तथा मट्ठा के साथ पीसकर सेन्धानमक मिलाकर उसका लेप करना मर्म शरीर में उत्पन्न-अर्बुदों को दिन-दिन नाश करनेवाला है, ऐसा कुछ लोगों ने देखा है। अर्थात् पूर्वोक्त लेप लगाने से मर्म में उत्पन्न अर्बुदों को प्रतिदिन कम करता जाता है ॥ ९५ ॥

स्नुहीगण्डीरिकास्वेदाः शमयन्त्यर्बुदानि च ।

सेहुड़ तथा गण्डीरिका (गण्डीर-नामक शाकविशेष) का स्वेदन अर्बुदों को शान्त करता है ।

काञ्जिकक्षारलवणशिग्रुमूलाविकामलैः ॥ ९६ ॥
स्विन्नं त्रिचतुरो वारान्मृदितं बहुशोऽर्बुदम् ।

काञ्जी, यवक्षार, सेन्धानमक, सहिजन की जड़, भेंड़ का ऊन तथा आँवला इन द्रव्यों के क्वाथ से दो या तीन बार स्वेदन तथा अनेक बार मर्दन करना अर्बुदों को शान्त करता है ।

उपोदिकायाः पत्रैस्तु सुपिष्टैः पिण्डमर्बुदे ॥ ९७ ॥
दत्त्वा चाच्छाद्य पत्रेण बध्नीयात्पट्टकेन तम् ।
अहोरात्रस्थितं मुक्त्वा प्राक्पिण्डमवतार्य च ॥ ९८ ॥
दत्त्वा पिण्डान्तरं बद्ध्वा तथैव परिधापयेत् ।
एवं नित्याभियुक्तस्य क्रमेणानेन तद्गतम् ।
विनैव शस्त्रक्षाराभ्यामर्बुदं प्रशमं व्रजेत् ॥ ९९ ॥

उपोदिका (पोई) के पत्तों को अच्छी तरह पीसकर उसकी टिकिया बनावे और अर्बुद के ऊपर रखकर उसी के पत्तों से आच्छादित कर उसको कपड़े की पट्टी से बांध दे। इसके बाद एक दिन-रात रखने के बाद पहले पिण्डी (टिकिया) को उतार कर उसको फेंक कर और दूसरे पिण्ड (टिकिया) को अर्बुद पर रखकर पुनः उसी तरह बांधकर ढँक दे। इस प्रकार प्रतिदिन उपचार करनेवाले व्यक्ति का मर्मगत तथा शरीरगत अर्बुद शस्त्र-कर्म तथा क्षारकर्म के विना ही शान्त हो जाता है ॥ ९७-९९ ॥

अर्बुदेषु ग्रन्थिचिकित्साया अतिदेशः—

ग्रन्थ्यर्बुदाना च यतोऽधिशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः ।
ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥१००॥

अर्बुदरोगों में ग्रन्थि की चिकित्सा का आदेश—ग्रन्थि तथा अर्बुदों में स्थान, हेतु (कारण), आकृति (स्वरूप), दोष (वात-पित्तादि) तथा दूष्यों (रक्त-मांसादि) की समानता है अतः उपचार-विधि को जाननेवाला वैद्य ग्रंथि की चिकित्सा के सदृश अर्बुदों की चिकित्सा करे ॥ १०० ॥

ग्रन्थेः सामान्यचिकित्सा—

ग्रन्थिष्वामेषु कुर्वीत शोफोद्दिष्टां क्रियां भिषक् ।
पक्वामुत्पाट्य सशोध्य रोपयेद् व्रणभेषजैः ॥ १०१ ॥

ग्रन्थि की सामान्य चिकित्सा—आम (अपरिपक्व) ग्रन्थियों में वैद्य शोथ-प्रकरण में बताई हुई क्रियाओं को करे। पकी हुई ग्रन्थि को छेदन (नस्तर लगाकर) तथा संशोधन कर व्रणनाशक औषधों से व्रण का रोपण कराये ॥ १०१ ॥

वातजग्रन्थिचिकित्सा—

हिंस्रा सरोहिण्यमृता च भार्गी श्योनाकबिल्वारलुकृष्णगन्धाः ।
गोपित्तपिष्टाः सह तालपत्र्या ग्रन्थौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः ॥१०२॥

वातज ग्रन्थि की चिकित्सा—वातजन्य ग्रन्थि में हिंस्रा (जटामांसी या 'हैस'), रोहिणी (मांसरोहिणी), गुडूची, भारङ्गी, सोनापाठा, बेल की छाल, अरलु (दीर्घवृन्त-सोनापाठा) तथा कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन) इन द्रव्यों को तालपत्री (चनशूर या वनसौंफ) के साथ गाय के पित्त में पीसकर ग्रन्थि-रोग में लेप करे ॥ १०२ ॥

पित्तजग्रन्थिचिकित्सा—

जलायुकाः पित्तकृते हितास्तु क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च ।
काकोलिवर्गस्य सुशीतलानि पिबेत्कषायाणि सशर्कराणि ॥ १०३ ॥
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वापि चूर्णं पिबेद्वापि हरीतकीनाम् ।
मधूकजम्ब्वर्जुनवेतसानां त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेद्वा ॥ १०४ ॥

पित्तज ग्रन्थि की चिकित्सा—पित्तजन्य ग्रन्थि में जलायुका (जलौका)-पातन (जोंक लगाना) और दूध तथा जल से परिसेचन करना हितकर होता है। काकोलि[1] वर्ग के शीतल कषाय को शक्कर मिलाकर पान करे अथवा हर्रे का चूर्ण मुनक्का के रस के साथ या गन्ना के रस के साथ पान करे। वा महुआ, जामुन, अर्जुन तथा वेतस वृक्ष की छाल को पीसकर उसका लेप करे ॥ १०३–१०४ ॥

कफजग्रन्थिचिकित्सा—

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या ग्रन्थौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु ।

---

१. काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ तथा ।
ऋद्धिर्वृद्धिस्तथा मेदा महामेदा गुडूचिका ॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी पद्मकं वंशलोचना ।
शृङ्गी प्रपौण्डरीकञ्च जीवन्ती मधुयष्टिका ॥
द्राक्षा चेति गणो नाम्ना काकोल्यादिरुदीरितः ।

स्विन्नस्य विम्लापनमेव कार्यमङ्गुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः ॥ १०५ ॥
विकङ्कतारग्वधकाकणन्तिकाकाकादनीतापसवृक्षमूलैः ।
प्रलेपयेदेनमलाबुभार्गीकरञ्जकालामदनैश्च विद्वान् ॥ १०६ ॥

कफजन्य ग्रन्थि की चिकित्सा—कफजन्य ग्रन्थि में पूर्वोक्त प्रकार से दोषों के दूर हो जाने पर वैद्य स्वेदन करने के बाद अंगुष्ठ, लौह, पत्थर तथा बांस के दण्ड से केवल विम्लापन (स्वेदन करने के बाद शोथप्रदेश को मर्दन करना) करे। विद्वान् व्यक्ति इस ग्रन्थि को विकङ्कत (स्रुवावृक्ष 'कटाइ'), अमलतास, काकणन्तिका (गुञ्जा), काकादनी (गुञ्जाविशेष 'घुघुची') तथा तापस वृक्ष (इङ्गुदीवृक्ष), इन द्रव्यों की जड़ पीसकर इसके कल्क से लेप तथा लौकी, भारङ्गी, करञ्ज, काला (मञ्जीठ) तथा मदनफल के कल्क से लेप करे ॥ १०५–१०६ ॥

मेदोजग्रन्थिचिकित्सा—

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं कृत्वोपरिष्टाद् द्विगुण पटान्तम् ।
हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्य लोहेन धीमान्दहयेद्धिताय ॥ १०७ ॥
तथैव दर्व्या जतुलिप्तया वा प्रलिप्तया स्वेदनमस्य कार्यम् ।
अमर्मजातं शममप्रयातमपक्वमेवापहरेद्विदार्य ॥ १०८ ॥
दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा सद्यः क्षतोक्तं च विधिं विदध्यात् ।

मेदोज ग्रंथि की चिकित्सा—मेदोज ग्रन्थि में तिल के कल्क का लेप लगाकर उसके ऊपर दोहरा कपड़ा रखकर आग में तपाये हुए लोहा से बार-बार माँजकर बुद्धिमान वैद्य रोगी के लाभ के लिये दग्ध करे (दाह करते समय बीच-बीच में लोहे को उठा लिया करे ऐसा "पुनः प्रमृज्य' का तात्पर्य होता है)। इसी प्रकार लाख से लिप्त दर्वी (कलछुल) से या किसी भी लेप से इस ग्रन्थि का स्वेदन करे। यदि मर्मस्थान में न हो और किसी प्रकार शान्त न होता हो तो अपक्वावस्था में ही काटकर ग्रन्थि को निकाल दे। रक्त के रुक जाने के बाद अच्छी तरह दाहकर्म को जाननेवाला वैद्य दग्ध करे और शीघ्र ही क्षत के लिये बताये गये उपचार को करे ॥ १०७–१०८ ॥

दन्ती चित्रकमूलत्वक् स्नुह्यर्कपयसी गुडः ।
भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ॥ १०९ ॥
ग्रन्थींस्त्वमर्मप्रभवानपक्वानुद्धृत्य चाग्निं विदधीत वैद्यः ।
क्षारेण चैतान् प्रतिसारयेच्च सलिख्य सलिख्य यथोपदेशम् ॥११०॥

दन्ती, चित्रकमूल की छाल, सेहुंड तथा मदार का दूध, गुड़, भल्लातक की गुठली और कासीस इन द्रव्यों का लेप पत्थर को भी भेदन कर देता है। अर्थात् यह लेप कठिन से कठिन भी ग्रन्थि को भी भेदन कर देता है। मर्मस्थल

से अन्य स्थान में उत्पन्न विना पके हुए ग्रन्थि को पकड़ कर वैद्य अग्निकर्म करे और इन ग्रन्थियों को क्षारकर्म के नियमानुसार बार-बार अवलेखन कर क्षार से प्रतिसारण करे ॥ १०९–११० ॥

शिराजग्रन्थिचिकित्सा—

शिराग्रन्थौ नवे पेयं तैलं साहचरं तथा।
उपनाहोऽनिलहरैर्बस्तिकर्म शिराव्यधः ॥ १११ ॥

शिराजन्य ग्रन्थि की चिकित्सा—नवीन शिराजन्य ग्रन्थि में [1]सहचर तैल को पान करे तथा वातनाशक द्रव्यों से उपनाहन, बस्तिकर्म और सिराव्यध (रक्तमोचण) कराये ॥ १११ ॥

गण्डमालायां कतिपययोगाः—

मूलं हि सुरवारुण्या गोमूत्रयुतं महीन्द्रकर्ण्या वा।
अपहरति गण्डमालां पीतं सुश्लक्ष्णपरिपिष्टम् ॥ ११२ ॥

गंडमाला में कुछ योग—इन्द्रवारुणी की जड़ या महीन्द्रकर्णी (अपराजिता) की जड़ गोमूत्र के साथ महीन पीसकर पान करने से गण्डमाला को दूर करती है ॥ ११२ ॥

अर्कक्षीरजपापुष्पतैललाक्षारसैः समैः।
गण्डमाला शमं याति प्रलिप्ता सप्तभिर्दिनैः ॥ ११३ ॥

मदार का दूध, जवापुष्प (अड़उल) से सिद्ध तैल तथा लाक्षारस समभाग इन द्रव्यों का लेप करने से सात ही दिन में गण्डमाला शान्त हो जाती है ॥ ११३ ॥

अपच्यां गिरिकर्णीमूलयोगः—

पुष्ये गृहीतं गिरिकर्णिकाया मूलं सिताया गलके निबद्धम्।
गव्येन लीढं यदि वा घृतेन निहन्ति घोरामपचीं तदैव ॥ ११४ ॥
श्लेष्मान्तकक्वाथरसेन यद्वा सतैलनिष्पावकृताशनस्य।

अपची रोग में गिरिकर्णी-मूल योग—सफेद अपराजिता की जड़ पुष्य नक्षत्र में निकालकर गले में बाधने या गाय के घृत के साथ चाटने से उसी समय भयंकर गण्डमाला रोग को नाश करती है। अथवा तेल के साथ भटवासु को खानेवाला व्यक्ति श्लेष्मान्तक (लसोढा) के क्वाथ के साथ सफेद अपराजिता-मूल पीसकर पान करता है वह अपची रोग को नाश करता है।

नस्यप्रयोगात्कपिकच्छुमूलमिश्रो रसो झिङ्गिणिकाद्रुमोत्थः ॥११५॥
ग्रीवाभुजस्कन्धभवानशेषान्निहन्ति रोगानपि बद्धमूलान्।

---

१. गदनि० प्र० ख० पृ० १२७ में देखें।

जिङ्गिणिका (जीयाल 'गुडमञ्जरी) वृक्ष की छाल का रस तथा केवाछ के मूल का चूर्ण मिलाकर नस्य लेने से ग्रीवा, बाहु तथा कन्धा में उत्पन्न सम्पूर्ण जड़ पकड़े हुए अपची रोगों को भी नाश करता है।

उदुम्बरक्षीरयुतं स्वगुप्तामूलं समं जिङ्गिणिकारसेन।
सरामठं हन्त्यवबाहुकाख्यं नस्यप्रयोगात्पुरुषस्य रोगम् ॥ ११६ ॥

गूलर के दूध से युक्त जिंगिणिका (गुड़मञ्जरी) के रस के साथ केवांच के मूल का चूर्ण हिङ्गु मिलाकर नस्य लेने से मनुष्य के अवबाहुक नामक रोग को नाश करता है ॥ ११६ ॥

पिटिकायां कतिपययोगाः—

दण्डोत्पलकमूलेन पिटिकाः सम्प्रलेपिताः ।
तन्दुलोदकघृष्टेन नाशमायान्त्यसंशयम् ॥ ११७ ॥

पिटिका में कुछ योग—दण्डकमल के मूल को चावल के धोवन के साथ घिस कर लेप करने से निःसन्देह पिडिकायें नष्ट हो जाती हैं ॥ ११७ ॥

क्षीरमौदुम्बरं यत्नाल्लाकुचं वा प्रयोजयेत्।
पिटिकासु समस्तासु लेपनं संप्रशान्तये ॥ ११८ ॥

गूलर का दूध या लकुच (बड़हर) का दूध प्रयत्नपूर्वक सभी प्रकार के पिड़िकाओं की शान्ति के लिये लेप करे ॥ ११८ ॥

रसो मण्डूकपर्ण्यास्तु प्रलेपात्पिटिकास्रयम्।
धत्तूरकशिफां क्षुण्णां बद्ध्वा च संप्रणाशयेत् ॥ ११९ ॥

मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी भेद) या मंजीठ के रस का लेपकर तथा घिसे हुए धत्तूर की जड़ का कल्क बांध कर पिड़िका रोग को नाश करे ॥ ११९ ॥

नराणामर्कमूलेन पाक गत्वा प्रणश्यति ।
गोमूत्रपरिपिष्टेन पिटिकाः संप्रलेपिताः ॥ १२० ॥

मदार की जड़ गाय के मूत्र के साथ पीस कर लेप करने से मनुष्यों की पिड़िका पककर तथा स्रावित होकर नष्ट हो जाती है ॥ १२० ॥

मूलानि बीजान्यथवा प्रपिष्टान्यथारनालेन समं हलिन्याः।
हरन्ति लेपेन तु दुष्टकीटसपर्कजाताः पिटिकाः क्षणेन ॥ १२१ ॥

हलिनी (कलिहारी) के मूल या बीज आरनाल (काञ्जी विशेष) के साथ पीसकर लेप करने से दूषित क्रिमियों के सम्पर्क से भी उत्पन्न पिड़िकाओं को शीघ्र ही नाश करते हैं ॥ १२१ ॥

सुरदालीकटुतुम्ब्योरन्यतरस्याः प्रपेषितं मूलम्।
बीजं वा चुक्रयुतं कीटकपिटिकोपसर्गहरम् ॥ १२२ ॥

सुरदाली (देवदाली) तथा कड़वी तुम्बी (लौकी) इनमें से किसी एक

का मूल या बीज पीसकर चुक्र (शुक्त) मिलाकर लेप करने से क्रिमियों के संसर्ग से उत्पन्न पिडिकाओं को दूर करता है ॥ १२२ ॥

नक्तमालतरुबीजमिश्रितैः सर्षपैस्तिलयुतैश्च पेषितैः ।
यान्ति दुष्टपिटिकाः प्रतिक्षणं लेपितैर्विलयमाशु देहिनाम् ॥ १२३ ॥

नक्तमाल (पूतिकरञ्ज) वृक्ष का बीज, सरसों तथा तिल के साथ पीसकर लेप करने से मनुष्यों की दुष्ट पिडिका प्रतिक्षण शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

निकुम्भवातारिफलैर्जलेन संपेषितैर्यः कुरुते प्रलेपम् ।
तस्योपशान्ति पिटिकाः प्रयान्ति समस्तदोषप्रभवाः क्षणेन ॥ १२४ ॥

निकुम्भ (दन्ती) तथा वातारि (एरण्ड) के फलों को जल के साथ पीस कर जो व्यक्ति लेप करता है उसके सम्पूर्ण दोषों से उत्पन्न पिड़िकायें शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं ॥ १२४ ॥

ज्वालागर्दभे तण्डुलीयादिलेपः—

पयोदरावनीलिन्योर्मूलैः पिष्टैर्घृतान्वितैः ।
ज्वालागर्दभनाशाय प्रलेप सकृदाचरेत् ॥ १२५ ॥

ज्वालागर्दभ (जालगर्दभ) रोग में तण्डुलीयादि लेप—पयोदरा (तंडुलीय 'चौराई') तथा अवनीलिनी (नील) इन द्रव्यों के मूल को पीसकर और उसमें घृत मिलाकर ज्वालागर्दभ (जालगर्दभ) रोग को नाश करने के लिये एक वार लेप करे ॥ १२५ ॥

शीतलिकाचिकित्सा—

उत्तण्डस्य तु मूलं पिबन्ति जलेन ये पिष्टम् ।
गोजिह्विकाजटां वा तेषां नश्यन्ति शीतलिकाः ॥ १२६ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यखण्डे ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डगण्डमालाधिकारः प्रथमः ॥ १ ॥

शीतलिका की चिकित्सा—उत्तंड (?) का मूल जल के साथ पीस कर या वनगोभी के मूल को जल के साथ पीस कर जो पान करते हैं उन लोगों के शीतलिका (चेचक) रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १२६ ॥

वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्य तंत्र में प्रथम ग्रन्थि-अपची-अर्बुद तथा गण्डमालाधिकार समाप्त।

अथ श्लीपदाधिकारो द्वितीयः ।

अथातः श्लीपदनिदानं व्याख्यास्यामः ।

इसके बाद श्लीपद (पील पांव) का निदान कहते हैं ।

श्लीपदसामान्यलक्षणम्—

मेदोमांसाश्रयं शोफं पादयोः श्लीपदं वदेत् ।
स्वलिङ्गदर्शिभिर्दोषैस्त्रिधा स्याच्च कफोत्तरम् ॥ १ ॥

श्लीपद का सामान्यलक्षण—मेद यथा मांस को आश्रित कर दोनों पैरों में उत्पन्न शोथ को 'श्लीपद' कहते हैं । अपने लक्षणों को दर्शानेवाले वात, पित्त तथा कफ आदि दोषों से तीन प्रकार का होता है किन्तु इसमें कफ की प्रधानता रहती है ॥ १ ॥

यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्तिः शोफो नृणां पादगतः क्रमेण ।
तच्छ्लीपदं स्यात्करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥ २ ॥

मनुष्यों में जो ज्वरपूर्वक अत्यधिक पीड़ावाला शोथ वंक्षण प्रदेश में उत्पन्न होकर धीरे धीरे नीचे की तरफ पैर में चला जाता है उसे 'श्लीपद' कहते हैं । कुछ विद्वान् हाथ, कान, मूत्रेन्द्रिय, ओष्ठ तथा नासिका में भी उसकी उत्पत्ति मानते हैं ॥ २ ॥

वातजादिभेदेन श्लीपदलक्षणानि—

वातजं कृष्णरूक्षं तु स्फुटते तीव्रवेदनम् ।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ ३ ॥

वातिक-आदि भेद से श्लीपद के लक्षण—वातजन्य श्लीपद का वर्ण काला, रूक्ष, फटे हुए भयंकर वेदना वाला, बिना कारण ही पीड़ा तथा प्रायः ज्वर से युक्त होता है ॥ ३ ॥

पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु ।
कफजं स्निग्धवर्णं च श्वेत पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ४ ॥

पित्तजन्य—श्लीपद पीला सा जलन तथा पीड़ा से युक्त और स्पर्श में मृदु होता हैं । कफजन्य—श्लीपद चिकना, सफेद तथा पाण्डुवर्ण का गुरु तथा स्थिर होता है ॥ ४ ॥

विमर्श—धीरे धीरे उत्पन्न होनेवाले कठिन शोथ को श्लीपद[1] कहते हैं । दूसरा लक्षण—'शिलावत् पदं श्लीपदम्' अर्थात् जिस रोग में पैर पत्थर के समान कठोर तथा स्थूल हो जाता है उसे 'श्लीपद' कहते हैं ।

---

१. शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते । (अष्टाङ्ग-संग्रह)

यह रोग पैर के अतिरिक्त हाथ, कान, आंख, नासिका तथा ओष्ठ में भी उत्पन्न होता है यह कुछ आचार्यों का मत है ।[1]

यथार्थ में यह श्लीपदजन्य शोथ लसीका-वाहिनियों का अवरोध होकर किसी भी स्थान की त्वचा में उत्पन्न हो सकता है । किन्तु सबसे ज्यादा पैरों में, उससे न्यून अण्डकोष तथा हाथ, कान, नाक, ओष्ठ, शिश्न, स्त्रियों के भगोष्ठ आदि में यह रोग प्रत्यक्ष होता है । इस रोग को आजकल हस्तिपाद 'फीलपाव' तथा आधुनिक विज्ञान में 'फाइलेरिया' कहते हैं ।

पैर के श्लीपद में सर्वप्रथम वंक्षण प्रदेश की लसीका-वाहिनियां शोथ-युक्त होती हैं । रोगी ज्वर से पीड़ित होता है । इसमें वेदना अधिक होती है । पुनः यह शोथ ऊरु, जानु और जंघा में होता हुआ पैर में पहुँच जाता है ।

आधुनिक वैद्यक के अनुसार इसके दो कारण हैं—

१. प्रधान कारण—इसको उत्पन्न करनेवाला प्रधान कारण 'फाइलेरिया' वैंक्रोफ्टाई (Filaria bancrofti) नामक क्रिमि है । पूरे परिवर्द्धित पुरुष क्रिमि बालों के समान सूक्ष्म, फीते के सदृश डेढ़ से दो इञ्च लम्बा होता है । स्त्री कृमि की लम्बाई इससे दुगुनी है । ये दोनों आपस में गेंडुली के आकार में मिलकर लसीका-वाहिनियों में रहते हैं । ये पारभासक तथा सफेद रंग के होते है । इनके मध्य में मुख तथा सिर के समीप जननेन्द्रिय होती है । मादाक्रिमि अनेक वर्षो तक समय पर असंख्य 'माइक्रो फाइलेरिया को' उत्पन्न करती हैं । ये क्रिमि मृत्यु के बाद लसवाहिनियों तथा लसग्रन्थियों में चिपके हुए पड़े रहते हैं । इस अवस्था में इनके ऊपर चूने का आवरण चढ़ा रहता है । इसी कारण से आक्रमण-सप्ताह समाप्त होने पर भी पीड़ित अंग मे सूजन शेष रह जाती है कभी कभी कुछ क्रिमि नष्ट हो जाते है ।

ये क्रिमि (क) दिन परिसरीय रक्त में नहीं रहते हैं ।

(ख) सायंकाल होते ही परिसरीय रक्त में आना प्रारम्भ कर देते हैं और मध्यरात्रि में एक बूंद रक्त में इनकी संख्या (२०० से ६०० तक) हो जाती है । अतः परीक्षा के लिये रोगियों का रक्त मध्य रात्रि में ही लिया जाता है । सोने के समय में परिवर्तन कर देने से रात के स्थान पर दिन में भी उपलब्ध होने लगते हैं ।

(ग) आधी रात के बाद इनकी संख्या पुनः घटने लगती है और लगभग प्रातः ८ या ९ बजे तक ये परिसरीय रक्त में पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं । उस

---

१. पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम् ।
कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥

समय ये आन्तरिक अंगों (वृक्क, हृदय, फुफ्फुस) की रक्तवाहिनियों में चले जाते हैं। इन क्रिमियों को रात्रिचर कहा जा सकता है।

(घ) इसके कुछ क्रिमि दिन में और कुछ दिन-रात दोनों में परिसरीय रक्त में मिलते हैं। किन्तु ये भारतवर्ष में नहीं होते हैं।

(२) सहायक कारण—(क) शीलन-युक्त निवास-स्थान।

(ख) मच्छर 'क्यू लैक्स फेटिजेन्स' (Culex fatigans) नाम मच्छरी इस रोग के क्रिमि का प्रसार कराती है।

(ग) जल बहुल प्रदेश (अनूप प्रदेश) यह रोगी नदी तथा समुद्र के किनारे के प्रदेश, हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग, बिहार, बंगाल, उड़ीसा की चीन तथा त्रावणकोट में अधिकता से होता है।

मच्छरों के काटने से क्रिमि का शरीर में प्रवेश हो जाता है। यह क्रिमि लसीकावाहिनी, लसीकाग्रन्थि तथा रस कुल्या में अपनी संख्या की वृद्धि कर कुछ दिन बाद लसीकावाहिनियों में अवरोध उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार स्थानीय लसीका-संचय के परिणाम-स्वरूप शोथ प्रारम्भ हो जाता है जो आगे चलकर पत्थर के समान कठोर हो जाता है। सबसे पहले लसीका-ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होता है। शोथ के कारण और क्रमशः शरीर के अंग में सूजन हो जाती है। रोग के आक्रमण बार-बार होते रहते हैं। प्रत्येक बार शोथ नष्ट होने पर भी कुछ शोथ शेष रह जाता है और दूसरे आक्रमण में पुनः बढ़ जाता है। लसीका-वाहिनियों के अवरोध से जलोदर के समान रसोदर की भी उत्पत्ति हो सकती है।

श्लीपदासाध्यलक्षणानि—

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।
अब्दमेकं गतं तच्च वर्जनीयं विशेषतः॥ ५॥
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम्।

श्लीपद के असाध्य लक्षण—वल्मीक के सदृश अनेक शिखर तथा कण्टक-सदृश गांठों से युक्त एक वर्ष का पुराना और बहुत बड़ा श्लीपद असाध्य होता है। स्रावयुक्त, बहुत बड़ा हुआ, संपूर्ण लक्षणों से युक्त कण्डूवाला एवं कफ-युक्त श्लीपद रोग की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। इन लक्षणों से युक्त श्लीपद असाध्य होता है।

श्लीपदे कफप्राधान्यनिरूपणम्—

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति विना कफात्॥ ६॥

श्लीपद में कफ की प्रधानता का निरूपण—ये तीनों प्रकार के श्लीपद कफ की अधिकता से होते हैं। क्योंकि मोटापन तथा भारी होना कफ के बिना सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ ७ ॥

इति श्लीपदनिदानं समाप्तम् ।

पुराने जल से सर्वदा भरे रहनेवाले तथा सभी ऋतुओं में शीतल रहनेवाले प्रदेशों में श्लीपद रोग अधिक होता है ॥ ७ ॥

श्लीपदरोग का निदान समाप्त ।

अथातः श्लीपदचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

श्लीपद के निदान के बाद इसकी चिकित्सा कहते हैं।

वातजश्लीपदचिकित्सा—

स्नेहस्वेदोपपन्नं तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक् ।
कृत्वा गुल्फोपरि शिरां विध्येत चतुरङ्गुले ॥ ८ ॥
मासमेरण्डतैलं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ।
पयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च ॥ ९ ॥

वातज श्लीपद की चिकित्सा—वैद्य वातजन्य श्लीपद में स्नेहन-स्वेदन करने के बाद गुल्फ के ऊपर चार अङ्गुल पर शिरावेधन करे। और एक मास तक एरण्ड तैल को गोमूत्र में मिलाकर पान करे तथा सोंठ डालकर पकाये हुए दूध के साथ भात खाय ॥ ८–९ ॥

पित्तजश्लीपदचिकित्सा—

गुल्फस्याधः शिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसंभवे ।
पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्यात्पित्तार्बुदविसर्पवत् ॥ १० ॥

पित्तजश्लीपद की चिकित्सा—पित्तजन्य श्लीपद में गुल्फ के नीचे शिरावेध करे और पित्तज-अर्बुद तथा विसर्प के तरह पित्तनाशक क्रिया (उपचार) को करे ॥ १० ॥

मञ्जिष्ठां मधुकं रास्नामहिंस्रां सपुनर्नवाम् ।
पिष्ट्वाऽऽरनालैर्लेपोऽयं पित्तश्लीपदशान्तये ॥ ११ ॥

पित्तज श्लीपद की शान्ति के लिये मंजीठ, मुलेठी, रासन, अहिंस्रा

(निशोथ) तथा पुनर्नवा को आरनाल (काञ्जी) के साथ पीसकर इस लेप को लगाये ॥ ११ ॥

कफजश्लीपदचिकित्सा—

शिरां सुविहितां विध्येदङ्गुष्ठे श्लेष्मश्लीपदे।
मधुयुक्तानि चाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः॥ १२॥

कफजन्य श्लीपद की चिकित्सा—कफजन्य श्लीपद में अङ्गुष्ठ में उपरोक्त प्रकार से शिरावेध करे और हमेशा मधु मिलाकर मनुष्य कषाय-पान करे ॥१२॥

पिष्ट्वा वाऽप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन वा।
पिबेत्सार्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये॥ १३॥
पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वाऽपि यथाबलम्।

गोमूत्र या अन्य किसी के साथ पीसकर अभया के कल्क को या सरसों के तैल को श्लीपदों को दूर करने के लिये पान करे। अथवा पूतिकरञ्ज के पत्ते का रसबल के अनुसार पान करे।

अनेनैव विधानेन पुत्रजीवकजं रसम्।
प्रयुञ्जीत भिषक्प्राज्ञः कालसात्म्यविचारवित्॥ १४॥

इसी प्रकार से बुद्धिमान वैद्य काल तथा सात्म्य को जाननेवाला [1]पुत्रजीवक (पुत्रजीवक नाम से प्रसिद्ध) वृक्ष के रस का प्रयोग करे ॥ १४ ॥

श्लीपदे काकादन्यादिक्षारः—

काकादनी काकजङ्घा बृहती कण्टकारिकाम्।
कदम्बपुष्पीं मन्दारीं लम्बां शुकनसां तथा॥ १५॥
दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत्क्षारकल्पवत्।
तत्र दद्यात्ततोवापं काकोदुम्बरिकासमम्॥ १६॥
मदनस्य फलक्वाथं शुकाख्यास्वरसं तथा।
एष क्षारस्तु पानीयः श्लीपदं हन्ति सेवितः॥ १७॥

श्लीपद रोग में काकादन्यादि क्षार—काकादनी (घुंघुची), काकजंघा, वनभण्टा, भटकटैया, कदम्बपुष्पी (मुंडी), मन्दारी (फरहद), लम्बा

---

१. हिंन्दी में पितौजिया, जितापुटन, पुत्रजीव, जिवनपुत्र। पर्याय—गर्भंकरः, जीवपुत्रकः, श्लीपदापहः, कुमारजीवः, पवित्रः, गर्भदः, सूतजीवकः।

गुणाः—हिमः, वृष्यः, गर्भजीवदः, चक्षुष्यः, पित्तशमनः, दाहतृष्णाघ्नश्च।

फलगुणाः—पुत्रजीवक-फलमज्ज-शीततोयेन पेषयेत्।

भोजने चाञ्जने पाने लेपः सर्वविषापहः॥

(रस. र. वि. चि.)

(कड़वी लौकी) तथा शुकनस (श्योनाक) इन द्रव्यों को जलाकर उस भस्म को क्षार-कल्प के तरह छान ले। इसके बाद समभाग काकोदुम्बरिका का प्रक्षेप, मदनफल का क्वाथ तथा श्योनाक का स्वरस छोड़ दे। यह पानीय-क्षार सेवन करने से श्लीपद को नाश करता है ॥ १५-१७ ॥

अपचीं गलगण्डं च ग्रहणीदोषमेव च।
भक्तस्यानशनं चैव हन्यात्सर्वविषाणि च ॥ १८ ॥
एभ्वेव तैलं ससिद्धं नस्याभ्यङ्गेषु पूजितम्।
एतान्येवामयान् हन्ति ये च दुष्टव्रणा नृणाम् ॥ १९ ॥

यह क्षार अपची, गलगण्ड, ग्रहणी-दोष, भोजन में अरुचि तथा सभी प्रकार के विष को नाश करता है। इन्हीं द्रव्यों में सिद्ध तैल नस्य तथा अभ्यंग कर्म में हितकर है। ये ही योग रोगों को नाश करते हैं तथा मनुष्यों के दुष्ट व्रण को नाश करते हैं ॥ १८-१९ ॥

धत्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्षपैः ।
प्रलेपः श्लीपदं हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम् ॥ २० ॥

धत्तूर, एरण्ड, निर्गुण्डी, पुनर्नवा, सहिजन तथा सरसो इन द्रव्यों का लेप पुराने एवं भयंकर भी श्लीपद रोग को नाश करता है ॥ २० ॥

श्लीपदे बृहद्वृद्धदारुकसमं चूर्णम्—

त्रिकटुत्रिफलाचव्यदार्वीवरुणगोक्षुरम्।
अलम्बुषां गुडूचीं च समभागानि चूर्णयेत् ॥ २१ ॥
सर्वेषां चूर्णमाहृत्य वृद्धदारस्य तत्समम्।
काञ्जिकेन तु तत्पेयं कर्षमात्रप्रमाणतः ॥ २२ ॥
जीर्णे चापरिहारं स्याद्भोजनं सार्वकामिकम्।
नाशयेच्छ्लीपदं स्थौल्यमामवातं च दारुणम्।
कुष्ठगुल्मारुचिहरं वातश्लेष्मरुजापहम् ॥ २३ ॥

श्लीपद रोग में बृहद् वृद्धदारुक चूर्ण—त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), चव्य, दारुहल्दी, वरुण की छाल, गोखरू, अलम्बुषा (लज्जालु) तथा गुडूची, समभाग इन द्रव्यों को चूर्ण बनावे। सभी चूर्णों के बराबर वृद्धदारुक (विधारा) का चूर्ण मिला दे। इस चूर्ण को एक तो० की मात्रा में काञ्जी के साथ पान करे। पच जाने पर किसी भी भोजनपदार्थ को सेवन करे। इसमें कोई परहेज (निषेध) नहीं है, अपनी इच्छा के अनुसार भोजन करे। यह चूर्ण श्लीपद, स्थूलता, भयङ्कर आमवात, कुष्ठ (कोढ), गुल्म रोग तथा अरुचि को दूर करता है और वातकफजन्य पीड़ा को नाश करता है ॥ २१-२३ ॥

श्लीपदे लघुवृद्धदारुकसमं चूर्णम्—

पिप्पलीत्रिफलादारुनागरं सपुनर्नवम् ।
भार्गीद्विपालिकैरेषां तत्समं वृद्धदारुकम् ॥ २४ ॥
काञ्जिकेन पिबेच्चूर्णं कर्षमात्रप्रमाणतः ।
जीर्णे चापरिहारं स्याद्भोजनं सार्वकामिकम् ॥ २५ ॥
श्लीपदं वातरोगांश्च हन्यात्प्लीहानमेव च ।
अग्निं च कुरुते घोरं भस्मकं च नियच्छति ॥ २६ ॥

श्लीपद रोग में लघु वृद्धदारुक समचूर्ण—पीपर, त्रिफला (हर्रें, वहेड़ा, आँवला), देवदारु, सोंठ तथा पुनर्नवा इन द्रव्यों को दो-दो पल और इन सभी द्रव्यों के बराबर विधारा मिलाकर चूर्ण बनावे । इस चूर्ण को एक तोला की मात्रा में काञ्जी के साथ पान करे । पच जाने पर, किसी भी भोजन पदार्थ को सेवन करे इसमें परहेज नहीं है। अपनी इच्छा के अनुसार भोजन करे। यह चूर्ण श्लीपद रोग, वातरोग तथा प्लीहावृद्धि को नाश करता है, अग्नि को बढ़ाता है तथा भस्मक रोग को दूर करता है ॥ २४–२६ ॥

श्लीपदे सामान्यचिकित्सा—

लङ्घनालेपनस्वेदरेचनै रक्तमोक्षणैः ।
प्रायः श्लेष्महरैरुष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत् ॥ २७ ॥

श्लीपद में सामान्य-चिकित्सा—लंघन, आलेपन स्वेदन, विरेचन, रक्त-मोक्षण तथा प्रायः सभी उष्ण श्लीपदनाशक औषधों से श्लीपद का उपचार करें ॥ २७ ॥

श्लीपदे कतिपययोगाः—

शतमूलीशिफातैलं तैलमेरण्डसंभवम् ।
द्वयमेतत्प्रलेपेन श्लीपदं हन्ति कोमलम् ॥ २८ ॥
कटुकाममृतां शुण्ठीं विडङ्गं दारुचित्रकम् ।
हन्ति वा लेपनान्नित्यं भद्रमुस्तं सचित्रकम् ॥ २९ ॥

श्लीपद में कुछ योग—शतावरी की जड़ का तैल तथा एरण्ड का तैल ये दोनों तैल लेप करने से कोमल (नवीन) श्लीपद को नाश करते हैं। कटुकी, गुडूची, सोंठ, वायविडङ्ग, देवदारु तथा चित्रक—इन द्रव्यों के कल्क का लेप या नागरमोथा तथा चित्रक के कल्क का लेप प्रतिदिन लगाने से श्लीपद को नाश करता है ॥ २८–२९ ॥

विडङ्गमरिचार्केषु नागरे चित्रके तथा ।
भद्रदारौ तुगाख्यां च सर्वेषु लवणेषु च ॥ ३० ॥
तैलं पक्वं पिबेद्वाऽऽपि यवान्नं च हितं सदा ।

पिबेत्सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये ॥ ३१ ॥

वायविडंग, मरिच, मदार, सोंठ, चित्रक, देवदारु, तुगाची (वंशलोचन) तथा सभी लवणों में पकाया हुआ तैल पान करे और यव की रोटी या भात सदा भक्षण करे। यह हितकर होता है। अथवा श्लीपद को दूर करने के लिये सदा सरसो का तैल पान करे ॥ ३०-३१ ॥

विश्वौषधं वा क्वथितं गुडूचीं शृतां सुराह्वं क्वथितं पिबेद्वा ।
समाक्षिकं श्लीपदरोगवान् यः सिद्धार्थकास्तस्य हिता प्रलेपे ॥ ३२ ॥

जो श्लीपद का रोगी है वह सोंठ का क्वाथ, गुडूची का क्वाथ या देवदारु का क्वाथ मधु मिलाकर पान करे और इस रोगी के लेप के लिये सफेद सरसो हितकर होता है ॥ ३२ ॥

वन्ध्याकर्कोटिकामूलं स्तन्येन परिपेषितम् ।
नाशयत्याशु दुर्वारं श्लीपदं नस्यकर्मणा ॥ ३३ ॥

वन्ध्या कर्कोटकी (बांझ ककड़ी) का मूल दूध के साथ पीसकर नस्यकर्म करने से भयंकर श्लीपद को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ३३ ॥

असाध्यमपि यात्यस्तं श्लीपदं चिरकालजम् ।
मूलेन सहदेवायास्तालमिश्रेण लेपितम् ॥ ३४ ॥

सहदेइया की जड़ हरताल के साथ मिलाकर लेप करने से पुराना तथा असाध्य भी श्लीपद नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

मृगशृङ्गयुतं पिष्ट्वा सर्जमाज्यसमन्वितम् ।
लेपनं संप्रकुर्वीत श्लीपदामयनाशनम् ॥ ३५ ॥
जिङ्गिण्यास्तु दलैः सम्यक्तुषाम्बुपरिपेषितैः ।
लेपः श्लीपदनाशाय कर्तव्यः संप्रजानता ॥ ३६ ॥

सर्ज (साखू) की छाल या बीज पीस कर मृगशृंग का भस्म या मृगशृङ्ग का घिसा हुआ चन्दन तथा घृत मिलाकर लेप करने से श्लीपद रोग को नाश करता है। जिङ्गिणी (गुडमञ्जरी या मंजीठ) के पत्तों को तुषाम्बु (तुषोदक[1]) के साथ पीसकर विद्वान् वैद्य श्लीपद को नाश करने के लिये लेप करे ॥ ३५-३६ ॥

क्षीरेण प्रातरुत्थाय पिबेद्यस्तु बलाद्वयम् ।
स क्षिप्रं श्लीपदाज्जन्तुरसाध्यादपि मुच्यते ॥ ३७ ॥

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर बलाद्वय (बरियार तथा गंगेरन) के चूर्ण को

१. तुषोदकैर्यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः ।
तुषाम्बु दीपन हृद्यं पाण्डक्रिमिगदापहम् ॥
तीक्ष्णोष्णं पाचन पित्तरक्तकृद् वस्तिशूलनुत ।

दूध के साथ पान करता है। वह व्यक्ति असाध्य श्लीपद से भी शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

सहदेवाविमिश्रेण चन्दनेन प्रलेपितम् ।
श्लीपदं नश्यति क्षिप्रं सोमराजीजलेन वा ॥ ३८ ॥

रक्तचन्दन घिस कर उसमें सहदेइया का कल्क मिलाकर लेप करने से या सोमराजी (वाकुची) के रस का लेप करने से श्लीपद रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

वार्ताकपत्रसंमिश्रैः सर्षपैः परिपेषितैः ।
लेपनं संप्रशंसन्ति श्लीपदघ्नं भिषग्वराः ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ वैद्य वनभंटा का पत्ता तथा सरसो दोनों को मिलाकर तथा पीसकर बनाये हुए इस श्लीपद रोगनाशक लेप को लगाये इसकी प्रशंसा विद्वान् लोग करते हैं ॥ ३९ ॥

कुबेरकविमिश्रेण मृगशृङ्गान्वितेन तु ।
साज्येनालेपितं क्षिप्रं श्लीपदं संप्रणश्यति ॥ ४० ॥

कुबेरक (नन्दीवृक्ष 'तूणी') का कल्क तथा मृगशृङ्ग का चन्दन इन दोनों को घृत में मिला कर लेप करने से श्लीपद रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

शाखोटकवृक्षत्वक् चतुर्गुणाम्भःशृता चरणशेषा ।
गोमूत्रतुल्यपीता श्लीपदमाशूत्थितं हन्ति ॥ ४१ ॥

शाखोटक (सिओड़ या भूर्जपत्र) की छाल चौगुने जल में पकाकर चौथाई शेष क्काथ को समभाग गोमूत्र मिलाकर पान करने से नवीन उत्पन्न श्लीपद को या पुराने उत्पन्न श्लीपद को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ४१ ॥

खदिरासनशालानां सारकल्कं पिबेन्नरः ।
प्रातर्गवां हि मूत्रेण सक्षौद्रं श्लीपदं जयेत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
श्लीपदाधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥

जो श्लीपद रोग से पीड़ित मनुष्य, खैर, असन वृक्ष तथा शाल (साखू) के सार का कल्क गाय के मूत्र के साथ शहद मिलाकर पान करता है। वह श्लीपद रोग को जीत लेता है, अर्थात् उसका श्लीपद रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

श्री शोढल-वैद्य-विरचित गदनिग्रह-नामक ग्रन्थ के चतुर्थ शल्य तन्त्र
में दूसरा श्लीपदाधिकार समाप्त।

अथ व्रणशोफद्विव्रणीयाधिकारस्तृतीयः । ३

अथातो व्रणशोफद्विव्रणीयनिदानं व्याख्यास्यामः ।

श्लीपद के बाद व्रणशोफ तथा द्विव्रणीय का निदान कहते हैं।

व्रणशोथनिदानं भेदाश्च—

एकदेशोत्थितः शोफो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।
षड्विधः स पृथक्सर्वदोषास्रागन्तुजः स्मृतः ॥ १ ॥
शोफाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोफलक्षणैः ।
विशेषः कथ्यते तेषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥ २ ॥

व्रणशोथ का निदान तथा भेद—किसी एक मर्यादित स्थान में उत्पन्न होने वाला शोथ व्रणों का पूर्वरूप होता है। यह व्रणशोथ वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज तथा आगन्तुज भेद से छः प्रकार का होता है। उसके लक्षण पूर्वोक्त शोथ के लक्षण के समान होते है। इनके विशेष लक्षण आम, पक्व तथा पच्यमान के निश्चय के साथ आगे बताये जायेंगे ॥ १–२ ॥

विमर्श—'व्रणस्य पूर्वरूपत्वेन उत्पन्नः शोथः व्रणशोथः' अर्थात् आगन्तुक व्रण को छोड़ कर जो शोथ नियमतः व्रण के पूर्व में होता है उसे 'व्रणशोथ' कहते हैं। व्रण उत्पन्न होने के पहले शोथ तथा विद्रधि का होना आवश्यक होता है। विद्रधि के फूट जाने पर शरीर पर प्रत्यक्ष घाव बन जाता है उसे 'व्रण' कहते है। आगन्तुक शोथ मे इस प्रकार की परिभाषा का समन्वय नहीं होता है क्योंकि उसमें तीक्ष्णधार आदि शस्त्रों से व्रण बनता है, उसके बाद वहां शोथ उत्पन्न होता है। अतः वहाँ के लिये 'व्रणस्य शोथः व्रणे वा शोथः' अर्थात् व्रण का शोथ या व्रण में शोथ इस प्रकार की व्युत्पत्ति संगत होती है। वस्तुतः 'व्रणाय शोथः व्रणशोथः, (प्रकृति-विकृति-भावे चतुर्थी) यह व्युत्पत्ति अधिक संगत प्रतीत हो रही है क्योंकि दोषकृत अथवा कुछ आघातादि आगन्तुक कारणों से भी पहले शोथ की उत्पत्ति होती है बाद में उसके पकने-फूटने के बाद व्रण बनता है। अतः 'एकदेशोत्थितः शोफो व्रणानां पूर्वलक्षणम्' यह लक्षण संघटित हो जाता है। अभिघातादिजन्य व्रणों का वर्णन तो सद्योव्रणीय अध्याय में किया ही गया है। अभिघात से सद्योव्रण की उत्पत्ति शोथपूर्ण व्रणों की उत्पत्ति दोनों ही होता है। ये दोनों एक दूसरे के उत्पन्न करनेवाले होते हुए भी अलग-अलग है।

प्राचीन शास्त्रों में शोथ, व्रणशोथ, विद्रधि तथा व्रण इन चारों का अलग अलग वर्णन किया गया है और सभी भिन्न वस्तु हैं।

१. शोथ—शोथ, शोफ तथा श्वयथु इन सबों का व्यवहार शोथ सामान्य के लिये आता है किन्तु शोथशब्द से विशेष शोथ का ग्रहण होता है। जिस अवस्था में दोष त्वचा और मांस का आश्रय कर अर्थात् उनके मध्य में स्थित होकर उभार उत्पन्न करते हैं तथा जिनमें पकने की प्रवृत्ति नहीं होती है उसे 'शोथ' कहते है। इस शोथ के सर्वाङ्ग शोथ, तथा एकदेशीय शोथ आदि भेद होते हैं। इसको आधुनिक विज्ञान में (Oedema) 'ईडिमा' कहते हैं।

(२) व्रणशोथ—जिसमें दोष त्वचा, मांस आदि आठ व्रण, वस्तुओं को दूषित करते हैं एवं उसमें पकने की प्रवृत्ति होती है उसे 'व्रणशोथ'[1] (इन्फ्ले-मेशन 'Inflamation') कहते हैं। इसमें दोष उत्तान (त्वचा या श्लेष्मल कला के समीप) होने के बाद स्वतः व्रणोत्पत्ति हो जाती है। व्रणशोथ में शोथ होने के बाद पककर तथा स्वयं फूटकर व्रण बन जाता है।

(३) विद्रधि—इसमे दोष प्रकुपित होकर गम्भीर धातुओं में प्रवेशकर विकार उत्पन्न करते है और उन्हीं गम्भीर धातुओं में विद्रधि बनकर भीतर ही भीतर धातुओं का विनाश करती रहती है। अस्थिपाक, मज्जपरिपाक, नाडीव्रण आदि का कारण होती है। यह बिना पाटन आदि शस्त्र कर्म किये व्रणयुक्त नहीं होती है। व्रणशोथ तथा विद्रधि में यही अन्तर है कि व्रणशोथ मे दोष उत्तान धातुओं में शोथ उत्पन्न करते हैं और उनका व्रण स्वतः फूटकर बन जाता है। विद्रधि में दोष गम्भीर धातुओं में शोथ उत्पन्न करते हैं और इसमें पाटनादि शस्त्र-कर्म करने से व्रण बनता है।

(४) व्रण—जब त्वचा या श्लेष्मल त्वचा के विदीर्ण हो जाने पर उनसे ढकी हुई धातुयें अनावृत हो जाती है तो उसे 'व्रण' कहते है, इनके दो प्रधान भेद होते हैं (१) शोथपूर्वक व्रण, 'शारीर व्रण' कहलाता है और (२) शस्त्रादि-जनित व्रण जो 'सद्योव्रण' कहलाता है। इसका विस्तृत वर्णन तत्तत् प्रकारों में किया गया है।

व्रणशोथानां विशेषलक्षणम्—

विषमः पच्यते वातात्, पित्तोत्थश्चाचिर, चिरम्।
कफजः, पित्तवच्छोफो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

व्रणशोथ का विशेष लक्षण—वात के द्वारा विषम पाक (शोथ के एकदेश में या आधे देश में) होता है, पित्तजन्य शोथ शीघ्र पकनेवाला तथा कफ-जन्य, शोथ चिरपाकी होता है। रक्तज आगन्तुज व्रणशोथ के लक्षण पित्त-जन्य शोथ के सदृश ही होते है ॥ ३ ॥

---

१. 'त्वङ्मांसशिरास्नाय्वस्थिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि भवन्ति'।
(सु. सू. स्था. २२)

आमशोफलक्षणम्—

मन्दोष्मताऽल्पशोफत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैव शोफानामामलक्षणम् ॥ ४ ॥

आम शोथ का लक्षण—आम शोथ में उष्णता मन्द होती है तथा शोथ कम होता है शोथ कठिन त्वचा के सदृश वर्णवाला तथा अल्प वेदनायुक्त होता है ॥ ४ ॥

पच्यमानशोफलक्षणम्—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव प्रपच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेवावताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥ ७ ॥
न गच्छेदाततः शोफो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

पच्यमान शोथ का लक्षण—पकनेवाला (पच्यमान) शोथ अग्नि के सदृश जलता हुआ तथा क्षार के समान पचता हुआ सा प्रतीत होता है । मालूम पड़ता है कि शोथ के स्थान पर चीटियां काट रही हैं, शस्त्र से छेदन तथा भेदन एवं दण्ड से ताड़न के समान वेदना होती है । अन्दर हाथ से दबाने की तरह तथा सूई से वेधन करने की तरह पीड़ा होती है । जलन तथा आंच से तपते हुए के सदृश प्रतीति तथा अंगुलियों से मलने के सदृश वेदना होती है । रोगी को बैठने, सोने तथा खड़े होने पर भी बिच्छू के काटे हुए के समान शान्ति नहीं मिलती है । शोथ फैला हुआ तथा मूत्र से भरे हुए वस्ति के सदृश फूला हुआ रहता है । रोगी ज्वर, प्यास तथा अरुचि से पीड़ित रहता है । ये 'पच्यमान शोथ' के लक्षण हैं ॥ ५–८ ॥

पक्वशोफलक्षणम्—

वेदनोपशमः शोफो लोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदकण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।
बस्ताविवाम्बुसञ्चारः स्याच्छोफेऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकांक्षा भवेच्चैव शोफानां पक्वलक्षणम् ॥ ११ ॥

पक्वव्रणशोथ के लक्षण—व्रणशोथ की पक्वावस्था में दाह आदि वेदना में

कमी, लालिमा का अभाव, उभार में कमी, शोथ के स्थान पर झुर्रियों का पड़ जाना, बार-बार सूचिका-वेधन के तरह पीडा तथा खुजली (पित्तज ओष, चोष, प्यास आदि) उपद्रवों की शान्ति, अंगुलि से दबाने से विद्रधि में निम्नता तथा त्वचा में स्फुटन की प्रतीति होती है। शोथ में अंगुली से दबाने परज लपूर्ण मशक के पानी की तरह गति प्रतीति होती है और एक तरफ दबाने पर पूय का दूसरी ओर के भाग पर दबाव पड़ता है। रोगी को अधिक भोजन करने की इच्छा होती है। ये 'पक्व व्रणशोथ' के लक्षण हैं ॥ ९–११ ॥

नर्तेऽनिलाद्रुङ्न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वे परिपाककाले गच्छन्ति शोफास्त्रिभिरेव पाकम् ॥१२॥

पाक काल में सभी दोषों का सम्बन्ध—वात के बिना पीड़ा नहीं हो सकती, पित्त के बिना पाक तथा कफ के बिना पूय की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिये पाक के समय तीनों दोष उपस्थित होकर सभी प्रकार के व्रण-शोथों को पकाते हैं। अर्थात् सभी प्रकार के शोथ के पाक-काल में तीनों दोष विकृत होकर उपस्थित रहते हैं ॥ १२ ॥

विमर्श—पूयोत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों के विभिन्न विचार हैं। कुछ लोगों का कहना है कि कालान्तर में बढ़ा हुआ पित्त अपने बल से वात और कफ को दबाकर रक्त को पका देता है। अर्थात् पूयोत्पादन में पित्त[1] की प्रधानता रहती है। दूसरे आचार्य पूयोत्पादन मे तीनों दोषों की प्रधान मानते हैं जैसा पूर्वश्लोक में निरूपण किया गया है। यही युक्तियुक्त भी प्रतीत हो रहा है।

आधुनिक विज्ञान में पूय को पस (Pus) कहते हैं। पाक को सपुरेशन (Suppuration) कहते हैं। शोथ की सम्प्राप्ति तथा पूय के रासायनिक सगठन को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। शरीर में पूयोत्पादक जीवाणुओं के प्रवेश होने पर शरीर की प्रतिक्रिया स्वरूप जीवाणु तथा शरीर की कोषाओं मे रक्त के श्वेतकण इस कार्य में भाग लेते हैं। यदि जीवाणु दुर्बल तथा श्वेतकण सबल होते हैं तो शोथ का शमन हो जाता है। जिस स्थिति में पूयोत्पादक जीवाणु सबल और श्वेतकण दुर्बल होते हैं तो पाक की उत्पत्ति हो जाती है। इन दोनों के आपसी युद्ध में धातु की कोषायें श्वेतकण तथा कुछ जीवाणुओं की मृत्यु होती है। ये ही पूयरूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार मृतधातु-कोषायें, मृतजीवाणु, मृतश्वेतकण, कुछ लाल कण तथा जीवित

---

१. कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य ।
पचत्यतः शोणितमेव पाको मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥

जीवाणु आदि के द्वारा पूय के घन भाग का निर्माण होता है। पूयोत्पादन में अनेक जीवाणु भाग लेते हैं। इनका विस्तृत विवरण पाश्चात्य ग्रन्थों में देखना चाहिए।

अविनिःसृतस्य विकारकारित्वम्—

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य।
यथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि मांसं शिराः स्नायु च खादतीह॥ १३॥
आमं विदह्यमानं च सम्यक्पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात्स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥ १४॥

पूय के न निकलने पर विकार की उत्पत्ति—वायु से प्रेरित अग्नि जिस प्रकार तृण की राशि मे जाकर बड़ी तेजी से जला देता है, वैसे ही व्रण से पूय न निकाला जाय तो पूय भी समीप के मांस, सिरा तथा स्नायु को नष्ट कर देता है। जो चिकित्सक शोथ की आम, पच्यमान तथा पक्व इन तीनों अवस्थाओं को अच्छी तरह जानता है वही जानकार वैद्य है। शेष चौर-वृत्ति को करनेवाले है॥ १३—१४॥

व्रणभेदाः—

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभव.॥ १५॥

व्रण के भेद—शारीर और आगन्तुज भेद से व्रण दो प्रकार का होता है। शारीरव्रण वात आदि दोषों से (व्रणशोथ-निदान प्रकरण मे वर्णन के अनुसार) उत्पन्न होते हैं, तथा आगन्तुज व्रण शस्त्र आदि के क्षत से उत्पन्न होते है॥ १५॥

वातजादिभेदेन व्रणलक्षणानि—

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः।
तुद्यते स्फुटति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः॥ १६॥

वातज आदि भेद से व्रण के लक्षण—वातिक व्रण—वातजन्य व्रण स्तब्ध, कठिन स्पर्शवाला, अल्पस्रावयुक्त तथा वेदनावाला होता है, सूई से चुभोने की तरह पीड़ा तथा फड़कन होती है। व्रण श्यावरंग का होता है॥ १६॥

तृष्णादाहज्वरक्लेददाहदुर्ष्टावदारणैः।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः॥ १७॥

पैत्तिक व्रण—पैत्तिक व्रण में प्यास की अधिकता, मूर्च्छा, ज्वर, क्लिन्नता, दाह, गन्दापन, चीरने की तरह पीड़ा या सहसा फटने की प्रवृत्ति तथा दुर्गन्धित स्राव होता है॥ १७॥

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धो स्तिमितो मन्दवेदनः।

पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ १८ ॥

कफजव्रण—कफजन्य व्रण अत्यधिक पिच्छिल, गुरु, चिकना, गीली त्वचा से ढका हुआ सा, थोडी पीड़ावाला, पाण्डुरंग का, अल्प क्लेदवाला तथा विलम्ब से पकनेवाला होता है ॥ १८ ॥

रक्तो रक्तस्रुती रक्ताद् द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः ।

रक्तजव्रण—रक्तजन्य व्रण लाल वर्ण का तथा रक्तस्राव-युक्त होता है ।

रक्त के सम्बन्ध से एक दोष से उत्पन्न 'द्विज' तथा 'द्वन्द्वज' और त्रिदोषज व्रण 'त्रिज' कहे जाते हैं । या दोषों के सम्बन्ध के अनुसार दो दोषों के चिह्न होनेपर द्विज तथा तीनों दोषों के चिह्न होने पर त्रिज कहना चाहिए ।

विमर्श—व्रण के आठ भेद माने गये हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, वातपित्तज, वात-कफज, पित्तश्लेष्मज । इन के साथ रक्त का सम्बन्ध होने पर सात भेद और हो जाते हैं । वातरक्तज, पित्तरक्तज, कफरक्तज, वातपित्तरक्तज, वातकफरक्तज, पित्तकफरक्तज, त्रिदोषरक्तज । इस प्रकार इसके पन्द्रह भेद होते हैं ।

चरक तथा सुश्रुत दोनों ने व्रण के आठ स्थान बताये हैं—त्वङ्मांस-सिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि—अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः । सुश्रुत । चरक ने सन्धि के स्थान पर मेद को व्रणवस्तु माना है—

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थि-स्नायुमर्मान्तराश्रयाः ।
व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे ॥ च. वि. २७

आधुनिक विज्ञान मे व्रणों का वर्गीकरण चार भागों में किया है तथा उनकी तीन अवस्थायें होती हैं ।

(क) साधारण व्रण (Non—Shecific ulcor)—१—इसकी उत्पत्ति पूयजनक जीवाणुओं से होती है । (१) प्रथमावस्था (Stege of Extension) (प्रसरण की अवस्था) इसमें धातुयें नष्ट हो जाती हैं तथा व्रण फैलता है । (२) मध्यमावस्था (Intesmediate Stege) । इस अवस्था में मृतधातुओं का पृथक्करण तथा नवीन धातुओं की उत्पत्ति का प्रारम्भ होता है (२) रोपणावस्था (Stege of repair) ।

(ख) विशिष्ट व्रण (Specific ulcer)—इस वर्ग में उपदंशजव्रण, क्षयजव्रण एवं फिरंगजव्रण आते हैं । इन की भी तीन अवस्थायें होती है—प्रसरणावस्था, मध्यमावस्था तथा रोपणावस्था ।

(ग) भेदकव्रण (Perforationg ulcer)—यह व्रण पोषण के अभाव में उत्पन्न होता है इसकी भी पूर्ववत् तीन अवस्थायें होती है ।

(घ) घातक अर्बुद (Malignant lumour)—इसकी पूर्ववत् भी तीन

अवस्थायें होती हैं। व्रणविशेष का निर्णय करने के लिये तलस्राव, व्रणौष्ठ, व्रणस्थान आदि के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इनका विशेष वर्णन पाश्चात्य ग्रन्थों में देखना चाहिये।

व्रणानां साध्यासाध्यविचारः—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥ १९ ॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः।
गुणैरन्यतरैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥ २० ॥
सर्वैर्विहीनोऽसाध्यस्तु तथैवोपद्रवान्वितः।

व्रणों के साध्यासाध्य-विचार—बुद्धिमान युवा व्यक्ति को व्रण मर्मरहित स्थान में, त्वचा तथा मांस में उत्पन्न होनेवाला नवीन तथा उपद्रवरहित यदि हेमन्त या शिशिर आदि शीत ऋतु में हो तो 'सुख-साध्य' होता है। इनमें से एक या दो व्रणहीन होने से 'कष्ट-साध्य' तथा सभी गुणों से हीन और अधिक उपद्रवों से युक्त व्रण को 'असाध्य' समझे।

पूतिपूयोऽतिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितः ॥ २१ ॥
दुष्टव्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः।

दुर्गन्धित पूययुक्त, अत्यधिक दुष्ट रक्त का स्राव करानेवाला, कोटरयुक्त आभ्यन्तर भाग में अधिक समय तक रहनेवाला, अधिक गन्ध, वर्ण, स्राव तथा पीड़ा से युक्त और शुद्ध व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षणोंवाला व्रण 'दुष्टव्रण' कहलाता है।

विमर्श—व्रण दुष्ट होने पर बहुत कठिनाई से भरता है। साधारण-अवस्था में शुद्धव्रण साधारण औषध से भी समय पर स्वयं ही भर जाता है। यदि उसमें किसी प्रकार का जीवाणु-संक्रमण हो जाय (Septic) हो जाय तो 'कृच्छ्र-साध्य' या 'असाध्य' हो जाता है। दूषित न होने पर प्रथमावस्था से लेकर रोपणावस्था तक व्रण पूर्णतया रोपित हो जाता है। यदि रोगी युवा हो, व्रण का स्थान सौम्य हो, रोगी की भी अवस्था साधारण उपद्रव से युक्त हो और ऋतुयें (हेमन्त, शिशिर, शीत आदि) अनुकूल हों तो व्रण 'सुखसाध्य' होता है।

शुद्धव्रणलक्षणम्—

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः स्निग्धो विगतवेदनः ॥ २२ ॥
सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः।

शुद्ध व्रण का लक्षण—जिह्वातल के सदृश अत्यधिक मृदु, श्लक्ष्ण तथा चिकना, थोड़ी वेदना वाला, नियमित (उठे हुए मांस तथा कोटर से रहित) और अधिक स्रावरहित व्रण 'शुद्ध व्रण' कहा जाता है।

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥ २३ ॥
स्थिराश्च पिडिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

रुह्यमाण व्रण का लक्षण—जिस व्रण के किनारे कबूतर के वर्ण के समान (कृष्णश्वेत) वर्ण हों, आर्द्रता से रहित हों और जो व्रण स्थिर तथा पिडका से युक्त हो उसे रुह्यमाण व्रण (भर रहा है ऐसा) समझना चाहिए ।

सम्यग्रूढव्रणलक्षणम्—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥ २४ ॥
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं तमादिशेत् ।

अच्छी तरह रूढ व्रण का लक्षण—जिस व्रण का गर्त भर गया हो, जिसमें गाठें न हों, जो शोथ एवं वेदना से रहित हो, जिसका रंग त्वचा के समान हो गया हो तथा जिसका तल बराबर हो उस व्रण को 'सम्यग्-रूढ (अच्छी तरह भरा हुआ) समझना चाहिए ।

व्रणानामसाध्यलक्षणानि—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ २५ ॥
व्रणाः कृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ।

व्रणों के असाध्य लक्षण—कुष्ठ, विष, राजयक्ष्मा तथा मधुमेह से पीडित रोगियों के व्रण कठिनाई से रोहित होते हैं । जिसके व्रण में भी व्रण बनते हैं वे भी 'कृच्छ्रसाध्य' होते हैं ।

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥ २६ ॥
आगन्तुजो व्रणः सिद्ध्येन्न सिद्ध्येद्दोषसंभवः ।

जिस व्रण से वसा, मेद, मज्जा तथा मस्तिष्क इनका स्राव होता हो वह यदि आघातादि आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो 'साध्य' होता है । किन्तु यदि वह स्राव दोषों से उत्पन्न हो तो 'असाध्य' समझना चाहिए ।

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ॥ २७ ॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

मद्य, अगर, घी, चमेली, लाल कमल, चन्दन तथा चम्पा के गन्ध के समान गन्ध वाले और दिव्य या अद्भुत गन्धवाले व्रण हों तो वे 'असाध्य' होते हैं ।

ये च मर्मसु संभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥ २८ ॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिःशीताश्च ये व्रणाः ।
प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ॥ २९ ॥
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ।
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।

वर्जयेदेव तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ ३० ॥

इति व्रणशोफ-द्विव्रणीयनिदानम् ॥

जो व्रण मर्म स्थान में न होते हुए भी अत्यधिक वेदना से युक्त हो, जो अन्दर से अधिक जलता हुआ भी बाहर से शीतल प्रतीत होता हो या जिसमें भीतर में जलन तथा बाहर शीतलता का अनुभव होता हो और जो व्रण बल, मांसहीन तथा श्वास, कास एवं अरुचि से पीड़ित रोगियों को होते हैं तथा जिसमें पूय तथा रक्त अधिक मात्रा में निकलता है अथवा जिनको ये व्रण मर्म स्थान पर होते हैं, इस के अतिरिक्त उत्तम से उत्तम चिकित्सा करने पर भी जिन व्रणों का रोपण न होता हो (गड्ढा न भरता हो) ऐसे व्रणों की चिकित्सा यश को चाहनेवाले वैद्य न करें। अर्थात् इन लक्षणों से युक्त व्रण 'असाध्य' होते हैं ॥ २५-३० ॥

व्रणशोथ तथा द्विव्रणीय का निदान समाप्त।

अथातो व्रणशोफद्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

इसके निदान के बाद व्रणशोथ तथा द्विव्रणीय की चिकित्सा कहते हैं।

व्रणशोफे रक्तावसेचनम्—

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः।
रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥ ३१ ॥

व्रणशोफ में रक्तावसेचन—वैद्य व्रणों के पूर्वरूप शोथ को जानकर व्रण बनने के पहले ही व्रणों की शान्ति के लिये रक्तावसेचन (रक्त निर्हरण) करे।

विमर्श—व्रणशोफ की चिकित्सा में बारह कर्म अपेक्षित होते हैं।

१. अपतर्पण—यह क्रिया सभी प्रकार के शोथ में लाभदायक होती है। यह सभी प्रकार के व्रणशोथ की सामान्य एवं प्रथम चिकित्सा है। अपतर्पण क्रिया उपवास करने को कहते हैं। इससे प्रकुपित दोष शान्त हो जाते हैं। यह क्रिया ऊर्ध्ववात तथा सूखा रोग, गर्भिणी, दुर्बल आदि रोगियों में नहीं की जाती है।

२. आलेपन—दोषनाशक औषधों का लेप बना कर उससे आलेपन करना।

३. परिषेक—वात-पित्तादि-दोषनाशक औषधों के क्वाथ से सेचन करना।

४. अभ्यङ्ग—वातादिनाशक तैल, शतधौत घृत आदि का व्रणशोथ के ऊपर मालिश करना।

५. स्वेद—उष्ण जल आदि से स्वेदन करना। इससे रूक्ष तथा कठिन

व्रणशोथ में रक्तप्रवाह बढ़ जाने से स्थानिक विष का शोषण हो जाता है और शोथ शान्त हो जाता है।

६. विम्लापन—स्वेदन करने के बाद शोथ के स्थान को मर्दन करना। यह कर्म वेणु-नाडी, अङ्गुलि, हाथ तथा पैर तलवे या अंगूठे आदि के सहारे धीरे २ मर्दन किया जाता है।

७. उपनाहन—शोथ को शान्त एवं पाचन करने के लिये अलसी आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों को पीस कर तथा गरम कर कपड़े से बांधने को उपनाहन या अंग्रेजी में 'पुल्टिस (Poultice) कहते हैं। यह प्रयोग व्रणशोथ की आमावस्था में करने से शोथ शान्त हो जाता है तथा विदग्धावस्था या स्वल्प पाकावस्था में प्रयोग करने में शीघ्र ही पाक होकर दोषों का निर्हरण हो जाता है।

८ पाचन—यह क्रिया तब की जाती है जब पूर्वोक्त अपतर्पणादि क्रियाओं के द्वारा शोथ का पाचन नहीं होता है। इसमें मिश्रक अध्याय में बताये गये सनई की जड़, बीज आदि द्रव्यों को पीसकर उसमें चौगुना दही, मट्ठा, सुरा, शुक्त, धान्याम्ल आदि द्रव द्रव्यों एवं नमक को मिलाकर लप्सिका बनाते हैं और उसको शोथ के स्थान पर रखकर एरण्ड-पत्र से आच्छादित कर बांध देते हैं।

९. रक्तमोक्षण—सद्य उत्पन्न व्रणशोथ में पीड़ा एवं पाक से बचाने के लिये रक्तमोक्षण कराते हैं। यह क्रिया सद्यः उत्पन्न शोथ में ही लाभदायक होती है। इसके अतिरिक्त बड़े मूल वाले, पीड़ायुक्त, श्याम एवं रक्त वर्ण वाले विषयुक्त व्रणों में विस्रावण (रक्तपूय आदि का निकालना) कर्म करते हैं।

१०. स्नेहपान—रूक्ष, कृश एवं व्रणशोषी रोगियों में स्नेहपान कराया जाता है।

११. वमन—कफाक्रान्त शोथ, उत्सन्न-मांसशोथ तथा थोड़े कृष्णवर्ण के रक्त वाले व्रणशोथों में वमन कराया जाता है।

१२. विरेचन—वात-पित्तदूषित व्रणशोथ तथा दीर्घकालानुबन्धि शोथों में विरेचन करना हितकर होता है।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
ससर्पिष्कैः प्रदेहः स्याच्छोफनिर्वापणः परः ॥ ३२ ॥

वट, गूलर, पीपल, पाकड़ तथा वेंत इन वृक्षों की छाल को पीसकर उसमें घृत मिलाकर प्रदेह (पुल्टिस) करना अच्छी तरह व्रणशोथ को शान्त करता है ॥ ३२ ॥

वातशोफे मातुलुङ्गादिलेपः—

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रदारु महौषधम् ।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफहा ॥ ३३ ॥

वातजन्य शोथ मे मातुलुङ्गादि लेप—मातुलुङ्ग (बिजौरानिम्बू), अरणी, देवदारु, सोंठ, अहिंस्रा (निशोथ), रासन समभाग—इन द्रव्यों का लेप 'वातजन्य शोथ' को नाश करता है ॥ ३३ ॥

पित्तशोफे दूर्वादिलेपः—

दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।
शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहा ॥ ३४ ॥

पित्तजन्य, शोथ में दूर्वादि लेप—दूर्वा, नरकुल की जड़, मुलेठी, रक्त चन्दन तथा सभी शीतल गण की ओषधों का प्रलेप पैत्तिक शोथ को नाश करता है ॥ ३४ ॥

आगन्तुजादिव्रणचिकित्सा—

आगन्तुजे रक्तजे च एष एव विधिर्हितः ।
विधिर्विषघ्नो विषजे पित्तघ्नोऽभिहितस्तथा ॥ ३५ ॥

आगन्तुज-आदि व्रग की चिकित्सा—आगन्तुज तथा रक्तज व्रणशोथ मे पित्तज शोथनाशक विधि हितकर है। विषजन्य शोथ मे विषनाशक विधि तथा पूर्व में बताये हुई पित्तनाशक विधि (उपचार) को करे ॥ ३५ ॥

कफशोफे अजगन्धादिलेपः—

अजगन्धाऽजशृङ्गी च काला सरलया सह ।
एकैषिकाऽश्वगन्धा च प्रलेपः श्लेष्मशोफहा ॥ ३६ ॥

कफज शोथ में अजगन्धादि लेप—अजमोदा, काकड़ासिंघी, काला (अगर), देवदारु, एकैषिका (पाठा 'पाढ़ी') तथा अश्वगन्धा समभाग—इन द्रव्यों का लेप श्लैष्मिक शोथ को नाश करनेवाला है ॥ ३६ ॥

कफवातशोफे पुनर्नवादिलेपः—

पुनर्नवादारुशिग्रुदशमूलमहौषधैः ।
कफवातकृते शोफे लेपः कोष्णो विधीयते ॥ ३७ ॥

कफ-वातजन्य शोथ में पुनर्नवादि लेप—पुनर्नवा, देवदारु, सहिजन, दशमूल (बेल की छाल, गम्भारी की छाल, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) तथा सोंठ समभाग—इन द्रव्यों का थोड़ा गरम लेप कफ-वातजन्य शोथ में प्रयोग करे ॥ ३७ ॥

प्रलेपविधिः—

न रात्रौ लेपनं कुर्यान्न चापि पतितं तथा ।

न च पर्युषितं शुष्यमाणं नैवोपधारयेत् ॥ ३८ ॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति ।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तेन दोषः प्रसिच्यते ॥ ३९ ॥

प्रलेप विधि—रात्रि में लेप न करे, नीचे गिरा हुआ, वासी तथा शुष्क लेप भी न लगाये । लेपन तथा अवपीडन के लिये शुष्क लेप का प्रयोग न करे । और अभिमुख (सीधा) लेप न करे क्योंकि सीधा लेप करने से दोष का प्रकोप होता है ॥ ३८-३९ ॥

शोफविम्लापनम्—

अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या शनैः शनैः ।
विम्लापनार्थं कुर्वीत तलेनाङ्गुष्ठकेन च ॥ ४० ॥

शोथ का विम्लापन—शोथ का अभ्यञ्जन कर तथा स्वेद कर धीरे-धीरे बांस की नाड़ी यन्त्र से तलहट तथा अंगुष्ठा से विम्लापन (मर्दन) करे ॥ ४० ॥

शोफे रक्तमोक्षणविधिः—

रक्तावसेचनं कुर्यादादावेव विचक्षणः ।
शोफे महति सरब्धे वेदनावति वा व्रणे ॥ ४१ ॥

शोथ में रक्तमोक्षण-विधि—बुद्धिमान् वैद्य बड़े शोथ या पाकोन्मुख वेदनावाले व्रण में पहले ही रक्तावसेचन (रक्तनिर्हरण) करे ॥ ४१ ॥

यो न याति शमं लेपात् स्वेदसेकापतर्पणैः ।
सोऽपि नाशं व्रजत्याशु शोफः शोणितमोक्षणात् ॥ ४२ ॥

जो व्रणशोथ लेप, स्वेदन, सेक तथा अपतर्पण से शान्त नहीं होता है वह भी रक्तमोक्षण से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥ ४३ ॥

व्रणशोथ में एक तरफ शोथनाशक सभी उपचार तथा एक तरफ रक्त-निर्हरण कार्य दोनों बराबर होते हैं । रक्तनिर्हरण से रक्त की अम्लता नष्ट हो जाती है और उसके नष्ट हो जाने से न तो शोथ रह जाता है और न उसमें पीड़ा ही रह जाती है ॥ ४३ ॥

शोफे पाचनोपनाहविधिः—

न प्रशाम्यति यः शोफः प्रलेपादिविधानतः ।
द्रव्याणि पाचनीयानि दद्यात्तत्रोपनाहने ॥ ४४ ॥

शोथ में पाचन तथा उपनाहन विधि—जो शोथ प्रलेपन आदि विधि से शान्त नहीं होता है वहां व्रण को पकानेवाले द्रव्यों को उपनाहन (पुल्टिस) के लिये प्रयोग करे ।। ४४ ॥

सतिला सातसीबीजा दध्यम्ला सक्तुपिण्डिका।
सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥ ४५ ॥

तिल, अलसी का बीज, अम्ल दही, सत्तू की पिण्डी, किण्व (मदिरा का बीज), कूठ तथा नमक—इन द्रव्यों का उपनाहन (पुल्टिस) प्रशस्त होता है ॥ ४५ ॥

शणमूलकशिग्रूणां बीजानि तिलसर्षपाः।
सक्तवः किण्वमुष्णानि द्रव्याण्येतानि पाचनम् ॥ ४६ ॥

सनई की जड़, सहिजन का बीज, तिल, सरसों, सत्तू, किण्व (मदिरा का बीज) उष्ण द्रव्य ये व्रण को पकानेवाले हैं ॥ ४६ ॥

तैलेन सर्पिषा वाऽपि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका।
सुखोष्णा शोफपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥ ४७ ॥

तैल से, घृत से या तैल-घृतमिश्रित सत्तू की पीड़ी से थोड़ा गरम कर शोथशमनार्थ उपनाहन करना प्रशस्त होता है ॥ ४७ ॥

शोफानां पाचनभेदनार्थं हस्तिदन्तयोगः—

हस्तिदन्तं जले घृ बिन्दुमात्रं प्रलेपयेत्।
अत्यर्थकठिने शोफे लेपः पाचनभेदनः ॥ ४८ ॥

शोथों के पाचन तथा भेदन के लिये हाथी के दांत का प्रयोग—अत्यन्त कठोर शोथ में हाथी का दांत जल में घिसकर एक बूंद लेप करे। यह लेप शोथ को पाचन करनेवाला तथा भेदन करनेवाला है ॥ ४८ ॥

शोफपीडनवर्गः—

द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्।
यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासत ॥ ४९ ॥

शोथपीडन वर्ग—पिच्छिल (चिकने) द्रव्यों की छाल तथा मूल, यव, गेहूं और माष (उड़द)—इन द्रव्यों के चूर्ण ये सभी शोथ के अवपीडन-वर्ग हैं। अर्थात् इन द्रव्यों से शोथ का पीडन होता है ॥ ४९ ॥

शोफदारणवर्गः—

चिरबिल्वोऽग्निको दन्तो चित्रको हयमारकः।
कपोतकङ्कगृध्राणां पुरीषाणि च दारणम् ॥ ५० ॥
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारण परम्।

शोथदारण वर्ग—चिरबिल्व (पूतिकरञ्ज), अग्निक (भल्लातक), दन्तीमूल चित्रक, कनेर तथा कबूतर, कङ्क (पक्षिविशेष) और गीध इन पक्षियों के बीट ये शोथ के दारण (फोड़ने वाले) वर्ग हैं। अथवा जो क्षार द्रव्य हैं वे या क्षार शोथ को अच्छी तरह दारण करनेवाले हैं।

व्रणप्रक्षालनार्थं कतिपययोगाः—

मतः प्रक्षालने क्वाथः पटोलारिष्टपत्रजः ॥ ५१ ॥
अविशुद्धे, विशुद्धे तु न्यग्रोधादित्वगुद्भवः ।

व्रण को प्रक्षालन करनेवाले कुछ योग—व्रण के फूटने के बाद प्रक्षालन के लिये परवल तथा रीठा के पत्र का क्वाथ और शुद्ध या अशुद्ध व्रण में वट, पीपल, गूलर, पाकड़ तथा वेतस की छाल का क्वाथ प्रशस्त है ।

पञ्चमूलद्वयं वाते न्यग्रोधादिश्च पैत्तिके ॥ ५२ ॥
आरग्वधादिको योज्य' कफजे सर्वकर्मसु ।

वातज व्रणशोथ में दोनों पञ्चमूल (बेल की छाल, गम्भारी, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) का क्वाथ, पित्तज में न्यग्रोधादि (वट, पीपल, पाकड़, गूलर, वेतस) का क्वाथ और कफज व्रणशोथ में आरग्वधादि[1] का क्वाथ लेपन आदि सभी कार्य में प्रयोग करे ।

व्रणरोपणाः कतिपययोगाः—

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम् ॥ ५३ ॥
कल्कः संरोपणः कार्यस्तिलानां मधुकान्वितः ।

व्रणरोपण करनेवाले कुछ योग—मांसों में स्थित जिन व्रणों में सड़न पैदा हो गई हो और उनका रोहण न होता हो उन व्रणों में मधुयुक्त तिल का कल्क संरोपण (गढ़ा को भरना) कार्य करता है ।

निम्बपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः ॥ ५४ ॥
पूर्वाभ्यां सर्पिषा वाऽपि युक्तश्चाप्युपरोपणः ।

नीम के पत्तों का कल्क तथा मधु व्रण को अच्छी तरह संशोधन करनेवाले हैं । निम्बपत्र तथा मधु या घी से भी अच्छी तरह उपरोपण होता है ।

निम्बपत्रतिलैः कल्को मधुना क्षतशोधनः ॥ ५५ ॥
रोपणः सर्पिषा युक्तो यवकल्केऽप्ययं विधिः ।

निम्बपत्र तथा तिल का कल्क मधु से युक्त क्षत को शोधन करनेवाला है । यव का कल्क भी घृत के साथ रोपण करनेवाला है ।

निम्बपत्रघृतक्षौद्रदार्वीमधुकसंयुता ॥ ५६ ॥

---

१. आरग्वध (अमलतास), मदनफल, गोपघोण्टा (खैर का भेद), कंटकी, कुटज, पाठी, पाढ़ल, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, कुरण्टक (पीले और नीले फूल वाली झिण्टी), गुडूची, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या काकमाची), करञ्जद्वय (करञ्ज तथा पूतिकरञ्ज), परवल, किराततिक्तक (चिरायता), करैला, ये एक्कीस द्रव्य आरग्वधादि गण में होते हैं ।

वर्तिस्तिलानां कल्को वा शोधयेद्रोपयेद् व्रणम् ।

नीम की पत्ती, घृत, मधु दारुहल्दी तथा मुलेठी—इन द्रव्यों की वर्ति या तिल का कल्क व्रण को शोधन तथा रोपण करता है ।

निम्बपत्रं तिला दन्ती त्रिवृत्सैन्धवमाक्षिकम् ॥ ५७ ॥
तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद्घृतम् ।
मधुकं निम्बपत्राणि लेपो वा व्रणशोधनः ॥ ५८ ॥

नीम की पत्ती, तिल, दन्ती, निशोथ, सेन्धा नमक, स्वर्णमाक्षिक तथा तिलकल्क, सेन्धानमक, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ और घृत, या मुलेठी और नीम के पत्ते का कल्क इन द्रव्यों का लेप व्रण को शोधन करने वाला है ॥ ५७–५८ ॥

त्रिवृता खदिरो दार्वी न्यग्रोधादिः पलङ्कषा ।
निम्बबब्बूलपत्राणि कषायः शोधने हितः ॥ ५९ ॥

निशोथ, खैर, दारुहल्दी, न्यग्रोधादिगण (वट, पीपल, पाकड़, गूलर तथा वेतस), पलङ्कषा (गोखरू), नीम की पत्ती तथा तथा बबूर का पत्ता समभाग इन द्रव्यों का कषाय व्रणशोधन के लिये हितकर है ॥ ५९ ॥

यष्टी तिलाः सुपिष्टा वा सघृता व्रणरोपणाः ।
एकं वा सारिवामूलं सर्वव्रणविशोधनम् ॥ ६० ॥

अथवा मुलेठी तथा तिल को अच्छी तरह पीसकर घृत में मिलाकर लेप करने से व्रण का रोपण करता है अथवा एक ही सारिवा का मूल पीसकर लेप करने से सभी प्रकार के व्रणों को शोधन करनेवाला है ॥ ६० ॥

सप्तदलदुग्धकल्कः शमयति दुष्टव्रणं प्रलेपेन ।
मधुयुक्ता शरपुङ्खा सर्वव्रणरोपणी कथिता ॥ ६१ ॥

छतिवन के दूध का कल्क लेप करने से दुष्ट व्रण (नाडीव्रण) को नाश करता है ।

शरपुङ्खा (सरफोंका) का कल्क मधु मिलाकर लेप करने से सभी प्रकार के व्रण को रोपण करता है ॥ ६१ ॥

व्रणान् विशोधयेद्वर्त्या सूक्ष्मास्यान् सन्धिमर्मजान् ।
कृतया त्रिफलादन्तीलाङ्गलीमधुसैन्धवैः ॥ ६२ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), दन्ती, कलिहारी, मधु तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों की बनाई हुई वर्ति लगाने से सन्धि एवं मर्मस्थान में उत्पन्न छोटे मुँहवाले भी व्रणों को शोधन करती है ॥ ६२ ॥

सुषवीपत्रपत्तूरकर्णमोटकुठेरकाः ।
पृथगेते प्रलेपेन गम्भीरव्रणरोपणाः ॥ ६३ ॥

सुषवीपत्र (करेला) की पत्ती, पत्तूर (पतङ्ग 'कुचन्दन'), कर्ममोट (बर्वर वृक्ष) तथा कुठेरक (तुलसी भेद) ये द्रव्य अलग अलग पीसकर लेप करने से गम्भीर धातुओं में स्थित व्रणों को रोपण करते हैं ॥ ६३ ॥

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः ।
धातकीरोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः ॥ ६४ ॥

पञ्चवल्कल (वट, पीपल, पाकड़, गूलर, वेतस) के चूर्ण या शुक्ति (सीपी) चूर्ण से युक्त पञ्चवल्कल के चूर्ण अथवा धाय की छाल तथा लोध की छाल के चूर्ण लेप करने से गम्भीर व्रणों का रोपण करते है ॥ ६४ ॥

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः ।
तेषामुमा तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ॥ ६५ ॥
तेनैव पयसा पिष्ट्वा दद्यादालेपनं भिषक् ।

वैद्य वातजन्य, दाहयुक्त, वेदनावाले जो व्रण हैं उनका उमा (अलसी) तथा तिल को भूनकर दूध में बुझाकर तथा उसी दूध से पीसकर आलेपन करे ।

अग्निदग्धव्रणचिकित्सा—

पित्तविद्रधिवीसर्पशमनं लेपनादिकम् ॥ ६६ ॥
अग्निदग्धे व्रणे सम्यक् प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ।

अग्निदग्ध व्रण की चिकित्सा—वैद्य अग्निदग्धजन्य व्रण में पैत्तिक विद्रधि तथा विसर्पशामक लेप आदि का अच्छी तरह प्रयोग करे ।

व्रणधूपनयोगाः—

वाताभिभूतान् सास्रावान् धूपयेदुग्रवेदनान् ।
यवार्जभूर्जमदनश्रीवेष्टकसुराह्वयैः ॥ ६७ ॥

व्रण में धूपन करनेवाले योग—वातजन्य, स्राव से युक्त, भयंकर वेदनावाले व्रणों को यव, अर्ज (सफेद बबई), भोजपत्र, मदनफल, श्रीवेष्टक तथा देवदारु इन द्रव्यों से धूपन करे । अर्थात् इन द्रव्यों को आग में छोड़ कर उसके धूंयें को व्रण के ऊपर लगाये ॥ ६७ ॥

श्रीवासगुग्गुल्वगुरुशालनिर्यासधूपिताः ।
कठिनत्वं व्रणा यान्ति नश्यन्त्यास्राववेदनाः ॥ ६८ ॥

श्रीवास (राल), गुग्गुलु, अगर तथा साखू का गोंद—इन द्रव्यों से धूपन करने से व्रण कड़े हो जाते हैं तथा स्राव तथा वेदना से युक्त व्रण नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

तिलाः पयः सिता क्षौद्र तैलं मधुकचन्दनम् ।
लेपेन शोफत्वग्दाहयुक्तं निर्वापयेद् व्रणम् ॥ ६९ ॥

तिल, दूध, मिश्री, मधु, तैल, मुलेठी तथा चन्दन—इन द्रव्यों का लेप शोथ और त्वचा के दाहयुक्त व्रण को शान्त करता है ॥ ६९ ॥

व्रणे क्रमिघ्नो विधिः—

करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीरसो हन्याद् व्रणे कृमीन् ।
कलायविदलीपत्रं कोशाम्रास्थि च पूरणात् ॥ ७० ॥
सुरसादिरसासेको लेपनं लशुनेन वा ।

व्रण में क्रिमिनाशक विधि—करञ्ज, नीम तथा निर्गुण्डी का रस व्रण के क्रिमियों को नाश करता है । मटर की दाल का छिलका तथा आम की गुठली पीसकर व्रण में भरने से क्रिमियों को नाश करता है । [1]सुरसादि गण की औषधों के रस से आसेचन या लहसुन का लेप क्रिमियों को नाश करता है ।

निम्बशम्याकजात्यर्कसप्तपर्णाश्वमारकाः ॥ ७१ ॥
कृमिघ्ना मूत्रसंयुक्ताः सेकालेपनधावनैः ।
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा कृमीनपहरेद् व्रणात् ॥ ७२ ॥

नीम, अमलतास, चमेली, मदार, छतिवन तथा कनेर—इन द्रव्यों का कल्क या रस गोमूत्र के साथ मिलाकर सेक, आलेप तथा प्रक्षालन करने से क्रिमियों को नाश करता है ॥ ७१-७२ ॥

व्रणे गुग्गुलुयोगः—

ये क्लेदपाकस्रुतिगन्धवन्तो व्रणा महान्तः सरुजः सशोफाः ।
प्रयान्ति ते गुग्गुलुमिश्रितेन पीतेन शान्ति त्रिफलारसेन ॥ ७३ ॥

व्रण में गुग्गुलु योग—जो व्रण क्लेद (चिपचिपाहट), पाक तथा स्राव से युक्त हैं वे त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के रस या क्वाथ में गुग्गुलु मिलाकर पान करने से नष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

व्रणे त्रिफलागुग्गुलुः—

त्रिफलाचूर्णसंयुक्तो गुग्गुलुर्वटकीकृतः ।
निषेवितो विबन्धघ्नो व्रणशोधनरोपणः ॥ ७४ ॥

---

१. सुरसा तथा श्वेत सुरसा (कृष्ण वर्ण तथा श्वेत वर्ण तुलसी), मरुबक (मरुआ या फणिज्झक), अर्जक (आजवला), भूस्तृण (रोहिषतृण), सुगन्धक (सुगन्ध तृण), सुमुख (तुलसी भेद), कृष्णार्जक (कालमाळ), कासमर्द (कसौंदी), क्षवक (नकछिकनी या वनवर्वरिका-भेद), विडंग, कायफर, सुरसी (सफेद निर्गुण्डी 'सम्भालू'), कुलाहल (मुण्डी या कुकुर शुगा), मूसाकर्णी, फंजी (भारंगी), प्राचीवल (काकजङ्घा), काकमाची (मकोय), विषमुष्टि (राजनिम्ब या कर्कोटकी या कुचिला ये सुरसादिगण हैं ।

व्रण में त्रिफला, गुग्गुलु (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) का चूर्ण मिलाकर गुग्गुलु का बनाया हुआ वटक (वटी) सेवन करने से विवन्ध को नाश करता है और व्रण को शोधन तथा रोपण करनेवाला है ॥ ७४ ॥

व्रणे दशकगुग्गुलुः—

अमृतापटोलमूलत्रिफलात्रिकटुकक्रमिघ्नानाम् ।
सर्वसमो गुग्गुलुकः प्रतिवासरमेकपरिमाणम् ।
जेतु व्रणवातासृग्गुल्मोदरश्वयथुपाण्डुरोगांश्च ॥ ७५ ॥

व्रण में दशक गुग्गुलु—गुडूची, परवल की जड़, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला), त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण तथा चूर्ण के बराबर शु० गुग्गुलु मिलाकर अच्छी तरह मर्दन कर वटक बनावे और प्रतिदिन एक परिमाण (छः माशा) व्रण, वातरक्त, गुल्मरोग, जलोदर, शोथ तथा पाण्डु रोगों को जीतने के लिये भक्षण करे। अर्थात् इस गुग्गुलु को सेवन करने से उपरोक्त रोग दूर हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

व्रणे गुग्गुलवष्टकम्—

विडङ्गत्रिफलाव्योषचूर्णं गुग्गुलुना समम् ।
सर्पिषा वटकान् कृत्वा खादेद्वा हितभोजनः ॥ ७६ ॥
दुष्टव्रणापचीमेहकुष्ठनाडीविशोधनान् ।

व्रणरोग में गुग्गुलु अष्टक—विडङ्ग, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), इन द्रव्यों का चूर्ण तथा चूर्ण के बराबर शु० गुग्गुलु मिलाकर घृत के साथ मर्दन कर वटक बनावें और इन वटकों को खाये तथा हितकर भोजन करे। यह वटक दुष्टव्रण (बिगड़े हुए घाव), अपची (गण्डमाला), प्रमेहपिडिका, कुष्ठ तथा नाडीव्रणों (साइनस) का शोधन करता है।

व्रणे सवर्णीकरणा योगाः—

मनःशिला समञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम् ॥ ७७ ॥
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः ।

व्रण के स्थान को चर्म के समान बनानेवाले योग—मैनशिल, मंजीठ, लाख, हल्दी और मधु मिलाकर बनाया हुआ लेप लगाने से व्रण स्थान की त्वचा को अच्छी तरह स्वच्छ करता है।

अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च ॥ ७८ ॥
प्रलेपः कुरुते कार्ष्ण्यं सद्य एव नवत्वचि ।

लौहभस्म, कासीस, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला), कुसुम (कुसुमाञ्जन) इन द्रव्यों का प्रलेप नवीन त्वचा में शीघ्र ही कृष्णता ला देता है।

कालीयकलताम्रास्थिहैमकालायसोत्तमैः ॥ ७६ ॥
लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परः ।
इति शोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
व्रणशोथ-द्विव्रणाधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

कालीयक (पीत चन्दन), लता (प्रियंगु), आम की गुठली, हैम (चिरायता), काला (तगर), कान्त लौह की भस्म—इन द्रव्यों का चूर्ण गोबर के रस में मिलाकर लेप करने से व्रण के स्थान को अच्छी तरह त्वचा के समान वर्ण बना देता है ।

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ खण्ड शल्यतन्त्र में
तृतीय व्रणशोथ तथा द्विव्रणीयाधिकार समाप्त ।

अथ सद्योव्रणाधिकारश्चतुर्थः ।

अथातः सद्योव्रणशस्त्रघातनिदानं व्याख्यास्यामः ।

इसके बाद सद्यो व्रण शस्त्र-घात का निदान कहते हैं ।

सद्योव्रणभेदाः—

नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः

भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोधत ॥ १ ॥

सद्योव्रण के भेद—अनेक प्रकार की धार तथा मुखवाले शस्त्रों के शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में गिरने (लगने) से अनेक प्रकार के व्रण बनते हैं, उनको आगे बताये हुए लक्षणों से जानें ॥ १ ॥

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।

घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २ ॥

छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित तथा घृष्ट ये सद्योव्रण के छः भेद हैं, क्रमशः उनके लक्षण आगे कहते हैं ॥ २ ॥

छिन्नलक्षणम्—

तिर्यक्छिन्नो ऋजुर्वापि व्रणो यस्त्वायतो भवेत् ।

गात्रस्य पातनं तद्धि छिन्नमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥

छिन्न के लक्षण—जो सद्योव्रण तिर्यक् (तिरछा) अथवा सीधा कटा और आयताकार (चौड़ा) होता है और जिसमें शरीर का अवयव कटकर लटकने लगता है उसे 'छिन्न व्रण' कहते हैं ॥ ३ ॥

भिन्नलक्षणम्—

शक्तिकुन्तेषुखड्गाग्रविषाणैराशयो हतः ।

यत्किंचित्प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ४ ॥

भिन्न का लक्षण—(शक्ति=नोकदार शस्त्रविशेष), कुन्त (भाला), बाण, तलवार के अग्रभाग तथा सींग के लगने से आशय पर्यन्त जो व्रण बनता है इसे 'भिन्न व्रण' कहते हैं । इससे भिन्न आशय के अनुसार अनेक प्रकार का स्राव निकलता है ॥ ४ ॥

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।

हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

कोष्ठ का लक्षण—आमाशय, रक्ताशय (यकृत् , प्लीहा), हृदय, उण्डुक (शोणित-मलोत्पन्न आन्त्रदेशस्थ स्थान विशेष) तथा फुफ्फुस (हृदय के (वामपार्श्व में स्थित रक्ताधार) को 'कोष्ठ' कहते हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ ६ ॥
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥ ८ ॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥
पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च ।
अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥ १० ॥

कोष्ठ में भेदन होने पर रक्त द्वारा कोष्ठ परिपूर्ण हो जाता है जिससे ज्वर तथा दाह उत्पन्न हो जाते हैं । मूत्रमार्ग, गुदा, मुख तथा नाक से रक्त निकलता है । इसके अतिरिक्त मूर्च्छा, श्वासकृच्छ्रता, प्यास , आध्मान, भोजन में अरुचि, मल-मूत्र तथा वायु का अवरोध, पसीना का अधिक निकलना, नेत्रों में लालिमा; मुख से लोहे के समान गन्ध का निकलना, शरीर से दुर्गन्धि का आना, हृदय तथा पसलियों मे पीड़ा 'कोष्ठभेद' के साधारण लक्षण हैं । कोष्ठभेद के विशेष लक्षण को आगे कहते हैं—आमाशय में रक्त भर जाने से रोगी रक्त वमन करता है, पेट मे आध्मान (वायु से भर जाना) हो जाता है और भयंकर शूल होता है । पक्वाशय में रक्त भर जाने पर पीड़ा, भारीपन तथा शरीर के नीचे का अंग विशेषकर शीतल हो जाता है ॥ ६–१० ॥

विमर्श—कोष्ठ के भेदन होने पर आशय या कोष्ठस्थ अवयव के भेदन के अनुसार स्राव निकलता है । जैसे आमाशय के भिन्न होने से आमाशय रक्त से भर जाता है, अन्नयुक्त रक्त का वमन या स्राव होता है । मूत्राशय भिन्न होने से रक्त के द्वारा उसके भर जाने पर रक्तमिश्रित मूत्र का स्राव होता है । पक्वाशय भिन्न होने पर पीड़ा, भारीपन तथा नाभि प्रदेश के नीचे शीतलता होती हैं और व्रण से अन्न या मलयुक्त रक्त का स्राव भी होता है ।

यदि पक्वाशय या मलाशय का भेदन हो जाय तो रक्तस्राव गुदा के मार्ग से होता है, वस्ति में भेदन होने से मूत्रमार्ग आमाशय में वेदना होने से मुख तथा नाक के द्वारा रक्तस्राव होता है । फुफ्फुस के भेदन होने से रक्तस्राव अत्यधिक होता है जिससे श्वासकृच्छ्रता, मूर्च्छा तथा पिपासा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । रक्तस्राव के कारण, मुख में लोहा के सदृश गन्ध का निर्गमन होता है ।

विद्धलक्षणम्—

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत्॥ ११॥

विद्ध का लक्षण—आशय के अतिरिक्त शरीर के अवयव सूक्ष्म नुकीले मुख वाले शस्त्र के लगने से विद्ध हो जानेपर उत्पन्न व्रण 'उत्तुण्डित (उठा मुख वाला) या निर्गत (दबा हुआ मुखवाला)' हो जाता है। ऐसे व्रणों को 'विद्ध व्रण' कहते हैं॥ ११॥

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तद्विद्धमिति निर्दिशेत्॥ १२॥

जो सद्योव्रण न अधिक कटा है और न अधिक विदीर्ण हुआ है तथा जो दोनों छिन्न एवं भिन्न के लक्षणों से युक्त है उस विषम आकृतिवाले व्रणों को 'विद्ध' कहते हैं। (वस्तुतः यह लक्षण क्षत प्रकार के व्रण का है क्योंकि तन्त्रान्तर में ये लक्षण क्षत के ही मिलते हैं। यहाँ प्रमाद से या प्रेस-संशोधन की अनवधानता से 'क्षत' के स्थान पर 'विद्ध' ऐसा छप गया है। इसको 'तत् क्षतमिति निर्दिशेत्' ऐसा पढ़ना चाहिए॥ १२॥

पिच्चितलक्षणम्—

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम्।
सास्थि तत्पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम्॥ १३॥

पिच्चित व्रण का लक्षण—प्रहार (मुद्गर-लाठी आदि से) तथा पीडन (दो कड़ी वस्तुयें पत्थर या किवाड़ आदि के बीच दब जाने) से यदि कोई अंग चिपटा हो गया हो। अस्थि भी पिच्चित हो जाय और मज्जा-मिश्रित स्राव होता हो तो इस 'पिच्चित व्रण' कहते हैं॥ १३॥

घृष्टलक्षणम्—

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम्।
ऊषास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते॥ १४॥

घृष्ट का लक्षण—किसी कड़े वस्तु के रगड़ या दूसरे अभिघात से यदि अंग त्वचारहित हो गया हो और उससे गरम स्राव निकलता हो तो उसे 'घृष्ट' कहते हैं॥ १४॥

सशल्यव्रणलक्षणम्—

श्यावं सशोफ पिडकाचितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति॥ १५॥

शल्यसहित (अन्तःशल्य) का लक्षण—जिस व्रण में शल्य अन्दर रहता है उसमें रक्त सफेद वर्ण का, शोथ, पिड़काओं से व्याप्त वार २ रक्तस्राव

होता है, कोमल उठे हुए, बुदबुद के समान मांस दिखाई देता और पीड़ा होती है। इन लक्षणों से युक्त व्रण को समझना चाहिये कि इसमें शल्य उपस्थित है ॥ १५ ॥

असाध्यसद्योव्रणलक्षणम्—

त्वचोऽतीत्य शिरादीनि भित्त्वा च परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥ १६ ॥

असाध्य सद्योव्रण का लक्षण—त्वचा के सातों तहों को पारकर सिरा, मांस, स्नायु, अस्थि और सन्धियों का भेदन कर या नाश कर कोष्ठ में पहुँचा हुआ शल्य यदि न निकले तो प्रनष्ट-शल्य-विज्ञानीय अध्याय में बताये गये उपद्रवों (आटोप-आनाह आदि) को करता है ॥ १६ ॥

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डु शीतपादकराननम् ।
शीतश्वासं रक्तनेत्रमानद्धं परिवर्जयेत् ॥ १७ ॥

जिस रोगी के कोष्ठ में रक्त भरा हुआ हो, जिसके हाथ पैर तथा मुख पीले और पैर शीतल हो गये हों, जिसको ठण्डा श्वास आता हो तथा जिसके नेत्र रक्तवर्ण के हो गये हों और जो रोगी आनाह से पीड़ित हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। अर्थात् इन लक्षणों से युक्त रोगी असाध्य होता है ॥ १७ ॥

मर्मविद्धलक्षणम्—

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लायनमुष्णता च ।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजो दाहकृताश्च तास्ताः ॥१८॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत्सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्धसंख्येष्वथ च क्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥ १९ ॥

मर्मविद्ध का लक्षण—दशार्ध संख्यक (पाँच—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि तथा सन्धिगत) मर्म में व्रण होने पर भ्रम, प्रलाप, जमीन पर गिरना, मूर्च्छा, हाथ, पैर आदि अंगों से विपरीत चेष्टा करना, ग्लानि (बल की क्षीणता) शरीर मे उष्णता, शरीरावयवों में शिथिलता, इन्द्रियों की क्रियाहीनता, ऊर्ध्ववात तथा वातजन्य अनेक प्रकार की पीड़ायें होती हैं और मांस के धोवन के सदृश रक्त का स्राव होता है और सम्पूर्ण इन्द्रियां अपना कार्य करने में अशक्त हो जाती हैं ॥ १८–१९ ॥

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायुः ।
करोति रोगान्विविधान् यथोक्तान्छिन्नासु च्छिन्नास्वथवा क्षतासु ॥२०॥

मर्मरहित सिराविद्ध के लक्षण—सिराओं के विद्ध या क्षत होने पर सुरेन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक लाल रंग के कीड़े के समान अत्यधिक रक्तस्राव होता है। क्षत से उत्पन्न वायु अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता है ॥ २० ॥

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२१॥

मर्माहत स्नायुविद्ध के लक्षण—कुब्जापन, शरीर के अवयवों में अवसाद, कार्य करने में असमर्थता, तीव्र वेदना, तथा देरी से व्रणरोपण ये लक्षण 'स्नायुविद्ध' मनुष्य में होते हैं ॥ २१ ॥

शोफाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः सर्वत एव शोफः ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात्सन्धिकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥ २२ ॥

मर्माहत सन्धि क्षत के लक्षण—चल या स्थिर सन्धियों में क्षत होने पर शोथ की वृद्धि, भयंकर वेदना, दौर्बल्य, सन्धि के चारों ओर शोथ तथा गमनागमन-क्रियाओं में असमर्थता ये लक्षण होते हैं ॥ २२ ॥

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम् ।
भिषग्विपश्चिद्विदितार्थसूत्रस्तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥ २३ ॥

मर्माहत अस्थिविद्ध के लक्षण—जिस रोगी को दिन-रात भयंकर पीड़ा होती हो जो किसी अवस्था (सोने, बैठने, चलने आदि) में शान्ति का अनुभव न करता हो ऐसे रोगी को शास्त्र तत्त्व को जानने वाले विद्वान् वैद्य 'अस्थिविद्ध' मर्म से पीड़ित समझे ॥ २३ ॥

यथास्वमेतानि विभावयेच्च लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।
पाण्डुर्विवर्णः स्पर्शं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥२४॥

मर्म स्थानों के अभिघात में उपर्युक्त लक्षण स्थान के अनुसार जानना चाहिए। अर्थात् जो लक्षण उपर्युक्त श्लोकों में सिरावेध आदि के बताये गये हैं वे ही सिरामर्म, स्नायुमर्म, सन्धिमर्म तथा अस्थिमर्म के अभिघात में होंगे। इसके अतिरिक्त भ्रम, प्रलाप आदि मर्म सामान्यगत क्षत-लक्षण भी होंगे। जो रोगी मांसमर्म में क्षत होने से पीड़ित होता है वह पाण्डुवर्ण का या विवर्ण हो जाता है और उसको स्पर्श का ज्ञान नहीं रहता है ॥ २४ ॥

व्रणोपद्रवाः—

विसर्पः पक्षघातश्च शिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥ २६ ॥

इति सद्योव्रणशस्त्रघातनिदानं समाप्तम् ।

व्रण के उपद्रव—विसर्प, पक्षघात, सिराओं में जकड़न, अपतानक (टेटनस), मूर्च्छा, उन्माद, व्रण की अनेक पीड़ायें, ज्वर, पिपासा, हनुग्रह (दोनों हनुओं की जकड़न), कास, वमन, अतिसार हिचकी, श्वास और कम्पन ये

व्रण के सोलह उपद्रव होते हैं ऐसा शल्यतन्त्र के विशेषज्ञ बताते हैं ॥ २५-२६ ॥

सद्योव्रण शस्त्रघातादि का निदान समाप्त ।

अथातः सद्योव्रणशस्त्रघातचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

सद्योव्रण आदि के निदान के बाद उनकी चिकित्सा कहते हैं ।

सद्योव्रणे सामान्यचिकित्सा—

बद्ध्वाऽऽगन्तुव्रणं सद्यो घृतक्षौद्रसमन्वितम् ।
शीतक्रिया प्रयोक्तव्या पित्तरक्तोष्मनाशिनी ॥ २७ ॥

सद्योव्रण मे सामान्य चिकित्सा—आगन्तुज व्रण (शस्त्रघातादि से उत्पन्न व्रण) को शीघ्र ही घृत और मधु मिलाकर बांध दे तथा पित्तरक्त की उष्णता को शान्त करनेवाली शीत क्रिया को करे ॥ २७ ॥

सद्यःक्षतव्रण वैद्य. सशूल परिषेचयेत् ।
यष्टीमधुकयुक्तेन किंचिदुष्णेन सर्पिषा ॥ २८ ॥

वैद्य शूलयुक्त सद्यःक्षत-व्रण को मुलेठी तथा मधु-मिश्रित थोड़े गरम घृत से परिसेचन (सींचना) करे ॥ २८ ॥

अपामार्गस्य सांसक्त पत्रोत्थेन रसेन तु ।
सद्योव्रणेषु रक्त हि प्रवृत्त परितिष्ठति ॥ २९ ॥

सद्योव्रण में अपामार्ग के पत्ते के रस से सींचने पर निकलता हुआ रक्त भी बन्द हो जाता है ॥ २९ ॥

उदगाशागतं मूलं मालत्यास्तन्दुलाम्बुना ।
सपिष्टं लेपनं दद्यात्सद्यःक्षतविरोहणम् ॥ ३० ॥

जलाशय के समीप उत्पन्न चमेली के मूल को चावल के धोवन के साथ पीस कर सद्योव्रण को रोहण करनेवाले इस लेप को लगाये ॥ ३० ॥

कर्पूरपूरितं बद्धं सघृतं संप्ररोहति ।
सद्यः शस्त्रक्षतं पुंसां व्यथापाकविवर्जितम् ॥ ३१ ॥

मनुष्यों के सद्यः शस्त्रक्षत व्रण का घृत-मिश्रित कर्पूर बाँध देने से पीड़ा तथा पाक से रहित रोहण (भर जाना) हो जाता है ॥ ३१ ॥

चणकैश्चर्वितैरामैरादंशं संप्रलेपितः ।
रोहत्याशु व्रणः पुंसां व्यथापाकविवर्जितः ॥ ३२ ॥

कच्चे चने को चबाकर उससे दंश (डंसे हुए स्थान) को चारो तरफ लेप कर देने से मनुष्यों का व्रण पीड़ा तथा पाक से रहित होकर शीघ्र ही भर जाता है ॥ ३२ ॥

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते।
पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम् ॥ ३३ ॥

आमाशय में रक्त के रुक आने पर वमन कराना पथ्य होता है तथा पक्वाशय में रक्त के रुकने पर निःसन्देह विरेचन कराना चाहिए ॥ ३३ ॥

क्वाथो वंशत्वगेरण्डश्वदंष्ट्राश्मभिदा कृतः।
सहिङ्गुसैन्धवः पीतः कोष्ठस्थं स्रावयेदसृक् ॥ ३४ ॥

बांस की छाल, एरण्ड, गोखरू तथा पाषाणभेद समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ हिंगु तथा सेन्धानमक मिलाकर पान करने से आमाशयादि कोष्ठों में स्थित रक्त को निकाल देता है ॥ ३४ ॥

पञ्चकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन वा।
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैन्धवसंयुताम् ॥ ३५ ॥

पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) तथा कुलत्थ (कुरथी) समभाग—इन द्रव्यों के कल्क या रस के साथ सेन्धानमक मिलाकर अन्न (भात) या यवागू (लपसी) पान करे ॥ ३५ ॥

अत्यर्थमस्रं स्रवति प्रायशो यत्र वै क्षते।
ततो रक्तक्षयाद्वायौ कुपितेऽतिरुजा भवेत् ॥ ३६ ॥
स्नेहपानपरीषेकस्नेहलेपोपनाहनम् ।
स्नेहबस्तिं च युञ्जीत वातघ्नौषधसाधितम् ॥ ३७ ॥
इति साप्ताहिकः प्रोक्तः सद्योव्रणहितो विधिः।
सप्ताहात्परतः कार्या शारीरव्रणवत्क्रिया ॥ ३८ ॥

जिस क्षत में प्रायः अत्यधिक स्राव होता है वहां प्रायः अधिक रक्त-क्षय होने के कारण वायु के प्रकोप होने से अत्यधिक पीड़ा होती है। ऐसी स्थिति में वातनाशक औषधों से सिद्ध स्नेहपान, परिषेक (अभिषेचन), स्नेहलेप, उपनाहन (पुल्टिस) तथा स्नेहबस्ति का प्रयोग करे। शीघ्र ही व्रण को लाभ पहुँचाने वाले इस उपचार को एक सप्ताह तक प्रयोग करने के लिये कहा गया है। एक सप्ताह बाद शारीर व्रण (दोषजव्रण) के सदृश उपचार करे ॥३६–३८॥

सद्योव्रणे गौरं घृतं तैलं च—

गौरी हरिद्रा मञ्जिष्ठा मांसी मधुकमेव च।
प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं भद्रमुस्तं सचन्दनम् ॥ ३९ ॥
जातीनिम्बपटोलं च करञ्जं कटुरोहिणी।
मधूच्छिष्टं समधुकं महामेदा तथैव च ॥ ४० ॥
पञ्चवल्कलतोयेन घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
एतद्गौरं महावीर्यं सर्वव्रणविशोधनम् ॥ ४१ ॥

आगन्तुसहजाश्चैव सुचिरोत्थाश्च ये व्रणाः ।
विषमामपि नाडीं तु शोधयेच्छीघ्रमेव च ॥ ४२ ॥

सद्योव्रण में गौर घृत तथा गौर तैल—गौरी (प्रियंगु), हल्दी, मंजीठ, जटामांसी, मुलेठी, प्रपौण्डरीक, हाऊबेर, नागरमोथा, रक्तचन्दन, चमेली, नीम, परवल, करञ्ज, कटुकी, मोम, मधुक (जलमधुक-मुलेठी का भेद), तथा महामेदा समभाग—इन द्रव्यों का कल्क तथा पञ्चवल्कल (वट, पीपल, पाकड़, गूलर, वेतस), के क्वाथ के साथ (घृत या तैल चौगुना क्वाथ तथा तैल या घृत के चौथाई कल्क तैल-घृतनिर्माण विधि के अनुसार लेकर) घृत एक प्रस्थ (सेर) पकावे । यह बलवान गौर घृत सभी प्रकार के व्रण को शोधन करनेवाला है । यह घृत आगन्तुज व्रण, सहज (दोषज) व्रण, पुराना व्रण, विषम व्रण तथा नाडीव्रण (साइनस) को भी शीघ्र ही शोधन करता है । (इसी प्रकार तैल का भी निर्माण करे) ॥ ३९–४२ ॥

सद्योव्रणे करञ्जाद्य घृतं तैलं च—

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च ।
सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा ॥ ४३ ॥
द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी ।
मञ्जिष्ठा चन्दनोशीरमुत्पलं सारिवा त्रिवृत् ॥ ४४ ॥
एतेषां कार्षिकैर्भागैः स्नेहप्रस्थं विपाचयेत् ।
दुष्टव्रणप्रशमनं तथा नाडीविशोधनम् ।
सद्यश्छिन्नव्रणघ्नं तु करञ्जाद्यमिदं शुभम् ॥ ४५ ॥

सद्योव्रण में करञ्जाद्य घृत तथा तैल—करञ्ज की पत्ती तथा परिपुष्ट फल, चमेली, परवल एवं नीम की पत्ती, हल्दी, दारुहल्दी, मोम, मुलेठी, कटुकी, मंजीठ, रक्तचन्दन, खस, नीलकमल, सारिवा तथा निशोथ एक एक कर्ष इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृत या तैल के चौगुना जल मिलाकर स्नेह-निर्माण-विधि के अनुसार) स्नेह (घृत या तैल) एक प्रस्थ (एक सेर) पकावे । यह हितकर करञ्जाद्य घृत या तैल दुष्ट व्रण (बिगड़े हुए घाव) को शोधन करता है तथा सद्यःछिन्न व्रणों को नाश करता है ॥ ४३–४५ ॥

अग्निदग्धे मधूच्छिष्टाद्यं घृतम्—

मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा ।
मञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥ ४६ ॥
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद्रोपणमुत्तमम् ।

अग्निदग्ध में मधूच्छिष्टाद्य घृत—मोम, मुलेठी, लोध, राल, मंजीठ, रक्तचन्दन तथा मूर्वा (मरोड़फली या मोरबेल) समभाग—इन द्रव्यों को पीस

कर उसके कल्क के साथ (घृत-निर्माणविधि के अनुसार घृत के चौगुना जल तथा पूर्वोक्त घृत के चौथाई कल्क के साथ) घृत पकावे यह घृत सभी अग्नि-दग्ध व्रणों को अच्छी तरह रोपण करता है।

अग्निदग्धव्रणे पाटलातैलम्—

सिद्धं कल्ककषायाभ्यां पाटल्याः कटुतैलकम्।
दग्धव्रणरुजास्रावदाहविस्फोटनाशनम् ॥ ४७ ॥

अग्निदग्ध व्रण में पाटला तैल—पाढल के कल्क तथा कषाय (तैल के चौगुना कषाय तथा तैल के चौथाई कल्क) के साथ सरसो का तैल सिद्ध करे। यह तैल दग्ध-व्रण की पीडा, स्राव, दाह तथा विस्फोटक (फफोला 'छाल') को नाश करता है ॥ ४७ ॥

सद्योव्रणे चन्दनाद्यं तैलं च—

चन्दनं वटशुङ्गाश्च मञ्जिष्ठा मधुकं तथा।
प्रपौण्डरीकं दूर्वा च पत्तङ्गं धातकी तथा ॥ ४८ ॥
एतैस्तैलं विपक्तव्यं सर्पिःक्षीरसमायुतम्।
अग्निदग्धे व्रणे श्रेष्ठं म्रक्षणाद्रोपणं परम् ॥ ४९ ॥
येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत्।
रक्तपित्तोत्तरं ज्ञात्वा सर्पिरेवावचारयेत् ॥ ५० ॥

सद्योव्रण में चन्दनाद्य घृत तथा तैल—रक्तचन्दन, वट का टूसा (वरोह), मंजीठ, मुलेठी, प्रपौण्डरीक, दूर्वा, पतङ्ग तथा धातकी (धव का फूल)- सम-भाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल या घृत समभाग (स्नेह-निर्माण-विधि के अनुसार) दूध मिलाकर पकावे। यह तैल अग्निदग्ध में म्रक्षण करने (मलने) से दग्धव्रण को अच्छी तरह रोपण करनेवाला है। जिस प्रकार से तैल सिद्ध किया गया है उसी प्रकार घृत भी सिद्ध करे। रक्तपित्तजन्य व्रण को जान कर उसमें घृत का ही प्रयोग करे ॥ ४८–५० ॥

व्रणग्रन्थिलक्षणं चिकित्सा च—

आरूढे रूढमात्रे च व्रणे सर्वरसाशिनः।
आर्द्रे वा बन्धरहिते गात्रेऽश्मादिहते तथा ॥ ५१ ॥
वातोऽस्रमस्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम्।
कुर्यात्सदाहं कण्ड्वाढ्यं व्रणग्रन्थिरिति स्मृतः।
क्षीरं तत्र प्रयुञ्जीत दुष्टव्रणहरं परम् ॥ ५२ ॥

व्रणग्रन्थि का लक्षण तथा चिकित्सा—सभी रस को खानेवाले व्यक्ति के आरूढ या रूढमात्र व्रण से आर्द्र व्रण (गीला) में या बन्धन-रहित व्रण में तथा पत्थर आदि के शरीर में लग जाने से दुष्ट रक्त के निकलने पर वायु रक्त को सुखा

कर गांठदार व्रण उत्पन्न कर देता है और उसमें दाह तथा अत्यधिक खुजली होती है इसको 'व्रणग्रन्थि' कहते हैं। इस प्रकार के व्रणग्रन्थि में चीर का प्रयोग करना चाहिए। यह दुष्ट व्रण को अच्छी तरह दूर करनेवाला है ॥ ५१-५२ ॥

अग्निदग्धव्रणचिकित्सा—

यवान् प्रतप्ते प्रणिधाय तैले तिलोद्भवे श्लक्ष्णमषीं विगृह्य।
तल्लिप्तमग्निप्रविदग्धमङ्गं तत्तैललिप्तं च रुजं जहाति ॥ ५३ ॥

अग्निदग्ध-व्रण की चिकित्सा—खौलते हुए तिल के तैल में यवों को छोड़ कर जल जाने पर निकाल ले और उसको महीन पीसकर तथा काला पाउडर बनाकर उसको अग्नि से जले हुए अंग में भर दे तथा उस तैल को लेप करे। इस लेप को करने से जले हुए अंग की पीड़ा दूर हो जाती है ॥ ५३ ॥

सिक्थसर्जरसोशीरजीरपक्वघृतेन वै।
लेपनात्तद्धि दग्धस्य वेदनां निर्हरेत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

मोम, राल, खस तथा जीरा समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ गाय का घृत पकावे और अग्निदग्ध अंग में लगावे। यह लेप लगाने से जले हुए अङ्ग की पीड़ा को शीघ्र ही दूर करता है ॥ ५४ ॥

शस्त्रक्षते कतिपययोगाः—

शस्त्रक्षते दशनचर्चितबाणपुङ्खा-
मूलोद्भवं; विनिदधीत रसं प्रयत्नात् ॥
दण्डोत्पलायाः स्वरसेन पूर्णो रिक्तीकृतो यः परिपूरितश्च।
पश्चान्निबद्धो व्रणपट्टकेन क्षिप्रं स संरोहति शस्त्रघातः ॥ ५५ ॥

शस्त्रक्षत में कुछ योग—शस्त्र से क्षत (कट जाने) हो जाने पर बाणपुङ्खा (सरफोंका) के मूल को दांत से चबाकर उसके रस को प्रयत्नपूर्वक निकाल ले और दण्डकमल के स्वरस से परिपूर्ण करने के बाद क्षत के खाली अंश को शरपुंखा के पूर्व निःसारित रस से भर दे और इसके बाद कपड़े की पट्टी से बाँध दे। इस प्रकार उपचार करने से शस्त्रघातव्रण का संरोहण शीघ्र ही हो जाता है ॥ ५५ ॥

लज्जालुकेषुपुङ्खाभार्ग्गीणां मध्यतः प्रलेपेन।
एकस्या जलपिष्टं मूलं शस्त्रक्षतेषु हितम् ॥ ५६ ॥

लज्जालु, इषुपुंखा (सरफोंका) तथा भारङ्गी—इन द्रव्यों में से एक एक का मूल जल के साथ पीसकर बीच बीच में लेप करना शस्त्रक्षत में हितकर होता है ॥ ५६ ॥

दिनत्रयं वायसजङ्घया यः शस्त्रप्रहारे कुरुते प्रलेपम्।
अजातपूयो व्यथया विहीनः संरोहमभ्येति स तस्य शीघ्रम् ॥ ५७ ॥

जो व्यक्ति शस्त्र-प्रहारजन्य क्षत में काकजङ्घा को पीस कर तीन दिन तक लेप करता है उसका शस्त्रक्षत पूय तथा पीड़ा से रहित होकर शीघ्र ही संरोहित (भर जाना) हो जाता है। अर्थात् उसका रोपण शीघ्र हो जाता है ॥ ५७ ॥

आर्द्रेण लज्जालुकिसंभवेन मूलेन तैलं परिपाचितं यत्।
तत्सेचितः पाकविवर्जितो द्राक्सरोहमागच्छति शस्त्रघातः ॥ ५८ ॥

लज्जालु के गीले मूल के साथ तैल पकाकर लगाने से शस्त्रघात-क्षत पाक-रहित होकर शीघ्र ही सरोहित हो जाता है अर्थात् भर जाता है ॥ ५८ ॥

तिलतैलमपामार्गमूलेनाम्भोन्वितेन यत् ।
सिद्धं तत्सेचितः शस्त्रव्रणो न कुरुते व्यथाम् ॥ ५९ ॥

अपामार्ग के मूल के रस के साथ सिद्ध किया हुआ तिल का तैल सेचन (लगाने) से शस्त्रक्षतव्रण पीड़ा नहीं करता है ॥ ५९ ॥

गोष्ठाम्लिकारण्यकुमारिकायाः कन्दस्तथा वेश्मकुमारिकायाः।
गोपालपीतं च मयूरकश्चेत्येतैर्विपाच्यं घृतमंशतुल्यैः ॥ ६० ॥
स्वेदेन तच्छस्त्रनिपातजातामार्तिं नराणामचिरेण हन्ति।
पुत्रः पितॄणां नरके स्थितानां यथा तृडादीनुदकादिदानैः ॥ ६१ ॥

गोशाला के समीप की इमली का कन्द, जंगली घी कुवार का कन्द, गांव के घीकुवार का कन्द तथा अपामार्ग समभाग—इन द्रव्यों के (घृत के चतुर्थांश) कल्क के साथ गोपालपीत (दूध-घृत के चौगुना) मिलाकर घृत-निर्माण विधि के अनुसार घृत सिद्ध करे। यह घृत स्वेदन करने से मनुष्यों के शस्त्र-निपातजन्य पीड़ा को शीघ्र ही नाश करता है। जैसे पुत्र नरक में स्थित पितरों के प्यास आदि को उदक-दान के द्वारा दूर करता है ॥ ६०–६१ ॥

निष्पीडितैः करपुटेन मयूरकस्य
पत्रैर्विनिःसरति यः स्वरसोऽतिसान्द्रः।
तत्पूरिते सततवेगमपि क्षणेन
रक्तं निरुद्धमवतिष्ठति शस्त्रघाते ॥ ६२ ॥

मयूरक (अपामार्ग) के पत्तों को हाथ की तलहथी से मसलने से जो गाढ़ा रस निकलता है उसको भर देने से (रस से परिपूर्ण कर देने से) शस्त्रघात में निरन्तर निकलता हुआ भी रक्त शीघ्र ही बन्द हो जाता है ॥ ६२ ॥

व्रणसंरोहणो लेपो घृतक्षीरद्रुमाङ्कुरैः ।
त्रिफलावटशुङ्गाज्यत्रायन्तीरोध्रतोऽथवा ॥ ६३ ॥

घृत, दूध तथा द्रुमाकुर (वट की बरोही का अंकुर) का कल्क इन तीनों का लेप व्रण को रोहण करनेवाला है। त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा

वटांकुर के कल्क एवं घृत का लेप अथवा त्रायमाणा तथा लोध के कल्क का लेप व्रण को रोहण करनेवाला है ॥ ६३ ॥

मूलं सर्वं तु वृन्ताक्याः संचर्व्य पिण्डिबन्धनात् ।
खड्गादिव्रणसंरोहः सप्ताहेन ध्रुवं भवेत् ॥ ६४ ॥

वृन्ताकी (वनभंटा) के सम्पूर्ण मूल को चबाकर (पीसकर) उसकी पिण्डी बांधने से तलवार आदि के द्वारा बने हुए व्रण का रोहण एक सप्ताह में अवश्य हो जाता है ॥ ६४ ॥

कपोतदक्षविड्युक्तः क्षारो ग्रन्थिविदारकः ।
दन्तीचित्रकमूलार्कत्वक्स्नुहीपयसा गुडः ॥ ६५ ॥

कपोत (कबूतर) तथा दक्ष (मुर्गा), विड् (विष्ठा) से युक्त यवक्षार ग्रन्थि को पकाकर फोड़नेवाला है। इसी प्रकार दन्ती, चित्रक का मूल, मदार की छाल तथा सेंहुड़ का दूध—इन द्रव्यों के साथ गुड़ मिलाकर लेप करने से ये भी ग्रन्थि को पकाकर फोड़ देते हैं ॥ ६५ ॥

तिलसैन्धवयष्ट्याह्वनिम्बपत्रनिशायुगैः ।
त्रिवृद्घृतयुतैः पिष्टैः प्रलेपो व्रणशोधनः ॥ ६६ ॥

तिल, सेन्धानमक, मुलेठी, नीम की पत्ती, हल्दी, दारुहल्दी तथा निशोथ इन द्रव्यों को पीसकर उसमें घृत मिलाकर लेप करने से व्रण का शोधन हो जाता है ॥ ६६ ॥

अथ व्रणगतशल्यनिष्कासनम्—

पिष्टेन लाङ्गलक्याः कन्देन विलेपिते व्रणस्य मुखे ।
निर्याति जवाच्छल्यं चिरकालं प्रनष्टमपि ॥ ६७ ॥

व्रणगतशल्य को निकालने का उपचार—कलिहारी के कन्द को पीसकर व्रण के मुख पर लेप करने से अधिक समय से अन्दर छिपा हुआ भी शल्य शीघ्र ही निकल जाता है ॥ ६७ ॥

व्रणपर्यन्तालेपान्मूलं जलपिष्टशक्रवारुण्याः ।
कर्षति नष्टं शल्यं कदाचिदजशृङ्गिकामूलम् ॥ ६८ ॥

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
सद्योव्रणाधिकारश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

इन्द्रवारुणी का मूल जल के साथ पीसकर व्रण तक लेप करने से नष्ट शल्य को निकाल देता है। कभी कभी काकड़ासिंघी का मूल भी जल के साथ पीसकर व्रण के चारो तरफ लेप करने से शल्य को निकाल देता है ॥ ६८ ॥

श्रीशोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्यतन्त्र में चतुर्थ
सद्योव्रणाधिकार समाप्त ।

अथ भग्नाधिकारः पञ्चमः ।

अथातो भग्ननिदानं व्याख्यास्यामः ।

सद्योव्रण के बाद भग्न का निदान कहते हैं ।

भग्नभेदाः षड्विधसन्धिभग्नलक्षणं च—

भग्नं समासाद् द्विविधं तमाहुः काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।
उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्तितं च तिर्यक्प्रतिक्षिप्तमधश्च षोढा ॥ १ ॥

भग्न के भेद तथा छः प्रकार के सन्धिभग्न के लक्षण—संक्षेप में भग्न दो प्रकार का होता है । काण्डभग्न तथा सन्धिभग्न । उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित, तिर्यक्क्षिप्त, क्षिप्त तथा अधःक्षिप्त ये सन्धिभग्न के छः भेद होते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—सामान्यतः भग्न शब्द से अस्थिभग्न का ही बोध होता है किन्तु यहां अस्थिभग्न एवं सन्धिभग्न दोनों प्रकार के भग्नों का वर्णन किया गया है । अस्थियों का अपनी प्राकृत अवस्था में रहना ही भग्न है । उसी को काण्डभग्न या अस्थिभग्न कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है ।

१. अस्थिभग्न (फ्रैक्चर Fracture) ।

२. सन्धिभग्न (डिसलोकेशन 'Dislocation') ।

अस्थिभग्न में हड्डियां टूटकर अपनी प्राकृत अवस्था में नहीं रहती है । सन्धिभग्न में अस्थि का एक सिरा जो दूसरी अस्थि के सिरे से लगा रहता है अपने स्थान से हट जाता है । अर्थात् सन्धि-निर्मापक अस्थि-भागों की स्थान-च्युति को 'अस्थिभग्न' कहते हैं ।

अस्थियों के मिलने के स्थान को सन्धि कहते हैं । वह दो प्रकार की होती है ।

१ गतिशील तथा २ गतिविहीन ।

१. गतिशीलसन्धि—स्कन्धसन्धि, कूर्परसन्धि, श्रोणिसन्धि तथा जानु-सन्धि-आदि ।

२. गतिविहीनसन्धि—शीर्षास्थिसन्धि, भगास्थिसन्धि तथा गुदास्थि-सन्धि । भगास्थि तथा गुदास्थिसन्धि प्रसवकाल में तथा प्रसव के बाद गतिशील ही रहती है ।

सन्धि को निर्माण करने में अस्थि, संयोजकतरुणास्थि, श्लेष्मलकला, संयोजक कोष तथा पेशी का भाग रहता है । संयोजक तरुणास्थि सयोजन में भाग लेनेवाले अस्थियों के सिरे पर लगे रहते हैं । श्लेष्मल कला एक पतली झिल्ली के रूप में तरुणास्थि पर चढ़ी रहती है । इससे एक प्रकार का चिकना

स्राव निकलता है जो सन्धि को स्निग्ध रखता है। इससे अस्थि भाग तथा संयोजक तरुणास्थि पर संचालन के रगड़ का प्रभाव नहीं पड़ता है। संयोजक कोष एक कड़ा आवरण होता है जो सन्धि-स्थान को चारो ओर से आच्छादित किये रहता है। इसके कारण सन्धि कोटर में किसी प्रकार का उपसर्ग बाहर से नहीं पहुँच पाता। स्नायु एक प्रकार के बन्धन का काम करते हैं जिससे सन्धि दृढ़ एवं स्थिर बनी रहती है। पेशी और कण्डरायें सन्धि को दृढ़ बनाने एवं गतिप्रदान करने में सहायता करती हैं।

सन्धिभग्न आघात, पतन या पीड़न से होता है। इसमें स्नायु की स्वाभाविक दुर्बलता तथा पेशियों की दुर्बलता सहायक कारण होती है। यह सन्धिभग्न छः प्रकार का है।

१. उत्पिष्ट—इस अवस्था में सन्धिभग्न के साथ अस्थिभग्न भी होता है। इसमें अस्थि-सिरासंयोजक तरुणास्थि या चक्रिका के नष्ट हो जाने से आपस में रगड़ होता है उसीको 'उत्पिष्टभग्न' कहते हैं।

(२) विश्लिष्ट सन्धिभग्नः—इस अवस्था में मांसपेशी तथा स्नायु के खिचाव से अस्थियां भी कुछ खिंच जाती हैं किन्तु सन्धि-गुहा से बाहर नहीं निकलती हैं।

(३) विवर्तित सन्धिभग्न—इसमें सन्धि-विश्लेष होने से अस्थि दहिने या बायें बाहर की ओर खिसक जाती है।

(४) तिर्यक् क्षिप्त सन्धिभग्न—इसमें सन्धि का विश्लेषण पूर्ण रूप से हो जाता है।

(५) अतिक्षिप्त सन्धिभग्न—इस अवस्था में मांस, सिरा आदि में क्षति पहुँचने के कारण सन्धिगत अस्थियाँ एक दूसरे पर चढ़ जाती हैं।

(६) अधःक्षिप्त सन्धिभग्न—सन्धि-विश्लेष होने पर नीचे की अस्थि की सिरा बहुत नीचे चली जाती है। सन्धिभग्न भी प्रकारान्तर से दो प्रकार की होती है। १. सव्रण तथा २. अव्रण। सव्रण सन्धि में वायु का साक्षात् सम्बन्ध रहता है। इसमें उपसर्ग होने का भय रहता है।

प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुक्स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गमुत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥२॥
विशेषतो रात्रिभवा रुजा च विश्लिष्टसन्धौ च रुजा च नित्यम्।
विवर्तिते पार्श्वरुजा च तीव्रा तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥ ३ ॥
क्षिप्तेऽतिशूलं विषमश्च सन्धिः क्षिप्ते त्वधो रुग्विघटश्च सन्धेः।

सन्धिभग्न का सामान्य लक्षण—फैलाने, सिकोड़ने तथा घुमाने (अथवा स्थिर रखने) में भयकर वेदना तथा स्पर्श सहन न होना ये सन्धिभग्न के

सामान्य लक्षण हैं। उत्पिष्ट नामक सन्धिविश्लेष में सन्धि के चारो तरफ शोथ हो जाता है तथा रात्रि मे विशेष पीडा होती है। विश्लिष्ट में शोथ तथा पीड़ा बराबर बनी रहती है। विवर्तित सन्धिभग्न में भयंकर पीड़ा होती है। प्रतिक्षिप्त मे अत्यधिक शूल तथा दोनों अस्थियों के एक दूसरे के ऊपर चढ़ जाने से सन्धिवैषम्य होता है। अधःक्षिप्त में तीव्र वेदना होती है तथा अस्थियाँ नीचे की तरफ दूर हट जाती हैं।

विमर्श—सामान्यतः किसी भी सन्धि के विश्लेष होने पर उसकी क्रियाकारिता पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। अङ्ग के आकार में विकृति, सन्धिस्थान पर गड्ढा, अन्य स्थान पर अस्वाभाविक उभार, शोथ तथा भग्न की अपेक्षा पीड़ा तीव्र प्रकार की होती है।

विशेष विशेष सन्धियों के विश्लेष के अनुसार आकार-विकृति, उभार, शोथ तथा पीड़ा आदि उपद्रव होते हैं। विश्लेष से प्रभावित निम्न-लिखित सन्धियां होती हैं।

१. हनुसन्धिविश्लेष।
२. अक्षकास्थिसन्धिविश्लेष।
३. अंससन्धिविश्लेष।
४. कूर्परसन्धिविश्लेष।
५. मणिबन्धविश्लेष।
६. श्रोणिसन्धिविश्लेष।
७. गवाक्षसन्धिविश्लेष।
८. पश्चाद् विश्लेष।
९. जान्वस्थिविश्लेष।
१०. जानुसन्धिविश्लेष।
११. गुल्फसन्धिविश्लेष आदि।

द्वादशविधकाण्डभग्ननिरूपणम्—

काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्णविचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिः ॥४॥
काण्डाख्यभग्नं ह्यतिपातितं च मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम्।
छिन्नं द्विधा द्वादशधा च काण्डे स्रस्ताङ्गता शोफरुजातिवृद्धिः ॥५॥
संपीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहः स्पन्दनतोदशूला।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत्।
भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥ ६ ॥

बारह प्रकार के काण्डभग्न का निरूपण—कर्कटक, अश्वकर्ण, विचूर्णित, पिच्चित, अस्थिच्छल्लि, काण्डभग्न, अतिपातित, मज्जागत, स्फुटित, वक्र तथा दो प्रकार का छिन्न ये बारह काण्डभग्न के भेद हैं। छिन्न काण्ड भेद दो प्रकार का होता है (अल्पविदीर्ण तथा बहुविदीर्ण या पाटित)। काण्ड (अस्थि) भग्न में अगों की शिथिलता, शोथ, पीड़ा की वृद्धि, पीडन करने पर भग्नध्वनि, स्पर्शासह्यता, स्पन्दन, तोद (सूई चुभोने जैसी पीड़ा), शूल तथा किसी भी

अवस्था में शान्ति का अनुभव न होना ये उपद्रव होते हैं। सामान्यतः ये काण्डभग्न के लक्षण हैं।

काण्डभग्न के और भी अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु वे इन्हीं या अपने नामों के समान होते हैं ॥ ४–६ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने पतन, पीडन, प्रहार, आक्षेपण आदि को अस्थिभग्न का कारण बताया है—पतन-पीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति ॥ सु. नि. १५

अस्थिभग्न साहस का काम करनेवाले युवा पुरुषों में अधिक होता है, बालक तथा वृद्धों में कम। बाल्यावस्था की हड्डियां मुलायम होती है अतः वे शीघ्र जुड़ जाती है उनमें पूर्णभग्न नहीं होता है। युवावस्था मे पूर्णभग्न होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अस्थिभग्न अधिक होता है। कभी-कभी फक्करोग, अस्थिभंगुरता, अस्थ्यर्बुद, अस्थिक्षय तथा पक्षाघात में भी अस्थिभग्न होता है।

अस्थिभग्न पूर्ण और अपूर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। पूर्णभग्न युवा पुरुषों में होता है। इसमें हड्डियाँ पूर्णरूप से टूट जाती है। इसके भेद निम्न प्रकार के हैं—

१. काण्डभग्न—इसमें हड्डी चौड़ाई में पूर्णतया टूट जाती है और [1]हिलाने से कांपती है।

२. अश्वकर्ण—इसमें भग्न की रेखा [2]तिरछी होती है।

३. अस्थिच्छल्लित—इसमें हड्डी [3]लम्बाई की दिशा में टूटती है। इस प्रकार का भग्न बन्दूक आदि के गोली की लगने से होता है।

४. चूर्णितभग्न—इसमें अस्थियां [4]छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती हैं।

५. अतिपातितभग्न[5]—इसमें हड्डियां अनेक स्थानों से टूट जाती हैं। हड्डी के बीच का भाग अस्थि से पूर्णतया अलग हो जाता है। और भग्नास्थि के किनारे एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं।

६. मज्जानुगतभग्न[6]—इसमें टूटी हुई अस्थि का एक भाग दूसरे भाग में प्रविष्ट हो जाता है।

---

१. वेल्लते प्रकम्पमान काण्डभग्नम्। सुश्रुत

२. अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकम्। सु०

३. पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छल्लितम्। सु०

४. स्पृश्यमान शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्। सु०

५. अस्थि निश्शेषतश्छिन्नमतिपातितम्। सु०

६. अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्। सु०

७. पिच्चितभग्न[1]—कुचल जाने से भग्न के साथ पेशी, रक्तवाहिनी तथा नाडी भी क्षतिग्रस्त होती है।

अपूर्णभग्न—इसमें हड्डियां पूर्णरूप से नहीं टूटती है।

८. स्फुटितभग्न[2]—इसमें हड्डियां पूर्णतया नहीं टूटती हैं इनमें दरारें पड़ जाती हैं।

९. वक्रभग्न[3]—कुछ मुड़ा हुआ जिसमें अस्थिभाग एक दूसरे से अलग न हो उसे वक्र कहते है। यह प्रकार बाल्यावस्था मे होता है। इसमें हड्डी छड़ी या दन्तधावन के समान टूटती है। इसका एक पार्श्व टूट जाता है और दूसरा पार्श्व लगा रहता है।

१०. कर्कटकभग्न[4]—इसमें केवल अस्थि टूटती है। अस्थ्यावरण पूर्णतया बचकर भग्न को ढके रहते हैं।

११. छिन्न[5] भग्न का अल्पविदीर्ण—इसमें हड्डी का एक पार्श्व टूटने से बच जाता है।

(ख) [6]बहुविदीर्ण या पाटित —यह स्फुटित के ही तरह होता है। भग्न में निम्नलिखित स्थानीय लक्षण मिलते है—

अभिघात के चिह्न शोथ, स्पन्दन, स्पर्शासहत्व, भग्नध्वनि, विवर्तनासहत्व (घुमाने में पीड़ा), वेदना, अकर्मण्यता, स्रस्तागता तथा लम्बाई में कमी आदि।

सार्वदेहिक लक्षण :—मर्माभिघात, भग्नज्वर (ज्वर उतर कर पुनः चढ़ना), भूतोन्माद (इसमें निद्रानाश, उन्माद के लक्षण, भयङ्कर स्वप्नों का दर्शन, भय के कारण शय्या या मकान से कूदना, शरीर में कम्पन तथा संन्यास) ये लक्षण तथा उपद्रव होते है। वसाजन्य रक्तावरोध, रक्तस्राव तथा धमनी-नाड़ी या मांसपेशी की हानि।

'अस्थि-संयोजन का सिद्धान्त तथा असंयोगज के परिणाम' टूटी हुई अस्थि

---

१. पिच्चितं पृथुल गतमनल्पशोफम्। सु०

२. पाटितमणुबहुविदारित वेदनावच्च शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलविस्फुटीकृतमिति। सु०

३. आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्। सु०

४. संमूढमुभयतोऽस्थि मध्येभग्न ग्रन्थिरिवोन्नतम् कर्कटकम्।

सु० नि० १५

५. अन्यतरपार्श्वावक्षिप्टं छिन्नमिति।

६. पाटितमणु बहुविदारितम् वेदनावच्च। सु० नि० १५

के टुकड़ों को मिलाने के लिये प्रकृति इसमें रोहण की क्रिया प्रारम्भ करती है। नवीन रचना बनाने के लिये नये अंकुर उत्पन्न होते हैं। इनके पोषण के लिये रक्तनलिकायें बन जाती हैं। इन नलिकाओं के चारों ओर सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वे सौत्रिक तन्तु धीरे धीरे अस्थितन्तुओं में बदल जाते है। इस समय में इन तन्तुओं में अस्थि को बनानेवाले परमाणु उपस्थित रहते हैं। धीरे-धीरे चूने के समान एकत्रित होने लगते हैं और अस्थि का रूप बनाना प्रारम्भ कर देते है। अस्थि के दोनों खण्डों के बीच मे जो नई वस्तु बनती है उसको 'संधानवस्तु' कहते हैं। पहले वह अस्थि चारा तरफ फैली रहती है किन्तु शनैः-शनैः संकुचित होकर आवश्यक अन्तराल मे आ जाती है, कुछ दिन वह वस्तु अस्थि के रूप में परिणत हो जाती है, जिससे पूर्व की भाति पूर्ण अस्थि बन जाती है। बच्चों में यह क्रिया शीघ्र होती है किन्तु वृद्धों में धीरे-धीरे तथा कठिनाई से होती है। अतः वृद्धों का भग्न कृच्छ्रसाध्य माना गया है।

भग्नस्य साध्यासाध्यविचारः—

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ७ ॥

भग्न का साध्यासाध्यविचार—कम तथा पौष्टिकरहित भोजन करनेवाले असंयमी या अपथ्यसेवी, वातप्रकृति तथा (पूर्वोक्त स्तब्धता आदि एवं ज्वर, आध्मान, मूत्र और मल का अवरोध आदि) उपद्रवों से युक्त रोगी का भग्न कठिनाई से ठीक होता है ॥ ७ ॥

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्।
जघनं प्रति पिष्टं च वर्जयेत्तच्च विचक्षणः ॥ ८ ॥
असंश्लिष्टं कपालं च ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं स्तनान्तरे शंखे पृष्ठे मूर्धनि वर्जयेत् ॥ ९ ॥

कपाल और कटि के भिन्न, सन्धिमुक्त तथा सन्धिच्युत या अधःक्षिप्त और जघनसन्धि के (उत्पिष्ट) भग्न की विद्वान् वैद्य चिकित्सा न करे। मस्तक का सन्धिविश्लेष एवं चूर्णित और स्तन के मध्य, पृष्ठ, शंखप्रदेश तथा सिर के भग्न को भी छोड़ दे। अर्थात् इन स्थानों का भग्न असाध्य होता है ॥ ८–९ ॥

अस्थिविशेषेण भग्नविशेषाः—

आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसन्धिरथापि च।
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात् ॥ १० ॥
संक्षोभाद्वापि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत्।

अस्थिविशेष के अनुसार भग्नविशेष—अच्छी तरह संधान की हुई जो

अस्थि अव्यवस्थित रूप में रखने, बन्धन करने या हिलने से विकृत हो जाती है उसे भी असाध्य समझकर छोड़ दे ॥ १० ॥

मध्ये वयसि भग्नस्य साध्यत्वनिरूपणम्—

मध्यस्य वयसोऽवस्थास्तिस्रो याः परिकीर्तिताः ।
तासु स्थिरो भवेज्जन्तुरुपक्रान्तो विजानता ॥ ११ ।

मध्य-अवस्था में भग्न का साध्यत्वनिरूपण—मध्य आयु की जो तीन अवस्थायें बतायी गई हैं उन अवस्थाओं में भग्न होनेपर यदि रोगी का उपचार योग्य वैद्य से किया जाय तो साध्य होता है ॥ ११ ॥

अस्थिविशेषेण भग्नविशेषाः—

तरुणास्थीनि नाम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ।
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि तु ॥ १२ ॥

इति भग्ननिदानं समाप्तम् ॥

अस्थिविशेष के अनुसार भग्नविशेष—तरुणास्थियां लचक जाती है, कपालास्थियां भिन्न या विदीर्ण हो जाती हैं तथा रुचक या दांत एवं वलयास्थियां फूट जाती है ॥ १२ ॥

भग्न का निदान समाप्त ।

अथातो भग्नचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

भग्न-निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं ।

भग्ने सामान्यचिकित्सा—

आदौ भग्नं विदित्वा तु सेचयेच्छीतवारिणा ।
पङ्केनालेपनं कुर्याद् बन्धनं च कुशान्वितम् ॥ १३ ॥
अवनामितमुन्नम्येत्प्रोन्नतं चावपीडयेत् ।
आञ्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत् ॥ १४ ॥
आलेपनार्थं मञ्जिष्ठा मधुकं चाम्लपेषितम् ।
शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च लेपयेत् ॥ १५ ॥

भग्न में सामान्य चिकित्सा—सर्वप्रथम भग्न को जानकर शीतल जल से सेचन करे । [1]पङ्क (कर्दम) से आलेपन करे और कुशा (लकड़ी की पटरी) लगाकर बन्धन करे । और उठे हुए भग्न को अवपीडन करे । अतिक्षिप्त भग्न

---

१. पङ्कात्तदाहनाशित्वं भग्नसन्धानहितत्वञ्च हिमत्वञ्च (रा० नि०) शोथघ्नत्वं सरत्वञ्च ।

को आञ्छन (धीरे-धीरे मालिश कर) अस्थि को प्रकृतावस्था में करे तथा अधोगत (अधःक्षिप्त) भग्न को ऊपर उठावे। आलेपन के लिये मंजीठ तथा मुलेठी को इमली के रस के साथ पीस कर लेप करे तथा जड़हन धान के चावल को पीसकर और उसमें शतधौत घृत मिलाकर लेप करे॥ १३–१५॥

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने।
पञ्चमूलीविपक्वं तु क्षीरं दद्यात्सवेदने॥ १६॥

भग्न को सेचन करने के लिये न्यग्रोधादि (वट, पीपल, पाकड़, गूलर (वेतस) के शीतल कषाय को ग्रहण करें, और वेदनायुक्त में पञ्चमूली (सरिवन, पिठवन, वनभटा, भटकटैया, गोखरू) के कल्क से सिद्ध दूध का प्रयोग करे॥ १६॥

मांसं मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः।
बृंहणं चान्नपानं च देयं भग्नाय जानता॥ १७॥

योग्य वैद्य भग्न रोगी के लिये मांस, मांसरस, क्षीर, घृत, सतीन (कलाय-मटर) का यूप तथा शरीर के धातुओं को बढ़ानेवाले अन्न-पान का प्रयोग करें॥ १७॥

गृष्टिक्षीरं रसं सर्पिर्मधुरौषधसाधितम्।
शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः॥ १८॥

भग्नरोग से पीड़ित व्यक्ति काकोल्यादि मधुरगण की औषधों से सिद्ध प्रथम प्रसूता गौ का दूध, मांसरस तथा घी को शीतल कर और लाख मिलाकर प्रातःकाल पान करे॥ १८॥

रसोनमधुलाक्षाज्यसिताकल्कं समश्नताम्।
छिन्नभिन्नच्युतास्थीनां सन्धानमचिराद्भवेत्॥ १९॥

रसोन (लहसुन) के कल्क को मधु, लाख, घृत तथा मिश्री के साथ खानेवाले व्यक्तियों के छिन्न-भिन्न तथा च्युत (स्थान से हटे हुए) अस्थियों का संधान शीघ्र हो जाता है॥ १९॥

भग्ने लाक्षादिगुग्गुलुः—

लाक्षास्थिसंहृत्ककुभाश्वगन्धाश्चूर्णीकृता नागबला पुरश्च।
स भक्तमुक्तास्थिरुजं निहन्यादङ्गानि कुर्यात्कुलिशोपमानि॥ २०॥

भग्न में लाक्षादि गुग्गुलु—लाख, अस्थिसंहृत (हरजोड़), ककुभ (अर्जुन), अश्वगन्धा तथा नागबला इन द्रव्यों को चूर्ण बनाकर उसमें गुग्गुलु मिलाकर (गोघृत में मर्दन कर) गुग्गुलु वटी बना ले। यह गुग्गुलु सेवन करने से भग्न तथा मुक्त (च्युत) अस्थि की पीड़ा को नाश करता है और शरीर को वज्र के समान मजबूत बना देता है॥ २०॥

भग्ने आभाद्यो गुग्गुलुः—

आभाफलत्रिकव्योषैः सर्वैरेभिः समीकृतैः।
तुल्यो गुग्गुलुरायोज्यो भग्नसन्धिप्रसाधकः॥ २१॥

भग्न में आभाद्य गुग्गुलु—आभा (बब्बूल), फलत्रिक (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण के बराबर २ गुग्गुलु मिलाकर तथा मर्दन कर गुग्गुलु वटी तैयार करे। यह गुग्गुलु, सेवन करने से भग्न सन्धि को ठीक करता है॥ २१॥

सव्रणभग्नचिकित्सा—

सव्रणस्य च भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः।
प्रतिसार्य कषायैश्च शेषं भग्नवदाचरेत्॥ २२॥

सव्रण भग्न-चिकित्सा—सव्रण भग्न के व्रण को घृत, मधु तथा (काकोल्यादि गण के) कषाय से प्रतिसारण करने के बाद शेष उपचार भग्न के तरह करे॥ २२॥

अभिघातजश्वयथुचिकित्सा—

सद्योभिघातजनिता रागयुताः श्वयथवः प्रशाम्यन्ति।
पिष्टलवणोपलेपादम्लीकाफलरसाभ्यां च॥ २३॥
वातव्याधिविनिर्दिष्टान् स्नेहानत्रापि योजयेत्।

अभिघातज श्वयथु की चिकित्सा—अम्लिका (इमली) तथा मदनफल के रस में सेन्धानमक मिलाकर लेप करने से सद्योऽभिघातजन्य लालिमायुक्त शोथ शान्त हो जाते हैं। वातव्याधि में बताये गये स्नेहों (तैल, घृत) का प्रयोग करे।

भग्नेऽपथ्यानि—

कट्वम्ललवणं तीक्ष्णं क्षारं मैथुनमातपम्।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च॥ २४॥

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
भग्नाधिकारः पञ्चमः॥ ५॥

भग्न में अपथ्य—भग्न रोग से पीड़ित व्यक्ति कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण तथा क्षार पदार्थों का सेवन, स्त्रीप्रसङ्ग, धूप तथा रूक्ष अन्नों का सेवन न करे॥ २४॥

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्यतन्त्र में
पांचवाँ भग्नाधिकार समाप्त।

अथ नाडीव्रणाधिकारः षष्ठः ।

अथातो नाडीव्रणनिदानं व्याख्यास्यामः ।

छठा नाडीव्रणाधिकार (साइनस 'Sinus') 'भग्नाधिकार' के बाद नाडीव्रण का निदान कहते हैं ।

नाडीव्रणस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः—

यः शोफमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥ १ ॥

नाडीव्रण की निदानपूर्वक संप्राप्ति—जो अनुचित क्रिया करनेवाला मूर्ख वैद्य पूर्ण पके हुए शोथ की चिकित्सा आम (अपरिपक्व) समझकर नहीं करता या पूय से भरे हुए व्रण का उचित शोधन आदि उपचार नहीं करता है तो वह पूय त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ तथा मर्म आदि आठ व्रण-स्थानों को भेदन कर भीतर की धातुओं में प्रवेश कर जाता है ॥ १ ॥

तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरिष्यते तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी ।
दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥ २ ॥

पूय के अधिक मात्रा में गमन करने के कारण उसे 'गति' कहते हैं । या नाडी या नाली के सदृश पूय का जो वहन करता है उसके कारण उसे 'नाडीव्रण' कहते हैं । वह नाडीव्रण, अलग-अलग तीन दोषों से एक-एक तीन, सम्मिलित दोषों से एक, शल्यजन्य एक इस प्रकार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा शल्यज भेद से पांच प्रकार का होता है ॥ २ ॥

विमर्श—पक्व व्रण की उपेक्षा तथा अपरिपक्व व्रण का छेदन करनेवाला वैद्य 'असाधुवृत्त' कहलाता है उसको [1]सुश्रुत ने श्वपच (चण्डाल) की उपाधि दी है । पहले भी [2]सुश्रुत ने इस बात का दिग्दर्शन करा दिया है कि पक्व व्रण की उपेक्षा से कृच्छ्रसाध्य या असाध्य नाडीव्रण बन जाता है ।

---

१. यश्छिनत्याममज्ञानाद् यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥

२. स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा । (सु० सू० १७) ।

पाश्चात्य वैज्ञानिक इसको साइनस 'Sinus' या फिस्चुला (Fistula) कहते हैं। जिस नाडीव्रण का मुख केवल एक तरफ ही खुलता है उसे 'साइनस' तथा दो आशयों या आशय तथा बाहरी त्वचा से सम्बन्ध रखनेवाले नाडीव्रण या पूयनलिका को 'फिस्चुला' कहते हैं। नाडीव्रण आशयरहित स्थान मांस, मेदा, अस्थि आदि में ही होता है और भगन्दर के नाडीव्रण का सम्बन्ध एक तरफ या दोनों तरफ आशयों में होना अनिवार्य है। भगन्दर, वस्ति-मलाशय नाड़ी, वस्तियोनि-नाडी आदि नाडीव्रण ही कहलाते हैं।

भगन्दर की रूढि केवल गुदा के भगन्दर के लिये हो गई है। वस्तुतः शरीर के किसी भाग में होनेवाले नाडीव्रण को भगन्दर (फिस्चुला) कहा जा सकता है। अतः नाडीव्रण से साइनस तथा फिस्चुला दोनों का बोध होता है। भगन्दर केवल गुदा के नाडीव्रण के लिये प्रयोग किया जाता है।

नाडीव्रण कई कारणों से बनते हैं। १. पाचन-संस्थान में सूत्र, रेशम, तांत, तार तथा अस्थिखण्डों का पहुंचना, २. पाचन-संस्थान का ठीक २ शोधन न होना, ३. व्रणों से उत्तेजक स्रावों का निकलना तथा मल, मूत्र, अम्ल, पूय आदि का स्राव होते रहना, ४. पूय का निर्हरण ठीक २ न होना, ५. व्रण के स्थान को पूर्ण विश्राम न मिलना, ६. राजयक्ष्मा आदि विशेष रोग, ७. पाक-स्थान को पूर्ण विश्राम का अभाव, ८. रोगी की दुर्बलता, ९. व्रण के चारो तरफ सौत्रिक तन्तुओं की प्रचुरता।

वातजादिभेदेन नाडीव्रणलक्षणानि—

तत्रानिलात्परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु।

वातजादि भेद से नाडीव्रण का लक्षण : वातज नाडीव्रण—वातज नाडीव्रण खुरदरी, पतले मुखवाली और शूलयुक्त होती है तथा रात्रि में फेनयुक्त स्राव अधिक निकलता है।

पित्ताच्च तृड्ज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि॥ ३॥

पित्तज नाडीव्रण—पैत्तिक नाडीव्रण में रोगी को तृष्णा अधिक लगती है और दाहयुक्त ज्वर होता है तथा दिन में गरम गरम स्राव अधिक मात्रा में निकलता है॥ ३॥

ज्ञेया कफाद् बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा।

कफज नाडीव्रण—इसमें अत्यन्त गाढा सफेद तथा चिपचिपा स्राव का निर्गमन होता है। व्रण कठिन निकलनेवाला होता है।

दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन
तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात् ॥ ४ ॥

द्विदोषज आदि नाडीव्रण—दो दोषों के लक्षणों को देखने पर दो दोषों के उपद्रवों से युक्त (वातपित्तज, वातकफज तथा पित्तकफज) तीन प्रकार के और नाडीव्रणों को समझना चाहिए।

विमर्श—सुश्रुत ने भी द्विदोषज नाडीव्रण का उल्लेख किया है किन्तु इसके विशेष लक्षणों का प्रतिपादन नहीं किया है क्योंकि ये प्रकृतिसमवायारब्ध होने के कारण विशेष महत्व के नहीं हैं।

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि।
तामादिशेत् पवनपित्तकफप्रकोपा-
द्घोरां गतिं त्वसुहरामिव कालरात्रिम् ॥ ५ ॥

सान्निपातिक नाडीव्रण—इसमें दाह, ज्वर, कृच्छ्रश्वास, मूर्च्छा, मुखशोष, तथा वात आदि तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित होते हैं, ऐसे त्रिदोषज तथा प्राणों को शीघ्र ही नाश करनेवाले नाडीव्रण को भयंकर कालरात्रि के सदृश समझे ॥ ५ ॥

नष्टं कदाचिदनुमार्गमुदारितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति।
सा फेनिलं त्वसितमच्छमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसाऽसरुजा च नित्यम् ॥ ६ ॥

शल्यज नाडीव्रण—त्वचा, मांस आदि आठ व्रणस्थानों में किसी तरह अदृश्य सूक्ष्म शल्य पहुंचकर गति करता हुआ शीघ्र ही नाडीव्रण को उत्पन्न करता है। वह नाडीव्रण अकस्मात् झागदार, विलोये हुए तक्र के समान, उष्ण तथा रक्तमिश्रित स्राव को निकालता है और उसमें सर्वदा वेदना रहती है। (इन लक्षणों से युक्त नाडीव्रण को शल्यज नाडीव्रण कहते) हैं ॥ ६ ॥

नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वविचारः—

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येच्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः।

इति नाडीव्रणनिदानम्।

त्रिदोषज नाडीव्रण असाध्य होता है। शेष चार उचित उपचार करने पर कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

नाडीव्रण का निदान समाप्त।

अथातः नाडीव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

नाडीव्रण के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

नाडीव्रणे सामान्यचिकित्सा—

नाडीनां गतिमन्विष्य शस्त्रेणापाट्य कर्मवित्।
सर्वं व्रणक्रमं कुर्याच्छोधनारोपणादिकम् ॥ ७ ॥
कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥ ८ ॥

नाडीव्रण में सामान्य चिकित्सा—शल्यकर्म को अच्छी तरह जाननेवाला वैद्य नाडी के गतिस्थान को अच्छी प्रकार खोज कर शस्त्र से विदीर्ण कर व्रण के सभी शोधन-रोपण आदि उपचारों को करे। किन्तु बुद्धिमान वैद्य पतला, दुबला तथा भयभीत रोगियों के मर्मगत नाडी को क्षार[1]सूत्र से विदीर्ण करे शस्त्र से विदीर्ण न करे ॥ ७-८ ॥

वातजनाडीचिकित्सा—

नाडीं वातकृतां साधु पाटितां शोधितां भिषक्।
प्रत्यक्पुष्पाफलयुतैस्तिलैः पिष्टैश्च लेपयेत् ॥ ९ ॥

वातजनाडी की चिकित्सा—वैद्य वातजन्य नाडीव्रण को विदीर्ण कर तथा शोधन कर (साफकर) अपामार्ग का फल तथा तिल को पीसकर व्रण को पूरण करे ॥ ९ ॥

पित्तजनाडीचिकित्सा—

पैत्तिकीं तिलमञ्जिष्ठानागदन्तीनिशाद्वयैः।

पित्तजनाडी की चिकित्सा—पित्तजन्य नाडीव्रण को तिल, मंजीठ, नागदन्ती, हल्दी तथा दारुहल्दी—इन द्रव्यों को पीसकर व्रण को पूरण करे।

कफजनाडीचिकित्सा—

श्लैष्मिकीं तिलयष्ट्याह्वनिकुम्भारिष्टसैन्धवैः।
निशाभ्यां तिलमध्वाज्यैर्लेपयेच्छिन्नशोधिताम् ॥ १० ॥

कफज नाडीव्रण की चिकित्सा—कफजन्य नाडी को तिल, मुलेठी, निकुम्भ (दन्ती), नीम की पत्ती तथा सेन्धानमक—इन द्रव्यों को पीसकर लेप लगाये या हल्दी, दारुहल्दी तथा तिल—इन द्रव्यों का कल्क मधु एवं घृत मिलाकर छेदन कर्म करने के बाद शोधन किये हुए नाडीव्रण को पूरण करे ॥ १० ॥

---

१. तीव्र या मध्यवीर्य वाले क्षारों में सूत्र को डुबाकर रखने से धीरे धीरे क्षारीय अंश सूत्र में लिप्त हो जाते हैं इसी को 'क्षारसूत्र' कहते हैं।

नाडीव्रणे कतिपयवर्तियोगाः—

घोण्टाफलत्वङ्मदनात्फलानि
पूगात्फलात्त्वग्लवणं च मुख्यम् ।
स्नुह्यर्कदुग्धेन सहैव कल्को
वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीम् ॥ ११ ॥

वर्तीकृतं माक्षिकसंप्रयुक्तं नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा ।
दुष्टव्रणे यद्विहितं च तैलं तत्सेव्यमानं गतिमाशु हन्ति ॥ १२ ॥

नाडीव्रण में कुछ वर्ति योग—घोण्टाफल त्वक् (बेर के फल की छाल), मदनफल, सुपारी की छाल, जायफर की छाल तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों को सेहुंड तथा मदार के दूध के साथ पीसकर वर्त्ति बनावे। यह वर्त्ति प्रवेश करने से नाडीव्रण को शीघ्र ही नाश करती है। इन द्रव्यों के कल्क को मधु मिलाकर बनायी वर्ति या सेन्धानमक मिलाकर बनायी हुई वर्ति नाडीव्रण को नाश करनेवाली कही गयी है। दुष्टव्रण में जो तैल बताया गया है वह भी लगाने से नाडीव्रण को नाश करता है ॥ ११–१२ ॥

आरग्वधनिशाकालास्वर्णाज्यक्षौद्रसंयुता ।
सूत्रवर्तिर्व्रणे योज्या शोधनी गतिनाशिनी ॥ १३ ॥

अमलतास, हल्दी, काला (मंजीठ), स्वर्णमाक्षिक, घृत तथा मधु इन सभी द्रव्यों को मिलाकर सूत्रवर्ति बनावे और प्रयोग करे। यह वर्ति नाडी को शोधन करनेवाली तथा नाश करनेवाली है ॥ १३ ॥

जात्यर्कशम्याककरञ्जदन्तीसिन्धूत्थसौवर्चलयावशूकैः ।
वर्तिः कृता हन्त्यचिरेण नाडी स्नुक्क्षीरपिष्टा सह चित्रकेण ॥ १४ ॥

चमेली, मदार, शम्याक (अमलतास), करञ्ज, दन्ती, सेन्धानमक, सौवर्चल नमक, यवक्षार तथा चित्रक द्रव्यों को सेहुड के दूध में पीसकर बनाई हुई वर्ति प्रवेश करने से नाडीव्रण को शीघ्र ही नाश करती है ॥ १४ ॥

नाडीव्रणे भल्लातकादितैलम्—

भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन
सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च ।
स्यान्मार्कवस्य च रसेन निहन्ति तैलं
नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ॥ १५ ॥

नाडीव्रण में भल्लातकादि तैल—भल्लातक, मदार, काली मरिच, सेन्धानमक, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी—इन द्रव्यों के कल्क तथा भृङ्गराज के रस के साथ (तैल-निर्माण विधि के अनुसार तैल के चौथाई कल्क तथा तैल के

चौगुना रस लेकर) सिद्ध किया हुआ तैल कफवातजन्य अपची (गण्डमाला) तथा नाडीव्रणों को नाश करता है ॥ १५ ॥

नाडीव्रणे चुञ्चूफललेपः—

पिष्टं चुञ्चूफलं लेपान्नाडीव्रणहरं परम् ।

नाडीव्रण में चुञ्चूफल-लेप—चुञ्चू[1] (चञ्चूशाक, चौंच 'खेतपात') का फल पीसकर लेप करने से नाडीव्रण को अच्छी तरह दूर करता है ।

नाडीव्रणे बृहत्क्षारपाकः—

द्रोणे पलाशकदलीखरमञ्जरीणां
क्षारस्य षड्भिरहिमैरुदकार्मणैश्च ।
तावत्पचेद्भवति भस्मजलं हि याव-
त्तत्पिच्छमच्छमरुणं परिगृह्य यत्नात् ॥ १६ ॥
क्षौमेण कम्बलिकया पटवासकैर्वा
मूत्रावलोडितमथ स्रुतमम्बरेण ।
तप्तस्य शङ्खशकलस्य पलान्यथाष्टौ
क्षिप्त्वाऽत्र भस्मपयसि प्रतिपिष्टकल्कैः ॥ १७ ॥
दन्तीद्रवन्त्यतिविषाबिडतालमूली-
कङ्कुष्ठरामठवचाचिरबिल्वपत्रैः ।
सस्वर्जिकाज्वलनलाङ्गलिकाकलिङ्गै-
र्द्रव्यार्धपालिकमितैरिति साधमेभिः ॥ १८ ॥
संसाध्यते तु भिषजा स तथा विपक्वः
क्षारो यथा भवति नैव तनुर्न सान्द्रः ।
नाडीभगन्दरगुदामयगण्डमाला-
ग्रन्थ्यर्बुदादिषु नृणां विहितो भिषग्भिः ॥ १९ ॥

नाडीव्रण में बृहत्क्षारपाक—पलास, केला तथा खरमञ्जरी (अपामार्ग) का क्षार एक द्रोण को छः द्रोण गरम जल में तब तक पकावे जब तक पिच्छिल-स्वच्छ तथा अरुण वर्ण का न हो जाय, इसके बाद यत्नपूर्वक लेकर गाय के मूत्र में (क्षार के छः गुना) घोलकर क्षौमवस्त्र (रेशम), कम्बल, पटवासक (सूतीवस्त्र) या वस्त्र से छानकर भस्म के जल में गरम किये हुए आठ पल (आठ छटाक) शंख के टुकड़ों को छोड़ दे तथा दन्ती, द्रवन्ती अतीस, बिड नमक, तालमूली (मुसली), कङ्कुष्ठ (मुरदाशंख), हिंगु, वच, चिरबिल्व (पूतीकरञ्ज) का पत्र, स्वर्जिक्षार, चित्रक, लांगलिका (कलिहारी) तथा

---

1. चञ्चूफलं 'हाथी शुण्डो'-इति वङ्गीयाः ।

कलिंग (बहेड़ा) आधा आधा पल (आधा छटांक) इन द्रव्यों को पीसकर उसके कल्क के साथ पकाकर क्षार सिद्ध करे। वैद्य यह क्षार ऐसा सिद्ध करे जैसा कि न पतला हो और न गाढ़ा हो। इस क्षार को वैद्य मनुष्यों के नाडीव्रण, भगन्दर, गुदा के रोग (कुकूणक आदि), गण्डमाला, ग्रन्थि तथा अपची आदि रोगों में प्रयोग करे ऐसा बताया गया है। अर्थात् यह क्षार उपर्युक्त रोगों को नाश करता है ॥ १६–१९ ॥

क्षारसूत्रेण नाडीच्छेदनविधिः—

एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्।
सूचीं विदध्याद्गत्यन्ते चोन्नम्याशु विनिर्हरेत् ॥ २० ॥
सूत्रस्यान्ते समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रवेशयेत् ॥ २१ ॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः।
भगन्दरेऽप्ययेप विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥ २२ ॥
अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्।
सूचीभिर्यवक्त्राभिराचितं वा समन्ततः ॥ २३ ॥
मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम्।

क्षारसूत्र से नाडी छेदन की विधि—एषणी (प्रोबर एण्ड डाइरेक्टर (Prober & Director) से नाडीव्रण की गतिका अन्वेषण कर क्षार लगा हुआ डोरा (क्षारसूत्र) सूई में डालकर गति के अनुसार सूई को प्रवेश करे। गति के अन्तभाग में सूई को ऊँचा करके शीघ्र ही सूई को निकाल लेवे। पुनः क्षार सूत्र के दोनों सिरावों को अच्छी तरह बाँध दे। इसके बाद क्षार के बल के अनुसार यदि क्षार तीक्ष्ण न हो तो पुनः एक बार क्षारसूत्र डाल दे। बुद्धिमान वैद्य तब तक क्षार सूत्र को प्रवेश करे जब तक नाडी क्लिन्न न हो जाय। बुद्धिमान् शल्यकर्म-कुशल वैद्य भगन्दर में भी इसी विधि को करे। अर्बुद आदि में अर्बुद को ऊपर उठाकर मूल में सूत्र को बाँधे या यववक्त्र (यवसदृश मुखवाली) सूई से छेदकर मूल भाग में क्षारसूत्र से बांधे। व्रण के कट जाने पर व्रणवत् परिसेचन-लेपन आदि उपचार करे।

नाड्यां सप्ताङ्गगुग्गुलुः—

गुग्गुलुस्त्रिफलाव्योपैः समांशैराज्ययोजितः।
मांसदुष्टव्रणे शूले युज्यते च भगन्दरे ॥ २४ ॥

नाडीव्रण में सप्ताङ्गगुग्गुलु—गुग्गुलु, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को घृत के

साथ मर्दन कर गुग्गुलु-वटी बनावे। इस गुग्गुलु का प्रयोग दुष्ट मांसव्रण, शूल तथा भगन्दर में करे ॥ २४ ॥

नाड्यां निर्गुण्डीतैलम्—

समूलपत्रां निर्गुण्डीं पेषयित्वा रसेन तु।
तेन सिद्धं परं तैलं नाडीदुष्टव्रणापहम् ॥ २५ ॥
हितं पामापचीनां तु पानाभ्यञ्जननावनैः।
विविधेषु च स्फोटेषु तथा दुष्टव्रणेषु च ॥ २६ ॥

नाडी में निर्गुण्डी तैल—मूल तथा पत्र-सहित निर्गुण्डी को पीसकर उसके रस के साथ तैल (तैल-निर्माणविधि के अनुसार) सिद्ध करे। यह उत्तम तैल नाडीव्रण तथा दुष्टव्रण को नाश करता है तथा पान, अभ्यञ्जन और नावन (नस्य) के लिये प्रयोग करे। यह पामा (गीली खुजली), अपची, अनेक प्रकार के विस्फोटक (फोड़े-फुंसी) तथा दुष्टव्रणों (विगड़े हुए घावों) में हितकर है ॥ २५-२६ ॥

नाडीव्रणे द्विव्रणीयोक्तवर्तीनामतिदेशः।

या द्विव्रणीये विहितास्तु वर्त्यस्ताः सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।

नाडीव्रण में द्विव्रणीय-प्रकरण में बताई वर्ति का प्रयोग—वैद्य द्विव्रणीय-प्रकरण में जो-जो वर्तियां बताई गई हैं उन-उन वर्तियों का सभी प्रकार के नाडीव्रण में प्रयोग करे।

नाडीव्रणे आवल्लिकादितैलम्—

आवल्लिकामूलयुतैर्विपक्वं तैलं तिलोत्थं शकलैर्निशायाः।
नाडीं चिरोत्थामपि पूयपूर्णामभ्यञ्जनाद्रोहयति प्रसह्य ॥ २७ ॥

नाडीव्रण में आवल्लिकादि तैल—आवल्लिका (आवल 'अवर्तिकी—देशी सनई की एक जाति') का मूल तथा हल्दी के टुकड़े के साथ पकाया हुआ तिल का तैल अभ्यञ्जन करने से पूय से परिपूर्ण पुराने नाडीव्रण को रोहण कराता है ॥ २७ ॥

नाडीव्रणे कोद्रवान्नोपयोगः—

यो माहिषेण दध्ना भुङ्क्तेऽन्नं कोद्रवोद्भवं सततम्।
नाडीव्रणो विरोहति तस्य भृशं पूयमाणोऽपि ॥ २८ ॥

नाडीव्रण में कोद्रवान्न का उपयोग—जो नाडीव्रण से पीड़ित व्यक्ति भैंस के दही के साथ कोदव के भात को खाता है उसका अत्यधिक पूय से भरा हुआ भी नाडीव्रण शीघ्र ही भर जाता है ॥ २८ ॥

नाडीव्रणे कङ्गुणीमूलयोगः—

यः कङ्गुणीमूलसमीपकाण्डमश्नाति नित्यं पुरुषोऽभियुक्तः।
नाडीव्रणो रोहति तस्य शीघ्रमनारतप्रस्रुतसान्द्रपूयः ॥ २९ ॥

नाडीव्रण में कङ्गुणीमूल योग—जो नाडीव्रण से पीड़ित व्यक्ति कङ्गुणी (टंगुनी 'कंगुनी') के मूल के समीप के काण्ड (मूल के ऊपरी भाग) को प्रतिदिन खाता है उसका निरन्तर गाढ़ा पूय निकलता हुआ नाडीव्रण शीघ्र ही भर जाता है ॥ २९ ॥

नाडीव्रणे तालकाद्या मषी—

दहेत्पुटे तालकतन्दुलीयौ तुल्यांशकौ तत्र भवेन्मषी या।
तत्पूरिता रोहति दुष्टनाडी दुष्टव्रणो वा चिरकालजातः ॥ ३० ॥

नाडीव्रण में तालकाद्या मषी—तालक (हरताल या 'ताड़ का फल') तथा तण्डुलीय (चौराई शाक) समभाग इन दोनों द्रव्यों को लेकर शरावसम्पुट में बन्द कर जलाये। इसको जलाने से जो मषी (स्याही) तैयार हो उसको पूरण करने से पुराना नाडीव्रण या दुष्टव्रण रोहित हो जाता है अर्थात् भर जाता है ॥ ३० ॥

नाड्यां कतिपययोगाः—

घृतसिद्धार्थतैलाभ्यां युता देवी प्रलेपतः।
पृजयन्तीशिफा वाऽथ नाडीव्रणविनाशिनी ॥ ३१ ॥

नाडी में कुछ योग—घृत तथा सफेद सरसो का तैल के साथ देवी (स्पृक्का 'असवरग' या इन्द्रायणी) का कल्क मिलाकर लेप करने या जयन्ती-शिफा (जयन्ती के मूल) का कल्क मिलाकर लेप करने से यह योग नाडीव्रण को नाश करता है ॥ ३१ ॥

बहुधा काञ्जिकैः पिष्टाः शाखोटकतरुत्वचः।
लेपस्तार्क्ष्य इवाहीनां व्रणशोफविनाशनः ॥ ३२ ॥

शाखोटक (सिहोड़ या भूर्जपत्र) की छाल अच्छी तरह काञ्जी के साथ-पीसकर लेप करने से व्रणशोफ को नाश करता है। जैसे तार्क्ष्य (गरुड़) सांपों को नाश कर देता है ॥ ३२ ॥

शालिमुद्गयवानद्याज्जाङ्गलं च सदा व्रणी।
दधिक्षीराम्लगुर्वन्नं मैथुनं परिवर्जयेत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
नाडीव्रणाधिकारः षष्ठः ॥ ६ ॥

व्रण रोग से पीड़ित रोगी नित्य प्रति जड़हन धान का भात, मूंग की दाल, यव की रोटी तथा जङ्गली पशुओं का मांसरस भक्षण करे और दही, क्षीरान्न (खीर), गरिष्ठ अन्न तथा मैथुन त्याग दे ॥ ३३ ॥

श्री वैद्यशोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थखण्ड शल्यतन्त्र में
छठा नाडीव्रणाधिकार समाप्त।

/

अथ भगन्दराधिकारः सप्तमः।

अथातो भगन्दरनिदानं व्याख्यास्यामः।

नाडीव्रण के बाद भगन्दर का निदान कहते हैं।

भगन्दरस्वरूपं संख्या च—

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽर्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः॥ १॥

भगन्दर का स्वरूप तथा संख्या—गुदा के चारो ओर दो अंगुल के स्थान में उत्पन्न होनेवाली वेदनायुक्त पिडिका पककर फूट जाने पर 'भगन्दर' कही जाती है। यह भगन्दर वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक तथा आगन्तुज भेद से पांच प्रकार की होती है॥ १॥

विमर्श—नाडीव्रण के प्रकरण में यह स्पष्ट हो चुका है कि ऐसे नाडीव्रण जो किसी आशय से सम्बन्ध रक्खे या आशयों को एक में मिलावे, उसे 'भगन्दर' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार गुदन्दर, वस्तिन्दर तथा भगन्दर आदि सभी नाडीव्रण में आ जाते हैं फिर भी भगन्दर शब्द गुदा में होनेवाले परिपक्व फूटी हुई पिडिका को ही व्यवहार में लाते हैं। [1]सुश्रुत की भी परिभाषा इसी अर्थ को परिपुष्ट करती है। भग, गुद एवं वस्ति के चारो ओर के स्थान में भग के समान विदीर्ण करनेवाली व्याधि को 'भगन्दर' कहते हैं। यह [2]भोज का लक्षण भी पूर्वोक्त रूढि भगन्दर को ही बताता है।

सुश्रुत ने[3] पांच प्रकार के होनेवाले भगन्दर का नामकरण भी कर दिया है। शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शम्बूकावर्त तथा उन्मार्गी।

[4]वाग्भट ने इन पांचो भेदों के अतिरिक्त तीन द्वन्द्वज को मिलाकर आठ भेद माना है। [5]वात-पित्तज (परिक्षेपी) वातकफज, (ऋजु) पित्तकफज

---

१. ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते, अपक्वाः पिडिकाः पक्वास्तु भगन्दरा, इति (सु० नि०)

२. 'भगं परि समन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च।
भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः॥ (भोज)

३. 'वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राविशम्बूकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति (सु० नि०)।

४. दोषैः पृथग्द्वयः सर्वैरागन्तुः सोऽष्टमः स्मृतः।

५. वातपित्तात्परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः।
जायते परितस्तत्र प्रकारं परिखेव च॥
ऋजुर्वातकफादृज्व्या गुदो गत्या विदार्यते।

(अर्शोभगन्दर) इस प्रकार आठ भेद हो जाते हैं। वस्तुतः दो का अन्तर्भाव पूर्वोक्त पांच भेदों में ही हो जाता है किन्तु केवल अर्शो [1]भगन्दर की पिडका अलग से न बनकर गुदांकुर में ही शोथ तथा पाक होकर पिड़िका का रूप बन जाती है और अन्त में पूर्व-कथनानुसार भगन्दर बन जाता है।

पाश्चात्य ग्रन्थों में स्थान तथा आकृति के भेद से अनेक प्रकार के नाम बतलाये हैं किन्तु तीन प्रधान भेद होते हैं। पूर्ण या द्विमुख (Complete) इसका एक मुख मलाशय के अन्दर तथा दूसरा मुख गुदौष्ठ के पास बाहर त्वचा पर खुलता है। दूसरा 'अन्ध अपूर्ण (Blind)' इस में भगन्दर का मुख एक होता है और मलाशय में खुलता है। इसको 'अन्तर्मुख या अर्वाचीन' कहते हैं। तीसरा बहिर्मुख है जिसमें एक ही मुख होता है और बाहर की ओर गुदौष्ठ की त्वचा पर खुलता है। इसको 'पराचीन' भी कहते हैं। सुश्रुत ने दो ही प्रकार माना है अन्तर्मुख (अर्वाचीन) तथा बहिर्मुख (पराचीन)।

इस प्रकार सुश्रुतकार ने पांच भगन्दर के भेद माने हैं। (१) वातजन्य (शतपोनक) (२) पित्तजन्य (उष्ट्रग्रीव) (३) कफजन्य (परिस्रावी) (४) सान्निपातिक (शम्बूकावर्त), (५) आगन्तुज (उन्मार्गी)। इसके अतिरिक्त वाग्भट द्वन्द्वज भेद से तीन और मानते हैं। (६) वातपित्तज (परिक्षेपी) (७) वातकफज (ऋजु) (८) कफपित्तज (अर्शोभगन्दर) इस प्रकार वाग्भट के मतानुसार भगन्दर आठ प्रकार के होते हैं। अर्वाचीनों ने तीन भेद माना है, (१) द्विमुख (Open) (२) अन्तर्मुख (३) बहिर्मुख (Blind)।

शतपोनकस्य निदानादिपूर्वकं लक्षणम्—

कषायरूक्षैरतिकोपितोऽनिल-
स्त्वपानदेशे पिडिकां करोति याम्।
उपेक्षणात्पाकमुपैति दारुणं
रुजां च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ॥ २ ॥
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत्।

शतपोनक भगन्दर का निदानपूर्वक लक्षण—(वातिक) कषाय तथा रूक्ष पदार्थों के सेवन से अत्यधिक दूषित हुआ वायु गुदा के स्थान में एक

---

१. कफपित्ते च पूर्वोत्थ दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः।
अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत् ॥
स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः ॥ अ० सं० उ० २८

पिडिका को उत्पन्न कर देता है जिसमें उपेक्षा (समय पर उपचार न करने) से पाक हो जाता है । उसमें भयंकर वेदना होती है, फूटने पर उससे अरुण वर्ण का फेनयुक्त स्राव निकलता है । इस व्रण के अनेक मुख होते हैं और उनसे मूत्र, मल तथा शुक्र निकलते हैं । इसको 'शतपोनक' कहते हैं ।

परिस्राविभगन्दरस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणम्—

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः ।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥ ३ ॥

परिस्रावी भगन्दर का निदान-सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—जिसमें खुजलीयुक्त गाढ़ा स्राव होता है । (कफज) पिडिका कठिन, मन्दपीड़ायुक्त, तथा सफेद वर्ण की होती है उसको 'परिस्रावी भगन्दर' कहते हैं (इसमें सर्वदा गाढ़ा स्राव निकलता है) ॥ ३ ॥

उष्ट्रग्रीवभगन्दरस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणम्—

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं
करोति रक्तां पिडकां गुदागताम् ।
तदाऽऽशुपाकाऽहिमपूतिवाहिनी
भगन्दरं चोष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥ ४ ॥

उष्ट्रग्रीव भगन्दर का निदान-सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण (पैत्तिक)—अपने प्रकोपक कारणों से अत्यन्त प्रकुपित हुआ पित्त गुदस्थान के निकट लालवर्ण की पिडिका उत्पन्न कर देता है । इसमें पाक शीघ्र होता है तथा उष्ण दुर्गन्धित स्राव निकलता है । इन लक्षणों से युक्त भगन्दर को उष्ट्रग्रीव (उष्ट्रशिरोधर) कहते हैं ॥ ४ ॥

शम्बूकावर्तभगन्दरलक्षणम्—

बहुवर्णरुजास्रावाः पिडका गोस्तनोपमाः ।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥ ५ ॥

शम्बूकावर्त भगन्दर का लक्षण (सन्निपातज)—अनेक प्रकार की पीड़ा तथा अनेक रंगवाले स्राव एवं गाय के स्तन के समान पिडकायुक्त शम्बूकावर्त (घोंघे के आवर्त या नाड़ी की भंवर) के सदृश नाडीव्रण को 'शम्बूकावर्त्त' भगन्दर कहते हैं ॥ ५ ॥

उन्मार्गिभगन्दरलक्षणम्—

क्षताद् गतिः पायुगता विवर्धते
उपेक्षणात्सा क्रिमिभिर्विदार्यते ।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-
र्व्रणैस्तदुन्मार्गिभगन्दरं वदेत् ॥ ६ ॥

उन्मार्गी भगन्दर का लक्षण—आगन्तुज-किसी वस्तु के आघात होने से गुदा की नाडी बढ़ती जाती है तथा उसकी उपेक्षा करने से (उपचार न करने से) उसमे क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, वे क्रिमि गुदामार्ग को विदीर्ण कर उसमें अनेक प्रकार के मुखवाले व्रण को बना देते हैं उसे 'उन्मार्गी' भगन्दर कहते हैं ॥ ६ ॥

भगन्दराणां साध्यासाध्यविचारः—

घोराः साधयितु दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥ ७ ॥

भगन्दर का साध्यासाध्य विचार—सभी प्रकार के भगन्दर दुःख देनेवाले कष्टसाध्य होते हैं। उनमें से त्रिदोषज (शम्बूकावर्त) तथा क्षतज 'आगन्तुज' (उन्मार्गी) विशेषरूप से असाध्य होते हैं ॥ ७ ॥

वातमूत्रपुरीषाणि कृमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ८ ॥

जिन भगन्दरों से वायु, मूत्र, मल तथा शुक्र का स्राव होने लगता है वे भगन्दर रोगी के प्राण को नाश कर देते हैं। अर्थात् इन लक्षणों से युक्त असाध्य होते हैं ॥ ८ ॥

भगन्दरनिरुक्तिः—

वृषणासनयोर्मध्यप्रदेशो भगमुच्यते ।
तमेव दारयेत्तस्माद्भगन्दर इति स्मृतः ॥ ९ ॥
इति भगन्दरनिदानं समाप्तम् ।

भगन्दर की निरुक्ति—वृषण (अण्डकोष) तथा गुदा के मध्यवर्ती प्रदेश को 'भग' कहते हैं। उसी को विदीर्ण करता है अतः उसे 'भगन्दर' कहते हैं ॥ ९ ॥

भगन्दर-निदान समाप्त।

अथातो भगन्दरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

भगन्दर के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

भगन्दरिणां पिडकानां चिकित्सा—

हिता जलौकोभिरसृग्विशुद्धिः
प्राक् पाकतः स्यादचिरोद्गतायाः ।
पक्वं तु सम्यग्व्रणवच्चिकित्से-
च्चिकित्सकस्तामपि कृच्छ्रसाध्याम् ॥ १० ॥

भगन्दर रोगी की पिडिका की चिकित्सा—नवीन उत्पन्न भगन्दर की पिडिका को पकने के पहले जोंक लगाकर रक्तनिर्हरण करे। पक जाने पर वैद्य

उस कृच्छ्रसाध्य भगन्दर पिडिका को भी अच्छी तरह व्रण की तरह (आलेप, आसेचन आदि) चिकित्सा करे ॥ १० ॥

शुक्राशये यदि गतो न भगन्दरो वा
स्यात्सेवनी यदि भवेत्प्रचुरव्रणा वा।
शस्त्रैर्विदार्य विधिवद्व्रणवद्भिषक्तां
क्षारेण वा ज्वलनतप्तशलाकया वा ॥ ११ ॥

यदि व्रण शुक्राशय में न हो या भगन्दर हो या अत्यधिक व्रणवाली सेवनी हो तो शस्त्र से अच्छी तरह विदीर्ण कर वैद्य क्षार से या तप्तशलाका से दाह करे और व्रण के सदृश चिकित्सा करे ॥ ११ ॥

भगन्दरोपद्रुतमाशु लङ्घनैर्विरेचनैः शोणितमोक्षशोधनैः।
उपाचरेत्तद्व्यपतर्पणादिना क्रमेण पाकं न च सोऽधिगच्छेत् ॥१२॥
विभाव्य पक्वस्य गतिं तदैषणीं प्रवेश्य मार्गं तमशेषमुद्धरेत्।
ततोऽग्निना क्षारवरेण वा दहेदयं तु सामान्यविधिर्भगन्दरे ॥१३॥

उत्पन्न भगन्दर का लङ्घन, विरेचन, रक्तमोक्षण, शोधन तथा अपतर्पण आदि क्रमशः उपचार करे। जिससे वह पकने न पावे। पके हुए नाडीव्रण को जानकर उसमें एषणी (प्रोब) प्रवेश कर उसके सम्पूर्ण मार्ग को खोल दे। इसके बाद अग्नि से या उत्तम क्षार से दग्ध करे। यह भगन्दर में सामान्य विधि है ॥ १२-१३ ॥

गुदस्य श्वयथुं दृष्ट्वा विशेषाच्छोधयेत्ततः।
रक्तावसेचनं कार्यं यथा पाकं न गच्छति ॥ १४ ॥
वटपत्रेष्टिकाशुण्ठीगुडूच्यः सपुनर्नवाः।
सुपिष्टाः पिडकावस्थे लेपः शस्तो भगन्दरे ॥ १५ ॥

गुदा के शोथ को देख कर विशेषकर उसे शोधन करें। उसके बाद रक्तमोक्षण करे जिससे पकने न पावे। वट का पत्ता, इष्टिका (ईंटा का चूर्ण), सोंठ, गुडूची तथा पुनर्नवा इन द्रव्यों को पीसकर भगन्दर-पिडका में लेप लगाये। यह लेप प्रशस्त होता है ॥ १४-१५ ॥

पिडकानामपक्वानामपतर्पणपूर्वकम् ।
कर्म कुर्याद्विरेकान्तं भिन्नानां वक्ष्यते क्रिया ॥ १६ ॥

जब तक पिडिका न पके तब तक [1]अपतर्पण से लेकर विरेचन कर्म

---

१. अपतर्पण से लेकर विरेचन तक बारह क्रियायें होती हैं—

१. अपतर्पण, २. आलेपन, ३. परिषेक, ४. अभ्यङ्ग, ५. स्वेद, ६. विम्लापन (शोथ के स्थान पर स्वेदन करने के बाद धीरे २ मर्दन), ७. उपनाह, (पुल्टिस), ८. पाचन, ९. शोणितमोक्षण, १०. स्नेहपान, ११. वमन,

तक कर्म करे। पक कर फूट जाने के बाद का उपचार आगे कहते हैं ॥ १६ ॥

भगन्दरे सामान्यचिकित्सा—

एषणीपाटनक्षारवह्निदाहादिकं क्रमम् ।
विधाय व्रणवत्कार्यं यथादोषं यथाबलम् ॥ १७ ॥

भगन्दर में सामान्य चिकित्सा—पके हुए भगन्दर में एषणीपाटन (एषणी के द्वारा छिद्र का पूर्ण ज्ञानकर काटना), क्षारकर्म तथा अग्निकर्म के द्वारा दाह आदि कर्म को करे। उसके बाद दोष तथा बल के अनुसार व्रण के सदृश उपचार करे (जो द्विव्रणीयाधिकार में बताये गये हैं) ॥ १७ ॥

विमर्श—शस्त्र-अग्निक्षार आदि सामान्य चिकित्सा विधि—पककर पिडिका के फूट जाने के बाद गतिमान व्रण हो जाने पर अथवा भगन्दर की अवस्था में प्राप्त रोगी का शस्त्रकर्म करना[1] चाहिए।

रोगी को स्नेहन, स्वेदन करने के बाद शय्या या फलक पर लेटाकर अर्श के समान यन्त्रण कर (सकुचित-जानु कूर्पर में रखकर) शस्त्रकर्म करना चाहिए। इसके बाद गुदा के छिद्र में भगन्दर यन्त्र (रेक्टोस्कोप) डालकर भगन्दर के छिद्र का ठीक २ ज्ञान करे। भगन्दर के अन्तर्मुख के ज्ञान के लिये एषणी का प्रयोग किया जाता है। इसके द्वारा व्रण का मार्ग देखकर एषणी को और ऊपर उठाकर शस्त्र से मलाशय के साथ ही काट देना चाहिए। अन्तर्मुख भगन्दर में भी ऐसे ही भगन्दर यन्त्र को लगाकर ऊपर से मलाशयगत छिद्र के द्वारा एषणी को डाल कर शस्त्र-पातन करे। आवश्यकता के अनुसार अग्निकर्म तथा क्षार का पातन भी किया जाता है।

भगन्दरे त्रिवृताद्युत्सादनम्—

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मञ्जिष्ठा सह सर्पिषा ।
उत्सादनं भवेदेतत् सैन्धवं घृतसंयुतम् ॥ १८ ॥

भगन्दर में त्रिवृताद्युत्सादन—त्रिवृत् (निशोथ), तिल, नागदन्ती[1] (स्थूल मूलवाली दन्ती) तथा मंजीठ इन द्रव्यों को घृत में मिलाकर या केवल सेन्धानमक और घृत मिलाकर भगन्दर में उत्सादन करे ॥ १८ ॥

भगन्दरे रसाञ्जनादिकल्कः—

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठानिम्बपल्लवाः ।
त्रिवृत्तेजोवती दन्ती कल्को नाडीव्रणापहः ॥ १९ ॥

---

१२. विरेचन। इनका विशेष वर्णन शल्यतन्त्र के व्रणशोथ-चिकित्सा के विमर्श में देखें।

१. महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में नागदन्ती नाम से प्रसिद्ध वृक्ष।

भगन्दर में रसाञ्जनादि कल्क—रसाञ्जन, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, नीम का पल्लव, निशोथ, तेजबल तथा दन्ती—इन द्रव्यों का कल्क लेप करने से नाडीव्रण को दूर करता है ॥ १९ ॥

भगन्दरे न्यग्रोधादिगणोपयोगः—

न्यग्रोधादिगणो लेपे हितः शोधनरोपणः।
तैलं घृतं वा तत्पक्वं भगन्दरविनाशनम् ॥ २० ॥

भगन्दर में न्यग्रोधादिगण का उपयोग—यह न्यग्रोधादि गण (वट, पीपल, सदाफल, लोध, पठानी लोध, जामुन, कठ जामुन, अर्जुन, कैथ, सोमवल्क, पाकड़, आम, वेतस, पियाल, पलास, नन्दीवृक्ष, कदम्ब, विरला, मुलेठी तथा महुआ) भगन्दर का शोधन तथा रोपण करने में हितकर है। इन्हीं औषधों से सिद्ध घृत तथा तैल भगन्दर को नाश करता है ॥ २० ॥

भगन्दरे कुष्ठादियोगः—

कुष्ठं त्रिवृत्तिलादन्तीमागध्यः सैन्धवं मधु।
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद् व्रणरोपणम् ॥ २१ ॥

भगन्दर में कुष्ठादि योग—कूठ, निशोथ, तिल, दन्ती, पीपर, सेन्धानमक, मधु, हल्दी, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), तथा तूतिया इन द्रव्यों का लेप भगन्दर का रोपण करने में प्रशस्त है ॥ २१ ॥

भगन्दरे स्नुहीक्षीराद्या वर्तिः—

स्नुह्यर्कदुग्धदार्वीभिर्वर्ति कृत्वा विचक्षणः।
भगन्दरगतिं ज्ञात्वा पूरयेत्तां प्रयत्नतः।
एषा सर्वशरीरस्थां नाडीं हन्यादसंशयम् ॥ २२ ॥

भगन्दर में स्नुहीक्षीराद्या वर्ति—बुद्धिमान् वैद्य सेहुंड का दूध, मदार का दूध तथा दारुहल्दी का कल्क इन तीनों को मिलाकर वर्ति बनावे और भगन्दर नाडी को अन्त तक (आखिरी भाग तक) जानकर (एषणी के द्वारा) उसमें प्रयत्नपूर्वक वर्ति को भर दे। यह वर्ति शरीरगत सभी नाडीव्रणों को निःसन्देह नाश करती है ॥ २२ ॥

भगन्दरे तिलादिकल्कः—

तिलाभयाकुष्ठमरिष्टपत्रं निशे वचा रोध्रमगारधूमः।
भगन्दरे नाड्युपदंशयोश्च दुष्टव्रणे शोधनरोपणोऽयम् ॥ २३ ॥

भगन्दर में तिलादि कल्क—तिल, हर्रे, कूठ, नीम की पत्ती, आमा हल्दी, दारुहल्दी, वचा, लोध तथा भोजनालय का धूम—इन द्रव्यों का कल्क व्रण में लगाने से भगन्दर, नाडीव्रण, उपदंश तथा दुष्ट व्रण में शोधन तथा रोपण करता है ॥ २३ ॥

भगन्दरे मार्जारास्थियोगः—

त्रिफलारसघृष्टेन मार्जारास्थ्ना च लेपनम् ।
भगन्दरं निहन्त्याशु दुष्टव्रणहरं परम् ॥ २४ ॥

भगन्दर में बिलाव के अस्थि का प्रयोग—मार्जार (बिलाव) की हड्डी, त्रिफला, हरें, बहेड़ा, आंवला के रस में घिसकर लेप करने से भगन्दर को शीघ्र ही नाश करती है तथा दुष्टव्रण को अच्छी तरह दूर करती है ॥ २४ ॥

भगन्दरे नवकार्षिको गुग्गुलुः—

त्रिफलापुरकृष्णानां त्रिपञ्चैकांशयोजिता गुटिका ।
कुष्ठभगन्दरनाडीदुष्टव्रणशोधनी कथिता ॥ २५ ॥

भगन्दर में नवकार्षिक गुग्गुलु—त्रिफला (हरें, बहेड़ा, आंवला) तीन भाग, पुर (गुग्गुलु) पांच भाग, पीपर एक भाग—इन द्रव्यों को साथ पीस कर गुटिका बनावे । यह गुटिका कुष्ठ, भगन्दर, नाडीव्रण तथा दुष्ट व्रण को शोधन करनेवाली कही गई है ॥ २५ ॥

भगन्दरे जात्यादिलेपः—

सुमनावटपत्राणि गुडूची विश्वभेषजम् ।
सैन्धवं तक्रपिष्टं तु लेपो हन्ति भगन्दरम् ॥ २६ ॥

भगन्दर में जात्यादि लेप—सुमना (चमेली) की पत्ती तथा वट की पत्ती, गुडूची, सोंठ और सेन्धानमक—इन द्रव्यों को तक्र के साथ पीसकर लेप तैयार करे । यह लेप लगाने से भगन्दर को नाश करता है ॥ २६ ॥

भगन्दरे कतिपययोगाः—

खदिराम्बुरतो भूत्वा कषायं त्रैफलं भजेत् ।
महिषाक्षविडङ्गाभ्यां भगन्दरनिषूदनम् ।
पञ्चतिक्तं घृतं शस्तं तथा गुग्गुलुपूर्वकम् ॥ २७ ॥

भगन्दर में कुछ योग—भगन्दर रोग मे महिषाक्ष (गुग्गुलु) तथा वायविडङ्ग के साथ खैर का रस या त्रिफला (हरें, बहेड़ा, आंवला) का कषाय पान करे । यह भगन्दर को दूर करनेवाला है । गुग्गुलु के साथ पञ्चतिक्त[1] घृत भगन्दर रोग में प्रशस्त है ॥ २७ ॥

भगन्दरे विष्यन्दनं तैलम्—

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलयूहयमारकौ ।
सुधां वचां लाङ्गलकीं हरितालं सुवर्चिकाम् ।
ज्योतिष्मती च संक्षुद्य तैलं धीरो विपाचयेत् ॥ २८ ॥
एतद्विष्यन्दनं नाम तैलं दद्याद्भगन्दरे ।

1. गदनि० प्र० ख० ३९ पृ० में देखें ।

शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा ॥ २९ ॥

भगन्दर में विष्यन्दन तैल—चित्रक, मदार, निशोथ, पाठा (पाढ़ी) मलयू (कठूमर), हयमारक (कनेर), सेहुड़, वच, कलिहारी, हरताल, सुवर्चिका (सज्जीखार) तथा ज्योतिष्मती (प्रियंगु) समभाग—इन द्रव्यों को कूटकर उसके कल्क के साथ (तैल के चतुर्थांश तथा तैल के चौगुने जल में) बुद्धिमान वैद्य तैल-निर्माण-विधि के अनुसार तैल पकावे। इस विष्यन्दन नामक तैल को भगन्दर में प्रयोग करे। यह शोधन, रोपण करता है तथा चमड़े के समान वर्ण को बनाता है ॥ २८-२९ ॥

भगन्दरे करवीराद्यं तैलम्—

करवीरनिशादन्तीलाङ्गलीलवणाग्निभिः ।
मातुलुङ्गार्कवंशाह्वैः पचेत्तैलं भगन्दरे ॥ ३० ॥

भगन्दर में करवीराद्य तैल—कनेर, हल्दी, दन्ती, कलिहारी, सेन्धानमक, चित्रक, बिजौरा नीबू की जड़, मदार तथा वंशपत्री समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल-निर्माण-विधि के अनुसार तैल पकावे और भगन्दर में लेप करे। यह करवीराद्य तैल भगन्दर को नाश करता है ॥ ३० ॥

भगन्दरे खररुधिरादिलेपः—

खररुधिरसमेतं भूलतायाः शरीरं
दृषदि सहितमस्थ्ना सारमेयस्य पिष्टम् ।
भवति समुपलेपादाशु भागन्दरीणा-
मपि विषमतराणामापदां नाशहेतुः ॥ ३१ ॥

भगन्दर में खररुधिरादि लेप—खर (गदहा) के रुधिर के साथ भूलता (केचुआ) का शरीर तथा सारमेय (कुत्ता) की हड्डी पत्थर पर अच्छीतरह पीसकर लेप करे। यह लेप भगन्दर रोग से पीड़ित व्यक्तियों की अत्यन्त भयंकर आपत्तियों (पीड़ाओं) को नाश करता है। अर्थात् यह लेप भगन्दर की पीड़ाओं को शान्त करता है ॥ ३१ ॥

भगन्दरे दन्त्यादिलेपः—

दन्तीनिशामलकलेपितमाशु नाशं
पुंसां भगन्दरमुपैत्यपि दुर्निवारम् ।
क्वाथोदकेन मिलितस्त्रिफलोद्भवेन
पीतः प्रणाशयति तत्खलु गुग्गुलुर्वा ॥ ३२ ॥

भगन्दर में दन्त्यादि लेप—दन्ती, हल्दी तथा आंवला इन औषधों को पीस कर लेप करने से मनुष्यों के भयंकर भी भगन्दर का नाश हो जाता है। या

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के क्वाथ के साथ गुग्गुलु पान करने से भगन्दर रोग का नाश होता है ॥ ३२ ॥

भगन्दरे मार्जारास्थियोगः—

आकृष्य रक्तं जलसर्पिणीभिर्भगन्दरं भूरिकृतप्रलेपम् ।
आखुद्विषोऽस्थ्ना त्रिफलाकषायघृष्टेन नाशं सहसाऽभ्युपैति ॥ ३३ ॥

भगन्दर में मार्जारास्थि—जलसर्पिणी (झोड़ा सापिनि) का रक्त निकाल कर अनेक बार लेप करने से तथा आखुद्विड् (बिलाव) की हड्डी त्रिफला के कषाय के साथ घिसकर लेप करने से भगन्दर रोग शीघ्र ही नाश हो जाता है ॥ ३३ ॥

भगन्दरे कुष्ठादिप्रलेपः—

कुष्ठं फलत्रितयकाञ्चनपुष्करत्व-
ङ्मुस्तावचात्रिकटुकातिविषाजमोदाः ।
गोमूत्रमिश्रितमिदं सकलं गुडेन
कुर्याद् भगन्दरविकारयुतः प्रलेपम् ॥ ३४ ॥

भगन्दर में कुष्ठादि प्रलेप—कूठ, फलत्रितय (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), काञ्चन (नागकेशर), पुष्करमूल, दालचीनी, मोथा, वच, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), कटुकी, अतीस तथा अजमोदा, समभाग—इन द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पीसकर गुड़ मिलाकर भगन्दर के विकार से पीड़ित व्यक्ति के लिये लेप करे। अर्थात् यह लेप भगन्दर को नाश करता है ॥ ३४ ॥

भगन्दरे तिलादिलेपः—

पयःपिष्टैस्तिलैरण्डमधुकैश्च सुशीतलैः ।
भगन्दरे प्रलेपोऽय सरक्ते वेदनावति ॥ ३५ ॥

भगन्दर में तिलादि लेप—तिल, एरण्ड का बीज तथा मुलेठी को दूध के साथ पीसकर रक्तस्राव तथा वेदनायुक्त भगन्दर में शीतल लेप करे ॥ ३५ ॥

आगन्तुभगन्दरचिकित्सा—

सुखोष्णेन च तैलेन सेचयेद् गुदमण्डलम् ।
आगन्तुजे भिषङ्नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः ॥ ३६ ॥
जाम्ब्वौष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया ।
दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः ॥ ३७ ॥
एतत्कर्म समाख्यातं सर्वेषु त्वनुपूर्वशः ।
एषां तु शस्त्रपातेन वेदना यदि जायते ॥ ३८ ॥
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते ।

आगन्तुक भगन्दर की चिकित्सा—आगन्तुक भगन्दर रोग में वैद्य यत्न-

पूर्वक नाडीव्रण (भगन्दर) को शस्त्रकर्मोक्त विधि के अनुसार काट कर थोड़े गरम तैल से गुदा के चारों तरफ सेचन करे। अथवा बुद्धिमान वैद्य अच्छीतरह होकर पूर्वोक्त अग्निकर्म विधि के अनुसार जम्बू के समान ओष्ठवाले लालवर्ण के सदृश संतप्त शलाका से दग्ध करे।

यह कर्म सभी प्रकार के व्रण में क्रमशः बताया गया है। इन सबों में शस्त्रपात[1] करने से वेदना उत्पन्न हो तो वहां गरम अणुतैल से परिषेक करना प्रशस्त होता है।

शतपोनकचिकित्सा—

नाड्यन्तरे व्रणान् कुर्याद्भिषक् च शतपोनके ॥ ३९ ॥
ततस्तेषु प्ररूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत्।

शतपोनक-चिकित्सा—शतपोनक (वातिक भगन्दर) में वैद्य प्रधान नाडी के बीच में व्रण बना दे और उसके भर जाने के बाद शेषनाडी का उपचार करे। अर्थात् शतपोनक में अनेक नाडीव्रण बनते हैं उनमें से एक के रोहण हो जाने पर दूसरे नाडीव्रण को शस्त्रकर्म के द्वारा उपचार करे। इस प्रकार एक के बाद दूसरे का उपचार करना हितकर होता है। एक दूसरे से सम्बद्ध नाडीव्रण में बाहर की तरफ अनेक प्रकार से छेदन किया जा सकता है।

उष्ट्रग्रीवचिकित्सा—

अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत् ॥ ४० ॥
पूतिमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः।
अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः शुक्लैः प्रलेपयेत् ॥ ४१ ॥
बद्ध्वा ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं च सर्पिषा।

उष्ट्रग्रीव की चिकित्सा—उष्ट्रग्रीव (पैत्तिक भगन्दर) में एषणी को नाडी के अन्ततक लेजाकर तथा उसका छेदन कर पूतिमांस के सड़े-गले भागों को दूर करने के लिये क्षार-पातन करे। इसमें अग्निकर्म करना प्रशस्त नहीं माना गया है। इसके बाद घृत-संसृष्ट सफेद तिल का लेप करे और घृत का परिषेक कर बांध दे या बांध कर घृत का परिषेक करे। (प्रति तीसरे दिन पट्टी खोलकर शोधन तथा रोपण करना चाहिए)।

परिस्राविचिकित्सा—

उत्कृत्य स्रावमार्गं तु परिस्राविणि बुद्धिमान् ॥ ४२ ॥
क्षारेणास्रावगति दहेद्द्घुतवहेन वा।
सुखोष्णेन तु तैलेन सेचयेद् व्रणमण्डलम् ॥ ४३ ॥

---

१. शस्त्रपातजन्य वेदना में अणुतैल-परिषेक, वातघ्न-औषधों से बाष्पस्वेद तथा नाडीस्वेद और उष्णोदक में बैठाने से वेदना शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

पारिस्रावी की चिकित्सा—बुद्धिमान वैद्य परिस्रावी भगन्दर में स्रावमार्ग को काटकर क्षार से या अग्नि से स्राव की गति (नाड़ी) को दग्ध करे। और थोड़ा गरम तैल से व्रणमण्डल का सेचन करे ॥ ४२–४३ ॥

भगन्दरे विडङ्गादियोगः—

विडङ्गदन्तीत्रिवृताश्रृत क्वतो पिबेदमु योगवरं भगन्दरी ।

भगन्दर में विडङ्गादियोग—भगन्दर रोग से पीडित कर्तव्य-परायण व्यक्ति वायविडङ्ग, दन्ती तथा निशोथ के क्वाथ को पान करे।

भगन्दरे मांस्यादियोगः—

मांसी सकुष्ठा गिरिकर्णिका तिला
प्रियङ्गुका लाङ्गलकी सतिल्वका ।
भगन्दरे शोधनमेतदादिशे-
त्तथैव तूत्सादजमेतदेव च ॥ ४४ ॥

भगन्दर में मांस्यादि योग—जटामांसी, कूठ, गिरिकर्णिका (अपराजिता), तिल, प्रियंगु, कलिहारी तथा तिल्वक वृक्ष की छाल, इन औषधों से भगन्दर में शोधन करे तथा इन्हीं द्रव्यों से उत्सादन करे ॥ ४४ ॥

भगन्दरे कालादिवर्तियोगः—

कालारग्वधरजनीचूर्णं मधुघृतप्लुतम् ।
अग्रवतिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥ ४५ ॥

भगन्दर में कालादिवर्ति योग—काला (मंजीठ), अमलतास तथा हल्दी का चूर्ण मधु में मिलाकर अग्रवर्ति (नोकदार वर्ति) बनावे और भगन्दर में लगावे। यह व्रणों को शोधन करने में प्रशस्त है ॥ ४५ ॥

भगन्दरेऽमृतादिगुग्गुलुः—

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं कलिपथ्यामलकानि गुग्गुलुः ।
क्रमवृद्धमिदं मधुद्रुतं पिडकास्थौल्यभगन्दराञ्जयेत् ॥ ४६ ॥

भगन्दर में अमृतादि गुग्गुलु—गुडूची एक भाग, इलायची दो भाग, वायविडङ्ग तीन भाग, कोरैया की छाल चार भाग, बहेड़ा पांच भाग, हर्रे छः भाग, आंवला सात भाग तथा गुग्गुलु आठ भाग—इन द्रव्यों को कूटकर मधु मिलाकर गुग्गुलु वटी स्थूलता तथा भगन्दर को जीत लेती है ॥ ४६ ॥

भगन्दरे गुग्गुल्वादियोगः—

गुग्गुलुपञ्चपलं पलिकांशा मागधिका त्रिफला च तथैव ।
त्वक्त्रुटिकर्षयुतं मधुलीढं कुष्ठभगन्दरगुल्मगतिघ्नम् ॥ ४७ ॥

भगन्दर में गुग्गुल्वादि योग—गुग्गुलु पांच पल (पांच पल), पीपर एक पल (एक छटांक), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) एक छटांक, दालचीनी

तथा इलायची एक एक कर्ष (तो०)—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर चाटे। यह योग कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म रोग तथा नाडी को नाश करता है ॥ ४७ ॥

भगन्दरे खदिरसारादियोगः—

उत्तमं खदिरसाररजः शीलयन्नसनवारिभावितम् ।
हन्ति तुल्यमहिषाक्षमाक्षिकं कुष्ठमेहपिटिकाभगन्दरान् ॥ ४८ ॥

भगन्दर में खदिरसारादि योग—उत्तम खैरसार का चूर्ण, असन (विजयसार) के जल से भावित कर तथा समभाग गुग्गुलु एवं मधु मिलाकर सेवन करने से यह योग कुष्ठ, प्रमेहपिडिका और भगन्दर रोग को नाश करता है ॥ ४८ ॥

भगन्दरे निशाद्यं तैलम्—

निशार्कोशीरसीध्वग्निहपुषाश्वघ्नवत्सकैः ।
सिद्धमभ्यञ्जनात्तैलं भगन्दरहरं परम् ॥ ४९ ॥

भगन्दर में निशाद्य तैल—हल्दी, मदार, खस, सीधु (मद्यविशेष), चित्रक, हाऊबेर, अश्वघ्न (कनेर) तथा कोरैया की छाल—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) अभ्यञ्जन करने से भगन्दर को अच्छी तरह दूर करता है ॥ ४९ ॥

भगन्दरेऽपामार्गादिक्षारः—

अपामार्गात्पलाशाच्च कदलीकन्दकात्तथा ।
युगपद् द्रोणमादाय सुविशुद्धस्य भस्मनः ॥ ५० ॥
अग्नावत्यन्ततप्तेषु षड्द्रोणेष्वम्भसां पचेत् ।
क्वाथः सपिच्छिलो रक्तः स्वच्छो यावद्विभाव्यते ॥ ५१ ॥
उष्णमेव समादाय तं वारानेकविंशतिम् ।
गालयित्वा प्रयत्नेन कटाहे कृष्णलोहजे ॥ ५२ ॥
कुडवद्वयमावाप्य स्वर्जिकायाः पुनः पचेत् ।
निक्षिप्य वह्नौ दग्धायाः शङ्खनाभेः पलाष्टकम् ॥ ५३ ॥
श्लक्ष्णपिष्टं तु विपचेद्यावत्स्याद् बुद्बुदागमः ।
नातिसान्द्रं न चात्यच्छमवतार्य च तं पुनः ।
उष्णमेव निदध्याच्च लौह एव हि भाजने ॥ ५४ ॥
भगन्दरेषु चार्शःसु नाडीदुष्टव्रणेषु च ।
यथाविधि प्रयोक्तव्यो भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ ५५ ॥

भगन्दर में अपामार्गादिक्षार—अपामार्ग, पलाश तथा केला के कन्द की शुद्ध भस्म (क्षार) कुल मिलाकर एक द्रोण लेकर अत्यन्त गरम छः द्रोण

पारिस्रावी की चिकित्सा—बुद्धिमान वैद्य परिस्रावी भगन्दर में स्रावमार्ग को काटकर क्षार से या अग्नि से स्राव की गति (नाड़ी) को दग्ध करे। और थोड़ा गरम तैल से व्रणमण्डल का सेचन करे ॥ ४२-४३ ॥

भगन्दरे विडङ्गादियोगः—

विडङ्गदन्तीत्रिवृताशृत कृतो पिवेदमुं योगवरं भगन्दरी ।

भगन्दर में विडङ्गादियोग—भगन्दर रोग से पीडित कर्तव्य-परायण व्यक्ति वायविडङ्ग, दन्ती तथा निशोथ के क्वाथ को पान करे।

भगन्दरे मांस्यादियोग.—

मांसी सकुष्ठा गिरिकर्णिका तिला
प्रियङ्गुका लाङ्गलकी सतिल्वका ।
भगन्दरे शोधनमेतदादिशे-
त्तथैव तूत्सादजमेतदेव च '' ४४ ॥

भगन्दर में मांस्यादि योग—जटामांसी, कूठ, गिरिकर्णिका (अपराजिता), तिल, प्रियंगु, कलिहारी तथा तिल्वक वृक्ष की छाल, इन औषधों से भगन्दर में शोधन करे तथा इन्हीं द्रव्यों से उत्सादन करे ॥ ४४ ॥

भगन्दरे कालादिवर्तियोगः—

कालारग्वधरजनीचूर्णं मधुघृतप्लुतम् ।
अग्रवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥ ४५ ॥

भगन्दर में कालादिवर्ति योग—काला (मंजीठ), अमलतास तथा हल्दी का चूर्ण मधु में मिलाकर अग्रवर्ति (नोकदार वर्ति) बनावे और भगन्दर में लगावे। यह व्रणों को शोधन करने में प्रशस्त है ॥ ४५ ॥

भगन्दरेऽमृतादिगुग्गुलुः—

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं कलिपथ्यामलकानि गुग्गुलुः ।
क्रमवृद्धमिदं मधुद्रुतं पिडकास्थौल्यभगन्दराञ्जयेत् ॥ ४६ ॥

भगन्दर में अमृतादि गुग्गुलु—गुडूची एक भाग, इलायची दो भाग, वायविडङ्ग तीन भाग, कोरैया की छाल चार भाग, बहेड़ा पांच भाग, हर्रे छः भाग, आंवला सात भाग तथा गुग्गुलु आठ भाग—इन द्रव्यों को कूटकर मधु मिलाकर गुग्गुलु वटी स्थूलता तथा भगन्दर को जीत लेती है ॥ ४६ ॥

भगन्दरे गुग्गुल्वादियोगः—

गुग्गुलुपञ्चपलं पलिकांशा मागधिका त्रिफला च तथैव ।
त्वक्त्रुटिकर्षयुत मधुलीढं कुष्ठभगन्दरगुल्मगतिघ्नम् ॥ ४७ ॥

भगन्दर में गुग्गुल्वादि योग—गुग्गुलु पांच पल (पांच पल), पीपर एक पल (एक छटांक), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) एक छटांक, दालचीनी

तथा इलायची एक २ एक कर्ष (तो०)—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर चाटे। यह योग कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म रोग तथा नाडी को नाश करता है ॥ ४७ ॥

भगन्दरे खदिरसारादियोगः—

उत्तमं खदिरसाररजः शीलयन्नसनवारिभावितम् ।
हन्ति तुल्यमहिषाक्षमाक्षिकं कुष्ठमेहपिटिकाभगन्दरान् ॥ ४८ ॥

भगन्दर में खदिरसारादि योग—उत्तम खैरसार का चूर्ण, असन (विजयसार) के जल से भावित कर तथा समभाग गुग्गुलु एवं मधु मिलाकर सेवन करने से यह योग कुष्ठ, प्रमेहपिडिका और भगन्दर रोग को नाश करता है ॥ ४८ ॥

भगन्दरे निशाद्यं तैलम्—

निशार्कक्षीरसीध्वग्निहपुषाश्वघ्नवत्सकैः ।
सिद्धमभ्यञ्जनात्तैलं भगन्दरहरं परम् ॥ ४९ ॥

भगन्दर में निशाद्य तैल—हल्दी, मदार, खस, सीधु (मद्यविशेष), चित्रक, हाऊबेर, अश्वघ्न (कनेर) तथा कोरैया की छाल—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) अभ्यञ्जन करने से भगन्दर को अच्छी तरह दूर करता है ॥ ४९ ॥

भगन्दरेऽपामार्गादिक्षारः—

अपामार्गात्पलाशाच्च कदलीकन्दकात्तथा ।
युगपद् द्रोणमादाय सुविशुद्धस्य भस्मनः ॥ ५० ॥
अग्नावत्यन्ततप्तेषु षड्द्रोणेष्वम्भसां पचेत् ।
क्वाथः सपिच्छिलो रक्तः स्वच्छो यावद्विभाव्यते ॥ ५१ ॥
उष्णमेव समादाय तं वारानेकविंशतिम् ।
गालयित्वा प्रयत्नेन कटाहे कृष्णलोहजे ॥ ५२ ॥
कुडवद्वयमावाप्य स्वर्जिकायाः पुनः पचेत् ।
निक्षिप्य वह्नौ दग्धायाः शङ्खनाभेः पलाष्टकम् ॥ ५३ ॥
श्लक्ष्णपिष्टं तु विपचेद्यावत्स्याद् बुद्बुदागमः ।
नातिसान्द्रं न चात्यच्छमवतार्य च तं पुनः ।
उष्णमेव निदध्याच्च लौह एव हि भाजने ॥ ५४ ॥
भगन्दरेषु चार्शःसु नाडीदुष्टव्रणेषु च ।
यथाविधि प्रयोक्तव्यो भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ ५५ ॥

भगन्दर में अपामार्गादिक्षार—अपामार्ग, पलाश तथा केला के कन्द की शुद्ध भस्म (क्षार) कुल मिलाकर एक द्रोण लेकर अत्यन्त गरम छः द्रोण

जल में पकावे। तब तक पकावे जब तक क्षाय पिच्छिल, रक्त वर्ण का, स्वच्छ न हो जाय। इसके बाद इसको गरम गरम लेकर काले लोहे की कड़ाही में एक्कीस बार कपड़ा से छान ले और स्वर्जिक्षार दो कुडव (आधा सेर) मिलाकर पुनः पकावे। इसी में शंखनाभि की भस्म आठ पल (आठ छटाक) मिला दे और बुद्बुद आने तक पकावे। जब वह न अत्यन्त गाढ़ा और न पतला हो तो उतार कर गरम गरम लोहा के वर्तन में रख दें। इस क्षार को पूर्वोक्त विधि के अनुसार सिद्धि को चाहने वाला वैद्य भगन्दर, अर्श, नाडीव्रण तथा दुष्टव्रण में प्रयोग करे॥ ५०–५५॥

भगन्दरे वर्ज्यानि—

व्यायामं मैथुनं युद्धं दुष्टयानं गुरूणि च।
संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः॥ ५६॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
भगन्दराधिकारः सप्तमः॥ ७॥

भगन्दर में निषेध—व्रण के भर जाने के बाद एक वर्ष तक मनुष्य व्यायाम, मैथुन, युद्ध, दुष्ट सवारी तथा गुरु पदार्थों का सेवन न करे॥ ५६॥

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्यतन्त्र में
सातवां भगन्दर-अधिकार समाप्त।

अथोपदंशाधिकारोऽष्टमः ।

अथात उपदंशनिदानं व्याख्यास्यामः ।

भगन्दर के बाद उपदंश का निदान कहते हैं ।

उपदंशस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः—

हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनादत्यतिसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

उपदंश का निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—हाथों से शिश्न का मर्दन करते समय आघात लग जाने से, नाखून तथा दांत के लग जाने से, शिश्न का अच्छी तरह प्रक्षालन न होने से और अत्यधिक मैथुन करने से, दुष्टयोनि (रजस्वला, कठोर रोमवाली एवं अखण्ड योनि) के संसर्ग एवं अन्य-अपचार (अशुद्ध जल से प्रक्षालन तथा ब्रह्मचारिणी के साथ सहवास आदि) कुपथ्य आदि करने से लिङ्ग में पांच प्रकार के उपदंश रोग होते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—दूषितयोनि के सहवास से मैथुनजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। [1]चरक ने इनको ध्वजभङ्ग नाम से वर्णन किया है। सुश्रुतकार इसको उपदंश के नाम से व्यवहृत करते हैं। इसकी उत्पत्ति के अनेक कारणों में मुख्य तीन कारण हैं १ मैथुन २. क्षत ३. वेगावरोध ।

१. मैथुन—अत्यधिक मैथुन के साथ साथ स्त्रीयोनि की अस्वच्छता, रजस्वला, कठोर रोम तथा बहु रोम होना भी आवश्यक है। साथ ही अस्वच्छ योनि तथा योनिरोग (उपदंश) से पीड़ित स्त्री के साथ मैथुन करने से उपदंश रोग उत्पन्न होता है। [2]सुश्रुत ने दुष्टयोनि के साथ अन्य विशेषणों को भी दिया है।

---

१. दीर्घरोमां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ।
दुर्गन्धां दुष्टयोनिञ्च तथैव च परिस्रुताम् ॥
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत् कामहर्षितः ।
चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ॥
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ।
काष्ठप्रहारनिक्षेपाच्छूकानां चातिसेवनात् ॥
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ।
श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपजायते ॥
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ।
मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥ (च० चि० ३९)

२. तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद् वा तथा अतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां,

२. क्षत—नाखून, दांत तथा विपलिस शूक (शिरनार्बुद) योग, लंगोट आदि के बन्धन से क्षत हो जाने के कारण उपदंश हो जाता है। उपदंश में किसी भी कारण से क्षत का होना आवश्यक है जिसके द्वारा उपदंश के जीवाणुओं का प्रवेश हो सके। यह क्षत 'अस्वाभाविक मैथुन तथा सहवास काल में कलह आदि के कारण नखदन्त-घात आदि से क्षत हो जाता है। कभी-कभी अदृश्य क्षत से भी जीवाणुओं का संक्रमण होकर उपदंश होता है।

(३) शुक्र एवं मूत्र के वेग को रोकने से भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है।

आधुनिक वैद्य इसको साफ्ट शंकर (Soft chancre) कहते हैं। इसके प्रधान कारण 'वेसल आफ डयूक्रे' नामक जीवाणु है। इसके जीवाणु को सर्वप्रथम डयूक्रे ने पता लगाया था (सन् १८९९ ई० म) सहायक कारणों में उपदंशोपसर्गयुक्त स्त्री के साथ मैथुन तथा क्षत ये दो आते हैं। उपदंश-पीड़ित स्त्री के साथ मैथुन करने से क्षत होने पर उसके द्वारा जीवाणु प्रविष्ट होते हैं और उपदंश उत्पन्न होता है। उसका संचयकाल (संक्रमण से लेकर लक्षणोत्पत्ति तक का काल) तीन से सात दिन तक होता है। उपदंशोपसृष्ट स्त्री के साथ मैथुन करने से स्त्री-पुरुष दोनों को यह रोग होता है।

उपदंश के निम्न लिखित सामान्य लक्षण होते हैं।

इसमें संक्रमण से चार या पांच दिन के बाद जननेन्द्रिय पर स्फोटक दिखाई देते हैं। और इसके फूटनेपर व्रण बन जाता है।

लक्षण—१. किनारे साफ कटे हुए होते हैं। २. व्रण मृदु प्रकार के होते हैं अतः इसे साफ्ट शंकर कहते हैं। ३. गाढ़ा, पीतवर्ण का रक्तयुक्त स्राव निकलता हैं। ४. यह हमेशा जननेन्द्रिय पर होता है—पुरुषों में शिश्नमणि की त्वचा का बाह्यभाग, और सीवनी तथा मणि के आन्तरिक मूत्रमार्ग में इसके व्रण बनने है। स्त्रियों में भगशिश्निका और लघुभगोष्ठ पर इसके व्रण बनते हैं। ५. यह विसर्पी प्रकार का होता है। समीप के अन्य अङ्गों में स्राव लगने पर फैलता है। कभी कभी अनेक व्रण मिलकर एक व्रण बन जाता है। ६. वंक्षण ग्रन्थि में शोथ होता है जो व्रण की ग्रन्थि की ओर होता है। ७. व्रण के समीप का

रजस्वलां, दीर्घरोमां, संकीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्षयसलिलप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतोऽपि वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य ॥ सु० नि० १२।

१. शास्त्रस्य विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः।
प्रवृत्ते रतिचक्रे तु न शास्त्रं नापि च क्रमः॥
(का० सू० सां अ० २)

स्थान लालिमायुक्त होता है। इसमें यदि ठीक २ उपचार किया जाय और स्वच्छता रक्खी जाय तो तीन या चार सप्ताह में इसके व्रण भर जाते हैं। लापरवाही करने से व्रणोत्पत्ति का क्रम बराबर चलता रहता है। वंक्षण की ग्रन्थियां भी शोथयुक्त हो जाती हैं शिश्नमणि की त्वचा आदि गलकर गिरने लगते हैं। यह असाध्य होता है या कृच्छ्रसाध्य होता है।

वातजादिभेदेनोपदंशलक्षणानि—

सतोदभेदस्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत्पवनोपदंशम्।
पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन रक्तात् पिशितावभासैः॥ २॥

वातादि भेद से उपदंश के लक्षण—वातजन्य उपदंश में सूई से चुभोने के समान पीड़ा, भेदन तथा फड़कन होती है। स्फोटकों का वर्ण काला होता है। पैत्तिक उपदंश के फोड़े पीतवर्ण, क्लेद तथा दाह से युक्त होते हैं। रक्तज उपदंश के स्फोटक मांस के समान अथवा कृष्णवर्ण के और रक्तस्राव करानेवाले होते हैं। इनके अन्य लक्षण पैत्तिक उपदंश के समान होते हैं॥ २॥

सकण्डुरैः शोफयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनस्रावयुतैः कफेन।
नानाविधस्रावरुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम्॥ ३॥

कफज उपदंश में खुजली तथा सूजन से युक्त, सफेद वर्ण के तथा गाढ़ा स्राव करानेवाले, बड़े स्फोटक होते हैं। त्रिदोषज में अनेक प्रकार के स्राव तथा पीड़ायें होती हैं उसे असाध्य समझना चाहिए॥ ३॥

उपदंशस्यासाध्यलक्षणम्—

प्रशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च।

उपदंश के असाध्य लक्षण—जिस उपदंश-पीड़ित रोगी के लिंग का मांस सड़कर गिरने लगे या क्रिमियों से भक्षण कर लिया गया हो और केवल अण्डकोष ही शेष रह गया हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए।

संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोफक्रिमिदाहपाकैः प्रशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन॥ ४॥

उपदंश रोग के उत्पन्न होने पर भी जो अज्ञानी रोगी मैथुनासक्त रहता है और चिकित्सा नहीं करता है उसका शिश्न कुछ समय बाद शोथ, क्रिमि, दाह तथा पाकयुक्त होकर और सड़कर गिरने लगता है। जिससे रोगी मर जाता है॥ ४॥

लिङ्गार्शोलक्षणम्—

अङ्कुरैरिव सञ्जातैरुपर्युपरि संस्थितैः।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा॥ ५॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगतापि वा।

सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा ॥
लिङ्गवर्तिरिति ख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ६ ॥
इत्युपदंशनिदानं समाप्तम् ॥

लिंगार्श का लक्षण—अंकुरों के सदृश लम्बे, एक दूसरे के ऊपर चढ़े हुए मांस के संवर्द्धनों से क्रमशः कोष (शिश्नचर्म) के अन्दर शिश्नमणि के छेद के पास या सम्पूर्ण शिश्न के छिद्र पर मुर्गे की शिखा के समान एक वर्ति सी उत्पन्न होती है और यह त्रिदोषज होती है। इसमें पीड़ा तथा पिच्छिलता होती है। इसे कृच्छ्रसाध्य समझे। इसको कुछ लोग 'लिङ्गवर्ति' या 'लिङ्गार्श' कहते हैं ॥ ५–६ ॥

विमर्श—सुश्रुत[1] ने भी अर्श-प्रकरण में इसका वर्णन करते हुए लिंगार्श ही नाम दिया है। यह स्त्रियों की योनि में भी उत्पन्न होता है।

उपदंश के ही समान एक और रोग मिलता है जिसको 'फिरंग' कहते हैं। इसका वर्णन आर्षग्रन्थों में नहीं मिलता है। इसका वर्णन सर्वप्रथम भाव-प्रकाशकार ने किया है। इसको उन्होंने बताया है कि यह फिरंग नामक देश में अधिक होता है अतः इसका नाम फिरंग रक्खा गया है। यह संक्रामक रोग है

---

१. प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिन् क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहा पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वम् योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवं च।
(सु० नि० २)

२. फिरंगसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद् भवेत्।
तस्मात् फिरंग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः॥
गन्धरोगः फिरंगोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्।
फिरंगिनोऽङ्गसंसर्गात् फिरंगिण्याः प्रसंगतः॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः।
भवेत्तल्लक्षयेत् तेषां लक्षणैः भिषजां वरः॥
आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयन्ति
(च० सू०)

फिरंगस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा।
बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिंगानि च ब्रुवे॥
तत्र बाह्यः फिरंगः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्।

जो फिरङ्ग-पीड़ित पुरुष के सहवास से स्त्री को तथा फिरंग-पीड़िता स्त्री के संसर्ग से पुरुष को होता है। यह रोग बाहरी जीवाणुओं से होता है अतः उसे 'आगन्तुज' कहते हैं किन्तु इसमें दोषों के संसर्ग हो जाने से उन दोषों के लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए।

यह तीन प्रकार का होता है बाह्य, आभ्यन्तर तथा उभयविध। बाह्य फिरङ्ग फोड़े के सदृश निकलते हैं जिसमें पीड़ा कम होती है फूटने के बाद वैद्यों ने उसे साध्य माना है। आभ्यन्तर फिरङ्ग सन्धिगत होता है इसमें आमवात के सदृश पीड़ा तथा शोथ उत्पन्न होता है। यह कष्टसाध्य होता है। इसमें कृशता, बलहानि, नासाभंग (नासिका-वंशका नीचे झुक जाना) अग्निमान्द्य, अस्थिशोष तथा अस्थिवक्रता होती है। उपद्रव-रहित नवीन फिरङ्ग साध्य होता है। आभ्यन्तर कष्टसाध्य होता है तथा क्षीण रोगी का बाह्य तथा आभ्यन्तर, उभयविध प्रकार असाध्य होता है।

आधुनिक-दृष्टि से फिरङ्ग के दो कारण होते है।

१. प्रधान कारण—लालकण के समान तथा लम्बा तथा कुण्डलित जीवाणु इसका कारण होता है जिसे ट्रिपोनिमा पैलिडम (Triponema Palidum) कहते हैं। यह शिश्न की क्षत-त्वचा से प्रवेश करता है।

२. सहायक कारण—इसमें मैथुन या वंश-परम्परा सहायक कारण होते है। वंश-परम्परा से सहज फिरङ्ग होता है। इसके जीवाणु फिरङ्गी के वीर्य में उपस्थित रहते हैं जिससे यह रोग होता है। फिरङ्ग रोग की तीन अवस्थायें होती हैं।

१. प्रथम अवस्था—इसको भावप्रकाश के बाह्यगत भेद में रख सकते हैं। इसमें केवल स्थानीय लक्षण होते हैं। सामान्यतः संसर्ग के बाद तीसरे सप्ताह

स्फुटितो व्रणवद्वैद्यैः सुखसाध्योऽपि सो मतः।
सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम्।
शोफं च जनयेदेवं कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः॥
कार्श्यं बलक्षयो नासाभंगो वह्नेश्च मन्दता।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरंगोपद्रवा अमी॥
बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः।
आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः॥
बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैः पुनः।
व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽमित्याहुर्मुनयः पुरा॥ (भावप्रकाश)

में इसके दाने शिश्न पर निकलते हैं। इस रोग का प्रारम्भ यहीं से होता है। पुनः दाना फूट कर व्रण बन जाता है इसमें पुरुषों के शिश्नचर्म के अग्रभाग में तथा स्त्रियों के बृहद् भगोष्ठ के भीतर व्रण बनता है। यह संख्या में एक होता है। आकार में गोल तथा कड़ा होता है। व्रण से लसिका स्राव होता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर उसमें जीवाणुओं की उपस्थिति मिलती है। इसके स्राव लग जाने पर शरीर के अन्य अंग जैसे ओष्ठ, स्तन, अंगुली तथा जिह्वा पर इसके दाने पड़ जाते हैं।

२. दूसरी अवस्था—इस अवस्था में विष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और विकृति उत्पन्न करता है। प्रथमावस्था के व्रण उत्पन्न होने के तीन से आठ सप्ताह के अन्दर इसके लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। यह अवस्था दो वर्ष बाद तक चली जाती है। उपेक्षा करने पर बलहीन रोगियों में भयंकर स्वरूप के लक्षण होते हैं। इस अवस्था में शरीर की त्वचा पर दाने निकलने लगते हैं। ये वर्ण तथा आकार में समान होते हैं, तथा शरीर के दोनों तरफ समान भाग में होते हैं। ये स्वयं ठीक हो जाते हैं और इसके स्थान पर लाल चिह्न रह जाता है। इसमें वेदना तथा खुजली नहीं होती है। बाह्य त्वचा की तरह ओष्ठ, जिह्वा, तालु तथा कपोल की श्लेष्मल कला पर भी छाले पड़ते हैं। ये छाले आकार में गोल, भस्म के वर्ण के समान तथा उसके किनारे साफ कटे हुए होते हैं। त्वचा श्लेष्मल कला के गीले स्थान (गुदा तथा भगोष्ठ) में भी बड़ा छाला बन जाता है। कक्षा, कुहनी, ग्रीवा तथा वंक्षण की लसिका-ग्रन्थियाँ शोथयुक्त हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त निम्न सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। ज्वर, शिरःशूल पाण्डुता तथा दौर्बल्य, सन्धिशूल (रात्रि में विशेष), कनीनिक रोग तथा बालों का गिरना।

३. तीसरी अवस्था—यह अवस्था व्रण की अवस्था के छः मास बाद प्रारम्भ हो सकती है किन्तु सामान्यतः दो या तीन वर्ष बाद प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में शरीर के विभिन्न त्वचा, उपत्वचा, लसीका-ग्रन्थि, अस्थ्यावरण, अस्थि, पेशी, यकृत्, प्लीहा तथा अण्डकोष की ग्रन्थि आदि में ग्रन्थियां बनने लगती हैं। इन्हें गमा या गोन्दार्बुद कहते हैं।

इसमें त्वचा के समीप होने पर फूटने से शुष्क सफेद पदार्थ निकलता है। सड़ने पर फूटने से गोंद के सदृश स्राव निकलता है। नासाभग्न हो जाता है। तालुविदार, पक्षाघात या पङ्गुत्व, श्रवणशक्ति तथा दृष्टिशक्ति का नाश, जिह्वा-विदार तथा रक्तवाहिनियों की दीवार मोटी हो जाती है और इसमें रक्त का दाब चढ़ जाता है। इसका विस्तृत वर्णन अर्वाचीन ग्रन्थों में मिलता है।

फिरंगज तथा उपदंशजव्रण में भेद

फिरंगजव्रण	उपदंशजव्रण
१. मैथुन के बाद तीसरे सप्ताह में दाना निकलता है।	१. तीसरे दिन या चौथे दिन दाना प्रारम्भ होता है।
२. यह सामान्यतः एक होता है।	२ इसके दाने अनेक होते हैं।
३. व्रण तरुणास्थि के समान कठोर होता है।	३. व्रण मृदु होता है।
४. दाहरहित लसीकायुक्त स्राव होता है।	४. रक्त एवं पूयमय स्राव तथा दाह होता है।
५. किनारे साफ तथा पोले नहीं होते और न तो उन्नत होते हैं।	५. व्रण के किनारे साफ कटे हुए पोले तथा उन्नत होते हैं।
६. पीड़ा नहीं होती है।	६. व्रण में अत्यधिक वेदना होती है।
७. व्रण के दोनों तरफ की ग्रन्थियां शोथयुक्त होती हैं।	७. केवल व्रण के तरफ की वंक्षण-ग्रन्थि शोथयुक्त होती है।
८. चिकित्सा न करने से स्थानिक लक्षण शान्त हो जाते हैं किन्तु सार्वदेहिक लक्षण उपस्थित रहते हैं।	८. उपेक्षा से स्थानीय धातुओं का अधिक नाश होता है। सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।
९. स्राव को सूचिका-द्वारा प्रवेश करने पर समान व्रण पैदा नहीं होता।	९. इसमें समान व्रण पैदा हो जाता है।
१०. स्राव में ट्रिपोनिया पैडिला नामक जीवाणु मिलता है।	१०. इसके स्राव में वेसिलस डयूक्रे नामक जीवाणु मिलता है।

मैथुनजन्य एक और भी रोग होता है जिसे औपसर्गिक पूयमेह या गनोरिया (Gonorrhaea) कहते हैं।

इस रोग के कारण गोनोकोको (Gonococcus) नामक जीवाणु है। पूयमेह से पीड़ित व्यक्ति के संसर्ग से ये जीवाणु शरीर में प्रवेशकर मूत्रमार्ग में शोथ उत्पन्न कर देते हैं। मैथुन के लगभग आठ दिन के पश्चात् लक्षण प्रारम्भ होते हैं। इसमें मूत्रमार्ग में लालिमा तथा सूजन होती है, मूत्र त्यागते समय पीड़ा, मूत्रमार्ग-द्वारा रक्तमिश्रित स्राव तथा कटिभाग में भारीपन, मलावरोध तथा ज्वर ये लक्षण होते हैं। चिकित्सा न करने पर तीन-चार सप्ताह में रोग की तीव्रावस्था समाप्त हो जाती है और रोग जीर्णस्वरूप हो जाता है।

यह रोग बढ़कर ऊपर तथा अन्दर की ओर पौरुष ग्रन्थि तथा वस्ति आदि में सूजन उत्पन्न करता है। इसका जीवाणु रक्त में प्रवेश कर सन्धि और हृदय में भी शोथ उत्पन्न करता है। इससे पूयमेह, वातरक्त या गठिया की उत्पत्ति होती है। मूत्रमार्ग में व्रणरोपण होने के बाद संकोच हो जाता है और कभी-कभी मूत्रमार्ग पूर्णतया बन्द हो जाता है जिससे मूत्र त्यागने में कष्ट होता है।

स्त्रियों में यह फैलकर गर्भाशय बीजवाहिनी, बीजकोष तथा पेट में भी पहुँच जाता है। उसके कारण इन अंगों में सूजन होती है। उदर में उदरावरण शोथ होता है। गर्भवती स्त्री के पूयमेह-पीड़ित होने पर प्रसव के समय शिशु के आँखों में पूय लगने से अभिष्यन्द रोग होता है। इसको नवजात नेत्राभिष्यन्द कहते हैं। नवजात शिशु की आँखें साफ करके सिल्वर नाइट्रेट २ प्रतिशत घोल की दो बूँदें डालनी चाहिए। अन्यथा बच्चे की आँखें खराब हो जाती हैं। इसका विस्तृत वर्णन पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थों में देखें।

उपदंश का निदान समाप्त।

अथात उपदंशचिकित्सां व्याख्यास्यामः।

उपदंश-निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं

उपदंशे सामान्यचिकित्सा—

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य ध्वजमध्ये शिराव्यधः।
जलौकापातनं च स्यादूर्ध्वाधःशोधनं तथा॥ ७॥

उपदंश में सामान्य चिकित्सा—उपदंश रोग में रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद ध्वज (शिश्न) के मध्य में शिराव्यध (शिराछेदन द्वारा रक्त हरण) या जलौका (जोंक लगाना) और वमन-विरेचन द्वारा ऊर्ध्वाधः संशोधन करे॥ ७॥

सद्योपहृतदोषस्य रुक्शोफावपि शाम्यतः।
पाको रक्ष्यः प्रयत्नेन शिश्नक्षयकरो हि सः॥ ८॥

तदनन्तर शीघ्र ही दोषों के दूर हो जाने पर तथा पीड़ा एवं शोथ के शान्त हो जाने पर पकने से बचाना चाहिए क्योंकि वह पाक शिश्न को नष्ट करने वाला है॥ ८॥

पटोलनिम्बत्रिफलागुडूचीक्वाथं पिबेद्वा खदिरासनाभ्याम्।
सगुग्गुलुं वा त्रिफलायुतं वा सर्वोपदंशापहरः प्रयोगः॥ ९॥

परवल की जड़, नीम, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), गुडूची के क्वाथ या खैर एवं विजयसार के क्वाथ के साथ गुग्गुलु अथवा त्रिफला चूर्ण मिलाकर पान करे। यह प्रयोग सभी प्रकार के उपदंश को दूर करनेवाला है॥ ९॥

वातजोपदंशचिकित्सा—

प्रपौण्डरीकं मधुकं रास्ना कुष्ठं पुनर्नवा।
सरलागुरुभद्राक्षैर्वातजं संप्रलेपयेत् ॥ १० ॥

वातज उपदंश की चिकित्सा—प्रपौण्डरीक, मुलेठी, रासन, कूठ, पुनर्नवा, सरल (देवदारु), अगर, भद्रा (मोथा) तथा बहेड़ा—इन द्रव्यों के कल्क से वातजन्य उपदंश को लेप करे ॥ १० ॥

पैत्तिकोपदंशचिकित्सा—

निम्बार्जुनाश्वत्थकरञ्जकालाजम्बूवटोदुम्बरवेतसेषु ।
प्रक्षालनालेपघृतानि कुर्याच्चूर्णांश्च पित्तास्रभवोपदंशे ॥ ११ ॥

पैत्तिक उपदंश की चिकित्सा—नीम, अर्जुन, पीपल, करञ्ज, काला (मंजीठ), जामुन, वट, गूलर तथा वेतस—इन द्रव्यों का प्रक्षालन, आलेपन इनके कल्क के साथ घृत सिद्ध करें तथा चूर्ण बनावे और पित्त-रक्तजन्य उपदंश में प्रयोग करे ॥ ११ ॥

कफजोपदंशचिकित्सा—

शालाजकर्णाश्वकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम् ।
सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत् ॥ १२ ॥

कफजन्य उपदंश की चिकित्सा—शाल (राल), अजकर्ण (शाल-साखू भेद), अश्वकर्ण (साखू) तथा धव की छाल, सुरा के साथ पीसकर थोड़ा गरम कर तथा तैल मिलाकर कफजन्य उपदंश पर लेप करे ॥ १२ ॥

उपदंशे प्रक्षालनार्थं कषायः—

त्रिफलायाः कषायेण भृङ्गराजरसेन वा ।
व्रणप्रक्षालनं कुर्यादुपदंशप्रशान्तये ॥ १३ ॥

उपदंश में प्रक्षालनार्थ कषाय—उपदंश की शान्ति के लिये त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के कषाय या भृङ्गराज के रस से व्रण का प्रक्षालन करे ॥ १३ ॥

उपदंशे कतिपयलेपयोगाः—

कृत प्रक्षालनं क्वाथं मेढ्रपाके प्रयोजयेत् ।
दहेत्कटाहे त्रिफलां सा मषी मधुसंयुता ।
उपदंशे प्रलेपोऽयं सद्यो रोपयति व्रणम् ॥ १४ ॥

उपदंश में कुछ योग—प्रक्षालन के लिये बताये हुए क्वाथ को मेढ्रपाक ('शिश्नपाक' उपदंश) में प्रयोग करे। त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) को कड़ाही में रखकर अन्तर्धूम जलाये और उस मसी को लेकर उसमें मधु मिला-

कर उपदंश में लेप करे। यह शीघ्र ही उपदंश के व्रण का रोपण करता है ॥ १४ ॥

रसाञ्जनं गैरिकं च मधुना लेपनं हितम्।
पथ्यालाक्षारसक्षौद्रप्रलेपो व्रणरोपणः ॥ १५ ॥

रसाञ्जन तथा गेरू को मधु में मिलाकर लेप करना हितकर होता है। हर्रें, लाख का रस तथा मधु मिलाकर लेप करना व्रण का रोपण करनेवाला है ॥ १५ ॥

नीलोत्पलं सकुमुदं पद्मसौगन्धिकानि च।
उपदंशेषु चूर्णानि प्रलेपो वा प्रशस्यते ॥ १६ ॥

नीलकमल, कुमुद (कोइया), पद्म (रक्त कमल), सौगन्धिक (श्वेत कमल) इन द्रव्यों का अवचूर्णन या प्रलेप उपदंश में प्रशस्त होता है ॥ १६ ॥

रसाञ्जनं साभयमेकमेव प्रलेपमात्रेण नयेत्प्रशान्तिम्।
विपूयपूतिव्रणशोफकण्डूशूलान्वितं सर्वमनङ्गरागम् ॥ १७ ॥

हर्रें के चूर्ण के साथ रसाञ्जन का ही केवल लेप करने से पूय, पूतिव्रण, शोथ, कण्डू तथा शूलयुक्त सभी शिश्न के रोगों को शान्त करता है ॥ १७ ॥

बब्बूलदलचूर्णेन दाडिमत्वग्भवोऽथवा।
गुण्डनाल्लिङ्गदेशस्थो लेपः पूगफलेन वा ॥ १८ ॥

बबूर के पत्तों का चूर्ण अथवा अनार की छाल का चूर्ण या पूगफल (सुपारी) की भस्म का लेप लगाने से लिङ्गसम्बन्धी रोग शान्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

त्रिफलाधातकीरोध्रमञ्जनं चेति चूर्णयेत्।
शरावसंपुटे दग्धं पुनर्दृषदि चूर्णयेत् ॥ १९ ॥
प्रागीषन्मधुनाऽभ्यक्तो बहुश्चूर्णावचूर्णितः।
उपदंशः शमं याति चूर्ण्यमानः पृथक्पृथक् ॥ २० ॥

त्रिफला (हर्रें, बहेड़ा, आंवला), धातकी (धव की छाल), लोध तथा अञ्जन (रसाञ्जन) को चूर्ण करे और इस चूर्ण को पुनः शराव-सम्पुट में जलाकर और पत्थर पर पीसकर महीन चूर्ण बना ले। इसके बाद इस चूर्ण को थोड़ा सा लेकर मधु मिलाकर लेप करे। तदनन्तर इस चूर्ण का अनेक बार अवचूर्णन करने से उपदंश शान्त हो जाता है। अलग अलग इन द्रव्यों के चूर्ण का अवचूर्णन करने से भी उपदंश शान्त हो जाता है ॥ १९–२० ॥

जयाजात्यश्वमारार्कशम्याकानां पृथक् पृथक्।
करवीरस्य मूलेन परिपिष्टेन वारिणा ॥ २१ ॥

असाध्यापि व्रजत्यस्तं लिङ्गोत्था रुक् प्रलेपनात् ।

जया, जाती (चमेली), अश्वमार (कनेर), मदार तथा शम्याक (अमलतास) इन द्रव्यों को अलग अलग कनेर की जड़ के जल (रस) के साथ पीसकर लेप करने से असाध्य भी उपदंशजन्य पीड़ा शान्त हो जाती है ।

सम्यक् समूलपत्रेण मार्कवेण प्रयत्नतः ॥ २२ ॥
लेपितो वापि पिष्टेन लिङ्गव्याधिः प्रणश्यति ।

अथवा भृङ्गराज का मूल तथा पत्र अच्छी तरह पीसकर प्रयत्नपूर्वक लेप करने से लिङ्ग का रोग (उपदंश आदि) नष्ट हो जाता है ।

कोविदारसमायुक्तैर्जम्बूवृक्षाम्लवेतसैः ॥ २३ ॥
लेपनं पुरुषव्याधेर्वारिपिष्टैः प्रशस्यते ।
जलधौतं प्रयत्नेन लिङ्गोत्थमवचूर्णयेत् ॥ २४ ॥
रोगं कासीसचूर्णेन पुरुषः सुखवाञ्छया ।

जामुन, वृक्षाम्ल (इमली) तथा वेतस—इन द्रव्यों को कोविदार (कचनार) के रस के साथ पीसकर उपदंश रोग में लेप करना प्रशस्त होता है । उपदंश रोग को जल से प्रक्षालन कर प्रयत्नपूर्वक सुख को चाहनेवाला व्यक्ति कासीस का चूर्ण अवचूर्णन करे ।

नृकपालं तु संघृष्य पुरुषव्याधिशान्तये ॥ २५ ॥
कौन्तीपूगफलं वापि दद्याल्लेपं प्रयत्नतः ।

पुरुष-व्याधि (उपदंश आदि लिंगसम्बन्धी रोग) की शान्ति के लिये मनुष्य की कपालास्थि को घिसकर तथा कौन्ती (रेणुका) या सुपारी को घिसकर प्रयत्नपूर्वक लेप करे ।

बोदारश्रृङ्गलेपेन पुंरोगः प्रशमं व्रजेत् ॥ २६ ॥

बोदारश्रृङ्गक (मृद्दारश्रृङ्गक) को घिसकर लेप करने से पुंरोग (उपदंश) आदि शान्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

प्रक्षिप्य त्रिफलां स्थाल्यामधोऽग्नौ दीपिते भवेत् ।
तत्क्षारोद्धूलनाद्याति नररोगः शमं ध्रुवम् ॥ २७ ॥

कड़ाही के नीचे अग्नि को जलाकर उसमें त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), छोड़कर जलाये और उसको ही पीसकर क्षार बना ले । यह क्षार लगाने से उपदंश रोग अवश्य ही शान्त हो जाता है ॥ २७ ॥

पुटप्रदग्धत्रिफलारजोभिरुद्धूल्यमानः सततं नराणाम् ।
लिङ्गामयः शाम्यति लेपितो वा हरीतकीयुक्तरसाञ्जनेन ॥ २८ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) को शराव-सम्पुट में जलाकर तथा पीसकर बराबर लगाने से मनुष्यों का लिङ्ग रोग शान्त होता है । अथवा हर्रे

तथा रसाञ्जन का लेप लगाने से लिङ्गरोग शान्त होता है ॥ २८ ॥

नारं कपालं करवीरमूलं पूगीफलं वा कठिनं निघृष्टम् ।
लेपान्निहन्ति प्रसभं नराणामत्युद्धतां साधनरोगपीडाम् ॥ २९ ॥

मनुष्य की कपालास्थि, कनेर की जड़ तथा पूगीफल (सुपारी) इन द्रव्यों को घिसकर लेप करने से यह रोग मनुष्यों का भयंकर पीड़ायुक्त लिङ्ग रोग को अवश्य ही नष्ट करता है ॥ २९ ॥

उपदंशे दार्व्यादितैलम्—

दार्वीस्वरसयष्ट्याह्वैर्गृहधूमनिशान्वितैः ।
तैलमभ्यञ्जनात्पक्वं मेढ्रोगं निवारयेत् ॥ ३० ॥

उपदंश रोग में दार्व्यादि लेप—दारुहल्दी का रस, मुलेठी, भोजनालय का धूम तथा हल्दी—इन द्रव्यों से (तैलनिर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध तैल अभ्यञ्जन करने से पके हुये मेढ़ू के रोग (जननेन्द्रिय के रोग) को दूर करता है ॥ ३० ॥

उपदंशे यवासकादिप्रक्षालनं तैलं च—

यवासकं शिरीषं च ककुभं खदिरासनौ ।
पिचुमन्दपलाशौ च धात्री सोन्दुरकर्णिका ॥ ३१ ॥
एतानि समभागानि कषायमुपसाधयेत् ।
तेन प्रक्षालन कुर्यादुपदंशेषु बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥
एतेनैव कषायेण व्रणतैलं विपाचयेत् ।

उपदंश में यवासकादि प्रक्षालन तथा तैल—यवासा, शिरीष, अर्जुन, खैर, विजयसार, पिचुमन्द (नीम), पलाश, आंवला तथा उन्दुरकर्णिका (आखुकर्णी = मूसाकानी), समभाग—इन द्रव्यों को लेकर कषाय बनावे और बुद्धिमान वैद्य उपदंश आदि रोगों में इससे प्रक्षालन करे। इन्हीं द्रव्यों के कषाय तथा कल्क के साथ (तैल-निर्माण-विधि के अनुसार) व्रणतैल तैयार करे और उपदंश आदि व्रणों के ऊपर लेप करे। यह लेप उपदंश रोग को नाश करता है।

उपदंशे मधुकादितैलम्—

मधुकं धातकी रोध्रं मञ्जिष्ठा कट्फलं बला ॥ ३३ ॥
दार्वीहरिद्रापत्तङ्गत्रिफलामदयन्तिकाः ।
गर्भेण तेन तत्तैलमभ्यङ्गाद् व्रणरोपणम् ॥ ३४ ॥

उपदंश में मधुकादि तैल—मुलेठी, धातकी (धव), लोध, मजीठ, कायफर, वरियार, दारुहल्दी, हल्दी, पतङ्ग, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), तथा मदयन्तिका (मेंहदी) समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल के चौथाई कल्क तथा तैल के चौगुना जल मिलाकर तैल-निर्माण-विधि के अनु-

सार) तैल सिद्ध करे। यह तैल लेप करने से उपदंश के व्रण का रोपण करता है ॥ ३३-३४ ॥

उपदंशे एलादिलेपः—

एला दारुहरिद्रा च शङ्खनाभी रसाञ्जनम्।
लाक्षा गोमयनिष्पीडस्तैलं क्षौद्रं घृतं पयः ॥ ३५ ॥
एभिः सुपिष्टैस्तैलांशैरुपदंशं प्रलेपयेत् ।
व्रणाश्च तेन शाम्यन्ति श्वयथुर्दाह एव च ॥ ३६ ॥

उपदंश में एलादि लेप—बड़ी इलायची, दारुहल्दी, शंखनाभि, रसाञ्जन, लाख, गोबर का रस, तेल, मधु, घृत तथा दूध—इन द्रव्यों को मिलाकर तैल के साथ इन द्रव्यों के कल्क से उपदंश को लेप करें। इस लेप से उपदंश के व्रण, शोथ तथा दाह आदि शान्त होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

उपदंशे जात्यादितैलम्—

जातीपत्रं निशा दुग्धी विशाला मधुयष्टिका ।
पक्वमेभिर्युतं तैलमेतल्लेपो नृरोगहा ॥ ३७ ॥

उपदंश में जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, हल्दी, दुग्धी (दुधिया) विशाला (इन्द्रायण) तथा मुलेठी समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल सिद्ध करे। यह तैल लेप करने से नृरोग (उपदंश आदि) को नाश करता है ॥ ३७ ॥

उपदंशे कतिपययोगाः—

रूप्यमलं च तैलेन जलेनाघृष्य लेपतः ।
पुंरोगः प्रशमं याति मयूरग्रीवतुत्थकात् ॥ ३८ ॥

उपदंश में कुछ योग—रौप्यमाक्षिक को तैल या जल के साथ घिसकर लेप करने से पुरुषरोग (उपदंश व्रण) शान्त होता है। इसी प्रकार मयूरग्रीव (नीला) तुत्थ (तूतिया) को घिसकर लेप करने से उपदंश रोग शान्त होता है ॥ ३८ ॥

इन्द्रवारुणिकाबीजसिन्दूरारण्यगोमयैः ।
उद्धूलनाच्छमं याति नररोगो न संशयः ॥ ३९ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
उपदंशाधिकारोऽष्टमः ।

इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण) के बीज का चूर्ण, सिन्दूर तथा जंगली गोबर की राख इन सबों का उद्धूलन (अवचूर्णन) करने से नररोग (उपदंश) निःसन्देह शान्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्यतन्त्र
में उपदंशाधिकार समाप्त ।

अथ शूकदोषाधिकारो नवमः ।

अथातः शूकदोषनिदानं व्याख्यास्यामः ।

उपदंश रोग के बाद शूकदोष का निदान कहते हैं ।

अष्टादशशूकदोषलक्षणानि—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥ १ ॥

शूक दोष के अट्ठारह लक्षण—जो मूर्ख मनुष्य नियम को छोड़कर लिङ्ग की वृद्धि को चाहता है उसको अट्ठारह प्रकार के शूक के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—लिङ्गवर्द्धक योगों में शूक की प्रधानता रहती है अतः लिङ्गवर्द्धक के लिये अक्रमिक विधि को करने से उत्पन्न रोग का नाम भी 'शूकदोष' रक्खा गया है । शूक-जल के मल से उत्पन्न एक विषैले जन्तु का नाम है । इससे बनने वाले वात्स्यायन[1] के लिङ्गवर्द्धक योग में इसकी प्रधानता दी गई है । लिंगवर्द्धक अन्य योगों में भी इसका प्रयोग देखने में आता है । भिलावे की गुठली, जलशूक, कमल की पत्ती तथा सेन्धानमक—इन द्रव्यों को अन्तर्धूम जलाकर इसको परिपक्व भटकटैया के फलों के रसों से पीसकर भैंस के गोबर से स्वच्छ किये हुए लिंग पर लेप करने से लिंग मोटा, लम्बा तथा दृढ़ होता है ।

शूकजन्य विकार (शूकदोष) अट्ठारह होते हैं जिनका नामकरण सुश्रुत के अनुसार निम्न प्रकार है 'लिंगवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ व्याधयो जायन्ते तद्यथा—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भिका, अलजी, मृदितम्, संमूढपिडका, अवमन्थः, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोनकः, त्वक्पाकः, शोणितार्बुदम्, मांसपाकः, मांसार्बुदम्, विद्रधिः तिलकालकश्चेति (सु० नि० १४) ।

---

१. भल्लातकास्थि-जलशूकमथाब्जपत्र-
मन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्ट-
मालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥
स्थूलं महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु
शेफं करोत्यभिमत नहि संशयोऽस्ति ॥
(वात्स्यायन का० सू०)

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतुका ।
पिटिका कफवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका च सा ॥ २ ॥

सर्षपिका—लिंगवर्धनार्थ शूकयोगों का दुरुपयोग से उत्पन्न कफवातजन्य सफेद सरसों के बराबर पिड़िका को 'सर्षपिका' कहते हैं । मेहजन्य पिढिका (सर्षपिका) मधुमेह एवं दुष्ट मेद के कारण होती है । दोषमेह के अनुसार होता है और सन्धिमर्म अथवा मांसल प्रदेश में होता है । शूकदोषजन्य सर्षपिका स्थिर तथा शिश्न पर होती है ॥ २ ॥

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका मता ।

अष्ठीलिका—अहितकर या अयोग्य शूकों के प्रयोग से वायु प्रकुपित होकर कठिन पिढिका उत्पन्न करती है जिसे 'अष्ठीलिका' कहते हैं ।

शूकैर्यत्पूरितं शश्वद् ग्रथितं नाम तत्कफात् ॥ ३ ॥

ग्रथित—जो निरन्तर शूकों से परिपूर्ण ग्रन्थि-सदृश प्रतीत हो उस कफ-जन्य ग्रन्थि को 'ग्रथित' कहते हैं ॥ ३ ॥

कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

कुम्भिका—रक्त तथा पित्त के प्रकोप से उत्पन्न जामुन की गुठली के सदृश कृष्णवर्ण की पिढिका को 'कुम्भिका' कहते हैं ।

तुल्यजामलजीं विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥ ४ ॥

अलजी—प्रमेहपिडिका की अलजी के सदृश ही कारण तथा लक्षण शूक-जन्य अलजी का भी समझना चाहिए । प्रमेहपिडका के अन्तर्गत की अलजी प्रमेहजन्य या मेदोदोष से होती है तथा शूक दोष में पठित अलजी शूकदोष-जन्य होती है । इसके लक्षण प्रमेहजन्य अलजी के समान ही होते हैं । इसका विभाजन कारण के अनुसार करना चाहिए ॥ ४ ॥

मृदित पीडित यत्तु संरब्धं वातकोपतः ।

मृदित—शूक प्रयोग के बाद मर्दन करने से वातप्रकोप के कारण जो शोथ हो जाता है उसे 'मृदित' कहते हैं ।

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिटिका भवेत् ॥ ५ ॥

संमूढपिटिका—शूक-प्रयोग के बाद दोनों हाथों से अत्यधिक मसलने के बाद जो पिडिका उत्पन्न होती है इसे 'संमूढपिटिका' कहते हैं ॥ ५ ॥

दीर्घा बह्व्यस्तु पिटिका दीर्यन्ते मध्यतश्च याः ।
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥ ६ ॥

अवमन्थ—जिस पिडिका में अनेक तथा बड़ी फुन्सियां हों और बीच में फट जाँय तथा जिनमें पीड़ा एवं रोमाञ्च होता हो ऐसे कफरक्तजन्य पिढिकाओं

को 'अवमन्थ' कहते हैं। (नेत्ररोग में पठित सर्वगत अवमन्थ आँख में होता है तथा शूकदोषजन्य अवमन्थ शिश्न में होता है यही भेद है) ॥ ६ ॥

पिटिका निचिता या तु पित्तशोणितसम्भवा।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ॥ ७ ॥

पुष्करिका—विविध पिडिकाओं से व्याप्त पित्त तथा रक्त से उत्पन्न कमल-कर्णिका के आकार की पिडिका को 'पुष्करिका' कहते हैं ॥ ७ ॥

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम्।

स्पर्शहानि—जिसमें रक्त दूषित होकर स्पर्शज्ञान कम कर देता है उसे 'स्पर्शहानि' कहते हैं।

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ॥ ८ ॥

त्वक्पाक—वातपित्तजन्य ज्वर तथा दाह से युक्त शूकदोष को 'त्वक्पाक' कहते हैं ॥ ८ ॥

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा च या।
व्याधिरेषोत्तमो नाम शूकाजीर्णनिमित्तजः ॥ ९ ॥

उत्तमा—मूंग या उड़द के सदृश रक्तवर्ण की रक्तपित्तजन्य जो पिडिका शूकाजीर्ण अर्थात् बार-बार शूक प्रयोग करने से उत्पन्न होती है उसे 'उत्तमा' कहते हैं ॥ ९ ॥

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः।
वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥ १० ॥

शतपोनक—जिसमें पुरुष के शिश्न में छोटे-छोटे मुखवाले (चलनी के समान) अनेक छिद्र होते हैं उस वातरक्तजन्य व्याधि को 'शतपोनक' कहते हैं ॥ १० ॥

कृष्णैः स्फोटैः सरक्तैश्च पिटिकाभिश्च पीडितम्।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥ ११ ॥

शोणितार्बुद—जिस रोगी का शिश्न कृष्णवर्ण के फफोलों और लालवर्ण की पिडिकाओं से पीडित रहता है और जिसके व्रण-प्रदेश में भयंकर वेदना होती है उसे 'शोणितार्बुद' कहते हैं ॥ ११ ॥

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम्।

मांसार्बुद—शूकप्रयोगजन्य मांस के दूषित होने से 'मांसार्बुद' उत्पन्न होता है।

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥ १२ ॥

विद्रधि—अनेक प्रकार के वर्ण, वेदना तथा स्रावयुक्त त्रिदोषजन्य पिडिकाओं को 'विद्रधि' कहते हैं ॥ १२ ॥

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ।
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥ १३ ॥

मांसपाक—जिसका मांस पकने लगा हो और जिसको सभी दोषों की वेदनायें प्रतीत होती हों वैद्य उसे त्रिदोषजन्य 'मांसपाक' से पीड़ित समझे ॥ १३ ॥

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकाणि सविषाणि च ।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥ १४ ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।
सन्निपातसमुत्थांश्च तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥ १५ ॥

तिलकालक—काले अथवा चित्रवर्ण के समान अत्यधिक विषयुक्त शूक के प्रयोग करने पर सम्पूर्ण लिंग को शीघ्र ही पका देता है । जिससे रोगी का मांस काला होकर सड़कर गिरने लगता है उस त्रिदोषजन्य रोग को 'तिलकालक' कहते हैं ॥ १४–१५ ॥

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥ १६ ॥

इति शूकदोषनिदानम् ।

यहां पर जो मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि तथा तिलकालक बताये गये हैं ठीक नहीं होते हैं इसे असाध्य समझना चाहिए ॥ १६ ॥

शूकदोष-निदान समाप्त ।

अथातः शूकदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

शूकदोष-निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं ।

शूकदोषे सामान्यचिकित्सा—

हितं च सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम् ।
हितः शोणितमोक्षश्च यच्चापि लघुभोजनम् ॥ १७ ॥

शूकदोष में सामान्य चिकित्सा—सामान्यतः सभी शूकदोषजन्य रोग में घृतपान हितकर होता है, और विरेचन भी पथ्य होता है तथा रक्तमोक्षण एवं हलका भोजन का सेवन प्रशस्त है ॥ १७ ॥

सर्षपीचिकित्सा—

सर्षपीं लिखितां सूक्ष्मैः कषायैरवचूर्णयेत् ।
तैरेवाभ्यञ्जनं तैलं साधयेद् व्रणरोपणम् ॥ १८ ॥

सर्षपी-चिकित्सा—सर्षपी पिडिका को अवलेखन कर कषाय द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण से अवचूर्णन करे और उसी कषाय द्रव्यों से तैल सिद्ध कर व्रणों को रोपण करने के लिये अभ्यञ्जन करे ॥ १८ ॥

अवमन्थचिकित्सा—

क्रियेयमवमन्थेऽपि रक्तं स्राव्यं तथोभयोः ।

अवमन्थ-चिकित्सा—अवमन्थ में भी सर्षपी की बताई गई चिकित्सा तथा रक्तमोक्षण, घृतपान एवं विरेचन कर्म करे ।

अष्ठीलिकाचिकित्सा—

अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेत्कुशलो भिषक् ॥ १९ ॥
अथैनां नोपशाम्यन्तीं कफग्रन्थिवदाचरेत् ।

अष्ठीलिका-चिकित्सा—अष्ठीलिका को कुशल वैद्य जलौका (जोंक) पकड़ाये । यदि इससे शान्त न हो तो तो कफजन्य ग्रन्थि की तरह चिकित्सा करे ।

ग्रथितचिकित्सा—

स्वेदयेद् ग्रथितं वैद्यो नाडीस्वेदेन बुद्धिमान् ॥ २० ॥
सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैश्चोपनाहयेत् ।

ग्रथित-चिकित्सा—बुद्धिमान् वैद्य ग्रथित-नामक शूकदोष को नाडीस्वेद करे और स्निग्ध गरम उपनाह से उपनाहन करे अर्थात् स्निग्ध एवं गरम पुल्टिस बाँधे ।

कुम्भिकाचिकित्सा—

कुम्भिकायां हरेद्रक्तं पक्कायां शोधिते व्रणे ॥ २१ ॥
तिन्दुकत्रिफलारोध्रैर्लेपस्तैलं च रोपणम् ।

कुम्भिका की चिकित्सा—परिपक्व कुम्भिका में रक्त निकाले तथा व्रण के शोधन हो जाने के बाद तिन्दुक, लोध तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) इन द्रव्यों का लेप एवं इन द्रव्यों से सिद्ध तैल व्रण के रोपण के लिये प्रयोग करे ।

अलजीचिकित्सा—

अलज्यां हृतरक्तायामयमेव क्रियाक्रमः ॥ २२ ॥

अलजी की चिकित्सा—अलजी के रक्तहरण करने के बाद पूर्वोक्त लेप एवं तैल का प्रयोग करे ॥ २२ ॥

उत्तमाचिकित्सा—

उत्तमाख्यां तु पिटिकां संछिद्य बडिशोद्धृताम् ।
कल्कचूर्णैः कषायाणां क्षौद्रयुक्तैरुपाचरेत् ॥ २३ ॥

उत्तमा की चिकित्सा—उत्तमा पिडिका को वडिश यन्त्र से उठाकर छेदन करने के बाद कषाय द्रव्यों के कल्क या चूर्ण में मधु मिलाकर लेप आदि उपचार करे ॥ २३ ॥

पुष्करिकादिचिकित्सा—

क्रमः पित्तविसर्पोक्तः पुष्करीमूढयोर्हितः ।
त्वक्पाके स्पर्शहान्यां च—

पुष्करिकादिचिकित्सा—पैत्तिक विसर्प में बताये हुए चिकित्सा-क्रम को तथा मूढ शूकदोष में हितकर होता है और वही चिकित्सा त्वक्पाक तथा स्पर्शहानि में भी प्रशस्त है।

मृदितचिकित्सा—

—सेचयेन्मृदितं पुनः ॥ २४ ॥
बलातैलेन कोष्णेन मधुरैश्चोपनाहयेत् ।

मृदित की चिकित्सा—मृदित नामक शूकदोष को गरम बला[1] तैल से सेचन करे और मधुर द्रव्यों (काकोल्यादि गणोक्त) से उपनाहन (पुल्टिस लगाना) करे।

शतपोनकचिकित्सा—

रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके ॥ २५ ॥
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च तैलं देयमनन्तरम् ।

शतपोनक की चिकित्सा—शतपोनक को लेखन करने के बाद रसक्रिया करे। इसके बाद पृथक्पर्ण्यादि से सिद्ध तैल का लेप करे।

शोणितार्बुदचिकित्सा—

रक्तविद्रधिवच्चापि क्रिया शोणितजेऽर्बुदे ॥ २६ ॥
कषायकल्कसर्पींषि तैलचूर्णरसक्रियाः ।
शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥ २७ ॥

शोणितार्बुद की चिकित्सा—शोणितजन्य अर्बुद में रक्तविद्रधि के समान उपचार करे। कषाय, कल्क, घृत, तैल, चूर्ण, रसक्रिया, शोधन तथा रोपण आदि का प्रयोग देख देख कर (आवश्यकता के अनुसार) करे ॥ २६–२७ ॥

मांसार्बुदादिचिकित्सा—

अर्बुदे मांसपाके च विद्रधौ तिलकालके ।

---

1. गदनि० ग्र० स्र० में देखें।

प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक्सम्यक्प्रतिक्रियाम् ।। २८ ।।

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे शल्यतन्त्रे
शूकदोषाधिकारो नवमः ।

मांसार्बुद की चिकित्सा—अर्बुद, मांसपाक, विद्रधि तथा तिलकालक में वैद्य निषेध कर अच्छी तरह प्रतिकार (चिकित्सा) करे। अर्थात् ये असाध्य तथा कृच्छ्रसाध्य होते हैं ।। २८ ।।

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के चतुर्थ शल्यतन्त्र में नवम
शूकदोषाधिकार समाप्त ।

अथ क्षुद्ररोगाधिकारो दशमः ।

अथातोऽष्टचत्वारिंशत्क्षुद्ररोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

शूकदोषाधिकार के बाद अड़तालिस क्षुद्ररोगों का निदान कहते हैं ।

अजगल्लिकालक्षणम्—

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ॥ १ ॥

अजगल्लिका का लक्षण—स्निग्ध, चमड़े के वर्ण के समान, ग्रन्थियुक्त पीड़ारहित, मूंग के सदृश कफवात से उत्पन्न बालकों की पिड़िका को 'अजगल्लिका' कहते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—क्षुद्ररोग के अर्थ-सम्बन्ध में मतभेद है (क) जिन रोगों का वर्णन थोड़े में संक्षेप रूप से किया गया हो उसे 'क्षुद्ररोग' कहते हैं । (ख) वे बचे हुए रोग जिनका अन्य प्रकरणों में किसी वर्ग-विशेष में समावेश न हुआ हो ऐसे क्षुद्र रोगों की 'क्षुद्र' संज्ञा है । (घ) जिनका कारण तथा लक्षण साधारण हो उन्हें भी 'क्षुद्ररोग' कहते हैं । इस प्रकार की परिभाषा में अग्निरोहिणी आदि बड़े रोग क्षुद्ररोग में अन्तर्भावित नहीं हो सकते फिर भी 'छत्रिणो गच्छन्ति' के तरह एक-दो के पास छतरी न रहने पर छतरीवालों का समूह जा रहा है ऐसा माना जाता है उसी प्रकार छोटे-छोटे रोगों के प्रकरण में कुछ बड़े रोगों का भी समावेश किया जा सकता है । (च) कुछ लोग क्षुद्र का अर्थ भयंकर तथा नीच करते हैं । अर्थात् जिसमे अग्निरोहिणी आदि भयंकर और अच्छा न होनेवाले पलित आदि नीच रोगों का वर्णन हो उसे 'क्षुद्र रोग' कहते हैं । (छ) अन्य आचार्य बालकों के रोगों को 'क्षुद्र' कहते हैं किन्तु ऐसा ठीक नहीं है । इस में बालकों तथा वयस्कों दोनों के रोग मिलते हैं ।

वस्तुतः इस अध्याय में बड़े छोटे किन्तु अधिक छोटे रोगों का वर्णन है अतः इसको 'क्षुद्ररोगाधिकार' कहा गया है ।

डल्हणाचार्य ने सुश्रुत की अपनी टीका में क्षुद्र रोगों के सम्बन्ध में लिखा है कि इस प्रकरण का क्षुद्ररोगाधिकार किसी विशेष कारण से नहीं किया है बल्कि परम्परा का निर्वाह करने के लिये अलग अध्याय बनाया गया है ।

चरक ने क्षुद्ररोग के लिये कोई अलग प्रकरण नहीं बनाया है और न उनकी कोई संख्या ही दी है । वाग्भट तथा सुश्रुत क्षुद्ररोगों का एक प्रकरण मान कर उनकी संख्या तथा लक्षण का उल्लेख किया है क्षुद्ररोगों की संख्या

सुश्रुत ने ४४, वाग्भट ने ३६, माधव ने ४३ तथा गदनिग्रहकार शोढल ने ४८ मानी है। सुश्रुतोक्त नामों को वाग्भट ने नामान्तर में वर्णन किया है तथा कुछ नामों को छोड़ दिया है। शोढल ने सुश्रुतोक्त नामों में कुछ हेर फेर करते हुए कुछ संख्या बढ़ा दी है 'अजगल्लिका' रोग वयस्कों में भी सम्भव है किन्तु बालकों में अधिक मिलता है।

यवप्रख्यालक्षणम्—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ २ ॥

यवप्रख्या का लक्षण—यव के आकारवाली, कठोर, गांठदार एवं मांस में उत्पन्न होनेवाली कफवातजन्य पिडिका को 'यवप्रख्या' कहते हैं ॥ २ ॥

अलजीलक्षणम्—

घनामवक्त्रां पिटिकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अलजीमल्पपूयां च तां विद्यात्कफवातजाम् ॥ ३ ॥

अलजी का लक्षण—मोटी, मुखहीन, उन्नत, मण्डलाकार (गोल), थोड़ा पूयवाली पिडिका को 'अलजी' कहते हैं। इसको भी कफवातजन्य समझे ॥ ३ ॥

विवृतालक्षणम्—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

विवृता का लक्षण—लम्बे चौड़े मुखवाली, अत्यधिक दाहयुक्त, परिपक्व गूलर के फल के सदृश रङ्गवाली तथा गोलाकार पित्तजन्य पिडिका को 'विवृता' कहते हैं ॥ ४ ॥

कच्छपिकालक्षणम्—

ग्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः।
कफानिलाभ्यां पिडिका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

कच्छपिका का लक्षण—कफ तथा वात से उत्पन्न कछुवे के पीठ के सदृश कठिन गांठदार एक ही प्रदेश में उत्पन्न हुई पांच या छः पिडिकाओं को 'कच्छपी' कहते हैं ॥ ५ ॥

वल्मीकलक्षणम्—

ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः स वृद्धिम् ॥ ६ ॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥ ७ ॥

वल्मीक का लक्षण—तीनों दोषों के प्रकोप से ग्रीवा, कन्धा, कक्षा (कांख), हाथ, पैर, सन्धि तथा गले में वल्मीक के समान गांठ उत्पन्न हो जाती है। वह चिकित्सा न करने पर क्रमशः बढ़कर उन्नताग्र, और स्राव एवं तोदयुक्त अनेक मुखोंवाली होकर विसर्प के समान फैलती है। इस प्रतिकार-रहित चिरकालीन रोग को वैद्य 'वल्मीक' कहते हैं॥ ६-७॥

विमर्श—यह रोग आधुनिक (Actinomycosis and Madura foot) एक्टिनोमाय कासिस और मदुरापाद से मिलता जुलता है। इनमें एक विशेष प्रकार पीले रङ्ग का कणदार स्राव निकलता है इस रोग का कारण 'एक्टिनो मायसी' नामक जीवाणु है। यह रोग सर्वप्रथम पैर के तलवे में आधी इञ्च के लगभग कठिन, विवर्ण, पीड़ारहित शोथ होता है यह एक मास से कुछ अधिक समय के बाद फूटकर नाडीव्रण बन जाता है। इससे रक्तरञ्जित पूय निकलता है जिसमें कुछ काले और भूरे कण भी रहते हैं। इस तरह क्रमशः अनेक सूजन हो जाती है और नाडी व्रण का रूप धारण कर लेती है। इसका रोपण नहीं होता है। फल यह होता है कि वहां की कोमल धातु की हड्डियां नष्ट हो जाती है। वहां नाडीव्रणों का जाल सा बना रह जाता है। पैर सूख जाते हैं और रोगी चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। यह चिरकालीन रोग है और विसर्प के सदृश समीप की धातुओं में फैलता है, मर्मस्थलों पर उत्पन्न होने से असाध्य होता है। यह रोग कभी कभी हाथ, जानुसन्धि, ग्रीवा, हनुसन्धि तथा कांख में भी वल्मीकवत् सूजन के साथ हो जाता है।

इन्द्रविद्धालक्षणम्—

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिटिकाभिः समन्विताम्।
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक्॥ ८॥

इन्द्रविद्धा का लक्षण—कमल-बीजकोष की तरह, बीच में छोटी छोटी फुन्सियों से व्याप्त जो पिडिका होती है उस वातपित्तजन्य पिडिका को 'इन्द्र-विद्धा' कहते हैं॥ ८॥

गर्दभिकालक्षणम्—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिटिकान्वितम्।
रुजाकरीं गर्दभिकां विद्यात्तां वातपित्तजाम्॥ ९॥

गर्दभिका का लक्षण—वात-पित्त से उत्पन्न पिडिकाओं से व्याप्त रक्तवर्ण के गोलाकार तथा उन्नत पीड़ायुक्त मण्डल को 'गर्दभिका' कहते हैं॥ ९॥

पाषाणगर्दभलक्षणम्—

स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः॥ १०॥

पाषाणगर्दभ का लक्षण—हनुसन्धि में वात तथा कफ के प्रकोप से

उत्पन्न, स्थिर, अल्प पीड़ायुक्त और स्निग्ध शोथ को 'पाषाणगर्दभ' कहते हैं। (पाषाणगर्दभ 'कर्णमूलिक लालाग्रन्थि शोथ' में ज्वर तथा दोनों तरफ सूजन होती है। अतः यह उससे भिन्न है। इसको किसी ग्रन्थि का अर्बुद माना जा सकता है) ॥ १० ॥

पनसिकालक्षणम्—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिटिकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥ ११ ॥

पनसिका का लक्षण—कर्ण के भीतर उत्पन्न होनेवाली भयंकर पीड़ा से युक्त और स्थिर एवं अन्दर ही पकनेवाली पिड़िका को 'पनसिका' कहते हैं। (भोज[1] इसको कान के बाहर भी मानते हैं। आचार्य सुश्रुत[2] बाहर तथा अन्दर दोनों तरफ मानते हैं तथा कफवातजन्य स्वीकार करते हैं इसके लक्षण भोजवर्णित दाह विकृतिविषमसमवाय के कारण अथवा अधिष्ठानभूत रक्त के प्रभाव से होता है) ॥ ११ ॥

जालगर्दभलक्षणम्—

विसर्पवत्सर्पति यः शोफस्तनुरपाकवान् ।
दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

जालगर्दभ का लक्षण—जो शोथ विसर्प की तरह फैले, अल्पपाक, दाह तथा ज्वर हो उस पित्तजन्य शोथ को 'जालगर्दभ' कहते हैं ॥ १२ ॥

इरिवेल्लिकालक्षणम्—

पिटिकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥ १३ ॥

इरिवेल्लिका का लक्षण—सिर में होनेवाली, गोलाकार, भयंकर पीड़ा, ज्वर तथा त्रिदोष लक्षणों से युक्त सान्निपातिक रोग को 'इरिवेल्लिका' कहते हैं ॥ १३ ॥

कक्षालक्षणम्—

बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥

---

१. कफवातौ प्रकुपितौ मांसमाश्रित्य कर्णयोः ।
समन्ततः परिस्तब्धां कुरुतः पिडिकां स्थिराम् ॥
विषमां दाहसंयुक्तां विद्यात्पनसिकां तु ताम् ॥ (भोज)

२. कर्णौ परि समन्ताद् वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक् ।
शालूकवत् पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् । (सुश्रुत)

कक्षा का लक्षण—बाहु, पार्श्व, कन्धा तथा कांख में पित्तप्रकोपजन्य पीड़ायुक्त काले वर्ण के विस्फोटकों को 'कक्षा' कहते हैं ॥ १४ ॥

गन्धनामालक्षणम्—

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिटिकां स्फोटसन्निभाम्।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धनामां प्रचक्षते ॥ १५ ॥

गन्धनामा का लक्षण—इसी प्रकार फफोलों के समान पित्तप्रकोपजन्य केवल एक पिड़िका को 'गन्धनामा' कहते हैं ॥ १५ ॥

विस्फोटकलक्षणम्—

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्ततः।
क्वचित्सर्वत्र वा देहे विस्फोटक इति स्मृतः ॥ १६ ॥

विस्फोटक का लक्षण—शरीर के किसी एक भाग में या सम्पूर्ण शरीर में रक्तपित्त से उत्पन्न ज्वरयुक्त अग्निदग्ध के समान फफोलों को 'विस्फोटक' कहते हैं ॥ १६ ॥

अग्निरोहिणीलक्षणम्—

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥ १७ ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम्।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सान्निपातिकीम् ॥ १८ ॥

अग्निरोहिणी का लक्षण—कक्षा (कांख) में प्रदीप्त अग्नि के समान अन्तर्दाह तथा ज्वर उत्पन्न करनेवाले मांस को विदीर्ण करनेवाले विस्फोटक उत्पन्न होते हैं उनको 'अग्निरोहिणी' कहते हैं। ये सात दिन में, दश दिन में या पन्द्रह दिन में रोगी को मार देते हैं। यह रोग सन्निपातज होता है तथा असाध्य है ॥ १७–१८ ॥

विमर्श—कुछ अर्वाचीन विद्वान् इसको 'प्लेग' नामक रोग मानते हैं किन्तु प्लेग के अनेक प्रधान लक्षण नहीं मिलते हैं। क्योंकि प्लेग में फफोले या स्फोटक नहीं होते बल्कि लसीका-ग्रन्थि में शोथ होकर बड़ी गांठें अथवा गिल्टियां उत्पन्न होती हैं। ये गाठें प्रायः फूटती नहीं हैं। यदि ये गांठें पककर फूट जाती हैं तो यह रोग साध्य समझा जाता है। इसमें दो से सात दिन के अन्दर (तीसरे या चौथे दिन) मृत्यु हो जाती है तथा यह संक्रामक होता है।

अग्निरोहिणी का मारक-काल कम से कम एक सप्ताह माना है तथा इससे संक्रामक होने का उल्लेख नहीं मिलता है। यह असाध्य होता है किन्तु

समय से चिकित्सा करने पर ¹साध्य माना गया है। अन्य ग्रन्थों में 'अग्नि-रोहिणी' के निम्न लक्षण बताये गये हैं।

पित्तरक्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान्।
कक्षाभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान्॥
मांसावदारुणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात्।
पक्षाद् दशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी॥

चिप्पलक्षणम्—

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्।
कुर्यातां दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्॥ १९॥
तदेवाल्पतरैर्दोषैः परुषं कुनखं वदेत्।

चिप्प का लक्षण—नखमांस में स्थित होकर वात तथा पित्त वेदना, दाह और पाक को उत्पन्न करते हैं उसे 'चिप्परोग' कहते हैं। यही थोड़े दोषों से उत्पन्न होने पर नख परुष (सूखा तथा भुरभुरा) हो जाता है और उसे 'कुनख' कहते हैं।

अनुशयीलक्षणम्—

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरि स्थिताम्॥ २०॥
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम्।

अनुशयी का लक्षण—गम्भीर अल्पशोथयुक्त त्वचा के वर्ण के सदृश पैर के ऊपर होनेवाली तथा अन्दर ही पकनेवाली पिडिका को अनुशयी कहते हैं।

विदारिकालक्षणम्—

विदारीकन्दवद् वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु॥ २१॥
विदारिकामिति वदेत्सरुजां सर्वलक्षणाम्।

विदारिका का लक्षण—कक्षा (कांख) तथा वंक्षण प्रदेश की सन्धियों में विदारीकन्द के समान गोलाकार रक्तवर्ण की तीनों दोषों से उत्पन्न त्रिदोष के लक्षणों से युक्त पिडिका को 'विदारिका' कहते हैं।

शर्करार्बुदलक्षणम्—

प्राप्य मांससिरास्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः॥ २२॥
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम्।
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः॥ २३॥
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्ततः।

---

१. सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्यदारुणसम्मताः।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः॥ (च० सू० १८)

दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः शिराः ॥ २४ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ।

शर्करार्बुद का लक्षण—कफ, मेद तथा वायु मांस, सिरा और स्नायु में प्रविष्ट होकर 'ग्रन्थि' उत्पन्न करते हैं। वह फूटने पर मधु, घृत तथा चर्बी के समान स्राव करती है। उस ग्रन्थि में प्रवृद्ध वायु मांस को सुखाकर फिर गाँठ-दार शर्करा को उत्पन्न करती है। तब उसकी सिरायें दुर्गन्ध एवं क्लेदयुक्त अनेक प्रकार के रंग का रक्तस्राव एकाएक करती हैं। उसे 'शर्करार्बुद' कहते हैं।

पाददारीलक्षणम्—

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ॥ २५ ॥
पादयोः कुरुते दारीं सरुजां तलसश्रिताम् ।

पाददारी का लक्षण—अत्यधिक (खाली पैर) परिभ्रमण करनेवाले व्यक्ति का प्रकुपित वायु अत्यधिक रूक्ष, पैरों के तलवे में पीड़ायुक्त दरार उत्पन्न कर देता है उसे 'पाददारी' कहते हैं।

कदरलक्षणम्—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ॥ २६ ॥
ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ।

कदर का लक्षण—कंकड़, पत्थर या काँटों से पैर में क्षत हो जाने से बेर के समान उठी हुई जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है उसे 'कदर' कहते हैं।

अलसलक्षणम्—

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ ॥ २७ ॥
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ।

अलस का लक्षण—गन्दी कीचड़ के अधिक संसर्ग से पैरों की अंगुलियों के बीच में जो गीलापन, खुजली, दाह तथा वेदना हो जाती है उसे 'अलस' कहते हैं।

इन्द्रलुप्तलक्षणम्—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ॥ २८ ॥
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ।
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ॥ २९ ॥
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ।

इन्द्रलुप्त का लक्षण—रोमकूपों में स्थित भ्राजक पित्त वायु के साथ मिल-कर बालों को गिरा देता है। तदनन्तर कफ रक्त के साथ होकर रोमकूपों को अवरुद्ध कर देता है। इसके कारण दूसरे रोमों की उत्पत्ति नहीं होती है।

इस रोग को 'इन्द्रलुप्त' कहते हैं और 'खालित्य' एवं 'रुह्या' भी कहते हैं।

विमर्श—इस रोग को पाश्चात्य विज्ञान में (Falling of hairs—फालिङ्ग आफ हेयर्स) या (Alopecia—अलोपेशिया) कहते हैं। वाग्भट के अनुसार एक साथ बाल गिर जाने को 'इन्द्रलुप्त' तथा धीरे २ बाल गिरने को 'खालित्य' कहते हैं 'खलतेरपि जन्मैव शातनं तच्च तु क्रमात्। इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव रुह्या च सर्वदेहस्य' इस कार्तिकेय के वचन के अनुसार 'इन्द्रलुप्त' दाढ़ी में 'खालित्य' सिर में तथा 'रुह्या' सम्पूर्ण शरीर में होता है। आचार्य भोज[1] का कहना है कि व्यायाम न करने से वातपित्त का प्रकोप नहीं होता है अतः स्त्रियों में यह रोग नहीं होता है। क्योंकि रजस्राव होने के कारण इनके स्रोतों का अवरोध नहीं होता है। इन्द्रलुप्त को ही खल्ली तथा रुह्या भी कहते हैं।

भोज का यह वचन कि स्त्रियों में यह रोग नहीं होता है यह क्वाचित्क है क्योंकि स्त्रियों में भी 'खलित रोग' देखा जाता है।

दारुणकलक्षणम्—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ॥ ३० ॥
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम्।

दारुणक का लक्षण—जब कफ तथा वात के प्रकोप से बालों का स्थान कठिन कण्डूयुक्त तथा रूक्ष होकर दरारयुक्त हो जाता है तो उसे 'दारुणक' कहते हैं।

अरूंषिकालक्षणम्—

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि ॥ ३१ ॥
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम्।

अरूंषिका का लक्षण—मनुष्यों के सिर में कफ, रक्त तथा क्रिमियों के प्रकोप से अनेक छिद्रवाले स्रावयुक्त अत्यन्त गीले रहने वाले व्रण बन जाते हैं उन्हें 'अरूंषिका' कहते हैं। (अंग्रेजी में इसे सिबोरिया (Seborrhiea) या पिटिरियासिस कैपिटिस (Pityriasis capitis) कहते हैं। ग्रामीण भाषा में 'चांई चुआ' के नाम से प्रचलित है।

पलितलक्षणम्—

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ॥ ३२ ॥
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते।

---

१. अत्यन्तसुकुमाराङ्ग्यो रजो दुष्टं स्रवन्ति च।
अत्याभरणता यस्मात्तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः॥
तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः खल्लीं रुह्यां च केचन। (भोज)

वातिकं विषमं रूक्ष पीतं पित्तात्सितं कफात् ॥ ३३ ॥
सर्वरूपान्वितं विद्यात्सन्निपातसमुत्थितम् ।
रूक्षं श्लक्ष्णं च सूक्ष्मं च जरापलितमुच्यते ॥ ३४ ॥

पलित का लक्षण—क्रोध, शोक तथा परिश्रम से उत्पन्न गर्मी तथा पित्त सिर में पहुँचकर बालों को पका देते हैं जिससे पलित रोग हो जाता है। (बालों का पकना) वातिक पलितरोग विषम तथा रूक्ष होता है। पित्त से पीलापन लिये हुए तथा कफ से होता है। सन्निपात से उत्पन्न पलितरोग में सभी के लक्षण मिले-जुले होते है। जराजन्य पलितरोग, रूक्ष, चिकना तथा सूक्ष्म (पतला) होता है ॥ ३२-३४ ॥

विमर्श—बालों के पकने में पित्त की प्रधानता[1] रहती है। क्रोध से पित्त का प्रकोप होता है। तथा शोक और परिश्रम से वात प्रकुपित होता है। इस तरह वात का प्रकोप भी कारण है। केशों को सफेद करने के लिये कफ भी कारण होता है। पलित दो प्रकार का होता है, अकालज तथा कालज। अकालज में क्रोध, शोक तथा भय कारण होते हैं। इसको अंग्रेजी में प्रिमेच्योर ग्रे हेयर (Premature grey hair of canities) कहते हैं। कालज पलित वृद्धावस्था में होता है। यह आयु के परिणाम से उत्पन्न ऊष्मा के कारण होता है।

मुखदूषिकालक्षणम्—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफशोणितमारुतैः।
युवानपिटिका यूनां ज्ञेयास्ते मुखदूषिकाः ॥ ३५ ॥

मुखदूषिका का लक्षण—कफ, वात, तथा रक्त के प्रकोप से जवानों के मुख पर सेमर के कण्टकों के समान होने वाली पिडिकाओं को 'युवानपिडिका' या 'मुखदूषिका' कहते हैं। (साधारण बोल-चाल की भाषा में इसे मुहासा (वरें) तथा अंग्रेजी में ऐक्नी वल्गेरिस (Acne Vulgaris) कहते हैं। 'यूनाम्-आननपिटिका-इति युवानपिटिका' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आनन के नकार का पृषोदरादित्वाल्लोपः इससे लोप होकर युवानपिटिका शब्द सिद्ध हुआ है ॥ ३५ ॥

पद्मिनीकण्टकलक्षणम्—

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डुमत्पाण्डुमण्डलम् ।

---

१. तेजोऽनिलाद्यैः सहकेशभूमिं
दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितिं नरस्य ।
किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्-
धरित्प्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम् ॥ (चरक)

पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥ ३६ ॥

पद्मिनीकण्टक का लक्षण—कमलिनी के कांटों के समान कांटों से व्याप्त गोलाकार पाण्डुवर्ण के तथा खुजली से युक्त वात कफ से उत्पन्न मण्डल को 'पद्मिनीकण्टक' कहते है (यह चर्म पर होनेवाला अर्बुद है। इसमें त्वचान्तर्गत उपत्वचा के अंकुरों की वृद्धि होती है। इसे त्वचा का पैपिलोमा (Papilloma of the Skin) कहते है) ॥ ३६ ॥

जतुमणिलक्षणम्—

सममुत्सन्नमरुज मण्डल कफरक्तजम् ।
सहज लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥ ३७ ॥

जतुमणि का लक्षण—पीड़ारहित, सम या उन्नत गोलाकार कफ रक्त से उत्पन्न, जन्मजात थोड़े लालवर्ण के चिह्न को 'जतुकर्ण' कहते हैं। साधारण भाषा में 'जट्टुल या लच्छन' कहते हैं। अंग्रेजी में (Cangenital male) कहते हैं ॥ ३७ ॥

मषकलक्षणम्—

अवेदनं स्थिरं चैव यद्धि गात्रे प्रदृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषक वदेत् ॥ ३८ ॥

मषक का लक्षण—शरीर के ऊपर वेदनारहित, स्थिर, उड़द के समान काला तथा उन्नत चिह्न दिखाई देता है उसे 'मषक' कहते हैं। यह वातजन्य होता है (अंग्रेजी में इसे (Elevated male) कहते हैं। भोज[1] के अनुसार इसमें कफ तथा मेद का भी समुच्चय रहता है) यह मषक दो प्रकार का होता है। उन्नत (Elevated) तथा अनुन्नत (Non Elevated)। इसमें अनुन्नत तथा सम प्रकार को तिलकालक (Non—Elevated male) कहते है) ॥ ३८ ॥

तिलकालकलक्षणम्—

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥ ३९ ॥

तिलकालक का लक्षण—वायु तथा पित्त के द्वारा कफ के सूख जाने पर (त्वचा) में काले रंग के तिल के बराबर, पीड़ारहित सम दिखाई देनेवाले चिह्न को 'तिलकालक' कहते है ॥ ३९ ॥

विमर्श—जतुमणि, तिलकालक, तथा मषक ये तीनों त्वचा के विकार हैं। इसमें त्वचा के ऊपर मेलोनीन नामक रंजक द्रव्य एकत्र हो जाते हैं। चरका-

1. वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी ।
श्लक्ष्णं मृदुसवर्णं च कुरुते मषकं वदेत् (भोज)

चार्य[1] रक्त में पित्त का सूखना मानते हैं। सुश्रुत आदि अन्य तन्त्रकार[2] वात-पित्त तथा कफ के प्रकोप से इसकी उत्पत्ति मानते हैं।

न्यच्छलक्षणम्—

महद्वा यदि वाऽत्यल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥ ४० ॥

न्यच्छ का लक्षण—शरीर पर बड़े या अत्यधिक छोटे, श्याव या कृष्णवर्ण के पीड़ारहित उत्पन्न मण्डल को 'न्यच्छ' कहते हैं।

विमर्श—आचार्य[3] भोज के अनुसार इसकी उत्पत्ति, पित्त, रक्त तथा वायु से होती है। इसको लोकभाषा में (झांई) कहते है।

चर्मकीललक्षणम्—

समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम्।

चर्मकील का लक्षण—उभड़ा (उठा) हुआ होने एवं निदान की विशिष्टता से यही न्यच्छ 'चर्मकील' कहा जाता है।

व्यङ्गलक्षणम्—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ॥ ४१ ॥
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः।
नीरुजं तनुकं श्याव मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्। ४२ ॥

व्यङ्ग का लक्षण—क्रोध तथा परिश्रम से प्रकुपित वायु पित्त से मिलकर एकाएक मुख की त्वचा में पहुँचकर वेदनारहित, छोटा तथा श्यामवर्ण का मण्डल उत्पन्न कर देता है उसे 'व्यङ्ग' कहते है ॥ ४१-४२ ॥

नीलिकालक्षणम्—

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः।

नीलिका का लक्षण—उपर्युक्त (व्यंग) के लक्षणों से युक्त काले वर्ण के मुख या शरीर में होनेवाले धब्बों को 'नीलिका' कहते हैं।

परिवर्तिकालक्षणम्—

मर्दनात्पीडनाद्वाऽपि तथैवाऽप्यभिघाततः ॥ ४३ ॥

---

१. यस्य पित्त प्रकुपित शोणितं प्राप्य शुष्यति।
तिलका विप्लवा व्यंगा नीलिका चास्य जायते। (चरक)

२. मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः।
चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः ॥

३. रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो भवेत्।
जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत् (भोज)

मेढ्चर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन्।
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म तत्परिवर्तते ॥ ४४ ॥
मणेरधस्तात्कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते।
परिवर्तति तां विद्यात्सरुजां वातसंभवाम्।
सकण्डुः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥ ४५ ॥

परिवर्तिका का लक्षण—मसलने तथा अत्यधिक खाने से तथा आघात लगने से सम्पूर्ण शरीर में घूमनेवाला वायु प्रकुपित होकर जब शिश्न की त्वचा में पहुँचता है तब वात से दूषित होने के कारण शिश्न के अग्रभाग का चर्म पलट जाता है और शिश्नमणि के पीछे चर्मकोष गांठ का रूप धारण कर लटकने लगता है। वेदनायुक्त परिवर्तिका को वातिक और खुजली तथा कठोरतायुक्त परिवर्तिका को कफज परिवर्तिका कहते हैं ॥ ४३–४५ ॥

विमर्श—परिवर्तिका की अवस्था को अंग्रेजी में 'पैराफाइमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं। इसके तीन कारण होते हैं।

(१) शिश्न-त्वचा का अत्यधिक संकीर्ण होना। जब शिश्नचर्म अधिक सकरा होता है तब बलपूर्वक हाथ से दबाने पर तथा उसे पीछे हटानेपर त्वचा शिश्नमणि के नीचे चली जाती है और वहां शोथयुक्त ग्रन्थि बन जाती है। यह बच्चों तथा अल्पवयस्कों में होती है।

(२) निरुद्धप्रकश की अवस्था में या सूचीमुखी योनि में वेग से मैथुन करने पर भी त्वचा शिश्नमणि से नीचे हट जाती है और वहां शोथयुक्त गांठ हो जाती है।

(३) पूयमेह की तीव्र अवस्था तथा फिरंगज व्रण में भी यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसमे शिश्नमणि और चर्म में शोथ हो जाता है।

अवपाटिकालक्षणम्—

अल्पीयःखां यदा गच्छेद् बलाद्धर्षात् स्त्रियं नरः।
हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ ४६ ॥
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम्।

अवपाटिका का लक्षण—जब मनुष्य [1]छोटी छेदवाली (सूचीमुख योनि) स्त्री के साथ उमङ्ग में आकर बलपूर्वक मैथुन करता है या हाथ से बलपूर्वक मसल देता है तब उसके जोर से ऊपर चढ़ जाने से शिश्नचर्म फट जाता है तब उसे 'अवपाटिका' कहते हैं।

---

१. अल्पतरं खं योनिमुख यस्याः सा अल्पीयःखा अनार्तवा कन्या।

निरुद्धप्रकशलक्षणम्—

वातोपसृष्टे मेढ्रे तु चर्म संश्रयते मणिम् ॥ ४७ ॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम् ॥ ४८ ॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च ।
निरुद्धप्रकशं विद्यात्सरुजं वातसभवम् ॥ ४९ ॥

निरुद्धप्रकश का लक्षण—शिश्नचर्म वायु से दूपित होने पर मणि को पूर्णतया आच्छादित कर देता है जिससे चर्माच्छादित वह मणि मूत्र को रोक देता है। उसको वातजन्य, वेदनाप्रद 'निरुद्धप्रकश' समझे ॥ ४७–४९ ॥

विमर्श—निरुद्धप्रकश में मणि के ऊपर का अग्रचर्म खीचने मे असमर्थता रहती है। अग्रचर्म मणि के ऊपर संसृष्ट रहता है। अतः वाग्भट ने इसको 'निरुद्धमणि' संज्ञा दी है। यह परिवर्तिका के ठीक विपरीत है। इस अवस्था में शिश्नचर्म का छिद्र अत्यल्प होने से उस शिश्न के ऊपर खींचना कठिन हो जाता है। जिससे मणि सर्वथा चर्म के भीतर रहता है। परिणामतः अनेक उपद्रव जैसे, मूत्र त्यागने में पीड़ा तथा कठिनाई, वातानुलोमन के कारण मूत्रावरोध, शिश्न के आस-पास श्वेत रङ्ग का मैल जम जाना, शिश्नमणि-शोथ आदि होते हैं। अनेक बार मर्दन, पीडन तथा अभिघात से चर्म ऊपर को चढ़ जाता है और परिवर्तिका या अवपाटिका की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निरन्तर पीडन, मर्दन तथा क्षोभ के कारण मांसार्बुद आदि घातक अर्बुद बन सकते हैं।

निरुद्धप्रकश को अंग्रेजी में 'फाइमोसिस, (Phimosis) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है।

(१) सहज तथा (२) जन्मोत्तर। (१) सहज जन्म से ही होता है। जन्म काल में शिश्नचर्म मणि के ऊपर थोड़ा संसृष्ट रहता है। किन्तु धीरे २ कुछ वर्षो के बाद स्वयं खुल जाता है। फिर भी धाई को चाहिए कि जन्म से ही इसका ध्यान रक्खे और स्निग्ध पदार्थ के साथ इसका प्रसार करने की चेष्टा करे। ऐसा न करने से कुछ बच्चों में सर्वथा के लिये निरुद्धप्रकश, बना रह जाता है जिसको बाद में शस्त्रकर्म करने की आवश्यकता पड़ जाती है। यह गर्भ के दोष से होता है और बालकों में अधिक होता है। छिद्र के अधिक छोटा न होने पर बाल्यावस्था में दिखाई नही देता है किन्तु जब युवावस्था में लिङ्गोत्थापन होने लगता है तब उसमें क्षोभ होता है और रोगी हस्तमैथुन करने का अभ्यस्त हो जाता है। साथ ही इस अवस्था में मैथुन करने में भी कष्ट होता है और बल-पूर्वक मैथुन करने से परिवर्तिका या अवपाटिका जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) जन्मोत्तर निरुद्धप्रकश—इसकी अवस्था बालक, युवा तथा वृद्ध तीनों में हो सकती है। बालकों में शिश्नचर्म पर होने वाली पामा, कच्छू तथा विचर्चिका तथा वस्तिगत अश्मरी (पथरी) में निरुद्धप्रकश के मुख्य हेतु हैं। कच्छू आदि में खुजलाने के लिये तथा पथरी में असह्य वेदना को दूर करने के लिये लड़के बार-बार मसलते, दबाते तथा बार बार-नीचे की तरफ खींचते हैं जिससे अग्र चर्म पर व्रण बन जाते हैं और उन व्रणों के भर जाने के बाद चर्म का संकोच होकर निरुद्धप्रकश बन जाता है। युवावस्था में अधिकतर पूयमेह के उपद्रवस्वरूप यह विकार होता है। युवावस्था के बाद व्यक्तिगत अश्मरी, मूत्रमार्ग-संकोच, अष्ठीला-ग्रन्थि की वृद्धि, शिश्नचर्म की स्वच्छता का अभाव, आदि कारणों से शिश्नचर्म में क्षोभ तथा कण्डू होने से व्रण हो जाते हैं। उसके भर जाने पर व्रण-वस्तु के कारण शिश्नचर्म के संकुचित हो जाने से निरुद्धप्रकश की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। अनेक बार बाल्यावस्था के विकार के परिणामस्वरूप युवावस्था में भी मर्दन, अभिघात आदि के कारण शिश्न को उठाने में क्षोभ होने से रोगी को वेदना होती है और परिवर्तिका या अवपाटिका का स्वरूप बन जाता है और उसके उपद्रव होने लगते है।

सन्निरुद्धगुदलक्षणम्—

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ५० ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात्कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात्सुदुस्तरम् ॥ ५१ ॥

सन्निरुद्धगुद का लक्षण—मल तथा अपान वायु के वेग को धारण करने से प्रकुपित वात गुदा में पहुंचकर महास्रोत (आन्त्र) के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं। जिससे मलद्वार सूक्ष्म हो जाता है। मार्ग के संकीर्ण होने से मल कठिनाई से निकलता है। इस भयंकर रोग को 'सन्निरुद्धगुद' कहते हैं ॥ ५०–५१ ॥

विमर्श—'सन्निरुद्धगुद' को 'मलाशय संकोच' (Stricture of the rectum) कहते हैं। यह अवस्था प्रवाहिका, अतिसार, मलाशय के फिरङ्ग, अर्श, भगन्दर तथा राजयक्ष्मा के कारण गुदा में व्रण-वस्तु तथा संकोच बन जाने से उत्पन्न होती है। इसके निम्नलिखित लक्षण होते है। (क) प्रारम्भिक लक्षण विबन्ध, (ख) अनियमित विबन्ध (कभी विबन्ध कभी अतिसार), (ग) मल-त्याग में कष्ट, (घ) मल का कड़ा, चिपटा तथा फीता के समान होना, (च) कुछ समय बाद मल के साथ रक्त तथा आम का

निकलना, तथा (६) अग्निमान्द्य एवं आध्मान। इसके अतिरिक्त कभी-कभी जन्मजात गुदमार्ग बन्द होता है। इसको भी सन्निरुद्धप्रकश कहते हैं।

अहिपूतनलक्षणम्—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा॥ ५२॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥ ५३॥

अहिपूतन का लक्षण—मल तथा मूत्र से लिप्त बालक के अपान प्रदेश (गुदा) के प्रक्षालन न करने से अथवा पसीना आने पर न साफ करने से गुदा में रक्त कफजन्य कण्डू उत्पन्न हो जाती है। खुजलाने से शीघ्र ही वहाँ फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और उनमें स्राव होता है। इन फुन्सियों के अनेक व्रणों से युक्त इस गुदा के स्फोटक को 'अहिपूतन' कहते हैं। (यह बालकों का रोग है।) मलद्वार की अस्वच्छता, दूषित दुग्धपान के कारण यह रोग होता है। इसमें खुजली के साथ दाह तथा वेदना भी होती है। दूषित दुग्ध पान से खट्टे डकार तथा दाहयुक्त दस्त भी होता है। इसको अंग्रेजी में 'नेपकीन रैश, (Napkin Rash) या 'सोरबटक, (Sore buttocks) कहते हैं) ॥ ५२-५३॥

वृषणकच्छूलक्षणम्—

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डु जनयते तदा॥ ५४॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां कफरक्तप्रकोपजाम्॥ ५५॥

वृषणकच्छू का लक्षण—स्नान न करनेवाले तथा उबटन न लगानेवाले मनुष्यों के अण्डकोष में स्थित मल स्वेद के संसर्ग से गीलापन होकर खुजली उत्पन्न करता है। तदनन्तर खुजलाने से शीघ्र ही फुन्सियां होकर स्राव निकलने लगता है। इस कफ तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न रोग को 'वृषणकच्छू' कहते हैं॥ ५४-५५॥

गुदभ्रंशलक्षणम्—

प्रवाहणातिसाराभ्यां गुदो निःसार्यते बहिः।
रूक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत्॥ ५६॥

गुदभ्रंश का लक्षण—रूक्ष प्रकृति तथा दुर्बल शरीर वाले रोगी की गुदा प्रवाहण (काँखने) करने तथा अतिसार से बाहर निकल जाती है, उसे 'गुदभ्रंश' कहते हैं॥ ५६॥

विमर्श—यह दुर्बल व्यक्तियों में तथा अधिकतर बच्चों में पाया जाता है।

इसको अंग्रेजी में 'प्रोलेप्स आफ दी रेक्टम' (Prolapse of the Ractum) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है (१) अपूर्ण भ्रंश तथा (२) पूर्णभ्रंश।
१. यह प्रकार युवकों में अधिक होता है। इसमें केवल गुदा की श्लेष्मल कला का ही भ्रंश होता है।

२. पूर्णभ्रंश—इसमें श्लेष्मल कला के साथ सम्पूर्ण गुदा बाहर निकल जाती है। यह प्रकार बच्चों में अधिक होता है।

जिन रोगों में प्रवाहण तथा अतिसार अधिक होता है वे सब गुदभ्रंश के कारण हैं। जैसे—प्रवाहिका, अतिसार, कृमिविकार, अर्श, विबन्ध, पथरी, अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि, मूत्रमार्ग का संकोच तथा गुदसंकोचनी पेशी का दौर्बल्य। रूक्ष व दुर्बल शरीरवाले जैसे—अतिसार, प्रवाहिका, कुक्कुरखांसी तथा रोमान्तिका। इन रोगों में शरीर दुर्बल तथा मेदोहीन हो जाता है। अन्त में गुदा भी रूक्ष तथा दुर्बल हो जाती है और मलत्याग के काल में बाहर निकल आती है।

शूकरदंष्ट्रकलक्षणम्—

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥ ५७ ॥

इत्यष्टचत्वारिंशत्क्षुद्ररोगनिदानम्।

शूकरदंष्ट्र का लक्षण—दाहयुक्त, चारो तरफ से लाल वर्ण का, चर्म का पाक करानेवाला, भयंकर पीड़ा, कण्डू तथा ज्वर इन लक्षणों से युक्त रोग को शूकरदंष्ट्र (वाराहदंष्ट्र) कहते हैं। (इसको लोक में 'वराहदाढ़' कहते हैं) ॥ ५७ ॥

अड़तालिस क्षुद्ररोग का निदान समाप्त।

अथातोऽष्टचत्वारिंशत्क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

क्षुद्ररोग के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

अजगल्लिकाचिकित्सा—

तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत्।
शुक्तिसौराष्ट्रिकाक्षारकल्कैश्चालेपयेन्मुहुः ॥ ५८ ॥

अजगल्लिका की चिकित्सा—अपरिपक्व अजगल्लिका को जोंक लगाकर रक्तनिर्हरण करे और शुक्तिक्षार तथा टंकणक्षार के कल्क से बार-बार लेप करे ॥ ५८ ॥

अनुशयीचिकित्सा—

श्लेष्मविद्रधिकल्पेन जयेच्चानुशयीं भिषक्।

अनुशयी की चिकित्सा—वैद्य अनुशयी नामक रोग की कफजन्य विद्रधि की चिकित्सा की तरह चिकित्सा करे।

विवृतादिचिकित्सा—

विवृतामिन्द्रविद्धा च गर्दभीं जालगर्दभाम् ॥ ५९ ॥
इरिवेल्लीं गन्धनामां जयेत्पित्तविसर्पवत्।
मधुरौषधसिद्धेन सर्पिषा नाशयेद् व्रणम् ॥ ६० ॥

विवृता-आदि रोगों की चिकित्सा—विवृता, इन्द्रविद्धा, गर्दभी, जाल-गर्दभा, इरिवेल्ली तथा गन्धनामा को पित्तविसर्प की तरह शीतल उपचार आदि चिकित्सा से जीत ले और मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत से व्रण को नाश करे ॥ ५९–६० ॥

विदारिकाचिकित्सा—

रक्तावसेकैर्बहुभिः स्वेदनैरपतर्पणैः।
जयेद्विदारिकां लेपैः शिग्रुदेवद्रुमोद्भवैः ॥ ६१ ॥
पनसिकां कच्छपिकामनेन विधिना जयेत्।
साधयेत्कठिनांश्चान्यान् शोफान्दोषसमुद्भवान् ॥ ६२ ॥

विदारिका की चिकित्सा—विदारिका को रक्तावसेचन, अनेक प्रकार के स्वेदन, अपतर्पण तथा सहिजन की छाल एवं देवदारु के लेप से जीत ले। इस प्रकार (रक्तावसेचन, स्वेदन, अपतर्पण तथा लेप) से पनसिका तथा कच्छपिका को जीत ले तथा अन्य वातपित्तादि दोषजन्य कठिन शोथों को सिद्ध करे ॥ ६१–६२ ॥

अलज्यादिचिकित्सा—

अथालजीं कच्छपिकां तथा पाषाणगर्दभम्।
सुरदारुशिलाकुष्ठैः स्वेदयित्वा प्रलेपयेत् ॥ ६३ ॥
कफमारुतशोफघ्नो लेपः पाषाणगर्दभे।

अलजी-आदि की चिकित्सा—अलजी, कच्छपिका तथा पाषाणगर्दभ को, देवदारु, शिलाजीत तथा कूठ इन द्रव्यों का स्वेदन करने के बाद लेप करे। पाषाणगर्दभ में कफवातजन्य शोथनाशक लेप को लगाये।

वल्मीकचिकित्सा—

शस्त्रेणोद्धृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत् ॥ ६४ ॥
मनःशिलालभल्लातसूक्ष्मैलागुरुचन्दनैः।
जातीपल्लवकल्कैश्च निम्बतैलं प्रपाचयेत् ॥ ६५ ॥

वल्मीकं नाशयेत्तेन बहुच्छिद्रं बहुव्रणम् ।

वल्मीक की चिकित्सा—वल्मीक को शस्त्र से छेदन कर क्षारकर्म तथा अग्निकर्म से ठीक करे। मैनसिल, हरताल, भल्लातक, छोटी इलायची, अगर, रक्तचन्दन तथा चमेली-पल्लव के कल्क से नीम का तैल (तैल-निर्माणविधि के अनुसार) पकावे और इस तैल से अनेक छिद्र एवं अनेक व्रणवाले वल्मीक को नाश करे ॥ ६४–६५ ॥

पाददारीचिकित्सा—

पाददारीषु तु शिरां वेधयेत्तलशोधनीम् ॥ ६६ ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नौ तु पादौ चालेपयेन्मुहुः ।
मधूच्छिष्टवसामज्जाघृतक्षीरैर्विमिश्रितैः ॥ ६७ ॥

पाददारी की चिकित्सा—पाददारी में तलको शोधन करने के लिये शिरा का वेधन करे और स्वेदन तथा स्वेदन करने के बाद दोनों पैरों को मोम, वसा, मज्जा, घृत और दूध मिलाकर इससे बार-बार लेप करे ॥ ६६–६७ ॥

सिन्धूत्थसर्जरसयोश्चूर्णं घृतमधुप्लुतम् ।
निर्मथ्य कटुतैलाक्तं हित पादप्रमार्जनम् ॥ ६८ ॥
लिप्त्वा सर्पपतैलेन स्वेदिता चाऽश्मना भृशम् ।
पादपार्ष्णिव्यथा नृणां पक्षार्धेन प्रणश्यति ॥ ६९ ॥

सैन्धानमक तथा सर्जरस (राल) के चूर्ण को घृत में मिलाकर और सरसों के तैल में मथकर पैरों को प्रमार्जन (लेप) करना हितकर होता है। सरसों के तैल का लेप कर पत्थर को गरम कर बार-बार स्वेदन करने से मनुष्यों के पादपार्ष्णि (पैर की एड़ी) की व्यथा (वेदना) एक सप्ताह में नष्ट हो जाती है ॥ ६८–६९ ॥

अलसचिकित्सा—

अलसे तैलससिक्तौ चरणौ परिलेपयेत् ।
पाटलारिष्टकासीसत्रिफलाभिर्मुहुर्मुहुः ॥ ७० ॥
करञ्जबीज रजनी कासीसं मधुकं मधु ।
रोचना हरितालं च लेपोऽयमलसे हितः ॥ ७१ ॥
लाक्षाभयारसैर्लेपः कार्य वा रक्तमोक्षणम् ।

अलस की चिकित्सा—अलस रोग में दोनों पैरों में तैल से स्वेदन करने के बाद पाढ़ल, नीम, कासीस तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला) इन द्रव्यों के कल्क से बार-बार लेप करे। करञ्ज का बीज, हल्दी, कासीस, मुलेठी, मधु, गोरोचन तथा हरिताल इन द्रव्यों के कल्क का लेप अलस रोग में

हितकर होता है। अथवा अलस रोग में रक्तमोक्षण कराये तथा लाख को हर्रे के रस में मिलाकर लेप करे।

कदरचिकित्सा—

दहेत्कदरमुद्धृत्य तैलेन दहनेन वा ॥ ७२ ॥

कदर की चिकित्सा—कदर रोग की ग्रन्थि को ऊपर उठाकर गरम तैल या अग्नि से दग्ध करे ॥ ७२ ॥

चिप्पचिकित्सा—

चिप्पमुष्णाम्बुना स्विन्नमुद्धृत्याभ्यज्य तं व्रणम् ।
दत्त्वा सर्जरसाच्चूर्णं बद्ध्वा व्रणवदाचरेत् ॥ ७३ ॥

चिप्प की चिकित्सा—चिप्प रोग के व्रण को गरम जल से स्वेदन करने के बाद अभ्यञ्जन करे और सर्जरस (राल) के चूर्ण को लगाकर बांध दे तथा व्रण की तरह चिकित्सा करे ॥ ७३ ॥

स्वरसेन हरिद्राया पात्रे कृष्णायसेऽभयाम् ।
घृष्ट्वा तज्जेन कल्केन लिम्पेच्चिप्पं पुनः पुनः ॥ ७४ ॥

काले लोहे के पात्र में हल्दी के स्वरस के साथ हर्रे को घिसकर उसके कल्क से चिप्परोग के व्रण को बार-बार लेप करे ॥ ७४ ॥

पद्मिनीकण्टकचिकित्सा—

निम्बोदकेन वमनं पद्मिनीकण्टके हितम् ।
निम्बोदकश्टृतं सर्पिः सक्षौद्रं पानमिष्यते ॥ ७५ ॥
निम्बारग्वधकल्कैर्वा मुहुरुद्वर्तनं हितम् ।

पद्मिनीकण्टक की चिकित्सा—पद्मिनीकण्टक रोग में नीम के जल से वमन कराना हितकर होता है और नीम के रस से सिद्ध घृत, मधु मिलाकर पान करना लाभप्रद है। अथवा नीम की छाल तथा अमलतास के कल्क से बार-बार उबटन लगाना हितकर होता है।

अहिपूतनकचिकित्सा—

अहिपूतनके धात्र्याः पूर्वं स्तन्यं विशोधयेत् ॥ ७६ ॥
त्रिफलाखदिरक्वाथैर्व्रणानां धावनं सदा ।
करञ्जत्रिफलातिक्तैः सर्पिः सिद्धं शिशोर्हितम् ॥ ७७ ॥
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ।

अहिपूतन की चिकित्सा—अहिपूतनक रोग में सर्वप्रथम धाय के दूध का संशोधन कराना चाहिए और त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला) तथा खैर के क्वाथ से हमेशा धुलाना चाहिए। करञ्ज, त्रिफला तथा कुटकी के क्वाथ से सिद्ध

घृत बच्चों के लिये हितकर होता है। विशेषकर पान तथा आलेप के लिये रसाञ्जन हितकर होता है।

गुदभ्रंशचिकित्सा—

गुदभ्रंशे गुदं स्नेहैरभ्यज्याशु प्रवेशयेत् ॥ ७८ ॥
प्रविष्टे स्वेदयेच्चापि बद्धं गोफणया भृशम् ।

गुदभ्रंश की चिकित्सा—गुदभ्रंश में गुदा को स्नेह (तैल, घृत, वसा, मज्जा आदि) से अभ्यञ्जन कर शीघ्र ही प्रवेश कर दे। प्रवेश करने के बाद गोफणा[1] नामक बन्धन से बांधकर अच्छी तरह स्वेदन भी करें।

कोमलं पद्मिनीपत्रं यः खादेच्छर्करान्वितम् ॥ ७९ ॥
एतन्निश्चित्य निर्दिष्टं न तस्य गुदनिर्गमः ।
वृक्षाम्लानलचाङ्गेरीविश्वपाठायवाग्रजम् ॥ ८० ॥
तक्रेण शीलयेत् पायुभ्रंशार्तोऽनलदीपनम् ।

जो व्यक्ति कमलिनी के कोमल पत्तों को पीसकर तथा शक्कर मिलाकर खाता है उसकी गुदा बाहर नहीं निकलती है। यह निश्चित कर (अनुभव के बाद) कहा गया है। गुदभ्रंश से पीड़ित रोगी वृक्षाम्ल (अम्लवेंत), चित्रक, चाङ्गेरी, सोंठ, पाढ़ी तथा यवक्षार इन द्रव्यों को मट्ठा के साथ सेवन करे यह अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है।

गुदं च गव्यपयसा म्रक्षयेदविशङ्कितः ॥ ८१ ॥
दुःप्रवेशो गुदभ्रंशो विशत्याशु न संशयः ।
मूषिकाणां वसाभिर्वा गुदे सम्यक्प्रलेपिते ॥ ८२ ॥
सुस्विन्नमूषिकामांसेनाथवा स्वेदयेद् गुदम् ।

गुदा को गाय के घृत से शंकारहित होकर म्रक्षण (मर्दन कर मुलायम) करे। इससे मुलायम करने के बाद कष्ट से प्रवेश करने योग्य भी गुदभ्रंश शीघ्र ही प्रवेश कर जाता है इसमें सन्देह नहीं है। अथवा मूषक (चूहा) की वसा से अच्छी तरह गुदा को लेप करने से गुदभ्रंश प्रविष्ट हो जाता है। या अच्छी तरह पकाये हुए मूषक के मांस से गुदा का स्वेदन करे।

---

१. गोफणा नामक चर्म की बनी हुई एक पट्टी होती है और उसके मध्य में एक छिद्र होता है जिसके द्वारा वायु निकलती रहती है। बन्धन के पहले पट्टी, गाज तथा रूई आदि उपकरणों को विसंक्रमण द्रव्य से शुद्ध कर देना चाहिये। गुदा को अन्तः प्रविष्ट करने के लिये हाथ शुद्धकर गाज के सहारे प्रविष्ट करे। इसके बाद गोफणा नामक चर्म की पट्टी को बांध दे और ऊपर से स्वेदन करे।

गुदभ्रंशे चाङ्गेरीघृतम्—

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम् ।
घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशे रुजापहम् ॥ ८३ ॥

गुदभ्रंश में चांगेरी घृत—चांगेरी का स्वरस, बैर का स्वरस तथा अम्ल-मट्ठा लेकर उसमें सोंठ तथा यवक्षार का कल्क मिलाकर (घृत-निर्माणविधि के अनुसार) घृत सिद्ध करे । यह घृत गुदभ्रंश में पान करने से उसकी पीड़ा को दूर करता है । द्रव चार सेर, घृत एक सेर, कल्क एक पाव ग्रहण करे ॥ ८३ ॥

गुदभ्रंशे मूषिकातैलम्—

क्षीरे महत्पञ्चमूले मूषिकं त्वन्त्रवर्जितम् ।
पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ।
गुदभ्रंशमिदं तैलं पानाभ्यङ्गात्प्रसाधयेत् ॥ ८४ ॥

गुदभ्रंश में मूषिका तैल—[1]दूध तथा बृहत्पञ्चमूल (बेल, गम्भारी, पाढल, अरलू, अरनी) के कल्क में आन्त्ररहित मूस के मांस को पकाकर उसमें वातनाशक औषधों को मिलाकर तैल सिद्ध करे । यह तैल पान करने तथा अभ्यञ्जन करने से गुदभ्रंश को ठीक करता है ॥ ८४ ॥

परिवर्तिकाचिकित्सा—

स्वेदोपनाहौ परिवर्तिकायां कृत्वा समभ्यज्य घृतेन पश्चात् ।
प्रवेशयेच्चर्म शनैः प्रविष्टे मांसैः सुपिष्टैरुपनाहयेच्च ॥ ८५ ॥

परिवर्तिका की चिकित्सा—परिवर्तिका नामक क्षुद्र रोग में स्वेदन तथा उपनाहन करने के बाद में [2]घृत से अभ्यञ्जन कर धीरे धीरे चमड़े को प्रवेश

---

१. दूध एक सेर, आंत निकाले हुए मूषक (चूहा अथवा छुछुन्दर) का मांस तथा पञ्चमूल का कल्क एक सेर दोनों को मिलाकर अच्छी तरह पकावे एक सेर शेष रह जाने पर उसको उतार कर एक कड़ाही में रखकर एक कुडव (सोलह तोला) तिल का तैल, एक छटांक भद्रदार्वादि (वातनाशक) औषधों का कल्क, तथा तीन सेर पानी मिलाकर तैल सिद्ध करे यह 'मूषक तैल' बनाने की विधि है ।

२. परिवर्तिका रोग में शिश्नमणि तथा शिश्नचर्म को स्निग्ध करने के लिये घृत का अभ्यङ्ग कर ले । इसके बाद स्वेदन तथा उपनाहन करके वैद्य दोनों हाथों से अग्र चर्म को पकड़ कर धीरे धीरे त्वचा को आगे लाने का प्रयत्न करे । इस प्रकार चर्म को ऊपर उठाते हुए अंगूठे के सहारे मणि को पीछे की ओर दबाये रखना चाहिए । जब मणि के ऊपर अग्र चर्म आ जाय तो कई दिनों तक (एक से पांच रात्रि तक रोग के बल के अनुसार) वातनाशक

करे और प्रवेश हो जाने पर अच्छी तरह मांस को पीसकर उपनाहन (पुल्टिस) करे ॥ ८५ ॥

चर्मकीलादिचिकित्सा—

चर्मकीलाञ्जतुमणि मषकांस्तिलकालकान् ।
उत्कृत्य शस्त्रेण दहेत्क्षाराग्निभ्यां विशेषतः ॥ ८६ ॥

चर्मकील आदि की चिकित्सा—चर्मकील, जतुमणि, मषक तथा तिलकालक को शस्त्र से छेदन करे, और विशेष कर क्षार कर्म तथा अग्नि कर्म से दग्ध करे। (शस्त्र-कर्म करने के पहले स्थान एवं उपकरण आदि की शुद्धि अच्छी तरह कर लेनी चाहिए) ॥ ८६ ॥

मषकचिकित्सा—

वातारिपत्रवृन्तप्रान्तेनादाय चूर्णकं बहुशः ।
निघृष्टस्तेन मषः प्रस्तुतरुधिरः क्षयं याति ॥ ८७ ॥

मषक (मस्सा) की चिकित्सा—वातरि (एरण्ड) पत्र के वृन्त (डँपी) के किनारे से चूर्णक (चूना) को अनेक वार उठाकर उससे मषक को घर्षण करे। इस प्रकार घर्षण करने से मषक (मस्सा) का रक्त निकल जाता है और रक्त निकल जाने पर मषक (मस्सा) नष्ट हो जाता है ॥ ८७ ॥

तीव्रानलप्लोषितकोटिभागकार्पासिकाकाण्डवितीर्णदाहः ।
मषः प्रयाति प्रशमं नराणां चिरप्ररूढोऽप्यचिरेण नूनम् ॥ ८८ ॥

मनुष्यों का पुराना कठिन मषक रोग कपास के डठल को तीव्र अग्नि में जलाकर अनेक वार दाह करने से थोड़े ही दिन में शान्त हो जाता है ॥ ८८ ॥

निशोषितसुवर्चिकासहिततोयनिर्वापितं
समुद्रभवकम्बुजं भवति भस्म लेपो नृणाम् ।
मषस्य शमहेतवे भुजगकञ्चुको वा दृढं
प्रघर्षणविधानतस्तदनु कोषिते कञ्चुके(?) ॥ ८९ ॥

सुवर्चिका (स्वर्जिका) तथा शंख को गरम कर तथा जल में बुझाकर उसकी भस्म का बनाया हुआ लेप मनुष्यों के मषक को शान्त करने वाला होता है। अथवा सांप के केंचुल की मषक से अच्छी तरह घर्षण कर उसको बांध देने से मषक नष्ट हो जाता है ॥ ८९ ॥

मुखदूषिकादिचिकित्सा—

युवानपिटिकान्यच्छनीलिकाव्यङ्गशर्कराः ।
शिरावेधैः प्रलेपैश्च जयेदभ्यञ्जनैस्तथा ॥ ९० ॥

औषधों के द्वारा स्वेदन करते रहना चाहिए। भोजन के लिये स्निग्ध पदार्थ दे तथा वातनाशक वस्ति-कर्म करे।

रोध्रधात्रीवचालेपस्तारुण्यपिटिकापहः ।
तद्वद्गोरोचनायुक्तं मरिचं मुखलेपनात् ॥ ९१ ॥

मुखदूषिका की चिकित्सा—युवानपिडिका, न्यच्छ, नीलिका, व्यङ्ग तथा शर्करार्बुद को शिरावेध, लेप तथा अभ्यञ्जनों के द्वारा जीत ले। लोध, धात्री (आंवला) तथा वच इन द्रव्यों के कल्क का लेप युवानपिडिका को नाश करता है। उसी प्रकार गोरोचन तथा काली मिर्च के कल्क का लेप युवानपिडिका को नष्ट करता है ॥ ९०–९१ ॥

कुस्तुम्बरुवचायुक्तरोध्रमालेपनं हितम् ।
युवानपिटिका हन्ति वदन्ति विदुषो जनाः ॥ ९२ ॥

अनुभवी, विद्वान् चिकित्सक कहते हैं कि कुस्तुम्बुरु (धनियां), वच तथा लोध इन द्रव्यों के कल्क का हितकर लेप युवानपिडिका को नाश करता है ॥ ९२ ॥

सिद्धार्थकवचारोध्रसैन्धवैश्च प्रलेपनम् ।
वमनं च निहन्त्याशु पिटिका यौवनोद्भवाः ॥ ९३ ॥

सफेद सरसों, वच, लोध तथा सेन्धा नमक इन द्रव्यों के कल्क का लेप करना तथा रोगी को वमन करना युवावस्था में उत्पन्न पिडिका (युवानपिडिका या मुखदूषिका) को शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥ ९३ ॥

व्यङ्गचिकित्सा—

व्यङ्गेषु चार्जुनत्वग्वा मञ्जिष्ठा वा समाक्षिका ।
लेपः सनवनीतो वा श्वेताश्वखुरजा मषी ॥ ९४ ॥

व्यङ्ग की चिकित्सा—व्यङ्ग रोगों में अर्जुन की छाल का लेप या मधु मिलाकर मञ्जीठ के कल्क का लेप अथवा मक्खन मिलाकर सफेद घोड़े के खुर की स्याही (खुर को जलाकर बनाई गई स्याही) का लेप लगाना हितकर होता है ॥ ९४ ॥

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठाकुष्ठरोध्रप्रियङ्गवः ।
वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ ९५ ॥

रक्तचन्दन, मञ्जीठ, कूठ, लोध, प्रियङ्गु, वटांकुर तथा मसूर इन द्रव्यों के कल्क का लेप व्यङ्ग रोग को नाश करने वाला तथा मुख को कान्ति देनेवाला है ॥ ९५ ॥

व्यङ्गानां लेपनं शस्तं रुधिरेण शशस्य वा ।
केवलान् पयसा पिष्ट्वा तीक्ष्णान् शाल्मलिकण्टकान् ॥ ९६ ॥
आलिप्तं क्षणमेतैस्तु भवेत्पद्मोपमं मुखम् ।

अथवा शशक (खरगोश) के रक्त से व्यङ्गों को लेप करना प्रशस्त है या केवल सेमर के तेज काटों को दूध के साथ अच्छी तरह पीसकर लेप करने से मुख कमल की तरह सुन्दर हो जाता है ॥ ९६ ॥

मसूरैः सर्पिषा पिष्टैर्लिप्तमास्यं पयोन्वितैः ॥ ९७ ॥
सप्तरात्रेण भवति पुण्डरीकदलप्रभम् ।

मसूर के दाल को दूध के साथ पीसकर घृत मिलाकर मुख के ऊपर लेप करने से मुख सात दिन के कमल के पत्ते के समान चिकना हो जाता है ॥ ९६ ॥

तत्कालशस्त्रप्रहतः शशो यस्तस्यासृजा नश्यति लिप्यमानम् ।
व्यङ्गं मुखे जातिफलस्य बाह्यत्वचाऽथवा सततलिप्यमानम् ॥ ९८ ॥

तुरन्त के शस्त्र से मारे हुए खरगोश के रक्त का लेप करने से व्यङ्ग रोग नष्ट होता है। या जातिफल (जायफल) के बाहर छिलका को पीसकर मुख में बराबर लगाने से व्यङ्ग रोग नष्ट होता है ॥ ९८ ॥

इङ्गुदीफलसमुद्भवमज्जा पेषितोऽतिशिशिरेण जलेन ।
एकविंशतिदिनप्रविलिप्तो व्यङ्गमाननभवं परिमार्ष्टि ॥ ९९ ॥

इङ्गुदी (हिंगोट गोंदी) के फल की मज्जा अत्यधिक शीतल जल के साथ पीसकर एक्कीस दिन तक लेप करने से मुख में उत्पन्न व्यङ्ग को साफ कर देती है। अर्थात् व्यङ्ग को नष्ट करती है ॥ ९९ ॥

कृष्णैस्तिलैरसितजीरकजीरकाभ्यां
सिद्धार्थकैश्च विहितो मसृणप्रपिष्टैः ।
दुग्धान्वितो वदनचन्द्रमसः प्रलेपो
व्यङ्गं विलुम्पति मुहुः परिशील्यमानः ॥ १०० ॥

काला तिल, असित जीरक (मगरैल) स्याह जीरा, तथा सफेद जीरा तथा सफेद सरसों इन द्रव्यों को महीन पीसकर दूध में मिलाकर बनाया हुआ लेप मुख के ऊपर बार बार लेप करने से व्यङ्ग को नाश करता है ॥ १०० ॥

हैयङ्गवीनगुडमाक्षिककोलमध्य-
सारैः प्रणश्यति मुखस्य कलङ्ककार्ष्ण्यम् ।
तद्वाऽरणीत्वगथवा छगलीस्तनोत्थ-
क्षीरान्विता क्षपयति प्रसभं प्रलेपात् ॥ १०१ ॥

हैयङ्गवीन (मक्खन), गुड़ तथा मधु में बेर के मध्य भाग का सार (मज्जा) का चूर्ण मिलाकर लेप करने से मुख का कलंक (कालिमा, व्यङ्ग रोग) नष्ट हो जाता है। अथवा अरणी की छाल, बकरी के दूध के साथ पीसकर मुख के ऊपर लेप करने से व्यङ्ग को दृढ़पूर्वक दूर करता है ॥ १०१ ॥

मुखशरीरयोः कान्तिप्रदाः कतिपययोगाः—

क्षौद्ररोध्रमधुकैः ससर्षपैर्निस्तुषीकृतयवैश्च पेषितैः।
लेपितं भवति तप्तकाञ्चनप्रख्यमाननमतीव सुन्दरम् ॥ १०२ ॥

मुख तथा शरीर को कान्ति देनेवाले (सुन्दर बनाने वाले) कुछ योग लोध, मुलेठी, सरसों तथा भूसी निकाला हुआ यव इन द्रव्यों को महीन पीसकर मधु मिलाकर लेप करने से मुख तपाये हुए सोने के समान अत्यधिक सुन्दर हो जाता है ॥ १०२ ॥

परिणतवटपत्रस्वर्णगन्धाप्रियङ्गु-
मधुकमथ सरोज रोध्रकाश्मीरलाक्षाः
सलिलयुतमितीद चित्रवल्ली च पिष्टा
जनयति वदनानां कान्तिभव्यं प्रलेपात् ॥ १०३ ॥

परिणत वटपत्र (पककर गिरा हुआ वट का पीला पत्ता), स्वर्ण (धत्तूर), गन्धा (रासना), फूलप्रियङ्गु, मुलेठी, कमल, लोध, काश्मीर-केशर तथा लाख इन द्रव्यों को अथा चित्रवल्ली (इन्द्रवारुणी) को जल के साथ महीन पीसकर लेप करने से मुखों को कान्तिमान तथा सुन्दर बनाता है ॥ १०३ ॥

प्रियङ्गुकश्मीरजकोलमज्जाह्रीबेरकैश्चन्दनभागयुक्तैः ।
पिष्टैः प्रलेपो विहितो मुखस्य द्युति शशाङ्कादधिकां विधत्ते ॥ १०४ ॥

फूलप्रियंगु, कश्मीरज (केशर), बैर की मज्जा, ह्राऊबेर, रक्तचन्दन, समभाग—इन द्रव्यों को महीन पीसकर उसके कल्क का लेप लगाने से मुख की कान्ति चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर हो जाती है ॥ १०४ ॥

यः पत्राङ्गमृणालपद्मकगदैः कोलास्थिमज्जान्वितैः
स्वर्णत्वङ्मलयोत्थकुङ्कुमनिशायुग्मैः सकालेयकैः।
श्यामाशाबररोचनामधुलतायुक्तैर्मयूरैरति-
श्लक्ष्णैः साधुभिराहितः स कुरुते लेपो मुखे गौरताम् ॥ १०५ ॥

पत्राङ्ग, कमल की नाल, पद्मकाठ, गद (कूठ), बैर की गुठली की मज्जा, स्वर्ण (गौरसुवर्ण शाक चित्रकूट में प्रसिद्ध शाक विशेष), दालचीनी, मलयोत्थ (मलयागिरि चन्दन), कुंकुम, हल्दी, दारुहल्दी, कालेयक (अगर), श्यामा (प्रियगु), शावररोचना (कस्तूरी), मधुलता (मुलेठी) तथा अपामार्ग का बीज—इन द्रव्यों को अच्छी तरह महीन पीसकर बनाया हुआ लेप लगाने से मुख को गोरा (सुन्दर चिकना) बना देता है ॥ १०५ ॥

यत्पक्कं मधुसारपद्मकनिशारोध्रैः सकालेयकैः
कङ्गूसर्षपसंयुतैस्तदमलाकुर्याद्‌ घृतं वाससा ।

पश्चात्सिक्थकभूरिकुङ्कुमयुतं शीतेऽम्भसि स्थापितं
पक्वं मृद्वनले मुखस्य शिशिरे कान्ति विधत्ते पराम् ॥ १०६ ॥

मधुसार (मुलेठी), पद्मकाठ, हल्दी, लोध, अगर, कण्डु (प्रियंगु) तथा सरसों इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृत के चौथाई कल्क तथा घृत के चौगुना जल मिलाकर, घृत-निर्माण विधि के अनुसार) पकाये और घृत को कपड़ा से छान ले। उसके बाद उस घृत में मोम तथा पर्याप्त मात्रा में कुंकुम मिलाकर मृदु आंच से पुनः पकावे। और उसको शीशी में रखकर शीतल जल के पात्र में रक्खे। यह घृत शिशिर ऋतु में मुख के ऊपर लेप करने से मुख की कान्ति को उत्तम बनाता है। अर्थात् मुख को चिकना तथा शोभायुक्त बनाता है ॥ १०६ ॥

मञ्जिष्ठामधुचन्दनैः सलाक्षैः कश्मीरप्रभवयुतैः सकर्षमात्रैः।
तैलस्य प्रसितपलाष्टकं विपक्वं यत्क्षीरे द्विगुणमिते भवत्यजायाः ॥१०७॥
अभ्यङ्गादनुदिवसं विधीयमानं
नारीणां वितरति सप्तभिर्दिनैस्तत्।
वक्त्राब्जेष्वतनुकपोलभित्तिभाग-
प्रस्फूर्जद्द्युतिसुभगत्वमत्युदारम् ॥ १०८ ॥

मुलेठी, मलय गिरिचन्दन, लाख तथा कश्मीर-प्रभव (केशर) समभाग इन द्रव्यों को एक एक कर्ष (एक एक तोला) लेकर उसके कल्क के साथ तैल आठ पल (आठ छटांक) तथा बकरी का दूध दुगुना (एक सेर) मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल मुख में लगने से स्त्रियों के टेढे मुख में भी परिपूर्ण प्राप्त होकर भरे हुए कपोलों के प्रान्त भाग की चमकती हुई उत्तम शोभा को प्रदान करता है ॥ १०७–१०८ ॥

अम्भःक्षालितटङ्कणेन मसृणोत्पिष्टेन यल्लेपितं
ताम्रं तत्परिताप्य सूक्ष्मकणिकाभावं क्रमात्प्रापयेत्।
धौते तत्र चतुर्गुणं विनिहितं तैलं सुरभ्याः पयो
विन्यस्याष्टगुणं पचेत्सुनिपुणो नात्यन्ततीव्रेऽनले ॥ १०९ ॥
कर्षं तैलपले क्षिपेदथ मधूच्छिष्टस्य काश्मीरज-
स्याष्टांशं विनिधाय तेन शिशिरे वक्त्रं समालेपयेत्।
एवं व्यङ्गकलङ्कबिन्दुवलिभिर्निर्मुक्तमत्युज्ज्वलं
तत्स्यात्पार्वणचन्द्रबिम्बविजयि प्रस्फारचारुद्युति ॥ ११० ॥

जल से प्रक्षालित टंकड़ा (सुहागा) को महीन पीसकर उससे ताम्रपत्र के ऊपर लेप कर आग में तपाये। अच्छी तरह तप्त हो जाने पर धीरे २ छोटे २ टुकड़ा बना दे इसके बाद उस ताम्रपत्र को धोकर उसके चौगुना तैल तथा

आठगुना गाय का दूध मिलाकर बुद्धिमान् कार्यकुशल वैद्य मन्द आंच में पकावे। इसके बाद सिद्ध एक पल (एक छटांक) तैल में एक कर्ष (१ क तोला) मोम तथा आधा तोला कुंकुम मिलाकर उससे शिशिर ऋतु में मुख के ऊपर लेप करे।

इस प्रकार लेप करने से व्यंग नामक रोग के कलङ्क-विन्दु से युक्त वलियों से मुक्त होकर उज्ज्वल पौर्णमासी के चन्द्रमा के बिम्ब को जीतनेवाली चमकती हुई कान्ति हो जाती है। अर्थात् इस तैल को लगाने से मुख की शोभा अधिक बढ़ जाती है और व्यंग रोग नष्ट हो जाता है ॥ १०९-११० ॥

मातुलुङ्गजटासर्पिः शिलागोशकृतो रसः।
मुखकान्तिकरो लेपः पिटिकातिलकापहः॥ १११ ॥

मातुलुङ्ग जटा (बिजौरे नींबू की जड़) के कल्क से सिद्ध घृत, शिलाजीत, तथा गाय के गोबर का रस इन तीनों द्रव्यों को मिलाकर लगाने से यह लेप मुख की शोभा को बढ़ानेवाला तथा पिड़िका एवं तिलकालक को नष्ट करनेवाला है। या उपरोक्त तीनों द्रव्यों को मिलाकर पकाया हुआ घृत मुख की पिड़िका तथा तिलकालक को नष्ट करता है ॥ १११ ॥

कालेयकोत्पलामयदधिसरबदरास्थिमध्यफलिनीभिः।
लिप्तं भवति हि वदनं शशिप्रभं सप्तरात्रेण ॥ ११२ ॥

कालेयक (अगर), नीलकमल, आमय (कूठ), दही का पानी तथा बेर के गुठली के बीच की मज्जा एवं प्रियंगु समभाग—इन द्रव्यों को दही के साथ पीसकर लेप करने से मुख सात रात्रि मे चन्द्रमा की कान्ति के समान हो जाता है ॥ ११२ ॥

रक्षोघ्नशर्वरीद्वयमञ्जिष्ठागैरिकाज्यबस्तपयः।
सिद्धेन लिप्यमानं मुखबिम्बं चन्द्रवद्भाति ॥ ११३ ॥

रक्षोघ्न (पीत सरसों) शर्वरीद्वय (हल्दी, दारुहल्दी), मंजीठ तथा गेरू इन द्रव्यों के कल्क (घृत के चौथाई) के साथ बकरी का दूध (घृत के चौगुना) मिलाकर (घृत-निर्माण-विधि के अनुसार) घृत सिद्ध करे। यह सिद्ध घृत मुख में लगाने से मुख-मण्डल को चन्द्रमा के समान सुशोभित करता है ॥ ११३ ॥

व्यङ्गादौ हरिद्रादितैलम्—

हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकालीयककुचन्दनैः।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठापद्मपद्मककुङ्कुमैः ॥ ११४ ॥
कपित्थतिन्दुकप्लक्षवटपत्रैः पयोन्वितैः।
लेपयेत्कल्कितैरेभिस्तैलं वाऽभ्यञ्जनं पचेत् ॥ ११५ ॥

विप्लवं नीलिकाव्यङ्गांस्तिलकान्मुखदूषकान् ।
नित्यसेवी जयेत्क्षिप्रं मुखं कुर्यान्मनोरमम् ॥ ११६ ॥

व्यङ्ग आदि रोगों में हरिद्रादि तेल—हरिद्राद्वय (हल्दी, दारुहल्दी), मुलेठी, कालीयक (मलयगिरि चन्दन), कुचन्दन (रक्तकाष्ठ-पतग), प्रपौण्डरीक, मंजीठ, कमल, पद्मकाठ, कुङ्कुम, कैथ, तिन्दुक (तेंदुआ), पाकड़ तथा वट का पल्लव समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल के चौथाई) दूध (तैल के चौगुना) मिलाकर तैल सिद्ध करे और इस तैल से मुख के ऊपर लेप या अभ्यञ्जन करे। इस तैल का प्रतिदिन सेवन करनेवाला विप्लव, नीलिका, व्यंग, तिलकालक तथा मुखदूषिका (युवानपिडिका) को जीत लेता है और मुख को सुन्दर बना लेता है ॥ ११४–११६ ॥

कनकतैलम्—

मधुकस्य कषायेण तैलस्य कुडवं पचेत् ।
कल्कैः प्रियङ्गुमञ्जिष्ठाचन्दनोत्पलकेसरैः ॥ ११७ ॥
कनकं नाम तत्तैलं स्वर्णाभमुखकारकम् ।
अतीव नीलिकाव्यङ्गशोधनं परमोत्तमम् ॥ ११८ ॥
क्षिप्रं शीताम्बुना नश्युमुखव्यङ्गानि देहिनाम् ।
यान्ति रोचनया लिप्तान्यवश्यायनिघृष्टया ॥ ११९ ॥

कनक तैल—मुलेठी के कषाय के साथ (कषाय एक सेर), तैल एक कुडव (एक पाव), प्रियगु, मंजीठ, रक्तचन्दन, नीलकमल तथा केशर इन द्रव्यों का कल्क (तैल के चौथाई एक छटांक) मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह कनक-नामक तैल लेप करने से स्वर्ण के समान मुख की शोभा को बढ़ाने वाला है। इस तैल को शीतल जल के साथ मिलाकर लगाने से मनुष्यों के व्यंगरोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अवश्याय (ओस) में गोरोचन को घिसकर लगाने से व्यंग रोग नाश हो जाते हैं ॥ ११७–११९ ॥

मुखलेपप्रमाणम्—

अङ्गुलस्य चतुर्भागो मुखलेपो विधीयते ।
मध्यमस्तु त्रिभागः स्यादुत्तमोऽर्धाङ्गुलो भवेत् ॥ १२० ॥

मुख में लेप करने का प्रमाण—मुख में अंगुल के चौथाई भाग लेप करने का विधान है। अङ्गुलियों का तीन भाग लेप करना मध्यम होता है तथा आधा अङ्गुल लेप करना उत्तम होता है ॥ १२० ॥

देहकान्त्यादिवर्धनाः कतिपययोगाः—

अगस्त्यपुष्पचूर्णेन माहिषं श्रपयेत्पयः ।
तदुत्थनवनीतं हि देहजं स्फुटितं जयेत् ॥ १२१ ॥

शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले कुछ योग—अगस्त्य के पुष्प के चूर्ण के साथ भैंस का दूध पकावे। और उससे निकाले हुए नवनीत (मक्खन) का लेप लगाने से देह में उत्पन्न स्फुटित रोग (छोटी २ फुन्सी या शरीर के चर्म का फटना) नष्ट हो जाता है ॥ १२१ ॥

माहिषं नवनीतं तु खलेन परिमिश्रितम्।
गोमूत्रसहितं कृत्वा क्षारेण लवणेन च ॥ १२२ ॥
तदेकत्र समालोड्य वह्निना तापयेच्छनैः।
गात्रमुद्वर्तयेत्तेन सम्यक् स्फुटितशान्तये ॥ १२३ ॥

भैंस के मक्खन को खरल में घोटकर गाय का मूत्र, यवक्षार तथा सेन्धा नमक, इन द्रव्यों को एकत्र मिलाकर किसी पात्र में रखकर धीरे धीरे आग से तपाये और उससे स्फुटित की शान्ति के लिये शरीर पर अच्छी तरह उबटन लगाये ॥ १२२–१२३ ॥

हरितकी तु संपेष्य गात्रमुद्वर्तयेन्नरः।
पश्चात्स्नानं प्रकुर्वीत देहस्वेदोपशान्तये ॥ १२४ ॥

शरीर के पसीना को रोकने के लिये मनुष्य हर्रे को पीसकर शरीर पर उबटन लगाये और बाद में स्नान करे ॥ १२४ ॥

बब्बूलस्य फलैः सम्यग्वारिणा परिपेषितैः।
गात्रमुद्वर्तयित्वा तु हरीतक्या सुपिष्टया ॥ १२५ ॥
भूयस्तूद्वर्तनं कृत्वा पश्चात्स्नान प्रकल्पयेत्।
प्रस्वेदान्मुच्यते क्षिप्रं ततश्चैवं समाचरेत् ॥ १२६ ॥
गोमूत्रेण समालोड्य माहिप शकृदुत्तमम्।
तेनैवालेपन कुर्याद्देहदुर्गन्धनाशनम् ॥ १२७ ॥

बब्बूल के फल को जल के साथ अच्छी तरह पीसकर शरीर में उबटन लगावे और पुनः हर्रे पीसकर उबटन लगाये और बाद में स्नान करे। इस प्रकार करने से शीघ्र ही स्वेद (पसीना) आने से मुक्त हो जाता है। इसके बाद निम्न प्रयोगों को करे।

भैंस के उत्तम गोबर को लेकर गाय के मूत्र में अच्छी तरह मिलाकर शरीर पर लेप करे। यह लेप शरीर के दुर्गन्ध को नाश करता है ॥ १२५–१२७ ॥

नवनीतं वचा चैव माषाः सक्तुसमन्विताः।
पद्मपत्रं शताह्वा च लेपयेत्प्रमदातनुम् ॥ १२८ ॥
स्थूला भवति गौरी च प्रयोगात्सप्तरात्रतः।

वच, माष (उड़द), सत्तू, कमल का पत्ता सौंफ इन द्रव्यों को पीसकर

मक्खन मिलाकर स्त्री के शरीर में ऊपर से लेप करे। यह लेप सात रात्रि तक लगाने से स्त्री मोटी तथा गौरवर्ण की हो जाती है।

उभे हरिद्रे मञ्जिष्ठा घृतं गौराश्च सर्षपाः ॥ १२९ ॥
एतैश्चैव भवेद्वक्त्रमुदितादित्यसप्रभम् ।

हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ तथा सफेद सरसो इन द्रव्यों को पीसकर तथा घृत मिलाकर लेप करने से उगते हुए सूर्य के समान मुख चमकने लगता है।

वचां रोध्रमुशीरं च सर्पिः सर्जरसं पयः ॥ १३० ॥
पीतानि वटपत्राणि हरिद्रां सह पेषयेत् ।
मुखं भवति पद्माभं पादौ गर्भत्वचोपमौ ॥ १३१ ॥
प्रियो भवति नारिणां राज्ञो जनपदस्य च ।

वच, लोध, खश, घृत, सर्जरस (राल), दूध, वट के पीले पत्ते तथा हल्दी इन सभी द्रव्यों को एक ही साथ महीन पीस कर लेप लगायें। इस लेप को लगाने से मुख कमल के समान सुन्दर तथा पैर गर्भस्थ बालक के पैर के सदृश हो जाता है और स्त्री, राजा तथा जन-समूह का प्रिय हो जाता है।

गलदाहो यदा पुंसां भुक्ते संजायते भृशम् ॥ १३२ ॥
चणकैर्भक्षितैरामैस्तथा शान्तिमियात्क्षणात् ।

यदि मनुष्यों को भोजन के बाद गले में अत्यधिक जलन हो तो कच्चे चनों को चबाकर खाने से शान्त हो जाता है।

शिरीषलामज्जकहेमरोध्रैस्त्वग्दोषसंस्वेदहरः प्रदेहः ।
पत्राम्बुलोहामयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रघर्षः ॥ १३३ ॥

शिरीष, लामज्जक (लज्जालु), हेम (सत्यानासी) का बीज, तथा लोध इन द्रव्यों का बनाया हुआ प्रदेह लगाने से चमड़े का दोष तथा स्वेद को दूर करता है। पत्र (तेज पत्र), सुगन्धवाला, लोह (अगर), आमय (कूट) तथा मलयगिरि चन्दन इन द्रव्यों का प्रघर्ष (उबटन) शरीर के दुर्गन्ध को नाश करता है ॥ १३३ ॥

वासादलरसालेपश्शङ्खचूर्णेन संयुतः ।
बिल्वपत्ररसो वाऽपि गात्रदौर्गन्ध्यनाशनः ॥ १३४ ॥

अडूसा के पत्तों का रस शङ्ख का चूर्ण मिलाकर लेप करने से या बेल के पत्ते का रस लेप करने से शरीर के दुर्गन्ध को नाश करता है ॥ १३४ ॥

हरितकी रोध्रमरिष्टपत्रं बिल्वत्वचो दाडिमवल्कलं च ।
एषोऽङ्गरागः कथितोऽङ्गनानामङ्गप्रघर्षश्च नराधिपानाम् ॥ १३५ ॥

हर्रे, लोध, नीम का पत्ता, बेल की छाल तथा अनार की छाल, समभाग

इन द्रव्यों का पीसकर बनाया हुआ अङ्गराग स्त्रियों तथा राजाओं का अङ्ग-प्रवर्ष (उबटन) कहा गया है ॥ १२५ ॥

गोमूत्रपिष्टं विनिहन्ति कुष्ठं वर्णोज्ज्वलं गोपयसा च युक्तम् ।
कक्षादिदौर्गन्ध्यहरं पयोभिः शस्तं वशीकृद्रजनीद्वयेन ॥ १२६ ॥

हल्दी तथा दारुहल्दी गाय के मूत्र के साथ पीसकर लेप करने से कुष्ठ रोग का नाश करती है । गाय के दूध के साथ पीस कर लेप करने से शरीर के वर्ण को उज्ज्वल बनाती है, जल के साथ पीसकर लेप करने से कक्षा (कांख-जंघा) आदि के दुर्गन्ध को दूर करती है और यह लेप उत्तम वशीकरण है ॥ १२६ ॥

पिष्ट्वा जलेन रजनीं महिषीपुरीष-
मध्ये निधाय मृदुना दहनेन पक्त्वा ।
उद्वर्तनेन विदधाति शरीरमुद्य-
च्छीतांशुबिम्बरुचिसुन्दरकान्तिबिम्बम् ॥ १२७ ॥

हल्दी को जल के साथ पीसकर भैंस के गोबर के बीच में रखकर मन्द आंच से पकावे और उसका शरीर पर उबटन लगावे । यह उबटन लगाने से शरीर को उगते हुए चन्द्र-बिम्ब की कान्ति के समान सुन्दर कान्तिमान शरीर बना देता है ॥ १२७ ॥

यः कुष्ठसर्षपतिलैर्निशया च दार्व्या
गात्रं प्रलिप्य सलिलैः कुरुतेऽभिषेकम् ।
तस्याः प्रतप्तवरकाञ्चनकान्तिगौर-
मुद्दामसौरभमतीव विराजते तत् ॥ १२८ ॥

जो व्यक्ति कूठ, सरसों, तिल, हल्दी तथा दारुहल्दी इन द्रव्यों के कल्क से शरीर को लिप्त कर बाद में जल से स्नान करता है उसका शरीर प्रतप्त उत्तम सोना के समान गौरवर्ण तथा उत्तम सुगन्धित होकर अत्यन्त सुशोभित होता है ॥ १२८ ॥

जम्बूदलार्जुनतरुप्रसवैः सकुष्ठै-
रुद्वर्तनं प्रकुरुते प्रतिवासरं यः ।
प्रस्वेदबिन्दुकणिकानिकरानुषङ्ग-
दुर्गन्धता वपुषि तस्य पदं न धत्ते ॥ १२९ ॥

जो मनुष्य जामुन का मुलायम पत्ता, अर्जुन वृक्ष का फूल तथा कूट इन द्रव्यों को अच्छी तरह पीसकर प्रतिदिन उबटन लगाता है उसके शरीर के ऊपर पसीना के बिन्दुकण के समूह से उत्पन्न दुर्गन्धता कदम नहीं रखती अर्थात् शरीर की दुर्गन्धता दूर हो जाती है ॥ १२९ ॥

शिरिषपद्मकोशीररोध्रोद्वर्तितविग्रहः ।
ग्रीष्मोष्मणाऽपि नाप्नोति दौर्गन्ध्यं जातु मानवः ॥ १४० ॥

शिरीष, पद्मकाठ, खस तथा लोध—इन द्रव्यों के कल्क को शरीर के ऊपर उबटन लगाने से मनुष्य को ग्रीष्मकालीन गर्मी से भी दुर्गन्ध उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ १४० ॥

ह्रीवेरोशीरदलैर्मलयजकाश्मीरकाञ्जिकैर्लेपात् ।
अपगच्छति दौर्गन्ध्यं मुण्डीचूर्णस्य पानाद्वा ॥ १४१ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे चतुर्थे शल्यतन्त्रे
क्षुद्ररोगाधिकारो दशमः समाप्तः ॥ १० ॥

हाऊबेर, खस, दालचीनी, मलयगिरि चन्दन तथा कुंकुम—इन द्रव्यों को काञ्जी के साथ पीसकर लेप करने से दुर्गन्धता दूर हो जाती है। अथवा मुण्डी का चूर्ण पान करने से भी दुर्गन्धता दूर हो जाती है ॥ १४१ ॥

श्री वैद्यशोढल-विरचित गदनिग्रह के शल्यतन्त्र नामक चतुर्थ खण्ड में
दशवाँ क्षुद्ररोगाधिकार समाप्त।

समाप्तश्चायं शल्यतन्त्राख्यश्चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

॥ श्रीः ॥

गदनिग्रहः

(भूतविद्यातन्त्रं नाम पञ्चमः खण्डः)

अथ भूतोन्मादाधिकारः प्रथमः

तत्र प्रथमं भूतोन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ।

भूतविद्या तन्त्र में पहले भूतोन्माद का निदान कहते हैं ।

भूतोन्मादस्य सामान्यलक्षणम्—

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १ ॥

भूतोन्माद का सामान्य लक्षण—जिस व्यक्ति की बोली, पराक्रम, शक्ति तथा चेष्टायें भी मनुष्यों से अधिक एवं विचित्र हों, जो ज्ञान, विज्ञान तथा बल से परिपूर्ण हो और उन्माद का वातज आदि दोषों के सदृश समय नियत न हो, स्वाभाविक से अधिक इस प्रकार के रोगी के उन्माद को भूतोत्थ (भूतजन्य) उन्माद कहते हैं ॥ १ ॥

देवग्रहजुष्टलक्षणानि—

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो
निस्तन्द्रो ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी ।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ २ ॥

देवग्रह से युक्त व्यक्ति के लक्षण—देवग्रह के कारण जो उन्मत्त है वह सदा संतुष्ट रहता है, पवित्र रहता है, उसके शरीर से उत्पन्न उत्तम पुष्पों की तरह गन्ध आती रहती है, निद्रा तथा तन्द्रा से रहित होता है, सत्य तथा शुद्ध संस्कृत में भाषण करता है, तेजस्वी होता है और उसके नेत्र स्थिर होते हैं, समीपस्थ व्यक्तियों को वर देता है तथा ब्राह्मणों की पूजा करता है ॥ २ ॥

असुरग्रहजुष्टलक्षणम्—

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता
जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।

संतुष्टो न भवति चान्नपानजातै-
दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥ ३ ॥

असुर ग्रह से युक्त व्यक्ति के लक्षण—निरन्तर पसीना से युक्त, ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओं को दोषी कहनेवाला, टेढ़े नेत्रवाला, निडर, गलतमार्ग को देखनेवाला तथा अनेक प्रकार के भोजन तथा मद्यपानादि से संतुष्ट न होनेवाला दुष्ट प्रकृति का उन्माद का रोगी असुर ग्रह से आक्रान्त होता है ॥ ३ ॥

गन्धर्वग्रहजुष्टलक्षणम्—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ ४ ॥

गन्धर्व-ग्रहजुष्ट रोगी का लक्षण—नित्य प्रसन्न रहनेवाला, नदी के किनारे तथा वन में रहनेवाला, अपने मनमानी काम करनेवाला, गीत एवं सुगन्धित माला को पसन्द करने वाला, और मनुष्य नाचते हुए हसता है और सुन्दर एवं थोड़ा शब्द बोलता है वह गन्धर्व ग्रह से पीड़ित होता है। अर्थात् इन लक्षणों से युक्त रोगी को गन्धर्व ग्रह से आक्रान्त समझना चाहिए ॥ ४ ॥

यक्षग्रहजुष्टलक्षणम्—

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक्सहिष्णुः
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ ५ ॥

यक्षग्रह से आक्रान्त रोगी का लक्षण—ताम्र के समान नेत्र वाला, अपने शरीर को प्रिय समझने वाला, रक्त वस्त्र का धारण करने वाला, गम्भीर, जल्दी जल्दी चलने वाला, थोड़ा बोलनेवाला तथा गम्भीर, जल्दी-जल्दी चलनेवाला, थोड़ा बोलनेवाला, सहनशील और जो व्यक्ति बोलता है कि कौन सी वस्तु किसको दूँ ऐसा मनुष्य यक्ष ग्रह से आक्रान्त होता है ॥ ५ ॥

पितृग्रहजुष्टलक्षणम्—

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ ६ ॥

पितृग्रह से आक्रान्त उन्मत्त का लक्षण—पितृग्रह से आक्रान्त व्यक्ति पितरों को पत्तल पर पिण्ड देता है, शान्तिपूर्वक अपसव्य होकर जल को भी देता है। मांस को चाहता है, तिल गुड़ तथा खीर आदि खाने की इच्छा करता है और पितरों का भक्त होता है ॥ ६ ॥

सर्पग्रहजुष्टलक्षणम्—

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित्
सृक्किण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्विज्ञेयो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ ७ ॥

सर्पग्रह से आक्रान्त उन्मत्त का लक्षण—जो कभी कभी जमीन के ऊपर सांप के तरह रेंगने लगता है और उसी प्रकार जिह्वा से अपने ओष्ठों के किनारे को चाटता है, क्रोधी, गुड़, मधु, दूध तथा खीर खाने की इच्छा करनेवाला उन्मत्त सर्पग्रह से आक्रान्त होता है ॥ ७ ॥

राक्षसग्रहजुष्टलक्षणम्—

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विट् भवति च राक्षसैर्गृहीतः ॥ ८ ॥

राक्षस ग्रह से आक्रान्त उन्मत्त का लक्षण—मांस, रक्त, अनेक प्रकार के मद्य का लोलुप, निर्लज्ज, अत्यन्त निष्ठुर, अत्यन्त क्रोधी, पराक्रमी, रात को घूमने वाला तथा पवित्रता से द्वेष करनेवाला उन्मत्त राक्षस ग्रह से आक्रान्त होता है ॥ ८ ॥

पिशाचग्रहजुष्टलक्षणम्—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ ९ ॥

पिशाच ग्रह से आक्रान्त उन्मत्त का लक्षण—पिशाच ग्रह से आक्रान्त उन्मत्त ऊपर की तरफ हाथ किये रहता है, दुर्बल, कर्कश तथा जल्दी २ प्रलाप करता है, दुर्गन्ध, अत्यन्त अपवित्र एवं अत्यधिक चञ्चल होता है। बहुत खाता है, निर्जन तथा बन के बीच में रहता है और अनेक प्रकार की चेष्टाओं को करता तथा रोता हुआ घूमता है ॥ ९ ॥

असाध्यभूतोन्मादलक्षणम्—

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः सफेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पतेऽतिमात्रम्।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे॥ १०॥

असाध्य भूतोन्माद का लक्षण—जो भूतोन्माद से पीड़ित व्यक्ति स्थूल नेत्र वाला हो, शीघ्र घूमनेवाला (एक स्थान पर स्थिर न रहनेवाला), फेन को चाटनेवाला, नींद से पीड़ित, गिरने तथा अत्यधिक काँपने वाला तथा जो पहाड़ की चोटी, हाथी तथा नग (पेड़) से गिरा हुआ होता है वह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त आक्रान्त होने के तेरहे वर्ष में असाध्य होता है॥ १०॥

देवग्रहादीनामावेशकालः—

देवग्रहाः पौर्णिमायामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥ ११॥
पितरः कृष्णपक्षे च पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि॥ १२॥

देवग्रह-आदि का आक्रमण काल—देवग्रह पौर्णमासी के दिन, असुर दोनों सन्ध्या के समय, गन्धर्व प्रायः अष्टमी के दिन, यक्ष प्रतिपद् तिथि को, पितर कृष्णपक्ष में, सांप पञ्चमी तिथि में, राक्षस रात्रि में तथा पिशाच चतुर्दशी तिथि में आक्रमण करते हैं॥ ११-१२॥

ग्रहाणां मानवशरीरावेशे दृष्टान्तः—

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक्।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणम्॥ १३॥

इति भूतोन्मादनिदानं सम्पूर्णम्।

ग्रहों के मनुष्य के शरीर में प्रवेश करने का दृष्टान्त—जिस तरह दर्पण (शीशा) आदि में छाया, प्राणियों में ठण्ढी गरमी तथा सूर्य की किरणे सूर्यकान्त-मणि में तथा देहधारियों मे आत्मा प्रवेश कर जाती है और दिखाई नहीं देती है वैसे ही ग्रह शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और दिखाई नहीं देते हैं॥ १३॥

भूतोन्माद का निदान समाप्त।

अथातो भूतोन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

भूतोन्माद-निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

भूतोन्मादे सामान्यचिकित्सा—

भूतं जयेदहिंसोत्थं जपहोमबलिव्रतैः ।
तपःशीलसमाधानदानज्ञानदयादिभिः ॥ १४ ॥

भूतोन्माद में सामान्य चिकित्सा—जिस भूतोन्माद में भूत हिंसा (मार-पीट आदि) न करता हो उस भूतग्रह को जप (गायत्री आदि), होम (जटामांसी धूप आदि) तथा बलि देकर और व्रत, तपस्या, शान्त स्वभाव, समाधान, दान, ज्ञान तथा दया आदि दिखाकर जीते। अर्थात् इन उपचारों के द्वारा भूतोन्माद को शान्त करने का प्रयास करे।

ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषां तेषु विशेषतः ।
दिनेषु बलिहोमादीन् प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ॥ १५ ॥

वैद्य जो ग्रह जिस तिथि में या समय विशेष में आक्रमण करते हैं उन ग्रहों को उसी तिथि तथा कालविशेष एवं दिन विशेष में विशेषकर बलि, होम, दान आदि का प्रयोग करे।

स्नानवस्त्रवसामांसमद्यक्षीरगुडादि च ।
रोचते यद्यदा येभ्यस्तत्तेषामाहरेत्तदा ॥ १६ ॥

स्नान, वस्त्र, वसा (घृत, तैल, वसा आदि), मांस, मद्य, दूध तथा गुड़ आदि जिस ग्रह को जिस समय जो प्रिय लगता हो उस ग्रह को उसी के अनुरूप उसी समय बलि आदि का प्रयोग करे अर्थात् उसी समय ग्रहों के अनुसार बलि प्रदान करे।

रक्तानि गन्धमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी ।
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो विधिरित्ययम् ॥ १७ ॥

लाल सुगन्धित मालायें, बीज, मधु, घृत तथा अन्य सभी भक्ष्य पदार्थों में जो पदार्थ जिसको अच्छा लगता हो वह पदार्थ उसको दे यही भूतोन्माद की सामान्य चिकित्सा है ॥ १४–१७ ॥

भूतोन्मादे दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—

सुरर्षिगुरुवृद्धेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सुरालये ।
दिश्युत्तरस्यां तत्रापि देवायोपहरेद्बलिम् ॥ १८ ॥
पश्चिमायां यथाकालं दैत्यभूताय चत्वरे ।
गन्धर्वाय गवां मार्गे सवस्त्राभरणं बलिम् ॥ १९ ॥
पितृनागग्रहे नद्यां नागेभ्यः पूर्वदक्षिणे ।
यक्षाय यक्षायतने सरितोर्वा समागमे ॥ २० ॥

चतुष्पथे राक्षसाय भीमेषु गहनेषु च।
रक्षसां दक्षिणस्या तु पूर्वस्यां ब्रह्मरक्षसाम् ॥ २१ ॥
शून्यालये पिशाचाय पश्चिमां दिशमास्थिते।
शुचिशुक्लानि माल्यानि गन्धक्षैरेयमोदनम् ॥ २२ ॥
दधिच्छत्रं च धवलं देवाना बलिरिष्यते।
हृद्ये वेश्मनि यक्षस्य कुल्माषासृक्सुरादिभिः ॥ २३ ॥
अतिमुक्तककुन्दाब्जपुष्पैश्च वितरेद्बलिम्।
पूर्वमाचरितैर्मन्त्रैर्भूतविद्यासमुत्थितैः ॥ २४ ॥
न सिद्धा बलिभिर्ये च योगैस्तान् समुपाचरेत्।

भूतोन्माद में दैवव्यपाश्रय (देवताओं के स्थान आदि के अनुसार चिकित्सा) देवर्षि, गुरु, वृद्ध तथा सिद्धों के लिये देवालय में तथा उत्तर दिशा में और वहीं देवताओं के लिये भी बलि-प्रदान करे। दैत्य तथा भूत के लिये पश्चिम दिशा में, उन ग्रहों के समय के अनुसार चौराहे पर बलि-प्रदान करे। गन्धर्व के लिये गायों के मार्ग में वस्त्र तथा आभरण से युक्त बलि-प्रदान करे। पितर तथा सर्पों के लिये नदी में, सर्पों के लिये पूर्व-दक्षिण के कोन में, यक्षों के लिये यक्ष के घर में या दो नदियों के संगम पर, राक्षसों के लिये चौराहे पर भयंकर तथा घनघोर जङ्गल में, रक्षोग्रहके लिये दक्षिण दिशा में, ब्रह्मराक्षसों के लिये पूरब दिशा में, पिशाचों के लिये खाली मकान में तथा पश्चिम दिशा में, बलि प्रदान करे। देवताओं को पवित्र, सफेद माला, सुगन्ध, क्षैरेय-ओदन (खीर), दधि तथा सफेद छत्ता (या चांदनी) ये बलियां अभीष्ट हैं। यक्ष को यक्ष के घर में कुल्माष (कांजी), रक्त, सुरा आदि तथा अतिमुक्तक (वञ्जुल, तिनिश), कुन्द तथा गुलाब आदि का बलि-प्रदान करे। भूतविद्या में बताये गये आचरण, मन्त्र तथा बलि के द्वारा जो ग्रह सिद्ध न हों तो उनका निम्न-लिखित योगों से उपचार करे।

देवग्रहे हिंग्वादिघृतम्—

हिङ्गुसर्षपषड्ग्रन्थाव्योषैरर्धपलोन्मितैः ॥ २५ ॥
चतुर्गुणे गवां मूत्रे घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
तत्पाननावनाभ्यङ्गैर्देवग्रहविमोक्षणम् ॥ २६ ॥

देवग्रह में हिंग्वादि घृत—हिंगु, सरसों, वच, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) आधा-आधापल (आधा छटांक) इन द्रव्यों के कल्क के साथ गाय के चौगुने मूत्र में घृत एक प्रस्थ (एक सेर) पकावे। इस घृत को पान, नावन (नस्य) तथा अभ्यंग करने से देवता के आक्रमण से उन्मत्त व्यक्ति देवग्रह से मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

दैत्यग्रहचिकित्सा—

नस्याञ्जनं वचा हिङ्गु लशुनं बस्तवारिणा।
दैत्ये बलिर्बहुफलः सोशीरकमलोत्पलः॥ २७॥

दैत्यग्रह की चिकित्सा—दैत्य से आक्रान्त होने पर वच, हिंगु तथा लहसुन को बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य दे तथा आंजन करे और बहुफल (किंकिणी 'रामबबूर'), खस, सफेद कमल का फूल तथा नील कमल का फूल इन द्रव्यों की बलि दैत्य ग्रहों के लिये प्रदान करे॥ २७॥

नागग्रहचिकित्सा—

नागानां सुमनोलाजागुडापूपगुडौदनैः।
परमान्नमधुक्षीरकृष्णमृन्नागकेसरैः॥ २८

नागग्रह की चिकित्सा—सर्पों के लिये सुमनस् (फूल), लावा, गुड़ अपूप (मालपूआ), गुड़, भात, परमान्न (खीर) मधु, दूध, काली मिट्टी नागकेशर आदि।

वचापद्मपुरोशीररक्तोत्पलदलैर्बलिः।
श्वेतपत्रं च रोध्रं च तगरं गौरसर्षपाः॥ २९॥
शीतेन वारिणा पिष्टं नावनाञ्जनयोर्हितम्।

वच, पद्म (पद्मकाठ), पुर (गुग्गुलु), खस, तथा रक्तकमल के पत्तों की बलि प्रदान करे और श्वेतपत्र (कमल), लोध, तगर तथा सफेद सरसों इन द्रव्यों को शीतल जल से पीसकर नावन तथा अञ्जन करना सांप के आक्रमण से उत्पन्न उन्माद रोग में हितकर होता है।

यक्षग्रहचिकित्सा—

यक्षाणां क्षीरमध्वाज्यमिश्रकौदनगुग्गुलु॥ ३०॥
देवदार्वुत्पलं पद्ममुशीरं वस्त्रकाञ्चनम्।
हिरण्य च बलिर्योज्यो मूत्राज्यक्षीरमेकतः॥ ३१॥
सिद्धं पलोन्मितं पाननावनाभ्यञ्जने हितम्।

यक्षग्रह की चिकित्सा—यक्षग्रहजन्य उन्माद में यक्षों के लिये दूध, घृत मिश्रक (औपरक 'लवण विशेप' 'खारी' रेह के द्वारा बनाया नमक), भात गुग्गुलु, देवदारु, नीलकमल, पद्मकाठ, खस, वस्त्र, सोने का आभूषण तथा हिरण्य (सोना, रूपया पैसा) आदि बलि प्रदान करे। गोमूत्र, घृत तथा दूध एक साथ पकाकर एक पल (एक छटांक) की मात्रा में पान करना, नस्य लेना तथा अञ्जन करना हितकर होता है।

हरीतकी हरिद्रे द्वे लशुन मरिच वचाम्॥ ३२॥
निम्बपत्रं च बस्ताम्बुकल्कितं नावनाञ्जनम्।

हर्रे, हल्दी, दारुहल्दी, लहसुन, मरिच, वच तथा नीम का पत्ता इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र के साथ पीस कर कल्क बनाये और नावन (नस्य) तथा अञ्जन के लिये प्रयोग करे।

ब्रह्मराक्षसचिकित्सा—

ब्रह्मरक्षोबलिः सिद्धं यवानां चूर्णमाढकम् ॥ ३३ ॥
तोयस्य कुम्भः पललं छत्रं वस्त्रं प्रलेपनम्।

ब्रह्मराक्षस के आक्रमण से उत्पन्न उन्माद की चिकित्सा—ब्रह्मराक्षस के लिये पकाया हुआ यव का आटा एक आढ़क (चार सेर), जल का घड़ा, मांस, छत्र, वस्त्र तथा लेप आदि की बलि प्रदान करे।

गायत्रीविंशतिपलक्वाथेऽर्धपलिकैः पचेत् ॥ ३४ ॥
त्र्यूषणत्रिफलाहिङ्गुषड्ग्रन्थामिशिसर्षपैः ।
सनिम्बपत्रलशुनैः कुडवान् सप्त सर्पिषः ॥ ३५ ॥
गोमूत्रे द्विगुणे पाननस्याभ्यङ्गेषु तद्धितम्।

गायत्री (खैर) बीसपल (बीस छटाक) के क्वाथ (अठगुने जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ) में त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), हिंगु, वच, सौंफ, सरसों, नीम की पत्ती तथा लहसुन आधा-आधा पल (आधा-आधा छटांक), इन द्रव्यों के कल्क के साथ घृत सात कुडव (सात पाव), दुगुना गोमूत्र (चौदह पाव) मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत पान, नस्य तथा अभ्यञ्जन में हितकर होता है अर्थात् ब्रह्मराक्षसजन्य उन्माद में लाभदायक होता है।

रक्षोग्रहचिकित्सा—

रक्षसां पलल शुक्लं कुसुमं मिश्रकौदनः ॥ ३६ ॥
बलिः पक्वामर्मासानि निष्पावा रुधिरोक्षिताः।

रक्षोग्रहजन्य उन्माद की चिकित्सा—रक्षोग्रहजन्य उन्माद में राक्षस के लिये मांस, सफेद पुष्प, मिश्रक (खारीनमक) तथा भात, पकाया कच्चा मास, एवं रक्त-मिश्रित भटवांस की बलि प्रदान करे।

नक्तमालशिरीषत्वङ्मूलपुष्पफलानि च ॥ ३७ ॥
तद्वच्च कृष्णपाटल्या बिल्वमूलं कटुत्रिकम्।
हिङ्ग्विन्द्रयवसिद्धार्थलशुनामलकीफलम् ॥ ३८ ॥
नावनाञ्जनयोर्योज्यो बस्तमूत्रयुतोऽगदः ।
एभिरेव घृतं सिद्धं गवां मूत्रे चतुर्गुणे ॥ ३९ ॥
रक्षोग्रहान् वारयति पानाभ्यञ्जननावनैः।

नक्तमाल (करंज), तथा शिरीष की छाल, मूल, फूल एवं फल, इसी

प्रकार काले पाढल की छाल, मूल, पुष्प तथा फल, बेल का मूल, कटुत्रय (सोंठ, पीपर, मरिच), हिंगु, इन्द्रयव, सफेद सरसों, लहसुन तथा आंवला का फल, समभाग इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर तैयार किया हुआ यह अगदनावन (नस्य) तथा अञ्जन में हितकर है। इन्हीं द्रव्यों के कल्क (घृत के चौथाई) के साथ गाय के चौगुने मूत्र (घृत से चौगुने) में घृत सिद्ध करे। यह घृत पान, अभ्यञ्जन तथा नावन (नस्य) लेने से राक्षस-ग्रहजन्य उन्माद को दूर करता है।

पिशाचग्रहचिकित्सा—

पिशाचानां बलिः सीधुपिण्याकपलल दधि ॥ ४० ॥
मूलकं लवण सर्पिः प्रभूतौदनयावकम् ।

पिशाचग्रहजन्य उन्माद की चिकित्सा—पिशाचग्रहजन्य उन्माद में सीधु, पिण्याक (तिल की खली), मांस, दही, मूली, नमक, घृत तथा प्रचुर मात्रा में यव का भात ये पिशाचों की बलि हैं।

हरिद्राद्वयमञ्जिष्ठामिशिसैन्धवनागरैः ॥ ४१ ॥
हिङ्गुप्रियङ्गुत्रिकटुरसोनत्रिफलावचा- ।
पाटलीश्वेतकटभीशिरीषकुसुमैर्घृतम् ॥ ४२ ॥
गोमूत्रपादिकं सिद्धं पानाभ्यञ्जनयोर्हितम् ।
बस्ताम्बुपिष्टैस्तैरेव योज्यमञ्जननावनम् ॥ ४३ ॥

हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, मिशि, (सौंफ), सेन्धानमक, सोंठ, प्रियंगु, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), लहसुन, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), वच, पाढ़ल, श्वेत कटभी, (श्वेत अपराजिता) तथा शिरीष का फूल इन द्रव्यों के कल्क के साथ चौगुने गाय के मूत्र में सिद्ध घृत पान तथा तथा अभ्यञ्जन के लिये हितकर है। (घृत एक सेर, कल्क एक पाव, मूत्र चार सेर ग्रहण करे) इन्हीं द्रव्यों को बकरी के मूत्र में पीसकर अञ्जन तथा नावन (नस्य) कर्म में प्रयोग करे ॥ ४०–४३ ॥

देवादिसौम्यग्रहजुष्टे तीक्ष्णौषधादिनिषेधः—

देवर्षिपितृगन्धर्वे तीक्ष्णनस्यादि वर्जयेत् ।
सर्पिःपानादि मृद्वस्मिन् भैषज्यमवचारयेत् ॥ ४४ ॥

देव-आदि सौम्य ग्रह से आक्रान्त होने पर तीक्ष्ण औषध का निषेध—देवता, ऋषि तथा गन्धर्व-आदि सौम्य ग्रह से आक्रान्त होने पर तीक्ष्ण द्रव्यों का नस्य न दे। घृत पान-आदि तथा मृदु (सौम्य) द्रव्यों को नस्य आदि में प्रयोग करे।

हते पिशाचान् सर्वेषु प्रतिकूलं न चाचरेत्।

सर्वैश्चमातुरं घ्नन्ति क्रुद्धास्ते हि महौजसः ॥ ४५ ॥

पिशाच ग्रह को छोड़कर अन्य सभी ग्रहों में प्रतिकूल बर्ताव न करे। क्योंकि वे अत्यन्त तेजस्वी ग्रह क्रुद्ध होकर वैद्य और रोगी दोनों को मार डालते हैं ॥ ४४–४५ ॥

भूतोन्मादेऽपरा दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—

ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम् ।
सर्वव्याधिचिकित्सं च जपन् सर्वग्रहाञ्जयेत् ॥ ४६ ॥
तथोन्मादानपस्मारानन्यं वा चित्तविप्लवम् ।

भूतोन्माद में अन्य दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—देवताओं के भी देव, आर्यों से अवलोकित बारह भुजावाले ईश्वर को तथा सम्पूर्ण व्याधि का चिकित्सा (नाश) करनेवाले प्राय'ब्रह्मस्वरूप पञ्चाक्षरादि मन्त्रों (ओं नमः शिवाय) को जपता हुआ भूत-ग्रहादि पीड़ित रोगी सभी ग्रहों को तथा उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा, एवं अन्य कारणों से उत्पन्न चित्तविक्षोभों (मानसिक विकारों) को जीत लेता है ।

महाविद्यां च मायूरीं शुचि त श्रावयेत्तदा ॥ ४७ ॥

भूत-पिशाच ग्रहों से आक्रान्त होने पर स्नानादि के द्वारा शुद्ध पवित्र रोगी को महामायूरी विद्या (बौद्ध धर्म में उपदिष्ट महामायूरी विद्या) को सुनाये ।

भूतेशं पूजयेत्स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च तद्गणान् ।
जपन् सिद्धांश्च तन्मन्त्रान् ग्रहान् सर्वान् व्यपोहति ॥ ४८ ॥

भूतों के स्वामी स्थाणु (भूताधिप महादेव) की तथा पहले बताये हुए रक्षोपिशाचादि स्थाणु के अनुयायी ग्रहों की पूजा करे । उन स्थाणु के एवं उनके अनुयायी ग्रहों के सिद्ध मन्त्रों को जपता हुआ मनुष्य उन सभी ग्रहों को दूर कर देता है ।

यच्चानन्तरयोः किञ्चिद्वक्ष्यतेऽध्याययोर्हितम् ।
यच्चोक्तमिह तत्सर्वं प्रयुञ्जीत परस्परम् ॥ ४९ ॥

जो उन्माद एवं अपस्मार दोनों अध्यायों में हितकर उपचार कहेंगे तथा इस अध्याय में जो उपचार कहे गये हैं उन सभी उपचारों को सभी ग्रहों के पकड़ने पर और उन्माद एवं अपस्मार में प्रयोग करे ॥ ४६–४९ ॥

विमर्शः—'आर्यावलोकितम्' शब्द से पार्वती से अवलोकित महादेव को या बौद्धों के देवता को ध्यान करके मनुष्य सभी ग्रहों को जीत लेता है । बौद्ध धर्म में प्रसिद्ध महामायूरी विद्या को जपे और भूतेश स्थाणु पुरुष की पूजा करे तथा उनके अनुयायी ग्रहों के सिद्ध मन्त्रों को जप करे । जो उपचार ग्रहाक्रान्त,

उन्माद तथा अपस्मार में बताये गये हैं वे सभी उपचार एक दूसरे में करना चाहिए।

भूतोन्मादे धूपयोगः—

अजास्थिरोमचर्माणि शल्लकोलूकयोस्तथा।
हिङ्गु मूत्रं च बस्तस्य धूपनं तस्य दापयेत्।
एतेन शाम्यति क्षिप्रं बलवानपि यो ग्रहः ॥ ५० ॥

भूतोन्माद में धूपयोग—बकरी की हड्डी, बाल तथा चमड़ा एवं शल्लक (चूहा या छुछुन्दर) और उल्लू की हड्डी, बाल तथा चर्म, हिंगु, और बकरी का मूत्र इन द्रव्यों का धूप भूतोन्माद मे दे। इस धूप से जो ग्रह बलवान होता है वह भी शान्त हो जाता है ॥ ५० ॥

भूतोन्मादे नस्ययोगौ—

नस्येन च गोमूत्रे देवाधिपवारुणीफल पक्वम्।
नाशयति पिशाचग्रहशाकिनिभूतादिरक्षांसि ॥ ५१ ॥

भूतोन्माद में दो नस्य योग—गाय के मूत्र में देवाधिप वारुणी (इन्द्र-वारुणी) का फल पकाकर नस्य देने से पिशाच ग्रह, शाकिनी ग्रह, भूतादि तथा रक्षोग्रह-आदि को नाश करता है।

श्वेतापराजितायास्तु नस्यतस्तन्दुलाम्भसा।
परिपिष्टा शिफा हन्यात्सद्यो भूतग्रहं क्षणात् ॥ ५२ ॥

चावल के धोवन के साथ पीसकर श्वेत अपराजिता की जड़ का नस्य शीघ्र ही क्षण भर में भूत ग्रह को नाश करता है ॥ ५१–५२ ॥

मरीचकटुकासीधुहिङ्गुसिद्धार्थकान्वितैः।
चूर्णं निम्बफलोपेतैः पिबद् ग्रहनिवारणम् ॥ ५३ ॥

मरिच, कटुकी, हिंगु, सरसों तथा नीम के फल का चूर्ण सीधु (काञ्जी) के साथ मिलाकर पान करे। यह भूत ग्रह को दूर करता है ॥ ५३ ॥

भूतोन्मादेऽपराजितोऽगदः—

पुराणसर्पिर्लशुनं हिङ्गु सिद्धार्थकं वचा।
गोलोमी चाजलोमी च भूतकेशी जटा तथा ॥ ५४ ॥
कुक्कुटी सर्पगन्धा च तिक्ता काकविषाणिका।
वज्रप्रोक्ता वयस्था च शृङ्गी मोहनवल्ल्यपि ॥ ५५ ॥
अर्कमूलं त्रिकटुकं लता स्रोतोजमञ्जनम्।
नेपाली हरिताल च रक्षोघ्ना ये च कीर्तिताः ॥ ५६ ॥
सिंहव्याघ्रर्क्षमार्जारद्वीपिवाजिगवां तथा।
श्वाविच्छल्लकगोधानामुष्ट्राखुनकुलस्य च ॥ ५७ ॥

शकृद्रोम-वसामूत्र-रक्तपित्त-नखत्वचः ।
अस्मिन् वर्गे गुटी कार्या तैलानि च घृतानि च ॥ ५८ ॥
पानाभ्यञ्जननस्येषु तानि योज्यानि जानता ।
अवपीडाञ्जने चैव विदध्याद् गुटिकाः कृताः ॥ ५९ ॥
विदधीतापि च क्षीरे क्वथितं चूर्णितं तथा ।
उद्धूपने श्लक्ष्णपिष्टं प्रदेहे चावचारयेत् ॥ ६० ॥

भूतोन्माद में अपराजित-अगद (औषध)—पुराना घृत, लहसुन, सिद्धार्थक (सफेद सरसों), गोलोमी (दूर्वा), अजलोमी (श्वेत दूर्वा), भूतकेशी (मांसी), जटा (गन्धमांसी), कुक्कुटी (कुक्कुट शिखी), कुक्कुट सदृश कन्दवाली औषध विशेष, सर्पगन्धा, तिक्ता (कड़वी लौकी), काकविषाणिका (मेषशृङ्गी), या 'काकविकाणिका' इति पाठान्तर (काकोली-क्षीरकाकोली), वज्रप्रोक्ता (वज्र कन्द), ऋष्यप्रोक्ता इति पाठान्तर, (शतावरी), वयस्था (गुडूची), शृङ्गी (काकड़ासिंघी), मोहनवल्ली (वटपत्रिका), मदार की जड़, त्रिकटुक (सोंठ, पीपर, मरिच), लता (प्रियङ्गु), स्रोतोञ्जन[1] (सिन्धु नदी में उत्पन्न अञ्जन विशेष), नेपाली (नेपाली मैनसिल), हरिताल, रक्षोघ्न औषध (श्वेत सरसों, रुद्राक्ष, गुग्गुलु आदि) द्रव्य, सिंह, व्याघ्र, ऋक्ष (भालू), विलाव, द्वीपी (चीता या हाथी), वाजी (घोड़ा), गाय, श्वावित् (साही), शल्लक या 'शल्यक' (वज्रशल्यक या 'छुछुन्दर'), गोधा (गोह 'जलगोधा तथा स्थलगोधा), ऊँट तथा नेवला इन जन्तुओं की विष्ठा, रोम (बाल), वसा, मूत्र, रक्त, पित्त, नख तथा चर्म इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर वटी बनावे तथा इन्हीं द्रव्यों के साथ तैल एवं घृत (स्नेह-निर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध करे । इस प्रकार निर्मित वटी, तैल तथा घृत को पान, अभ्यञ्जन तथा नस्यकर्म में कुशल वैद्य प्रयोग करे । इन्हीं द्रव्यों की गुटिका बनाकर अवपीडनस्य (बूंद-बूंद नाक में टपकाना) तथा अञ्जन के लिये प्रयोग करे । इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ बनाकर अभिषेक (स्नान) के लिये और चूर्ण बनाकर उद्धूलन नस्य (नाढी के द्वारा फूंक कर औषध को नाक में पहुंचाना), तथा महीन पीसकर प्रदेह (लेप) के लिये प्रयोग करे ।

एष सर्वान्विकारांस्तु मानसानपराजितः ।
हन्यादल्पेन कालेन स्नेहादिभिरपि क्रमात् ॥ ६१ ॥

यह अपराजित नामक अगद (औषध) किसी भी औषध से न जीते जाने वाले सभी मानसिक विकारों (उन्माद, अपस्मार, योषापस्मार, मूर्च्छा आदि)

---

१. वल्मीकशिखराकारं रूपे नीलोत्पलद्युति ।
स्रोतोऽञ्जनं प्रशंसन्ति तच्च प्रत्यञ्जने हितम् ॥ इति

को थोड़े ही समय में नाश करता है। इसी प्रकार क्रमशः इसी वर्ग के द्रव्यों से स्नेहन आदि (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, नस्यादि) भी सभी प्रकार के मानसिक रोगों को नाश करता है) ॥ ५४–६१ ॥

ग्रहोन्मादे पुराणघृतादिधूपः—

पुराणसर्पिः सर्पत्वग्घिङ्गु रोमर्क्षनाकुलम् ।
वयःस्थाद्याश्च संचूर्ण्य कृतो धूपो ग्रहापहः ॥ ६२ ॥

ग्रहोन्माद में पुराण घृतादि धूप—पुराना घृत, साँप की केंचुल, हिंगु, भालू तथा नेवला का बाल एवं गुडूची आदि रक्षोघ्न ओषधों के चूर्ण बनाकर धूप देने से यह धूप सभी ग्रहों को दूर करता है ॥ ६२ ॥

भूतोन्मादे सिद्धार्थकं घृतम्—

सिद्धार्थक वचा हिङ्गु प्रियङ्गुरजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा श्वेतकटभी वरा श्वेताद्रिकर्णिका ॥ ६३ ॥
निम्बस्य पत्रं बीजं तु नक्तमालशिरीषयोः ।
सुराह्वस्त्र्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रे तैश्चतुर्गुणे ॥ ६४ ॥
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम, पाने नस्ये च योजितम् ।
ग्रहान् सर्वान्निहन्त्याशु विशेषादासुरान् ग्रहान् ॥ ६५ ॥
कृत्यालक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्म च ।
एभिरेवौषधैर्बस्तवारिणा कल्पितोऽगदः ॥ ६६ ॥
पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्वर्षणयोजितः ।
स गुणैः पूर्ववद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत् ॥ ६७ ॥

भूतोन्माद में सिद्धार्थक घृत—सफेद सरसों, वच, हिङ्गु, प्रियंगु, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, श्वेत कटभी (सफेद मालकांगनी), वरा (त्रिफला—हर्रे, बहेड़ा, आंवला), सफेद अपराजिता, नीम की पत्ती, नक्तमाल (पूतिकरंज) तथा शिरीष का बीज, सुराह्व (देवदारु), त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों के कल्क (घृत के चौथाई) के साथ गाय के चौगुने मूत्र में (घृत के चौगुने मूत्र में) घृत सिद्ध करे। यह सिद्धार्थक नामक घृत पान तथा नस्यकर्म में प्रयोग करने से सभी ग्रहों को शीघ्र ही नाश करता है और अनिष्टकृत्य, अलक्ष्मी (दरिद्रता), उन्माद, ज्वर, अपस्मार (मृगी) तथा पाप को भी नाश करता है। इन्हीं ओषधों को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर बनाया हुआ अगद (ओषध) पान, नस्यकर्म अञ्जन, आलेप, स्नान तथा उद्वर्षण (उबटन) के लिये प्रयोग करने पर पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है अर्थात् सभी ग्रह आदि को नाश करता है तथा राजा के दरबार में सिद्धि को देने वाला है ॥ ६३–६७ ॥

भूतोन्मादे कतिपयधूपाः—

कार्पासास्थिमयूरपत्रबृहतीनिर्माल्यपिण्डीतक-
त्वङ्मांसीवृषदंशविट्तुषवचाकेशाहिनिर्मोचनैः।
नागेन्द्रद्विजहिङ्गुशृङ्गमरिचैस्तुल्यैः कृतं धूपनं
स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुरावेशग्रहघ्नं परम् ॥ ६८ ॥

भूतोन्माद में कुछ धूप—कपास की गुठली (बिनौला), मयूरपत्र (अपामार्ग की पत्ती), बृहती (बनभटा, भटकटैया), निर्माल्य (स्पृक्का 'असवरग' शाकविशेष), पिण्डीतक (मदनफल) की छाल, जटामांसी, वृषदंश (बिलाव) का विट् (विष्ठा), तुष (भूसी), वच, बाल, साँप की केंचुल, नागेन्द्रद्विज (हाथी का दांत), हिंगु, काकदाशिंगी तथा मरिच समभाग—इन द्रव्यों का दिया हुआ धूप स्कन्दग्रह, उन्माद, पिशाचग्रह, राक्षसग्रह तथा देवग्रह आदि को अच्छी तरह नाश करनेवाला है।

पिष्ट्वा विडङ्गसिन्धूत्थकुष्ठवालाः सनागराः।
गोमनुष्यशुनां सम्यक् खवालानि प्रयत्नतः ॥ ६९ ॥
अस्थीनि धूपने दद्याद् ग्रहार्तानां प्रशान्तये।

वायविडंग, सेन्धानमक, कूठ, सुगन्धवाला, सोंठ, गाय, मनुष्य तथा कुक्कुर के बाल एवं हड्डी को अच्छी तरह पीसकर ग्रह-पीड़ितों की शान्ति के लिये धूपन कार्य में प्रयोग करे।

आत्ममूत्रान्वितैर्वालैश्छागमुस्तकसैन्धवैः ॥ ७० ॥
घृतबिन्दुसमायुक्तैर्धूपो ग्रहनिवारणः।

अपना मूत्र, बाल, बकरी का मूत्र तथा बाल, नागरमोथा, सेन्धानमक, तथा घृतबिन्दु (थोड़ा घृत) इन द्रव्यों का धूप ग्रहों को दूर करता है।

भूतोन्मादेऽपराजितोऽगदः—

बिल्वपत्रं तथा मांसी तगरं नागकेशरम् ॥ ७१ ॥
प्रियङ्गु कुङ्कुमं चैव तुल्यान्येतानि बुद्धिमान्।
सम्यग्दृषदि यत्नेन वारिणा परिपेषयेत् ॥ ७२ ॥
भवेद्विलेपनादस्य सर्वकार्यापराजितः।
वालास्तत्र न यान्त्यस्तं नाग्निर्दहति तद्गृहम् ॥ ७३ ॥
आस्ते सर्वग्रहोन्माथो यत्रायमगदाधिपः।

भूतोन्माद में अपराजित (अन्वर्थ) अगद (औषध)—बेल की पत्ती, जटामांसी, तगर, नागकेशर, प्रियंगु तथा कुंकुम (केशर) समभाग—इन द्रव्यों को बुद्धिमान् वैद्य जल के साथ पत्थर के ऊपर अच्छी तरह प्रयत्नपूर्वक पीसे। इसको लेप करने से सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जहाँ

यह अगद रहता है वहां बालक मरते नहीं हैं तथा उस घर को अग्निदेव नहीं जलाते हैं और यह अगद सभी ग्रहों को नाश कर देता है।

भूतोन्मादे रक्षोघ्नो धूपः—

सिद्धार्थकवचाहिङ्गुलशुनं गन्धनाकुली ॥ ७४ ॥
प्रियङ्ग्वोऽब्जकिञ्जल्को नागपुष्पा हरेणवः
कापिञ्जलं तरक्षोश्च मत्स्यपित्तं महौषधम् ॥ ७५ ॥
कार्पासास्थीनि नलदा देवदारु च गुग्गुलुः।
मनुष्यकेशाश्वखुरं गोखरोष्ट्राव्यजादिजम् ॥ ७६ ॥
मेषाजशृङ्गसहितं द्विपेन्द्रनखयोजितम् ।
मार्जारविष्ठा रजनी बर्हिपक्षाहिमोचनम् ॥ ७७ ॥
भूतकेशी च फलिनी नीली यक्षसुरा तथा।
शङ्खमूली शङ्खपुष्पी सहा वीरभटीति च ॥ ७८ ॥
यक्षहस्तेन्द्रहस्ता च चत्वारिंशतिमाहरेत्।
एकत्र योजितं चूर्णं धूपः सर्वार्तिनाशनः ॥ ७९ ॥
न यक्षास्तत्र तिष्ठन्ति न पिशाचा न राक्षसाः।
न भूता न च कूष्माण्डा ब्रह्मरक्षोग्रहाश्च ये ॥ ८० ॥
आघ्राय विलयं यान्ति ग्रहाः सर्वं ह्यशेषतः।
हिंसका ये च विघ्नाय जाताहारादिकाश्च ये ॥ ८१ ॥
नापस्मारा न चोन्मादा न योगिन्यो न डाकिनी।
सर्वे पलायनपरा धूपसंदर्शनादपि ॥ ८२ ॥
सर्वदुष्टप्रशमनः सर्वग्रहनिवारणः।
कृत्याविनाशनो ह्येष गदप्रशमनः परः ॥ ८३ ॥

भूतोन्माद में रक्षोघ्न धूप—सरसों, वच, हिंगु, लहसुन, गन्धनाकुली (अन्धाहुली), प्रियगु, कमल का पराग, नागपुष्पा (यूथिका—जूही), हरेणु (रेणुका का बीज), कापिञ्जल (हारीत पक्षिविशेष) तथा तरक्षु (भेड़िया) एवं मछली का पित्त, सोंठ, कपास की गुठली (बिनौला), नलदा (जटामांसी), देवदारु, गुग्गुलु, मनुष्य का बाल, घोड़े का खुर (नाखून), गाय, गदहा, ऊँट, बकरी आदि का नख, मेष (भेड़) तथा बकरी का सींग, हाथी का नाखून, बिलाव की विष्ठा, हल्दी, मोर की पाख, साँप की केंचुल, भूतकेशी (जटामांसी), फलिनी (माल काँगनी), नीलीवृक्ष, यक्षसुरा (राल), शंखमूली (मूली), शंखपुष्पी, सहा (मुद्गपर्णी), वीरभटी (वीरभटी नाम से प्रसिद्ध द्रव्य) यक्षहस्त (एरण्ड) तथा इन्द्रहस्ता (इन्द्रवारुणी) इन चालिस द्रव्यों को कत्र करे और चूर्ण बनावे। यह धूप सभी व्याधियों को नाश करनेवाला है। यक्ष-

पिशाच राक्षस, भूत, कुष्माण्ड (राक्षस विशेष), ब्रह्मराक्षस आदि ग्रह वहाँ नहीं ठहरते हैं जहाँ इस चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। सभी ग्रह इस धूप को सूँघकर निश्शेष हो जाते हैं। जो हिंसक ग्रह विघ्न के लिये तथा आहार के लिये आये रहते हैं वे सब ग्रह, अपस्मार, उन्माद, योगिनी, डाकिनी आदि सभी इस धूप को देखने मात्र से ही भाग जाते हैं। यह उत्तम रोगनाशक अगद (औषध) सभी दुष्टों को शान्त करनेवाला, सभी ग्रहों को दूर करने वाला तथा कृत्य (कर्तव्य को) सुरक्षित रखनेवाला है अर्थात् कृत्य को नाश नहीं करने देता है ॥ ७४-८३ ॥

भूतोन्मादे औशनसान्माङ्गल्यो धूपः—

वचा मांसी च बिल्वं च तगरं पद्मकेशरम् ।
नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च मर्कटी सुरसा तथा ॥ ८४ ॥
भूतकेशी हरीतक्यः शिलाजतुकसंज्ञितम् ।
ग्रन्थिपर्णककर्पूरं शतपुष्पा विरोमकम् ॥ ८५ ॥
एतानि समभागानि त्रिसप्तगुणितं पुरम् ।
महाधूपवरो ह्येष माङ्गल्यः पापनाशनः ॥ ८६ ॥
सर्वरोगहरः प्रोक्तः सर्वविघ्नविनाशनः ।
लक्ष्मीवृद्धेश्च जननः सर्वलोकप्रियङ्करः ॥ ८७ ॥
निःशेषविषसंहर्ता सर्वव्याधिविनाशनः ।
लोहलिङ्गादिभूतानां गर्दभानां(?) विनाशनः ॥ ८८ ॥
सर्वस्य सुखदः प्रोक्तो नाकालमरणं भवेत् ।
धन्यो यशस्य आयुष्यो धूपो देवप्रियः सदा ॥ ८९ ॥

भूतोन्माद में औसनस् (भृगु) का माङ्गल्य धूप—वच, जटामांसी, बेल की पत्ती, तगर, कमल का पराग, नागकेशर, प्रियंगु, मर्कटी (केवाछ) का फल, सुरसा (काली तुलसी), भूतकेशी (निर्गुण्डी बीज), हरें, शिलाजीत, ग्रन्थिपर्णक (गठिवन), कपूर, सौंफ तथा विरोमक समभाग तथा पुर (गुग्गुलु) एक्कीस भाग इन द्रव्यों को मिलाकर चूर्ण तैयार करे। यह माङ्गल्य-नामक धूपों में श्रेष्ठ महान् धूप पापों को नाश करनेवाला, सभी रोगों को दूर करने वाला तथा सभी विघ्नों को नाश करनेवाला कहा गया है। लक्ष्मी की वृद्धि को करनेवाला, सभी लोगों का प्रिय बनानेवाला, सम्पूर्ण विषों का संहारक, सभी रोगों का नाशक और लोहलिङ्ग (काला) भूत एवं गर्दभ आदि भूतविशेषों को नाश करने वाला है। यह सभी को सुख देनेवाला कहा गया है। इस धूप का उपयोग करने से अकाल मृत्यु नहीं होती। यह धूप धन, यश तथा आयु को देता है तथा देवताओं को प्रिय है ॥ ८४-८९ ॥

भूतोन्मादे कतिपययोगाः—

संपिष्य तन्दुलजलेन सिताद्रिकर्णि-
मूलं घृतेन सह नस्यविधौ प्रयुक्तम् ।
भूतग्रहोपशमन मुनिवृक्षपुष्प-
जातो रसः समरिचश्च तथैव दृष्टः ॥ ९० ॥

भूतोन्माद में कुछ योग—सफेद अपराजिता की जड़ को चावल के धोवन के साथ पीसकर घृत मिलाकर नस्य कर्म के लिये प्रयोग करने पर भूत ग्रह को शान्त करता है। इसी प्रकार (अगस्त्य का पुष्प या इङ्गुदी के पुष्प का रस, मरिच का चूर्ण मिलाकर नस्य प्रयोग करने से भूत ग्रह को शान्त करनेवाला है ऐसा देखा गया है ॥ ९० ॥

सिद्धार्थनिम्बदलपन्नगकृत्तिहिङ्गु-
संयोजितो निगदितः सहसैव पुंसाम् ।
डाकिन्युपद्रवभयोपशमाय धूपः
सधूपनाद्भवति तद्धृतकस्य मोक्षः ॥ ९१ ॥

सरसों, नीम की पत्ती, सांप की केंचुल तथा हिङ्गु इन द्रव्यों का बनाया हुआ धूप प्रयोग करने से पुरुषों के डाकिनी आदि ग्रहों के उपद्रवों का शान्ति कारक है ऐसा कहा गया है और इसका धूप देने से पुरुषों को हरण करनेवाले ग्रह का मोक्ष (नाश) हो जाता है ॥ ९१ ॥

गोपित्तसिन्धुभवमागधिकाप्रसून-
सारैः कृतं समरिचैर्नयनाञ्जनं यत् ।
भूतग्रहप्रशमनं तदुदाहरन्ति
सत्रासनं च रजनीचरसंहतीनाम् ॥ ९२ ॥

गाय का पित्त, सिन्धुभव (सेन्धानमक), मागधिका (पीपर), प्रसूनसार (पुष्पाञ्जन) तथा मरिच इन द्रव्यों का अञ्जन लगाने से भूतग्रह को शान्त करता है और सभी राक्षसों के समूह को भयभीत कर देता है। ऐसा ग्रह विशेषज्ञ विद्वान् कहते हैं ॥ ९२ ॥

कुष्माण्डीफलसलिलेन पुष्यसञ्ज्ञे
नक्षत्रे मसृणतरां प्रपिष्य दार्वीम् ।
कर्तव्य नयनयुगेऽञ्जनं प्रशस्तं
निःशेषग्रहरजनीचरोपशान्त्यै ॥ ९३ ॥

पुष्य नक्षत्र में दारुहल्दी को कुष्माण्डीफल (सफेद कोहड़ा—भतुवा) के रस के साथ महीन पीसकर दोनों नेत्रों में अञ्जन करना सभी स्कन्दादि ग्रह तथा राक्षस ग्रहों की शान्ति के लिये प्रशस्त होता है ॥ ९३ ॥

भूतरावं घृतम्—

त्रिकटुकदलकुङ्कुमग्रन्थिकक्षारसिंहीनिशादारुसिद्धार्थयुग्माम्बुशक्राह्वयैः सितलशुनफलत्रयोशीरतिक्तावचातुत्थयष्टीबलालोहितैलाशिलापद्मकैः । दधितगरमधुकसारप्रियाह्वाविषाख्याविपातार्क्ष्यशैलैः सचव्यामयैः कल्कितैर्घृतमनवमशेषमूत्रांशसिद्धं मतं भूतरावाह्वयं पानतस्तद्ग्रहघ्नं परम् ॥९४॥

भूतराव घृत—त्रिकटुक (सोंठ, पीपर, मरिच), दल (तेजपत्र), केशर, ग्रन्थिक (वच), यवक्षार, अडूसा, हल्दी, दारुहल्दी, सरसों, सफेद सरसों, इन्द्रवारुणी, सफेद लहसुन, फलत्रय (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), खस, कुटकी, वच, तूतिया, मुलेठी, वरिआर, अगर, बड़ी इलायची, शिलाजीत, पद्मकाठ, दही, तगर, मधुकसार (मुलेठी), प्रियङ्गु, विषाह्वा (अतीस), विष (वत्सनाभ), तार्क्ष्यशैल (रसाञ्जन), चव्य, कूठ, इन द्रव्यों के कल्क के साथ पुराना घृत गोमूत्र में (घृत के चौथाई कल्क, तथा घृत के चौगुना गोमूत्र को लेकर घृत-निर्माण-विधि के अनुसार) पकावे। यह भूतराव-नामक घृत पान करने से सभी प्रकार के भूतादि ग्रहों को अच्छी तरह नाश करता है ॥ ९४ ॥

भूतोन्मादे महाभूतरावं घृतम्—

नतमधुककरञ्जलाक्षापटोलीसमङ्गावचापाटलाहिङ्गुसिद्धार्थसिंहीनिशायुग्मलतारोहिणीबदरकटुफलत्रिकाकाण्डदारुक्रिमिघ्नाजगन्धामराङ्कोल्लकोशातकीशिग्रुनिम्बाम्बुदेन्द्राह्वयैः । गदशुकतरुपुष्पबीजोग्रयष्ट्यद्रिकर्णीनिकुम्भाग्निबिल्वैः समैः कल्कितैर्मूत्रवर्गेण सिद्धं घृतं विधिविनिहितमाशु सर्वैः क्रमैर्योजितं हन्ति सर्वग्रहोन्मादकुष्ठज्वरांस्तन्महाभूतरावं स्मृतम् ॥ ९५ ॥

इति श्री वैद्यवरशोढलविरचिते गदनिग्रहे भूतविद्यातन्त्रे पञ्चमे खण्डे भूतोन्मादाधिकारः प्रथमः ॥ १ ॥

भूतोन्माद में महा भूतराव घृत—नत (तगर), मुलेठी, करंज, लाख, पटोली (स्वादुपत्रफला—बड़ा परवल), मंजीठ, वच, पाढ़ल, हिङ्गु, सरसों, सिंही (अडूसा) हल्दी, दारुहल्दी, लता (मालकांगनी), रोहिणी (कुटकी), बैर, कट्फल (कायफर), (अपामार्ग), फलत्रिक (हर्रे बहेड़ा, आंवला), काण्ड (चिरायता), देवदारु, क्रिमिघ्न (वायविडङ्ग), अजमोदा, अमरा (ऐन्द्री), अङ्कोल्ल (ढेरा), कोषातकी (कड़वी तरोई), सहिजन, नीम, अम्बुद (नागरमोथा), इन्द्राह्वय (इन्द्रायण), गद (कूठ), शुकतरु (शिरीष) का फूल तथा बीज, वच, जेठीमधु, अद्रिकर्णी (अपराजिता), निकुम्भा (दन्ती), अग्नि (चित्रक) तथा बेल की छाल समभाग इन द्रव्यों के कल्क के

साथ तथा [1]मूत्र वर्ग (गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गदहा, हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि के मूत्र) के साथ (घृत के चौथाई कल्क एवं घृत के चौगुना मूत्र के साथ घृत-निर्माण-विधि के अनुसार) सिद्ध घृत विधिपूर्वक रक्खा हुआ तथा सभी विधियों के साथ प्रयोग किया हुआ शीघ्र ही सभी प्रकार के ग्रह, उन्माद, कुष्ठ तथा ज्वरों को नाश करता है। इसको महाभुतराव घृत कहते हैं ॥ ९५ ॥

श्री वैद्य शोढल-विरचित गदनिग्रह के भूतविद्यातन्त्र नामक
पांचवें खण्ड में भूतोन्मादाधिकार समाप्त ।

---

१. मूत्रं गोनागमहिषीहयाजाविखरोष्ट्रजम् ।
नराणाञ्च भवेत्सर्वं पाचनं दीपनं लघु ॥
गोऽजाविमहिषीणां च स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते ।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं मतम् ॥ इति मदनपाल ॥

अथोन्मादाधिकारो द्वितीयः

अथात उन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ।

भूतोन्माद के बाद उन्माद का निदान कहते हैं ।

उन्मादनिरुक्तिः—

मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः ।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्त्यते ॥ १ ॥

उन्माद की निरुक्ति—बढ़े हुए दोष ऊर्ध्वमार्गगामी होकर (हृदय में पहुंचकर) मन को विभ्रान्त कर देते हैं अतः इस मानस रोग को 'उन्माद' कहते हैं ॥ १ ॥

विमर्श—मनुष्य बिना किसी प्रयोजन के किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है । 'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते' अतः किसी भी कार्य-कलाप में प्रवृत्त होने के लिये कुछ प्रयोजन अपेक्षित है, किन्तु यदि मनुष्य निष्प्रयोजन तथा उच्छृङ्खलतावश किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो उस प्रवृत्ति का नाम 'उन्माद' है । इसमें मन विकृत हो जाता है और मनुष्य ऊटपटांग कार्य कर बैठता है ।

शास्त्रों में मन को त्रिगुणात्मक माना गया है । सामान्यावस्था मे मन का सत्वगुणी होना ही उसकी विशेषता है अतः इसको सत्व भी कहते हैं । रज और तम ये दोनों मन के दोष हैं—'रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ' । इन दोनों (रज तथा तम) गुणों की प्रबलता होने पर मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं ।

कर्तव्याकर्तव्य का विवेक, तर्क, संकल्प, ध्यान, इन्द्रियों का नियमन तथा अपना नियमन भी मन के कार्य है । अनुभव, विवेचन तथा क्रिया से मानसिक क्रियायें सिद्ध होती हैं । अहंकार तथा बुद्धि मन की ही अवस्था विशेष हैं । श्रवणादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया ज्ञान-विनिश्चयार्थ मन के पास जाता है । मन उसको ग्राह्य तथा त्याज्य दृष्टि से विचार कर अहकार के पास पहुँचा देता है, अहकार भी यह मेरा है ऐसा समझकर उसका ग्रहण या परित्याग करने के लिये बुद्धि को दे देता है । इस प्रकार पदार्थ ज्ञान में इन्द्रियां अप्रधान तथा मन, अहकार तथा बुद्धि ये तीनों प्रधान होते हैं और ये अन्तःकरणप्रधान माने गये है । ये सभी क्रियायें मन के सत्व गुण में स्थित होने पर ही होती हैं । सत्वगुण की न्यूनता तथा रज तथा तम की अधिकता से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, और मानसिक रोगों

में उन्मादरोग सर्वप्रधान हैं। जब वात आदि दोष दूषित होकर मनोवाही स्रोतस् (वातनाडी तन्त्र) में पहुँचते है तो सत्वगुण का ह्रास तथा रज तथा तमगुण को बढ़ाकर मनोविभ्रम (मानसिक भ्रम) या उन्माद उत्पन्न करते हैं।

प्राचीन आयुर्वेद के आचार्यों ने अधिष्ठान विशेष के भेद के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार के रोगों का वर्णन किया है। शारीरिक रोगों का वर्णन प्राचीन आयुर्वेद चिकित्सा में जितना विशद मिलता है उतना मानसिक रोगों का वर्णन नहीं मिलता। मानस रोगों को भूत विद्या नाम से भी वर्णन किया गया है। शरीर के रोगाक्रान्त होने पर उसके अवयवों में विकार प्रत्यक्ष होता है जिससे उसका ज्ञान होता है कि अमुक अवयव विकृत है किन्तु जब किसी प्रकार के विकार के दृष्टिगोचर न होने पर जो रोग होता है जैसे अपस्मार उन्माद आदि—इस प्रकार के रोगों को ही मानस रोग कहते हैं।

मनोवह स्रोतों के द्वारा मन का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है अतः उन्माद होने पर मानसिक रोग के साथ उसको मस्तिष्क सम्बन्धी रोग भी कहते हैं। क्योंकि मस्तिष्क अन्य यन्त्रों के सदृश जड़ हैं किन्तु उसका प्रेरक मन होता है और उसकी प्रेरणा से मस्तिष्क सक्रिय होकर अपना कार्य निरन्तर करता रहता है। मस्तिष्क का सम्बन्ध जिस प्रकार के मन, बुद्धि एवं अहंकार से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार का कार्य होता है। मन के सत्वगुण सम्पन्न होने पर सद्विचार होता है तथा रज एवं तमोगुण से सम्पन्न होने पर मनोविभ्रम या उन्माद आदि रोग उत्पन्न होते है।

उन्मादभेदाः—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दोषेण स पञ्चविधः उच्यते॥ २॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च॥ ३॥

उन्माद के भेद—अत्यधिक प्रकुपित वात, पित्त तथा कफ अलग-अलग, वात, पित्त एवं कफ मिश्रित तीनों दोष, मानसिक दुःख ये पांच प्रकार के उन्माद रोग और छठां विष से उत्पन्न उन्माद रोग इस प्रकार छः प्रकार का उन्माद रोग होता है। उन्माद के अप्रवृद्ध तरुणावस्था (प्रथमावस्था) को मद भी कहते हैं॥ २–३॥

विमर्श—चरकाचार्य उन्माद की पूर्वकालीनावस्था न मानकर विधिशोणितीय अध्याय में स्वतन्त्र रोग के रूप में चार भेद मानते हैं।

'चत्वारो मदः वात, पित्त, कफ, सन्निपातनिमित्ताः'।

इसके अतिरिक्त विषजन्य और मानसिक 'दुःखजन्य उन्माद का अन्तर्भाव आगन्तुक में करके उसके पांच ही भेद स्वीकार करते हैं।

शारीरिक रोग मानसिक तथा मानसिक रोग शारीरिक रोग में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः इसके आधार पर उन्माद भी स्वतन्त्र या प्राथमिक और उपद्रवस्वरूप अथवा द्वितीय भेद से दो प्रकार का होता है। मानस दुःखजन्य उन्माद प्राथमिक तथा वात आदि शारीरिक दोष और विष का मन पर प्रभाव पड़ने से जो उन्माद होता है उसे द्वितीयक उन्माद कहते हैं।

उन्मादसामान्यकारणम्—

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः॥ ४॥

उन्माद का सामान्य कारण—विरुद्ध (संयोगादि विरुद्ध) दूषित तथा अपवित्र भोजन करने से, देवता, गुरु या माता-पिता और ब्राह्मणों का अपमान करने से, अत्यधिक डर या अत्यधिक हर्ष के कारण मन के ऊपर प्रभाव पड़ने से एवं शारीरिक विषम चेष्टाओं अथवा मन पर किसी प्रकार का आघात लगने से उन्माद रोग उत्पन्न होता है॥ ४॥

विमर्श—संयोगादि विरुद्ध, दूषित एवं अपवित्र भोजन करने से मानसिक सत्व गुण का ह्रास हो जाता है और रज तथा तमो गुण की वृद्धि होती है जिसके कारण उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है। देवता, गुरु, माता, पिता, ब्राह्मण आदि का अपमान करने से वे क्रुद्ध होकर शाप दे देते हैं जिसके परिणामस्वरूप भी उन्माद की उत्पत्ति होती है। क्योंकि गुरुजनों की वाणी में एक प्रकार की विशिष्ट शक्तियां होती हैं जिससे उनके मुख से जो बातें निकलती हैं वे सत्य होती हैं। यदा कदा अधिक भय एवं हर्ष से भी उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है। भय एवं हर्ष से मानसिक भाव काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा शोक आदि की अत्यधिकता होने से उन्माद रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार स्वाभाविक दुर्बलता तथा अप्रत्याशित घटना भी इस रोग में सहायक होती है।

उन्मादसामान्यलक्षणम्—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ ५॥

उन्माद रोग का सामान्य लक्षण—पूर्वोक्त (संयोगादि विरुद्ध भोजन, देवता आदि के अपमान, भय तथा हर्ष) कारणों से प्रकुपित वात, पित्त तथा कफ आदि दोष अल्प सत्व गुण वाले या दुर्बल मन वाले मनुष्य के बुद्धि के

निवास स्थान हृदय को दूषित करके तथा मनोवह स्रोतों में व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रमयुक्त या उन्मत्त कर देते हैं ॥ ५ ॥

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

बुद्धि में भ्रमात्मक ज्ञान का होना, मानसिक चचलता, आखों को छिपाना या निरर्थक इधर-उधर देखना, चित्त का स्थिर न रहना, अप्रासंगिक वार्तालाप, हृदय की शून्यता या आत्मज्ञान का अभाव ये उन्माद रोग के सामान्य लक्षण हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—वातादि दोष दूषित होकर मनोवह स्रोतों अर्थात् संयोजक नाडी तन्तुओं को आश्रित कर बुद्धि के निवास स्थान हृदय यानी मस्तिष्क को दूषित कर मनुष्य के चित्त में उन्मत्तता उत्पन्न कर देते हैं। साधारणतया हृदय शब्द से मांसपेशी के निर्मित वक्षस्थल में स्थित रक्तगुहा का ज्ञान होता है किन्तु बुद्धेर्निवासम् इस विशेषण से बुद्धि के निवास आज्ञाचक्र के अन्तराल में रहनेवाले ब्रह्महृदय का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ब्रह्महृदय ही उन्माद का अधिष्ठान है अतः यहाँ हृदय शब्द से मस्तिष्क को ही ग्रहण करते हैं। मनोवह स्रोत से संयोजक नाडीतन्तु को ग्रहण करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण चेतन शरीर को मनोवह स्रोत का अधिष्ठान माना गया है। अतः बुद्धि के अधिष्ठान भूत मस्तिष्क के दूषित होने से मस्तिष्क में रहने वाली बुद्धि भी दूषित हो जाती है जिससे उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि भ्रम होना, मानसिक चञ्चलता, आंख छिपाना आदि उन्माद का रूप है। उन्माद से पीड़ित रोगी की बुद्धि तथा स्मरण शक्ति भ्रमयुक्त हो जाती है जिससे वह व्यक्ति किसी कार्य को निश्चित करने में असमर्थ हो जाता है और अस्थिर चित्त होने के कारण निरर्थक एवं परस्पर विरोधी कार्यों को किया करता है। उसको अपने स्वरूप का थोड़ा भी ज्ञान नहीं रहता है। वह कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य हित को अहित तथा अहित को हित या अहित में कुछ भी भेद नहीं समझता है। उसको अनेक शकायें बनी रहती है। आँखें छिपाये रहता है। वह [1]धर्माधर्म, सुख, दुःख, आचार आदि का भी विवेक नहीं रखता है।

वातजादिभेदेनोन्मादलक्षणानि—

रूक्षान्नशीताल्पविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।

---

१. समूढचेतानसुखंनदुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् ।
विन्दत्यपास्तस्मृति बुद्धि संज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥

चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ७ ॥
अस्थानहास्यस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णता च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ ८ ॥

वातज-आदि भेद से उन्माद के लक्षण—वातज उन्माद—रूक्षपदार्थ, थोड़ा तथा शीतल अन्न के निरन्तर सेवन, विरेचन, धातुक्षय तथा उपवास, अत्यधिक बढ़ा हुआ वायु चिन्ता आदि मानसिक कारणों से पहले से ही दूषित हृदय (मस्तिष्क) को और अधिक दूषित करके बुद्धि तथा स्मरण शक्ति को शीघ्र ही नाश कर देता है। इस कारण से रोगी निरर्थक ही हँसता है, मुस्कुराता है, नृत्य करने लगता है, असम्बद्ध गाने लगता है, बिना प्रयोजन बोलता है और हाथ-पैर को इधर-उधर चलाता है तथा कभी-कभी रोने भी लगता है। रोगी का शरीर[1] पारुष्य (रूक्ष), कृश (दुर्बल) तथा अरुण वर्ण का हो जाता है और भोजन के पच जाने के बाद वातिक उन्माद का आक्रमण प्रबल रूप धारण करता है ॥ ७–८ ॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः
संतर्जनाभिद्रवणौष्ण्यदोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषा
पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥ १० ॥

पित्तज-उन्माद के लक्षण—अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाही तथा अधिक गरम भोज्य पदार्थों को अत्यधिक सेवन करने से प्रवृद्ध पित्त जब उग्र मनवाले व्यक्ति के मस्तिष्क में पहुँच कर चिन्ता तथा क्रोध आदि के सदृश मानसिक विकारों से युक्त मस्तिष्क को पहले से अधिक दूषित कर बुद्धि एवं स्मरणशक्ति को नष्ट कर देता है तब रोगी असहिष्णु (असहनशील) तथा क्रोधी हो जाता है और अपने वस्त्र को त्याग कर नग्न हो जाता है तथा क्रोध से सभी लोगों को डराता-धमकाता है, मारने के लिये दौड़ता है। रोगी गर्मी से पीड़ित रहता है तथा शीतल छाया में बैठना चाहता है एवं शीतल जल पीने की अभिलाषा करता है। रोगी का वर्ण पीला हो जाता है। ऊपर कहे हुए लक्षणों से युक्त रोगी को पैत्तिक उन्माद से पीड़ित समझना चाहिए ॥ ९–१० ॥

---

1. रूक्षच्छविः परुषवाग्धमनी ततो वा
शोथातुरः कृशतनुः स्फुरिताङ्गसन्धिः ।
आस्फोटयत्यटति गायति नृत्यशीलो
विक्रोशति भ्रमति चाप्यनिलप्रकोपात् ॥ सुश्रुत ।

विमर्श—उपर्युक्त लक्षणों के साथ निद्रानाश [1]तारा दर्शन आदि भी पैत्तिक उन्माद के लक्षण होते हैं—

सपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य श्लेष्मा चितो मर्मणि सम्प्रवृद्धः।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियता च निद्रा।
छर्दिश्च लाला च बलं तु भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात्॥१२॥

कफजन्य उन्माद के लक्षण—अत्यधिक स्निग्ध आदि संतर्पण पदार्थों को सेवन करनेवाले एवं क्रियारहित व्यक्ति का पित्तसहित विकृत कफ मर्मस्थल (मस्तिष्क) में स्थित होकर बुद्धि तथा स्मरण शक्ति को नष्ट करके मनोविभ्रम से युक्त उन्माद रोग को उत्पन्न करता है। इस प्रकार के उन्माद में रोगी व्यक्ति कम बोलता है और अन्य कार्यों को भी बहुत कम करता है। रोगी को खाने की इच्छा नहीं रहती है। स्त्री के साथ या एकान्त में रहना पसन्द करता है, नींद अधिक मात्रा में आती है, वमन तथा लाला स्राव होता है। कफज-उन्माद का प्रकोप भोजन करते समय होता है। रोगी का नाखून, आँखें, मूत्र तथा सम्पूर्ण शरीर शुक्लवर्ण हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३ ॥

सान्निपातिक-उन्माद का लक्षण—तीनों दोषों से उत्पन्न उन्माद रोग भयंकर होता है, और इसकी उत्पत्ति तीनों दोषों के उत्पादक कारणों से होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। अतः त्रिदोषज-उन्माद विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य है। इसकी चिकित्सा निषेध कर करनी चाहिए ॥ १३ ॥

विमर्श—सन्निपातज रोग में भी वातादि के विरुद्ध चिकित्सा की जाती है जो परस्पर विरुद्ध होती है। अतः त्रिदोषज रोग असाध्य माने गये हैं। क्योंकि वात नाशक उपचार पित्त, कफ वर्द्धक तथा कफ नाशक उपाय वात-पित्तवर्द्धक होते हैं। एक दोष की चिकित्सा करने से दूसरे दोष की वृद्धि होती है। त्रिदोष नाशक आंवला आदि की तरह बहुत कम द्रव्य होते हैं। साथ ही दोष प्रशमनार्थ चिकित्सा करते समय रोग का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। सभी त्रिदोष नाशक औषध प्रत्येक त्रिदोषज रोग में लाभदायक नहीं होते हैं—

"न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति हि"।

---

1. तृट्स्वेददाहबहुलो बहुभुग्विनिद्रश्छाया
हिमानिलजलान्तविहारसेवी ।
तीक्ष्णो हिमाम्बुनिचयेऽपि च वह्निशङ्की-
पित्ताद्दिवा नभसि पश्यति तारकाश्च ॥ सुश्रुत।

सामान्यतः सभी त्रिदोषज व्याधियां विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य होती हैं—जब त्रिदोष जन्य व्याधियों के सभी हेतु तथा लक्षण उपस्थित होते हैं। जिन रोगों के नाश करनेवाले द्रव्यों की अधिकता होती है वे त्रिदोषज रोग साध्य भी होते हैं।

चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः॥ १४॥

शोकादि जन्य उन्माद के लक्षण—चोर, नरेन्द्र पुरुष (पुलिस आदि) शत्रुओं तथा हिंसक प्राणियों से भयभीत होने के कारण, धन तथा बन्धु-बान्धव आदि परिवार के नष्ट हो जाने से, या अपने प्रियतमा के साथ रमण करने की इच्छा का मन में गम्भीर रूप से आघात हो जाने से भयंकर मानसिक विकार (उन्माद रोग) उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के उन्माद से आक्रान्त रोगी अनेक प्रकार की विचित्र बातें करता है, कभी-कभी अज्ञानवश मन की छिपी हुई बातों को भी कह देता है। रोगी कभी गीत गाता है, कभी हँसता है और कभी रोता है॥ १४॥

चित्रं ब्रवीति च मनोनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः।
रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियशक्तिहीनः
श्यावाननो विषकृतेन भवेद्विसंज्ञः॥ १५॥

विषजन्य उन्माद के लक्षण—धत्तूर, कुचिला आदि विष का सेवन या अत्यधिक मद्यपान आदि करने से उत्पन्न उन्माद रोग में रोगी की आंखें रक्त वर्ण की होती हैं, बल (ओज शक्ति), इन्द्रिय शक्ति तथा कान्ति क्षीण हो जाती है। वह अत्यधिक दीन प्रतीत होता है। उसके मुख का वर्ण हरा एवं नीला पड़ जाता है और रोगी बेहोश हो जाता है॥ १५॥

उन्मादस्यासाध्यलक्षणम्—

अवाङ्मुखो वाप्युदङ्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः।
जातरूपो ह्यसन्देहमुन्मादेन विनश्यति॥ १६॥

इत्युन्मादनिदानम्।

उन्माद का असाध्य लक्षण—जिस उन्माद के रोगी का बल तथा मांस क्षीण हो गया हो और जिसका मुख हमेशा नीचे या ऊपर की ओर रहता हो जिसको निद्रा बिलकुल न आती हो ऐसा उन्माद का रोगी अवश्य ही मर जाता है। इसमें सन्देह नहीं है॥ १६॥

उन्माद का निदान समाप्त।

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

उन्माद के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं ।

उन्मादे सामान्यचिकित्सा—

अथानिलज उन्मादे स्नेहपानं प्रयोजयेत् ।
पूर्वमावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ १७ ॥
कफपित्तभवे ह्यादौ वमन सविरेचनम् ।
स्निग्धस्विन्नस्य बस्तींश्च शिरसश्च विरेचनम् ॥ १८ ॥
तथाऽस्य शुद्धदेहस्य प्रसादं लभते मनः ।
इत्थमप्यनिवृत्तौ तु तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ॥ १९ ॥
हर्षणाश्वासनोत्रासभयताडनतर्जनम् ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनालेपधूमपानं च सर्पिषः ।
युञ्ज्यात्तानि हि शुद्धस्य नयन्ति प्रकृति मनः ॥ २० ॥

उन्माद रोग में सामान्य चिकित्सा—वात जन्य उन्माद में स्नेह पान कराये । उसके पहले मार्गावरोध (विबन्ध) आदि रहने पर शोधन के लिए स्नेह युक्त मृदु विरेचन कराये । कफ पित्त जन्य उन्माद में पहले वमन तथा विरेचन कराये । स्नेहन स्वेदन के द्वारा शुद्ध शरीरवाले उन्माद के रोगी का बस्ति कर्म तथा शिरोविरेचन कराये । इस प्रकार शुद्ध शरीर वाले उन्माद के रोगी का मन शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसकी उन्मत्तता नष्ट हो जाती है और वह स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है । इन उपचारों से यदि उन्माद की निवृत्ति न हो तो तीक्ष्ण नस्य तथा अञ्जन लगाना चाहिए । हर्षित करना, आश्वासन देना, त्रास दिखाना, भय देना, पीटना, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन (उबटन), आलेप, धूमपान तथा घृतपान का प्रयोग करना चाहिए । ये सब उपचार वमन विरेचनादि से शुद्ध शरीरवाले व्यक्ति के मन को प्रकृति में ला देते हैं ॥ १७–२० ॥

उन्मादे ब्राह्मयाद्यावर्तिः—

ब्राह्मीमैन्द्रीं विडङ्गानि व्योषं हिंगुं जटीं मुराम् ।
रास्ना विषघ्नीं लशुनं विशल्यां सुरसां वचाम् ॥ २१ ॥
ज्योतिष्मतीं नागविन्नामनन्तां सहरीतकाम् ।
कांक्षीं च बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा छायाविशोषिता ॥ २२ ॥
वर्तिर्नस्याञ्जनालेपधूपैरुन्मादसूदनी ।
अवपीडाश्च विविधाः सर्पिषः स्नेहसंयुताः ॥ २३ ॥
कटुतैलेन चाभ्यङ्गो ध्मापयेच्चास्य तद्रजः ।

उन्माद में ब्राह्म्याद्यावर्ति—ब्राह्मी, ऐन्द्री (इन्द्रवारुणी), वायविडङ्ग, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), हिंगु, जटी सुरा (पारुष या जटामांसी) (सडोरफली या मुरामासी), रासन, विषघ्नी (हल्दी) लहसुन, विशल्या (इन्द्रायण), सुरसा (तुलसी भेद), वच, ज्योतिष्मती (मालकांगनी), नागविन्ना (नागदन्ती), अनन्ता (दूर्वा), हरें, कांक्षी (सौराष्ट्रिका, गोपी चन्दन), इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र में पीसकर वर्ति बनावे और छाया में सुखा ले। यह वर्ति नस्य, अञ्जन आलेप तथा धूप देने से उन्माद को नाश करती है। इस वर्ति को स्नेह में मिलाकर या घृत में मिलाकर अनेक प्रकार के अवपीडन नस्य करे। सरसों के तैल से अभ्यंग तथा इस वर्ति के चूर्ण से रोगी को ध्मापन (प्रधमन) करे ॥ २१–२३ ॥

वातश्लेष्मात्मकोन्मादचिकित्सा—

सहिङ्गुस्तीक्ष्णधूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः ॥ २४ ॥
शृगालशल्लकोलूकजम्बूकवृकबस्तजैः।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्मभिराचरेत् ॥ २५ ॥
धूपधूमाञ्जनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेचनम्।
धूपयेत्सततं चैनं श्वगोमत्स्यैस्तु पूतिभिः ॥ २६ ॥
वातश्लेष्मात्मके प्रायः—

वातश्लेष्मात्मक रोगो की चिकित्सा—वातश्लेष्म जन्य उन्माद में सूत्र स्थान में बताये गये तीक्ष्ण धूम के साथ हिंगु मिलाकर प्रयोग करना हितकर होता है। सियार, शल्लक (शाही), उल्लू, जम्बूक (शृगाल विशेष), वृक (भेड़िया) तथा बकरी के मूत्र, पित्त, विष्टा, बाल, नख तथा चर्म आदि से धूप, धूम, अञ्जन, अभ्यंग, प्रदेह और परिसेचन करे। उन्माद के रोगी को कुत्ता तथा गाय के सड़े मांस से निरन्तर धूपन करे। ये उपचार वातश्लेष्म जन्य उन्माद में प्रायः करना चाहिए।

पैत्तिकोन्मादचिकित्सा—

—पैत्तिके तु प्रशस्यते।
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ॥ २७ ॥
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि लघूनि च।
विध्येच्छिरां यथोक्तां वा तृप्त मेध्यामिषस्य वा ॥ २८ ॥
निवाते शाययेदेव मुच्यते मतिविभ्रमात्।

पैत्तिक-उन्माद की चिकित्सा—पैत्तिक-उन्माद में [1]तिक्तकघृत, जीवनीय[2]

१. तिक्तक घृत गदनिग्रह प्र० ख० पृ० २७ में देखें।
२. जीवनीय घृत, वही।

घृत तथा स्नेह (तैल), मिश्रक (औषरक रेह का नमक), शीतल, मधुर एवं हल्का अन्नपान प्रशस्त होता है। अथवा पूर्वोक्त प्रकार से शिरावेध करे या मेध्य (बुद्धि को शुद्ध करनेवाला) मांस से तृप्त करे अर्थात् मेध्यमांस भक्षण कराये और वातरहित स्थान में सुलाये। इस प्रकार पैत्तिक उन्माद का रोगी मतिविभ्रम (उन्माद) से मुक्त हो जाता है।

उन्मादे सन्त्रासनादियोगः—

प्रक्षिप्यासलिले कूपे शोषयेद्वा बुभुक्षया ॥ २९ ॥
आश्वासयेत् सुहृत्त वा वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः।
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ॥ ३० ॥
बद्ध सर्षपतैलाक्तं न्यस्तं चोत्तानमातपे।
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ॥ ३१ ॥
कशाभिस्ताडयित्वा वा बद्धं श्वभ्रे विनिक्षिपेत्।
अथवा वीतशस्त्राश्मजने संतमसे गृहे ॥ ३२ ॥
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्।
त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥ ३३ ॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ ३४ ॥
देहदुःखभयेभ्यो हि पर प्राणभयं मतम्।
तेन याति शम तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥ ३५ ॥
सिद्धा क्रिया प्रयोज्येयं देशकालाद्यपेक्षया।
इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते ॥ ३६ ॥
तस्य तत्सदृशप्राप्त्या शान्त्याश्वासैः प्रसादयेत्।
कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसंभवान् ॥ ३७ ॥
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेवं शमं नयेत्।
सर्वोन्मादे हितो बन्ध. प्रहारो भीषणानि च ॥ ३८ ॥
अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमाः प्रधमनानि च।

उन्माद में संत्रासन (त्रास देना) आदि योग—उन्माद के रोगी को जलवाले कुवें में डालकर या भूख (भोजन न देकर) से सुखा दे। अथवा धर्म, अर्थयुक्त हितकर वाक्यों से उस रोगी को मित्र के तरह आश्वासन दे। उसके अतिरिक्त उसके इष्ट (प्रिय) वस्तु का नाश बताये या आश्चर्यजनक (अप्राकृतिक वस्तु) वस्तुओं को दिखाये। बांधकर धूप में उत्तान सुलाकर सरसों के तैल से मिश्रित नस्य दे। अथवा कपिकच्छु (केवाछ) के रोयेदार फल से तथा गरम लोहा, तैल एवं जल से स्पर्श कराये। अथवा कोड़ों के

द्वारा मारकर तथा बांधकर गड्ढा में डाल दे या वीत (लड़ने में असमर्थ हाथी घोड़ा) के हथिसार, घोड़सार, शस्त्रागार, अश्मजन (श्मशान) तथा अन्धकारवाले घर में बन्द कर दे। या दांत उखाड़े हुए सांप, भयंकर सिंह, हाथी, हाथ में शस्त्र लेकर, चोर तथा शत्रुओं से भय दिखलावे। अथवा राजपुरुष (सिपाही) अच्छी तरह उन्माद के रोगी को बाहर ले जाकर राज के आज्ञा से भय दिखलाते हुए मार डालने (मृत्युदण्ड) देने का त्रास (धमकी) दें। शारीरिक कष्ट के भय से प्राण का भय अधिक होता है। इस उपचार से चारो तरफ से उसका मन निश्चिन्त होकर शान्त हो जाता है। इस सिद्ध क्रिया को देश तथा काल के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। जिस उन्माद के रोगी का मन अपने प्रियवस्तु के नाश हो जाने से विक्षिप्त हो गया हो उसको उसी के समान प्रियवस्तु की प्राप्ति दिखाकर शान्ति तथा आश्वासन के द्वारा प्रसन्न करे। काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या तथा लोभ के कारण उत्पन्न उन्माद को परस्पर वस्तुओं के द्वारा कामविघातजन्य उन्माद को काम प्राप्ति के द्वारा, शोकजन्य को शोकनाशक उपाय के द्वारा, भयजन्य को भयनाशक उपाय के द्वारा इसी प्रकार क्रोध हर्षादिजन्य उन्मादों को उनके प्रतिद्वन्द्वी पदार्थों से मन को शान्त करे। सभी प्रकार के उन्माद में, बाधना, मारना, भयंकर चीजों का भय दिखाना, अञ्जन, अवपीड (तीक्ष्ण द्रव्यों को पीसकर उसके रस को नाक में टपकाना), धूम का प्रयोग तथा अनेक प्रकार के प्रधमन (नस्य) आदि का प्रयोग करना हितकर होता है।

उन्मादे भूतानुबन्धचिकित्सा—

भूतानुबन्धमीक्षेत प्रोक्तलिङ्गाधिकाकृतिम् ॥ ३९ ॥
यद्युन्मादे ततः कुर्याद्भूतनिर्दिष्टमौषधम् ।

उन्माद में भूतानुबन्ध चिकित्सा—उन्माद के बताये हुए लक्षणों से अधिक भयकर लक्षण दिखाई देते हों तो भूतानुबन्ध (भूत, प्रेत आदि सम्बन्धित) उन्माद समझना चाहिए। यदि भूतानुबन्ध से उन्माद उत्पन्न हुआ हो तो भूत, प्रेत आदि जन्य उन्माद की बताई हुई (भूतोन्मादाधिकार में) चिकित्सा को करे ॥ ३९ ॥

बलिं च दद्यात्पललं यावकं सक्तुपिण्डिकाम् ॥ ४० ॥
स्निग्धं मधुरमाहारं तन्दुलान् रुधिरोक्षितान् ।
पक्वापक्वानि मांसानि सुरां मैरेयमासवम् ॥ ४१ ॥
अतिमुक्तस्य पुष्पाणि जात्याः सहचरस्य च ।
चतुष्पथे गवां तीर्थे नदीनां संगमेषु च ॥ ४२ ॥

मास, यावक (यव की पीठी), सत्तू की पीठी, स्निग्ध (घृतमिश्रित) पदार्थ एवं मीठा भोजन, रक्तमिश्रित चावल, पका या कच्चा मांस, [1]सुरा, [2]मैरेय, [3]आसव (मद्यविशेष), अतिमुक्त (माधवीलता), चमेली तथा सहचर (पीली झिण्टी) के पुष्प आदि बलि को चौराहा, गोशाला तथा नदियों के संगम पर दे ॥ ४०-४२ ॥

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान्न स युज्यते ॥ ४३ ॥

जो उन्माद का रोगी मांस, मद्य आदि खाने से निवृत्त हो जाता है नियमित पवित्र तथा हितकर भोजन करता है वह पराक्रमी व्यक्ति निज (दोषजन्य) तथा आगन्तुक (भूतप्रेतादिग्रहजन्य) उन्मादों से पीड़ित नहीं होता है ॥ ४३ ॥

उन्मादे पिप्पल्यादिप्रधमननस्यम्—

पिप्पल्यो मरिचं बीजमपामार्गशिरीषयोः ।
क्षवको हिङ्गुचव्ये तच्चूर्णं प्रधमनं भवेत् ॥ ४४ ॥
अवपीडश्च तैरेव बस्तमूत्रद्रवीकृतः ।
हन्त्युन्मादमपस्मारं वैचित्त्यं विषमज्वरम् ॥ ४५ ॥
काले प्राश्य च सक्षौद्रं धात्रीचूर्णं सकाञ्चनम् ।
उन्मादशान्तये भक्त्या पूजयेद्वृषभध्वजम् ॥ ४६ ॥

उन्माद में पिप्पल्यादि प्रधमन नस्य—पीपर, मरिच, अपामार्ग तथा शिरीष का बीज, क्षवक (राई, काला सरसों) हिंगु तथा चव्य—इन द्रव्यों के चूर्ण का प्रधमन[4] नस्य का प्रयोग करे और उन्हीं द्रव्यों के चूर्ण को बकरी के मूत्र में घोलकर [5]अवपीड नस्य का प्रयोग करे। यह नस्य उन्माद, अपस्मार,

१. मदिरा—शराब ।

२. मैरेय—गन्ना के रस या शाक आदि से बनायी हुई मदिरा ।

३. आसव—गन्ने के रस को पकाकर या बिना पकाये तैयार किया हुआ शीधु को 'आसव' कहते हैं। इसको गुड़ एवं औषध आदि को एकत्र कर अनुसन्धान विधिसे भी तैयार करते हैं जो अनेक रोगों में प्रयोग होता है ।

४. शिरोविरेचन द्रव्यों का नस्य, प्रधमन नस्य कहलाता है इसमें तीक्ष्ण द्रव्यों को नाडी द्वारा फूक मारकर शिरोगुहा में शोधन या विरेचन के लिये पहुँचाया जाता है। प्रधमन या ध्मापन एक ही क्रिया का नाम है ।

५. सैन्धव, पीपर आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का कल्क बनाकर या ताजी औषधों को पीसकर तथा निचोड़कर (अवपीडित कर) उसके स्वरस को नाक में बूंद-बूंद टपकाना अवपीडन नस्य कहलाता है ।

चित्तविक्षेप तथा विषम ज्वर को नाश करता है। समय-समय पर आंवला का चूर्ण तथा काञ्चन (नागकेशर) का चूर्ण मिलाकर मधु के साथ सेवन करे और भक्तिपूर्वक उन्माद की शान्ति के लिये शंकरजी का पूजा करे ॥ ४४-४६ ॥

उन्मादे सिद्धार्थकाद्योऽगदः—

सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च ।
मञ्जिष्ठात्रिफलाश्वेताकटभीत्वक्कटुत्रिकम् ॥ ४७ ॥
समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् ॥ ४८ ॥
नस्यं चालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ।
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः ॥ ४९ ॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ।
सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् ॥ ५० ॥

उन्माद में सिद्धार्थकाद्य-अगद (औषध)—सरसों, वच, हिंगु, करञ्ज (इन्द्रयव); देवदारु, मंजीठ, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), श्वेतकटभी (सफेद मालकांगनी), दालचीनी, कटुत्रिक (सोंठ, पीपर, मरिच), प्रियंगु, शिरीष का बीज, हरदी तथा दारुहरदी समभाग इन द्रव्यों को अगद (औषध) तैयार कर बकरी के मूत्र के साथ पीसकर यह अगद (औषध) पान, अञ्जन, नस्य, आलेपन, स्नान तथा उद्वर्तन (उबटन) के लिये प्रयोग करने पर अपस्मार, विषजन्य उन्माद, कृत्या (महामारी), अलक्ष्मी (दरिद्रता) तथा ज्वर को नाश करता है। भूतप्रेत आदि से उत्पन्न भय को नाश करता है तथा राजदरबार में प्रशस्त है। अथवा इन्हीं द्रव्यों के कल्क (घृत के चौथाई) के साथ गोमूत्र (घृत के चौगुने 'घृत निर्माणविधि के अनुसार) में सिद्ध किया हुआ घृत पूर्वोक्त कार्यों को (लाभों) को करता है। अर्थात् पूर्वोक्त उपद्रवों को नाश करता है ॥ ४७-५० ॥

उन्मादे शिरीषाद्यं नावनाञ्जनम्—

शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं नागरं वचा ।
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् ॥ ५१ ॥

उन्माद में शिरीषाद्यनावन अञ्जन—शिरीष का बीज, मुलेठी, हिंगु, लहसुन, सोंठ, वच तथा कूठ समभाग इन द्रव्यों को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर नावन (नस्य) तथा अञ्जन का प्रयोग उन्माद रोग में करे ॥५१॥

उन्मादे मरीचाद्यञ्जनम्—

मरीचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहरं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

उन्माद में मरीचाद्यञ्जन—मरिच तथा धूप में सुखाया हुआ पित्त सहित मांस एक साथ मिलाकर अंजन करने से देखते-देखते विकार का उत्पन्न हो जाना, (मृगी या उन्माद हो जाना) तथा भूतदोष से उत्पन्न उन्माद को नाश करता है ॥ ५२ ॥

उन्मादे हिंग्वाद्य घृतम्—

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥ ५३ ॥

उन्माद में हिंग्वाद्य घृत—हिंगु, सौवर्चल (सोंचर नमक), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) दो-दो पल (छटाक) इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृत के चौथाई एक सेर) चौगुने (सोलह सेर) गाय के मूत्र में घृत एक आढक (चार सेर) (घृत निर्माणविधि के अनुसार) सिद्ध करे। यह घृत उन्माद को नाश करता है ॥ ५३ ॥

उन्मादे शङ्खपुष्प्याद्यं घृतम्—

शङ्खपुष्पीवचाकुष्ठैः सिद्धं ब्राह्मीरसे घृतम् ।
पुराणं हन्त्यपस्मारं सोन्मादं मेध्यमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

उन्माद में शङ्खपुष्पाद्य घृत—शंखपुष्पी, वच तथा कूठ इन द्रव्यों के कल्क के साथ ब्राह्मी के रस में (कल्क एक पाव, घृत एक सेर, ब्राह्मी का रस चार सेर घृत निर्माणविधि के अनुसार) घृत सिद्ध करे। यह घृत पुराना अपस्मार तथा उन्माद को नाश करता है और उत्तम बुद्धिवर्द्धक रसायन है ॥ ५४ ॥

उन्मादे मनःशिलाद्यञ्जनम्—

मनोह्वा तार्क्ष्यजं चैव शकृत्पारावतस्य च ।
अञ्जनं हन्त्यपस्मारमुन्मादं च विशेषतः ॥ ५५ ॥

उन्माद में मनःशिलाद्यञ्जन—मनोह्वा (मैनसिल) और तार्क्ष्यज (रसाञ्जन) एवं पारवत (परेवा) की विष्ठा का अञ्जन अपस्मार एवं विशेषकर उन्माद को नाश करता है ॥ ५५ ॥

उन्मादे धूपयोगः—

खराणां चर्ममूत्रैश्च क्रव्यादानां च लाभतः ।
धूपेन धूपयेन्नित्यमुन्मादग्रहशान्तये ॥ ५६ ॥

उन्माद में धूप योग—गदहा के चर्म तथा मूत्र प्राप्त हो जाने पर क्रव्याद (मांसभक्षक जानवर बाघ, चीता आदि) के चर्म तथा मूत्र का धूप प्रतिदिन उन्मादग्रह की शान्ति के लिये प्रयोग करे ॥ ५६ ॥

उन्मादे ब्राह्मीयोगः—

भूतोपहतचित्तानां वाक्प्रणष्टहतौजसाम् ।

ब्राह्मीघृतं प्रशंसन्ति ब्राह्मीस्वरसमेव वा ॥ ५७ ॥

उन्माद में ब्राह्मीयोग—भूतग्रह से उन्मत्त चित्तवाले तथा उन्माद के द्वारा नष्टवाणी और क्षीणशक्ति वाले रोगियों के लिये ब्राह्मी[1] घृत या ब्राह्मी स्वरस उत्तम है। अर्थात् ये दोनों ही उन्माद रोग को दूर करते हैं ॥ ५७ ॥

उन्मादे पुराणघृतयोगः—

पुराणं पाययेच्चैनं सर्पिरुन्मादनाशनम् ।
स्थितं वर्षशतं श्रेष्ठं कौम्भं सर्पिस्तदुच्यते ।
पानाभ्यञ्जननस्येषु हितमुन्मादिनां सदा ॥ ५८ ॥

उन्माद में पुराण घृत योग—उन्माद रोग से पीड़ित रोगी को उन्माद रोग को नाश करने वाला पुराना घृत का पान कराये। एक सौ वर्ष का घड़े में रक्खा हुआ श्रेष्ठ कौम्भ घृत कहलाता है। यह घृत पान, अभ्यंजन तथा नस्य-कर्म में उन्माद के रोगियों के लिये सर्वदा हितकर है ॥ ५८ ॥

उन्मादे त्र्यूषणाद्याऽञ्जनवर्तिः—

त्र्यूषणं हिङ्गु लशुन वचा कटुकरोहिणी।
शिरीषनक्तमालानां बीज श्वेताश्च सर्षपाः ॥ ५९ ॥
गोमूत्रपिष्टान्येतानि वर्तिर्नेत्राञ्जने हिता ।
चातुर्थकमपस्मारमुन्मादं चापकर्षति ॥ ६० ॥

उन्माद में त्र्यूषणाद्य अञ्जन वर्ति—त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), लहसुन, वच, कटुकी, शिरीष तथा नक्तमाल (करंज) का बीज और सफेद सरसों सम-भाग—इन द्रव्यों को गाय के मूत्र के साथ पीसकर तथा वर्ति बनाकर नेत्र में अञ्जन करना उन्माद के रोगियों के लिये हितकर होता है। यह वर्ति चातुर्थक ज्वर, अपस्मार तथा उन्माद को दूर करती है ॥ ५९–६० ॥

अपराजितो धूपः—

शैलेयगुग्गुलदलैः समुराह्वचन्द्र-
द्रव्यापहृत्सघनकुन्दुरुभिः सकुष्ठैः ।
सध्यामकैरिति सुगन्धरसैः सधूपः
सौभाग्यकृद्विजयकृद्विजयो विवादे ॥ ६१ ॥

अपराजित धूप—शैलेय (छबीला), गुग्गुलु, दल (तमालपत्र), सुराह्व (मरोरफली), चन्द्र द्रव्य (कपूर) नागरमोथा, कुन्दुरु, कूठ, ध्यामक (कत्तृण 'सुगन्धि' द्रव्य विशेष) सुगन्धित रस राल आदि द्रव्यों का धूप सौभाग्य देनेवाला विजय देनेवाले तथा विवाद (लडाई झगड़ा मुकदमा आदि में) विजय प्राप्त करानेवाला है ॥ ६१ ॥

---

१. ब्राह्मीघृत—गद० नि० प्र० ख० पृ० १९ में देखें।

देवासुरोरगपिशाचपितृग्रहेषु
गन्धर्वयक्षपिशिताशशिशुग्रहेषु ।
जीर्णज्वरेषु विहितः सविषातुरेषु
धूपोऽयमाजिविजयादिषु पार्थिवेषु (?) ॥ ६२ ॥

इति श्रीवैद्यवरशोढलग्रथिते गदनिग्रहे पञ्चमे भूतविद्याखण्डे
उन्मादाधिकारो द्वितीयः ।

यह धूप, देव, असुर, सर्प, पिशाच, पितर, गन्धर्व, यक्ष, पिशिताश (राक्षस) तथा डाकिनी, अहिपूतना आदि शिशुग्रह जीर्णज्वर, विषजन्य रोग तथा पार्थिव (राजाओं) के आजि (युद्ध) एवं विजय प्राप्ति आदि में प्रयोग करने के लिये बनाया गया है । अर्थात् उपरोक्त ग्रहों को तथा रोगों को दूर करता है और युद्ध आदि में विजय प्रदान करता है ॥ ६२ ॥

श्री शोढल वैद्य विरचित गदनिग्रह के पाँचवें भूतविद्या खण्ड में दूसरा
उन्मादाधिकार समाप्त ।



अथापस्माराधिकारस्तृतीयः

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः ।

अपस्मारनिरुक्ति—

स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् ।
अपस्मार इति ज्ञेयस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ॥ १ ॥

उन्माद के बाद अपस्मार का निदान कहते हैं।

अपस्मार की निरुक्ति—भूतार्थ के विज्ञान (बीती हुई घटना के ज्ञान का दूसरा नाम) को स्मृति कहते हैं आपका नाम परिवर्जन है जिस रोग में स्मृति (ज्ञान) नष्ट हो जाता है उसे अपस्मार कहते हैं। अपगतः स्मारो यस्मिन् रोगे सोऽपस्मारः जिस रोग में मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है उसे अपस्मार कहते हैं। यह रोग शरीर को नाश कर देता है क्योंकि अग्नि जल आदि को देखने पर उसका आक्रमण होता है और वहीं गिर जाने से उसका नाश हो जाता है ॥ १ ॥

अपस्मारसामान्यलक्षणम्—

तमःप्रवेशः सरम्भो दोषोद्रेगहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ २ ॥

अपस्मार का सामान्य लक्षण—वातादि दोषों के प्रकोप से स्मृति (बुद्धि) के उपहत हो जाने पर आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है तथा रोगी अज्ञान रूप अन्धकार में प्रवेश करता है, नेत्र विकृत हो जाते हैं और रोगी हाथ पैर पटकता है, इस प्रकार के भयंकर रोग को अपस्मार कहते है और यह चार प्रकार का होता है (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक) ॥ २ ॥

विमर्श—[1]चिन्ता शोक आदि कारणों से दूषित वातादि दोष हृदय (मस्तिष्क) के स्रोत पर प्रभाव उत्पन्न करते हैं और स्मृति का विनाश कर अपस्मार रोग उत्पन्न करते हैं। अपस्मार रोग में बीती हुई घटना का ज्ञान नहीं रह जाता है। सामान्यतः इस रोग से आक्रान्त होने पर भूत एवं वर्तमान सभी प्रकार के ज्ञान का नाश हो जाता है। चरक ने निम्न प्रकार से अपस्मार की परिभाषा की है। अपस्मारं पुनः स्मृति बुद्धि सत्व संप्लवाद्वीभत्सचेष्टा

---

१. चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥

मावस्थिकं तमः प्रवेशमाचक्षते। वस्तुतः स्मृति, बुद्धि तथा मन के कार्यनाश को अपस्मार कहते हैं।

अपस्मार भी उन्माद के सदृश एक मानसिक व्याधि है। इसमें मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकार नहीं दिखाई देता। ज्ञाननाश के दृष्टि से यह भी उन्माद के समान ही है किन्तु उन्माद में बुद्धि विभ्रम हो जाता है जिससे रोगी देखने या सुनने पर भी इसके यथार्थ तत्त्व को ग्रहण नहीं कर पाता है। उन्माद पीड़ित व्यक्ति असम्बद्ध बातें करता है, प्रायः खाये हुए भोजन के स्वाद का ज्ञान नहीं रहता। अपस्मार पीड़ित रोगी एकाएक बेहोश हो जाता है, उसे ज्ञान रहते हुए भी किसी कार्य को नहीं कर सकता है। इस तरह उन्माद में बुद्धिविभ्रम तथा अपस्मार में बुद्धि का नाश हो जाता है। अपस्मार का आक्रमण एक निश्चित समय से हुआ करता है और वह कुछ समय तक रहता है साथ ही उसका कुछ अवस्थाविशेष भी हुआ करता है। उन्माद रोग में आक्रमण की कोई अवस्था नहीं होती और यह स्थायी प्रकार का होता है।

अपस्मार रोग चिन्ता, काम, क्रोध, शोक एवं मानसिक उद्वेग आदि कारण तथा सिर में चोट लगना, मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कार्बुद आदि कारणों से सत्त्व गुण का अभाव तथा रज एवं तमोगुण की प्रबलता होने से उत्पन्न होता है। दोष प्रकुपित होकर मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठानों तथा वातवह नाड़ियों में आश्रित होकर अपस्मार रोग को उत्पन्न करते हैं। जब प्रकुपित एवं संचित दोषों को काम-क्रोध आदि उत्तेजक कारणों का सहारा मिल जाता है तभी अपस्मार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यह रोग प्रायः बाल्यावस्था में से ही प्रारम्भ हो जाता है और अन्य मानसिक रोगों के सदृश ही इस रोग में भी आनुवंशिक क्रम की प्रवृत्ति कुछ मात्रा में पायी जाती है। वातव्याधि या योषापस्मार आदि रोगों से पीड़ित माता-पिता से उत्पन्न बालकों में प्रायः बाल्यावस्था में ही इसका सामान्य रूप प्रारम्भ हो जाता है और बाद में मस्तिष्क के विकसित हो जाने पर अपना वास्तविक रूप धारण कर लेता है। मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकार नहीं दिखाई देता किन्तु इसकी उत्पत्ति में मस्तिष्क का आघात अत्यधिक सहायक होता है।

लाक्षणिक क्रम के अनुसार अपस्मार के तीव्र आक्रमण को चार अवस्थाओं में विभक्त किया गया है।

(क) प्रथमावस्था—इस अवस्था में रोगी को भ्रम या चक्कर प्रतीत होता है तदनन्तर सहसा संज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

(ख) द्वितीयावस्था—इस अवस्था में मुख, गले तथा आंखों की पेशियों के साथ शरीर की सभी पेशियों का संकोच होने लगता है जिस से रोगी के

नेत्र, मुख तथा गर्दन टेढ़ी हो जाती है। हाथों में मुट्ठियां बँध जाती हैं। और हाथ अन्दर की तरफ मुड़ जाते हैं, पैर कड़े तथा सीधे हो जाते हैं श्वासनलिका के पेशियों में संकोच होने से श्वासावरोध तथा मुख का रंग हरा एवं नीला पड़ जाता है। दोनों जबड़े बन्द हो जाते हैं जिससे कभी-कभी जिह्वा के कट जाने की आशंका रहती है। यह अवस्था कुछ सेकेण्ड तक रहती है।

(ग) तृतीयावस्था—इस अवस्था में पेशियां ढीली पड़ने लगती हैं, श्वास-प्रश्वास क्रिया पूर्ववत् होने लगती है, मुख से झाग निकलने लगता है और रोगी अपने हाथ-पैर को पटकने लगता है। इस प्रकार के अनेक बार आक्षेप आते हैं और कुछ समय बाद यह अवस्था समाप्त हो जाती है।

(घ) चतुर्थावस्था—इस अवस्था में रोगी को शान्ति का अनुभव होने लगता है और रोगी को नींद आ जाती है। नींद से उठने के बाद रोगी के सिर में वेदना, वमन तथा श्रम (थकावट) का अनुभव होने लगता है।

जिस अवस्था में 'निरन्तर आक्रमण होने लगता है उस अवस्था में संज्ञानाश बराबर बना रहता है और यह अवस्था असाध्य मानी गई है।

अपस्मारपूर्वरूपम्—

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता।
निद्रानाशश्च तस्मिंस्तु भविष्यति भवत्यथ ॥ ३ ॥

अपस्मार का पूर्व रूप—हृदय में कम्पन और शून्यता का अनुभव, शरीर में पसीना आना, चिन्ता, मन तथा इन्द्रियों को क्रिया-हानि तथा निद्रानाश ये अपस्मार के पूर्व-रूप हैं (ध्यान से चिन्ता, मूर्च्छा से मनोमोह तथा प्रमूढता से इन्द्रिय मोह समझना चाहिए) ॥ ३ ॥

वातजादिभेदेनापस्मारलक्षणानि—

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यथ।
परुषाणि च कृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ४ ॥

वातादि भेद से अपस्मार के लक्षण—वातिक-अपस्मार—वात प्रकोपजन्य अपस्मार में रोगी आक्रमण के पहले वस्तुओं को रूक्ष, अरुण तथा काले वर्ण का देखता है। आक्रान्त (बेहोश) हो जाने पर उसका शरीर काँपने लगता है, दांत किटकिटाता है मुख से फेन वमन करता है तथा श्वास भी जल्दी-जल्दी लेने लगता है ॥ ४ ॥

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ५ ॥

पैत्तिक-अपस्मार—पैत्तिक अपस्मार से पीड़ित रोगी को सभी पदार्थ पीले

तथा लाल वर्ण के ही दिखाई देते हैं। उसके मुख से निकलने वाले झाग, शरीर मुख तथा नेत्र पीले वर्ण का होता है। रोगी को प्यास अधिक लगती है तथा वह अत्यधिक उष्णता का अनुभव करता हुआ संसार की सभी वस्तुओं को आग से जलती हुई-सा देखता है ॥ ५ ॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यतेऽचिरात् ॥ ६ ॥
सर्वैरेभिः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।

कफज-अपस्मार का लक्षण—श्लैष्मिक अपस्मार से पीड़ित व्यक्ति के मुख से निकलने वाले झाग, उसका शरीर, मुख तथा नेत्र श्वेतवर्ण का रहता है। रोगी का शरीर शीतल, रोमाञ्चित तथा भारी रहता है। वह सभी वस्तुओं को श्वेतवर्ण का ही देखता है। इसका आक्रमण बहुत देर से समाप्त होता है।

विमर्श—वातिक तथा पैत्तिक अपस्मार का दौरा शीघ्र ही समाप्त हो जाता है किन्तु श्लैष्मिक अपस्मार में मस्तिष्क का अधिक भाग आक्रान्त रहता है अतः इसका दौरा गम्भीर एवं देर में समाप्त होता है। इसमें अपस्मार के अन्य सभी सामान्य लक्षण मिलते हैं।

सान्निपातिक-अपस्मार का लक्षण—त्रिदोषज अपस्मार तीनों वातपित्तादि दोषों के प्रकोप से तथा इनके लक्षणों से युक्त होता है।

अपस्मारस्यासाध्यलक्षणानि—

अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ७ ॥
प्रस्फुरन्तं सुबहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम् ।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ ८ ॥

अपस्मार के असाध्य लक्षण—त्रिदोषज अपस्मार बलहीन रोगी के तथा सभी प्रकार के पुराने अपस्मार असाध्य होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस अपस्मार के रोगी को बार-बार आक्षेप आते हों, जो अत्यधिक क्षीण हो, जिसकी भौं ऊपर को चढ़ जाय, और जिसके नेत्र भी विकारयुक्त हो जायँ उसका अपस्मार रोगी को मार देता है। अर्थात् असाध्य होता है ॥७–८॥

एकैकशः सर्वशः स्यादपस्मारश्चतुर्विधः ।
जीर्णाजीर्णविभेदेन साध्यासाध्यत्वनिश्चयः ॥ ९ ॥

अलग-अलग एक-एक दोष से तीन-तीन दोषों से एक इस प्रकार अपस्मार चार प्रकार का होता है। इसके साध्यासाध्य का निश्चय पुराने तथा नये के आधार पर किया जाता है। अर्थात् पुराना अपस्मार असाध्य एवं नवीन अपस्मार साध्य होता है ॥ ९ ॥

विमर्श—मूर्च्छा, अपस्मार तथा योषापस्मार इन तीनों में संज्ञानाश होने

के कारण ये एक श्रेणी के रोग माने गये हैं। किन्तु इनको उत्पन्न करनेवाले कारण, अन्दर के विकार, विशेष लक्षण तथा चिकित्सा में विभिन्नता पाई जाती है। अपस्मार एवं योषापस्मार में कुछ विशेषतायें होती हैं जैसे—

अपस्मार	योषापस्मार
१—इसका दौड़ा वेग से होता है।	१—इसमें तीव्र वेग नहीं होता है।
२—इसका आक्रमण निद्रावस्था में भी होता है।	२—इसका दौड़ा सोते समय नहीं होता है।
३—इसका आक्रमण अकेले तथा जन-समूह में भी हो सकता है।	३—इसका आक्रमण सहायकों के पास रहने पर ही प्रारम्भ होता है।
४—इसके दौड़ा आने पर गर्दन तथा नेत्र टेढ़े हो जाते हैं।	४—इसमें नेत्र तथा गर्दन टेढ़े नहीं होते हैं।
५—इसमें रोगी सहसा गिर जाता है अपने को सम्भाल न पाने के कारण आघात लग जाता है।	५—इसमें रोगी सावधानी से गिरता है जिससे किसी प्रकार का आघात नहीं लगता है।
६—कभी दांतों से जिह्वा कट जाती है तथा बिना इच्छा के ही मल-मूत्र का त्याग होने लगता है।	६—जिह्वा नहीं कटती है तथा बिना इच्छा के मल-मूत्र का त्याग नहीं होता है।
७—आक्रमण निश्चित समय के बाद होता है।	७—इसमें कोई निश्चित समय नहीं होता है।
८—इसके आक्रमण में गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं होता है।	८—इसमें गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
९—इसके आक्रमण के बाद नींद आ जाती है।	९—इसमें रोगी शीघ्र ही होश में आ जाता है।

अपस्मार तथा मूर्च्छा में भेद

अपस्मार	मूर्च्छा
१—आक्रमण एकाएक होता है।	१—आक्रमण धीरे-धीरे होता है।
२—इसमें आखें प्रत्यावर्तित होती है।	२—आंखें प्रत्यावर्तित नहीं होती हैं।
३—मुख से फेन निकलता है।	३—मुख से फेन नहीं निकलता।
४—शरीर के किसी अंग में या जिह्वा में आघात के चिह्न मिलते है।	४—आघात के चिह्न प्रायः नहीं मिलते हैं।

अपस्मार	मूर्च्छा
५—शरीर उष्ण रहता है तथा पूर्वग्रह होता है।	५—शरीर शीतल रहता है और पूर्वग्रह नहीं होता।
६—इसका कोई निश्चित कारण नहीं होता तथा आध्मान या हृल्लास की भी सम्भावना नहीं रहती है।	६—इसका कारण स्पष्ट दिखाई देता है तथा आध्मान एवं हृल्लास होते है।
७—शरीर के अवयवों में गति होती है।	७—शरीर के अंगों में गति नहीं होती है।

अपस्मारप्रकोपकालः—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ १० ॥
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।
शरदि प्रविरोहन्ति यथा व्याधिसमुच्छ्रयः ॥ ११ ॥

इत्यपस्मारनिदानम्।

अपस्मार के प्रकुपित होने का समय—पन्द्रह दिन या बारह दिन या एक माह अथवा किसी नियत समय के बाद या पहले संचित वातादि दोष प्रकुपित होकर अपस्मार रोग के वेग को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार वर्षाकाल में पृथ्वी में पड़े हुए बीज शरद्-काल में ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार रोगों के उत्पादक कारण भी निश्चित समय पर ही रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥१०-११॥

विमर्श—वातिक अपस्मार का आक्रमण बारह दिन बाद, पैत्तिक-अपस्मार का आक्रमण पन्द्रह दिन बाद तथा कफज-अपस्मार का आक्रमण एक माह बाद होता है यह कुछ विद्वानों का मत है किन्तु यह समय सबके लिये समान नहीं होता है। दोषों के सचय के अनुसार आक्रमण भी शीघ्रता से तथा अधिक मात्रा में होता है। अर्थात् दोषों का संचय जितना शीघ्र तथा जितना अधिक होता है आक्रमण भी उतना ही शीघ्र तथा उतनी ही तीव्रता के साथ होता है।

अपस्मार रोग का निदान समाप्त।

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अपस्मारे सामान्यचिकित्सा—

अथावृतानां धीचित्तहृत्खानां प्राक्प्रबोधनम्।
तीक्ष्णैः कुर्यादपस्मारे कर्मभिर्वमनादिभिः ॥ १२ ॥
वातिकं बस्तिभिश्चापि पैत्तिकं च विरेचनैः।

कफजं वमनैर्धीमानपस्मारमुपाचरेत् ॥ १३ ॥
सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च ।
अपस्मारविमोक्षाय योगान् संशमनाञ्छृणु ॥ १४ ॥

अपस्मार के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

अपस्मार में सामान्य चिकित्सा—अपस्मार रोग में सर्वप्रथम तीक्ष्ण वमन, नस्य आदि कर्म से, आवृत (मोहित अपस्मार पीड़ित) बुद्धि, चित्त एवं हृदय वाले व्यक्तियों को चैतन्य करे अर्थात् होश में लाने का प्रयत्न करे। वातिक अपस्मार को वस्ति कर्म के द्वारा, पैत्तिक अपस्मार को विरेचन के द्वारा तथा श्लैष्मिक अपस्मार को वमन के द्वारा बुद्धिमान व्यक्ति उपचार करे। सभी प्रकार से वमन-विरेचनादि के द्वारा शुद्ध शरीर वाले तथा अच्छी तरह आश्वासित (होश में आये हुए) व्यक्ति के अपस्मार को दूर करने के लिये, अपस्मार-शामक योगों को कह रहे हैं ॥ १२–१४ ॥

अपस्मारे लघुपञ्चगव्यं घृतम्—

गोमयस्वरसक्षीरदधिमूत्रैः शृतं हविः ।
अपस्मारज्वरोन्मादकामलान्तकरं पिबेत् ॥ १५ ॥

अपस्मार में लघु पञ्चगव्य घृत—गाय के गोबर का रस, दूध, दही तथा मूत्र के साथ सिद्ध किये हुए अपस्मार, ज्वर, उन्माद तथा कामला को नाश करने वाले घृत को पान करे ॥ १५ ॥

अपस्मारे महापञ्चगव्यं घृतम्—

द्विपञ्चमूलीं त्रिफलां द्विनिशां कुटजत्वचः ।
सप्तपर्णमपामार्गं मालतीं कटुरोहिणीम् ॥ १६ ॥
शम्याकं पुष्करजटां फल्गुमूलं दुरालभाम् ।
द्विपलां सलिलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषितम् ॥ १७ ॥
भार्गीपाठाढकीकुम्भनिकुम्भव्योषरोहिषैः ।
मूर्वाभूनिम्बभूतीकश्रेयसीसारिवाद्वयैः ॥ १८ ॥
मदयन्त्यग्निनिचुलैरक्षांशैः सर्पिषः पचेत् ।
प्रस्थं तद्वद्द्रवैः पूर्वैः पञ्चगव्यमिदं महत् ॥ १९ ॥
ज्वरापस्मारशमनं भगन्दरहरं परम् ।
शोफार्शःकामलापाण्डुगुल्मकासग्रहापहम् ॥ २० ॥

अपस्मार में महापञ्चगव्य घृत—द्विपञ्चमूली (दोनों पञ्चमूल, बेल की छाल, गम्भारी, पाढल, अरलू, अरनी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), द्विनिशा (हल्दी, दारुहल्दी), कोरैया की छाल, छतिवन, अपामार्ग, चमेली, कुटकी, शम्पाक (अमलतास),

पुष्करमूल, फल्गु (कठहूमर) की जड़ तथा यवासा दो-दो पल (दो-दो छटाक) इन द्रव्यों को जल एक द्रोण में पकावे और चौथाई शेष रहने पर क्वाथ को छानकर रख ले। भांगरा, पाढ़ी, आढ़की (अरहर), कुम्भ (दन्ती) निकुम्भ (निशोथ), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), रोहिष (कत्तृत सुगन्धित तृणविशेष), मूर्वा (मरोरफली या मोरवेल), चिरायता, भूतीक (भूतृण शरवाय) श्रेयसी (हर्रे), कृष्णसारिवा, रक्तसारिवा, मदयन्ती (मेंहदी), चित्रक तथा निचुल (समुद्रफल) एक-एक अक्ष (एक-एक तोला) इन द्रव्यों के कल्क तथा पूर्व निर्मित क्वाथ द्रव के साथ घृत एक प्रस्थ (एक सेर) पकावे, इसको महापञ्चगव्य नामक घृत कहते हैं। यह महापञ्चगव्य घृत ज्वर तथा अपस्मार को शान्त करता है, भगन्दर को अच्छी तरह दूर करता है और शोथ, अर्श, कामला, पाण्डुरोग, गुल्मरोग, कास एवं भूत-पिशाचादि ग्रहजन्य उन्माद को नाश करता है ॥ १९-२० ॥

अपस्मारे मधुकयोगः—

कूष्माण्डकगिरोत्थेन रसेन परिपेषितम् ।
अपस्मारविनाशाय यष्ट्याह्वं संपिवेत् त्र्यहम् ॥ २१ ॥

अपस्मार में मधुक योग—कुष्माण्ड (सफेद कोहड़ा, भथुआ) के रस के साथ मुलेठी को पीसकर अपस्मार को नाश करने के लिये तीन दिन तक पान करे ॥ २१ ॥

अपस्मारे शतावरीयोगः—

क्षीराभ्राशी शतावर्याः प्रातर्मूलरसं पिवेत् ।
शृत चूर्णं तथा क्षीरमपस्मारप्रशान्तये ॥ २२ ॥

अपस्मार में शतावरी योग—दूध-भात खानेवाला, अपस्मार का रोगी शतावरी के रस को प्रातःकाल पान करे या उसका क्वाथ, चूर्ण अथवा शतावरी डाल कर पकाये हुए दूध को अपस्मार की शान्ति के लिये पान करे ॥ २२ ॥

अपस्मारे कुष्माण्डघृतम्—

कूष्माण्डस्वरसे सर्पिरष्टादशगुणे पचेत् ।
यष्ट्याह्वकल्कं तत्पानादपस्मारहरं परम् ॥ २३ ॥

अपस्मार में कुष्माण्ड घृत—अट्ठारह गुना कुष्माण्ड (सफेद कोहड़ा) के स्वरस में मुलेठी का कल्क डालकर (घृत निर्माण विधि के अनुसार) घृत पकावे। यह घृत पान करने से अपस्मार को अच्छी तरह दूर करता है ॥ २३ ॥

अपस्मारे लज्जालुयोगः—

प्रातरौषधकाले तु संपिबेन्नियमस्थितः ।
आजेन पयसा पिष्टां कृताञ्जलिशिफां बुधः ॥ २४ ॥
अपस्मारविनाशाय निरभिष्यन्दिभोजनम् ।

अपस्मार में लज्जालु योग—बुद्धिमान् मनुष्य कृताञ्जलि (लज्जालु) की जड़ को बकरी के दूध के साथ पीसकर नियमपूर्वक रहते हुए प्रातःकाल औषध सेवन के समय में अपस्मार को नाश करने के लिये पान करे और अभिष्यन्दि (दही आदि को त्याग कर) अन्य पौष्टिक भोजन करे ॥ २४ ॥

अपस्मारे कतिपयनस्ययोगाः—

कपिलानां गवां पित्तं नावनं परमं हितम् ॥ २५ ॥
श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च पूजितम् ।

अपस्मार में कुछ नस्य योग—कपिल वर्ण के गायों के पित्त का नस्य लेना अपस्मार रोग में अत्यधिक हितकर है । और कुत्ता, सियार, बिलाव तथा सिंह आदि का भी पित्त अपस्मार को नाश करने के लिये हितकर माना गया है ।

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्जकैः ॥ २६ ॥
श्र्याह्वापामार्गकारञ्जबीजैस्तैलं विपाचितम् ।
बस्तमूत्रे हितं नस्यं चूर्णं वा ध्मापयेद्भिषक् ॥ २७ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), पीतद्रु (सरल नामक काष्ठ वृक्ष पीला चन्दन), यवक्षार, फणिज्झक (मरुवा), श्र्याह्व (लक्ष्मा फल या 'देवदारु) अपामार्ग का बीज तथा करञ्ज का बीज समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ बकरी के मूत्र (मूत्र तैल के चौगुना, कल्क तैल के चौथाई, तैल निर्माण विधि के अनुसार) में तैल पकावे यह अपस्मार रोग में नस्य के लिये हितकर है अथवा वैद्य इन्हीं द्रव्यों के महीन चूर्ण को अपस्मार रोग में नाड़ी द्वारा नासा गुहा में ध्मापन करे ॥ २६–२७ ॥

गोधानकुलनागानां पित्तैस्तैलं विपाचयेत् ।
अपस्मारं हरेत्क्षिप्रं नस्यतः संप्रयोजितम् ॥ २८ ॥

गोधा (गोह), नेवला तथा सापों के पित्त के साथ तैल पकावे । यह तैल नस्य कर्म में प्रयोग करने से शीघ्र ही अपस्मार रोग को नाश करता है ॥ २८ ॥

अपस्मारे धूपयोगः—

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपमस्य प्रयोजयेत् ॥ २९ ॥

अपस्मार में धूप योग—नेवला, उल्लू, बिलाव, गीध, कीट, सांप तथा काग इन—जन्तुओं के तुण्ड (ठोर) पांख तथा विष्ठा का धूप अपस्मार रोग में प्रयोग करे ॥ २९ ॥

अपस्मारे कतिपययोगाः—

शीलयेत्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥ ३० ॥
समैः क्रुद्धैरपस्मारे दोषैः शारीरमानसैः।
यज्जायते ह्यपस्मारो महामर्मसमाश्रयः ॥ ३१ ॥
तस्मात्साधारणैः कर्मैर्दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत्।

अपस्मार में कुछ योग—तैल तथा लहसुन या दूध के साथ शतावरी, ब्राह्मी का रस, कूठ का रस अथवा मधु के साथ वच को समान दोष वात-पित्त आदि के प्रकोप से उत्पन्न अपस्मार में प्रयोग करे। शारीरिक तथा मानसिक दोष से महामर्म को आश्रय कर जो अपस्मार उत्पन्न होता है, वह दुश्चिकित्स्य होता है अतः साधारण कर्मों के द्वारा उपचार करे।

ब्राह्म्या लावणिकायास्तु स्वरसो नस्ययोजितः ॥ ३२ ॥
त्र्यहं क्षिप्रमपस्मारमुद्धरत्यविचारतः।

लावणिक ब्राह्मी के स्वरस का नस्य नाक में छोड़ने से अपस्मार रोग को अवश्य ही तीन दिन में दूर कर देता है।

पिशाचीकाष्ठलग्ना तु कौशिकारण्डसंभवा (?)।
कर्णे न्यस्ता हरेत्क्षिप्रमपस्मारं सुदारुणम् ॥ ३३ ॥

[1]पिशाची (गन्धमासी) तथा गुग्गुलु को एक में मसल कर काष्ठ के अग्रभाग में लगाकर जला दे और कान में काष्ठ का दूसरा सिरा लगा दे। इससे भयकर अपस्मार रोग दूर हो जाता है ॥ ३३ ॥

मरिचक्षवकविडङ्गं वचा वयस्थां समागधां चैव।
पित्तान्यपि च प्राहुः शार्दूलबिडालर्क्षसिंहानाम्।
नस्यं ग्रहप्रशमनं सिद्धमपस्मारिणामेतत् ॥ ३४ ॥

मरिच, क्षवक, (राई), वायविडङ्ग, वच, गुडूची तथा पीपर इन द्रव्यों का चूर्ण, और शार्दूल (बाघ), बिलाव, भालू तथा सिंह का पित्त भी ग्रहों को प्रशमन करनेवाला नस्य कहा गया है। अपस्मार के रोगियों के लिये तो यह सिद्ध नस्य है ॥ ३४ ॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्।
तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं हितम् ॥ ३५ ॥

---

१. सुक्ष्म जटामांसी Small veriety of जटामांसी Produced in Kedara Mountain।

पुष्य नक्षत्र में निकाला हुआ कुत्ता का पित्त अञ्जन करने से अपस्मार का नाश करता है। वही पित्त घृत के साथ मिलाकर धूप देना अपस्मार रोग में परम हितकर है ॥ ३५ ॥

उल्लम्बितनरपाशप्रभव भस्म प्रणाशयेत्पीतम् ।
पयसाऽपस्मृतिरोग नस्याभ्यासाद्वचाऽजमूत्रेण ॥ ३६ ॥

मनुष्य के फांसी के रस्सी को जलाकर उसका भस्म दूध के साथ पान करने से अपस्मार रोग को नाश करता है। वच, बकरी के मूत्र के साथ पीसकर नस्य लेने से भी अपस्मार को नाश करता है ॥ ३६ ॥

उद्बद्धमानवगलव्यतिपक्तमग्नौ रज्जुं विदग्ध्य निपुणेन कृता मषी या ।
सा शीतलेन सलिलेन समं निपीता पुंसामपस्मृतिविनाशकरी प्रदिष्टा ॥३७॥

मनुष्य के गले के फासी की रस्सी को अग्नि में जलाकर उसकी अच्छी तरह स्याही बनाकर शीतल जल के साथ पान करे। यह स्याही पुरुषों के अपस्मार रोग को नाश करनेवाली कही गई है ॥ ३७ ॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविमोक्षणम् ॥ ३८ ॥

एक सेर तैल, एक सेर घृत, एक-एक छटाक जीवनीय द्रव्यों के कल्क के साथ एक द्रोण दूध में (तैल एवं घृत निर्माण के विधि के अनुसार) पकाये। यह सिद्ध घृत तथा तैल अपस्मार रोग को नाश करता है ॥ ३८ ॥

तदार्तं चाग्नितोयादेर्विषमात्पालयेत्सदा ।
युक्तं मनोविकारेण त्वमित्थं कृतवानिति ।
न ब्रूयाद्विषयैरिष्टैः क्लिष्टं चेतोऽस्य बृंहयेत् ॥ ३९ ॥

श्री श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे पञ्चमे भूतविद्याखण्डे
अपस्माराधिकारस्तृतीयः ।

अपस्मार (मृगी) रोग से पीड़ित व्यक्ति को अग्नि, जल तथा विषम भयानक आदि वस्तुओं से हमेशा अलग रखना चाहिए। अपस्मार रोग से पीड़ित व्यक्ति को अच्छा होने के बाद 'तुम इस प्रकार से रुग्णावस्था में इन इन कार्यों को किये हो' ऐसा नहीं कहना चाहिए बल्कि उसके अभीष्ट विषयों के क्लेशयुक्त चित्त को अच्छे मार्ग में ले जाकर बढ़ाना चाहिए। अर्थात् इसके अन्दर मनोबल लाने के लिये अच्छे अच्छे प्रसङ्गों को कहना चाहिए ॥३९॥

श्री शोढल विरचित गदनिग्रह के पञ्चम भूतविद्या खण्ड में
तीसरा अपस्माराधिकार समाप्त।

समाप्तं चेदं पञ्चमं भूततन्त्रम् ।

गदनिग्रहः

(कौमारतन्त्राख्यः षष्ठः खण्डः)

अथ प्रदराधिकारः प्रथमः

अथातः प्रदरनिदानं व्याख्यास्यामः ।

प्रदरनिदानम्—

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद् गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च ॥ १ ॥
असृग्दरं भवेत्सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम् ।

भूत तन्त्र के बाद प्रदर का निदान कहते हैं ।

प्रदर का निदान—विरुद्ध भोजन, मद्यपान, अध्यशन (भोजन करने के बाद अजीर्णावस्था में भोजन करना), अजीर्ण (भोजन का परिपाक ठीक-ठीक न होना), गर्भपात, अत्यधिक मैथुन, सवारी (हाथी-घोड़ा आदि) पर बैठकर चलने, पैदल चलने, अधिक शोक, अधिक कर्षण होने से (लंघन आदि करने से), अधिक भार ढोने से आघात लगने से तथा दिन में सोने से प्रदर रोग होता है । सभी प्रकार के प्रदर रोग में सम्पूर्ण शरीर में ऐंठन तथा वेदना सामान्य रूप से होती है ॥ १ ॥

विमर्श—प्रदर को असृग्दर भी कहते हैं । जिस रोग में योनि मार्ग से रक्त अत्यधिक मात्रा में निकले उसे असृग्दर कहते हैं ।

असृग दीर्यते प्राचुर्येण च्यवते यस्मिन् रोगे सोऽसृग्दरः ।

यदि ऋतुकाल में योनि मार्ग से अत्यधिक रक्त का स्राव हो या ऋतु के अतिरिक्त समय में भी रक्तस्राव हो तो असृग्दर या प्रदर कहते हैं ।

प्रदरोपद्रवाः—

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥ २ ॥

प्रदर के उपद्रव—प्रदर रोग में रक्त के अत्यधिक निकल जाने पर दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मादकता, प्यास, जलन, प्रलाप, पाण्डुरोग, तन्द्रा तथा अन्य वातजन्य रोग (कम्प, पक्षाघात, आक्षेप, निद्रा का नाश आदि) उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २ ॥

विमर्श—अत्यधिक मात्रा में रक्तस्राव होने के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से भ्रम मूर्च्छा मद आदि उपद्रव होना स्वाभाविक हो जाता है। शारीरिक जलीयांश कम होने से प्यास, पोषक पदार्थ के अभाव से दुर्बलता, रक्त की कमी से नाड़ी शोष, दाह, पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। मार्गावरोध तथा धातुक्षय के कारण वायु का प्रकोप होता है और प्रकुपित वायु प्रलाप तथा अन्य वातजन्य कृशता, कम्पन, अनिद्रा, अस्थिरचित्तता, कर्णनाद, चिड़चिड़ापन आदि उपद्रव उत्पन्न करता है। रक्तक्षय होने के कारण पाण्डुता भी होती है।

प्रदरभेदाः—

तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातैश्चतुःप्रकारं प्रदरं वदन्ति।

प्रदर के भेद—पूर्वोक्त लक्षण वाला प्रदर रोग श्लैष्मिक, पैत्तिक, वातिक तथा सन्निपातिक भेद से ४ प्रकार का होता है।

वातजादिभेदेन प्रदरलक्षणानि—

आमं सपिच्छप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफाच्च ॥ ३ ॥

वात आदि भेद से प्रदर के लक्षण—कफजन्य प्रदर में आमरस से युक्त, पिच्छिल, पाण्डु वर्ण तथा पुआल के धोये हुए जल के समान स्राव निकलता है।

सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात्।
रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातार्ति वातात्पिशितोदकाभम् ॥ ४ ॥

पित्तजन्य प्रदर में पीला, नीले रङ्ग का, काला या लाल रङ्ग का उष्ण स्राव होता है इसमें चोष, दाह आदि पैत्तिक वेदनायें तथा उसका वेग तीव्र प्रकार का होता है। वातजन्य प्रदर में स्राव रूक्ष, अरुण, फेनयुक्त, मात्रा में कम, वातिक पीड़ाओं से युक्त तथा मांस के धोवन के समान होता है।

सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषम्।
तच्चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम् ॥५॥

सान्निपातिक प्रदर मे स्राव मधु, घृत, तैल तथा हरिताल के वर्ण का या मज्जा के वर्ण का और शव (मृतक) के दुर्गन्ध के समान दुर्गन्ध वाला होता है। वैद्य लोग इस सन्निपातिक प्रदर को असाध्य कहते हैं। अतः इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ ३–५ ॥

शुद्धार्तवलक्षणम्—

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ ६ ॥
शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम्।

तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ ७ ॥

शुद्ध आर्तव का लक्षण—एक-एक महीने पर पिच्छिलता, दाह तथा वेदना से रहित पांच दिन तक (अधिक से अधिक) रहने वाला न अत्यधिक हो और न बहुत कम हो, ऐसा जो आर्तव होता है उसे शुद्ध आर्तव कहा जाता है। जो आर्तव रक्त खरगोश के रक्त के समान या लाक्षारस के समान वर्ण का हो और धोने पर जिसका रंग (धब्बा)[1] वस्त्र पर न रह जाय वह आर्तव शुद्ध होता है। अर्थात् इस प्रकार के आर्तव का विज्ञजन प्रशंसा करते हैं ॥ ६–७ ॥

विमर्श—आर्तव स्त्रियों का एक प्राकृतिक देन है। यह आर्तव प्रतिमास नियमित समय पर बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष की अवस्था तक तीन से पांच दिन या सात दिन तक योनिमार्ग से रक्तवर्ण का स्राव होता है उसे आर्तव या रजोधर्म भी कहते हैं। इसके नियत समय पर होने से ही यह जाना जाता है कि गर्भाशय गर्भ ग्रहण करने के योग्य है अतः इस काल को ऋतुकाल कहते हैं, ऋतु में होने से इस स्राव को आर्तव तथा प्रतिमास होने से इसे मासिक धर्म भी कहते हैं। यह एक स्वाभाविक क्रम है। आर्तव का होना कन्याओं के यौवनारम्भ का निदर्शक है इसके प्रथमबार प्रवृत्ति को रजोदर्शन कहते है। यहीं से कुमारियों में स्तनवृद्धि, श्रोणि विस्तार, लज्जा, संकोच आदि लक्षणों का प्रारम्भ होता है।

गर्भकालीन तथा प्रसूति काल को छोड़कर गर्भाशय के दोनों भाग में दो बीजग्रन्थियाँ होती हैं जो पर्याय क्रम से प्रतिमास एक डिम्भ परिपक्व होकर बीजवाहिनी नलिका के द्वारा गर्भाशय में जाकर मैथुन के द्वारा पहुँचे हुए शुक्रगत कीट से मिलकर गर्भ के रूप में परिणत हो जाता है। इस डिम्भ के परिपाक के साथ गर्भाशयस्थ श्लेष्मलकला का रक्त संचार बढ़कर उस कला के नीचे रक्त अधिक से अधिक मात्रा में सचित होने लगता है तथा उस रक्त के दबाव से श्लेष्मलकला फट जाने से रक्त का स्राव होने लगता है जो तीन दिन से पांच दिन और कभी-कभी सात दिन तक स्राव का क्रम प्रारम्भ रहता है। श्लेष्मलकला के रोहण के बाद स्राव की निवृत्ति हो जाती है।

प्रत्येक मास में आर्तव प्रवृत्ति बताई गई है। 'मासि मासि रजः स्त्रीणाम्। महीने से चान्द्रमास ग्रहण किया जाता है। यह मास लगभग अट्ठाइस दिन का होता है क्योंकि दोनों मास के बीच में इसकी प्रवृत्ति होती है और पांच दिन

---

१. सुरेन्द्रगोपसंकाशं स्निग्धञ्च मधु गन्धि च।
अपिच्छिलमशीतञ्च यद्वासो न विरञ्जयेत ॥ (हिरण्याक्षः)

तक रहती है इस प्रकार दोनों महीनों में से पाच दिन निकाल दिया जाय तो पुनः आर्तव काल अट्ठाइसवें दिन आ जाता है। इस प्रकार नियत समय आर्तव का होना प्रशस्त बताया गया है। प्रशस्त आर्तव काल में किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है—और न दाह आदि उपद्रव ही होते हैं। यह क्रम पाँच दिन तक रहना उत्तम माना गया है। इसकी मात्रा न कम हो या न ज्यादा होनी चाहिए। किसी प्रकार का विकार होने पर ही कम तथा अधिक मात्रा में रक्त-स्राव होता है तथा कम दिन या अधिक दिन तक स्रावक्रम बना रहता है। शुद्ध आर्तव की दूसरी पहचान यह है कि आर्तवलिप्त वस्त्र को धोने पर वस्त्र के ऊपर किसी प्रकार का रंग या धब्बा नहीं रह जाता है।

जब ऋतुकाल या उसके अतिरिक्त काल में योनिमार्ग से अत्यधिक मात्रा में रक्तस्राव होने लगता है तथा अधिक समय तक रक्तस्राव होता रहता है तब असृ-ग्दर या प्रदर कहते हैं। कुछ आचार्य रक्तस्राव का कम मात्रा एवं कम दिन तक होने को भी प्रदर शब्द से ही व्यवहार करते हैं। असृग्दर को ही रक्त-प्रदर भी कहते हैं।

पाश्चात्य ग्रन्थों में रक्त प्रवृत्ति की अधिक मात्रा में होते हुए भी ऋतुकाल की स्वाभाविक अवधि तीन से सात दिनों तक ही होती है तो उसे 'मेनोरेजिया' (Menorrhagia) कहते हैं। किन्तु यदि वह आर्तवस्राव ऋतुकाल के अति-रिक्त समय मे भी होता है तो उसे 'मेट्रोरेजिया' (Metrorrhagia) कहते हैं।

प्रदर के कारणों में भोजन, अति मैथुन, गर्भपात तथा शोक आदि को उत्पादक कारण बताया है।

भोजन—[1]गुरु, विदाही, अम्ल, मद्य तथा सिरका आदि के अत्यधिक सेवन करने से प्रदर की उत्पत्ति होती है। अतिमैथुन—अत्यधिक मैथुन के कारण स्त्रियों के जननेन्द्रिय की तरफ रक्तप्रवाह बढ़ जाता है जो आर्तवस्राव अधिक मात्रा में उत्पन्न करता है। अधिकतर यह अवस्था नवविवाहिता नारियों में अधिक पाई जाती है।

गर्भपात प्रसवान्तर सामान्यतः अपरा आदि गर्भ के अवयव निकल जाते हैं जिससे गर्भाशय अपने पूर्व स्थिति में धीरे-धीरे आ जाता है। जब अपरा का कुछ हिस्सा अन्दर रह जाता है तब गर्भाशय अपनी पूर्वावस्था में नहीं आ पाता बल्कि वह मृदु तथा स्थूल हो जाता है और रक्ताधिक्य के कारण रक्त-

---

१. यात्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च।
कट्न्यथ विदाहीनि, स्निग्धानि पिशितानि च॥
ग्राम्यौदकानि मद्यानि कृशरा पायसं दधि।
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥ (चरक)

स्राव चलता रहता है। यह अवस्था गर्भपात के कारण अधिक हुआ करती है। शोक—शोक से भय, काम, क्रोध तथा चिन्ता आदि से मानसिक उत्तेजनायें होती हैं जिससे शरीर के अन्तःस्रावों में वृद्धि होकर रक्तभार स्थायी रूप से बढ़ जाता है और इसके फलस्वरूप गर्भाशय में रक्त की अधिकता होकर प्रदर की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार घोड़ा, साइकिल आदि सवारी पर चलने से भी प्रदर की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रियगत विकृतियाँ भी प्रदर रोग के कारण होती हैं। जैसे गर्भाशय शोथ तथा योनिकन्द शोथ, गर्भशयीय ग्रीवा, कला की वृद्धि; गर्भाशयीय ग्रन्थियों में स्राव की अधिकता, बीजग्रन्थियों की अधिक क्रियाशीलता तथा श्लेष्मलकलागत ग्रन्थियों का अधिक स्राव तथा जननाङ्ग में अर्बुद की उत्पत्ति आदि।

प्रदरासाध्यलक्षणम्—

श्वसन् स्रवति वा स्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विवर्जयेत्॥ ८॥

इति प्रदरनिदानं सम्पूर्णम्।

प्रदर का असाध्य लक्षण—जिस प्रदर के रोग से पीड़ित स्त्री को हमेशा रक्तस्राव हो रहा हो, जो श्वास, दाह तथा ज्वर से पीड़ित हो, जिसका रक्त अधिक क्षीण हो गया हो तथा जो अधिक दुर्बल हो गयी हो, उसे असाध्य समझना चाहिए और उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ८॥

प्रदर का निदान समाप्त।

अथातः प्रदरपुष्पोत्पत्तिपुष्पनाशचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

वातासृग्दरचिकित्सा—

दध्ना सौवर्चलाजाजी मधुकं नीलमुत्पलम्।
पिबेत् क्षौद्रयुतं नारी वातासृग्दरपीडिता॥ ९॥
पिबेदैणेयकं रक्तं शर्करामधुसंयुतम्।
वासकस्वरसं वाऽपि गुडूच्या रसमेव च॥ १०॥

प्रदर के निदान के बाद प्रदर, पुष्पोत्पत्ति तथा पुष्पनाश की चिकित्सा कहते हैं।

वातिक-असृग्दर की चिकित्सा—वातजन्य प्रदर से पीड़ित स्त्री सौवर्चल (सोंचर नमक), अजाजी (सफेद जीरा), मुलेठी तथा नीलकमल समभाग इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु मिलाकर दही के साथ पान करे। मात्रा ३ माशा। शक्कर तथा मधु मिलाकर ऐणेयक (मृगी) का रक्त पान करे। वासा (अडूसा) का स्वरस या गुडूची का स्वरस पान करे॥ ९-१०॥

बलामंशुमतीं द्राक्षामुशीरं तिक्तरोहिणीम् ।
कदलीकृष्णलवण सारिवारोध्रसंयुतम् ॥ ११ ॥
वातासृग्दरशान्त्यर्थं पिबेत् क्षीरेण चाङ्गना ।

बला (बरियार), अंशुमती (शालपर्णी), मुनक्का, खस, कटुकी, केला का कन्द, काला नमक, सारिवा तथा लोध समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को प्रदर रोग से पीड़ित स्त्री वातजन्य असृग्दर (प्रदर) की शान्ति के लिये दूध के साथ पान करें ।

पित्तासृग्दरचिकित्सा—

पित्तासृग्दरशान्त्यर्थं पिबेदिक्षुरसेन वा ॥ १२ ॥

पित्तजन्य-असृग्दर की चिकित्सा—अथवा पैत्तिक प्रदर की शान्ति के लिये पूर्वोक्त बला, अंशुमती आदि का चूर्ण गन्ने के रस के साथ पान करें ॥१२॥

तिलचूर्णं, दधिघृतं फाणित सौकरी वसा ।
क्षौद्रेण संयुत पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥ १३ ॥

तिल का चूर्ण, दही, घृत, फाणित (राव), तथा सूअर की चर्बी मधु के साथ मिलाकर पान करे । यह योग वातजन्य प्रदर को भी नाश करनेवाला है ॥ १३ ॥

चन्दनोशीरपत्तङ्गमधुकं नीलमुत्पलम् ।
त्रपुसैर्वारुबीजानि धातकी कदलीफलम् ॥ १४ ॥
कोकिलाक्षवटारोहं पद्मकं पद्मकेसरम् ।
एतान्कल्कान्मधुयुतान्पाययेत्तन्दुलाम्बुना ॥ १५ ॥
त्र्यहात्प्रशमयन्त्येते योजिताः पैत्तिकं रजः ।

रक्तचन्दन, खस, पतंग, (वकमकाठ पत्रांग), मुलेठी, नीलकमल का फूल, त्रपुस (बालम खीरा) तथा एर्वारु (ककड़ी) का बीज, धव का फूल, केला का फल, कोकिलाच (तालमखाना), वट का अंकुर, पद्मकाठ और कमल का पराग—इन द्रव्यों के कल्क को मधु मिलाकर चावल के पानी के साथ पैत्तिक प्रदर से पीड़ित स्त्री को पान कराये । ये द्रव्य प्रयोग करने से तीन दिन में पैत्तिक रज (पैत्तिक प्रदर) को शान्त करते हैं ।

पत्रकल्कौ घृतभृष्टौ राजादनकपित्थयोः ॥ १६ ॥
पित्तानिलहरावेतौ सर्वं चैवास्रपित्तजित् ।

राजादन (खिरिनी) तथा कैथ के पत्तों के कल्क को घृत में भून कर भक्षण कराये । ये दोनों पित्त-वातजन्य प्रदर को दूर करते हैं तथा सभी प्रकार के रक्तपित्त को जीत लेते हैं ।

कफासृग्दरचिकित्सा—

मधुकं त्रिफलां रोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु ॥ १७ ॥
मद्यैर्निम्बगुडूच्योश्च कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ।

कफासृग्दर (कफजन्य प्रदर) की चिकित्सा—कफजन्य प्रदर में मुलेठी, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), लोध, नागरमोथा, सौराष्ट्रिका (गोपीचन्दन) इन द्रव्यों के चूर्ण में मधु मिलाकर नीम तथा गुडूची के मद्य से (या स्वरस) से पान करे ।

उदुम्बरवटाश्वत्थतिन्दुकं सकपीतनम् ॥ १८ ॥
सौराष्ट्री मधुकं रोध्रं त्रिफला मुस्तकं समाः ।
काथो मधुयुतः पेयः श्लेष्मासृग्दरनाशनः ॥ १९ ॥

गूलर की छाल, वट, पीपल, तेंदुआ तथा कैथ, गोपी चन्दन, मुलेठी, लोध, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आवला) तथा नागरमोथा समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ मधु मिलाकर पान करे । यह कफजन्य प्रदर को नाश करता है ।

सौराष्ट्री रोचनानिम्बमधुकं त्रिफला मधु ।
गुडूची भद्रमुस्त च पिबेन्मद्येन चाङ्गना ॥ २० ॥
प्रसन्नया वाऽपि तथा श्लेष्मप्रदरनाशनम् ।

गोपी चन्दन, गोरोचन, निम्ब, मुलेठी, त्रिफला, गुडूची, तथा नागरमोथा समभाग इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु मिलाकर मद्य या प्रसन्ना (मद्य विशेष) के साथ श्लेष्मप्रदर से पीड़ित स्त्री पान करे । यह योग कफजन्य प्रदर को नाश करता है ।

रक्तप्रदरचिकित्सा—

दध्ना मूषिकविष्ठां तु लोहिते प्रदरे पिबेत् ॥ २१ ॥
काश्मरीवटशुङ्गानि पृथक्पर्ण्यास्तथैव च ।
घृत सिद्ध पिबेच्छ्रेष्ठं शोणिते प्रदरेऽङ्गना ॥ २२ ॥

रक्त प्रदर की चिकित्सा—रक्तप्रदर में मूसे की विष्टा दही के साथ पान करे । गम्भारी की छाल, वटशुङ्ग (बरोही या वर का टूसा), तथा पृथक् पर्णी (पिठवन) इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृत एक सेर, कल्क एक पाव, जल चार सेर लेकर घृत निर्माण विधि के अनुसार) घृत सिद्ध करे और इस उत्तम घृत को स्त्री रक्तप्रदर में पान करे ॥ २१–२२ ॥

श्वेतप्रदरचिकित्सा—

दध्ना मूलाम्रकल्कं वा मातुलुङ्गस्य योषिता ।
मिश्रं जलेन तत्पेयं श्वेतप्रदरनाशनम् ॥ २३ ॥

पिबेद्दारुहरिद्रायाः क्वाथं वा मधुसंयुतम् ।
धातक्याश्चाक्षमात्रं वा धात्रीं वाऽपि मधुद्रुताम् ॥ २४ ॥
काकजम्बूकमूलं वा मूलं कार्पासमेव वा ।
पाण्डुप्रदरशान्त्यर्थं पाययेत्तन्दुलाम्बुना ॥ २५ ॥

श्वेतप्रदर की चिकित्सा—श्वेत प्रदर से पीड़ित स्त्री बिजौरे नींबू के मूल के अग्र भाग का कल्क दही के पानी के साथ पान करे। यह योग श्वेतप्रदर को नाश करता है। अथवा दारुहल्दी का क्वाथ मधु मिलाकर पान करें। धव का फूल एक तोला अथवा आंवला का एक तोला कल्क मधु मिलाकर पान करे। या काकजम्बूक (जामुन) का मूल, या कपास की जड़ का चूर्ण अथवा कल्क चावल के पानी के साथ पाण्डुरोग तथा श्वेत प्रदर की शान्ति के लिये पान कराये।

रोहीतकान्मूलकल्कं पाण्डुरेऽसृग्दरे पिबेत् ।
जलेनामलकाद्बीजकल्कं वा ससितामधु ।
मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेत्सितम् ॥ २६ ॥

रोहितक (रोहेड़ा) के मूल का कल्क पाण्डुरोग तथा रक्तप्रदर में पान करे। आंवला के बीज के कल्क को मिश्री तथा मधु मिलाकर जल से पान कराये अथवा आंवला के चूर्ण या रस को मिश्री मिलाकर चटाये ॥ २३–२६ ॥

असृग्दरेऽशोकवल्कलयोगः—

अशोकवल्कलक्वाथशृतं दुग्धं सुशीतलम् ।
यथाबलं पिबेत्प्रातस्तीव्रासृग्दरनाशनम् ॥ २७ ॥

रक्तप्रदर में अशोक छाल का योग—अशोक की छाल का क्वाथ मिलाकर पकाया हुआ दूध शीतल कर बल के अनुसार प्रातःकाल पान करे। यह तीव्र प्रकार के रक्तप्रदर को नाश करता है ॥ २७ ॥

असृग्दरे दार्व्यादिक्वाथः—

दार्वीरसाञ्जनकिराततवृषाब्दबिल्व-
भल्लातकैरव कृतो मधुना कषायः ।
पीतो जयत्यतिबलं प्रदरं सशूलं
श्वेतासितारुणविलोहितपीतनीलम् ॥ २८ ॥

प्रदर में दार्व्यादि क्वाथ—दारुहल्दी, रसाञ्जन, किरात (चिरायता), वृष (अडूसा), अब्द (मोथा), वेल, शु० भल्लातक तथा कैरव (कुमुद) का फूल समभाग इन द्रव्यों का कषाय मधु के साथ पान करने से अत्यन्त बलवान् शूलयुक्त श्वेत, कृष्ण, रक्त, मटमैले रंग का पीला तथा नीले स्राव वाले प्रदर रोग को जीत लेता है। अर्थात् जिस प्रदररोग में सफेद, काला, लाल,

नीला, पीला आदि स्राव होता है उस सभी प्रकार के प्रदर को दूर करता है ॥ २८ ॥

असृग्दरे कतिपययोगाः—

रसाञ्जनं तन्दुलिकस्य मूलं क्षौद्रान्वितं तन्दुलतोयपीतम् ।
असृग्दरं सर्वभवं निहन्ति, श्वासं च भार्गी सह नागरेण ॥ २९ ॥

प्रदररोग में कुछ योग—रसाञ्जन तथा तन्दुलीयक (चौराई) की जड़ का कल्क मधु में मिलाकर चावल के धोवन के साथ पान करने से सभी प्रकार के प्रदर रोग का नाश होता है। चौराई की जड़, भांगरा तथा सोंठ का कल्क मधु मिलाकर चावल के पानी के साथ पान करने से प्रदर रोग तथा श्वास रोग का भी नाश होता है ॥ २९ ॥

ज्येष्ठाम्बुनाऽपिष्टमनिष्टकष्टप्रदत्तवृद्धप्रदरापहारि ।
समाक्षिकं निर्मलतन्दुलीयमूलं मिलन्मञ्जुरसाञ्जनेन ॥ ३० ॥

स्वच्छ चौराई का मूल ज्येष्ठाम्बु (गंगाजल या सेमर के क्वाथ) के साथ पीसकर रसाञ्जन तथा मधु मिलाकर पान करने से अनिष्ट (दुष्ट) कष्ट देने वाला पुराना प्रदर दूर होता है ॥ ३० ॥

कुशमूलं समुद्धृत्य पेषयेत्तन्दुलाम्बुना ।
एतत्पीत्वा त्र्यहान्नारी प्रदरात्प्रविमुच्यते ॥ ३१ ॥

कुशा की जड़ निकाल साफकर चावल के पानी में पीस ले। इस कल्क को पान कर प्रदर रोग से पीड़ित स्त्री तीन दिन में प्रदर रोग से मुक्त हो जाती है ॥ ३१ ॥

क्षौद्रयुक्तं फलरसं काष्ठोदुम्बरजं पिबेत् ।
असृग्दरविनाशाय शर्करापायसान्नभुक् ॥ ३२ ॥

काष्ठोदुम्बर (कठूमर) के फल का रस मधु मिलाकर प्रदर रोग को नाश करने के लिये पान करे और शक्कर तथा खीर भोजन करे ॥ ३२ ॥

आखोः पुरीषं पयसा निषेव्य वह्नेर्बलादेकमहस्त्र्यहं वा ।
स्त्रियो वहच्छोणितरोगनद्याः क्षणेन पारं परमाप्नुवन्ति । ३३ ॥

चूहे की विष्टा अग्निबल के अनुसार दूध के साथ एक दिन या तीन दिन सेवन करने वाली स्त्रियां नदी के वेग के समान बहते हुए प्रदर के रक्त प्रवाह को क्षण भर में अच्छी तरह पार कर जाती है। अर्थात् इस योग को सेवन करने से स्त्रियों का प्रबल रक्तप्रदर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

कुरण्टकस्य मूलानि मधुकं श्वेतचन्दनम् ।
युक्त्या पिष्टानक्षमात्रान् पाययेत्तन्दुलाम्बुना ॥ ३४ ॥

सकृत्पीत्वा त्विमं योगं प्रदरात्प्रविमुच्यते ।
ततस्तां माषयूषेण घृतभृष्टेन योजयेत् ॥ ३५ ॥

कुरण्टक (पीली झिन्टी) का मूल, मुलेठी, तथा सफेद चन्दन एक एक अक्ष (एक एक तोला) इन द्रव्यों को युक्तिपूर्वक पीसकर चावल के जल के साथ पान कराये। प्रदर रोग से पीड़ित स्त्री इस योग को पान कर प्रदर रोग से मुक्त हो जाती है। इसके बाद उस स्त्री को माष (उड़द) का यूष घृत में पकाकर खाने के लिये दे ॥ ३४-३५ ॥

प्रदरं हन्ति बलाया मूलं दुग्धेन मधुयुतं पीतम् ।
कुशवाट्यालकमूलं तन्दुलसलिलेन रक्ताख्यम् ।
शमयति मदिरायुक्तमुभयमपि रक्तसंज्ञशुभ्राख्यम् ॥ ३६ ॥

नागबला का मूल पीसकर मधु मिलाकर दूध के साथ पान करने से प्रदर का नाश होता है। कुश तथा वाट्यालक (नागबला) का मूल तण्डुल के जल के साथ पीसकर पान करने से रक्तप्रदर शान्त होता है तथा मदिरा के साथ पान करने से रक्तप्रदर तथा श्वेत प्रदर दोनों प्रकार के प्रदर रोगों का नाश होता है ॥ ३६ ॥

असृग्दरे रक्तपित्तचिकित्सातिदेशः—

तरुण्या हितसेविन्यास्तदल्पोपद्रवं भिषक् ।
रक्तपित्तविधानेन यथावत्समुपाचरेत् ॥ ३७ ॥

प्रदर में रक्त पित्त की चिकित्सा का विधान—वैद्य हितकर पदार्थ सेवन करने वाली स्त्री के अल्प उपद्रव वाले प्रदर रोग को रक्त पित्त की चिकित्सा की तरह अच्छी तरह उपचार करे ३७ ॥

असृग्दरे मुद्गाद्यं घृतम्—

मुद्गमाषस्य निर्व्यूहे रास्नाचित्रकनागरैः ।
सिद्धं सपिप्पलीबिल्वैर्घृतं श्रेष्ठमसृग्दरे ॥ ३८ ॥

असृग्दर में मुद्गाद्य घृत—मूग तथा माष (उड़द) के क्वाथ में रासन, चित्रक, सोंठ, पीपर तथा बिल्व के कल्क के साथ (क्वाथ चार सेर, कल्क एक पाव, घृत एक सेर घृत निर्माण विधि के अनुसार) सिद्ध घृत रक्तप्रदर में श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

असृग्दरे मधुकादिलेपः—

मधुकोत्पलबीजानि त्रपुषस्य शतावरी ।
विदारीमिक्षुमूलं च कल्कैर्धौतघृताप्लुतैः ।
योनौ शिरसि गात्रे च प्रदेहोऽसृग्दरापहः ॥ ३९ ॥

असृग्दर में मधुकादि लेप—मुलेठी, नीलकमल का फूल, त्रपुष (बालम

खीरा) के बीज, शतावरी, विदारी कन्द तथा गन्ना की जड़ इन द्रव्यों के कल्क के साथ एक सौवार का पानी में धोया हुआ घृत मिलाकर योनि, सिर तथा सम्पूर्ण शरीर में प्रलेप करना रक्तप्रदर को नाश करता है ॥ ३९ ॥

असृग्दरे कतिपययोगाः—

वन्यकानां रसश्चापि शृतं क्षीरं घृतं नवम् ।
शर्करामधुसंयुक्तमसृग्दरविनाशनम् ॥ ४० ॥

असृग्दर में कुछ योग—वन्यक (केवटीमोथा, वाराही कन्द) का रस, पकाया हुआ दूध, नवीन घृत, शक्कर तथा मधु मिलाकर सेवन करना रक्तप्रदर को नाश करता है ॥ ४० ॥

आमलककल्ककर्षं सितोपलार्धाक्षमिश्रितं स्त्रीणाम् ।
अवलीढमाशु पाण्डुरमीषद्रक्तं जयेत्प्रदरम् ॥ ४१ ॥

आंवला का कल्क एक तोला, सितोपला (मिश्री) आधा तोला मिलाकर चाटने से शीघ्र ही स्त्रियों के पाण्डुरोग तथा थोड़ा रक्त निकलने वाले प्रदर रोग को जीत लेता है ॥ ४१ ॥

चन्दनं क्षीरसंयुक्तं पाययेत्सघृतं भिषक् ।
शर्करामधुसंयुक्तमसृग्दरविमर्दनम् ॥ ४२ ॥

चन्दन का चूर्ण दूध में पकाकर घृत मिलाकर शक्कर तथा मधु के साथ वैद्य रक्तप्रदर रोग पीड़ित स्त्री को पान कराये । यह योग रक्तप्रदर को नाश करता है ॥ ४२ ॥

कलिकाः क्षीरसंपिष्टा जपाविटपजाः पिबेत् ।
दश द्वादश वा नारी प्रदरार्ता पयोशिनी ॥ ४३ ॥

प्रदर रोग से पीड़ित स्त्री जयाविटप (ओड़उल 'गड़हल') की दस या बारह कलिका (कली) दूध के साथ पीसकर पान करे और दूध ही भोजन करे ॥ ४३ ॥

अजाक्षीरेण वा पीता सहदेवाह्वयाशिफा ।
तक्राशनरता सम्यक्संपिबेन्नागकेसरम् ॥ ४४ ॥
त्र्यहं तक्रेण संपेष्य श्वेतप्रदरशान्तये ।

अथवा सहदेइया की जड़ बकरी के दूध के साथ पीसकर पान करे । नागकेशर को मट्ठा के साथ पीसकर तीन दिन तक श्वेत प्रदर की शान्ति के लिए अच्छी तरह पान करे और मट्ठा के साथ भोजन करे ।

हितश्चात्र विशेषेण लेहो यः कुटजाष्टकः ॥ ४५ ॥
तथा पुष्यानुगं चूर्णं शीतकल्याणकं घृतम् ।

रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में कुटजाष्टक[1] अवलेह विशेषकर हितकर होता है और पुष्यानुग[2] चूर्ण तथा शीतकल्याणक[3] घृत विशेष लाभप्रद होता है।

मधुतार्क्ष्यजसंयुक्तं मूलं स्यात्तन्दुलीयकम्।
तन्दुलाम्बुयुतं पीतं सर्वप्रदरनाशनम् ॥ ४६ ॥

तण्डुलीयक (चौराई) की जड़ पीसकर मधु तथा तार्क्ष्यज (रसाञ्जन), मिलाकर चावल के जल के साथ पान करने से यह योग सभी प्रकार के प्रदर रोग को नाश करता है ॥ ४६ ॥

आमलकबीजचूर्णमक्षप्रमाणं समधुघृतं लीढम्।
प्रदरमाशु निहन्यात् प्रवृद्धमचिरेण नारीणाम् ॥ ४७ ॥

आंवला के बीज का चूर्ण एक अक्ष (एक तोला) मधु तथा घृत के साथ (विषम मात्रा में) चाटने से स्त्रियों का पुराना बढ़ा हुआ प्रदर रोग शीघ्र ही नाश होता है ॥ ४७ ॥

स्त्रीणामजस्रं प्रदरामयेन प्रवृत्तमस्रं शममेति सद्यः।
सुश्लक्ष्णपिष्टेन पयोन्वितेन पीतेन मूलेन सुदर्शनायाः ॥ ४८ ॥

सुदर्शन का मूल महीन पीसकर दूध के साथ पान करने से स्त्रियों के प्रदर रोग के कारण निरन्तर निकलता हुआ रक्त शीघ्र ही शान्त होता है ॥४८॥

आरोपिते मूर्धनि शीतवारिकुम्भे शमं गच्छति तत्क्षणेन।
असृक्प्रवाहः प्रदरामयोत्थः स्त्रीणां नदीस्रोत इवावरोधात् ॥ ४९ ॥

शीतल जल के घड़ा को सिर के ऊपर रखने से उसी समय स्त्रियों के प्रदर रोग से उत्पन्न रक्तप्रवाह शान्त हो जाता है, जैसे रोक देने से नदी का स्रोत शान्त हो जाता है ॥ ४९ ॥

मूलानि तन्दुलजलेन समं बलायाः
पिष्ट्वा कुशस्य कुसुमानि पिबेत्प्रयत्नात्।
योषिद्रजस्य नितरां समभिप्रवृत्तौ
सर्पिर्युतानि यदि वा कदलीफलानि ॥ ५० ॥

स्त्रियों के रज के निरन्तर निकलने पर बला (बरियार) का मूल चावल के धोवन के साथ पीस कर तथा कुश का फूल पीसकर पान करे। अथवा केला के फल को घृत के साथ मिलाकर भक्षण करे ॥ ५० ॥

---

१. गदनिग्रह प्रयोग खण्ड, पृष्ठ ३४१।

२. पृ० १७९।

३. पृ० ४४ में देखें।

सममधुगुडभागं श्लक्ष्णकर्कन्धुचूर्णं
प्रदरशमनमुक्तं योषितां खाद्यमानम् ।
यदि तु भवति पिष्टं वारिणा तन्दुलानां
तदुपशमयति द्राङ्मूलमेवं बलायाः ॥ ५१ ॥

कर्कन्धू (बैर) का सूक्ष्म चूर्ण समभाग गुड़ तथा मधु मिलाकर खाने से स्त्रियों के प्रदर रोग को शान्त करनेवाला कहा गया है। यदि वरियार का मूल ही चावल के धोवन के साथ पीसकर पान किया जाय तो शीघ्र ही प्रदर रोग शान्त होता है। अर्थात् कर्कन्धू के चूर्ण को खाकर चावल के धोवन के साथ पिसा हुआ वरियार का मूल पान किया जाय तो अति शीघ्र प्रदर रोग नाश होता है ॥ ५१ ॥

मूलं बलायाः पयसा प्रपिष्टं जीमूतजं तन्दुलवारिणा वा ।
क्षौद्रेण मिश्रं परिपीयमानं स्त्रीणां वदन्ति प्रदरामयघ्नम् ॥ ५२ ॥

नागबला का मूल दूध के साथ या जीमूत (देवताल 'वन्दाली' गुजराती वृक्ष) का मूल चावल के धोवन के साथ पीसकर मधु मिलाकर पान करने से स्त्रियों के प्रदर रोग को नाश करने वाला है ऐसा वैद्यक शास्त्र के विद्वान कहते हैं ॥ ५२ ॥

क्षीरे शृतं लोहितशालिपिष्टं सुशीतलं माक्षिकसंयुतं च ।
पीतं निहन्ति प्रदरामयोत्थामतिप्रवृद्धामसृजः प्रवृत्तिम् ॥ ५३ ॥

लोहितशालि (लाल धान 'साठी') के चावल की पीठी दूध में पकाकर ठंढा होने पर मधु मिलाकर पान करने से प्रदर रोग के कारण उत्पन्न तीव्र प्रकार के रक्तस्राव का नाश होता है ॥ ५३ ॥

लाक्षा घृतेन क्वथिता निपीता निहन्ति सद्यः प्रदरं सदुग्धा ।
अन्यैरनाख्याय कदाचिदाशु मूर्धन्यपामार्गरसोऽभिषिक्तः ॥ ५४ ॥

लाक्षा (लाख) घृत में क्वाथ कर दूध मिलाकर पान करने से वह प्रदर रोग को शीघ्र ही नाश करता है। कभी कभी दूसरों से न बताकर अपामार्ग का रस सिर पर अभिषेक करने से प्रदर रोग शीघ्र ही नाश होता है ॥ ५४ ॥

चन्दनं दुग्धसर्पिर्भ्यां सुपक्वं शीतलीकृतम् ।
तवरागमधूपेतं पीतं स्त्रीप्रदरापहम् ॥ ५५ ॥

चन्दन दूध तथा घृत के साथ पकाकर शीतल कर ले और तवराग ('तवराज' यवास शर्करा) एव मधु मिलाकर पान करे। यह स्त्रियों के प्रदर रोग को नाश करता है ॥ ५५ ॥

स्वर्णजं चाभ्रचूर्णं वा कदलीरजसा युतम् ।
पीतं तन्दुलतोयेन समधु प्रदरापहम् ।

तत्फलं प्रदरं हन्ति शर्कराघृतमिश्रितम् ॥ ५६ ॥

स्वर्णज (स्वर्ण गैरिक) या आम की गुठली का चूर्ण एवं केला का चूर्ण तथा मधु इन तीनों द्रव्यों को मिलाकर चावल के धोवन के साथ पान करने से प्रदर रोग को नाश करता है। केले का फल शक्कर तथा घृत मिलाकर खाने से प्रदर रोग को नाश करता है ॥ ५६ ॥

नष्टार्तवचिकित्सा—

किण्वकणागुडदन्तीमदनफलैः कटुवलाबुबीजैश्च ।
यवक्षारयुतैः स्नुहीक्षीरभावितैश्च कल्पयेद्वर्तिम् ॥ ५७ ॥

नष्टार्तव की चिकित्सा—किण्व (मद्य बीज), कणा (पीपर), गुड़, दन्ती, मदनफल, कड़वी लौकी का बीज तथा यवक्षार इन द्रव्यों का महीन चूर्ण बनाकर सेहुड़ के दूध से भावित कर वर्ति बना ले और छाया में सुखा कर रख ले।

सा योनिकुहरनिहिता स्त्रीणामत्यन्तनष्टकुसुमानाम् ।
कुसुमप्रवृत्तिजननी निर्दिष्टा वृद्धभावेऽपि ॥ ५८ ॥

यह वर्ति अत्यन्त नष्टार्तवा स्त्री के योनि-छिद्र में रखने से वृद्धावस्था में भी आर्तव (रज) को प्रवृत्त करने वाली कही गई है ॥ ५०–५८ ॥

क्वाथे तिलानां विनिधाय पीतं कटुत्रिकब्राह्मणयष्टिचूर्णम् ।
निहन्ति सद्यः कुसुमप्ररोधं स्त्रीणामसृग्गुल्ममपि प्रवृद्धम् ॥ ५९ ॥

तिल के क्वाथ में कटुत्रिक (सोंठ, पीपर, मरिच), तथा ब्रह्मयष्टी (बभनेटी) का चूर्ण मिलाकर पान करने से स्त्रियों का कुसुमप्ररोध (रजोऽवरोध) नष्ट हो जाता है अर्थात् ऋतुधर्म खुल जाता है और तीव्र प्रकार का रक्तगुल्म भी नष्ट हो जाता है ॥ ५९ ॥

गर्भाधाननिरोधकाः कतिपययोगाः—

ऋतौ घृतक्षौद्रयुतैः पलाशबीजैः प्रलेपं मसृणप्रपिष्टैः ।
करोति या स्त्री भगरन्ध्रमध्ये न सा भवेद्‌गर्भवती कदाचित् ॥६०॥

गर्भाधान को रोकने वाले कुछ योग—पलाश बीज को महीन पीसकर तथा घृत-मधु मिलाकर रजस्वला होने के बाद जो स्त्री अपने योनि-छिद्र में लेप करती है वह कभी भी गर्भवती नहीं होती है ॥ ६० ॥

तैलान्वितं सैन्धवखण्डमादौ निधाय रण्डा निजयोनिमध्ये ।
नरेण सार्धं रतमातनोति या सा न गर्भं लभते कदाचित् ॥ ६१ ॥

जो रण्डा (विधवा) स्त्री पहले अपने योनि-छिद्र में तेल लगाकर सेन्धा-नमक के टुकड़े को रखकर मनुष्य के साथ रति (मैथुन) करती है वह कभी भी गर्भ को नहीं धारण करती है ॥ ६१ ॥

उत्पाट्य पुष्येण हरिप्रियस्य मूलं स्वकट्यां विनिबध्य गाढम् ।
रमेत नारीमविशङ्कितस्तां विद्वेष्टि गर्भस्य समुद्भवं या ॥ ६२ ॥

इति प्रदरपुष्पोत्पत्तिपुष्पनाशचिकित्सितं समाप्तम् ॥

जो स्त्री गर्भ धारण करना नहीं चाहती है उस स्त्री के साथ पुरुष हरिप्रिय (धत्तूर) का मूल पुष्य नक्षत्र में उखाड़ कर अच्छी तरह मजबूत अपने कमर में बाँधकर शंकारहित होकर रमण करे। इस प्रकार स्त्री प्रसंग करने से गर्भाधान नहीं होता है ॥ ६२ ॥

प्रदर, पुष्पोत्पत्ति, पुष्पनाश की चिकित्सा समाप्त ।

अथातः सोमरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

स्त्रीणामतिप्रसङ्गाद्वा शोकाद्वाऽपि श्रमादपि ।
अभिचारकयोगाद्वा गरदोषात्तथैव च ॥ ६३ ॥
आपः सर्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ।
तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि ॥ ६४ ॥
प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजः सिताः ।
स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला ॥ ६५ ॥
वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् ।
शिरसः शिथिलत्वं च मुखतालुकशोषणम् ॥ ६६ ॥
मूर्च्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग्रूक्षा चातिमात्रतः ।

प्रदर रोग के बाद सोम रोग का निदान कहते हैं।

अत्यन्त संभोग करने से, अत्यधिक शोक करने से तथा अधिक परिश्रम करने से, व्यभिचार कर्म करने से तथा सयोगज विष प्रकोप के कारण स्त्रियों के शरीर में स्थित जल क्षुब्ध होकर स्रवित होने लगता है। उस स्त्री के अपने स्थान से निकला हुआ जल मूत्रमार्ग तक पहुँच जाता है और प्रसन्न, मलरहित, स्वच्छ, शीतल, गन्धरहित, पीडारहित तथा सफेद अत्यधिक मात्रा में स्रवित होने लगता है। वह स्त्री अत्यन्त दुर्बल होने के कारण उसके वेग को धारण करने में असमर्थ हो जाती है और कभी भी सुख नहीं प्राप्त करती तथा उसका सिर शिथिल (शून्य) हो जाता है। मुख तथा तालु सूखने लगता है, मूर्च्छा और जम्भाई आने लगती है, वह स्त्री प्रलाप करने लगती है तथा उसके चमड़े अत्यधिक रूक्ष (रूखे) हो जाते हैं।

भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च तृप्तिं न लभते सदा ॥ ६७ ॥

वह भक्ष्य, भोज्य तथा पेय पदार्थों से कभी भी तृप्त नहीं होती है अर्थात् भोजन और पेय पदार्थ अच्छा नहीं लगता है।

शरीरधारणाच्चापः सोम इत्यभिशब्दिताः।
तस्मात्सोमक्षयात् स्त्रीणा सोमरोग इति स्मृतः॥ ६८॥

इति सोमरोगनिदानं सम्पूर्णम्॥

जल शरीर को धारण करने के कारण सोम नाम से कहा जाता है। अतः जिस रोग में स्त्रियों के अपत्य मार्ग से जल के सदृश सफेद स्राव निकलता है उसे सोमरोग कहते हैं॥ ६३–६८॥

सोमरोग का निदान समाप्त।

अथातः सोमरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

सोमरोगे कतिपययोगाः—

सुपक्वं कदलीफलं धात्रीफलरसं मधु।
शर्करासहितं पेयं सोमधारणमुत्तमम्॥ ६९॥

सोमरोग के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

सोमरोग में कुछ योग—पका हुआ केला का फल, आंवला के फल का रस तथा मधु इन सबों को शक्कर मिलाकर पान करे यह योग उत्तम सोम (जलस्राव 'श्वेत प्रदर') को रोकने वाला है॥ ६९॥

माषचूर्णं समधुकं विदारी मधुशर्करा।
पयसा पाययेत्प्रातस्त्वपां धारणमुत्तमम्॥ ७०॥

माष (उड़द) का चूर्ण मधु मिलाकर तथा विदारी कन्द का चूर्ण मधु और शक्कर मिलाकर प्रातः काल दूध के साथ पान कराये। यह योग अच्छी तरह जलस्राव को रोकनेवाला है॥ ७०॥

स एव सरुजः सोमो मूत्रेण स्रवते मुहुः।
तत्रैलापत्रचूर्णेन पाययेद्वारुणीं सुराम्॥ ७१॥

वही जल कभी कभी पीड़ा से युक्त बार बार मूत्र के साथ स्रवित होता है ऐसी अवस्था में इलायची तथा तेजपत्र के चूर्ण के साथ वारुणी नामक सुरा को पान कराये॥ ७१॥

सोमलक्षणसंसृष्टं कालातिक्रान्तियोगतः।
सोऽतिक्रान्तिक्रमेणैव स्रवेन्मूत्रमभीक्ष्णशः॥ ७२॥
मूत्रातिसारमित्येवं तमाहुर्बलनाशनम्।

सोम लक्षण से युक्त समय के अधिक बीत जाने से वह भी अतिक्रमण के

अनुसार बार बार मूत्र स्राव करती है अतः उसको मूत्रातिसार कहते हैं। यह बल को नाश करनेवाला कहा गया है।

तालकन्दं च वरुणं खजूरं कदलीफलम् ॥ ७३ ॥
पयसा पाययेत्प्रातस्त्वपां धारणमुत्तमम्।

ताल (ताड़) का कन्द, वरुण की छाल, खजूर तथा केला का फल प्रातःकाल दूध के साथ पान कराये। यह अच्छी तरह जलस्राव को धारण करने वाला (रोकने वाला) है।

तालकन्दं च खर्जूरं मधुकं च विदारिकाम् ॥ ७४ ॥
शर्करामधुसयुक्तं मूत्रातीसारनाशनम्।

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
प्रथमः प्रदराधिकारः सपूर्णः ॥ १ ॥

ताड का कन्द, खजूर, मुलेठी तथा विदारी कन्द समभाग इन द्रव्यों के कल्क को शक्कर तथा मधु मिलाकर पान कराये। यह योग मूत्रातिसार को नाश करता है।

श्री शोढल विरचित गदनिग्रह के छठे कौमारतन्त्र खण्ड में
प्रथम प्रदराधिकार समाप्त।

अथ योनिरोगाधिकारो द्वितीयः ।

अथातो योनिव्यापन्निदानं व्याख्यास्यामः ।

योनिरोगसंप्राप्तिः—

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ १ ॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ।

प्रदर रोग के बाद योनिव्यापद का निदान कहते हैं ।

योनि रोग की सम्प्राप्ति—योनि के बीस रोग संग्रह (चरक के अष्टोदरीय नामक सूत्र स्थान के उन्नीसवें अध्याय) में बताये गये हैं । वे स्त्रियों के मिथ्याचार (मिथ्या आहार-विहार), ऋतु की दुष्टि, बीजदोष तथा दैव के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं ।

विमर्श—योनि शब्द यहां प्रजनन संस्थान के लिये प्रयोग किया गया है अतः गर्भाशय, योनि आदि सभी स्त्री प्रजनन अवयवों का ज्ञापक होता है । यहाँ पर यौन शारीर का दिग्दर्शन कर देना आवश्यक है जिससे योनिगत रोगों का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय । आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में योनि का स्वरूप (आकार) शंखनाभि के सदृश बताया गया है । उसमें तीन आवर्त होते हैं । शंखनाभि के सदृश होने का मतलब यह है कि यह योनि जहां से प्रारम्भ होती है वहां पर संवृत (Constricted) होती है, मध्य में विवृत (Dilated) तथा पुनः गर्भाशय के पास पहुचकर पतली (सकरी) (Narrowed) हो जाती है । योनि के प्रथम दो आवर्त स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं किन्तु अन्तःस्तर पर कई गोल झुर्रियों के रूप में दिखाई देते हैं । योनि के तीसरे आवर्त में गर्भशय्या स्थित है ।

योनिव्यापद रोग इसी जननेन्द्रिय के आभ्यन्तरिक अवयव योनि, गर्भाशय, बीजवह स्रोत तथा बीजग्रन्थियों मे उत्पन्न होते हैं ।

आधुनिकमतानुसार—जननेन्द्रिय को दो भागों में विभक्त किया गया है ।

१. बाह्यजननेन्द्रिय २. अन्तर्जननेन्द्रिय—

१. बाह्यजननेन्द्रिय अवयव जो बाहर से दिखाई देते हैं वे निम्न प्रकार हैं—

(क) भगपीठ

(ख) बृहद्भगोष्ठ

(ग) लघु भगोष्ठ
(घ) भगालिन्द
(च) भगशिश्निका
(छ) मूत्र प्रसेकद्वार
(ज) बृहद्भगालिन्द ग्रन्थियां
(झ) प्रहर्षपिण्डिकायें
(ट) योनिद्वार
(ठ) योनिच्छदाकला
(ड) मूलपीठ
(ढ) मूलपिण्डिका

(२) अन्तर्जनेन्द्रिय—भीतरी जननेन्द्रिय के चार भेद होते हैं १. योनि २. गर्भाशय ३. बीजवह स्रोत तथा बीजग्रन्थि इत्यादि। इसका विस्तृत वर्णन श्री रमानाथ द्विवेदी कृत प्रसूति विज्ञान में देखें।

वात आदि के कारण आर्तव की दुष्टि होने से योनिरोग उत्पन्न होकर वन्ध्यात्व आदि का कारण हो जाता है। गर्भोत्पादक स्त्रीबीज तथा पुरुषबीज की दुष्टता के कारण भी योनिरोग उत्पन्न होते हैं। इस क्रम से वंश परम्परा के अनुसार भी योनिरोगों की उत्पत्ति होती है ऐसा देखा जाता है। पूर्वजन्म के शुभ एवं अशुभ कर्म भी इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। यद्यपि दैव प्रकोप सामान्यतः सभी रोगों के उत्पादक होते हैं किन्तु यहां विशेष रूप से कारण बताया गया है। बीस प्रकार के योनिरोग में पांच वातिक, पांच पैत्तिक, पाच श्लैष्मिक तथा पांच सान्निपातिक इस प्रकार बीस रोग माने गये हैं। सभी चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि आचार्यों ने बीस बीस प्रकार के योनिरोगों का वर्णन किया है किन्तु उत्पादक दोष तथा नाम में भिन्नता पायी जाती है।

वातजपञ्चयोनिरोगलक्षणानि—

सफेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥ २ ॥

वातजन्य पांच योनिरोग का लक्षण—उदावर्ता योनि—वातजन्य 'उदावर्ता' योनि मे झाग मिश्रित रज का स्राव अधिक कठिनाई से होता है।

वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम्।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम् ॥ ३ ॥

वन्ध्या, विप्लुता, परिप्लुता—जिसका आर्तव नष्ट हो गया हो उसे वन्ध्या, जिसमें प्रतिदिन वेदना होती हो उसे विप्लुता तथा जिसमें मैथुन करने से अत्यधिक पीड़ा होती हो उसे परिप्लुता योनि कहते हैं।

वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।

चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ४ ॥

वातला योनि—वायु से दूषित योनि कड़ी, जकड़ी हुई, शूल तथा सुई से छेदने जैसी पीड़ा से पीड़ित होती है। इससे पहले के चारों प्रकार के योनि-रोग में भी वातजन्य वेदनायें होतीं हैं ॥ २–४ ॥

विमर्श—उदावर्ता योनि रोग का लक्षण चरक ने निम्न प्रकार से किया है। वेगावरोध के कारण दूषित वात (रज के वेग को रोककर) योनि में उदावर्त उत्पन्न कर देता है जिससे पीड़ा के साथ रजःस्राव होता है।[1] रजःस्राव के अनन्तर कुछ समय के लिये पीड़ा कम हो जाती है।

नष्टार्तवा को वन्ध्या कहते हैं और संतानोत्पादक शक्ति के अभाव को वन्ध्यात्व या बांझपन कहते हैं। केवल रजोप्रवृत्ति न होने के कारण ही वन्ध्यात्व नहीं होता क्योंकि अदृष्टार्तवा को भी सन्तानोत्पत्ति हो सकती है। 'अदृष्टार्तवाप्य स्तीत्येके भाषन्ते (सु० शा० २) इसी तरह आर्तव होने पर भी बीजभाग की अनुपस्थिति (रजःकीट का अभाव) या उसकी दुष्टि के कारण प्रजोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः जिस स्त्री में बीजभाग सहित आर्तव नष्ट हो गया है उसको वन्ध्या कहना चाहिए।

गर्भाधान का कारण स्त्री तथा पुरुष दोनों होते हैं। पुरुष बीज तथा स्त्री बीज गर्भाशय ग्रीवा नलिका से लेकर बीजवाहिनी तक कहीं भी आपस में मिलने से गर्भाधान हो सकता है किन्तु स्त्री बीज तथा पुरुष बीज का पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है।

पुरुष के बीज में किसी प्रकार की गड़बड़ी के कारण (जैसे पूयमेहादि के कारण) शुक्रवाहिनी नलिका में अवरोध, पुरुष बीज में द्रवभाग की अनुपस्थिति के कारण गर्भाशय तक न पहुँचना, शुक्र में शुक्राणु या शुक्रबीज की अनुपस्थिति आदि सन्तानोत्पति में बाधक होती हैं। शुक्र में शुक्रकीट निम्न-लिखित कारणों से नहीं उपस्थित रहते हैं जिसके कारण गर्भाधान नहीं हो सकता है।

(१) अण्ड ग्रन्थि की अनुपस्थिति तथा उसका रुग्ण होना, (२) उपाण्ड ग्रन्थि की अनुपस्थिति, (३) अत्यधिक मैथुन, (४) बाल्यावस्था (चौदह वर्ष तक की अवस्था में शुक्राणु की उत्पत्ति नहीं होती है) (५) शुक्रवाहिनी और पौरुष ग्रन्थि का पुराना शोथ, आदि। इसके अतिरिक्त उत्पादक

---

१ वेगोदावर्तना योनिमुदावर्तयतेऽनिलः।
सारुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति ॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्।
रजसो गमादुर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥ च० चि० ३०।

अंगों (जननेन्द्रिय आदि) की स्वाभाविक विकृति, उनकी अनुपस्थिति, चोट तथा शस्त्रकर्मजन्य विकार आदि के कारण भी पुरुष में संतानोत्पादक शक्ति का अभाव होता है।

स्त्रीगत सन्तानोत्पादक शक्ति के अभाव के मुख्य दो प्रकार के कारण माने गये हैं—१. सहज २. जातोत्तर कालज।

(१) सहज—इसमें उत्पादक अंगों की रचना सम्बन्धी विकृति या अनुपस्थिति प्रधान है। जैसे संतानोत्पादक अङ्गों की रचना सम्बन्धि विकृति या अनुपस्थिति में बीज ग्रन्थि की अनुपस्थिति या उसकी विकृति, बीजवाहिनी नलिका की विकृति या अनुपस्थिति, गर्भाशय की विकृति या उसके सम्पूर्ण अवयवों की अनुपस्थिति, योनि की विकृति या उसके सम्पूर्ण अवयवों की अनुपस्थिति तथा योनिमुख का टेढ़ा मेढ़ा होना या उसके अवयवों की अनुपस्थिति आदि।

(२) जातोत्तर कालज के चार भेद हैं।

(क) रोग—स्थानीय रोग जैसे बीजग्रन्थि का रोग, बीजवाहिनी का रोग, योनि का रोग तथा श्रोणिगुहागत उदरावरण का रोग (ख) शस्त्रकर्म—शस्त्रकर्म के द्वारा सन्तानोत्पादक जननाङ्गों का निकाल देना। (ग) स्वाभाविक जैसे आयु (बाल्यावस्था अपुष्पोत्पत्ति काल आदि) तथा बच्चे का दुग्धपान का समय, (घ) विहार—जैसे व्यवसाय, अत्यधिक मैथुन, अपौष्टिक भोजन तथा जलवायु आदि।

इसके अतिरिक्त जातोत्तर कालज में अनेक कारण होते हैं जैसे शोथ एवं अर्बुद के कारण बीज ग्रन्थियों का नष्ट हो जाना या अन्य अंगों की सकीर्णता आदि के कारण स्त्रीबीज का न निकल पाना, गर्भाशयकलाशोथ, मैथुन की असमर्थता, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अन्तःस्राव की विकृति, स्त्रीबीज की अपरिपक्वावस्था, चुल्लिका एवं पीयूष ग्रन्थि के अन्तःस्रावों की न्यूनता आदि कारण हैं।

वन्ध्यात्व के अतिरिक्त एकापत्य वन्ध्यता भी होती है जिसमें एक सतान होने के बाद दूसरी संतान नहीं होती है। प्रसव के बाद जीवाणुओं का उपसर्ग होकर शोथ हो जाता है जिसमें बीजवाहिनियों का मार्गावरोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूयमेह के उपसर्ग, प्रसव काल का तीव्र आघात, गर्भाशयग्रीवा का अधिक विदीर्ण हो जाना आदि से एकापत्य वन्ध्यता उत्पन्न होती है।

विप्लुता तथा परिप्लुता में इतना ही अन्तर है कि विप्लुता में सदा मन्द-मन्द पीड़ा होती रहती है और परिप्लुता में केवल मैथुन के समय योनि के समीपस्थ वंक्षण, श्रोणि आदि अंगों में तीव्र पीड़ा होती है।

पित्तजपञ्चयोनिरोगलक्षणानि—

सदाहं प्रकिरत्यस्र यस्यां सा लोहिताक्षरा ।

पित्तज पञ्चयोनि रोग के लक्षण—लोहिताक्षरा—जिसमें रजःस्राव जलन के साथ (मात्रा में अधिक) हो उसे 'लोहिताक्षरा' कहते हैं ।

सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥

वामिनी—जिस योनि से वायुसहित रज के साथ बीज निकल जाय उसे 'वामिनी' कहते हैं।

प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी ।

प्रस्रंसिनी—जो क्षोभ के कारण अपने स्थान से बार-बार च्युत होकर निकल जाती है उसे 'प्रस्रंसिनी' कहते हैं । यह अत्यन्त कठिनता से सन्तान उत्पन्न करती है ।

हन्ति स्थितं स्थितं गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥

पुत्रघ्नी—जो ऋतुकालीन रक्त के क्षय (या क्षीण) होने से स्थित गर्भ को बार-बार गिरा देती है उसे 'पुत्रघ्नी' कहते हैं ।

अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकरुजान्विता ।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ ७ ॥

पित्तला—जब योनिमार्ग में अत्यन्त दाह, पाक तथा ज्वर के लक्षण होते हैं उसे 'पित्तला' कहते हैं । प्रथम चारो प्रकार के रोग में भी पैत्तिक लक्षण की प्रधानता रहती है ॥ ५–७ ॥

श्लेष्मजपञ्चयोनिरोगलक्षणानि—

अत्यानन्दा न संतोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति ।

श्लेष्मज पञ्चयोनि रोग के लक्षण—अत्यानन्दा—जो योनि मैथुन करने से सन्तुष्ट न हो उसे 'अत्यानन्दा' कहते हैं ।

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥ ८ ॥

कर्णिनी—जिसमें कफ तथा रक्त के प्रकोप से मांस के सदृश ग्रन्थि उत्पन्न हो जाय उसे 'कार्णिनी योनि' कहते हैं ।

मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।

अचरणा—जो योनि मैथुन करते समय पुरुष के पहले ही स्खलित हो जाय उसे 'अचरना' कहते हैं ।

बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥ ९ ॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला ।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ १० ॥

अतिचरणा—जो अत्यधिक मैथुन करने पर ही स्खलित हो उसे 'अति-

चरणा' कहते हैं। इन दोनों ही अवस्था में वीर्याधान नहीं होता है अर्थात् बीज ग्रहण का सामर्थ्य नहीं रहता है। कफजन्य दोष से दूषित योनि पिच्छिल, कण्डू से युक्त और अत्यधिक शीतल होती है। पहले के चारो प्रकार के योनि रोग में भी कफजन्य लक्षणों की अधिकता रहती है ॥ ८-१० ॥

विमर्श—अत्यधिक अभिष्यन्दि पदार्थों को सेवन करने से कफ बढ़कर स्त्री की योनि को दूषित कर देता है जिससे योनि पिच्छिल, शीतल, कण्डू युक्त तथा मन्द वेदना वाली और पीले रंग की हो जाती है। इससे पीले रंग का पिच्छिल आर्तव स्राव होता है।

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनौ चेद्दूषयेत् स्त्रियः।
सकुर्यात् पिच्छिलाशीतां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम् ॥

(तन्त्रान्तर)

सान्निपातिकपञ्चयोनिरोगलक्षणानि—

अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।

सान्निपातिक योनिरोग का लक्षण—षण्ढी—जिसमें मासिक धर्म न होते हों तथा जिसके स्तन न हों या बहुत छोटे हों और मैथुन करने में जो योनि स्पर्श में खुरदरी हो उसे 'षण्ढी' कहते हैं।

अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत् ॥ ११ ॥

अण्डली—जिस तरुणी की योनि अत्यधिक शिश्न वाले पुरुष के साथ सम्भोग करने से विकृत होकर शोथ युक्त अण्डे के सदृश हो जाती है उसे 'अण्डली' कहते हैं।

विवृता तु महायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ।

विवृता—जिसका मुख अत्यधिक बड़ा होता है उस योनि को 'विवृता कहते हैं।

सर्वलिङ्गसमुच्छ्राया सर्वदोषप्रकोपजा ॥ १२ ॥
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥ १३ ॥

सूचिमुखी—जिसका मुख अत्यधिक छोटा होता है उस योनि को 'सूचीमुखी' कहते हैं।

त्रिदोषजा—त्रिदोषजा योनि में सभी दोषों के लक्षण तथा कारण मिलते हैं। प्रथम चार सान्निपातिक योनि रोग में भी त्रिदोषज लक्षण देखे जाते है। ये सान्निपातिक पाँचों योनि रोग असाध्य होते है ॥ ११-१३ ॥

अथ योनिकन्दनिदानम्—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद्व्यायामादतिमैथुनात्।

क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा ॥ १४ ॥
पूयशोणितसंकाशं लकुचाकृतिसंनिभम् ।
उत्पद्यते तदा योनौ नाम्ना कन्दस्तु योनिजः ॥ १५ ॥

योनिकन्द का निदान—दिन में अधिक सोना, अत्यधिक क्रोध, व्यायाम तथा अत्यधिक मैथुन करने से, नख एवं दन्त आदि के कारण क्षत हो जाने से, वातपित्त आदि दोष प्रकुपित होकर योनि में पूययुक्त लाल वर्ण का लकुच (बड़हल) फल की आकृति की तरह (विषम वर्तुलाकार) एक पिण्ड उत्पन्न कर देते हैं। उसका आकार कन्द की तरह होने से उसे 'योनिकन्द' कहते हैं।

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।
दाहरागज्वरयुतं विद्यात्पित्तात्मकं तु तम् ॥ १६ ॥

वातिक योनिकन्द विवर्ण तथा फटा हुआ होता है। पैत्तिक योनिकन्द दाह, लालिमा तथा ज्वरयुक्त होता है अर्थात् इन लक्षणों से युक्त होने पर पैत्तिक योनिकन्द कहना चाहिए।

तिलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।
सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं वदेत् ॥ १७ ॥

इति योनिव्यापन्निदानं सम्पूर्णम् ।

तिल के पुष्प के सदृश नीलवर्ण का तथा खुजली युक्त योनिकन्द को श्लैष्मिक योनिकन्द कहते हैं। इसी प्रकार सब दोषों के लक्षणों से युक्त योनिकन्द को सान्निपातिक 'योनिकन्द' कहते हैं ॥ १४–१७ ॥

योनिव्यापद् का निदान समाप्त।

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

योनिरोगेषु सामान्यचिकित्सा—

योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्मवातजित् ।
वस्त्यभ्यङ्गौ परिषेकः प्रलेपः पिचुधारणम् ॥ १८ ॥

योनिव्यापद् के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

योनिरोग में सामान्य चिकित्सा—योनि व्यापद् रोग में बस्तिकर्म, अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रलेप, पिचुधारण[1] तथा वात को जीतने वाले श्रेष्ठकर्म प्रशस्त होते हैं ॥ १८ ॥

---

१. पिचु धारण—द्रव द्रव्य (तैल, घृत, क्वाथ आदि) में रूई के फाहा को भिगोकर योनि में धारण करना पिचुधारण कहलाता है।

वातजयोनिरोगचिकित्सा—

कर्कशां शिथिलां स्तब्धामल्पस्पर्शां तथैव च ।
कुम्भीस्वेदैरुपचरेदानूपौदकसंयुतैः ॥ १९ ॥
मधुरौषधसंयुक्तान् वेसवारांश्च योनिषु ।
निक्षिपेद्धारयेच्चापि पिचुतैलमतन्द्रितः ॥ २० ॥
धावनानि च पथ्यानि कुर्याद्वातहराणि च ।

वातज योनि रोग की चिकित्सा—कर्कश (कठोर), शिथिल (ढीली), स्तब्ध (स्थिर) तथा अल्प स्पर्श वाली योनि को आनूप जल (निम्न-प्रदेश के जल से युक्त) कुम्भीस्वेद[1] (भपसेध) करे । आलस्य रहित होकर मधुर गण के औषधों से युक्त वेसवार[2] द्रव्यों के चूर्ण को या क्वाथ तथा पिचु तैल[3] को योनि में छोड़े और कुछ समय बाद निकाल दे । इस प्रकार योनि रोग के लिये लाभदायक वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से प्रक्षालन करे ।

पित्तजयोनिरोगचिकित्सा—

ऊषादोषान्वितासृक्तं कुर्याच्छीतविधि भिषक् ॥ २१ ॥
दुर्गन्धां पिच्छिलां वापि चूर्णैः पञ्चकषायजैः ।
पूरयेद्राजवृक्षादिकषायं चात्र धावनम् ॥ २२ ॥

---

१. कुम्भीस्वेद—भपसेध—वातनाशक आकाशवल्ली, सिन्दुवार के पत्ते आदि को घड़े में उबाल कर चारपाई के नीचे रख कर उसके ऊपर बैठ जो स्वेदन कराया जाता है उसे 'कुम्भीस्वेद' कहते हैं ।

२. वेसवार द्रव्य—सोंठ, मरिच, पीपर, धनिया, जीरा, अनार तथा पिपरामूल ये 'वेसवार' कहे जाते हैं ।

'अजाजी मरिच शुण्ठी ग्रन्थिकधान्य हरिद्रा दारुहरिद्रा पिप्पली दाडिमेषु—इति वेशवार द्रव्यगणः ।'

अजाजी मरिचं शुण्ठी ग्रन्थिधान्य निशाद्वयं ।
पिप्पली दाडिमञ्चेति वेशवार गणो मतः ॥ राज निघण्टु व० २२

क्वचित्—पक्व मांसभेदे—

निरस्थि पिष्टं स्विन्नं गुडघृतयुक्तं ।
पिप्पली मरिचयुक्तञ्च मास वेशवार इत्युच्यते ॥
निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् ।
कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः ॥
अस्य गुणाः वेशवारो गुरु स्निग्धो बल्यो वातरुजापहा ।
पीणनः सर्वधातूनां विशेषान्मुखशोषिणाम् ॥ प० प्र० ३ अ० ।

३. पिचुतैल—तगराद्य पिचुधारण तैल श्लोक ३१ में देखें ।

पित्तज योनि रोग की चिकित्सा—पित्तजन्य दोष से युक्त योनि रोग में वैद्य कथित शीतल विधि (शीत उपचार) करे। दुर्गन्धा योनि या पिच्छिला योनि को पञ्चकषाय के चूर्ण से पूरण कर दे और [1]राजवृक्षादि (आरग्वधादि) गण के कषाय से प्रक्षालन करे॥ २१-२२॥

कफजयोनिरोगचिकित्सा—

योनिं कृमिप्रपन्नां तु शोधनद्रव्यसंयुतैः।
सगोमूत्रैः सलवणैः कल्कैरापूरयेद्भिषक्॥ २३॥

कफजन्य योनि रोग की चिकित्सा—वैद्य कृमियुक्त योनि को गोमूत्र तथा सेन्धानमक से युक्त एवं शोधन द्रव्यों के कल्क से पूरण करे।

बृहतीफलकल्केन द्विहरिद्रायुतेन च।
सकण्डुरां च निःस्पर्शां पूरयेद्धूपयेत्तथा॥ २४॥
कर्णिन्यै वर्तयो देयाः शोधनद्रव्यसंयुताः।

कण्डूयुक्त निःस्पर्शा योनि को आमाहल्दी, दारुहल्दी तथा वनभंटा के फल के कल्क से पूरण करे और धूप दे। कर्णिनी योनि के लिये शोधन[2] द्रव्यों की वर्ति बनाकर प्रवेश करे।

प्रस्रंसिनीचिकित्सा—

प्रस्रंसिनीं घृताभ्यक्तां क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत्॥ २५॥
पिधाय वेसवारेण वा तां बन्धं समाचरेत्।
प्रतिदोषं विदध्याच्च सुरारिष्टासवान् भिषक्॥ २६॥

प्रस्रंसिनी की चिकित्सा—प्रस्रंसिनी योनि को घृत से अभ्यक्त कर तथा दुग्ध से स्वेदन कर अन्दर प्रवेश कर दे या वेसवार द्रव्यों (मरिच, पीपर आदि) के चूर्ण से ढककर उसको कपड़ा की पट्टी से बाँध दें। इसके बाद वैद्य दोषों के अनुसार सुरा (मद्य), अरिष्ट तथा आसव का प्रयोग करे॥ २५-२६॥

योनिरोगे आहारकल्पना—

प्रातःप्रातर्निषेवेत लशुनार्द्रसमुद्भवम्।

---

१. राजवृक्षादिः(आरग्वधादि गण)—आरग्वध, मदनफल, गोपघोण्टा (वदर भेद), कंटकारी, कुटज, पाठा, पाटल, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, कुरण्टक (पियावास पीले तथा नीले फूल वाला), गुडूची, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या काकमाची), करञ्ज तथा पूतिकरञ्ज, परबल, किराततिक्तक (चिरायता, सुषवी (करैला)। इन इक्कीस द्रव्यों को आरग्वधादि गण कहते हैं।

२. शोधन द्रव्य—(लाक्षादि गण) लाक्षा, आरग्वध, कुटज, कनेर, कायफर, हल्दी, दारुहल्दी नीम, छतिवन, चमेली, त्रायमाणा (जदवार)।

क्षीरमांसरसप्रायमाहारं वितरेत्तथा ॥ २७ ॥

योनि रोग में आहार का विधान—योनि रोग से पीडित स्त्री प्रतिदिन प्रातःकाल लहसुन तथा अदरक का रस सेवन करे और दूध तथा मांसरस से युक्त भोजन करे ॥ २७ ॥

योनिरोगे कतिपययोगाः—

वचोपकुञ्चिकाजाजीकृष्णावृषकसैन्धवम् ।
अजमोदायवक्षारचित्रकं शर्करान्वितम् ॥ २८ ॥
पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोड्य खादेत्तद्घृतभर्जितम् ।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥ २९ ॥
रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूलहरं पयः ।
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचनम् ॥ ३० ॥

योनि रोग में कुछ योग—वच, उपकुञ्चिका (छोटी इलायची), सफेद जीरा, पीपर, अडूसा, सेन्धानमक, अजवायन, यवक्षार तथा चित्रक इन द्रव्यों को पीसकर शक्कर मिलाकर तथा घृत में भूनकर प्रसन्ना (मद्य 'शराब') में फेटकर भक्षण करे। इसके खाने से योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग, गुल्म वृद्धि तथा अर्श रोग दूर हो जाता है। रासन, श्वदंष्ट्रा (गोखरू) तथा अडूसा इन द्रव्यों का कल्क डालकर पकाया हुआ दूध पान करने से योनि रोग में उत्पन्न शूल को दूर करता है। गुडूची, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा दन्ती इन द्रव्यों के क्वाथ से योनि को परिषेचन (प्रक्षालन) करे ॥ २८–३० ॥

योनिरोगे तगराद्यं तैलम्—

नतवार्ताकिनीकुष्ठसैन्धवामरदारुभिः ।
तैलात्प्रसाधितो धार्यः पिचुर्योनौ रुजापहः ॥ ३१ ॥

योनि रोग में तगराद्य तैल—नत (तगर), वार्ताकिनी (वनभंटा), कूठ, सेन्धानमक तथा देवदारु समभाग—इन द्रव्यों के कल्क (कल्क तेल के चौथाई, जल तैल के चौगुना लेकर तैल निर्माण विधि के अनुसार) से सिद्ध किया हुआ तैल को योनि में पिचु धारण करे। यह पिचुधारण योनिगत पीड़ा को दूर करता है ॥ ३१ ॥

पैत्तिकयोनिरोगचिकित्सा—

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ।
शीताः पित्तहराः सर्वाः स्नेहनार्थं घृतानि च ॥ ३२ ॥

पैत्तिक योनि रोग की चिकित्सा—पित्तला योनि रोगों में सभी शीतल, पित्तनाशक सेंक, अभ्यङ्ग तथा पिचुक्रिया को करनी चाहिए और स्नेहन के लिये पित्तनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृतों का प्रयोग करे ॥ ३२ ॥

श्लैष्मिकयोनिरोगचिकित्सा—

योन्यां बलासदुष्टायां सर्वं रूक्षोष्णमौषधम्।
पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्टसैन्धवैः।
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधिनी ॥ ३२ ॥

कफजन्य योनि रोग की चिकित्सा—कफ से दूषित योनि में सभी रूक्ष तथा उष्ण औषध का प्रयोग करे। पीपर, मरिच, माष (उड़द), सौंफ, कूठ तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों को पीसकर तर्जनी अंगुली के बराबर (लम्बाई एवं मोटाई में) वर्ति बनावे और योगि में धारण करे। यह वर्ति योनि को विशोधन करने वाली है ॥ ३२ ॥

प्रस्रंसिनीचिकित्सा—

योनिः स्त्रीणां निर्गताऽपि प्रवेशं प्राप्नोत्यन्तः कारवेल्लीजटाभिः।
संपिष्टाभिर्लेपिता गाढतां च प्राप्योत्येषा शक्रगोपाज्यसिक्ता ॥३४॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
योनिरोगाधिकारो द्वितीयः सम्पूर्णः।

प्रस्रंसिनी की चिकित्सा—कारवेल्ली (करैली) की जड़ को पीसकर योनि में लेप करने से स्त्रियों की बाहर निकली हुई योनि भी अन्दर प्रविष्ट हो जाती है और शक्रगोप (इन्द्रगोप केचुआ) को मसलकर घृत में मिलाकर लेप करने से विस्रंसिनी योनि गाढ़ता (कठोरता) को प्राप्त करती है ॥ ३२ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के षष्ठ कौमारतन्त्र में
दूसरा योनिरोगाधिकार समाप्त।

अथ गर्भस्रावाधिकारस्तृतीयः ।

गर्भस्रावपातयोर्निदानादिपूर्वकं लक्षणम्—

भयाभिघाततीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

तीसरा गर्भस्रावाधिकार कहते हैं ।

गर्भस्राव तथा गर्भपात का निदानपूर्वक लक्षण—भय, चोट लगना तथा तीक्ष्ण एवं उष्ण वीर्य वाले पेय तथा खाद्य पदार्थों के सेवन करने से गर्भ गिरते समय वेदना के साथ रक्त का स्राव होता है । अर्थात् उपरोक्त कारणों से गर्भ का पात होता है और उस काल मे वेदना सहित योनि मार्ग से रक्त का स्राव भी होता है ।

आचतुर्थात्ततो मासात् स्रवन्ते गर्भबिन्दवः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ २ ॥

चौथे महीने तक गर्भ द्रव रूप में रहता है अतः उसके गिरने को गर्भस्राव कहते हैं । इसके बाद गर्भ-शरीर स्थिर हो जाता है अतः पांचवें या छठें महीने में जो गर्भ गिरता है उसे 'गर्भपात' कहते हैं ॥ २ ॥

विमर्श—गर्भस्राव में भय, अभिघात आदि उप-लक्षण मात्र है । इसके अतिरिक्त [1]सुश्रुत में बताये हुए ग्राम्यधर्म, यान-वाहन स्खलन, पतन आदि गर्भपात के कारणों को ग्रहण करना चाहिए । गर्भपात से गर्भस्राव को भी ग्रहण करना चाहिए । उपरोक्त कारणों से गर्भ अपने स्थान को छोड़कर गिर जाता है और उसके साथ वेदना होती है तथा रक्तस्राव भी होता है । वेदना तथा रक्तस्राव गर्भपात का पूर्व रूप है क्योंकि गर्भधारण के समय से ही रजस्राव बन्द हो जाता है और प्रसव के बाद कुछ समय तक बन्द रहता है ।

तीसरे तथा चौथे माह तक गर्भ द्रव रूप में रहता है अतः उसे गर्भस्राव कहते हैं । इसके बाद गर्भ घन एवं स्थिर सघात रूप धारण कर लेता है इसी कारण पांचवें या छठे महीने के गिरने पर गर्भपात कहते हैं । सातवें तथा

---

१. 'ग्राम्यधर्म यानवाहनाऽध्वगमन-प्रस्खलन-प्रपतन-प्रपीडन-धावनाभिघात-विषमशयनासनोपवास-वेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजन शोकातिक्षारसेवनाति-सार-वमनविरेचन-प्रेङ्खोलनाजीर्ण-गर्भपातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः फलमिव बन्धनादभिघातविशेषैः" (सु. नि. ८) ।

आठवें महीने में दोष प्रकोपजन्य प्रसव हो तो उसे जात या विप्रसव कहते हैं। नवें तथा दशवें मास में प्रसव को कालप्रसव तथा इसके बाद विलम्बित या वैकारिक-प्रसव कहते हैं।

सुश्रुत के अनुसार नवें मास से बारहवें मास तक का प्रसवकाल 'कालप्रसव' ही मानना चाहिए। 'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमेस्मिन् जायते' (सु० शा० ५) अर्थात् बारहवें मास तक का प्रसव कालप्रसव तथा इसके बाद का प्रसव विलम्बित या वैकारिक होता है। जैसा कि चरक का वचन है—

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टोयदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥

चरक शा० २।

आधुनिक समय में काल और विलम्बित-प्रसव को क्रमशः 'Normaly delayed labour' कहते हैं। प्रसव का प्रशस्त काल दशम मास का अन्त तथा चालिस सप्ताह या दो सौ अस्सी दिन मानते हैं। गर्भस्राव को एबोर्शन 'Abortion' गर्भपात को मिस्केरियेज 'Misocarriage' तथा जात या विप्रसव को 'Abnormal or Pemature birth' कहते हैं।

गर्भस्राव का निदान समाप्त।

अथातो गर्भस्रावचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

गर्भव्यापदि मासानुक्रमेण चिकित्सा—

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥ ३ ॥
वृक्षादनी पयस्या च तथैवोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥ ४ ॥
बृहती काश्मरी चापि क्षीरशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुयष्टिका ॥ ५ ॥
शृङ्गाटक विशं द्राक्षा कसेरु मधुकं सिता।
सप्तसु सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः ॥ ६ ॥
यथाक्रमं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः।
कपित्थबिल्वबृहतीपटोलेक्षुनिदिग्धिका ॥ ७ ॥
मूलानि क्षीरसिद्धानि दापयेद्भिषगष्टमे।
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत् ॥ ८ ॥
पयस्तु दशमे शुण्ठ्या शृतशीतं प्रशस्यते।

सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं देवदारु च ।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक्चोपशाम्यति ॥ ९ ॥

गर्भस्राव निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं ।

गर्भव्यापद् में मास के क्रम से चिकित्सा—प्रथम मास से लेकर सातवें मास तक गर्भव्यापद् में आधा-आधा श्लोक से समाप्त होने वाले योग को दूध के साथ प्रयोग करे । प्रथम मास में गर्भस्राव होने पर मुलेठी, शाक बीज (टीक वृक्ष), पयस्या (क्षीरकाकोली) तथा देवदारु; दूसरे मास में अश्मन्तक (पाषाण भेद), तिल, पीपर, ताम्रवल्ली (चित्रकूट में प्रसिद्ध द्रव्यविशेष या मंजीठ) तथा शतावरी; तीसरे मास में—वृक्षादनी (वन्दाल 'बन्दका' 'बांझी'), क्षीरकाकोली, नीलकमल तथा सारिवा; चौथे मास में—दूर्वा, सारिवा, रास्न, कमलिनी तथा मुलेठी; पांचवें मास में—वनभंटा, गम्भारी क्षीरी (वट) का शुङ्ग (बरोही) तथा छाल और घृत; छठें मास में—पिठवन, वरियार, सहिजन, गोखरू तथा मुलेठी; सातवें मास में—सिंघाड़ा, बिश (कमल का पराग), मुनक्का, कसेरू, मुलेठी तथा मिश्री, समभाग—इन द्रव्यों को चूर्ण बनाकर मास-क्रम के अनुसार दूध के साथ पान करे । वैद्य आठवें मास में—कैथ, बेल, वन-भंटा, परवल, गन्ना तथा भटकटैया—इन द्रव्यों के मूल को दूध में पकाकर स्त्री को पान कराये, नवम मास में—मुलेठी, अनन्ता (दूर्वा), क्षीरकाकोली तथा सारिवा को दूध में पकाकर पान कराये; दशवें मास में—सोंठ के साथ दूध पकाकर देना प्रशस्त होता है । दूध के साथ सोंठ, मुलेठी तथा देवदारू पकाकर देना हितकर है । इस प्रकार बताये गये नियम के अनुसार उपरोक्त औषधों का प्रयोग करने से गर्भ स्वस्थ होकर उत्पन्न होता है तथा प्रसवकालीन तीव्र वेदना शान्त हो जाती है ॥ ३–९ ॥

गर्भस्रावे कतिपययोगाः—

समधुश्छागदुग्धेन कुलालकरकर्दमः ।
अवश्यं स्थापयेद्गर्भं चलितं पानयोगतः ॥ १० ॥

गर्भस्राव में कुछ योग—कुम्हार के हाथ की मिट्टी (वर्तन बनाते समय हाथ से निकाली हुई मिट्टी), मधु तथा बकरी के दूध के साथ पान करने से चलायमान गर्भ भी अवश्य ही स्थिर हो जाता है ॥ १० ॥

कुम्भकारकर्दमपांशुः क्षीरपुष्परससंनियोजितः ।
गर्भपातमुपहन्ति पानतो धारिताऽथ गिरिकर्णिकाजटा ॥ ११ ॥

कुम्भकार के हाथ के कर्दम (पंक, वर्तन बनाते समय हाथ के पोंछने से निकली हुई मिट्टी) की धूल बकरी का दूध तथा पुष्परस (मधु) मिलाकर पान करने से गर्भपात होना बन्द हो जाता है । अथवा गिरिकर्णिका

(अपराजिता) के मूल को धारण करने (गर्भधारण काल से प्रसव काल तक धारण करने) से गर्भपात नहीं होता है ॥ ११ ॥

कुशकाशोरुबूकाणां मूलैर्गोक्षुरकस्य च ।
शृतं दुग्धं सितायुक्तं गर्भिण्याः शूलनुत्परम् ॥ १२ ॥

कुश, कास, एरण्ड तथा गोखरू—इन द्रव्यों के मूल के साथ पकाया हुआ दूध मिश्री मिलाकर पान करने से गर्भिणी के शूल को अच्छी तरह नाश करता है ॥ १२ ॥

कसेरुशृङ्गाटकजीवनीयपद्मोत्पलैरण्डशतावरीभिः ।
सिद्धं पयः शर्करया विमिश्रं संस्थापयेद्गर्भमुदीर्णशूलम् ॥ १३ ॥

कसेरू, सिंघाड़ा, जीवनीय द्रव्य (जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मासपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी), पद्मकाठ, नीलकमल का फूल, एरण्ड तथा शतावरी—इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध दूध शक्कर मिलाकर पान करने से भयंकर शूल से युक्त गर्भ को गर्भपात होने से रोकता है ॥ १३ ॥

कसेरुशृङ्गाटकपद्मकोत्पल समुद्गपर्णीमधुकं सशर्करम् ।
सशूलगर्भस्रुतिपीडिताऽङ्गना पयोविमिश्र पयसाऽन्नमुक्पिबेत् ॥१४॥

कसेरू, सिंघाड़ा, पद्मकाठ, नीलकमल का फूल, मुंगवन, मुलेठी तथा शक्कर इन द्रव्यों को दूध के साथ मिलाकर शूलयुक्त गर्भस्राव से पीड़ित स्त्री पान करे तथा दूध-भात खाय ॥ १४ ॥

शर्करोत्पलयष्ट्याह्वरोध्रचन्दनसारिवाः ।
स्रवमाणेषु गर्भेषु पातव्यास्तन्दुलाम्बुना ॥ १५ ॥

शक्कर, नीलकमल का फूल, मुलेठी, लोध, रक्तचन्दन तथा सारिवा इन द्रव्यों के चूर्ण को गर्भस्राव होने के समय में चावल के जल के साथ पान करे ॥ १५ ॥

पद्मोत्पलस्य मूलानि मधुकं शर्करा तिलाः ।
स्रवमाणेषु गर्भेषु गर्भस्थापनमुत्तमम ॥ १६ ॥

नीलकमल का मूल, मुलेठी, शक्कर तथा तिल ये द्रव्य सेवन करने से गिरनेवाले गर्भ को अच्छी तरह स्थिर करता है ॥ १६ ॥

गर्भस्रावातुरा नारी यवक्षार सुचूर्णितम् ।
लभते हविषा पीत्वा सुखं वाऽथ सुखाम्बुना ॥ १७ ॥

गर्भस्राव से व्याकुल स्त्री यवक्षार के चूर्ण को घृत के साथ या थोड़े गरम जल के साथ पान कर सुख को प्राप्त करती है। अर्थात् गर्भस्राव होने से बच जाती है ॥ १७ ॥

पद्मेन्दीवरपत्राणि माक्षिकं शर्करा तथा ।
परिस्रवत्सु गर्भेषु पयसा पानमुत्तमम् ॥ १८ ॥

पद्म (कमल) तथा इन्दीवर (कुमुद) के पत्तों का कल्क मधु और शक्कर मिलाकर पान करना गर्भस्राव में लाभदायक होता है ॥ १८ ॥

उदुम्बरशलाटूनि वटशुङ्गाः प्रियङ्गवः ।
नीलाब्जकं हमाजं च क्षीरं गर्भस्रुतौ पिबेत् ॥ १९ ॥

गूलर का छाल, शलाटु (बेल) का छाल, वट के टूसा (वरोही), प्रियङ्गु, नीलकमल, हेमाज (तुख्म हुम्माज यूनानी द्रव्यविशेष का बीज) इन द्रव्यों के चूर्ण को दूध के साथ गर्भस्राव में पान करे ॥ १९ ॥

गुडूच्यतिविषोशीरबलाकटुवङ्गधान्यकैः ।
एभिर्वारि श्रृतं पेयं सामे गर्भपरिस्रवे ॥ २० ॥

गुडूची, अतीस, खस, बरियार, कुटकी तथा धनिया, समभाग—इन द्रव्यों को जल में पकाकर उस जल को अपरिपक्व गर्भस्राव में पान करे ॥ २० ॥

गर्भवत्या अतिरक्तप्रवृत्तौ पारावतपुरीषयोगः—

योषितः सततं यस्या गर्भवत्याः स्रवत्यसृक् ।
पारावतपुरीषं ता पाययेत्तन्दुलाम्बुना ॥ २१ ॥

गर्भवती के अधिक रक्त निकलने पर परेवा के विष्ठा का प्रयोग—जिस गर्भवती स्त्री का रक्त हमेशा निकलता है उस स्त्री को परेवा की विष्ठा चावल के धोवन के साथ पान करावे ॥ २१ ॥

गर्भपातनिवारकाः कतिपययोगाः—

शर्करायवतिलैः समांशकैर्माक्षिकेण सह भक्षितैस्त्रियाः ।
नास्ति गर्भपतनोद्भवं भयं पापभीतिरिव तीर्थसेवया ॥ २२ ॥

गर्भपात के रोकनेवाले कुछ योग—शक्कर, यव तथा तिल समभाग—इन द्रव्यों को मधु के साथ भक्षण करने से स्त्री को गर्भपातजन्य भय नहीं होता है। जैसे तीर्थसेवन करने से पाप का भय नहीं होता ॥ २२ ॥

लज्जावलीशाबरधातकीभिर्नीलाम्बुजैः क्षौद्रपयोन्विताभिः ।
पीताभिरन्तर्जलमाश्रितायास्त्रियो न गर्भस्य भवेन्निपातः ॥ २३ ॥

लज्जालु, शाबर (लोध), धव, नीलकमल इन द्रव्यों का चूर्ण मधु में मिलाकर दूध के साथ पान करने से गर्भाशय के अन्दर जल से भरे हुए स्त्री का गर्भपात नहीं होता है ॥ २३ ॥

उदुम्बरक्वाथयुतं सिताढ्यं सुगन्धशालिप्रभवं सितं च ।
या पिष्टमश्नाति न गर्भपातपीडामसौ विन्दति जातु नारी ॥ २४ ॥

गूलर के क्वाथ के साथ मिश्री मिलाकर या सुगन्धशालि (साठी धान)

चावल की पिष्ठी शक्कर मिलाकर जो स्त्री भक्षण करती है वह स्त्री कभी भी गर्भपात की पीडा को नहीं प्राप्त करती है। अर्थात् उसका गर्भपात नहीं होता है ॥ २४ ॥

सशर्करं नीलसरोजकन्दचूर्णं निपीतं सह माक्षिकेण।
गर्भस्य पाते शमनं व्यथायाः शीतैश्च तोयैः परिषेचनानि ॥ २५ ॥

इति श्री शोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
गर्भस्रावाधिकारस्तृतीयः सम्पूर्णः।

नीलकमल के कन्द का चूर्ण, शक्कर मिलाकर मधु के साथ पान करने से गर्भपात के समय होनेवाली पीड़ा को शान्त करता है और जल से परिषेचन करना भी गर्भपात की व्यथा को शान्त करता है ॥ २५ ॥

श्री वैद्य शोढलविरचित गदनिग्रह षष्ठ कौमारतन्त्र में
तीसरा गर्भस्रावाधिकार समाप्त।

अथ मूढगर्भाधिकारश्चतुर्थः ।

अथातो मूढगर्भनिदानं व्याख्यास्यामः ।

मूढगर्भस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः—

गर्भोऽभिघातविषमासनपीडनाद्यैः
पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन ।
मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं
शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥ १ ॥

गर्भस्राव के बाद चौथा मूढगर्भाधिकार का निदान कहते हैं ।

मूढगर्भ की निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—गर्भपात—चोट लगना, विषम भोजन (तीक्ष्ण-उष्ण आदि असात्म्य भोजन) तथा पीडन आदि के कारण गर्भ वृक्ष से पके हुए फल के सदृश एकाएक गिर जाता है । मूढगर्भ—अपानवायु विमूढ (विगुणित) होकर मूढगर्भ उत्पन्न कर देता है । इसमें योनि (मूत्रमार्ग) तथा उदर वस्ति आदि में शूल सदृश पीड़ा होती है और मूत्र का अवरोध हो जाता है ॥ १ ॥

विमर्श—गर्भपात की उपमा पेड़ के पके फल की दी गई है । अर्थात् पका हुआ फल आघात आदि के लग जाने से जैसे गिर जाता है वैसे ही गर्भ भी आघात आदि के लग जाने से, तीक्ष्ण, उष्णादि विषम भोजन करने से गर्भाशय से अलग होकर सहसा गिर जाता है । इसमें आघात आदि के द्वारा गर्भाशय में क्षोभ उत्पन्न होता है तथा उसमें संकोच की लहरें उठती हैं जिसके कारण गर्भाशय में चिपके हुए अपरा का विश्लेषण होने लगता है और वही तरङ्गें (अपरा से सम्बन्धित गर्भनाड़ी के द्वारा) गर्भ को गर्भाशय मुख एवं अपत्य मार्ग द्वारा बाहर ढकेल देती है । यद्यपि प्रसवकाल में भी यही क्रियायें होती हैं किन्तु ये क्रियायें प्रसवकाल आने पर नैसर्गिक होती हैं और आघात आदि लगने से असमय में होती हैं अतः इसे गर्भपात कहते हैं । गर्भाशय स्वाभाविक अवस्था में गर्भ का संरक्षण करता रहता है उसके संसक्त अपरा गर्भ-नाडी द्वारा उसका पोषण करती है और उपरोक्त गर्भ की वृद्धि होती रहती है गर्भ की वृद्धि के साथ गर्भाशय की भी वृद्धि होती है और प्रसवकाल आने पर उसका मुख खुल जाता है और गर्भाशय की संकोच तरगें उत्पन्न होकर गर्भ को बाहर ढकेल देती हैं । प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ये क्रियायें स्वाभाविक होती हैं । अर्वाचीनों ने अपरा का गर्भाशय

से कुछ विच्छिन्न होना, गर्भ की अधिकता, पार्श्वगत उपजाना, गर्भस्थ कुछ उत्तेजक पदार्थ तथा गर्भाशय ग्रीवा अतिक्रमण आदि को भी अतिरिक्त प्रसव का कारण माना है।

गर्भस्राव में सर्वप्रथम रक्तस्राव होता है जो पहले कम तथा गर्भस्राव की दशा उपस्थित होने पर बढ़ जाता है और गर्भस्राव के बाद बन्द हो जाता है, इसमें पीठ से पीड़ा प्रारम्भ होकर घूमती हुई आगे की ओर आती है और प्रारम्भ में कम तथा गर्भस्राव तक बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त पीड़ा के तुरन्त बाद गर्भाशय ग्रीवा का विस्फार हो जाता है और गर्भाशयिक पदार्थ बढ़ जाता है तथा उसका पात हो जाता है अर्वाचीनों ने गर्भस्राव के निम्नलिखित कारण माने हैं—अत्यधिक रक्तस्राव, गर्भ की मृत्यु, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विकृति, अधिक परिश्रम तथा मानसिक क्षोभ, गर्भाशय की रचना-सम्बन्धि विकार, स्थानच्युति, मौक्तिकार्बुद की विद्यमानता, माता के पोषण का अभाव जीवतिक्ति की न्यूनता, आघात, क्विनीन, अर्गट, एरण्ड तैल, मुसब्बर आदि औषधों का सेवन इत्यादि।

सुश्रुत ने मूढगर्भ की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए बताया है कि जब असमय में गर्भ, गर्भशय्या से अलग हो जाता है तो उदर में क्षोभ होने से अपानवायु दूषित होकर पार्श्व, वस्ति, शिर, उदर एवं योनि में शूल या आनाह उत्पन्न कर रक्तस्राव के साथ गर्भपात करा देता है किन्तु जहाँ गर्भ बड़ा होने के कारण या अनुचित प्रकार से आकर अपत्य मार्ग का अवरोध कर लेता है तो वह बाहर नहीं निकल पाता। इस प्रकार अपानवायु के वैगुण्य से युक्त इस गर्भ को मूढगर्भ कहते हैं। जिस अवस्था में अपत्य मार्ग की अपेक्षा गर्भ का आकार बड़ा होता है तो भी वह अपत्य मार्ग में अटक जाता है।

पाश्चात्य मत के अनुसार अपत्य मार्ग में गर्भ के अटकने के निम्न कारण हैं—श्रोणि गुहा का संकोच, गर्भाशयान्तर्गत अर्बुद, गर्भाशय का टेढ़ापन, गर्भाशय के मुख के समीप अपरा की स्थिति, गर्भ की अस्वाभाविक अवस्था, गर्भ का विकार (जोड़ुआ गर्भ, जलशीर्ष) आदि।

विविधमूढगर्भलक्षणानि—

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः
सङ्ख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्।
द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चि-
त्कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥ २ ॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन
तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः।

पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-
दित्यष्टधा गतिरिह त्वपरा चतुर्धा ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के मूढगर्भ के लक्षण—विगुणित वायु के द्वारा विकारावस्था को प्राप्त वह गर्भ अधिकतर असंख्य प्रकार से योनि (अपत्यपथ) में आता है। उनमें से कोई सिर से तथा कोई उदर से अपत्य द्वार को रोककर योनि मार्ग में आता है। कोई शरीर के परिवर्तित हो जाने से कुवड़ा शरीर (नितम्ब के द्वारा दोहरा शरीर बनाकर), कोई एक बाहु से, कोई दोनों बाहु से आकर अपत्य पथ को अवरुद्ध कर देता है। कोई तिरछा और कोई नीचे के तरफ मुख कर, कोई पार्श्व के तरफ लटक कर योनिमार्ग में आता है। इस प्रकार गर्भ की आठ तरह को विपरीत गतियां होती हैं।

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीज-
स्तेषूर्ध्वबाहुचरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत्स कीलो
दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरः स हि कायसङ्गी ॥ ४ ॥
गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो
योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः।

अन्य मूढगर्भ की चार विशेष गतियां ये हैं—संकीलक, प्रतिखुर, परिघ तथा बीजक। इनमें से जो हाथ, पैर तथा सिर को ऊपर करके योनिपथ को अवरुद्ध कर देता है और कील के समान जाकर अटक जाता है उसे कीलक या संकीलक कहते हैं। जो दृश्य (हाथ, पैर तथा सिर) से अपत्य मार्ग को रोकता है उसे प्रतिखुर कहते हैं; इसमें शरीर संसक्त हो जाता है। जिसमें दोनों बाहु तथा सिर आकर अटक जाता है उसे बीजक कहते हैं। जो अर्गला की तरह तिरछा होकर योनिमार्ग में स्थित हो जाता है उसे 'परिघ' कहते हैं।

विमर्श—मूढगर्भ के अनेक कारणों में तीन प्रधान कारण हो सकते हैं—(क) गर्भदोष, (ख) मार्गदोष, (ग) अवान्तर कारण। पूर्वोक्त कारणों में गर्भस्थिति का ही विवरण दिया गया है। इसके अलावा अन्य भी कारण हो सकते हैं जिससे गर्भ के प्रसव में कठिनाई होती है। गर्भ के योनिपथ में आने की अनेक प रस्थितियां होती हैं जैसे सुश्रुत ने बताया है—

'स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्य पथ
अनेकधा प्रतिपद्यते तदा सङ्ख्या ह्रीयते ॥'

फिर भी इन सबों को तीन ही वर्ग में प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् विभाजन करते हैं—

'स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गाः भवन्ति

शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा तथा ॥
समासतः त्रिधा गति रूर्ध्वा तिर्यङ् न्यूब्जा च ।'

पाश्चात्य विभाजन भी इसी प्रकार का है। शिरोगति या न्यूब्जागति, अंस या तिर्यकगति, जघन या ऊर्ध्वगति।

इन तीनों के अनेक भेदों में व्यवहार में आने वाली आठ गतियों का तथा अन्य चार विशेष गतियों का वर्णन [1]सुश्रुतकार ने निम्न प्रकार से किया है। (क) कोई दोनों टांगों के द्वारा अपत्य मार्ग में आता है (जघनगति), (ख) कोई एक पैर को मोड़कर दूसरी से योनि मार्ग को अवरुद्ध कर देता है (जघनगति का एक प्रकार), (ग) कोई गर्भ सक्थि और शेष शरीर को नितम्ब प्रदेश से तिरछा आकर रोक देता है। (जघन प्रकार), (घ) कोई एक टांग से योनि मुख में और एक सक्थि से गुदा में चला जाता है, (च) कोई उर, पृष्ठ तथा पार्श्व में से एक से योनि मार्ग को रोककर वहीं स्थित हो जाता है, (छ) कोई पार्श्व की तरफ सिर झुकाकर एक हाथ से आता है (इसमें केवल एक भुजा अपत्य मार्ग से पहले निकलती है), (ज) कोई सिर को नीचे कर दोनों बाहु से आता है, (झ) कोई बीच में झुककर हाथ, पैर तथा सिर तीनों से अपत्य मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है।

अन्तर्मृतगर्भलक्षणम्—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता ।
भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽन्तर्मृते शिशौ ॥ ५ ॥

अन्तःमृत गर्भ का लक्षण—गर्भ का न चलना, प्रसव पीड़ा का नाश, चमड़े के ऊपर कालिमा के साथ पाण्डुता, श्वास में दुर्गन्ध आना तथा शोथ। ये चिह्न गर्भाशय में गर्भ-बालक के मर जाने पर होते हैं।

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः ।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः ॥ ६ ॥

माता के मानसिक तथा आगन्तुक उपताप (कष्ट) से तथा अपने विकारों से पीड़ित गर्भ पेट में ही मर जाता है ॥ ५–६ ॥

---

१. (क) कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रपद्यते, (ख) कश्चिदाभुग्न सक्थिरेकेन सक्थ्ना, (ग) कश्चिदाभुग्न सक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तीर्यगागतः (घ) कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुख प्रपद्यतेऽपरेण पायुम् (च) कश्चिदुरःपृष्ठपार्श्वानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते, (छ) अन्तःपार्श्वापवृत शिरा कश्चिदेकेन बाहुना, (ज) कश्चिदाभुग्न शिरा बाहुद्वयेन, (झ) कश्चिदाभुग्न मध्यो हस्तपाद शिरोभिः। (सु० नि० ८)

मूढगर्भस्यासाध्यलक्षणम्—

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च।
हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः॥ ७॥
अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रता।
नीलोद्धतशिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥ ८॥

इति मूढगर्भनिदानं सम्पूर्णम्।

मूढ गर्भ का असाध्य लक्षण—योनि मार्ग का संवरण, कुक्षि में गर्भ की संसक्ति, मक्कल[1] तथा उक्त अन्य उपद्रव मूढ गर्भ युक्त स्त्री को मार डालते हैं। जिसकी शिरायें फट गई हैं या जिसका शरीर ठण्ढा पड़ गया है और जो लज्जारहित हो गई है एवं जिसके शरीर की शिराएँ नीलवर्ण की और उठी हुई हैं वह स्त्री गर्भ को मार डालती है तथा गर्भ स्त्री को मार डालता है॥ ८॥

मूढगर्भ का निदान समाप्त।

अथातो मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

मूढगर्भे शस्त्रचिकित्सा—

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ ९॥

मूढगर्भ के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

मूढगर्भ में शस्त्र चिकित्सा—मूढगर्भ में मूढगर्भ के जो-जो अंग योनिमार्ग के अन्दर संसक्त हो गये हों उन-उन अंगों को वैद्य अच्छी तरह काटकर निकाल दे और प्रयत्नपूर्वक नारी की रक्षा करे॥ ९॥

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा॥ १०॥
मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेदनं तस्य जानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात्कदाचन॥ ११॥
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा।
ततोऽभ्यक्तशरीरायै योनौ स्नेहं निधापयेत्॥ १२॥
एवं शुद्धा भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।

बुद्धिमान् वैद्य मृत गर्भ को क्षणमात्र भी उपेक्षा न करे क्योंकि वह मृत-गर्भ माता को मार डालता है। जैसे श्वासप्रश्वास न होना पशु को मार

---

१. वायु प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम्।
सूतायाः हृच्छिरो बस्ति शूलं मक्कल संज्ञकम्॥

डालता है। (पशुओं का एक रोग होता है जो श्वास को वन्द कर मार देता है) मृत गर्भ को शस्त्रकर्म में निपुण वैद्य मण्डलाग्र शस्त्र से छेदन करे। तीक्ष्णाग्र वृद्धि पत्र (आरी) से छेदन करने पर कहीं स्त्री की मृत्यु न हो जाय। अतः मण्डलाग्र शस्त्र से ही छेदन करे। इस प्रकार शल्य के निर्हरण हो (निकल) जाने पर गरम जल से प्रक्षालन करे। इसके वाद तैल आदि से अभ्यक्त शरीर वाली स्त्री की योनि में स्नेह तैल घृत आदि भर दे। इस प्रकार योनि शुद्ध हो जाती है और उसकी पीड़ा भी शान्त हो जाती है।

मूढगर्भे कृष्णादियोगः—

कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिङ्गुभार्गीः सदीप्यकाः ॥ १३ ॥
वचामतिविषां रास्नां चव्यं सचूर्ण्य पाययेत्।
स्नेहेन दोषशान्त्यर्थं वेदनोपशमाय च ॥ १४ ॥
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा घृतभर्जितम्।

मूढगर्भ में कृष्णादि योग—पीपर, पिपरामूल, सोंठ, बड़ी इलायची, हिंगु, भांगरा, दीप्यक (अजवायन), वच, अतीस, रासन तथा चव्य—इन द्रव्यों के चूर्ण को स्नेह (घृत) के साथ दोषों की शान्ति के लिये तथा वेदना को नष्ट करने के लिये पान कराये। इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ, कल्क तथा चूर्ण घृत में भून कर मूढगर्भजन्य दोषों की शान्ति तथा वेदना को दूर करने के लिये पान कराये।

मूढगर्भे शाकत्वचादियोग—

शाकत्वग्घिङ्ग्वतिविषाः पाठां कटुकरोहिणीम् ॥ १५ ॥
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत्पूर्ववद्भिषक्।
त्रिरात्रमेव सप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिवेत् ॥ १६ ॥
पाययेदासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्।
शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम् ॥ १७ ॥
रसो दशाहं शेषं तु यथायोगमुपाचरेत्।

मूढगर्भ में शाकत्वचादि योग—शाक[1] वृक्ष की छाल, हिङ्गु, अतीस, पाढी, कुटकी, तथा तेजवल—इन द्रव्यों का क्वाथ, कल्क या चूर्ण घृत के साथ वैद्य मूढगर्भ में तीन रात्रि तक ही पान कराये और बाद में पुनः स्त्री सात रात्रि तक घृत पान करे। इसके बाद अच्छी तरह बनाया हुआ आसव या अरिष्ट पान

१. हिन्दी भाषा में सागौन वृक्ष—अनिल अर्णः महापत्रः शाकतरुः शाकवृक्षः शाकाख्यः खरपत्रः अर्जुनोपमः क्रकचपत्रः शरपत्रः महीरुहः श्रेष्ठकाष्ठः स्थिरसारः गृहद्रुमः। अस्य गुणाः—सारकः पित्तदाहश्रमघ्नः रुच्यश्च, तत्कल्कं कषायम्। (Tectora grandis Teak tree)

कराये (विशेषकर दशमूलारिष्ट) शिरीष तथा ककुभ (अर्जुन) की छाल का क्वाथ आचमन (पान) के लिये हितकर होता है। पूर्वोक्त रस (क्वाथ) को दश दिन तक प्रयोग करे बाद मे दोष एवं लक्षण के अनुसार उपचार करे।

सुखप्रसवकराः कतिपययोगाः—

परूषकशिफालेपः स्थिरामूलकृतोऽथवा ॥ १८ ॥
नाभिबस्तिभगाद्येषु मूढगर्भोपकर्षणः ।
मातुलिङ्गस्य मूलानि मधुकं मधुसंयुतम् ॥ १९ ॥
घृतेन सह पातव्यं सुखं नारी प्रसूयते ।

सुखपूर्वक प्रसव कराने वाले कुछ योग—परूषक (फालसा) की जड़ या स्थिरा (शालपर्णी) के मूल को पीसकर बनाया हुआ लेप नाभि, वस्ति तथा भग (योनि) आदि में लेप लगाने से मूढगर्भ को बाहर निकाल देता है।

मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) का मूल तथा मुलेठी के चूर्ण को मधु मिलाकर घृत के साथ पान करने से स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥१८–१९॥

तुषाम्बुपरिपिष्टेन मूलेन परिलेपयेत् ।
लाङ्गल्याश्चरणौ सूते क्षिप्रमापन्नगर्भिणी ॥ २० ॥

लाङ्गली (कलिहारी) का मूल तुषोदक के साथ पीसकर आसन्नप्रसवा (थोड़े समय में प्रसव करने वाली स्त्री) के योनि में लेप करे। इस लेप को करने से वह स्त्री शीघ्र ही पहले दोनों पैरों को प्रसव करती है। अर्थात् पहले दोनों पैरों को बाहर निकालती है ॥ २० ॥

मूलं प्रत्यक्पुष्प्याः पाठायाश्च विनिवेशितं गुह्ये ।
स्त्रीणां दुष्प्रसवानां प्रसवं कुरुते सुखेनैव ॥ २१ ॥

प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग) तथा पाढ़ी का मूल योनि में रखने से दुःख से प्रसव करनेवाली स्त्री का प्रसव सुखपूर्वक हो जाता है ॥ २१ ॥

पुरदग्धभुजङ्गकञ्चुककज्जलमधुपूरितेक्षणद्वन्द्वा ।
सद्यो भवति विशल्या विमूढगर्भाऽपि गर्भवती ॥ २२ ॥

पुर (गुग्गुलु) और जलाये हुए सांप की केंचुल का काजल मधु मिलाकर दोनों आंखों में लगाने से विमूढगर्भा (मूढगर्भ वाली) गर्भवती भी शीघ्र ही शल्यरहित हो जाती है। अर्थात् शल्यभूत मूढगर्भ बाहर निकल जाता है ॥२२॥

पाठालाङ्गलिसिंहास्यमयूरकजटाः पृथक् ।
नाभिबस्तिभगालेपात्सुखं नारी प्रसूयते ॥ २३ ॥

पाढ़ी, लाङ्गली (कलिहारी), सिंहास्य (अडूसा) तथा अपामार्ग की जटा इन द्रव्यों का अलग-अलग बनाया हुआ लेप लगाने से स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥ २३ ॥

परूषकस्थिरामूललेपस्तद्वत्पृथक्पृथक् ।

इसी प्रकार फालसा तथा शालपर्णी का मूल अलग-अलग पीसकर लेप करना सुखपूर्वक प्रसव कराता है ।

गृहाम्बुना गेहधूमपानं गर्भापकर्षणम् ॥ २४ ॥

भोजनालय का धूम गृहाम्बु (काञ्जी) के साथ पीने से गर्भ को बाहर निकालता है ।

श्यामासुदर्शनाभ्यां च लताभ्यां परिकल्पयेत् ।
क्षिपेत्कुण्डलकं मूर्ध्नि यावत्पादतलागतम् ॥ २५ ॥
योषितो मूढगर्भायाः सुखप्रसवकारकम् ।

श्यामा (श्यामा लता) तथा सुदर्शन इन दोनों लताओं को कुण्डलक (टोपी के आकार का) बनावे और जब तक योनिमार्ग से पादतल निकल न जायँ तब तक गर्भवती स्त्री के सिर पर रक्खे। अर्थात् जब तक गर्भ का सम्पूर्ण अंग बाहर न निकल जाय तब तक रक्खे । इस उपचार से मूढगर्भा स्त्री का प्रसव सुखपूर्वक होता है ।

अपामार्गस्य मूलं तु या नारी दुष्प्रसूयिनी ॥ २६ ॥
धारयेद्योनिमध्ये तु सा सुखेन प्रसूयते ।

कष्ट के साथ प्रसव करनेवाली जो स्त्री अपामार्ग का मूल योनि के मध्य में रखती है वह सुखपूर्वक प्रसव करती है ।

मधुकं चन्दनं चैव सर्पिर्माहिषमेव च ॥ २७ ॥
मूढगर्भा पिबेन्नारी क्षिप्रं सा तु प्रसूयते ।

मुलेठी तथा रक्तचन्दन का चूर्ण या क्वाथ भैंस का घृत मिलाकर जो मूढ-गर्भा स्त्री पान करती है वह शीघ्र ही प्रसव करती है ।

आटरूषकमूलेन नाभिं योनिं च लेपयेत् ।
नाभिलेपः प्रसिद्धोऽयं मूढगर्भापकर्षणः ॥ २८ ॥

आटरूषक (अडूसा) के मूल (अडूसा के मूल को पीसकर लेप बनाकर) से नाभि तथा योनि को लेप करे । यह प्रसिद्ध नाभिलेप मूढगर्भ को निकालता है ॥ २८ ॥

मूढगर्भे दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि ।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ २९ ॥
इदममृतमपां समुद्धृतं वै
तव लघु गर्भमिमं विमुञ्चतु स्त्री ।
तदनलपवनार्कवासवास्ते
सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥ ३० ॥

मुक्ता पर्शोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः ।
मुक्तः सर्वभयाद्गर्भ एह्येहि चिरमाचितः ॥ ३१ ॥

मूढगर्भ में दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—हे भामिनि ! इस तुम्हारे उदर मन्दिर में अमृत, चन्द्रमा, चित्रभानु तथा उच्चैःश्रवा घोड़ा निवास करे। यह अमृत जल से निकाला हुआ है। हे स्त्री ! तुम्हारे इस छोटे गर्भ को यह अमृत निकाल दे और अग्नि, वायु, सूर्य तथा इन्द्र, लवणसमुद्र के साथ शान्ति को प्रदान करें। सभी प्रकार के पाश (बन्धन), विपाश (बन्धनविशेष) छूट गये हैं। सूर्य ने अपनी किरणें छोड़ दी हैं। गर्भ सभी भयों से छुटकारा पा गया है। हे गर्भ ! अब विलम्ब न कर, बाहर आओ, आओ ॥ २९-३१ ॥

जलं च्यावनमन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् ।
पीत्वा प्रसूयते नारी दृष्ट्वा चोभयत्रिंशकम् ॥ ३२ ॥
तथोभयपञ्चदशादर्शनं सुखसूतिकृत् ।

इस च्यावनमन्त्र को सात बार पढ़कर जल को अभिमन्त्रित करे और आसन्नप्रसवा स्त्री को पिलावे तथा उभयत्रिंशक यन्त्र को दिखाये। इस प्रकार च्यावनमन्त्र से अभिमन्त्रित जल को पिलाने तथा उभयत्रिंशक यन्त्र को दिखाने से आसन्नप्रसवा स्त्री शीघ्र ही प्रसव करती है। इसके अतिरिक्त उभय पञ्चदशक यन्त्र का दर्शन भी सुखपूर्वक प्रसव कराता है।

वसुगुणाब्ध्येकशरैर्नवषट्सप्तयुगैः क्रमात् ।
सर्वैः पञ्चदश द्विस्तु त्रिंशकं नवकोष्ठके ॥ ३३ ॥

उभय त्रिंशक यन्त्र—वसु ८, गुण ३, अब्धि ४, एक १, शर ५, नव ९, षट् ६, सप्त ७, युग ४, इन अंकों को क्रमशः नवकोष्ठों में लिखे यह उभय पञ्चदशक यन्त्र होता है। इन्हीं अंकों को द्विगुणित कर नव कोठों में (१६, ६, ८, २, १०, १८, १२, १४, ४) लिखने से उभय त्रिंशक यन्त्र होता है ॥ ३२-३३ ॥

उभय पञ्चदशक यन्त्र

८	३	४
१	५	९
६	७	२

उभय त्रिंशक यन्त्र

१६	६	८
२	१०	१८
१२	१४	४

विमर्श—भैषज्यरत्नावलीकार ने 'इहामृतञ्च, इस मन्त्र को उच्चारण करने से गर्भिणी स्त्री सुखपूर्वक प्रसव करती है ऐसा माना है। इसके अतिरिक्त च्यावनमन्त्र से "ॐ क्षिपनिक्षिप उन्मथ प्रमथ मुञ्च मुञ्च स्वाहा, इस मन्त्र को ग्रहण किया है। उनका मन्तव्य यह है कि इसी मन्त्र को सात बार पढ़कर जल को अभिमन्त्रित करे और उभयत्रिंशक तथा उभय पञ्चदशक यन्त्र को गर्भिणी स्त्री को दिखाये किन्तु अन्य आचार्य पूर्वोक्त "इहामृतम्" मन्त्र को ही च्यावन मन्त्र मानते हैं।

योगरत्नाकरकार ने शीघ्र प्रसव करानेवाले अक्षत योग का निरूपण किया है—

हिमवद् दक्षिणे पार्श्वे सुरसा नाम यक्षिणी।
तस्याः नूपुर शब्देन विशल्यभव गर्भिणी॥
इमं श्लोकं पठित्वा तु क्षिपेदक्षत पञ्चक।
गर्भिण्युपरिसद्य सा गर्भं मुञ्चति गर्भिणी॥

हिमालय के दक्षिण भाग में सुरसा नाम की यक्षिणी रहती है उसके नूपुर के झनकार से हे गर्भवती! तू गर्भ को निकाल कर सुखी हो। इस तात्पर्य वाले श्लोक को पढ़कर पाँच अक्षत (बिना टूटे हुए चावल को अक्षत शब्द से व्यववार किया जाता है अतः साबुत चावल के पाँच दाना लेना चाहिए) को लेकर गर्भवती के ऊपर फेके तो उसे शीघ्र प्रसव हो जाता है।

अपरापातनार्थं कटुतुम्ब्यादिधूपः—

कटुतुम्ब्यहिनिर्मोककृतवेधनसर्षपैः।
कटुतैलान्वितो धूपो योनेः पातयतेऽपराम्॥ ३४॥

अपरा पातन के लिये कुटुतुम्बादि धूप—कड़वी लौकी, साँप की केंचुल कृतवेधन (हिङ्गु) तथा सरसों—इन द्रव्यों को सरसों का तैल मिलाकर धूप देने से यह धूप योनि से अपरा को गिरा देता है॥ ३४॥

मूढगर्भे कतिपययोगाः—

न्यस्तेन मूर्धनि सुधापयसाऽल्पकेन
स्त्रीणामुपैति सहसैव हि गर्भशल्यम्।
मूलेन वा चिकुरमध्यगतेन बाण-
पुङ्खोद्भवेन सुखमेव भवेत्प्रसूतिः॥ ३५॥

मूढगर्भ में कुछ योग—थोड़ा सेहुंड का दूध सिर के ऊपर रखने से स्त्रियों का गर्भ शल्य एकाएक बाहर आ जाता है। अथवा बाण पुष्पोद्भव (शरपुंखा) का मूल सिर के बालों के मध्य में रखने से सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है॥ ३५॥

मूलेन शुक्लाचलकर्णिणाया गुह्यस्य मध्ये निहितेन सद्यः।
गर्भस्य पातः क्रियते प्रसह्य कुर्यादिदं काकनिकाभवं वा ॥ ३६ ॥

शुक्लाचला कर्णिका (सफेद अपराजिता) का मूल योनि के मध्य में रखने से शीघ्र ही गर्भ का पात कराता है। अथवा काकनिका (गुञ्जा 'घुंघुची') का मूल योनि में रखने से हठपूर्वक गर्भपात को करता है ॥ ३६ ॥

गर्भं विपन्नमपि पातयति क्षणेन
स्त्रीणां जरायुपटलं च पृथक्करोति।
पादे स्थितं वलयरूपतया तरुण्या
मूलं व्यथातिशयविक्लवमानसानाम् ॥ ३७ ॥

तरुणी (दन्ती या घृतकुमारी) का मूल अत्यन्त पीड़ा से व्याकुल मन वाली स्त्रियों के पैर के ऊपर वलय (कंगन) के रूप में रखने से विपन्न (मृढ़) गर्भ को भी क्षण भर में गिरा देता है और जरायु पटल (अपरा) को अलग कर देता है ॥ ३७ ॥

मूलं पुनर्नवायाः सतैलमीषत्कृतं गुह्ये।
गर्भं प्रवेपमानं सहसा स्त्रीणां बहिः कुरुते ॥ ३८ ॥

इति श्री वैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
मूढगर्भाधिकारश्चतुर्थः सम्पूर्णः ॥ ४ ॥

पुनर्नवा का मूल तैल लगाकर योनि में थोड़े देर रखने से स्त्रियों के काँपते हुए गर्भ को सहसा बाहर कर देता है ॥ ३८ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह षष्ठ कौमारभृत्य तन्त्र में चौथा
मूढगर्भाधिकार समाप्त।

अथ वन्ध्याधिकारः पञ्चमः ।

अथातो वन्ध्याचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

गर्भप्रदमश्वगन्धाघृतम्—

अश्वगन्धाकषायेण मृद्वग्निपरिसाधितम् ।
ऋतुकाले पिबेद्वन्ध्या गर्भसन्धानकं घृतम् ॥ १ ॥

मूढ गर्भाधिकार के बाद वन्ध्या की चिकित्सा कहते हैं।

गर्भ को देने वाला अश्वगन्धा घृत—अश्वगन्धा (असगंध) के कषाय के साथ (घृत के चौगुना तथा उसी का कल्क घृत के चौथाई घृत निर्माण विधि के अनुसार) मन्द आंच से सिद्ध किया हुआ गर्भ संधानक (गर्भ संस्थापक) घृत को वन्ध्या स्त्री ऋतुकाल (रजस्वला के समय) में पान करे ॥ १ ॥

गर्भस्थापनो वटशुङ्गयोगः—

गर्भदं वटशुङ्गं तु पिबेद्वन्ध्या रजस्वला ।
वारिणा शुक्लपक्षे हि पुष्येण च समाहृतम् ॥ २ ॥

गर्भ संस्थापक वटशुङ्ग योग—वन्ध्या स्त्री रजस्वला होने पर शुक्लपक्ष के पुष्य नक्षत्र में लाया हुआ गर्भ संस्थापक वटशुङ्ग (वटवृक्ष की टूसा) को जल के साथ पान करे ॥ २ ॥

गर्भजननार्थं मातुलुङ्गमूलघृतम्—

मातुलुङ्गशिफाकल्कसिद्धं गर्भप्रदं घृतम् ।
पिबेद्वन्ध्या प्रयत्नेन गर्भसंजननं परम् ॥ ३ ॥

गर्भोत्पादक मातुलुङ्ग मूल घृत—मातुलुङ्ग (बिजौरा निम्बू) की जड़ के कल्क से सिद्ध किया हुआ गर्भ (घृत निर्माण विधि के अनुसार घृत के चौथाई कल्क) गर्भप्रद घृत वन्ध्या स्त्री प्रयत्नपूर्वक पान करे। यह घृत गर्भ को उत्पन्न करने वाला है ॥ ३ ॥

गर्भप्रद एरण्डबीजादियोगः—

एरण्डस्य च बीजानि मातुलिङ्गस्य चैव हि ।
सर्पिषा परिपिष्टानि पिबेद्गर्भप्रदानि च ॥ ४ ॥

गर्भप्रद एरण्ड बीजादि योग—एरण्ड का बीज तथा बिजौरा नीबू का बीज दोनों को पीस कर गर्भप्रद इस योग को घृत में मिलाकर पान करे ॥ ४ ॥

वन्ध्यत्वनाशार्थं लक्ष्मणामूलयोग—

क्षीरेण लक्ष्मणायास्तु शिफां सम्यग्दिनत्रयम् ।
पीत्वा ऋतुमती नारी वन्ध्याशब्दं जहाति सा ॥ ५ ॥

बन्ध्यात्व दोष को नाश करने के लिये लक्ष्मणा मूल योग—रजस्वला स्त्री लक्ष्मणा के मूल को तीन दिन तक अच्छी तरह दूध के साथ पान कर बन्ध्यात्व दोष को त्याग देती है। अर्थात् गर्भधारण करने के योग्य हो जाती है ॥ ५ ॥

गर्भदोऽनन्तादियोगः—

अनन्तां जीरकं दूर्वां वाराहीं बहुपुत्रिकाम्।
संपेष्य च सर्षभकं पिबेत्क्षीरेण गर्भदम् ॥ ६ ॥

गर्भप्रद अनन्तादि योग—अनन्ता (यवासा), जीरा, दूर्वा, वराहीकन्द, बहुपुत्रिका (शतावरी) तथा ऋषभक समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर इस गर्भप्रद योग को दूध के साथ रजस्वला स्त्री पान करे ॥ ६ ॥

गर्भप्रदस्तण्डुलीयकयोगः—

क्षीरेण जीवद्वत्सायास्त्र्यब्दकं तन्दुलीयकम्।
पिबेदृतुमती नारी गर्भकामा दिनत्रयम् ॥ ७ ॥

गर्भप्रद तण्डुलीय योग—गर्भ को चाहने वाली रजस्वला स्त्री जीवद्वत्सा (जिसका बछड़ा जीता हो) गौ के दूध के साथ तीन वर्ष का पुराना चौराई का मूल तीन दिन तक पान करे ॥ ७ ॥

वन्ध्यत्वनाशार्थं धात्र्यादियोगः—

धात्रीवचान्वितां नारी बलां क्षीरेण या पिबेत्।
ऋतुकाले जहात्याशु वन्ध्याशब्दं चिरोत्थितम् ॥ ८ ॥

बन्ध्या दोष नाश के लिये धात्र्यादि योग—जो स्त्री आंवला, वच तथा बरियार को दूध के साथ ऋतुकाल में पान करती है वह पुराने बन्ध्यात्व (बांझपन) दोष को शीघ्र ही दूर कर देती है। अर्थात् इस योग के सेवन से गर्भधारण शक्ति आ जाती है ॥ ८ ॥

गर्भप्रदो धातकीपुष्पादियोगः—

धातकीकुसुमैर्युक्तं नारी नीलोत्पलं पिबेत्।
ऋतौ मधुयुतं प्रातः क्षिप्रं गर्भेण युज्यते ॥ ९ ॥

गर्भप्रद धातकी पुष्पादि योग—जो रजस्वला स्त्री धव का फूल तथा नील-कमल के फूल का कल्क मधु मिलाकर ऋतुकाल में प्रातः समय पान करती है वह शीघ्र ही गर्भधारण करती है ॥ ९ ॥

गर्भधारणार्थं मयूरशिखामूलयोगः—

शिफां बर्हिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्।
पिबेदृतुमती नारी गर्भधारणहेतवे ॥ १० ॥

गर्भ धारण के लिये मयूरशिखा (अपामार्ग) मूल योग—रजस्वला

स्त्री बर्हिशिखा (अपामार्ग) का मूल दूध के साथ पीसकर गर्भधारण करने के लिये पान करे ॥ १० ॥

गर्भप्रदो रेणुकादियोगः—

रेणुकां रोध्रसंमिश्रां लक्ष्मणा परियोजिताम् ।
गर्भदां क्षीरसर्पिर्भ्यां पिबेद्रक्तवटाङ्कुरान् ॥ ११ ॥

गर्भप्रद रेणुकादि योग—रेणुका (निर्गुण्डी), लोध तथा लक्ष्मणा इस गर्भप्रद योग को दूध तथा घृत के साथ पान करे और वट के लाल अंकुरों को भी दूध तथा घृत के साथ पान करे ॥ ११ ॥

गर्भप्रदो मूषिकर्णीमूलयोगः—

गर्भाभावकृतान् दोषानेका एव हि नाशयेत् ।
योनिमध्यस्थिता स्त्रीणां मूषिकर्णीशिफा ध्रुवम् ॥ १२ ॥

गर्भप्रद मूषिकर्णी मूल योग—एक ही मूषिकर्णी (मूसाकर्णी) की जड़ स्त्रियों के योनि में रखने से गर्भधारण करने में बाधक दोषों को अवश्य ही नष्ट कर देती है ॥ १२ ॥

गर्भप्रदो भूस्तृणादियोनिलेपः—

भूस्तृणस्य तु मूलानि वचा मुञ्जातकं तथा ।
समभागानि मधुना योनिलेपो निशामुखे ॥ १३ ॥
शोभनं जनयेत्पुत्रं बलवीर्यसमन्वितम् ।

गर्भप्रद भूस्तृणादि योनि लेप—भूस्तृण (सुगन्धित तृणविशेष) का मूल, वच, तथा मुञ्जातक (मुंज) समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर मधु मिलाकर रात्रि में योनि में लेप करने से स्त्री बल तथा पराक्रम से युक्त सुन्दर पुत्र को उत्पन्न करती है ।

गर्भप्रदोऽपामार्गादियोगः—

नीलपुष्पमपामार्गं शोणितं बाभ्रवं तथा ॥ १४ ॥
वचाकुष्ठसमायुक्तं पीत्वा नारी प्रसूयते ।
प्रस्थे वृषभमूत्रस्य तैलस्य कुडवं पचेत् ॥ १५ ॥
ऋतुस्नाता पिबेन्नारी वन्ध्या चापि प्रसूयते ।

गर्भप्रद अपामार्गादि योग—स्त्री नील का पुष्प (नीली वृक्ष का पुष्प), अपामार्ग, बभ्रु (नेवला) का रक्त, वच तथा कूट इन द्रव्यों को पीसकर तथा (दूध के साथ) पान कर सन्तान को उत्पन्न करती है । वृषभ (बैल 'सांड') का मूत्र एक प्रस्थ (एक सेर) में तैल एक कुडव (एक पाव) पकावे और रजस्वला स्त्री पान करे । इसको पान करने से वन्ध्या स्त्री भी सन्तान को उत्पन्न करती है ।

वन्ध्यत्वनाशार्थं बस्तमूत्रादियोगः—

बस्तमूत्रं सघृत च नवनीतं च माहिषम् ॥ १६ ॥
पलत्रयं पिबेन्नारी अपि वन्ध्या प्रसूयते ।

वन्ध्यात्व नाश के लिये बस्त (बकरी) मूत्रादि योग—बकरी का मूत्र, घृत तथा भैंस का मक्खन तीनों मिलाकर तीन पल (तीन छटांक) स्त्री पान करे । इसको पान करने से बांझ स्त्री भो सन्तान उत्पन्न करती है ।

गर्भप्रदमश्वगन्धाक्षीरम्—

अश्वगन्धाकषायेण क्वथित शीतलं पयः ॥ १७ ॥
पीत्वा कान्तं समाश्लिष्य ऋतौ वन्ध्या प्रसूयते ।

गर्भप्रद अश्वगन्धा क्षीर—अश्वगन्धा (असगन्ध) के कषाय के साथ पकाया हुआ तथा शीतल किया हुआ दूध पान करने के बाद ऋतुकाल में पुरुष के साथ सहवास (मैथुन) कर वन्ध्या स्त्री सन्तान को उत्पन्न करती है ।

गर्भप्रदो मातुलुङ्गमूलादियोगः—

मातुलिङ्गशिफां नारी ऋत्वन्ते पयसा पिबेत् ॥ १८ ॥
नागकेसरपूरास्थिचूर्णं वा गर्भदं परम् ।

गर्भप्रद मातुलुङ्ग मूलादि योग—स्त्री मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) की जड़ ऋतु के अन्त में (रजस्वला होने के चौथे दिन) दूध के साथ पान करे या नागकेसर तथा पूर (बिजौरा नीबू) के बीज या चूर्ण दूध के साथ पान करे । यह गर्भप्रद योग है ।

पयो माहिषगर्भिण्या अजामूत्रं शतावरी ॥ १९ ॥
समभागानि सर्वाणि अजासर्पिःसमन्वितम् ।
ऋतुस्नाता पिबेन्नारी अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ २० ॥

गर्भिणी भैंस का दूध, बकरी का मूत्र तथा शतावरी का कल्क समभाग—इन सभी द्रव्यों को बकरी का घृत मिलाकर रजस्वला स्त्री पान करे । इसके पान करने से बांझ स्त्री भी सन्तान उत्पन्न करती है ॥ १९-२० ॥

पुत्रप्रसवार्थं नागकेसरयोगः—

गोघृतेन सह नागकेसरं श्लक्ष्णचूर्णितमृतौ नितम्बिनी ।
गव्यदुग्धनिरता पिबेद्यदि स्यात्तदा नियतमेव वीरसूः ॥ २१ ॥

पुत्र उत्पन्न करने के लिये नागकेशर का योग—नितम्बिनी (स्त्री) नागकेशर के महीन चूर्ण को गाय के घृत के साथ यदि पान करे और गाय का दूध पीती रहे तो अवश्य ही वीर पुत्र उत्पन्न करती है ॥ २१ ॥

पुत्रप्रसवार्थं लक्ष्मणामूलयोगः—

गृह्णाति लिङ्गाङ्कितलक्ष्मणाया मूलेन नस्यं सघृतेन या स्त्री ।

अवामनासाविवरे ऋतुस्था सा पुत्रिणी स्यात्पतिसंप्रयोगात् ॥२२॥

पुत्र उत्पन्न करने के लिये लक्ष्मणा मूल योग—जो स्त्री लक्षणों के द्वारा पहचानी हुई लक्ष्मणा के मूल का रस मिलाकर दक्षिण नासापुट में नस्य ग्रहण करती है वह रजस्वला स्त्री पति के साथ सयोग करने से पुत्रिणी होती है। अर्थात् पुत्र उत्पन्न करती है ॥ २२ ॥

मूलं भुजङ्गारिशिखासमुत्थं दुग्धेन संयुक्तमृतौ निपीतम् ।
गर्भस्य हेतुः प्रमदाजनस्य स्याल्लक्ष्मणामूलमपीत्थमेव ॥ २३ ॥

भुजङ्गारिशिखा (मयूरशिखा) के मूल का कल्क दूध के साथ पीसकर ऋतु काल में पान करने से स्त्रियों को गर्भधारण कराने वाला होता है। इसी प्रकार लक्ष्मणा का मूल भी दूध के साथ पान करने से गर्भोत्पादक होता है ॥ २३ ॥

गर्भवृद्ध्यर्थं सहचरमूलयोगः—

यदि सहचरमूलं वारिणा संप्रपिष्टं
पिबति यदि च गोधामांसमश्नाति योषित् ।
प्रतिदिनमभिवृद्धिं याति गर्भस्तदानीं
क्रमवशपरिपुष्टैर्धातुभिः पूर्यमाणैः ॥ २४ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रे
वन्ध्याधिकारः पञ्चमः ॥ ५ ॥

गर्भवृद्धि के लिये सहचरमूल योग—यदि गर्भवती स्त्री सहचर (पीली झिण्टी पियावासा) का मूल जल के साथ पान करती है और यदि गोधा (गोह गोधिका) का मांस खाती है तो उसका गर्भ प्रतिदिन, क्रमशः पौष्टिक धातुओं से परिपूर्ण होता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह कौमार तन्त्र में पांचवाँ
वन्ध्याधिकार समाप्त ।

अथ योनिशुक्रदोषाधिकारः षष्ठः ।

अथातो योनिशुक्रदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः—

योनिशूलहराः कतिपययोगाः—

वृषोपकुञ्चिकाजाज्यः श्रेयसी चित्रकं तथा ।
सैन्धवं क्षारसंयुक्तं दीप्यकं च प्रदापयेत् ॥ १ ॥

वन्ध्या चिकित्सा के बाद योनि शुक्रदोष की चिकित्सा कहते हैं ।

योनिशूल को दूर करने वाले कुछ योग—वृष (अडूसा), उपकुञ्चिका (छोटी इलायची), अजाजी (सफेद जीरा), श्रेयसी (गजपीपर), चित्रक, सेन्धानमक, यवक्षार तथा दीप्यक (अजवायन) इन द्रव्यों का चूर्ण योनिशूल में प्रयोग करे ।

पिबेन्मद्येन वा मूलमार्जकं सोपकुञ्चिकम् ।
अनेन योनिशूलं च बस्तिशूलं च शाम्यति ॥ २ ॥

अथवा अर्जक (सफेद बबई) का मूल तथा छोटी इलायची मद्य के साथ पान करे । इस योग से योनिशूल तथा वस्तिशूल शान्त हो जाता है ॥ १–२ ॥

पिबेद्वा दर्भनिर्यूहं सिद्धं गोक्षुरकेण वा ।
पयः सशर्करं शीतं योनिशूलनिपीडिता ॥ ३ ॥

अथवा कुशा का निर्यूह (क्काथ) या गोखरू के साथ पकाया हुआ दूध ठंढाकर तथा शक्कर मिलाकर योनिशूल से पीड़ित स्त्री पान करे ॥ ३ ॥

बिल्वमर्जकमूलस्य कल्कं मद्येन पाययेत् ।
तेन योनिगतं शूलमाशु शाम्यति योषिताम् ॥ ४ ॥

बेल तथा अर्जक (सफेद बबई) के मूल का कल्क मद्य के साथ पान कराये । इस योग से स्त्रियों का योनिगत शूल शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥ ४ ॥

पिप्पल्यः कुञ्चिकाऽजाजी वृषकं सैन्धवं वचाम् ।
यवक्षाराजमोदे च शर्करा चित्रकस्तथा ॥ ५ ॥
पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोडय घृतभृष्टानि दापयेत् ।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ।

पीपर, कुञ्चिका (छोटी इलायची), सफेद जीरा, अडूसा, सेन्धानमक, वच, यवक्षार, अजवायन तथा चित्रक इन द्रव्यों को पीसकर उसको घृत में भूनकर शक्कर मिलाकर रख ले । इसके बाद में प्रसन्ना (मदिरा) में मिला-

कर योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग, गुल्मरोग तथा अर्शरोग को दूर करने के लिये पान कराये।

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूले पिबेत्पयः ॥ ६ ॥

रासन, गोखरू तथा अडूसा को मिलाकर पकाया हुआ दूध योनिशूल में पान करे ॥ ५-६ ॥

बिल्वोपकुञ्चीवृषकोपकुल्याचव्योषणग्रन्थिकनागराणाम्।
कल्कः सुखोष्णेन जलेन पीतः शूलेषु योनिप्रभवेषु तुल्यः ॥ ७ ॥

बेल, छोटी इलायची, अडूसा, उपकुल्या (पीपर), चव्य, ऊषण (मरिच), ग्रन्थिक (वच या गठिवन), तथा सोंठ समभाग इन द्रव्यों का कल्क योनि में उत्पन्न होने वाले शूलों में थोड़े गरम जल के साथ पान करना हितकर है ॥ ७ ॥

योनिशूलहरं नारी योन्यां प्रक्षिप्य धारयेत्।
पिचुमेरण्डबीजं तु परिगृह्य विधानतः ॥ ८ ॥

योनिशूल से पीड़ित स्त्री एरण्डबीज का पिचु लेकर (एरण्ड बीज का छिलका उतार उसको या उसके कल्क से रूई तरकर उस रूई को लेकर) अपने योनि में धारण करे। यह एरण्डबीज का पिचु धारण योनिशूल को दूर करता है ॥ ८ ॥

सुरसस्य रसोपेतां सगुडां वारुणीं पिबेत्।
योनिशूलहरां नारी प्रयत्नेन दिनत्रयम् ॥ ९ ॥

योनिशूल से पीड़ित स्त्री सुरस (तुलसी, ब्राह्मी या निर्गुण्डी) का रस तथा गुड़ मिलाकर प्रयत्नपूर्वक तीन दिन तक वारुणी (मदिरा) पान करे। यह मदिरा योनिशूल को दूर करने वाली है ॥ ९ ॥

एरण्डतैलसमिश्रैर्दारुमुस्तकयोजितैः।
उशीरैः साधितं क्षीरं शर्करापरिमिश्रितम् ॥ १० ॥
मधुमात्रासमायुक्तं योनिशूलनिषूदनम्।

देवदारु, नागरमोथा तथा खस इन द्रव्यों से सिद्ध दूध को एरण्ड तैल, शक्कर तथा मात्रा पूर्वक मधु मिलाकर पान करे। यह योनिशूल को नष्ट करने वाला है।

गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः ॥ ११ ॥
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः।
तैलप्रस्थं गवा मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥ १२ ॥
वातार्तायां पिचुं दद्यात्सर्वदा धारयेच्च तम्।

गुडूची, मालती, रासन, बरियार, मुलेठी, चित्रक, निदिग्धिका (भटकटैया),

देवदारु तथा यूथिका (जूही) एक एक कर्ष (एक एक तोला) इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल एक प्रस्थ (एक सेर) तैल के दुगना गाय का दूध (दो सेर) मिलाकर (तैल) पकावे और वातजन्य पीड़ा से पीड़ित योनि में स्त्री इस तैल का [1]पिचु लगावे तथा उसको हमेशा धारण करे।

लाक्षाबलापलाशत्वङ्निर्यासै शाल्मलेरपि ॥ १३ ॥
पिष्टैः सिद्धं तु तत्स्नेहपिचुं योनौ निधापयेत् ।

लाख, बरियार, पलास की छाल, शेमर की छाल, इन द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ के साथ सिद्ध तैल (तैल निर्माण विधि के अनुसार तैल के चौथाई कल्क तथा चौगुना क्वाथ लेकर) का पिचु योनि में रक्खे।

शताह्वाकुष्ठमरिचपिप्पलीमाषसैन्धवैः ।
वर्तिस्तुल्यकराङ्गुष्ठा धार्या योनिविशोधनी ॥ १४ ॥

शताह्वा (सोया का बीज), कूठ, मरिच, पीपर, माष (उड़द) तथा सेन्धानमक समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर हाथ के अंगुष्ठ के बराबर (मोटी तथा लम्बी) वर्ति बनावे और योनि में धारण करे। यह वर्ति योनि को शोधन करनेवाली है।

अपामार्गपत्रद्वयं योनिमध्ये निविष्टं क्षणाद्योनिशूलं निहन्ति ।
सुदुर्वारमप्येवमेव प्रयुक्तो विदध्याद्रसस्तत्र पौनर्भवोऽपि ॥ १५ ॥
एरण्डतैलेन परिप्लुता स्यात्कर्पासपिण्डी यदि योनिमध्ये ।
शूलं तदानीं शमयेत्तदोयं संयावको मुण्डतिकाकृतो वा ॥ १६ ॥

अपामार्ग का दो पत्ता योनि के मध्य मे रखने से क्षणभर में योनिशूल को नाश करता है। इसी प्रकार दुःख से दूर होनेवाला भी योनिशूल पुनर्नवा का रस योनि में प्रविष्ट कर रखने से दूर हो जाता है। पुनर्नवा के रस में रूई तरकर योनि में रक्खे। रूई का फाहा एरण्ड के तैल में तरकर यदि योनि के मध्य में रक्खा जाय तो उसी समय योनिशूल को शान्त करता है। अथवा उसी एरण्ड तैल के साथ मुण्डी का बनाया हुआ संयावक (पिण्ड) योनि मध्य में धारण करे तो योनिशूल को शान्त करता है। या मुण्डी के कल्क का लम्बा तथा अंगुली के बराबर पिण्ड बनाकर एरण्ड तल में तलकर योनि में धारण करे ॥ १५–१६ ॥

शुक्रदोषे कतिपययोगानामतिदेशः—

गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति ।

---

१. तैलाक्त पिचु—तैल से या द्रव्य से भींगे हुए रूई का फाहा योनि मार्ग में रखना। इसको पिचु शब्द से व्यवहार करते हैं।

घृतं च जीवनीयं च च्यवनप्राश एव च ॥ १७ ॥

इति श्रीवैद्यवरशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रे
योनिदोषशुक्रदोषाधिकारः षष्ठः ॥ ६ ॥

शुक्रदोष नाशक योग—शिलाजीत का प्रयोग (चन्द्रप्रभावटी, शिवागुटिका आदि) वीर्य सम्बन्धी दोषों को दूर करता है। इसी प्रकार जीवनीय घृत तथा [1]च्यवनप्रास वीर्यदोष को दूर करता है ॥ १७ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह कौमारभृत्यतन्त्र में
योनिदोष शुक्रदोषाधिकार समाप्त।

---

१. गदनिग्रह प्र० ख० पृ० ३२७ में देखें।

अथ सूतिकारोगाधिकारः सप्तमः ।

अथातः सूतिकारोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

मक्कल्लनिदानम्—

वायुः प्रकुपितः कुर्यात्संबाध्य रुधिरं च्युतम् ।
सूताया हृच्छिरोबस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञितम् ॥ १ ॥

योनिशुक्रदोषाधिकार के बाद सूतिकारोग का निदान कहते हैं ।

मक्कलरोग का निदान—प्रसूता स्त्री का दूषित वायु निकलते हुए रक्त को पुनः रोककर हृदय, सिर तथा वस्ति प्रदेश (योनि आदि) में शूल उत्पन्न करता है इन लक्षणों से युक्त रोग को मक्कलरोग कहते हैं ॥ १ ॥

सूतिकारोगलक्षणम्—

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।
शोफः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥ २ ॥

सूतिकारोग का लक्षण—शरीर के अवयवों में पीड़ा, ज्वर, कम्पन, प्यास, शरीर में भारीपन, शोथ तथा अतिसार ये सूतिकारोग के लक्षण हैं ॥ २ ॥

विमर्श—स्त्रियों के गर्भकाल से लेकर प्रसवोत्तर काल तक के रोगों का विभाजन तीन भाग में किया जा सकता है । (१) गर्भावस्था के रोग—गर्भ धारण से लेकर प्रसवकाल तक साधारण रोग ज्वर, प्रतिश्याय, कास श्वासादि रोग । इन रोगों का लक्षण पूर्वोक्त सामान्य अवस्था में उत्पन्न होने वाले लक्षणों के सदृश होता है किन्तु चिकित्सा में कुछ विभिन्नता होती है । सगर्भावस्था में मृदु, मधुर, शीतल तथा सुकुमारों के सेवन योग्य औषधों का प्रयोग किया जाता है । वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि का प्रयोग नहीं किया जाता है । सगर्भावस्था में गर्भजन्य विशेष रोग जैसे अतिसार, मुखपाक, कामला, हृद्रोग, आक्षेपक, अपतानक आदि रोगों का वर्णन चरक तथा सुश्रुत आदि में विशेषरूप से किया गया है । पाश्चात्य ग्रन्थों में भी हारिद्रक ज्वर, शुक्तिमेह, गर्भापतानक, अर्श, वृक्करोग, सिराकौटिल्य तथा मधुमेह आदि रोगों का वर्णन मिलता है ।

(२) प्रसवकालीन रोग, जैसे मूढगर्भ, अवसाद, विटप विदार, रक्तस्रावाधिक्य आदि ।

(३) सूतिकारोग—प्रसव के बाद स्त्री-जननेन्द्रियों को अपने स्वाभाविकावस्था में होने में जितना समय लगता है उतना समय सूतिकाकाल माना गया है । इस समय के अन्दर स्त्री को सूतिका कहते हैं । यह समय पैतालिस

दिन का होता है या पुनः ऋतुकाल[1] तक का समय माना जाता है। इस अवस्था में उत्पन्न होने वाले रोगों को सूतिकारोग[2] कहते हैं। प्रसवकालीन क्षोभ, रक्तस्राव, पीड़ा आदि के कारण पहले की अपेक्षा सूतिका को पाण्डुता, अङ्गमर्द, अभिघात ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में सावधानी रखनी पड़ती है और कुछ विशेष उपचार करना पड़ता है। सूतिका का रक्तक्षय आदि कारणों से अग्निबल आदि क्षीण हो जाता है, शारीरिक शक्ति कमजोर पड़ जाती है। समय से उपचार करने पर साध्य अन्यथा ठीक उपचार न करने से सूतिका-रोग कष्टसाध्य हो जाते हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों में प्रसवोत्तर पीड़ा, श्रोणिपाक, मूत्रसंग, सूतिकाज्वर, श्वेतपाद, सूतिकोन्माद और अनेक प्रकार के स्तन-सम्बन्धी रोग बताये गये हैं।

सूतिकारोग में प्रसव-कालीन वेदना, परिश्रम रक्तस्राव आदि के कारण पूरे

---

१. अनेन विधिनाध्यर्धमाससुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके (सु० शा० १०)

२. सूतिकारोग का विशिष्ट वर्णन काश्यप संहिता में किया गया है। उसमें सूतिकारोग को 'दुष्प्रजाता नाम से व्यवहृत किया गया है। वे संख्या में चौसठ हैं।

दुष्प्रजातामयाः सन्ती चतुःषष्टिरितिस्थितः।
योनिभ्रंष्टा क्षता चैव विभिन्नमूत्रसंगिनी॥
संशोफस्राविणी चैव प्रसुप्तावेदनावती।
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदि शूल विसूचिका॥
प्लीहा महोदरत्वं च शाखा वातोऽङ्गमर्दकः।
भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः॥
मक्कलो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामला।
दौर्बल्यं भ्रमलीकार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः॥
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका।
हिक्का श्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः॥
आनाहाध्मापने चोभे वर्चो मूत्रग्रहावपि।
मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ।
राजयक्ष्मार्दितं कम्पः कर्णस्रावप्रजागरः।
उष्णवातो ग्रहाबाधः स्तनरोगोऽथ रोहिणी॥
वाताष्ठीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिका।
इत्येते सूतिका रोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृता॥

क० सं० खिलस्थान अ० ११।

शरीर में पीड़ा, ज्वर, दुर्बलता के कारण कम्पन, रक्तक्षय से प्यास, दौर्बल्य आदि के कारण अपने ही शरीर का भारीपन प्रतीत होना, शोथ, गर्भाशय संकोच के कारण शूल आदि उपद्रव हो जाते हैं जिसका वर्णन श्लोक में किया गया है।

सूतिकारोगाणां कृच्छ्रसाध्यत्वम्—

मिथ्योपचारात्संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायास्तु ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥ ३ ॥

सूतिका रोगों का कृच्छ्रसाध्यत्व—प्रसव के समय सावधानी एवं शुद्धता के साथ प्रसव न कराने से या दूषित अन्न आदि का सेवन, मानसिक कष्ट तथा विषम एवं अजीर्ण भोजन या अपरिपक्व भोजन आदि कारणों से जो सूतिका के रोग होते हैं वे भयंकर होते हैं ॥ ३ ॥

ज्वरातिसारशोफाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥ ४ ॥

प्रसव के बाद ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह (पेट में वायु भर जाना), दौर्बल्य, तन्द्रा, अरुचि, लाला प्रसेक आदि कफवातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥ ५ ॥

इति सूतिकारोगनिदानं संपूर्णम् ॥

बल मांस तथा अग्नि के क्षीण होने से ऊपर बताये हुए रोग कष्टसाध्य होते हैं। ये रोग तथा इनके अनेक उपद्रव सूतिकारोग कहलाते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—प्रसवोत्तरकाल में सूतिका का उपचार ठीक २ न होने से या अयोग्य प्रकार से होने से अनेक प्रकार के सामान्य रोग ज्वर, कास, क्षयरोग आदि हो जाते हैं जिनको प्रसूतकाल में होने से सूतिकारोग कहते हैं। ठीक-ठीक उपचार न करने से अनेक कष्टसाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं अतः सूतिकालीन रोगों का उपचार सावधानी से करने का निर्देश किया गया है। इसमें शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के रोग होते हैं और भूत-प्रेत आदि ग्रह-बाधाओं की भी आशंका रहती है।

इस अवस्था में प्रसव को तीसरे या चौथे दिन दूध उतरने पर [1]स्तन्या-

---

१. षड्विधस्तु प्रसूतानां नारीणां जायते ज्वरः।
निजागन्तुविभागेन निदानं तस्य मे शृणु ॥
वेगसंधारणाद्दौषयाद् व्यायामादस्यसक्चयात्।

गर्भोत्थ ज्वर उत्पन्न होता है। उस ज्वर के साथ स्तनों में स्तब्धता, प्यास, हृदयशूल, कुक्षिशूल, पार्श्वशूल तथा कटिशूल एवं सम्पूर्ण शरीर में मन्द-मन्द वेदना आदि होती है। दूध शुद्ध हो जाने पर ये सभी लक्षण स्वयं दूर हो जाते हैं।

सूतिकारोग निदान समाप्त।

अथातः सूतिकारोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अपरापातना' कतिपययोगाः—

कटुतुम्ब्यहिनिर्मोककृतवेधनसर्षपैः।
कटुतैलान्वितैर्योनिधूपः पातयतेऽपराम् ॥ ६ ॥

सूतिकारोग निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

अपरापातन के कुछ योग—कड़वी लौकी, सांप की केंचुल, हिंगु तथा सरसों इन द्रव्यों को सरसों के तैल में मिलाकर धूप देने से (यह धूप) अपरा को गिरा देता है ॥ ६ ॥

कचवेष्टितयाऽङ्गुल्या घृष्टे कण्ठे सुखं पतत्यपरा।
मूलेन लाङ्गलिक्याः संलिप्ते पाणिपादे च ॥ ७ ॥

अंगुली में बाल लपेट कर कण्ठ पर घिसने से सुखपूर्वक अपरा गिर जाती है या लाङ्गली (कलिहारी) के मूल का कल्क हाथ तथा पैर में लेप करने से सहज में ही अपरा गिर जाती है ॥ ७ ॥

मक्कल्लचिकित्सा—

सूताया हृच्छिरोबस्तिशूलं मकल्लसंज्ञितम्।
यवक्षारं पिबेत्तत्र सर्पिषोष्णोदकेन वा।
पिप्पल्यादिगणक्काथं पिबेद्वा लवणान्वितम् ॥ ८ ॥

मक्कलरोग की चिकित्सा—प्रसूता स्त्री का हृदयशूल, शिरःशूल तथा वस्ति शूल को मक्कल नामक रोग कहा जाता है। इस मक्कल रोग में यव-

---

शोकादध्यग्निसंतापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात्।
दिवास्वप्नात्पुरोवाताद् गर्वभिष्यन्दिभोजनात्।
स्तन्यागमाद् ग्रहावाधादजीर्णाद् दुष्प्रजायनात् ॥
ज्वरः संजायते नार्या. षड्विधो हेतुभेदतः।
स एव पूर्णरूपेषु व्यभिचीर्णो विरोधिभिः ॥
ससृष्टैः स्नेहशीताम्बु स्नानपानाशनादिभिः।
संन्निपातो ज्वरो घोरो जायते दुरुपक्रमः ॥
(का० सं० खिलस्थान ११)

क्षार को घृत के साथ या गरम जल के साथ पान करें। अथवा पिप्पल्यादि गण का क्वाथ नमक मिलाकर पान करे ॥ ८ ॥

सुरसादलनिष्यन्दः पुराणगुडमद्यमण्डसंमिश्रः।
पीतः प्रसूतिसमयादनन्तरं शूलमपहरति ॥ ९ ॥

तुलसी के पत्ता का रस पुराना गुड़, मद्य तथा मण्ड (छगुने पानी में पकाया हुआ अन्न) मिलाकर पान करने से प्रसवकाल के बाद में उत्पन्न शूल को दूर करता है ॥ ९ ॥

मक्कल्लः प्रशममुपैति सूतिकानां
पीतेन क्वथितजलोपयोजितेन ।
अभ्युद्यन्नवयवशूकसंभवेन
क्षारेण ध्रुवमथवा घृतान्वितेन ॥ १० ॥

प्रसूता स्त्रियों का मक्कलरोग नवीन उत्पन्न यव के शूक का क्षार (नवीन यवक्षार) गरम जल के साथ मिलाकर पान करने से शान्त होता है। अथवा घृत के साथ यवक्षार का पान मक्कल रोग को शान्त करता है ॥ १० ॥

सूतिकारोगेऽमृतादिक्वाथः—

अमृतानागरसहचरभद्रोत्कटपञ्चमूलजलदजलम्।
शृतशीतं मधुसहितं निवारयति सूतिकारोगम् ॥ ११ ॥

सूतिकारोग में अमृतादि क्वाथ—गुडूची, सोंठ, सहचर (पीली झिण्टी पियावासा); भद्रा (दन्ती) उत्कट (नीलपुष्पी झिण्टी), पञ्चमूल (बेल की छाल, गम्भारी, पाढल, अरलू तथा अरणी), जलद (मोथा) तथा जल (सुगन्धवाला), इन द्रव्यों का क्वाथ ठढाकर मधु के साथ पान करने से सूतिका-रोग को दूर करता है ॥ ११ ॥

सूतिकारोगे सहचरादिक्वाथः—

सहचरपुष्करवेतसमूलं सविकङ्कतदारुकुलत्थजलम्।
जलमत्र ससैन्धवहिङ्गुयुतं सद्यो ज्वरसूतिकाशूलहरम् ॥१२॥

सूतिकारोग में सहचरादि क्वाथ—सहचर (पियावासा) पुष्कर मूल, वेतसमूल, विकङ्कत (कण्टाई रामबबूर) देवदारु, तथा सुगन्धवाला समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ सेन्धा नमक तथा शु० हिंगु मिलाकर पान करने से सूतिका का ज्वर तथा शूल को शीघ्र दूर करता है ॥ १२ ॥

सूतिकारोगे दशमूलक्वाथः—

पञ्चमूलद्वयक्वाथं तप्तलोहेन संगतम्।
सूतिकारोगनाशाय पिबेद्वा तद्युतां सुराम् ॥ १३ ॥

सूतिकारोग में पञ्चमूल का क्वाथ—दोनों पञ्चमूल (बेल की छाल, गम्भारी, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरु) का क्वाथ गरम लोहे से बुझाकर सूतिकारोग को नाश करने के लिये पान करे अथवा इस क्वाथ में मद्य मिलाकर पान करे ॥ १३ ॥

सूतिकारोगे वज्रकाञ्जिकम्—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यं शुण्ठी यवानिका ।
जीरके द्वे हरिद्रे द्वे विडं सौवर्चलं तथा ॥ १४ ॥
एतैरेवौषधैः पिष्टैरारनालं विपाचयेत् ।
आमवातहरं वृष्यं कफघ्नं वह्निदीपनम् ॥ १५ ॥
काञ्जिकं वज्रकं नाम स्त्रीणां बलविवर्धनम् ।
मक्कल्लशूलशमनं परं क्षीराभिवर्धनम् ॥ १६ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
सूतिकारोगाधिकारः सप्तमः ॥ ७ ॥

सूतिकारोग में वज्र कांजिक—पीपर, पिपरामूल, चव्य, सोंठ यवानिका (अजवायन), सफेदजीरा, स्याहजीरा, हल्दी, दारुहल्दी, विडनमक, तथा सौवर्चल नमक सम भाग—इन द्रव्यों के कल्कों को पकाकर आरनाल (कांजी) बनावे । यह वज्रक नाम का कांजिक आमवात को दूर करता है, बल को बढ़ानेवाला, कफनाशक, अग्निदीपक, प्रसूता स्त्रियों का बल बढ़ानेवाला, मक्कलरोग के शूल को शान्त करनेवाला तथा अच्छी तरह दूध को बढ़ानेवाला है ॥ १४–१६ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के कौमारभृत्य खण्ड
में सूतिकारोग समाप्त ।

अथ स्तनरोगाधिकारोऽष्टमः ।

अथातः स्तनरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ।

स्तनरोगसंप्राप्तिः—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा दोषः प्राप्य स्तनौ स्त्रियाः ।
प्रदूष्य मांसरुधिरे स्तनरोगाय कल्पते ॥ १ ॥

सूतिकारोग के बाद स्तनरोग का निदान कहते हैं ।

स्तनरोग की सम्प्राप्ति—प्रसूता स्त्रियों के दुग्धयुक्त या दुग्धरहित स्तनों में वात आदि दोष पहुंचकर मांस और रक्त को दूषित कर स्तनरोग उत्पन्न करते हैं ॥ १ ॥

स्तनरोगलक्षणम्—

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ २ ॥

स्तनरोग का लक्षण—पाचों प्रकार के (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, आगन्तुज या शल्यज) स्तनरोगों के लक्षण रक्तज विद्रधि को छोड़कर बाह्यविद्रधियों के लक्षण के समान ही होता है ॥ २ ॥

विमर्श—स्तन मे दूध की उत्पत्ति सगर्भावस्था या प्रसूतावस्था में होती है किन्तु इन अवस्थाओं के रहते हुए जिनमें दुग्ध एकत्रित नहीं है तथा दुग्धोत्पादन की शक्ति नहीं है उस स्तन को अदुग्ध कहते हैं । स्तनरोग कन्याओं में नहीं होता है क्योंकि गर्भधारण करने के पहले स्तनों में दुग्धोत्पत्ति नहीं होती है ।

यथा धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।
दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ इति ।

स्तन रोगों में स्तनकोप तथा स्तनशोथ ये दो प्रधान रोग हैं । स्तनकोप में प्रसव के तीसरे या चौथे दिन स्तनों से दूध आने लगना है । इसे स्तन्योद्गम या दूध उतरना कहते हैं । यदि उतरे हुए दूध का पूर्णतया निर्हरण न किया जाय तो स्तन की रक्तवाहिनियां और दुग्धवाहिनियां अधिक बढ़ जाती हैं और स्तन फूल जाते हैं जिससे स्तन लालवर्ण के कठिन, गठीले तथा स्पर्श को सहन करने में असमर्थ हो जाते है । वेदनाधिक्य तथा निद्रानाश हो जाता है और काँख की लसीका ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं । ये स्तनकोप में उपद्रव होते हैं । कभी-कभी स्तन का उचित शोधन न होने के कारण चिपटा रह जाता है । उसका उचित उपचार न करने से तथा भूखे बच्चे के द्वारा चुचुक खींचकर

स्तन पान करने से या बार-बार स्तन पान कराने से या मुखपाक आदि होने के कारण चुचुक में विदार उत्पन्न हो जाता है जिसमें वेदना तथा स्पर्शासह्यता होती है। और कभी-कभी स्तन विद्रधि भी हो जाती है।

स्तनशोथ—विदीर्ण चुचुक के द्वारा उपसर्ग पहुचने पर स्तन में शोथ हो जाता है जिसमें शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं और उसके साथ तीव्र ज्वर भी हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप स्तन-विद्रधि हो जाती है। इसके बाद विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कक्षा की लसीका ग्रन्थियां भी शोथयुक्त तथा स्पर्शासह हो जाती हैं।

स्तन्यप्रवृत्तिवर्णनम्—

विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् सहर्षाच्च प्रवर्तते ॥ ४ ॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥ ५ ॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥ ६ ॥
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते।

स्तन्यप्रवृत्ति का वर्णन—सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाला भी शुक्र शरीर के अंगों का छेदन करने पर नहीं दिखाई देता है किन्तु वही शुक्र अभीप्सित युवती के देखने, स्पर्श करने से शब्द-श्रवण तथा स्पर्श (मैथुन) से उत्पन्न हर्ष से बाहर निकल आता है। हर्षण के लिये मन की प्रसन्नता ही कारण है। आहार रस से उत्पन्न होने के कारण स्तन्य (दुग्ध) भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। वही स्तन्य (दूध) बच्चे के स्पर्शन, दर्शन, स्मरण तथा ग्रहण करने से शिश्न के द्वारा शुक्र के समान स्तनोंद्वारा बाहर निकल पड़ता है। सर्वदा दुग्ध के उत्पन्न होने में स्नेह (वात्सल्य प्रेम) ही कारण है।

क्षीरदुष्टिनिदानम्—

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ॥ ७ ॥
क्षीरं धात्र्याः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते।

क्षीर दुष्टि का निदान—अनेक प्रकार के गरिष्ट पदार्थों के सेवन से दुष्ट तथा प्रकुपित दोषों से दूषित हुआ माता का दूध शिशुओं में विविध प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।

दुष्टक्षीरलक्षणम्—

कषायं सलिलप्लावि स्तन्य मारुतदूषितम् ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणं तीक्ष्ण राजिमत्पित्तसगतम् ।
कफजुष्ट घनं तोये निमज्जति सुपिच्छिलम् ॥ ९ ॥
द्विलिङ्गं द्वन्द्वज विद्यात्सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ।

दुष्ट क्षीर का लक्षण—वायु से दूषित दुग्ध कसैला तथा जल पर तैरनेवाला होता है, पित्त से दुष्ट दुग्ध कटु (चरपरा), खट्टा तथा नमकीन होता है और पानी में छोड़ने पर पीत वर्ण की रेखायें दिखाई देती हैं, कफ से दूषित दुग्ध गाढ़ा तथा पिच्छिल होता है और जल में डूब जाता है। दो दोषों के लक्षणों से युक्त द्वन्द्व दुष्ट तथा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त दूध को त्रिदोषज दुष्ट समझना चाहिए ॥ ८-९ ॥

अदुष्टं चाम्बुनिःक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ॥ १० ॥
इति स्तनस्तन्यरोगनिदान सपूर्णम् ॥

निर्दुष्ट दूध जल में छोड़ने पर मिल जाता है तथा पाण्डु (सफेद) वर्ण का हो जाता है ॥ १० ॥

स्तन तथा स्तन्यरोग का निदान समाप्त

अथातः स्तन्यचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

स्तन्यदोषचिकित्सा—

तत्र वातात्मके स्तन्ये दशमूलीजलं पिबेत् ।

स्तन्य तथा स्तन्यरोग के निदान के बाद उसकी चिकित्सा कहते हैं।

स्तन्य दोष चिकित्सा—वायु के कारण स्तन्य (दुग्ध) के दूषित होने पर दशमूली (बेल की छाल, गम्भारी, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) का क्वाथ पान करे।

पित्तदुष्टेऽमृताभीरुपटोलं निम्बचन्दनम् ॥ ११ ॥
धात्री कुमारश्च पिबेत्क्वाथयित्वा ससारिवम् ।

पित्त विकृति के कारण दूध के दूषित होने पर गुडूची अभीरु (शतावर), परवल, नीम, चन्दन, आंवला, कुमार (वरुण) तथा सारिवा समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर पान करे।

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वग्वत्सगन्धाश्रृतं पयः ॥ १२ ॥
दापयेत्स्तन्यशुद्ध्यर्थमथवा रोहिणीश्रृतम् ।

शार्ङ्गेष्टा (काकजवा या काकमाची) छतिवन की छाल, वत्सगन्ध (अजमोदा) सम भाग इन द्रव्यों के क्वाथ को मिलाकर पकाया दूध प्रसूता स्त्री के दूध की शुद्धि के लिये पान कराये। अथवा रोहिणी (कटुकी) डालकर

पकाया हुआ दूध पान कराये। इस प्रकार परिपक्व दूध को पान करने से प्रसूता स्त्री का दूध शुद्ध हो जाता है।

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलीत्रिफलाशृतम् ॥ १३ ॥
गुरुक्षीरा पिबेत्काथमाशु स्तन्यविशुद्धये।
पिबेद्वा पिप्पलीमूलवचाचित्रकनागरैः ॥ १४ ॥

त्रायमाणा, गुडूची, नीम, परवल तथा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) सम भाग इन द्रव्यों का क्वाथ जिस प्रसूता स्त्री का दूध गरिष्ठ हो वह दूध की शुद्धि के लिये पान करे। अथवा पिपरामूल, वच, चित्रक तथा सोंठ इन द्रव्यों का क्वाथ पान करे ॥ १३–१४ ॥

पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत्स्तनौ।
पाठामूर्वाब्दभूनिम्बदारुशुण्ठीकलिङ्गकैः ॥ १५ ॥

पाढा, सोंठ, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या काकमाची तथा मूर्वा) (मरोर फली या मोरवेल) इन द्रव्यों के कल्क से दोनों स्तनों में लेप लगाये ॥ १५ ॥

सारिवामृततिक्ताख्यैः क्वाथः स्तन्यविशोधनः।
वनकार्पासिकेक्षूणां मूलं सौवीरकेण वा ॥ १६ ॥

पाढी, मूर्वा, नागरमोथा, चिरायता, देवदारु, सोंठ, कलिङ्गक (इन्द्रयव), सारिवा, गुडूची तथा तिक्ता (कटुकी) इन द्रव्यों का क्वाथ स्तन्य (दूध) को शोधन करनेवाला है ॥ १६ ॥

विदारिकन्दं सुरया पिबेद्वा स्तन्यवर्धनम्।
हरिद्रादि वचादिं वा पिबेत्स्तन्यविवृद्धये ॥ १७ ॥

वनकपास, तथा ईख का मूल सौवीरक (काञ्जी विशेष) के साथ या विदारीकन्द मदिरा के साथ पान करे यह योग प्रसूता स्त्रियों के दूध को बढ़ाने वाला है। अथवा हरिद्रादि क्वाथ या वचादि क्वाथ दूध बढ़ाने के लिये प्रसूता स्त्री पान करे ॥ १७ ॥

क्षीरवृद्धिकराः कतिपययोगाः—

कलम्बुकरसोपेतं सम्यक्तैलं विपाचयेत्।
तद्वक्त्रेणोद्धरेन्नारी क्षीरसंजननं परम् ॥ १८ ॥

दूध को बढ़ानेवाले कुछ योग—कलम्बुक (कलम्बी—करेमुआ का शाक) का रस मिलाकर तैल अच्छी तरह सिद्ध करे और उस तैल को प्रसूता स्त्री मुख से धारण करे। यह योग दूध को अच्छी तरह उत्पन्न करनेवाला है ॥ १८ ॥

क्षीरान्नादा पिबेत्क्षीरं सविडङ्गैस्तु साधितम्।
क्षीरसजननं नारी प्रयत्नेन दिनत्रयम् ॥ १९ ॥

दूध भात को खानेवाली स्त्री वायविडग से सिद्ध किया हुआ दूध तीन दिन तक प्रयत्नपूर्वक पान करे। यह योग दूध को उत्पन्न करनेवाला है ॥ १९ ॥

विदारीं भक्षयित्वा च सुजीर्णे प्रमदा ऽयहम् ।
क्षीरेणान्नं समश्नीयात्सम्यक्क्षीरविवृद्धये ॥ २० ॥

प्रसुता स्त्री विदारीकन्द के चूर्ण को खाकर पचजाने पर अच्छी तरह दूध को बढ़ाने के लिये तीन दिन तक दूध भात भक्षण करे ॥ २० ॥

शालिचूर्णं तु संपीतं क्षीरेण दिवसत्रयम् ।
क्षीरान्नाभिरतानां च नारीणां क्षीरदं स्मृतम् ॥ २१ ॥

जड़हन धान के चावल का चूर्ण दूध के साथ तीन दिन तक पान करने से दूध भात को खानेवाली औरतों के दूध को बढ़ानेवाला है ॥ २१ ॥

शालिषष्टिकदर्भेक्षुकुशकासनलेत्कटम् ।
गुन्द्रेक्षुवालिकामूलं दर्शते स्तन्यवर्धनाः ॥ २२ ॥

जड़हन धान, साठी धान, दर्भ, गन्ना, कुश, कास, नल, इत्कट (तृण विशेष), गुन्द्रा (गोदपटेल), तथा इक्षुवालिका (गन्ना विशेष) इन द्रव्यों के मूल सेवन करने से ये दश द्रव्य दूध को बढ़ानेवाले हैं ॥ २२ ॥

स्तनरोगचिकित्सा—

अपत्यनाशप्रभवां निहन्ति स्तन्यव्यथामाशु कृते प्रलेपे ।
स्त्रीणां हरिद्रासहितं कुमारीमूलं विशालाप्रभवं कदाचित् ॥ २३ ॥

स्तनरोग की चिकित्सा—हल्दी के साथ घृतकुमारी की जड़ पीसकर लेप करने से या कभी २ इन्द्रायण का मूल भी पीसकर लेप करने से शिशु के मर जाने से उत्पन्न स्त्रियों की स्तन व्यथा को शीघ्र ही दूर करता है ॥ २३ ॥

शोफं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्या-
द्यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् ।
आमे विदह्यति तथैव गते च पाकं
धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत ॥ २४ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
स्तनरोगाधिकारोऽष्टमः ॥ ८ ॥

वैद्य स्तन में उत्पन्न शोथ को देखकर विद्रधिरोग प्रकरण में जो-जो अनेक प्रकार के विधान (योग क्रिया) बताये गये हैं उनको करे । अपरिपक्वावस्था में दाह होने पर तथा पक जानेपर धात्री के स्तनों को निरन्तर दूहता रहे । अर्थात् उसके दूध को बराबर निकालता रहे । (अन्यथा तनाव बढ़कर अत्यधिक पीड़ा होने लगती है) ॥ २४ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के षष्ठ कौमार तन्त्र खण्ड में
आठवां स्तन्यरोगाधिकार समाप्त ।

अथ योनिगाढीकरणाधिकारो नवमः।

अथातो योनिगाढीकरणसौभाग्यविकाशचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

योनिशैथिल्यहराः कतिपययोगाः—

तुम्बीपत्रं च रोध्रं च समभागानि कारयेत्।
दद्याल्लेपं भगस्येदं प्रसूता ह्यक्षता भवेत् ॥ १ ॥

स्तन्य चिकित्सा के बाद योनि गाढ़ीकरण तथा सौभाग्य विकाश की चिकित्सा कहते हैं।

योनि की शिथिलता को दूर करनेवाले कुछ योग—कड़वीलौकी का पत्ता, तथा लोध दोनों को सम भाग लेकर जल के साथ पीसकर भग (योनि) के ऊपर लेप लगावे। यह लेप प्रसूतास्त्री की योनि को अक्षत (स्वस्थ) बना देता है ॥ १ ॥

वेतसस्य तु मूलानि क्काथयेन्मृदुनाऽग्निना।
भगः प्रक्षालितस्तेन गाढत्वमुपगच्छति ॥ २ ॥

वेंतस का मूल मन्द आंच से क्काथ करे और उससे प्रसूता के भग का प्रक्षालन करे। इस प्रकार प्रक्षालन करने से भग गाढ़ा (शिथिलतारहित) हो जाता है ॥ २ ॥

सौराष्ट्री खादिरं चूर्णं क्काथयेन्मृदुनाऽग्निना।
योनिः प्रक्षालिता तेन गाढत्वं याति निश्चितम् ॥ ३ ॥

सौराष्ट्री (गोपीचन्दन) तथा खैर का चूर्ण इन दोनों द्रव्यों को मन्द आंच से क्काथ बनावे। उस क्काथ से प्रक्षालन करने पर योनि अवश्य ही गाढ़ी हो जाती है ॥ ३ ॥

मातृवाहकचूर्णेन भगमालेपयेत् सदा।
मैथुनानि निषेवेत पुनः कन्या भविष्यति ॥ ४ ॥

मातृ[1]वाहक (ग्वालिन) के चूर्ण का हमेशा भग के ऊपर लेप लगाता रहे और मैथुन का सेवन करे। इस योग से स्त्री पुनः कन्या की तरह गाढ़ योनि-वाली हो जाती है ॥ ४ ॥

वचा नीलोत्पलं कुष्ठं मरिचानि तथैव च।
अश्वगन्धा हरिद्रा च गाढीकरणमुत्तमम् ॥ ५ ॥

---

१ वर्षाकाल में जो लम्बा-लम्बा (लगभग आधा इञ्च का) लाल वर्ण का कीट होता है जो एक दूसरे के ऊपर चढ़ा रहता है उसको मातृवाहक या ग्वालिन कहते हैं।

वच, नीलकमल, कूठ, मरिच, अश्वगन्धा तथा हल्दी इन द्रव्यों का लेप योनि को अच्छी तरह गाढा (शिथिलतारहित) करनेवाला है ॥ ५ ॥

पलाशोदुम्बरफल तिलकल्कसमन्वितम् ।
मधुना योनिमालिप्य गाढीकरणमुत्तमम् ॥ ६ ॥

पलास तथा गूलर के फल का कल्क तथा तिल कल्क मधु के साथ मिलाकर योनि को आलेप करने से योनि की शिथिलता (ढीलापन) दूर हो जाती है ॥ ६ ॥

पयसा सनालमब्जं पिष्ट्वा स्मरसदनमध्यनिक्षिप्तम् ।
हरिणीमिति करिणीमपि कुरुते स्मरसमरसुखहेतुम् ॥ ७ ॥

नाल सहित कमल को दूध के साथ पीसकर स्मर सदन (भग) के मध्य में रखने से कामदेव के युद्ध रूपी सुख के लिये हरिणी भी करणी (हस्तिनी) हो जाती है । अर्थात् रत शैथिल्या स्त्री भी रमण करने में तथा पुरुष को मैथुन जन्य सुख देने में समर्थ हो जाती है ॥ ७ ॥

वरटीगृहगण्डूपदवृषगोपानां चूर्णमेकैकम् ।
गव्यघृततक्रयोगात्संकोचयति स्मरागारम् ॥ ८ ॥

वरटी (वर्रे हाड़ी,) गृहगण्डूपद (केंचुवा) तथा वृष गोप (ग्वालिन) इनमें से एक एक का चूर्ण गाय का घृत तथा तक्र में मिलाकर योनि में लेप करने से स्मरागार (भग) को संकुचित करता है ॥ ८ ॥

रजनीद्वयराजीवोद्भवकेसरदेवदारुभिर्लेपः ।
मन्मथवेश्मनि निहितः करोति सङ्कोचसौभाग्ये ॥ ९ ॥

हल्दी, दारुहल्दी, राजीवोद्भव केशर (कमल का पराग) तथा देवदारु इन द्रव्यों के कल्क का लेप मन्मथ वेश्म (भग) में रखने से भग को संकुचित तथा सुभग (मनोरम भग) बनाता है ॥ ९ ॥

मदयन्तिकाश्वगन्धामोचरसैः साधितं जलं स्त्रीणाम् ।
प्रक्षालनेन योनेः सद्यः शैथिल्यमपहरति ॥ १० ॥

मदयन्तिका (मेंहदी), अश्वगन्धा तथा मोचरस (सेमर का गोंद) इन द्रव्यों के साथ पकाये हुये जल से स्त्रियों की योनि को प्रक्षालन करने से योनि की शिथिलता को शीघ्र ही दूर करता है ॥ १० ॥

सूर्यांशुतप्तवार्ताकरसो भेकवसान्वितः ।
वन्यारट्वसायुक्तो योनेर्लेपाच्छ्लथत्वनुत् ॥ ११ ॥

सूर्य की किरणों से तपाया हुआ वनभटा का रस भेक (मेढक) की वसा तथा वन्यारटु (जंगली सूअर) की वसा मिलाकर लेप करने से भग की शिथिलता को दूर करता है ॥ ११ ॥

संयोजितं चम्पकपल्लवेन जातीप्रसूनैर्मधुकान्वितैश्च ।
सूर्यांशुतप्तं घृतमङ्गनानामभ्यङ्गतो हन्ति वराङ्गगन्धम् ॥ १२ ॥

चम्पक (चम्पा नामक पुष्पवृक्ष) का पत्ता, चमेली का फूल तथा मुलेठी इन द्रव्यों का कल्क मिलाकर सूर्य की धूप में पकाया हुआ घृत भग में अभ्यंग करने से स्त्रियों के वराङ्ग (भग) के दुर्गन्ध को नाश करता है ॥ १२ ॥

मृणालपद्मोत्पलबीजयुक्तं तैलं तथोशीरयुतं च पक्वम् ।
पैच्छिल्यशैथिल्यविगन्धतादिनाशं करोति स्मरमन्दिरस्य ॥ १३ ॥

मृणाल (कमल का नाल), पद्मकाठ तथा नीलकमल का बीज (कमल-गट्टा) एवं खस—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल निर्माण विधि के अनुसार) पकाया हुआ तैल लेप करने से स्मर मन्दिर (भग) की पिच्छिलता (चिपचिपापन), शिथिलता तथा दुर्गन्धिता को नाश करता है ॥ १३ ॥

प्रक्षालितं तु बहुशः पिचुमन्दतोयै-
र्निम्बत्वचा तदनु निर्मितधूपकार्यम् ।
स्त्रीणां नितम्बकुहरं प्रविमुक्तगन्ध
पैच्छिल्यदोषरहितं च भवेत्प्रगाढम् ॥ १४ ॥

स्त्रियों का नितम्ब कुहर (गुदा एवं भग) पिचुमन्द (निम्ब) के क्वाथ के द्वारा अनेक बार प्रक्षालन करने से तथा उसकी छाल का धूप देने से दुर्गन्ध से मुक्त तथा पिच्छिलता दोष से रहित होकर गाढ़ (शिथिलता से रहित) हो जाता है ॥ १४ ॥

कस्तूरीघनसारकुङ्कुमनखैर्लाक्षातुरुष्कान्वितैः
श्रीखण्डागुरुकुष्ठमाक्षिकयुतैर्धूपो वराङ्गे कृतः ।
स्त्रीणां हन्ति विगन्धतां वितनुते सौगन्ध्यमत्युत्तमं
सौभाग्यं कुरुते मृदुत्वमसमं धत्ते तनोति श्रियम् ॥ १५ ॥

कस्तूरी, घनसार (कर्पूर), कुंकुम, नख (नखी सुगन्धित द्रव्य विशेष), लाख, तुरुष्क (लोहबान), मलयगिरि चन्दन, अगर, कूठ तथा मधु या मोम इन द्रव्यों का धूप वरांग (भग) में देने से स्त्रियों के भग की दुर्गन्धिता को नाश करता है, उत्तम सुगन्धिता को फैलाता है, योनि को मनोरम बनाता है, अत्यधिक मुलायम बनाता है तथा सुन्दरता को बढ़ाता है ॥ १५ ॥

घृतमधुसैन्धवलेपादपि हरिणीनां च तरुणीनाम् ।
बालानामबलानां विशालतां याति रतिनिलय ॥ १६ ॥

घृत, मधु तथा सेन्धानमक का लेप करने से हरिणी, तरुणी, बालिका तथा दुर्बला स्त्रियों का रति निलय (भग) विशाल (बड़ा छिद्रवाला) हो जाता है ॥ १६ ॥

मायाफलैर्घनसारपुष्पसारान्वितैर्लेपितमादरेण ।
तद्वृद्धभावेऽपि वलीविमुक्तं स्त्रीणां वराङ्गं श्लथतां न याति ॥ १७ ॥

माया फल (माजू फल) घनसार (कर्पूर) तथा पुष्पसार (मधु) इन द्रव्यों को मिलाकर अच्छी तरह लेप करने से वृद्धावस्था में भी स्त्रियों का वराङ्ग (भग) वलि विमुक्त झूरी पड़ने से रहित 'सिकुड़न रहित' होकर शिथिल नहीं होती है ॥ १७ ॥

या प्रदोषसमये मधुमिश्रं बीजपूरकदलोद्भवचूर्णम् ।
स्वादयत्युपहता न भवेत्सा पूत्यधःपवननिर्गमवेगैः ॥ १८ ॥

इति श्री वैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
योनिगाढीकरणसौभाग्यविकाशचिकित्सिता-
धिकारो नवमः ॥ ९ ॥

जो स्त्री प्रदोष समय (सायंकाल) में बिजौरानीम्बू के पत्ते का चूर्ण मधु मिलाकर स्वाद लेती है यानी भक्षण करती है वह (रतिकाल में) दुर्गन्धयुक्त अपान वायु के निकलने वाले वेग से उपहता (शिथिल) नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के कौमारतन्त्र खण्ड में योनिगाढीकरण तथा सौभाग्य विकाश की चिकित्सा समाप्त ।

अथ योनिनिर्लोमीकरणाधिकारो दशमः ।

अथातो योनिनिर्लोमीकरणचिकित्सित व्याख्यास्यामः ।

लोमशातनाः कतिपययोगाः—

गोदन्तं शङ्खचूर्णं क्षारेण युत पलाशवृक्षस्य ।
हरति जलेन तु पिष्टं प्रलेपनं योनिलोमानि ॥ १ ॥

योनिगाढ़ीकरण चिकित्सा के बाद योनिनिर्लोमीकरण चिकित्सा कहते हैं। योनिसमीपस्थ बाल गिराने वाले कुछ योग—गोदन्त (हरिताल) तथा शंख का चूर्ण पलास वृक्ष के छाल का क्षार मिलाकर जल के साथ पीसकर लेप करने से योनि समीपस्थ बाल गिर जाते हैं ॥ १ ॥

हरितालभागपञ्चकमेको भागः पलाशभूतिभ्यः ।
भागश्च यवक्षारः स्याल्लेपो योनिलोमहरः ॥ २ ॥

हरिताल पाच भाग, पलास का क्षार एक भाग तथा यवक्षार एक भाग इन द्रव्यों का लेप योनि के बालों को दूर करनेवाला है ॥ २ ॥

उत्पाट्य योनिप्रभवाणि रोमाण्यभ्यञ्जन तत्र ततो विधेयम् ।
कोशताकीबीजसमुद्भवेन तैलेन रोम्णामपुनर्भवाय ॥ ३ ॥

योनि के बालों को उखाड़ कर उसके बाद कोशातकी (तरोई) के बीज से उत्पन्न तैल बालों को नष्ट करने के लिये अभ्यञ्जन (लेप) करे ॥ ३ ॥

चूर्णेन हालाहलपुष्पजेन विमिश्रितं सर्षपसंभव यत् ।
तैल स्थित सप्तदिनानि तत्स्यादभ्यञ्जनाल्लोमविनाशकारि ॥ ४ ॥

हलाहल (वत्सनाभ 'मीठाविष') के पुष्प का चूर्ण तथा सरसों का तैल एक में मिलाकर सात दिन तक रक्खे। उसके बाद निकाल कर बालों के ऊपर लेप करे। यह लेप बालों को गिरा देता है ॥ ४ ॥

समभागाद्धरितालादेको भागश्च किंशुकक्षारात् ।
तद्वच्च शङ्खचूर्णादिति शातनमुत्तमं लोम्नाम् ।
अथवोत्पाटनपूर्वं कौसुम्भ तैलमालेपात् ॥ ५ ॥

हरिताल एक भाग, पलास क्षार एक भाग, शख चूर्ण एक भाग, इन द्रव्यों का लेप बालों को गिरा देता है। अथवा बालों को उखाड़ कर कौसम्भ (बर्रे) का तैल लेप करने से बालों को नष्ट कर देता है ॥ ५ ॥

कोशाम्रतैलं ताम्रे तु घर्मे क्षारयुतं धृतम् ।
शिरोलेपेन तत्तैलं कुर्यात्तुम्ब्या समं शिरः ॥ ६ ॥

कोशाम्र (छोटे आम की गुठली) का तैल यवक्षार मिलाकर ताम्र के पात्र

शङ्खाल कृष्णलायुक्त त्र्यूपणार्कस्नुहीपयः।
लिप्तं धौते तु तोयेन समूलं रोमशातनम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे योनिनिर्लोमीकरणाधिकारो दशमः ॥ १० ॥

में रखकर धूप में रक्खे और इस तैल को सिर के ऊपर लेप करे। इस तैल के लेप करने से सिर तुम्बी (लौकी) के समान हो जाता है। अर्थात् बाल गिर जाने से सिर लौकी के समान चिकना हो जाता है। ॥ ६ ॥

शङ्ख चूर्ण, हरिताल, कृष्णला (काकनाची विशेष), त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), मदार का दूध तथा सेहुँड़ का दूध इन द्रव्यों का लेप जल से बालों के स्थान को धोने के बाद लगाने से मूलसहित बालों को गिरा देता है ॥ ७ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह कौमारभृत्य खण्ड में दशवां योनिनिर्लोमीकरणाधिकार समाप्त।

अथ बालरोगाधिकार एकादशः ।

प्रसूतरोग के बाद बालरोग की चिकित्सा कहते हैं ।

अथातो बालरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

बालभेदाः—

त्रिविधा कथिता बालाः क्षीरान्नोभयवर्तिनः ।

स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोगसंभवः ॥ १ ॥

बालक के भेद—बालक तीन प्रकार के बताये गये हैं । दुग्धभोजी, अन्नभोजी तथा क्षीरान्नभोजी । दुग्ध तथा अन्न के निर्दुष्ट रहने पर बालक स्वस्थ रहता है और दूषित होने पर रोग से पीड़ित हो जाता है ।

विमर्श—बालक के क्षीरभोजी अवस्था में जब तक माता का दूध पीता है तब तक माता के खान-पान, रहन-सहन के अनुसार ही क्षीर दूषित होता है और उस क्षीर को पान करने से बच्चा अस्वस्थ हो जाता है । अतः उस अवस्था में बालक के अस्वस्थ होते ही माता के रोग खान-पान आदि के ऊपर ध्यान देना चाहिए तथा माता का दूध छुड़ा देना चाहिए । यदि गाय या बकरी के दुग्ध-पान-काल में बालक अस्वस्थ हो तो उस दूध की शुद्धि के लिये चूर्णोदक (चूना का पानी) मिलाकर पान कराना चाहिए । अन्न-भोजन-काल में अन्न की उचित मात्रा, उसकी स्वच्छता एवं उसकी गुरुता तथा तीक्ष्णता के ऊपर ध्यान देना चाहिए । अन्न का परिपक्व होना तथा मृदु सौम्य-रस युक्त होना बहुत आवश्यक है अन्यथा बालक धीरे-धीरे रोगी होता चला जाता है और बाद में पूर्ण अस्वस्थ हो जाता है ।

विशुद्धक्षीरलक्षणम्—

यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितम् ।

तद्विशुद्ध पयो

विशुद्ध क्षीर का लक्षण—जो दूध जल के साथ मिलकर एक हो जाय और उसमें कोई दोषजन्य विकृति न हो तो वह विशुद्ध दूध कहलाता है ।

वातादिदुष्टक्षीरलक्षणानि—

वातादुदुष्टं तु प्लवतेऽम्भसि ॥ २ ॥

कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत् ।

वातादि दुष्ट क्षीर का लक्षण—वात प्रकोप के कारण दूषित दूध जल में तैरने लगता है और स्वाद म कसैला, फेन युक्त, रूक्ष होता है तथा मल एवं मूत्र को रोकने वाला होता है ।

पित्तादुष्णाम्लकटुकं पीतराज्यप्सु दाहकृत् ॥ ३ ॥

पित्त प्रकोप से दूषित दूध उष्ण, स्वाद में अम्ल एवं कटु रसयुक्त और जल में छोड़ने पर ऊपर पीली लकीरें दिखाई देती हैं तथा यह दाहकारक होता है।

कफात्सलवणं सान्द्रं जले मज्जति पिच्छिलम् ।

कफ से दूषित दूध स्वाद में नमकीन तथा गाढ़ा होता है और जल में डूब जाता है एवं स्पर्श में पिच्छिल (चिपचिपा) होता है।

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ ४ ॥
यथास्वलिङ्गांस्तद्व्याधीञ्जनयत्युपयोजितम् ।

दो दोषों से दूषित होने पर दोनों दोषों के लक्षण मिलते हैं तथा सान्निपातिक होने से तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। ये दूध प्रयोग करने से अपने लक्षण के अनुसार (वात-पित्त-कफ के अनुसार) रोगों को उत्पन्न करते हैं।

विमर्श—वातादि दोष से दूषित दूध पान करने से उसके अनुसार वातकि, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज एवं सान्निपातिक रोग उत्पन्न होते हैं।

बालक [1]वात से दूषित दूध का पान करने से वातिक रोग से पीड़ित हो जाता है। उसका स्वर क्षीण तथा शरीर दुबला हो जाता है, मल-मूत्र तथा अपान वायु का निकलना बन्द हो जाता है।

पित्त दूषित दुग्ध पान से अत्यधिक स्वेद, मलभेद (अतिसार), कामला तथा अन्य पैत्तिक रोगों से पीड़ित हो जाता है। उसे प्यास अधिक लगती है और पूरा शरीर गरम रहता है। कफ से दूषित दुग्ध पीने से बालक को लालास्राव अधिक होता है। वह श्लैष्मिक रोगों से पीड़ित रहता है, निद्रा अधिक आती है। बालक जड़ के सदृश दिखाई देता है उसके मुख तथा नेत्र शोथ युक्त हो जाते हैं और बार-बार वमन करने की प्रवृत्ति होती है। दो दोषों से दुष्ट दूध को पीने से दो दोषों के तथा त्रिदोष दूषित दूध पीने से तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

---

१. वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः ।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्धविण्मूत्रमारुतः ॥
स्विन्नः भिन्नमलो बालः कामला पित्तरोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥
कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥
द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ॥

बालानां रोगज्ञानोपायाः—

शिशोस्तीक्ष्णामतीक्ष्णां वा रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥ ५ ॥
स यं स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥ ६ ॥
हृदि जिह्वौष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडनैः ।
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः ॥ ७ ॥
आध्मानपृष्ठनमनजठरान्नमनैरपि ।
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसङ्गत्रासाङ्गवीक्षणैः ॥ ८ ॥

बालकों के रोग जानने का उपाय—बालकों के रोने के अनुसार उनकी तीव्र वेदना या मन्द वेदना का अनुमान करना चाहिए। (तीव्र वेदना होने पर अधिक रोना तथा मन्द वेदना होने पर थोड़ा रोना निर्देशक होता है)। वह जिस स्थान को बार-बार स्पर्श करता है अथवा जहाँ स्पर्श करने से पीड़ा होती है वही पीड़ा होने का स्थान समझना चाहिए। यदि बालक अपनी आँखों को प्रायः बन्द रक्खे तो शिरःशूल रोग का अनुमान करना चाहिए। यदि जिह्वा तथा ओष्ठ को दांतों से काटता हो अधिक श्वास लेता हो तथा मुट्ठी बांधता हो तो समझना चाहिए कि हृदय में पीड़ा है। यदि विबन्ध, वमन, स्तन को काटने की प्रवृत्ति, आन्त्र की गुड़गुड़ाहट, आध्मान (पेट में वायु का भर जाना), पीठ तथा उदर को झुकाने की प्रवृत्ति देखी जाय तो कोष्ठगत पीड़ा या विकार का अनुमान करना चाहिए। मल-मूत्र का रुक जाना, भय, अपने अंग को देखने की प्रवृत्ति (इधर-उधर अपने अंग को देखकर चौंकना) से बस्ति तथा गुह्य प्रदेश (गुदा मूत्रेन्द्रिय आदि) में पीड़ा हो रही है ऐसे समझना चाहिए ॥ ५–८ ॥

विमर्श—बच्चों को रोने की प्रवृत्ति होती है उसके अनुसार कोई अधिक रोते हैं और कोई कुछ कम रोते हैं। स्वभाव से अधिक रोने पर रोग का अनुमान लगाना चाहिए। क्योंकि बालक स्वभाव से अधिक तभी रोता है जब कि अपनी वेदना को बताना होता है। यदि कम वेदना हुई तो कम रोता है और अधिक वेदना हुई तो अधिक रोता है।

शरीर के किसी स्थानविशेष पर पीड़ा होने पर वहाँ की मांसपेशियां संकुचित होती हैं और हाथ बार-बार वहाँ पहुँच जाता है। आँख में पीड़ा होने पर पलक बन्द हो जाती है और हाथ अपनेआप वहाँ पहुंच जाता है। यह प्रत्येक मनुष्य के लिये स्वाभाविक होता है। इसी के अनुसार बालक जिस स्थान को स्पर्श करता हो तो अनुमान लगाना चाहिए कि उस स्थान पर किसी न

किसी प्रकार की वेदना है और उसी के अनुसार उसका उपचार करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने भी स्पष्ट लिखा है कि—

'अङ्गप्रत्यङ्ग देशे तु रुजायस्यास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति॥'

अर्थात् जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है बालक उसको बार-बार स्पर्श करता है और स्पर्श करने पर रोता है। सिर में पीड़ा होने पर बालक आंखों को बन्द कर लेता है और सिर को स्थिर नहीं रख पाता, बिछावन पर ढुलका रहता है या सिर कम्पनयुक्त रहता है तथा निद्रा नहीं आती है। इसका विशेष वर्णन सुश्रुत एवं काश्यपसंहिता आदि में मिलता है।

वातिकस्तन्यदोषचिकित्सा—

अथ धात्र्याः क्रियां कुर्याद्यथादोषं यथामयम्।
तत्र वातात्मके स्तन्ये दशमूलं त्र्यहं पिबेत्॥ ९॥

वातिक स्तन्य दोष की चिकित्सा—बालक के पीड़ित होने पर वात आदि दोष के अनुसार तथा रोग के अनुसार धात्री (धाय या माता) का उपचार करना चाहिए। यदि बालक में वातजन्य स्तन्य दुष्टि के लक्षण मिलते हों तो धाय दशमूल (बेल का छाल, गम्भारी, पाढ़ल, अरलू, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) का क्वाथ तीन दिन तक पान करे।

अथवाऽग्निवचापाठाकटुकाकुष्ठदीप्यकम्।
सभार्गीदारुसरलवृश्चिकालीकणोषणम्॥ १०॥
ततः पिबेदन्यतमं वातव्याधिहरं घृतम्।

अथवा चित्रक, वच, पाढ़ी, कुटकी, कूठ, अजवायन, भार्गी (भांङ्गरा), देवदारु, सरल (चीढ़), वृश्चिकाली (काकड़ासिंघी), कणा (पीपर), उषण (पिपरामूल) इन द्रव्यों का क्वाथ पान करे और इसके बाद किसी वातव्याधिनाशक घृत को पान करे।

रास्नाजमोदासरलदेवदारुवचान्वितम्॥ ११॥
बालो लिह्याद्घृतं तैर्वा विपक्वं ससितोपलम्।

रासन, अजवायन, चीढ़, देवदारु तथा वच इन द्रव्यों का महीन चूर्ण घृत मिलाकर बालक को चटाये अथवा इन द्रव्यों के साथ घृत पकाकर और मिश्री मिलाकर बालक को चटाये।

पैत्तिकस्तन्यदोषचिकित्सा—

पित्तदुष्टेऽमृताभीरुपटोलीनिम्बचन्दनम्॥ १२॥
धात्री कुमारश्च पिबेत्क्वाथयित्वा ससारिवम्।
अथवा त्रिफलां मुस्तां भूनिम्बं कटुरोहिणीम्॥ १३॥

सारिवादिं पटोलादि पद्मकादिं तथा गणम् ।
घृतान्येभिश्च सिद्धानि पित्तघ्नं च विरेचनम् ॥ १४ ॥
शीतांश्चाभ्यङ्गलेहादीन् युञ्ज्यात्

पैत्तिक स्तन्य दोष की चिकित्सा—पित्तविकृति के कारण स्तन्य (दूध) दूषित होने पर अमृता (गुडूची), अभीरु (शतावरी) परवल, निम्ब, चन्दन, आंवला, कुमार (वरुण) का छाल तथा सरिवा समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ पान करे। अथवा—त्रिफला (हर्रे, वहेड़ा, आंवला), नागरमोथा, चिरायता, कुटकी, सारिवादिगण[1] पटोलादिगण[2] तथा पद्मकादिगण[3] की औषधों के कल्क तथा क्वाथ के साथ (घृत के चौगुना क्वाथ तथा घृत के चौथाई कल्क लेकर घृत निर्माण विधि के अनुसार) सिद्ध घृत पान कराये और पित्तनाशक विरेचन का प्रयोग करे। इसके अतिरिक्त शीतल अभ्यङ्ग एवं शीतल अवलेह का प्रयोग करे।

श्लैष्मिकस्तन्यदोषचिकित्सा—

श्लेष्मात्मके पुनः ।
यष्ट्याह्वसैन्धवयुतं कुमारं पाययेद्घृतम् ॥ १५ ॥
सिन्धूत्थपिप्पलीयुतैः पिष्टैः क्षौद्रयुतैरथ ।

श्लैष्मिक स्तन्य दोष की चिकित्सा—श्लेष्मजन्य स्तन्य दुष्टि में—मुलेठी, सेन्धानमक तथा कुमार (वरुण) का छाल—इन द्रव्यों से सिद्ध घृत (घृत निर्माण विधि के अनुसार) पान कराये। अथवा सेन्धानमक तथा पीपर को पीसकर तथा मधु मिलाकर चटाये।

राठपुष्पैः स्तनौ लिम्पेच्छिशोश्च दशनच्छदौ ॥ १६ ॥
सुखमेवं वमेद्बालस्तीक्ष्णैर्धात्री तु वामयेत् ।
अथवाऽतिविषामुस्तषड्ग्रन्थापञ्चकोलकम् ॥ १७ ॥

---

१. सारिवोशीरकाश्मर्यं मधूक शिशिर द्वयम् ।
षष्ठीपरूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड् ज्वरान् ।

'सारिवा, खस, गम्भारी महुआ, सफेद चन्दन, रक्तचन्दन, मुलेठी, फालसा।

२. पटोलादि गण—परवल, चन्दन, कुचन्दन, मूर्वा, गुडूची, पाढ़ी तथा कुटकी।

३. पद्मक पुण्ड्रौ वृद्धि तुगर्द्ध्यः श्रृङ्ग्यमृता दशजीवन संज्ञाः ।
स्तन्यकराः घ्नतीरणपित्तं प्रीणनजीवन बृंहण वृष्याः ॥

पद्मक, सफेद कमल, वृद्धि, वंशलोचन, ऋद्धिः, काकड़ासिंगी, गुडूची, तथा जीवनीयगण।

राठ (मदनफल) के फूल को पीसकर स्तनों के ऊपर लेप करे तथा बालक के ओठों के ऊपर भी लेप करे। इस लेप से बालक सुखपूर्वक वमन करता है। धाय को तीक्ष्ण वामक द्रव्यों से वमन कराये। या अतीस, नागरमोथा, पड्ग्रन्था (वच) तथा पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य चित्रक, सोंठ) इन द्रव्यों का चूर्ण मधु मिलाकर चटाये ॥ १५-१७ ॥

क्षीरालसकलक्षणम्—

स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्।
विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ १८ ॥
शकृन्नानाव्यथाकीर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम्।
ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ १९ ॥
अङ्गमर्दोऽङ्गविक्षेपः क्वणनं वेपथुर्भ्रमः।
घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायन्तेऽन्येऽपि तद्गदाः ॥ २० ॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं घातिदारुणः।

क्षीरालसक का लक्षण—त्रिदोष से दूषित दूध के पीने से बालक दुर्गन्धयुक्त, आमयुक्त, जल के समान पतला, विबद्ध (गांठदार), स्वच्छ, फटा हुआ, झागदार तथा अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त एवं अनेक वर्ण वाला मल त्याग करता है। मूत्र पीला, सफेद तथा गाढ़ा होता है। उसके साथ ज्वर, अरुचि, प्यास, वमन, शुष्कोद्गार, जम्भाई विभिन्न अङ्गों में वेदना (अङ्ग-मर्द = बदन टूटना) शरीर के अवयवों में विक्षेप (हाथ-पैर फेकना, विछावन पटकना आदि), वेदना, उदर में गुड़गुड़ाहट, कम्प, चक्कर आना, नासिका, आँख तथा मुख का पाक और अन्य अनेक लक्षण होते हैं। इस भयंकर एवं घातकरोग को क्षीरालसक कहते हैं।

विमर्श—पाश्चात्यवर्णित शैशव यकृद्दाल्युदर (Infantile cirrhosis) रोग में भी प्राय. क्षीरालसक के लक्षण तथा उपद्रव मिलते हैं। अन्य लक्षणों के साथ इसमें यकृत् की वृद्धि प्रधानतया होती है। अधिक रोगियों में प्लीहा-वृद्धि भी होती है। इसके अतिरिक्त पाण्डुता, रक्तवमन, रक्त, पित्त, कामला, सर्वाङ्गशोथ, जलोदर आदि रोग उपद्रव स्वरूप होते हैं और मृत्यु हो जाती है।

दुग्ध के दोष से उत्पन्न होनेवाला नेत्र वर्त्मगत बालकों का एक रोग होता है जिसे [1]'कुकूणक' (कोथ) कहते हैं। इस रोग के होने पर नेत्र में अत्यधिक

---

१. कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामक्षि वर्त्मनि।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डुरं च स्रवेन्मुहुः ॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम्।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥

खुजली तथा स्राव होता है। बालक ललाट, नेत्रगुहा, तथा नाक को बार-बार घर्षण करता है। वह सूर्य की किरणों की तरफ नहीं देख सकता और उसके नेत्रवर्त्म भी बन्द हो जाते हैं।

[1]वाग्भट इस रोग को दन्तोत्पत्तिकाल में उत्पन्न होनेवाला नेत्रवर्त्मगत विकृति मानते हैं। आचार्य [2]सुश्रुत इसको दुग्ध दुष्टिजन्य मानकर वातिक आदि चार भेद मानते हैं।

[3]कश्यप संहिता में भी यह दूषित दुग्धजन्य ही माना गया है। इसमें मधुर पदार्थ, मांस, मदिरा, कांजी, दधि तथा अन्य अभिष्यन्दि पदार्थों के सेवन करने से तथा दिन में सोने वाली माता के दूध का प्रकुपित दोष दुष्ट बना देते हैं। और इस दूध को पान करने से बालकों को यह रोग होता है।

इस रोग में [4]अत्यधिक अश्रुस्राव, ललाट तथा आंखों का घर्षण, ललाट-प्रदेश में कण्डू, प्रकाश सन्त्रास, पलकों में शोथ तथा छींक न आना ये विशेष

---

१. कुकूणको हि बालानां दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः ॥ वाग्भट ॥

२. स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः।

३. यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते।
मत्स्य मांसं पयः शाकं नवनीत तथा दधि ॥
सुरासवपिष्टमयं तिलपिष्टाम्लकाञ्जिकम् ।
अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले काले निषेवते ॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा शेते विसंज्ञा च विबुध्यते।
तस्य दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते ॥
दोषेणावृतमार्गायास्ततः स्तन्यं च दूष्यते।
प्रदुष्टदोषसङ्ग तु यदा पिबति दारकः ॥
लवणाम्लनिषेवित्वान्माता पुत्रौ रसादिह ।
आहारदोषात्तस्यास्तु बालस्यानच भोजिनः ॥
अनुप्रवेशादाक्षेपादुष्णसत्त्वावनादपि ।
जायते नयनव्याधिः श्लेष्मलोहितसम्भवः ॥ का० सं० ॥

४. अभीक्ष्णमस्र स्रवति नच क्षीवति दुर्मना।
नासिकां परिमृद्नाति कर्णं वांच्छति दुःखितः ॥
ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति।
नेत्रे कण्डूयतेऽभिक्ष्ण पाणिनाचाप्यतीव तु ॥
स प्रकाशं न सहते अश्रुचास्य प्रवर्तते ।
वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुकूणकम् ॥

लक्षण होते हैं। इन लक्षणों के अनुसार इस रोग को पोथकी (जिसका वर्णन नेत्ररोग प्रकरण में किया जा चुका है) व्यावहारिक भाषा में 'कोथ या खुथुवा' कहते हैं। इसके अतिरिक्त गर्भिणी माता के दूध पीने से बालकों में एक रोग होता है जिसे पारिगर्भिक कहते हैं। इसमें प्रायः बालकों को खांसी आती है, मन्दाग्नि, वमन, तन्द्रा, दुर्वलता, अरुचि, चक्कर आना तथा उदर की वृद्धि हो जाती है। इसमें अग्निवर्द्धक पदार्थों का सेवन कराना चाहिए।

क्षीरालसकचिकित्सा—

तत्राशु धात्री बालं च वमनेनोपपादयेत् ॥ २१ ॥
विहितायां च संसर्ग्यां वचादिं योजयेद्गणम्।

क्षीरालसक की चिकित्सा—क्षीरालसक नामक बालरोग में शीघ्र ही धाय तथा बालक दोनों को वमन कराये। संसर्गी होने पर [1]वचादि गण के क्वाथ को वमनार्थ प्रयोग करे।

पाठाशुण्ठ्यमृताधात्रीतिक्तादेवाह्वसारिवाः ॥ २२ ॥
समुस्तमूर्वेन्द्रयवाः स्तन्यदोषहराः परम्।
अनुबन्धे यथाव्याधि प्रतिकुर्वीत कालवित् ॥ २३ ॥

पाठा, सोंठ, गुडूची, आंवला, कुटकी, देवदारु, सारिवा, नागरमोथा, मूर्वा, (मड़ोरफली या मोरवेल) तथा इन्द्रयव ये दूध के दोषों को दूर करनेवाले हैं (इन द्रव्यों का क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग करें)। दोषों के संबन्ध के अनुसार प्रयोग तथा काल को जाननेवाला वैद्य व्याधि के अनुसार प्रतिकार करे। अर्थात् वातजन्य व्याधि में वातनाशक औषध, पैत्तिक व्यधि में पित्तनाशक तथा श्लैष्मिक में श्लेष्मनाशक उपचार करे ॥ २१–२३ ॥

दन्तोद्भेदजन्या रोगाः—

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्।
विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दिरुजारुजाम् ॥ २४ ॥
अभिष्यन्दस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते।

दन्तोद्भेद जन्य रोग—बालकों के सभी रोगों का कारण दन्तोद्भेद (पहले पहल दांतों की उत्पत्ति) होता है विशेषकर दन्तोद्भेद, ज्वर, विड्भेद (पतला दस्त या अतिसार), कास, वमन, पीड़ा, नेत्राभिष्यन्द, पोथकी (पलकगत रोग 'रोहा'), तथा विसर्प (फैलनेवाली फुन्सियां) आदि रोगों का कारण होता है।

---

१. वचादिगण—वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाऽभयाः ॥ ('वच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस, हर्रे')

दृष्टिभङ्गे बिडालानां मयूराणां शिखोद्गमे ॥ २५ ॥
दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किंचिन्न दूयते ।

बिलाव की दृष्टि नष्ट हो जाने पर, मयूर (मोर नामक पक्षिविशेष) की शिखा उग जाने पर तथा बच्चों के दांत निकल आने पर कोई भी ऐसा कारण नहीं रह जाता जो कि कष्ट देनेवाला हो ।

दन्तोद्भेदजन्यरोगचिकित्सा—

यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथावयः ॥ २६ ॥
विभज्य देशकालादींस्तत्र योज्यं भिषग्जितम् ।
य एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च ये ॥ २७ ॥
अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा ह्यस्य कनीयसी ।

दन्तोद्भेद जन्य रोगचिकित्सा—बालकों के दन्तभेदजन्य रोग में वातादि दोष, ज्वरादि रोगों की तीव्रता या मन्दता तथा अवस्था के अनुसार देश (आनूप आदि) एवं काल (ग्रीष्म-वसन्तादि) का विभाजन कर रोगनाशक औषधों का प्रयोग करे । कायचिकित्सा में बताये गये जो दोष और दूष्य तथा ज्वरादि व्याधियां हैं वही बालकों के रोगों में भी होती है अतः उन्हीं औषधों का प्रयोग करना चाहिए । किन्तु इसकी मात्रा अवस्था के अनुसार थोड़ी देनी चाहिए ।

विमर्श—बालकों के लिए कनिष्ठ मात्रा देने का विधान किया गया है उसके सम्बन्ध में विश्वामित्र[1] का वचन है कि बालक के जन्म से एक माह तक विडङ्ग के बराबर औषध दे और प्रत्येक मास में एक-एक विडंग के बराबर बढ़ाता जाय । अर्थात् पहले मास मे एक विडंग के बराबर औषध लेकर महीन पीसकर चूर्ण या कल्क बनाकर अथवा अवलेह बनाकर माता के दूध के साथ दे । इसी प्रकार एक-एक विडंग के बराबर प्रत्येक मास में बढ़ाता जाय ।

अन्य[2] ग्रन्थों में भी बालकों की मात्रा अन्य प्रकार से बताई गई है । बालकों

---

१. विडङ्गफलमानं तु जातमात्रस्य भेषजम् ।
अनेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्द्धयेत् ॥ (भावमिश्रः)

२. प्रथमे मासि बालाय देया भैषज्यरक्तिका ।
अवलेह्या तु कर्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः ॥
एकैकां वर्द्धयेत्तावद्यावत् सम्वत्सरो भवेत् ।
तदूर्ध्वं माष वृद्धिस्याद्यावत् षोडशवत्सरः ॥
ततः स्थिरा भवेत्तावद्यावद् वर्षाणि सप्तति ।
ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनैः ॥
चूर्णकल्कावलेहानामियं मात्रा प्रकीर्तिता ।

को प्रथम मास में एक रत्ती की मात्रा दे और वह औषधि माता का दूध, मधु, मिश्री तथा घृत के साथ दे। इसी प्रकार प्रत्येक महीने में एक-एक रत्ती की मात्रा बढ़ाता जाय और यह क्रम एक वर्ष तक रक्खे। इसके बाद एक वर्ष से लेकर सोलह वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष में एक एक मासा की मात्रा बढ़ाता जाय। यह क्रम सोलह वर्ष से लेकर सत्तर वर्ष पर्यन्त रक्खें। उसके बाद वृद्धों में बालक की मात्रा की तरह एक २ रत्ती कम करते हुए औषध का प्रयोग करे। यह मात्रा चूर्ण, कल्क तथा अवलेह की बताई गई है। यदि क्वाथ बनाकर औषध देना हो तो इसकी मात्रा चौगुनी समझनी चाहिए। दूध पीने वाले बालक को माता का दूध तथा घृत में मिलाकर औषधि खिलाना चाहिए। किन्तु माता को पूर्व निर्देशानुसार ही दवा का प्रयोग करनी चाहिए। *क्षीरान्नभोजी बालक को भी दूध एवं घृत के साथ औषध का प्रयोग करे। सुश्रुत[1] का कथन है कि जिस रोग के लिये जो औषधियाँ बतायी गयी हैं उन औषधों को माता के स्तन पर लेप कर बालक को दूध पिलावे।

बालरोगोपक्रमेषु वमनस्य प्राधान्यम्—

सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नानुपसेवनैः ॥ २८ ॥
स्निग्धा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात्।
सद्यस्तान् वमनं तस्मात्पाययेन्मतिमान्मृदु ॥ २९ ॥
स्तन्येन तृप्तं वमयेत्क्षीरं क्षीरान्नसेविनम्।
प्रीतवन्तं तनुं पेयमन्नादं घृतसंयुतम् ॥ ३० ॥
बस्तिसाध्ये विरेकेण मर्शे च प्रतिमर्शनम्।
युञ्ज्याद्विरेचनादींश्च धात्र्या एव यथोदितान् ॥ ३१ ॥

बालरोगों के उपचार में वमन को प्रधानता—बालक सुकुमार तथा छोटे शरीर वाले होने के कारण सभी अन्नों को नहीं खाते। वे केवल दूध तथा घृत सेवन करने से सदा स्निग्ध होते हैं। अतः बुद्धिमान् वैद्य बालकों को मृदु वमन (मृदु वामक औषध) को पान कराये। दूध पान करने वाले बालकों को अधिक मात्रा में दूध पिलाकर वमन कराये। क्षीरान्नसेवी (दूध तथा अन्न

कषायस्य पुनः सैव विज्ञातव्या चतुर्गुणा ॥
क्षीरपस्य शिशोर्देयमौषधं क्षीरसर्पिषा।
धात्र्यास्तु केवलं देयं न क्षीरेणापि सर्पिषा ॥
(क्षीरान्नादस्य तु पूर्ववत् क्षीरसर्पिषा)

१. येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत्तु शिशुं स्तनौ ॥ (सु० स०)

खाने वाले) बालक को दूध पान करने के बाद पतला पेय पदार्थ को पान कराये तथा अन्न खाने वाले को घृत मिश्रित (वामक) पेय पदार्थ पान कराये। बस्तिकर्म साध्य रोगों में विरेचन से, मर्शसाध्य रोगों में प्रतिमर्शन (प्रतिमर्श नामक नस्यकर्म) के द्वारा विरेचन आदि का प्रयोग करे। धाय तथा माता को प्रसूति तन्त्रोक्त वमन-विरेचनादि का प्रयोग करे ॥ २८-३१ ॥

स्तन्यदोषहरो मूर्वादिलेहः—

मूर्वाव्योषवचाकोलजम्बूत्वग्दारुसर्षपाः।
सपाठा मधुना लीढाः स्तन्यदोषनिबर्हणाः ॥ ३२ ॥

स्तन्य दोष नाशक मूर्वादि लेह—मूर्वा (मड़ोरफली या मोरवेल), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), वच, कोल (वनबेर), जामुन का छाल, देवदारु, सरसो तथा पाढ़ी समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु मिलाकर चाटने से दूध के दोषों को दूर करता है ॥ ३२ ॥

शीघ्रदन्तोद्गमनोपायः—

दन्तपाली समधुना चूर्णेन प्रतिसारयेत्।
पिप्पल्या धातकीपुष्पधात्रीफलकृतेन वा ॥ ३३ ॥
लावतित्तिरिवल्लूररजः पुष्परसान्वितम्।
द्रुतं करोति बालानां दन्तकेसरवन्मुखम् ॥ ३४ ॥
दन्तोद्भेदेषु रोगेषु न बालमतियन्त्रयेत्।
स्वयमप्युपशाम्यन्ति जातदन्तस्य यद्गदाः ॥ ३५ ॥

शीघ्र ही दांत निकालने के उपाय—पीपल तथा धाय के फूल का चूर्ण शहद में मिलाकर उससे बालक के मसूढ़ो को घिसे अथवा शहद मिलाकर आंवला के रस से मसूढ़ों को घिसे। लाव तथा तितिर के सूखे मांस का चूर्ण, पुष्परस (मधु) में मिलाकर घिसने से बालको के दाँतों को शीघ्र ही निकाल देता है और मुख को दन्तरूपी केशर से युक्त कर देता है। दाँत उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों में बालक को दवा आदि खिलाने के लिये अधिक कष्ट न दे। क्योंकि दाँत निकल जाने पर दन्तोद्गमजन्य रोग अपने आप शान्त हो जाते हैं ॥ ३३-३५ ॥

दन्तोद्भेदजन्यरोगे समङ्गादिघृतम्—

समङ्गाधातकीरोध्रकुटन्नटबलाह्वयैः।
महासहाक्षुद्रसहामुद्गबिल्वशलाटुभिः ॥ ३६ ॥
सकार्पासीफलैस्तोये साधितैः साधित घृतम्।
क्षीरमस्तुयुत हन्ति शीघ्र दन्तोद्भवान् गदान् ॥ ३७ ॥
विविधानामयानेतान्वृद्धकाश्यपनिर्मितम्।

दन्तोद्भेदजन्य रोग में समङ्गादि घृत—समङ्गा (मंजीठ), धव का फूल, लोध, कुटन्नट (केवटी मोथा), चरियार, महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), मूंग, बेल शलाटु (बेल का फल) तथा कपास का फल समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ जल में दूध तथा दही का तोड़ मिलाकर सिद्ध किया हुआ घृत (घृत निर्माण विधि के अनुसार घृत के दुगुना जल, समभाग दूध तथा समभाग दही का तोड़ और घृत के चौथाई कल्क लेकर अर्थात घृत एक सेर, कल्क एक पाव, जल दो सेर, दूध एक सेर और दही का तोड़ एक सेर लेकर सिद्ध किया हुआ घृत) सेवन करने से दन्तोद्भेद के कारण उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों को शीघ्र ही नाश करता है। यह वृद्ध कश्यप का बनाया हुआ घृत अनेक प्रकार के रोगों को नाश करता है।

बालानां ज्वरे कतिपययोगाः—

भद्रदारु नतं यष्टी समङ्गा ससितोपला ॥ ३८ ॥
वातज्वरपरीताङ्गः पिबेदन्तरपानकम् ।

बालकों के ज्वर में कुछ योग—देवदारु, तगर, मुलेठी, मंजीठ तथा मिश्री इन द्रव्यों को पीसकर तथा पानक बनाकर वातज्वर से पीड़ित बालक पान करे।

लाजाञ्जनसितावांसीमधुकैः सूक्ष्मचूर्णितैः ॥ ३९ ॥
बालस्य योज्यो मधुना लेहः सर्वज्वरापहः ।

धान का लावा, रसाञ्जन, मिश्री, वांसी (वंशपत्री) तथा मुलेठी इन द्रव्यों को महीन चूर्ण बनाकर मधु मिलाकर बालकों को चटाये। यह अवलेह बालकों के सभी प्रकार के ज्वर को दूर करनेवाला है।

लाजानीलोत्पलकणामधुकाञ्जनशर्कराः ॥ ४० ॥
पित्तज्वरमतीसारं मधुलीढं निवर्तयेत् ।

धान का लावा, नीलकमल, पीपर, मुलेठी, रसाञ्जन तथा शक्कर इन द्रव्यों का महीन चूर्ण मधु के साथ मिलाकर चाटने से पैत्तिक ज्वर तथा अतिसार को दूर करता है ॥ ३८–४० ॥

बालानां ज्वरातिसारे कतिपययोगाः—

लाजाद्विपिप्पलीक्वाथः शर्करामधुसंयुतः ॥ ४१ ॥
पीतो ज्वरमतीसारं तृष्णां छर्दिं च नाशयेत् ।

बालकों के ज्वरातिसार रोग में कुछ योग—धान का लावा, पीपर, तथा गजपीपर इन द्रव्यों का क्वाथ, शक्कर तथा मधु मिलाकर पान करने से बालकों के ज्वर, अतिसार, प्यास तथा वमन को नाश करता है।

हरिद्राद्वययष्ट्याह्वसिंहीशक्रयवैः कृतः ॥ ४२ ॥

शिशोर्ज्वरातिसारघ्नः कषायः स्तन्यदोषजित् ।

हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, मिंढी (अड़ूसा) तथा इन्द्रयव समभाग—इन द्रव्यों का बनाया हुआ कषाय बालकों के ज्वर तथा अतिसार को नाश करता है और दूध के दोषों को जीत लेता है ।

घनकृष्णारुणाशृङ्गीचूर्णं क्षौद्रेण संयुतम् ॥ ४३ ॥
शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं सकासश्वासवम्यान्तिहृत् ।

मोथा, पीपर, अरुणा (अतीस) तथा काकड़ासिंघी समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर चाटने से बालकों के ज्वर तथा अतिसार को नाशकरता है और खांसी, श्वास तृष्णा तथा वमन को दूर करता है ।

धातकीबिल्वधान्याकरोध्रेन्द्रयवबालकैः ।
लेहः क्षौद्रेण बालानां ज्वरातीसारवान्तिहृत् ॥ ४४ ॥

धाय का फूल, बेल, धनिया, लोध, इन्द्रयव तथा सुगन्धवाला समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ चाटने से बालकों के ज्वर, अतिसार तथा वमन को दूर करता है ॥ ४१–४४ ॥

बालानामतिसारे कतिपययोगाः—

बिल्वं च पुष्पाणि च धातकीनां जलं सरोध्रं गजपिप्पली च ।
क्वाथावलेहौ मधुना विमिश्रौ बालेषु योज्यावतिसारितेषु ॥ ४५ ॥

बालकों के अतिसार रोग में कुछ योग—बेल का गूदा, धव का फूल, सुगन्धवाला, लोध तथा गजपीपर इन द्रव्यों का क्वाथ तथा अवलेह मधु मिलाकर बालकों के अतिसार रोग में प्रयोग करे ॥ ४५ ॥

समङ्गाधातकीरोध्रसारिवाभिः शृतं जलम् ।
दुर्धरेऽपि शिशोर्देयमतीसारे समाक्षिकम् ॥ ४६ ॥

मञ्जीठ, धाय का फूल, लोध तथा सरिवा इन द्रव्यों के साथ पकाया हुआ जल (क्वाथ) मधु मिलाकर बालकों के भयंकर अतिसार में भी प्रयोग करे ॥ ४६ ॥

लेहस्तैलसिताक्षौद्रतिलयष्ट्याह्वकल्पितः ।
बालस्य रुन्ध्यान्नियतं रक्तस्रावं प्रवाहिकाम् ॥ ४७ ॥

तिल तथा मुलेठी के चूर्ण तैल, मिश्री एवं मधु मिलाकर बनाया हुआ अवलेह बालक के रक्तस्राव तथा प्रवाहिका को अवश्य ही रोक देता है ॥ ४७ ॥

नागरातिविषामुस्तबालकेन्द्रयवैः शृतम् ।
कुमारं पाययेत्प्रातः सर्वातीसारनाशनम् ॥ ४८ ॥

सोंठ, अतीस, नागरमोथा, सुगन्धवाला तथा इन्द्रयव, समभाग—इन

द्रव्यों का क्वाथ बालक को प्रातःकाल पान कराये। यह सभी प्रकार के अतिसार को नाश करता है॥ ४८॥

कल्कः प्रियङ्गुकोलास्थिमध्यमुस्तरसाञ्जनैः।
क्षौद्रलीढः कुमारस्य छर्दितृष्णातिसारनुत्॥ ४९॥

फूलप्रियङ्गु, वनवैर की गुठली का मध्य भाग (वैर की मींगी), मोथा तथा रसाञ्जन समभाग—इन द्रव्यों का कल्क मधु मिलाकर चाटने से बालक के वमन, प्यास तथा अतिसार को दूर करता है॥ ४९॥

लाजा सयष्टीमधुका शर्करा क्षौद्रमेव च।
तन्दुलोदकसयुक्तं क्षिप्रं हन्ति प्रवाहिकाम्॥ ५०॥

धान का लावा, मुलेठी, जेठी मधु, इन द्रव्यों का चूर्ण शक्कर तथा मधु मिलाकर तन्दुलोदक (चावल का धोवन) के साथ पान करने से प्रवाहिका (आंव) को अवश्य ही नाश करता है॥ ५०॥

बालानां शिरःपीडादौ कपित्थपत्रादिलेपः—

पत्रैः कपित्थचाङ्गेरीबदरीकाकमाचिजैः।
शिरोरुक्छर्द्यतीसारनाशनं मूर्ध्नि लेपनम्॥ ५१॥
शिरोभितापे सघृतैः शिरः शीतैः प्रलेपयेत्।

बालकों के सिर की पीड़ा आदि में कपित्थ फलादि लेप—कैंथ, चांगेरी (लोनीशाक), वैर तथा मकोय इन द्रव्यों के पत्तों के कल्क का लेप लगाने से सिर की पीड़ा, वमन तथा अतिसार को नाश करता है शिर में गर्मी हो तो सिर के ऊपर घृत मिलाकर शीतल लेप लगाये।

बालानां छर्द्यादौ कतिपययोगाः—

आम्रास्थिलाजसिन्धूत्थैर्लेहः क्षौद्रेण छर्दिनुत्॥ ५२॥
मुस्ताञ्जनप्रियंगूणां चूर्णं तन्दुलवारिणा।
तृष्णातिसारवमथून्हन्ति पीतं समाक्षिकम्॥ ५३॥

बालकों के वमन आदि में कुछ योग—आम की गुठली, धान का लावा, तथा सेन्धा नमक मधु के साथ इन द्रव्यों का अवलेह चाटने से वमन को दूर करता है। नागरमोथा, रसाञ्जन तथा फूलप्रियङ्गु समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण, मधु मिलाकर चावल के धोवन के साथ पान करने से बालकों का प्यास, अतिसार तथा वमन को नाश करता है॥ ५२-५३॥

पटोलनिम्बकुटजसप्तपर्ण सदीप्यकम्।
देवदारुविडङ्गानि सरलो माक्षिकं घृतम्॥ ५४॥
लीढं ज्वरमतीसारं कासं पाण्ड्वामयं वमिम्।
हन्याच्च मातृजान्दोषान्रोगानन्यांश्च तद्विधान्॥ ५५॥

परवल, नीम, कुटज (कोरैया का छाल), छतिवन का छाल, अजवायन, देवदारु, वायविडंग तथा सरल वृक्ष (चीड़) का गोंद समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु और घृत मिलाकर चाटने से ज्वर, अतिसार, खांसी, पाण्डुरोग, वमन, मातृजन्य दोष तथा अन्य इसी प्रकार के स्तन्यजन्य बालकों के रोगों को नाश करता है ॥ ५४–५५ ॥

बिल्वपेशी सवरुणा धातकी रोध्रबालकम् ।
हन्ति लीढमतीसारं शिशोः क्षौद्रयुतं द्रुतम् ॥ ५६ ॥

बेल का छाल, वरुण का छाल, धाय का फूल, लोध तथा सुगन्धवाला समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर चाटने से बालक के अतिसार को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ५६ ॥

बालानां नाभिरोगलक्षणं चिकित्सा च—

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुन्दसंज्ञिताम् ।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ५७ ॥

बालकों के नाभिरोग के लक्षण तथा चिकित्सा—वात के द्वारा फूले हुए पीडा सहित नाभि रोग की तुन्द संज्ञा होती है । उस तुन्द नामक नाभि के रोग को वातनाशक स्नेहन, स्वेदन तथा उपनाहन के द्वारा शान्त करे ।

मृत्पिण्डेनाग्नितप्तेन क्षीरसिक्तेन सोष्मणा ।
स्वेदयेदुत्थितां नाभिं शोफस्तेनोपशाम्यति ॥ ५८ ॥

उठी हुई नाभि को मिट्टी के पिण्ड (ढेला) को अग्नि में तपाकर गरम-गरम दूध से सींचकर स्वेदन करे ।

(मिट्टी के गोला को गरम कर ले और उसको गरम दूध में डुबाकर नाभि को सेके इसी प्रकार अनेक बार सेक कर स्वेदन करे) इस प्रकार के स्वेदन से नाभि का शोथ शान्त हो जाता है ।

नाभिपाके निशारोध्रप्रियङ्गुमधुकैः शृतम् ।
तैलमभ्यञ्जने शस्तमेभिर्वाऽप्यवचूर्णनम् ॥ ५९ ॥

नाभिपाक में हल्दी, लोध, प्रियङ्गु तथा मुलेठी इन द्रव्यों के कल्क के साथ पकाया हुआ तैल अभ्यञ्जन करने के लिये प्रशस्त है । अथवा इन्हीं द्रव्यों के चूर्ण से अवचूर्ण (बुरकना) करे ॥ ५७–५९ ॥

बालानां वर्णादिजननार्थं कुष्ठादिलेहः—

कुष्ठं वचाऽभया ब्राह्मी कनकं क्षौद्रसर्पिषा ।
वर्णायुःकान्तिजननं लेहं बालस्य दापयेत् ॥ ६० ॥

बालकों के वर्ण आदि लाने के लिये कुष्ठादि लेह—कूठ, वच, हर्रे, ब्राह्मी, तथा स्वर्णक्षीरी इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत के साथ मिलाकर चाटने से बालकों के वर्ण, आयु तथा शोभा को उत्पन्न करता है ॥ ६० ॥

स्तन्याभावे बालानामन्यदुग्धदानम्—

स्तन्याभावे पयश्छाग गव्यं वा तद्गुण पिबेत् ।

माता का दूध न मिलने पर दूसरा दूध देने का विधान—माता का दूध न मिलने पर बकरी का दूध, गाय का दूध या उसी गुण वाले दूसरे दूध को भी बालक को पान कराये ।

बालानां छर्द्यादौ मिश्यादिलेहः—

मिशिकृष्णाञ्जनैर्लाजश्रृङ्गीमरिचमाक्षिकैः ।
लेह शिशोर्विधातव्यश्छर्दिकासज्वरापहः ॥ ६१ ॥

मिशी (सौंफ), पीपर, रसाञ्जन, धान का लावा, काकड़ासिंघी, मरिच इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु के साथ अवलेह बनाकर चटाये । यह अवलेह बालकों के वमन, खांसी तथा ज्वर को नाश करता है ॥ ६१ ॥

बालानां कासादौ श्रृङ्ग्यादिलेहः—

श्रृङ्गीं सकृष्णातिविषां विचूर्ण्य लेह विदध्यान्मधुना शिशूनाम् ।
कासज्वरच्छर्दिभिरर्दितानां समाक्षिकां चातिविषामथैकाम् ॥ ६२ ॥

बालकों की खांसी आदि में श्रृङ्ग्यादि लेह—काकड़ासिंघी, पीपर, अतीस, इन द्रव्यों के चूर्ण का मधु के साथ अवलेह बनाकर खाँसी, ज्वर तथा वमन से पीड़ित बालकों को चटाये । अथवा केवल अतीस के चूर्ण को मधु मिलाकर बालकों को कास आदि रोगों में चटाये ॥ ६२ ॥

बालानां स्तन्यवान्तिचिकित्सा—

पीतं पीतं वमेद्यस्तु स्तन्यं त मधुसर्पिषा ।
द्विवार्ताकीफलरस पञ्चकोलं च लेहयेत् ॥ ६३ ॥

बालकों के दूध वमनकारक रोग की चिकित्सा—जो बालक दूध पान करने के बाद बार-बार वमन करता है उसको बनभंटा, भटकटैया तथा पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा गाय के घृत के साथ चटाये ॥ ६३ ॥

बालानां रक्तातिसारे मोचरसादियवागूः—

मोचरसः समङ्गा च धातकी पद्मकेसरम् ।
पिष्टैरेतैर्यवागूः स्याद्रक्तातीसारनाशनी ॥ ६४ ॥

बालकों के रक्तातिसार में मोचरसादि यवागू—मोचरस (सेमर का गोंद) मजीठ, धाय का फूल तथा कमल का पराग इन द्रव्यों का यवागू तैयार करे और बालकों को चटाये । यह यवागू बालकों के रक्तातिसार को नाश करता है ॥ ६४ ॥

बालानामतिसारादौ रजन्यादिलेहः—

रजनीदारुसरलश्रेयसीबृहतीद्वयम् ।
पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा ॥ ६५ ॥
ग्रहणीदीपनं श्रेष्ठं मारुतस्यानुलोमनम् ।
अतीसारज्वरश्वासकामलापाण्डुरोगजित् ॥ ६६ ॥
बालानां सर्वरोगेषु पूजितं बलवर्णदम् ।

बालकों के अतिसार आदि में रजन्यादि लेह—हल्दी, देवदारु, चीढ़, श्रेयसी, (हर्रे), वनभटा, भटकटैया, पृश्निपर्णी (पिठवन) तथा सौंफ इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत के साथ चाटने से ग्रहणी को प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है तथा वात का अनुलोमन करता है । यह योग अतिसार, ज्वर, श्वासवृद्धि, कामला तथा पाण्डुरोग को जीत लेता है । बालकों के सभी रोगों में प्रशस्त है और बल तथा वर्ण (कान्ति) को देने वाला है ।

बालानां कासादौ द्राक्षादिलेह—

द्राक्षाविश्वाभयाकृष्णाचूर्णं सक्षौद्रसर्पिषा ॥ ६७ ॥
लीढं कासं निहन्त्याशु श्वासं च तमकं तथा ।

बालकों के कास आदि में द्राक्षादि लेह—मुनक्का, सोंठ, हर्रे तथा पीपर समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण, मधु तथा घृत के साथ (विषम मात्रा में) चाटने से खासी, श्वासवृद्धि तथा तमक श्वास को शीघ्र ही नाश करता है ।

बालानां कासे पुष्करमूलादिलेहः—

पुष्करातिविषाशृङ्गीमागधीधन्वयासकैः ॥ ६८ ॥
चूर्णं तु मधुना लीढं बालानां पञ्चकासजित् ।

बालकों की खासी में पुष्करमूलादि लेह—पुष्करमूल, अतीस, काकड़ासिंघी, पीपर तथा धमासा या 'यवासा' समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ चाटने से बालकों के पाँच प्रकार के कास को जीत लेता है ।

बालानां गुदपाकचिकित्सा—

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत्क्रियाम् ॥ ६९ ॥
रसाञ्जनं विशेषेण पानाभ्यञ्जनयोर्हितम् ।

बालकों के गुदपाक की चिकित्सा—बालकों के गुदपाक में पित्तनाशक (शीतल लेप आदि) क्रिया को करवाये । विशेषकर रसाञ्जन पीने तथा अभ्यञ्जन के लिये हितकर है ।

बालानां मूत्रग्रहे कणादिलेहः—

कणोषणसिताक्षौद्रसूक्ष्मैलासैन्धवैः कृतः ॥ ७० ॥

मूत्रग्रहे प्रयोक्तव्यः शिशूनां लेह उत्तमः।

बालकों के मूत्रग्रह (मूत्रावरोध) में कणादि लेह—कणा (पीपर), उषण (मरिच), छोटी इलायची, तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों के चूर्ण को मिश्री तथा मधु के साथ अवलेह बनाकर चटाये। इस अवलेह को बालकों के मूत्रग्रह (मूत्रावरोध) में प्रयोग करना उत्तम है।

बालानामानाहादौ सैन्धवादिलेहः—

घृतेन सिन्धुविश्वैलाहिङ्गुभार्गीरजो लिहन् ॥ ७१ ॥
आनाहं वातिकं शूलं जयेत्तोयेन वा शिशुः।

बालकों के आनाह आदि रोग में सैन्धवादि लेह—सेन्धानमक, सोंठ, बड़ी इलायची, शु० हिंगु तथा भांगरा इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ चाटने वाला या जल के साथ पान करनेवाला बालक वातजन्य आनाह तथा शूल को जीत लेता है। अर्थात् इस योग का प्रयोग करने से बालक का आनाह (पेट फूलना 'आफरा') तथा शूल नष्ट हो जाता है।

बालाना तालुपाते हरीतक्यादिलेहः—

हरीतकीवचाकुष्ठकल्कं माक्षिकसंयुतम् ॥ ७२ ॥
पीत्वा कुमारः स्तन्येन मुच्यते तालुपातनात्।

बालकों के तालुपात में हरीतक्यादि लेह—हर्रे, वच, तथा कूठ इन द्रव्यों का कल्क मधु मिलाकर दूध के साथ पान कर बालक तालुपात से मुक्त हो जाता है। अर्थात् इस योग का प्रयोग करने से बच्चों का तालुपात नहीं होता है।

बालानां पामादौ गृहधूमादिलेपः—

गृहधूमनिशाकुष्ठराजिकेन्द्रयवैः शिशोः ॥ ७३ ॥
लेपस्तक्रेण हन्त्याशु सिध्मपामाविचर्चिकाः।

बालकों के पामा आदि में गृहधूमादि योग—भोजनालय का धूम हल्दी, कूठ, राई (काला सरसों) तथा इन्द्रयव इन द्रव्यों का मट्ठा के साथ बनाया हुआ लेप लगाने से बालकों के सिध्म (सिहुला), पामा (खुजली) तथा विचर्चिका को शीघ्र ही नाश करता है।

बालाना हिक्कायां पञ्चमूलीक्षीरम्—

पञ्चमूलीकषायेण सघृतेन पयः शृतम् ॥ ७४ ॥
सशृङ्गवेरं सगुडं शीतं हिक्कार्दितः पिबेत्।

बालकों के हिक्का रोग में पञ्चमूली क्षीर—पञ्चमूली (सरिवन, पिठवन, बनभटा, भटकटैया, गोखरू) के कषाय के साथ पकाया हुआ दूध घृत, सोंठ का चूर्ण तथा गुड़ मिलाकर ठढाकर हिक्का (हिचकी) रोग से पीड़ित बालक पान करे।

बालानां गुल्मादौ पथ्यादिघृतम्—

पथ्यासौवर्चलक्षारवेल्लव्योषाग्निहिङ्गुभिः ॥ ७५ ॥
तिक्तया च घृतं सिद्धं समक्षीरं व्यपोहति ।
गुल्मानाहगुदभ्रंशश्वासकासविलम्बिका ॥ ७६ ॥

बालकों के गुल्म आदि रोग में पथ्यादि घृत—पथ्या (हर्रे) सौवर्चल नमक, यवक्षार, वेल्ल (वायविडङ्ग), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), अग्नि (चित्रक), हिंगु तथा कुटकी समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ समभाग दूध (तथा तीन भाग पानी) मिलाकर पकाया हुआ घृत (कल्क घृत का चौथाई लेना चाहिए घृतनिर्माणविधि के अनुसार) गुल्मरोग आनाह (कब्ज के साथ वायु से पेट फूलना 'आफरा'), गुदभ्रंश, श्वासवृद्धि, खांसी तथा विलम्बिका (भोजन किये हुए अन्न का कफ तथा वात की दुष्टि से ऊपर या नीचे न जाना) को दूर करता है ॥ ७५–७६ ॥

बालानामजीर्णादौ चातुर्जातादिसंभारकः—

चातुर्जातकतालीसकुष्ठं त्रिकटुकं तथा ।
चविका पिप्पलीमूलं तवक्षीरं च जीरकम् ॥ ७७ ॥
अश्वगन्धा च संभारं चूर्णीकृत्य विनिःक्षिपेत् ।
चूर्णाद्द्विगुणितं खण्डं सर्पिषा लेहयेच्छिशुम् ॥ ७८ ॥
अजीर्णश्वासकासघ्नं बालानामङ्गवर्धनम् ।
सर्वरोगहरं श्रेष्ठं बलपुष्टिकरं मतम् ॥ ७९ ॥

बालकों के अजीर्ण आदि रोग मे चातुर्जातादि संभारक—चातुर्जात (दालचीनी, इलायची- तेजपात, नागकेशर), तालीसपत्र, कूठ, त्रिकटुक (सोंठ, पीपर, मरिच), चव्य, पिपरामूल, तवक्षीर (पलासगन्धा), सफेद जीरा तथा अश्वगन्धा समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण बनावे और उसमे चूर्ण का दुगुना खण्ड (शक्कर) मिला दे तथा बालक को घृत के साथ चटाये । यह संभारक चूर्ण अजीर्ण, श्वास तथा कास को नाश करता है, बालकों का अंग बढ़ाता है, सभी रोगों को दूर करता है और अच्छी तरह बल को बढ़ाने वाला पुष्टि को करनेवाला कहा गया है ॥ ७७–७९ ॥

बालानां भैषज्यमात्राविचारः—

प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका ।
अवलेह्या प्रकर्तव्या मधुक्षीरघृतान्विता ।
एकैकां वर्धयेत्तावद्यावत्संवत्सरो भवेत् ॥ ८० ॥

बालकों की भैषज्य मात्रा का विचार—पहले मास में उत्पन्न बालक के औषध की मात्रा एक रत्ती की होती है । वह एक रत्ती की मात्रा शुद्ध दूध तथा

घृत के साथ चटाये। प्रत्येक मास में एक रत्ती की मात्रा बढ़ाता जाय जब तक एक वर्ष का न हो जाय। अर्थात् एक वर्ष तक प्रत्येक मास में एक-एक रत्ती बढ़ाये (एक वर्ष के बाद की मात्रा स्तन्यजन्य रोग की चिकित्सा के विमर्श में देखे) ॥ ८० ॥

वालानां पुष्ट्यर्थं पियालादिमोदकः—

पियालमज्जामधुकमधुलाजासितोपलैः ॥ ८१ ॥
अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः।

वालकों की पुष्टि के लिये पियालादि मोदक—पियाल (चिरौंजी) की मज्जा, मुलेठी, धान का लावा इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु, मिश्री, तथा दूध मिलाकर मोदक वनाये। यह मोदक बालकों को पुष्ट करने वाला है।

वालानां वाग्विशुद्ध्यर्थं वचाद्यवलेहिका—

वचायष्ट्याह्वसिन्धूत्थैः पथ्यानागरदीप्यकैः।
शुध्यते वाग्घविलीढैः सकुष्ठकणजीरकैः ॥ ८२ ॥

वालकों की वाणी की शुद्धि के लिये वचाद्यवलेहिका—वच, मुलेठी, सेन्धानमक, हर्रे, सोंठ, अजवायन, कूठ, पीपर तथा जीरा इन द्रव्यों के चूर्ण को (मधु घृत तथा दूध के साथ) चाटने से बच्चों की वाणी शुद्ध होती है ॥ ८२ ॥

वालग्रहनाशनाः कतिपययोगाः—

महामुण्डितिकोदीच्यक्वाथस्नानं ग्रहापहम्।
सप्तच्छदामयनिशाचन्दनैश्चानुलेपनम् ॥ ८३ ॥

वालग्रह नाशक कुछ योग—महामुण्डितिका (गोरखमुण्डी) तथा उदीच्य (सुगन्धवाला), इन द्रव्यों के क्वाथ से स्नान कराना ग्रहदोष को दूर करता है। छतिवन, आमय (कूठ), हल्दी तथा चन्दन इन द्रव्यों का लेप ग्रहदोष को दूर करता है।

सर्पत्वग्लशुन मूर्वा सर्षपारिष्टपल्लवाः।
विडालविड्जालोममेषशृङ्गीवचा मुहुः ॥ ८४ ॥
धूपः शिशोर्ज्वरघ्नोऽयमशेषग्रहनाशनः।

साप की केंचुल, लहसुन, मूर्वा (मदोढ़फली या मोरवेल), सरसों, नीम का पत्ता, विलाव की विष्ठा, बकरी का वाल, काकड़ा सिंघी तथा वच इन द्रव्यों का वार वार धूप देना, (यह योग) वालकों का ज्वर नाश करता है तथा सम्पूर्ण ग्रहों को नाश करता है।

सर्पत्वग्देवनिर्माल्यकेशाज्यश्वेतसर्षपैः ॥ ८५ ॥
मन्त्राभिमन्त्रितो धूपः शिशूनां ग्रहजित्परम्।

सांप की केंचुल, देवदारु, निर्माल्य (स्पृक्का सुगन्धि द्रव्य विशेष) (अथवा देवता के ऊपर चढ़ाया हुआ फूल का माला), बाल मूत्र तथा सफेद सरसों इन द्रव्यों का मन्त्र से अभिमन्त्रित धूप जलाने से बालकों के ग्रह को अच्छी तरह जीत लेता है।

मन्त्रः—ॐ नमो भगवते रुद्राय त्र्यम्बकाय ओं सत्य सत्यवते स्वाहा।

(तीन नेत्र वाले भगवान् रुद्रदेव शंकर के लिये नमस्कार है, सत्य सत्यवान् के लिये स्वाहा अर्पित है) इस मन्त्र से पूर्वोक्त धूप को अभिमन्त्रित करे।

सौराष्ट्रिका च निर्गुण्डीपुर कुष्ठं समादनकम्।
सर्षपाज्ययुतो धूपो बालकग्रहनाशनः ॥ ८६ ॥

सौराष्ट्रिका (गोपीचन्दन), निर्गुण्डी, गुग्गुलु, कूठ, मादयक (मदनफल), सरसों तथा घृत इन द्रव्यों का धूप बालग्रह को नाश करने वाला है ॥ ८६ ॥

बालानां बुद्धिवृद्धयर्थं वचाद्यमष्टमङ्गलं घृतम्—

वचा कुष्ठं तथा ब्राह्मी श्वेतसर्षपकाणि च।
सारिवा सैन्धवं चैव पिप्पली घृतमष्टमम् ॥ ८७ ॥
मेध्यं घृतमिदं सिद्ध पातव्य च दिने दिने।
दृढस्मृतिः क्षिप्रमेधः कुमारो बुद्धिमान् भवेत् ॥ ८८ ॥
न पिशाचा न रक्षांसि न भूता न च मातरः।
संभवन्ति कुमाराणा पिबतामष्टमङ्गलम् ॥ ८९ ॥

बालकों की बुद्धिवृद्धि के लिये वचाद्य मंगलघृत—वच, कूठ, ब्राह्मी, सफेद सरसों, सारिवा, सेन्धानमक, पीपर तथा आठवा घृत—इन द्रव्यों में घृत को छोड़कर अन्य द्रव्यों का कल्क बना ले और घृत सिद्ध करे, (घृत का चौथाई कल्क तथा घृत का चौगुना जल मिलाकर घृतनिर्माणविधि के अनुसार घृत सिद्ध करे)। इस मेधावर्द्धक घृत को प्रतिदिन पान कराये। इस घृत को पान करने से बालक दृढ स्मरणशक्ति वाला, शीघ्र धारणा शक्तिवाला तथा बुद्धिमान् होता है। अष्टमंगलघृत को पान करने वाले बालकों को पिशाचग्रह, रक्षोग्रह, भूतग्रह तथा मातृग्रह आदि नहीं होते हैं ॥८७–८९॥

बालानां पुष्ट्यर्थमश्वगन्धाद्य घृतम्—

अश्वगन्धामूलकल्कैः क्षीरे दशगुणे शृतम्।
घृतं पेयं कुमाराणां पुष्टिकृद्बलवर्धनम् ॥ ९० ॥

बालकों के पुष्ट्यर्थ अश्वगन्धाद्य घृत—अश्वगन्धा के मूल के कल्क के

साथ दशगुने दूध में पकाया हुआ घृत पान करने से बालकों को पुष्ट करता है तथा बल को बढ़ाता है ॥ ९० ॥

बालानां ज्वरादौ लाक्षाद्यं तैलम्—

लाक्षारससमं सिद्धं तैलं मस्तुचतुर्गुणम् ।
रास्नाचन्दनकुष्ठाब्दवाजिगन्धानिशायुगैः ॥ ९१ ॥
शताह्वादारुयष्ट्याह्वमूर्वातिक्ताहरेणुभिः ।
बालानां ज्वररक्षोघ्नमभ्यङ्गाद्बलवर्णकृत् ॥ ९२ ॥

बालकों के ज्वर आदि में लाक्षादि तैल—लाख के रस के बराबर तैल, तैल के चौगुना दही का तोड़, रासन, चन्दन, कूठ, मोथा, अश्वगन्धा, हल्दी, दारुहल्दी, सौंफ, देवदारु, मुलेठी, मूर्वा (मरोरफली या मोरवेल), कुटकी तथा हरेणु (निर्गुण्डी) इन द्रव्यों (तैल के चौथाई) के कल्क के साथ तैल सिद्ध करे। यह तैल अभ्यङ्ग करने से बालकों का ज्वर तथा रक्षोग्रह को नाश करता है और बल एवं वर्ण को बढ़ाने वाला है ॥ ९१-९२ ॥

बालानां नेत्ररोगे मनःशिलाद्या वर्तिः—

मनःशिला शङ्खनाभिः पिप्पल्योऽथ रसाञ्जनम् ।
वर्तिः क्षौद्रेण संयुक्ता बाले सर्वाक्षिरोगजित् ॥ ९३ ॥

बालकों के नेत्ररोग में मनःशिलाद्यावर्ति—मैनसिल, शंखनाभि, पीपर तथा रसाञ्जन इन द्रव्यों की मधु के साथ बनाई हुई वर्ति बालकों की आंख में लगाने से सभी प्रकार के नेत्र रोग को जीत लेती है ॥ ९३ ॥

बालानां कुकूणकचिकित्सा—

त्वचो बृहत्या भागौ द्वौ भाग एकोऽञ्जनस्य च ।
कुकूणकेऽक्षिलेपोऽयमञ्जनं चैव शस्यते ॥ ९४ ॥
मण्डलानि च साज्येन गजमूत्रेण लेपयेत् ।

बालकों के कुकूणकरोग की चिकित्सा—वनभंटा की छाल दो भाग, रसाञ्जन एक भाग, इन दोनों औषधों का अंजन बनाकर बालकों के कुकूणक (कोथ) रोग में आंखों में अंजन करना प्रशस्त होता है। कुकूणक रोग में हाथी के मूत्र में घृत मिलाकर नेत्र मण्डल के ऊपर लेप करे।

बालानां दन्तोद्भेदे वचादिघृतम्—

वचाद्विबृहतीपाठातिविषाकटुकाघनैः ॥ ९५ ॥
मरिचैश्च घृतं सिद्धं शस्तं दशनजन्मनि ।

बालकों के दन्तोद्भेद में वचादिघृत—वच द्विबृहती (वनभंटा, भटकटैया), पाढ़ी, अतीस, कुटकी, मोथा तथा मरिच इन द्रव्यों के कल्क के साथ (कल्क घृत के चौथाई तथा जल तैल के चौगुना तैल निर्माण विधि के

अनुसार) सिद्ध किया हुआ घृत दन्तोद्भेदजन्य पीड़ा में लेप करना प्रशस्त है। अर्थात् इस घृत को दांत निकलते समय लगाने से दांत शीघ्र ही बाहर निकल आते हैं।

वालानां शोपस्य निदानादिपूर्वकं लक्षणम्—

अत्यह्नः स्वप्नशीताम्बु श्लैष्मिकस्तन्यसेविनः ॥ ९६ ॥
शिशोः कफेन रुद्धे तु स्रोतःसु रसवाहिषु ।
अरोचकप्रतिश्यायौ ज्वरः कासश्च जायते ॥ ९७ ॥
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः ।

वालकों को शोष रोग की निदानपूर्वक चिकित्सा—दिन में अत्यधिक सोना, शीतल जलपान तथा श्लैष्मिक (कफ दोष भूयिष्ठ) दूधपान करने वाले वालकों के कफ के द्वारा रसवाही स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने पर बालकों को अरोचक, प्रतिश्याय, ज्वर तथा कास (खांसी) हो जाता है और बालक सूखने लगता है इसके वाद उसका मुख तथा नेत्र, चिकना एव सफेद हो जाता है। (इसको लोकभाषा में सूखारोग या सुखण्डी कहते हैं) ॥९६–९७॥

वालानां शोषचिकित्सा—

सैन्धवव्योषशार्ङ्गेष्टापाठागिरिकदम्बकान् ॥ ९८ ॥
शुष्यतो मधुसर्पिर्भ्यामरुच्यादिषु योजयेत् ।

वालकों के शोष (सूखा) रोग की चिकित्सा—सेन्धानमक, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), शार्ङ्गेष्टा (महाकरञ्ज या वभनेटी), पाढ़ी, गिरि (गिरिकर्णी 'अपराजिता'), तथा कदम्ब—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत मिलाकर सूखते हुए वालक के अरोचक आदि रोग में प्रयोग करे। अथवा—

बदरीधातकीधात्रीचूर्णं वा सर्पिषा युतम् ॥ ९९ ॥
अश्वलिण्डरसक्षौद्रयुक्तां वा मधुयष्टिकाम् ।
द्विवार्ताकीफलरसं केवलं वाऽश्वविड्रसम् ॥ १०० ॥
मधुना वा घनव्योषपाठामूर्वाशतावरीः ।

वैर, धाय का फूल तथा आंवला का चूर्ण घृत के साथ प्रयोग करे। अश्वलिण्ड (घोड़े की लीद) का रस और मुलेठी का चूर्ण मधु के साथ, या वनभंटा, भटकटैया के फल का रस या केवल घोड़े की लीद का रस, अथवा मोथा, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), पाढ़ी, मूर्वा, तथा शतावरि—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ बालक के शोष रोग मे प्रयोग करे।

स्थिरावचाद्विबृहतीकाकोलीपिप्पलीनतैः ॥ १०१ ॥
निचुलोत्पलवर्षाभूभार्गीमुस्तैश्च कार्षिकैः ।
सिद्धं प्रस्थार्धमाज्यस्य स्रोतसां शोधनं परम् ॥ १०२ ॥

स्थिरा (शतावरि), वच, वनभंटा, भटकटैया, काकोली, पीपर, तगर निचुल (समुद्रफल), नीलकमल, पुनर्नवा, भांगरा तथा मोथा एक एक कर्ष (एक एक तोला) इन द्रव्यों के कल्क के साथ आधा सेर घृत सिद्ध करे (घृत आधा सेर, जल दो सेर लेकर घृतनिर्माणविधि के अनुसार) यह घृत बालकों के रसवाही स्रोतों को अच्छी तरह शोधन करता है ॥ १०१-१०२ ॥

बालशोषे यष्ट्याद्यं घृतम्—

यष्ट्याह्वपिप्पलीरोध्रपद्मकोत्पलचन्दनैः ।
तालीससारिवाभ्यां च साधितं शोषजिद्घृतम् ॥ १०३ ॥

(बालशोष में यष्ट्याद्य घृत—यष्ट्याह्व (मुलेठी), पीपर, लोध, पद्मक (पद्मकाठ), नीलकमल, चन्दन, तालीसपत्र तथा सारिवा—समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृत के चौथाई कल्क तथा घृत के चौगुना जल मिलाकर घृतनिर्माणविधि के अनुसार) सिद्ध किया हुआ घृत बालकों के शोष रोग को जीत लेता है ॥ १०३ ॥

बालाना शोषे शृङ्ग्याद्य घृतम्—

शृङ्गीमधुलिकाभार्गीपिप्पलीदेवदारुभिः ।
अश्वगन्धाद्विकाकोलीरास्नासर्पभजीवकैः ॥ १०४ ॥
सूर्यपर्णीविडङ्गैश्च कल्कितैः साधित घृतम् ।
शिशूनामुत्तमाङ्गे तु शुष्यतां पुष्टिकृत्परम् ॥ १०५ ॥

बालकों के शोष रोग में शृङ्ग्यादि घृत—काकड़ासिंघी, मधुलिका (मूर्वा 'मोरवेल'), भांगरा, पीपर, देवदारु, अश्वगन्धा, काकोली, क्षीरकाकोली, रासन, सरसों, जीवक, सूर्यपर्णी (अर्कपत्रा, ईश्वरमूल या माषपर्णी) तथा वायविडङ्ग समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ (घृतनिमाणविधि के अनुसार घृत के चौथाई कल्क तथा घृत का चौगुना जल मिलाकर) घृत पकावे । यह घृत पान कराने से जिनका उत्तमाङ्ग (सिर आदि) सूखता हो उन बालकों को अच्छी तरह पुष्ट करता है ॥ १०४-१०५ ॥

बालानां शोषे वचाद्यं तैलम् —

वचावयःस्थातगरकायस्थाचोरकैः शृतम् ।
वस्तमूत्रसुराभ्या च तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥ १०६ ॥

बालकों के शोष रोग में वचाद्य तैल—वच, वयस्था (गुडूची), तगर, कायस्था (छोटी इलायची) तथा चोरक (चोरा सुगन्धि द्रव्य विशेष) चोरपुष्पी समभाग—इन द्रव्यों का कल्क और बकरी का मूत्र तथा सुरा (तैल के चौगुना तथा कल्क तैल का चौथाई) मिलाकर सिद्ध किया हुआ तैल बालकों के शोष रोग में अभ्यञ्जन करना लाभदायक है ॥ १०६ ॥

वालानां शोषे कतिपययोगाः—

द्वे पले तुम्बरत्वक्त्रिवचागिरिकदम्बकम् ।
सुरापिष्टः प्रदेहः स्याद्धःकाये विशुध्यताम् ॥ १०७ ॥

बालकों के शोष रोग में कुछ योग—तुम्बरुत्वक् (तेजबल की छाल) वच, गिरि कदम्ब (धारा कदम्ब) (पहाड़ीकदम), इन द्रव्यों को मद्य के साथ में पीसकर बालकों के कमर के नीचे के भाग में शोष होने पर शरीर में लेप करना हितकर होता है ॥ १०७ ॥

साशोकरोहिणी कृष्णा मध्वाज्येन लिहन्स्येत् ।
शिशुः शोषं शरीरस्य शशीवच्छागदुग्धभुक् ॥ १०८ ॥

अशोक का छाल, कुटकी तथा पीपर इन द्रव्यों के कल्क को मधु तथा घृत के साथ चाटनेवाला तथा बकरी का दूध पीनेवाला बालक शशि (चन्द्रमा) के समान शरीर के क्षय रोग को जीत लेता है ॥ १०८ ॥

बालानां शुष्ककासे माषसूपयोग.—

शुष्ककासे कुमारस्य धात्र्याः स्तन्यविशोधनम् ।
माषसूपं प्रयोक्तव्यं सकृष्णो घृतभर्जितः ॥ १०९ ॥

बालकों के शुष्क कास में माषसूप योग—बालक के शुष्क कास (सूखी खांसी) में माता का दूध शुद्ध करना चाहिए (स्तन्यशोधक औषधों के द्वारा), और उड़द का यूष घृत में पकाकर उसमें पीपर का चूर्ण मिलाकर पीने के लिये देना चाहिए ॥ १०९ ॥

बालानां कासश्वासे कतिपययोगाः—

मधुनाऽतिविषा शृङ्गी पिप्पलीं लेहयेच्छिशुम् ।
एकां वाऽतिविषां कासज्वरच्छर्दिनिपीडितम् ॥ ११० ॥

बालकों के कास श्वास में कुछ योग—बालक के खांसी तथा श्वास रोग में अतीस काकड़ासिंघी तथा पीपर का महीन चूर्ण मधु के साथ बालक को चटाये । अथवा केवल अतीस का चूर्ण मधु के साथ कास (खांसी), ज्वर, तथा वमन से पीड़ित बालक को चटाये ॥ ११० ॥

बृहतीफलमूलत्वक्पिप्पलीग्रन्थिकैः कृतः ।
तवक्षीरीयुतैः क्वाथो मधुना हन्ति शीलितः ॥ १११ ॥
छर्दिमूर्च्छाज्वरश्वासकासातीसारपीनसान् ।

वनभटा का फल, मूल तथा छाल, पीपर ग्रन्थिक (पिपरामूल) और तवक्षीरी (पलासगन्धा) समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ मधु के साथ पान करने से बालकों के वमन मूर्च्छा, ज्वर, श्वासवृद्धि, खांसी, अतिसार तथा पीनस (दुर्गन्धित नासास्राव) रोग को नाश करता है ।

पञ्चकोलद्विवार्ताकीमूलभार्गीतुगाह्वयाः ॥ ११२ ॥
क्षौद्राज्यलीढा श्वसनकासपीनसहृत्कफच्छदः ।

पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) द्विवार्ताकी (वनभटा, भटकटैया), का मूल भार्गी (भारंगी) तथा तुगाह्वय (वंशलोचन) समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत मिलाकर चाटने से बालकों के श्वासरोग, खांसी तथा पीनस रोग को नाश करता है ।

क्षीरिप्रवालमधुकदर्भमूलाब्जसोत्पलैः ॥ ११३ ॥
तृष्णादाहज्वरहरः कषायः ससितामधुः ।

क्षीरी (राजादन खिरनि) का मुलायम पत्ता, मुलेठी, दर्भ (कुश) का मूल, कमल का नालतन्तु, नीलकमल का फूल समभाग इन द्रव्यों का क्वाथ मिश्री तथा मधु मिलाकर पान करने से बच्चों के प्यास, जलन तथा ज्वर को दूर करता है ।

बालानां भ्रमादौ लाजादिस्तनलेपः—

लाजैः सचन्दनोशीरयष्टीमधुकपद्मकैः ॥ ११४ ॥
लिप्तो धौतः स्तनः पीतो भ्रमतृड्दाहमोहहा ।

बालकों के भ्रम आदि में लाजादि स्तन लेप—धान का लावा, सफेद चन्दन, खस, मुलेठी, जेठीमधु तथा पद्मकाठ इन द्रव्यों का लेप स्तन पर लगाने के बाद धोकर दुग्ध पान कराने से बालकों के भ्रम (चक्कर), प्यास तथा जलन एवं मोह (मूर्च्छा) को दूर करता है ।

बालानामपतर्पणजरोगचिकित्सा—

अस्नेहलवणं पीत्वा संस्कृतं लाजजं रसम् ॥ ११५ ॥
सशर्करं विजयते बालो लङ्घनजान् गदान् ।

बालकों के अपतर्पण जन्य रोग की चिकित्सा—बिना घृत तथा नमक के पकाया हुआ धान के लावा का रस शक्कर के साथ पान कर बालक लङ्घनजन्य (अपतर्पणजन्य) रोगों को जीत लेता है ।

बालानां विकृतदन्तोत्पत्त्युत्पातशान्तिः—

सदन्तो जायते यस्तु दन्ताः प्राग्यस्य चोत्तराः ॥ ११६ ॥
कुर्वीत तस्मिन्नुत्पाते शान्तिकर्म द्विजालये ।
दद्यात्सदक्षिणं बालं नैगमेषं च पूजयेत् ॥ ११७ ॥
नावमारोहयेद्बालं स्नानं स्कन्धे गजस्य वा ।
भोजयेदश्विनावत्र पायसं मधुसर्पिषा ॥ ११८ ॥

बालकों के विकृत दन्तोत्पत्तिजन्य-उत्पात की शान्ति—जो बालक दांत सहित उत्पन्न हो या जिसके दांत पहले ऊपर की पंक्ति में निकलें, इस प्रकार

के उत्पात में ब्राह्मण के घर में जाकर शान्ति कर्म करे और दक्षिणा के साथ बालक को दानकर दे तथा [1]नैगमेष ग्रह की पूजा करे। बालक को नाव पर चढाये या हाथी के कन्धे पर स्नान कराये। यहां दोनों अश्विनीकुमारों को मधु एवं घृत के साथ खीर भोजन कराये। अर्थात् दो बालकों में अश्विनी कुमार का आवाहन कर भोजन कराये ॥ ११६-११८ ॥

बालानामतिसारादौ कतिपययोगाः—

काकोली गजकृष्णा च रोध्रमेषां समाशतः।
क्वाथो मुस्तान्वित. पीतो बालातीसारनाशनः ॥ ११६ ॥

बालकों के अतिसार आदि रोग में कुछ योग—काकोली, गजपीपर, लोध तथा नागरमोथा समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ पान करने से बालकों के अतिसार को नाश करता है ॥ ११९ ॥

लाजाचूर्णं सैन्धवाम्रचूर्णमेतत् समांशतः।
हन्ति व्याधिमतीसार मधुना सह भक्षितम् ॥ १२० ॥

लावा का चूर्ण, सेन्धानमक तथा आम का चूर्ण (अमचूर) समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ खाने से बालकों क अतिसार रोग को नाश करता है ॥ १२० ॥

तवराजकणाचूर्णं सैन्धवं सकटुत्रयम्।
निरोध हन्ति बालानां मधुना सह भक्षितम् ॥ १२१ ॥

तवराज (खाँड़सारी शक्कर 'खण्डसार' या यवास शर्करा), पीपर का चूर्ण, सेन्धानमक, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच,) समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ चाटने से बालकों के निरोध (बालकों की वृद्धि की रुकावट) को नाश करता है ॥ १२१ ॥

एला चातिविषा मांसी शुण्ठी कर्कटशृङ्गिका।
चूर्णकं मधुना भुक्त छर्दिकासविनाशनम् ॥ १२२ ॥

बड़ी इलायची, अतीस, जटामांसी, सोंठ तथा काकड़ासिंघी समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण मधु के साथ खाने से वमन तथा खांसी को नाश करता है ॥ १२२ ॥

विश्वैलासैन्धवं हिङ्गु भार्गीचूर्णकमञ्जसा।
पिष्टमाव्यान्वित भुक्त शिशूना वातहृत्परम् ॥ १२३ ॥

सोंठ, बड़ी इलायची, सेन्धानमक, शु० हिंगु, तथा भार्गी (भांगरा)

---

१. पितृग्रह सञ्ज्ञकबाल रोग पार्वती का उत्पन्न किया हुआ ग्रह। इसकी आकृति मेढक के समान होती है। यह ग्रह कार्तिकेय को प्राण के सदृश प्रिय है।

समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को अञ्जसा (अच्छी तरह) पीसकर घृत मिलाकर खाने से वह बालकों के वात रोग को अच्छी तरह दूर करता है ॥ १२३ ॥

गोक्षुरः सैन्धवं शुण्ठी दारु मुस्ताऽश्मभित्पुरः।
विडङ्गं पिप्पलीयुक्तं चूर्णितं वातशूलनुत् ॥ १२४ ॥

गोखरू, सेन्धानमक, सोंठ, देवदारु, मोथा, पाषाणभेद, गुग्गुलु, वायविडङ्ग तथा पीपर समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु या घृत के साथ खाने से बालकों के वातजन्य शूल को दूर करता है ॥ १२४ ॥

लाजासैन्धवयोश्चूर्णं बीजपूररसान्वितम्।
भक्षितं नाशयत्येव शिशूनां छर्दिमुल्बणाम् ॥ १२५ ॥

धान के लावा का चूर्ण तथा सेन्धानमक इन दोनों द्रव्यों का चूर्ण बिजौरा नीबू का रस मिलाकर खाने से बालकों के भयंकर वमन को अवश्य नाश कर देता है ॥ १२५ ॥

रसाञ्जनं शिला शङ्खनाभिः पिच्छिलतन्दुलाः।
बालानां च रुजं हन्ति मधुना लोचनोद्भवाम् ॥ १२६ ॥

रसाञ्जन, शु० मैनशिल, शङ्खनाभि तथा पिच्छिल तण्डुल (चावल का मांड) इन सबों को मधु में मिलाकर लेप लगाने के बालकों की आंख में उत्पन्न होने वाली पीड़ा को नाश करता है ॥ १२६ ॥

पारिगर्भिकनिदानम्—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥ १२७ ॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्।
रोगं परिभवाख्यं च

पारिगर्भिक रोग का निदान—बालक को गर्भवती माता का दूध पीने से अथवा कभी-कभी न भी पीवे तो भी उसको खांसी, मन्दाग्नि, वमन, तन्द्रा, कृशता, अरुचि, भ्रम (चक्कर) तथा पेट की वृद्धि होती है। इस रोग को पारिगर्भिक कहते हैं।

विमर्श—सगर्भावस्था में विशेषकर गर्भ का पोषण होता है। उस समय समवर्तजन्य विकार के कारण दूध में पोषक पदार्थ की कमी हो जाती है। इस दूध को पीने से बालकों में यह रोग होता है। कभी-कभी इस दूध को न पीने पर भी पोषक पदार्थ की कमी के कारण इस रोग की उत्पत्ति होती है। उसे अहिण्डी परिभव या 'दुधकट्टा' कहते। इस रोग में अग्निवर्द्धक पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए।

पारिगर्भिके पिप्पल्याद्य घृतम्—

युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम् ॥ १२८ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलकटुकादेवदारुभि. ।
क्षारद्वयबिडाजाजीविल्वमध्याग्निदीप्यकैः ॥ १२९ ॥
दधिसौवीरकसुरामण्डैश्च विपचेद्घृतम् ।
हन्ति प्रयुक्तं तत्काले रोगान् परिभवाश्रयान् ॥ १३० ॥
पीतं पीत च यः स्तन्य सवातमतिसार्यते ।
तस्याप्येतत्परं पथ्य दीपन बलवर्णकृत् ॥ १३१ ॥

पारिगर्भिक रोग में पिप्पल्यादि घृत—पारिगर्भिक रोग में अग्निवर्द्धक पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। पीपर, पिपरामूल, कुटकी, देवदारु, यवक्षार, सज्जीखार, विड (विरिया) नमक, स्याहजीरा, बेल का गूदा, चित्रक तथा अजवायन समभाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ दही, सौवीरक (काञ्जी), मद्य तथा मण्ड मिलाकर (घृतनिर्माणविधि के अनुसार) घृत पकावे। यह घृत समय पर प्रयोग करने से परिभव (पारिगर्भिक) के रोगों (उपद्रवों) को नाश करता है। जो बालक दूध पीते समय अपान वायु के साथ टट्टी कर देता है उसके लिये भी यह उत्तम पथ्य है और अग्नि दीप्त करता है तथा बल एवं वर्ण को बढ़ाता है ॥ १२८–१३१ ॥

तालुकण्टकनिदानम्—

तालुमांसे कफ क्रुद्ध कुरुते तालुकण्टकम्
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ १३२ ॥
तालुपाक स्तनद्वेष कृच्छ्रात्पान शकृद्द्रवम् ।
तृडास्यकण्ड्वक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमि ॥ १३३ ॥

तालुकण्टक का निदान—तालुमास में प्रकुपित हुआ कफ तालुकण्टक रोग को उत्पन्न करता है। इससे सिर का तालु प्रदेश नीचा हो जाता है। इस रोग में तालुपात, दूध पीने की इच्छा न होना तथा पीने में कठिनता हो जाती है। बालक पतला मलत्याग करता है। इसके अतिरिक्त इस रोग में प्यास नेत्रकण्डू तथा मुख में वेदना, गर्दन का झुका रहना और वमन होता है ॥ १३२–१३३ ॥

विमर्श—तालु प्रदेश में कण्टक समान दाने या व्रण बन जाने से बालक को दूध पीने में कष्ट होता है। ठीक २ पाचन न होने से पतला दस्त होता है शरीर में जलीयांश की कमी होने के कारण मस्तिष्कगत सुषुम्ना जल की भी कमी हो जानी है जिसके कारण शीर्ष तालु नीचे की तरफ झुक जाता है इसको

तालुपात भी कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि तालुपात बालकों के मुखरोग में होता है।

तालुकण्टकचिकित्सा—

तत्रोत्क्षिप्य यवक्षारक्षौद्राभ्यां प्रतिसारयेत्।
तालुं तद्वत्कणाशुण्ठीगोशकृद्रससैन्धवैः॥ १३४॥

तालुकण्टक की चिकित्सा—तालुकण्टक होने पर उसको उठाकर यवक्षार तथा मधु मिलाकर प्रतिसारण करे। उसी प्रकार पीपर, सोंठ, गाय के गोबर का रस तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों के कल्क से प्रतिसारण करे॥ १३४॥

शृङ्गवेरनिशाभृङ्गकल्कितं वटपल्लवैः।
बद्ध्वा गोशकृता लिप्तं कुकूले स्वेदयेत्ततः॥ १३५॥
रसेन लिम्पेत्तात्वास्यं नेत्रे च परिषेचयेत्।

सोंठ, हल्दी तथा भृङ्गराज इन द्रव्यों का कल्क बनाकर वट के पल्लवों में बाधकर गाय के गोबर से लिप्त कर उसके बाद थोड़ा २ गरम स्वेद करे और इसके रस से तालु प्रदेश तथा मुख को लेप करे तथा इसी रस से नेत्रों का प्रक्षालन करे।

बालानां बुद्धिवर्धनार्थं पाठाद्यं घृतम्—

पाठावचासैन्धवशिग्रुपथ्याकटुत्रयैर्गोनवनीतपक्वम्।
एतद्घृतं पानत एव कुर्यान्मतिं स्मृतिं रूपबलं शिशूनाम्॥ १३६॥

बालकों की बुद्धि बढ़ाने के लिये पाठाद्य घृत—पाढ़ा (पाढी), वच, सेन्धानमक, सहिजन, हर्रे, कटुत्रय (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों के साथ गाय का मक्खन पकावे (इसमें कल्क मक्खन का चौथाई तथा जल मक्खन का चौगुना मिलाकर पकाना चाहिए) यह घृत पान करने से बालकों की बुद्धि स्मरणशक्ति तथा रूप (शोभा) एवं बल को बढ़ाता है॥ १३६॥

अहिपूतनकनिदानम्—

मलोपलेपात्स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः।
ताम्रो व्रणोऽन्तः कण्डूमाञ्जायते भूर्युपद्रवः॥ १३७॥
केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽहिपूतनम्।
पृष्ठारुग्गुदकुट्टं च केचिच्च तमनामकम्॥ १३८॥

अहिपूतनक का निदान—मल के चिपके रहने से तथा पसीना होने पर न पोंछने से बालकों के गुदा में रक्त तथा कफ के प्रकोप से उत्पन्न ताम्रवर्ण का व्रण अन्दर की तरफ खुजली तथा अनेक उपद्रवों से युक्त उत्पन्न होता है। कुछ लोग उसको माता का दोष और कुछ लोग अहिपूतन कहते हैं। इसमें पृष्ठभाग

में पीड़ा होती है। कुछ लोग इसे गुदकुट्ट तथा कुछ लोग तम नामक रोग भी कहते हैं ॥ १३७–१३८ ॥

अहिपूतनकचिकित्सा—

तत्र धात्र्या पयः शोध्यं पित्तश्लेष्महरौषधैः।
शृतशीतं च शीताम्बुयुक्तमुत्तरपानकम् ॥ १३९ ॥
सक्षौद्रतार्क्ष्यशैलेन व्रणं तेनैव लेपयेत्।

अहिपूतन की चिकित्सा—अहिपूतन के रोग में पित्त तथा कफ नाशक औषधों से माता का दूध शुद्ध करे। उसके बाद मधु तथा रसाञ्जन को जल में घोलकर तथा गरम कर ठंढा होने पर शीतल जल मिलाकर गुदा में उत्तर पानक (उत्तरवस्ति) का प्रयोग करे तथा मधु तथा रसाञ्जन से व्रण को लिप्त करे।

त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथपरिषेचितम् ॥ १४० ॥
कासीसरोचनातुत्थमनोह्वालरसाञ्जनैः।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वाऽवचूर्णयेत् ॥ १४१ ॥
रागकण्डूत्कटे कुर्याद्रक्तस्रावं जलौकसा।
सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके ॥ १४२ ॥
व्याधेर्यद्यस्य भैषज्यं स्तनस्तेन प्रलेपितः।
स्थितो मुहूर्तं धौतोऽनु पीतस्तं तं जयेद्गदम् ॥ १४३ ॥

त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), बेर, पाकड़ की छाल, इन द्रव्यों के क्वाथ से व्रण को प्रक्षालित करे। कासीस, गोरोचन, तूतिया, मैनसिल तथा रसाञ्जन से लेप करे अथवा इमली के कल्क से लेप करे। यदि उस व्रण में लालिमा तथा खुजली अधिक हो तो जोंक लगाकर रक्तस्राव कराये। गुद कुट्टक रोग में सभी प्रकार के पित्तव्रण नाशक उपचार प्रशस्त होते हैं। जिन-जिन रोगों की जो जो औषधें बताई गई हैं उन औषधों से स्तनों को लिप्तकर उसको धोने के बाद कुछ देर रुक कर स्तन्यपान करने से उन उन रोगों को दूर करता है ॥ १४०–१४३ ।

बालानां ज्वरादिचिकित्साया अतिदेशेन कथनम्—

भैषज्यं पूर्वमुद्दिष्टं महतां यज्ज्वरादिषु।
कार्यं गदेषु बालानां तेषु दाहादिकं विना ॥ १४४ ॥

इति श्रीवैद्यवर्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
बालरोगाधिकार एकादशः संपूर्णः ॥ ११ ॥

बालकों के ज्वरादि चिकित्सा का अतिदेश निरूपण—बड़े मनुष्यों के लिये ज्वरादि रोगों में जो प्रथम औषधि बताई गई है वही औषधि बालकों के लिये भी देवे। (बालकों के लिये बताई गई मात्रा के अनुसार) किन्तु दाह (दग्धकर्म), क्षार कर्म, वमन, विरेचन रक्तस्रावादि चिकित्सा को न करे ॥ १४४ ॥

विमर्श—बालकों में एक महापद्मक[1] रोग होता है। इस रोग में बालक के मस्तक तथा मूत्राशय में तीनों दोषों के प्रकोप से एक पद्मवर्ण (लालवर्ण) का विसर्प रोग उत्पन्न होता है जिसको महापद्मक कहते। मस्तक में उत्पन्न विसर्प कनपटियों से हृदय में जाता है और हृदय में से गुदा में जाता है। उसी प्रकार मूत्राशय में उत्पन्न विसर्प गुदा में जाता है और गुदा से हृदय में जाता है और हृदय से गुदा में जाता है। इस प्रकार यह फैलने वाला रोग है और यह प्राणघातक है।

श्री वैद्यशोढल विरचित गदनिग्रह के कौमारतन्त्र खण्ड में ग्यारहवाँ
बालरोगाधिकार समाप्त।

---

१. विसूर्यस्तु शिशोः प्राण नाशनः शीर्षवस्तिजः।
पद्मवर्णो महापद्म रोगोदोपत्रयोद्भवः॥
शंखाभ्यां हृदयं याति हृदयाच्च गुदं व्रजेत।
(वस्तियोऽपि गुदं यान्ति गुदतः हृदयं व्रजेत् ॥) भा० मिश्र

अथ बालग्रहाधिकारो द्वादशः।

अथातो बालग्रहविज्ञानं व्याख्यास्यामः—

बालरोग के बाद बालग्रह विज्ञान कहते हैं।

बालग्रहोत्पत्तिस्तेषां नामानि च—

पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिता शूलपाणिना।
मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः॥ १॥

बालग्रहों की उत्पत्ति तथा उनका निदान—पूर्वकाल में भगवान् शंकर ने गुह (कार्तिकेय) की रक्षा के लिये पांच पुरुष शरीर वाले तथा सात स्त्री शरीर वाले (बारह) ग्रहों की उत्पत्ति की।

स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसञ्ज्ञितः।
शकुनिः पूतिना शीतपूतना चान्धपूतना॥ २॥
मुखमण्डितिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती।

स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह तथा पितृसंज्ञक पांच पुरुष ग्रह हैं। शकुनि, पूतना, शीतपूतना, गन्धपूतना, मुखण्डितिका, रेवती तथा शुष्करेवती ये सात स्त्री स्वरूपग्राही ग्रह हैं।

विमर्श—इन ग्रहों के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है जिसमें बताया गया है कि ये ग्रह स्वामी कार्तिकेय की रक्षा के लिये श्री शंकर भगवान ने उत्पन्न किया था किन्तु जब कार्तिकेय देवताओं के सेनापति नियुक्त किये गये उस समय सभी ग्रह आकर स्वामी कार्तिकेय के सम्मुख अपनी जीविका का प्रश्न रक्खे। इसके बाद स्वामी कार्तिकेय ने भगवान् सदा शिव से प्रार्थना की। महात्मा सदा शिव ने सभी ग्रहों से कहा कि 'इस संसार में पशु, पक्षिजाति, मनुष्यजाति तथा देवता जाति ये तीन जातियाँ है। ये आपस में उपकार भाव से रहते हैं। देवजाति समय के अनुसार गर्मी, वर्षा, शीत तथा वायु को उत्पन्न करके मनुष्य तथा पशु पक्षियों को सन्तुष्ट करते हैं और मनुष्य यज्ञ याजन, जप, होम, नमस्कार आदि से देवताओं को सतुष्ट करते हैं तथा पशु पक्षि आदि अपने दूध मांस से सतुष्ट करते हैं और मनुष्य भी पालन-पोषण आदि के द्वारा पशु पक्षियों को संतुष्ट करते हैं। इस तरह सभी के पालन-पोषण का विभाग हो चुका है। अब कोई अवशेष नहीं रह गया है अब आप लोगों की वृति बालकों में ही है। अतः जिनके कुल में देवता, पितर, ब्राह्मण, गुरुजन, साधुजन तथा अतिथियों की पूजा नहीं होती है जो पवित्र आचार से रहित है नीच वृत्ति वाले है किसी को बलिदान भिक्षा नहीं देते जो फूटे कांसे के वर्तन में खाते हैं

उनके घर में जो बालक उत्पन्न होते हैं वहाँ जाकर तुम लोग निःशङ्क बालकों को ग्रहण करो। वहाँ तुम लोगों की जीविका अच्छी तरह से चलेगी। इसी लिये ये ग्रह बालकों को कष्ट देते हैं। वस्तुतः ग्रहों के सम्बन्ध में यह निर्णय हो पाना कि ग्रह क्या वस्तु है इसका सन्तोषजनक उत्तर मिलना कठिन है। फिर भी यह माना जा सकता है कि इन रोगों में दोष, दूष्यों का विशेष विवरण न करके एक लक्षण समूह को मान कर चिकित्सा की जा सके इसलिए इसको ग्रह के अन्तर्गत मान लिया गया है। इन ग्रहों के थोड़ा बहुत लक्षण आधुनिक रोगों में भी मिलते हैं। पाश्चात्यों ने इनके हेतु तथा सम्प्राप्ति का पर्याप्त विवेचन किया है।

बालग्रहाणां पूर्वरूपम्—

तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः ॥ ३ ॥

बालग्रह के पूर्वरूप—बालग्रहों के द्वारा गृहीत बालक निरन्तर रोता है तथा ज्वर से पीड़ित रहता है। यह बालग्रह का पूर्वरूप है ॥ ३ ॥

बालग्रहाणां सामान्यलक्षणम्—

सामान्यरूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः ।
फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदन्तदंशप्रजागराः ॥ ४ ॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम् ।
नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम् ॥ ५ ॥

बालग्रहों का सामान्य लक्षण—ग्रहों से आक्रान्त बालक भय से उद्विग्न होता है। जम्भाई, बार-बार आंख का पलक गिराना, दीनता, फेन का बराबर निकलते रहना, ऊपर की तरफ निरन्तर देखते रहना, ओठों को दांतों से काटना, निद्रा का अभाव, अत्यधिक रोना, पेट में गुड़गुड़ाहट दूध का पान न करना, स्वर विकृति तथा अनायास एकाएक अपने नखों से चारों तरफ से माता के अङ्गों को विलेखन (काटना) करना आदि बालग्रह के सामान्य लक्षण हैं ॥ ४–५ ॥

स्कन्दग्रहपीडितलक्षणम्—

तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः ।
हतैकपक्षः स्तब्धाङ्गः सस्वेदो नतकन्धरः ॥ ६ ॥
दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन्रोदिति विस्वरम् ।
वक्रवक्त्रो वमल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते ॥ ७ ॥
वसासृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः ।
चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः ॥ ८ ॥
स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम् ।

स्कन्द ग्रह पीड़ित बालक का लक्षण—स्कन्द ग्रह से आक्रान्त होने पर बालक सिर को बार-बार कपाता है। शरीर का एक भाग क्रिया शून्य हो जाता है। शरीर की जकड़न, पसीना आना, कन्धा झुक जाना, दांत कटकटाना, माता का दूध न पीना, भयभीत होकर रोना, स्वर विकृति (स्पष्ट न बोलना), मुख का टेढ़ा होना, मुख से लार टपकना, एक टक ऊपर देखना, ये लक्षण होते हैं। बालक के शरीर से वसा तथा रक्त के गन्ध की तरह गन्ध निकलता है वह उद्विग्न रहता है, मुट्ठी बंधी हुई रहती है और पाखाना कड़ा होता है। एक आंख, गण्डस्थल तथा भौं चलता रहता है उसकी दोनों आंखें लाल रहती हैं। स्कन्द ग्रह पीड़ित बालकों के ये लक्षण होते हैं। इस स्कन्द ग्रह से विकलता अधिक होती है अथवा मरण होना निश्चित रहता है।

(इस प्रकार के लक्षण अर्दित युक्त पक्षाघात में देखे जाते हैं क्योंकि इसमें भी केवल एक नेत्र से अश्रुस्राव, मुख का टेढ़ापन, शरीर का कम्पन आदि लक्षण होते हैं। इसको शैशवीय पक्षाघात का स्वरूप माना जा सकता है)।

स्कन्दापस्मारग्रहपीडितलक्षणम्—

संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः ॥ ९ ॥
विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् ।
फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा हस्तभ्रूपादनर्तनम् ॥ १० ॥
स्तनस्वजिह्वासंदंशसरम्भज्वरजागराः ।
पूयशोणितगन्धश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ ११ ॥

स्कन्दापस्मारग्रहपीड़ितबालक का लक्षण—संज्ञानाश (बेहोशी), बार बार बालों को उखाड़ना, कन्धा का झुका रहना, झुककर जम्भाई लेने वाले बालक का अपने आप मल तथा मूत्र की प्रवृत्ति, मुख से फेन निकलना, ऊपर देखना, हाथ पैर तथा भौंका नचाना, माता का स्तन तथा अपनी जिह्वा को काटना, निरन्तर ज्वर का रहना, नींद न आना, शरीर से पूय तथा रक्त की तरह गन्ध प्रतीत होना ये स्कन्दापस्मार ग्रह के लक्षण हैं ॥ ९-११ ॥

(इस स्कन्दापस्मार ग्रह के लक्षण अपस्मार के लक्षण में भी पाये जाते हैं। इसमें रोगी कभी बे होश रहता है, और होश होने पर हाथ पैर को पटकता है)।

नैगमेषग्रहपीडितलक्षणम्—

आध्मानं पाणिपादस्य स्पन्दनं फेननिर्वमः ।
तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः ॥ १२ ॥
कूजनं स्वननं छर्दिः कासहिक्काप्रजागराः ।

औष्ठदंशोऽङ्गसंकोचस्तम्भौ बस्ताङ्गगन्धता ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसते मध्ये विनमनं ज्वरः ।
मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः ॥ १४ ॥

नैगमेष ग्रह पीड़ित बालक का लक्षण—आध्मान, (वायु के द्वारा पेट फूलना), हाथ पैर में कम्पन, मुख से फेन निकलना, प्यास, मुट्ठी बांधना, अतिसार, आवाज में कमी, चेहरे का रंग फीका पड़ जाना, कूजन (पेट में गुड़गुड़ाहट) शब्द होना, वमन, खांसी, हिचकी, नींद न आना, ओष्ठों को काटना, शरीर का सिकुड़ना तथा जकड़ जाना, बकरी की तरह गन्ध आना, ऊपर देखकर हसना, बीच में झुक जाना, ज्वर, मूर्च्छा तथा एक आंख में शोथ होना ये लक्षण नैगमेष ग्रह से आक्रान्त बालकों के होते हैं ॥ १२–१४ ॥

श्वग्रहपीडितलक्षणम्—

कम्पो हृषितरोमत्व स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम् ।
बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तःकण्ठकूजनम् ॥ १५ ॥
धावनं विट्मगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि ।

श्वग्रह पीड़ित बालक का लक्षण—शरीर में कम्पन, रोमाञ्च, पसीना आना, आंखों का बन्द रहना, बाहर की तरफ झुक जाना । दातों से जिह्वा को दबाना, पेट में गुड़गुड़ाहट तथा कण्ठ में घुरघुराहट "कुन्थना", दौड़ना, शरीर से मल की तरह गन्ध आना तथा कुक्कुर की तरह चिल्लाना ये लक्षण श्वग्रह पीड़ित बालक के होते हैं ।

पितृग्रहपीडितलक्षणम्—

रोमहर्षो मुहुः श्वासः सहसा रोदन ज्वरः ॥ १६ ॥
कासातिसारवमथुजृम्भातृट्शवगन्धिता ।
अङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपशोषस्तम्भविवर्णताः ॥ १७ ॥
मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे ।

पितृ ग्रह पीड़ित बालक के लक्षण—रोमाञ्च होना, बार बार श्वास लेना, एकाएक रोना, ज्वर, खांसी, अतिसार, वमन, जम्भाई, प्यास शरीर से मृत शव के सदृश गन्ध आना, शरीर के अवयवों में संकोच, फड़कन, शोथ, जकड़न, मुख पर फीकापन, मुट्ठीबंधना तथा आंखों से अश्रुस्राव होना ये लक्षण बालक के पितृ ग्रह में होते है ।

शकुनिग्रहपीडितलक्षणम्—

स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वातालुगले व्रणाः ॥ १८ ॥
स्फोटाः सदाहरुक्पापाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः ।
निश्यह्नि प्रविलीयन्ते माको वक्त्रे गुदेऽपि वा ॥ १९ ॥

भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे ।

शकुनि ग्रह पीड़ित बाल के लक्षण—शरीर का ढीला पड़ जाना, अतिसार, जिह्वा, तालु तथा गले में व्रण होना, सन्धियों में बार बार जलन, पीड़ा तथा पाक से युक्त फोड़िया होना तथा रात भर में या दिन भर में विलीन हो जाना, अथवा मुख तथा गुदा में पाक होना, भय होना, शरीर से पक्षि की तरह गन्ध आना तथा ज्वर ये लक्षण शकुनिग्रह से आक्रान्त बालक के होते हैं ।

पूतनाग्रहपीडितम्—

पूतनायां वमि कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः ॥ २० ॥
हिध्माऽऽध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः ।
स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्व काकवत्पूतिगन्धिता ॥ २१ ॥

पूतनाग्रह पीड़ित बालक के लक्षण—पूतनाग्रह पीड़ित होने पर वमन, शरीर में कम्पन, तन्द्रा, रात्रि में नींद न आना, हिध्मा (हिचकी) आध्मान (वायु के द्वारा पेट फूलना) पतलादस्त, (अतिसार), प्यास, मूत्रकृच्छ्र, अंग का शिथिल होना, रोमाञ्च तथा काक के सदृश शरीर से दुर्गन्ध निकलना ये लक्षण बालक में होते है ॥ २०–२१ ॥

शीतपूतनाग्रहपीडितलक्षणम्—

शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम् ।
तृष्णाऽन्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धिता ॥ २२ ॥
पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ।

शीतपूतनाग्रहपीड़ितबालक के लक्षण—शीतपूतना से आक्रान्त बालक के शरीर में कम्पन, अनायास रोना, तिरछा देखना, प्यास, अतड़ी में गुड़गुड़ाहट, अतिसार, शरीर से वसा की तरह दुर्गन्ध निकलना, शरीर के एकपार्श्व का शीतल रहना तथा दूसरे पार्श्व का उष्ण रहना ये लक्षण होते है ।

अन्धपूतनाग्रहपीडितलक्षणम्—

अन्धपूतनया छर्दिर्ज्वरः कासोऽल्पनिद्रता ॥ २३ ॥
वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यान्यङ्गशोषणम् ।
दृष्टिसादोऽक्षिरुक्कण्डूः पोथकीजन्म शूनयता ॥ २४ ॥
हिध्मोद्वेगः स्तनद्वेषो वैवर्ण्यं स्वरतीक्ष्णता ।
वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वमथवा साम्लगन्धिता ॥ २५ ॥

अन्ध पूतना ग्रह पीड़ित बालक के लक्षण—अन्ध पूतना से गृहीत होने पर वमन, ज्वर, कास, थोड़ी निद्रा, मल पतला, मटमैला तथा दुर्गन्धि युक्त, शरीर का सूखना, देखने में कष्ट का अनुभव होना, आँखों में पीड़ा तथा

खुजुली, पोथकी (रोहा) रोग, शरीर में हलकापन, हिध्मा (हिचकी) व्याकुलता, दूध पीने में अरुचि, मुख के ऊपर फीकापन, श्वास की अधिकता या तेज बोलना, शरीर में कपकपी, तथा मछुली के सदृश गन्ध आना अथवा अम्ल पदार्थ के सदृश गन्ध आना ये लक्षण बालक में होते हैं ॥ २३–२५ ॥

मुखमण्डितिकापीडितलक्षणम्—

मुखमण्डितया पाणिपादास्यरमणीयता ।
सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ॥ २६ ॥
अरोचकोऽङ्गतपन गोमूत्रसमगन्धता ।

मुख मण्डिता ग्रह पीड़ित बालक के लक्षण—हाथ, पैर तथा मुख में सुन्दरता, काले काले सिराओं से उदर का व्याप्त रहना, ज्वर भोजन में अरुचि शरीर का गरम रहना (ज्वर), तथा शरीर से गाय के मूत्र के समान गन्ध निकलना ये लक्षण मुखमण्डिता ग्रह से आक्रान्तबालक के होते है।

रेवतीग्रहपीडितलक्षणम्—

रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम् ॥ २७ ॥
कासहिक्काक्षिविक्षेपवक्रवक्त्रत्वरक्तताः ।
बस्तगन्धो ज्वरः शोपः पुरीषं हरित द्रवम् ॥ २८ ॥

रेवतीग्रहपीड़ित बालक के लक्षण—रेवतीग्रह में मुख का रंग फीका तथा नीला, कान, नाक तथा नेत्र का मलना, खासी, हिचकी, नेत्र विस्फार (आंख फैलाकर देखना), मुख का टेढ़ा होना तथा रक्तवर्ण का होना, शरीर से बकरी के समान गन्ध आना, ज्वर, सूखा रोग तथा मल हरित वर्ण का पतला होना ये लक्षण बालक के होते हैं ॥ २७–२८ ॥

शुष्करेवतीग्रहपीडितलक्षणम्—

जायते शुष्करेवत्या क्रमात्सर्वाङ्गसंक्षय ।
केशघातोऽन्नविद्वेषः स्वरदैन्यं विवर्णता ॥ २९ ॥
नानावर्णपुरीषत्वमुदरे ग्रन्थयः सिराः ।
रोदनं गृध्रगन्धित्वं दीर्घकालानुवर्तनम् ॥ ३० ॥

शुष्करेवतीग्रहपीड़ितबालक के लक्षण—शुष्करेवतीग्रह से आक्रान्त होने पर क्रमशः शरीर के सम्पूर्ण अंग क्षीण हो जाते हैं। बालका गिरना, अन्न-खाने में अरुचि, स्वरक्षीण, मुख पर फीकापन, अनेक रंग का दस्त होना, पेट में गाठे तथा नीले वर्ण की सिरा दिखाई देना, रोना, गीध के समान गन्ध निकलना और अधिक समय तक रहना ये लक्षण बालक में होते हैं ॥ २९–३० ॥

उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत् ।

जिह्वायां निम्नता मध्ये श्यावं तालु च त त्यजेत् ॥ ३१ ॥

शुष्करेवतीग्रह गृहीत जिस बालक के उदर में वृत्ताकार गांठें हो, अनेक रंग का मलत्याग करता हो, जिह्वा धस गई हो तथा तालु का रंग फीका हो गया हो ऐसे बालकों को छोड देना चाहिए अर्थात् असाध्य होता है इसकी चिकित्सा न करे।

भुञ्जानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते।
तृष्णागृहीतः क्षामाक्षो हन्ति तं शुष्करेवती ॥ ३२ ॥

जो शुष्करेवती ग्रह गृहीत बालक अनेक प्रकार के अन्न को खाते हुए भी क्षीण होता जाय, प्यास लगी रहे नेत्र कृश हो जाय तो ऐसे बालक को शुष्करेवती मार डालती है ॥ ३१-३२ ॥

ग्रहाणां बालग्रहहेतुः—

हिंसारत्यर्चनाकांक्षाग्रहग्रहणकारणम् ।

ग्रहों के बालकों के ग्रहण करने कारण—ग्रह, हिंसा, प्रेम तथा पूजा की चाह से बालकों को ग्रहण करते हैं।

हिंसार्थगृहीतस्य बालस्य लक्षणम्—

तत्र हिंसात्मके बालो महान्वा स्रुतनासिकः ॥ ३३ ॥
क्षतजिह्वो क्वणेद्गाढमसुखी साश्रुलोचनः ।
दुर्बलो हीनवचनः पूतिगन्धश्च जायते ॥ ३४ ॥
क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते ।
हस्तौ चोद्यम्य संरब्धो हन्त्यात्मानं तथा परम् ॥ ३५ ॥
तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं चादीप्तमाविशेत् ।
अप्सु मज्जेत्पतेत्कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम् ॥ ३६ ॥
तृड्दाहमोहाः पूयस्य छर्दनं च प्रवर्तते ।
रक्तं च सर्वमार्गेभ्यो रिष्टोत्पत्तिश्च तं त्यजेत् ॥ ३७ ॥

हिंसा के लिये गृहीत बालक का लक्षण—ग्रहों के ग्रहण में हिंसा के लिये गृहीत बालक बड़ा हो जाता है या उसके कान तथा नाक बडे हो जाते हैं उसकी जिह्वा क्षत हो जाती है वह बहुत चिल्लाता है, बराबर कष्ट का अनुभव करता है नेत्र अश्रुपूरित रहते है, दुर्बल हो जाता है, वाणी क्षीण हो जाती है और मुख से दुर्गन्ध निकलती है। बालक क्षाम (दुबला पतला) हो जाता है मूत्र तथा मल को अपने हाथ से मसलता है और घृणा नहीं करता है। दोनों हाथों को उठाकर संरब्ध होकर अपने को तथा दूसरों को मारता है। उसी प्रकार शस्त्र के ऊपर तथा काष्ठ आदि से अग्नि को उद्दीप्त कर उस पर बैठता है। जल में डूबता है, कुंआ मे कूदता है इसी प्रकार के

भयंकर कार्य को करता है। उसको अत्यधिक प्यास लगती है जलन होती है, वार-वार मूर्च्छित होता है और पूय का वमन करता है, शरीर के सभी मार्गों से रक्त निकलता है तथा अरिष्टों की उत्पत्ति होती है ऐसे उपद्रवों से युक्त ग्रहगृहीत बालक की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

रत्यर्थं गृहीतस्य बालस्य लक्षणम्—

रहः स्त्रीरतिसंलापी गन्धस्रग्भूषणप्रियः।
हृष्टः शान्तश्च दुःसाध्यो रतिकामेन पीडितः॥ ३८॥

रति के लिये गृहीत बालक के लक्षण—एकान्त में स्त्री के रति सम्बन्धी वार्तालाप करता है, सुगन्धित द्रव्य माला तथा आभूषण उसको प्रिय लगते है प्रसन्न तथा शान्त रहता है और रति की कामना से पीडित रहता है। ऐसा रत्यर्थं गृहीत बालक रोगी दुःसाध्य होता है॥ ३८॥

अर्चनार्थं गृहीतस्य बालस्य लक्षणम्—

दीनः परिमृशेद्वक्त्रं शुष्कोष्ठगलतालुकः।
शङ्कितं वीक्षते रौति ध्यायत्यायाति दीनताम्॥ ३९॥
अन्नमन्नाभिलापेऽपि दत्तं नाति तु भुञ्जते।
गृहीतं बलिकामेन तं विद्यात्सुखसाधनम्॥ ४०॥

इति बालग्रहविज्ञानं संपूर्णम्।

पूजा के लिये गृहीत बालक के लक्षण—पूजा के लिये गृहीत बालक दीन (दुःखी) होता है मुख को वार-बार स्पर्श करता है, उसके ओष्ठ गला तथा तालु शुष्क रहते हैं भयभीत होकर देखता है तथा रोता है, ध्यान करता है, और दीनता को प्राप्त होता है। अन्न खाने की इच्छा होते हुए भी दिया हुआ अन्न अधिक नहीं खा पाता है। इन लक्षणों से युक्त पूजा के लिये गृहीत बालक सुख साध्य होता है॥ ३९–४०॥

बालग्रह विज्ञान समाप्त।

अथातः बालग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

बालग्रह निदान के बाद बालग्रह को दूर करने का उपाय कहते हैं।

हन्तुकामं जयेद्धोमैः सिद्धमन्त्रप्रवर्तितैः।
इतरौ तु यथाकाम रतिबल्यादिदानतः॥ ४१॥

मारने की इच्छा से ग्रहण किये हुए ग्रहों के ऊपर होम तथा सिद्ध मन्त्रों के प्रयोगों द्वारा विजय प्राप्त कर ले। रति तथा पूजा के लिये पकड़े हुए ग्रहों को उनकी इच्छा के अनुसार रति तथा बलि आदि प्रदान कर जीत ले॥ ४१॥

बालग्रहाणां सामान्यचिकित्सा—

ग्रहेषु साध्येषु शिशुं विविक्ते शरणे स्थितम् ।
त्रिरह्वा सिक्तसंमृष्टे सदा सन्निहितानले ॥ ४२ ॥
विकीर्णभूतिकुसुमबीजपत्राग्रसर्षपे ।
रक्षोघ्नतैलज्वलितप्रदीपहतपाप्मनि ॥ ४३ ॥
व्यवायमद्यपिशितनिवृत्तपरिचारके ।
पुराणसर्पिषाभ्यक्तं परिषिक्तं सुखाम्बुना ॥ ४४ ॥
साधितेन बलानिम्बवैजयन्तीनृपद्रुमैः ।

बालग्रहों की सामान्य चिकित्सा—आक्रान्त (आक्रमण किये हुए) ग्रहों के साध्य होने पर दिन भर में तीन बार सींच कर मार्जन किये हुए निरन्तर अग्नि से प्रज्वलित, भस्म कुसुम्भ (बरे) के बीज, तेजपत्र, यव तथा सरसों से विकीर्ण (बिखरे हुए) रक्षोभूत पिशाचा आदि नाशक तैल के दीप को जलाने से दोषरहित तथा मैथुन, मद्यपान एवं मांस भक्षण आदि को सेवन न करने वाले सेवक से युक्त एकान्त स्थान में स्थित बालक को बरियार, नीम, वैजयन्ती एवं नृप द्रव (राजादन 'खिरिनी' रा० मि) इन द्रव्यों से सिद्ध किये हुए पुराने घृत से बालकों को अभ्यञ्जन (बालक के शरीर में मर्दन) कर थोड़े गरम जल से स्नान कराये ।

बालग्रहे पारिभद्रादिधूपः—

पारिभद्रककट्वङ्गजम्बूवरुणकट्तृणैः ॥ ४५ ॥
कपोतवङ्कापामार्गपाटलामधुशिग्रुभिः ।
काकजङ्घामहाश्वेताकपित्थक्षीरिपादपैः ॥ ४६ ॥
सकरञ्जकदम्बैश्च धूपं स्नातस्य चाचरेत् ।

बालग्रह में पारिभद्रादि धूप—पारिभद्रकर (बकायन), कट्वङ्ग (सोनापाढ़ा), जामुन, वरुण कट्तृण (सुगन्धित तृण विशेष) कपोतवङ्का (ब्राह्मी) अपामार्ग, पाढल, मुलेठी, सहिजन, काकजङ्घा, महाश्वेता (श्वेत अपराजिता), कैथ, क्षीरिपादप (गूलर) करञ्ज तथा कदम्ब इन द्रव्यों का धूप पूर्वोक्त प्रकार से स्नान कराये हुए बालक को दिखाये ।

द्वीपिव्याघ्राहिसिंहर्क्षचर्मभिर्घृतमिश्रितैः ॥ ४७ ॥
पूतिवृक्षाङ्घ्रिसिद्धार्थवचाभल्लातदीप्यकैः ।
सकुष्ठैः सघृतैर्धूपः सर्वग्रहविमोक्षणः ॥ ४८ ॥

हाथी, व्याघ्र, सर्प, सिंह, भालू इन जानवरों का घृतमिश्रित चर्म और पूतिकरञ्ज का मूल, सरसों, वच भल्लातक अजवायन तथा कूट समभाग—इन द्रव्यों का घृत मिश्रित धूप सभी प्रकार के बालग्रहों को दूर करता है ॥ ४५-४८ ॥

बालग्रहनिवारकषड्विधकर्मनिरूपणम्—

प्रदेहैः सेचनैर्धूपैः पानाभ्यञ्जनधारणैः ।
कर्मभिः षड्विधं प्रोक्तं ग्रहाणां विनिवर्तनम् ॥ ४९ ॥

बालग्रह निवारक छः प्रकार के कर्मों का निरूपण—ग्रहों को दूर करने के लिये प्रदेह, सेचन, धूप, पान, अभ्यञ्जन तथा औषध धारण ये छः कर्म (उपचार) बताये गये हैं ॥ ४९ ॥

सहामुण्डितिकोदीच्यक्काथ स्नाने ग्रहापहः ।
सप्तच्छदामयनिशाचन्दनैश्चानुलेपनम् ॥ ५० ॥

सहा (मुद्गपर्णी), गोरखमुण्डी तथा उदीच्य (सुगन्ध वाला) इन द्रव्यों के क्वाथ से स्नान करने पर ग्रह नष्ट होते हैं। छतिवन, कूठहल्दी तथा चन्दन इन द्रव्यों का अनुलेपन बालग्रह को नाश करता है ॥ ५० ॥

अर्कक्षीरं घृतं चैव शृङ्गवेर मनःशिला ।
गर्भरूपस्य लेपोऽयं सर्वग्रहनिबर्हण. ॥ ५१ ॥

मदार का दूध, घृत, सोंठ तथा मैनसिल इन द्रव्यों के कल्क का लेप सभी प्रकार के ग्रहों को दूर करता है ॥ ५१ ॥

बालग्रहे मूर्वाद्युद्वर्तनम्—

मूर्वामूलहरिद्रासप्तच्छदसर्षपैस्तुल्यम् ।
सर्वशिशुग्रहनाशनमुद्वर्तनमम्बुना पिष्टैः ॥ ५२ ॥

बालग्रह में मूर्वाद्युद्वर्तन—मूर्वा (मरोरफली या मोरवेल), मूल (पुष्करमूल), हलदी छतिवन तथा सरसो समभाग इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर उसके कल्क से उद्वर्तन (उबटन) लगाना बालकों के सभी प्रकार के ग्रहों को नाश करता है ॥ ५२ ॥

मूर्वाबलाश्वगन्धासप्तच्छदमूलचोरकैः सजलैः ।
उद्वर्तनं प्रदिष्टं शिशुगात्रविवर्धनं ग्रहनुत् ॥ ५३ ॥

मूर्वा, वरियार, अश्वगन्धा, छतिवन, पुष्करमूल तथा चोरक (चोरा सुगन्धित द्रव्य विशेष) इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर उबटन लगाना बालको के शरीर को बढ़ाने वाला तथा ग्रहों को दूर करने वाला कहा गया है। अर्थात् यह उबटन लगाने से बालकों के शरीर को बढ़ाता है तथा आक्रान्त ग्रहों को दूर करता है ॥ ५३ ॥

बालग्रहापहः प्लक्षाद्यो लेपः—

प्लक्षाश्वत्थोदुम्बरमधूकवटगर्दभाण्डतरुणानाम् ।
आदाय मुष्टिमात्रं विपाच्य सलिलार्धशेषेण ॥ ५४ ॥
तेन जलेन शिशूनां स्नानं कुर्वीत पूतशीतेन ।

त्वग्रक्तकोठमण्डलविस्फोटकशमनमायुष्यम् ॥ ५५ ॥
सर्वग्रहापनोदनमुपचयकरमाशु सर्वसन्धीनाम् ।
एषामेव च कल्कैः सरक्तकोठापहो लेपः ॥ ५६ ॥

बाल ग्रह नाशक प्लक्षाद्य लेप—प्लक्ष (पाकड़), अश्वत्थ, (पीपल), गूलर, महुआ, वट, तथा गर्दभाण्ड (काढ़ी पीपर) इन वृक्षों का छाल एक मुष्टि (एक छटांक) जल में डालकर पकावे आधा शेष रहने पर कपड़ा से छानकर तथा शीतल कर उस जल से बालक को स्नान कराये। यह स्नान त्वक् सम्बन्धि रोग, रक्त सम्बन्धि रोग, कोठ (ददोरा) मण्डल (वृत्ताकार चकत्ता) तथा फोड़ियों को शान्त करनेवाला, आयु बढ़ाने वाला, सभी ग्रहों को दूर करनेवाला तथा सभी सन्धियों को शीघ्र ही बढ़ाने वाला है। इन्हीं द्रव्यों के कल्क का लेप रक्त रोग के सहित कोठ रोग को नाश करता है ॥ ५४–५६ ॥

बालग्रहे सर्षपादिधूपः—

सर्षपा निम्बपत्रार्कमूलमश्वखुरा यवाः ।
भूर्जपत्रं घृतं धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥ ५७ ॥
योजयेद्भूतविद्यायां यान्युक्तानि घृतानि च ।

बालग्रह में सर्षपादि धूप—सरसों, नीम का पत्ता, मदार की जड़, अश्वखुर (घोड़े का खुर), यव, भोजपत्र तथा घृत इन द्रव्यों का धूप सभी ग्रहों को दूर करता है। इसके अतिरिक्त भूतविद्या अधिकार में बताये हुए घृतों को बालग्रह में प्रयोग करना चाहिए।

बालग्रहे दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—

हस्तमात्रं शुचौ देशे गोमयेनोपलेपयेत् ॥ ५८ ॥
तत्राक्षतानां चौक्षाणां स्थाप्यं पात्रं सदक्षिणम् ।
विधूमश्चानिलस्तोयं गुग्गुलुः सर्पिराहुतिः ॥ ५९ ॥
शुक्लं पुष्प बलिर्धूपो दूर्वा श्वेताश्च सर्षपाः ।
प्राङ्मुखोऽथ शुचिर्वैद्यस्त्रिवर्णामथवा सिताम् ॥ ६० ॥
उपविष्टः प्रतिसरां गृहीत्वा वेष्टयेत्तया ।
भूर्जे रोचनया विद्यां लिखितामपराजिताम् ॥ ६१ ॥
लक्ष्मणा सहदेवाख्या नागदन्ती कटम्भरा ।
मर्कटी कर्कटी लम्बा बृहती कण्टकारिका ॥ ६२ ॥
खरनासा मृगैर्वारुर्महाकोशा शतावरी ।
उदङ्मुखस्य बालस्य बध्नीयात्तां ततो गले ॥ ६३ ॥
तदभावे दृढं क्षौमं सूत्र मन्त्रमिम जपन् ।

बालग्रह में दैव व्यपाश्रय चिकित्सा—स्वच्छ स्थान में एक हाथ जमीन गोबर से लिपवाये। वहां पर पानी से प्रक्षालन किया हुआ अक्षत तथा पूजा की सामग्री का पात्र दक्षिणा सहित रक्खे। पूजा की सामग्री—निर्धूम, अग्नि, जल, गुग्गुलु, घृत, हवन की सामग्री, सफेद पुष्प, वलिद्रव्य, धूप, दूर्वा, तथा सफेद सरसों को पूजा के स्थान पर रक्खे। इसके बाद वैद्य स्नानादि के द्वारा पवित्र होने के बाद पूर्वाभि मुख बैठकर तीन वर्ण की या सफेद वर्ण की प्रतिसरा (रक्षा सूत्र ककड़ आदि के लिये प्रयोग होने वाला सूत) लेकर उससे गोरोचन मे भोजपत्र पर लिखे हुए अपराजिता विद्या को लपेट दे। इसके पहले उस रक्षा सूत्र में लक्ष्मणा, सहदेइया, नागदन्ती, कटम्भरा (कायफर) मर्कटी (केवाछ), कर्कटी (ककड़ी), लम्बा (लौकी), बृहती (वनभंटा), भटकटैया, खरनासा (अपामार्ग), मृगैवारु (इन्द्रायण "इनारुन"), महाकोशा (वन तरोई) तथा शतावरी इन द्रव्यों को पोटली में बांध कर रक्षा सूत्र में बांध दे। तदनन्तर उत्तराभि मुख बैटे हुए बालक के गले में बांधे। कपास के सूत्र के अभाव में मजबूत चौम (तिसिवट या केला) का सूत्र निम्न लिखित मन्त्र को पढ़ते हुए बांधे।

बध्नाम्यहं प्रतिसरां नमस्कृत्वा स्वयभुवे ॥ ६४ ॥
बालानां रक्षणार्थाय शिवां पूर्वर्षिनिर्मिताम्।

मैं पूर्वमहर्षियों के निर्मित कल्याण कारीणी प्रतिसरा (रक्षा सूत्र) को बालकों की रक्षा के लिये ब्रह्मा को नमस्कार कर बांधता हूँ।

इन्द्रः प्रतिसरां तुभ्य ये च तस्यानुसारिणः ॥ ६५ ॥
वज्राशनिधरा भूता मेघवृन्दानुसारिणः।
ऐरावतस्कन्धगत येऽनुयान्ति पुरन्दरम् ॥ ६६ ॥
यमो वैवस्वतो राजा ये च तस्यानुचारिणः।
मेषसूकरसिंहोष्ट्रगजवाजिसमाननाः ॥ ६७ ॥
कालाः कालायसैः पाशैः स्तब्धाक्षभ्रुकुटीमुखाः।
शक्तिमुद्गरहस्ताश्च खड्गपाशधराश्च ये ॥ ६८ ॥
पाशभृद्वरुणो राजा तोयभृत्सागरालयः।
शारदाभ्रघनाकारा ये च तस्यानुचारिणः ॥ ६९ ॥
महोर्मिमन्तं वेगेन क्षोभयन्ति सरित्पतिम्।
धनाधिपो वैश्रवणः सर्वयक्षाधिपो विभुः ॥ ७० ॥
नानाकाराश्च ये भूतास्तस्यैवानुचराः सदा।
आदित्या वसवो रुद्रा मारुतश्चाश्विनावपि ॥ ७१ ॥
ते ते सर्वेऽनुमन्यन्तामिमां प्रतिसरां क्रियाम्।

दीर्घमायुस्तथाऽऽरोग्यं तव दास्यन्ति स्वस्ति ते ॥ ७२ ॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति नारदपर्वतौ ।
स्वस्ति वेदाश्च यज्ञाश्च अग्नीषोमौ तु स्वस्ति ते ॥ ७३ ॥
स्वति ते श्रीर्धृतिः कीर्तिर्लक्ष्मीर्मेधा क्षमा द्युतिः ।
स्वस्ति तुष्टिश्च पुष्टिश्च वपुर्ह्रीर्बुद्धिरेव च ॥ ७४ ॥
स्वस्ति रुद्रो विशाखश्च स्कन्दः शक्तिधरश्च ते ।
स्वस्ति धाता विधाता च सुपर्णश्च महाबलः ॥ ७५ ॥
स्वस्ति देवाश्च यक्षाश्च मा च ते पापमागमत् ।

तू हमारे लिये इस प्रतिसरा (रक्षासूत्र) को इन्द्र तथा उनके अनुचर, वज्र तथा शूल को धारण करने वाले, भूत, मेघ समूह के पीछे चलने वाले, ऐरावत हाथी के कन्धे पर बैठने वाले, इन्द्र के पीछे चलने वाले गण, यमराज, राजा वैवस्वत तथा उनके अनुचर मेष (भेड़), सूकर, सिंह ऊंट गज एवं घोड़ा के सदृश मुख वाले, काले लोहे के पाश (फांस) धारण किये हुए, स्थिर नेत्रों एवं मुख वाले, काल (मृत्युपास लिये स्थित काल), शक्ति, मुग्दर हाथ में लिये हुए, तलवार तथा पाश धारण किये हुए काल के अनुचर, पाश को धारण किये हुए राजा वरुण, जल को धारण करने वाले सागर, शरद् कालीन आकाश के मेघ के सदृश उनके अनुचर जो अपने वेग से बड़े बड़े लहर वाले समुद्र को क्षुब्ध कर देते हैं वे, धनाधिप (कुबेर), वैश्रावणस, सभी यक्षों के अधिपति विभु तथा अनेक रूपों को धारण करने वाले भूत आदि उनके अनुचर, सूर्य, वसु रुद्र, वायु देवता, अश्विनी कुमार आदि वे सभी देवता इस प्रतिसरा (रक्षा सूत्र) का अनुमोदन करें। वे तुम्हारे लिये दीर्घ आयु, आरोग्य तथा कल्याण प्रदान करेंगे। भगवान् तुम्हारा कल्याण करे। नारद, पर्वत, वेद, यज्ञ, अग्नि, सोम, श्री, धृति, कीर्ति, लक्ष्मी, मेधा, क्षमा, द्युति, तुष्टि, पुष्टि, वपु, ह्री, बुद्धि, रुद्र, विशाख (नैगमेष), स्कन्द, शक्तिधर, धाता, विधाता, महान् पराक्रमी सुपर्ण देवता तथा यक्ष तुम्हारे लिये कल्याणकारी होवे।

दुर्व्याहृतानि दुःस्वप्ने मनसा चिन्तितानि च ॥ ७६ ॥
दुष्टादीनां भयकृतो वाचः प्रतिहता मया ।
रक्षा प्रतिसरा तुभ्यं बद्धेयं पापघातिनी ॥ ७७ ॥
निर्वृतस्त्व निरुद्वेगो जीव वर्षशतं सुखी । इति ।

दुःस्वप्नो (बुरे स्वप्नों) में जो कोई अनुचित शब्द का प्रयोग किया गया है और मन से अनुचित बातें सोची गई हैं तथा दुष्टों के द्वारा जो अनुचित बातें कही गई हैं उन सबों को मैंने दूर कर दिया है। पापों (क्लेशों) को

नाश करने वाली इस प्रतिसरा (रक्षा सूत्र) को तुम्हें बांध दिया है। ग्रह-बाधाओं से छुटकारा पाकर सुख पूर्वक सैकड़ों वर्ष तक जीवो। (इस मन्त्र को पढ़कर बालक के गले में रक्षा सूत्र को बांध दें)।

अपूपपूपसंयावस्वस्तिकालेपकादयः ॥ ७८ ॥
पायसो मिश्रकः कूरो गुडकूरो हरिद्रकः।
कृशरा यावकः क्षौद्रं पललं लवण हविः ॥ ७९ ॥
दधिकुल्माषनिष्पावा रक्तो भूतौदनः पयः।
पक्वामसमांसरुधिरमद्यसुक्तसुरासवाः ॥ ८० ॥
गन्धमाल्यं फलं हेम धूपः सपुरकुन्दुरुः।
सुरसार्जकनिर्गुण्डीकुसुमं च सपल्लवम् ॥ ८१ ॥
बलिः सशस्त्रैर्देयः स्याद्भवनस्य चतुर्दिशम्।

इसके बाद अपूप (मालपूआ), पूप (पूआ) सयाव[1] (मैदा की मिठाई), स्वस्तिका (टिकिया "वारा"), आलेपक (व्यञ्जन विशेष लपसी) पायस (खीर) मिश्रक (कचौड़ी), कूर (अन्न) गुड़ कूर (गुलगुला), हरिद्रक (हरदाह), कृशरा (खिचौड़ी), यावक (अध सूखे यव की रोटीया दरिया), मधु, मांस, नमक, हवन सामग्री, दही, उड़द, भटवास, लाल चावल का भात, दूध, पकाया हुआ तथा कच्चा मांस, रक्त, मद्य, शुक्त, सुरा आसव, सुगन्धित माला, फल, हेम (सोना, रुपया, पैसा) धूप, गुग्गुलु, कुन्दरु, तुलसी, काली तुलसी तथा निर्गुण्डी का फूल और पल्लव, इन उपरोक्त सभी द्रव्यों को एकत्र कर मकान के चारो तरफ शस्त्र धारी पुरुषों को साथ लेकर बलि प्रदान करे।

चतुष्कचैत्यत्रिपथदेवायतनगोपुरे ॥ ८२ ॥
एकवृक्षोदपाने च सन्ध्ययोर्दीपवाञ्निशि।
अथापतितगोवर्चःप्रलिप्ते दर्भसंस्कृते ॥ ८३ ॥
वृत्ते वा चतुरस्रे वा मण्डले कुसुमोज्ज्वले।
नानाग्रहपरीवारं भिषग्भूतपतिं लिखेत्।
तं प्रति प्राङ्मुखो विद्यां पठन्नुपहरेद्बलिम् ॥ ८४ ॥

नमोऽभिसारकाय नमः कुरङ्गाय नमः सप्ताभ्यो मातृभ्यो नमः स्कन्दाय इत्येष परिग्रहमन्त्रः मातॄणामावाहनं च। हिलतिमिलतिहिलितापललनि स्वाहा। अनेन सप्तकृत्व परिजप्तेन पानीयचुलुकेनात्माऽभ्युक्षयितव्यः। एवमात्मरक्षा कृता भवति।

---

१. समितामम्बुदुग्धेन मर्दयित्वा सुशोभनाम्।
पचेद् घृतोत्तरेखण्डेक्षिपेद्भाण्डे नवे च तत्॥
संयावोऽसौ युतश्चूर्णैस्त्वगेलामरिचार्द्रकैः॥ (द्रव्यगुण)

ग्रहाणां सन्निधानाय बलेश्च प्रतिपत्तये ।
सत्यशापेन संयुक्तमिमं मन्त्रं पठेदनु ॥ ८५ ॥

चतुष्क (चौराहा) चैत्य (यज्ञमण्डप) त्रिपथ (त्रिमुहानी), देव मन्दिर, गोशाला, एक वृक्ष के नीचे तथा नदी के किनारे दोनों सन्ध्या के समय, तथा प्रकाश वाली रात्रि में वलि प्रदान करे। अथवा अपने आप जंगली गोवर से लिपे हुए कुश से संस्कृत वृत्ताकार या चौकोर स्थान में तथा पुष्प से उज्वल मण्डप में वैद्य अनेक ग्रहों के परिवार को तथा भूतपति (शंकर) का चित्र बनाये और उसके सामने पूर्वाभिमुख बैठकर इस विद्या को पढ़ता हुआ वलि प्रदान करे। "नमः अभिसाराय नमः कुरङ्गाय नमः सप्ताभ्यो मातृभ्यो नमः स्कन्दाय" यह परिग्रह मन्त्र है तथा मातृकाओं का आवाहन मन्त्र है। "हिलति मिलति हिलिताप ललनि स्वाहा" इस मन्त्र को सात वार जप कर पानी के चुल्लु से अपने को सींचे इस प्रकार अपनी रक्षा होती है। ग्रहों के सन्निधान के लिये तथा वलि की सिद्धि के लिये सत्य शाप से युक्त इस मन्त्र को अन्त में पढ़े ॥ ७८–८५ ॥

प्रजापतौ तु यत्सत्यं यत्सत्यमरेश्वरे ।
धर्मराजे च यत्सत्यं यत्सत्य च तपस्विषु ॥ ८६ ॥
धनाधिपे च यत्सत्यं यच्च सत्यं जलाधिपे ।
यत्सत्यमग्निहोत्रेषु सत्यं यच्छ्रोत्रियेषु च ॥ ८७ ॥
पतिव्रतासु यत्सत्यमीश्वरे च महात्मनि ।
एतैस्तु सत्यसमयैर्गुह्यकाः सत्यवादिनः ॥ ८८ ॥
दर्शयध्व स्वरूपाणि सत्यं रक्षत सर्वशः ।
आमन्त्रिता मया सौम्याः सौम्यरूपाः प्रतीच्छत ॥ ८९ ॥
बलिं चोपहृत सर्वं सर्वे कौमारकग्रहाः ।
दर्शयध्वं स्वरूपाणि बलिं च प्रतिगृह्यताम् ॥ ९० ॥

जो सत्य प्रजापति, अमरेश्वर (इन्द्र) धर्मराज, तपस्वी, कुवेर, वरुण, अग्निहोत्र श्रोत्रियब्राह्मण, पतिव्रता स्त्री, ईश्वर तथा माहात्मा में है उन सभी सत्य प्रतिज्ञों से गुह्यक भी सत्यवादी हैं। अतः अपने स्वरूप को दिखाये और सभी तरफ से रक्षा करें। मैंने सौम्य एवं सौम्यस्वरूप आप लोगों को आमन्त्रित किया है आप लोग प्रतीक्षा करें। और अपने स्वरूप को दिखायें तथा वलि को ग्रहण करें ॥ ८६–९० ॥

ततश्चानुपठेदेनां कुलविद्यां समाहितः ।
आला नीला खला काला नकुला ग्रहकारिका ॥ ९१ ॥
लेना सुनेना माता च महासेना यशस्विनी ।

कृतमाला कृतशिरा एतास्तु ग्रहमातरः ॥ ९२ ॥
कुमारवचनाच्छीघ्रं प्रमुञ्चन्तु शिशुं त्विमम् ।

पूर्वोक्त—सत्य विद्या पढ़ने के बाद इस कुल विद्या को सावधान होकर पढ़े। आला, नीला, खला, काला, नकुला, ग्रह कारिका, सेना, सुसेना, माता, महासेना, यशस्विनी तथा कृतसिरा ये ग्रह मातायें हैं। आप सभी ग्रह मातायें कुमारकार्तिकेय की आज्ञा से इस बालक को छोड़ दें।

कालकल्पा ज्वलच्छक्तिः किङ्किणीजालभूषिता ॥ ९३ ॥
कुमारवचनाद्दूती संप्राप्ता मुच्यतां शिशुम् ।

काल के तुल्य, प्रदीप्त शक्ति से युक्त, किंकिणी (करधनी) की लड़ियों से सुशोभित दूती कुमार कार्तिकेय के वाक्य से आई है आप लोग इस बालक को छोड़ दें।

पताका कुक्कुटच्छत्रं घण्टा बर्हिधरः शिखी ॥ ९४ ॥
शिरस्तम्बश्च ते मुद्रा मुच्यतां मातरः शिशुम् ।
गन्ध धूपं च माल्यं च कुमारस्ते प्रयच्छति ॥ ९५ ॥
न स्थातव्यं तदाघ्राय स्वां गतिं गच्छ माचिर ।
धात्र्यः सर्वाः कुमाराणां संगता गन्धमादने ॥ ९६ ॥
रक्तध्वजपताकस्य रक्तांशुकनिवासिनः ।
कुमारस्यालय तत्र यात बालं विमुञ्चत ॥ ९७ ॥
षण्मुखो द्वादशाक्षो वै तस्मिन् काले वृतो वरः ।
वीरः कुमाराधिपतिस्तव पुत्रो भविष्यति ॥ ९८ ॥
ब्राह्मणो ब्राह्मणानां तु सर्ववेदविदां वरः ।
यक्षराक्षसनागानां गन्धर्वासुरयोरपि ॥ ९९ ॥
पिशाचभूतसंघानां व्याधीनां च स ईश्वरः ।
आज्ञापयति वः स्कन्दो गम्यतां गन्धमादनम् ॥ १०० ॥
ग्रहो यः कोपयेदाज्ञां कुमारस्य यशस्विनः ।
स्थानाच्च्युतः स वै क्षिप्रं बाह्यः परिषदो भवेत् ॥ १०१ ॥

पताका, कुक्कुटच्छत्र या कुर्कुटच्छत्र, घण्टा वर्हिधर, शिखी तथा शिरस्तम्ब ये आप लोगों की मुद्रायें हैं अतः हे मातृगण ! आप इस बालक को छोड़ दें। तुम्हारा कुमार कार्तिकेय गन्ध, धूप तथा माला की प्रतीक्षा कर रहा है। इस गन्ध, धूप तथा माला को सूंघकर शीघ्र ही अपने स्थान को चली जाओ। बालकों की सभी मातायें गन्ध ग्रहण में साथ रहती हैं। अतः लाल ध्वजा पताका वाले लाल वस्त्र को धारण किये हुए कुमार कार्तिकेय के घर में जांय और बालक को छोड़ दें। पूर्वकाल में छः मुख तथा बारह आंख वाला कुमार

स्वामी कार्तिकेय श्रेष्ठ माना गया है। तुम्हारा 'वीरपुत्र' कुमारों का अधिपति होगा और वह ब्राह्मणों का ब्राह्मण, सभी वेदों को जानने वालों में श्रेष्ठ यक्ष, राक्षस, नाग, गन्धर्व, असुर, पिशाच, भूतसंघ (भूतगण) तथा व्याधियों का ईश्वर है। वह स्कन्द कार्तिकेय आप सभों को आज्ञा देता है कि गन्धमादन पर्वत पर चले जांय। जो ग्रह यशस्वी कुमार की आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह अपने स्थान से भ्रष्ट होकर परिषद्गण से अवश्य बाहर हो जायगा ॥ ९४–१०१ ॥

बलेरनन्तरं कुर्याद्धोममभ्यर्च्य पावकम् ।
पुष्पैर्भक्ष्यैश्च विविधैश्चरुणा लोहितैरतथा ॥ १०२ ॥
गन्धैर्गुग्गुलुधूपेन समिधः खादिरादयः ।
शतमष्टोत्तरं ग्राह्या अथवा चन्दनद्रुमात् ॥ १०३ ॥
अग्निदण्डं प्रवक्ष्यामि सर्वग्रहविमोक्षणम् ।
ब्रह्मण्यं त्वनलं देव हव्यकव्यप्रतीच्छकम् ॥ १०४ ॥
देवानां प्रमुखं स्वस्ति स्वाहापरिवृतं द्रुतम् ।
सहस्रविद्यो दहनः पावकः सर्वभक्षणः ॥ १०५ ॥
त्वं हि यज्ञश्च यूपश्च त्वं हि धर्मवतां गतिः ।
हिरण्यरेता देवस्त्वं त्वं हि वेदविदां गतिः ॥ १०६ ॥
दुर्वृत्तानां विनाशाय त्वं हि चोत्पादितः सुरैः ।
दह संग्रह देव त्वमिदं दुष्टस्य निग्रहम् ॥ १०७ ॥

अग्नये स्वाहा । महाग्नये स्वाहा ॥

त्वं हि शान्तिकरो वह्निस्त्वं हि मारुतवाहनः ।
हरिप्रधानगतिरासीदिदं गृह्य गुह्यकम् ॥ १०८ ॥
उत्सादय तेजसा त्वं मम वश्यं च तत्कुरु ।
दुष्टग्रहनिवारणं सर्वेषूपद्रवेषु च ॥ १०९ ॥
त्वया कृतेन होमेन शीघ्रं शान्तिः प्रजायते ।
आयाहि बहुदेवानां त्वं हि वक्त्रं पुरातनम् ।
तेन सत्येन देवेश इमं साधय मे ग्रहम् ॥ ११० ॥

तदनन्तर बलि देने के बाद अग्नि देव की पूजाकर हवन करे। अनेक प्रकार के गुलाबी तथा रक्त वर्ण के पुष्प, विविध प्रकार के भक्ष्यपदार्थ, और गन्धद्रव्य, गुग्गुलु, धूप तथा एक सौ आठ खैर की लकड़ी ग्रहण करें। अथवा चन्दन वृक्ष की लकड़ी (समिधा) एकत्र कर ले। इसके बाद सभी ग्रहों को दूर करने वाले अग्नि दण्ड को कहता हूँ।

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, महान् देव हव्य तथा कव्य की प्रतीक्षा करने वाले

देवताओं में प्रमुख, स्वाहा से शीघ्र ही तृप्त होने वाले अग्निदेव कल्याण करें। हजारों विद्याओं को जानने वाले, जलाने वाले, पवित्र करने वाले, सभी पदार्थों को भक्षण करने वाले, आप ही यज्ञ स्वरूप हैं। आप ही यूप (यज्ञीयस्तम्भ) हैं और आप ही धर्म करने वालों की गति हैं। आप ही हिरण्यरेता (अग्निदेव) हैं, देवता हैं तथा वेदज्ञाताओं की गति हैं। देवताओं के द्वारा दुर्वृत्तों (दुष्टों) को नाश करने के लिये आप ही उत्पन्न किये गये हैं। हे अग्नि देव, दुष्ट के इन निग्रह (ग्रहण) को जला दें तथा ग्रहण कर लें। अग्नि के लिये स्वाहा, सदा अग्नि के लिये स्वाहा। प्रार्थना—आप ही शान्ति करने वाले हैं वह्नि हैं, आप का वाहन पवन है। यह भगवान् का प्रधानगण था इस गुह्यक को ग्रहण कर अपने तेज से इनको कष्ट दे और मेरे वश में इस गुह्यक को कर दें। तथा सभी प्रकार के उपद्रवों में दुष्ट ग्रह को दूर करें। आप के इस किये हुए हवन से शीघ्र ही शान्ति हो जाती है। आप सभी देवताओं के प्राचीन काल से ही मुख्य स्वरूप हैं। आप उपस्थित हों। हे देव उस सत्य से मेरे इस ग्रह को सिद्ध करें॥ १०२-११०॥

नमोऽस्तु ते हव्यवाहन दण्डी दह २ दर्शय २ तेज २ मोहय २ अपस्मारमुद्धाटय कुमारपिशाचरेवतीरोदनत्रासनविभ्रासनकम्पनविनामनविजृम्भणोत्थापनोत्सादनदेवयक्षगन्धर्वभूतानां नागराक्षससंतर्जनदण्डनरोपणाविधूमारय भगवन्नग्निदण्ड अग्निवीर्य नमस्तेजसा स्वेनोत्सादय स्वाहा हव्यवाहनाय स्वाहा यमाय स्वाहा।

इस मन्त्र को पढ़े—और हवन करे।

मन्त्रार्थः—हे हव्यवाहन! (हवन किये हुए द्रव्य को उचित स्थान पर पहुचाने वाले) दण्ड देने वाले आप जलायें, दर्शन दें, अपने तेज को प्रकट करें, दुष्टों को मुग्ध करें, अपस्मार को दूर करें, कुमार, पिशाच तथा रेवती ग्रह का रुलाना, त्रास देना, भय दिखाना, कम्पन उत्पन्न करना, झुका देना, जम्भाई लाना, उठाना, उद्विग्न करना, देवता, यक्ष गन्धर्व, भूत, नाग तथा राक्षसों का डर दिखाना, दण्ड देना, क्रोध दिखाना आदि को दूर करें। हे भगवन् अग्नि दण्ड! अग्निवीर्य! आप के लिये नमस्कार है। आप अपने तेज से इन सबों को दण्ड दें आप के लिये स्वाहा है, हव्यवाहन के लिये स्वाहा है। यम के लिये स्वाहा है।

नश्यन्त्यनेन होमेन समस्ता बालकग्रहाः।
युञ्ज्यादथ बलिं होमं स्नपनं मन्त्रतन्त्रवित्॥ १११॥
तत्राग्नावरुणे ताम्रे तप्तहेमसमार्चिषि।
तारावैडूर्यसदृशे शशिविद्युत्समप्रभे॥ ११२॥

घृतमण्डाभवर्णे वा गन्धेन च घृतोपमे ।
केतक्युत्पलदध्याभे ध्रुवमारोग्यमादिशेत् ॥ ११३ ॥
अनारोग्यं तु नीलेऽग्नौ कपिले भस्मनिष्प्रभे ।
कृष्णे कपोते दुर्गन्धे मत्स्यपूयास्रगन्धिके ।
वचालशुनगन्धाभे विस्रे कर्दमगन्धिके ॥ ११४ ॥

बालग्रहानुबन्धचिकित्सा—

अनुबन्धान् यथाकृच्छ्रं ग्रहापायेऽप्युपद्रवान् ।
बालामयनिषेधोक्तभैषजैः समुपाचरेत ॥ ११५ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे षष्ठे कौमारतन्त्रखण्डे
बालग्रहप्रतिषेधाख्यो द्वादशोऽध्यायः ॥

इस होम से सम्पूर्ण बालकग्रह नष्ट हो जाते हैं। मन्त्र तन्त्र को जानने वाला तान्त्रिक इसके बाद बलि, होम तथा स्नान का प्रयोग करे। हवनकाल में अग्नि की ज्वाला अरुण वर्ण, ताम्रवर्ण, तप्त सोना के तेज के सदृश, तारा वैदूर्य मणि के सदृश, चन्द्रमा तथा बिजली के समान घृतमण्ड के वर्ण के सदृश गन्ध में घृत के सदृश, और रूप में केतकी, नील कमल के फूल तथा दधि के सदृश होने पर बालक अवश्य ही आरोग्य प्राप्त करेगा ऐसा कहे। अग्निज्वाला के नील वर्ण, कपिलवर्ण, भस्म सदृश प्रभारहित काला, कबूतर के सदृश, दुर्गन्धयुक्त, मछली, पूय तथा रक्त के समान गन्ध होने पर, वच लहसुन की गन्ध की तरह गन्ध होने पर सड़ी हुई गन्ध होने पर तथा कर्दम की तरह गन्ध होने पर बालक का रोग दूर न होगा ऐसा बताये।

बालग्रहों के अनुबन्ध की चिकित्सा—ग्रहों के दूर हो जाने पर कष्ट के अनुसार अनुबन्धजन्य उपद्रवों को बालकों के रोगाधिकार में निषेध तथा बताये हुए औषधों से उपचार करें ॥ १११–११५ ॥

श्री शोढलविरचित गदनिग्रह नामक ग्रन्थ के छठे कौमारतन्त्रखण्ड में
बारहवां बालग्रह प्रतिषेधाधिकार समाप्त।

समाप्तश्चायं कौमारतन्त्राख्यः षष्ठः खण्डः ।

गदनिग्रहः

अथ विषतन्त्राख्यः सप्तमः खण्डः

अथ स्थावरविषनिदानाधिकारः प्रथमः

तत्र पूर्वं स्थावरविषनिदानं व्याख्यास्यामः।

कौमार तन्त्र के बाद स्थावर विष निदान को कहते हैं।

विषभेदाः—

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात्परं सर्पादिसम्भवम्॥ १॥

सर्वप्रथम स्थावरविष का निदान—विष के भेद—स्थावर तथा जंगम दो प्रकार के विष कहे गये हैं। उनमें पहला स्थावरविष मूल, पत्र, पुष्प आदि हैं तथा दूसरा सर्प आदि से उत्पन्न जङ्गम विष है॥ १॥

विमर्श—विषजनकत्वाद् विषम् अर्थात् एक निश्चित परिमाण में जो वस्तु शरीर में विषैला प्रभाव उत्पन्न करे उसे विष कहते हैं। निश्चित परिमाण का सम्बन्ध इसलिये किया गया है कि अल्प मात्रा में संखिया, पारद, अफीम, वत्सनाभ, कुचिला आदि विषद्रव्य भी अमृत के सदृश शरीर के लिये लाभदायक होते हैं। कुछ ऐसे पदार्थ हैं जो प्रति दिन प्रयोग में आते हैं किन्तु उनकी मात्रा अधिक होने पर विषैला प्रभाव उत्पन्न करते हैं जैसे लवण सदृश पदार्थ। फिर भी विषद्रव्य संखिया आदि असात्म्य होने पर या अधिक दिन तक निरन्तर सेवन करने से विषैला प्रभाव उत्पन्न करते हैं, उनकी विष संज्ञा दी गई है।

स्थावर तथा जंगम दो प्रकार के विष होते हैं। इसमें [1]स्थावरविष मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वक्, क्षीर, सार, निर्यास, धातु तथा कन्द ये दश हैं। धातु विष संखिया जैसे पदार्थ तथा कन्द विष वत्सनाभ आदि हैं।

सर्प, वृश्चिक आदि के विष को जंगम विष कहते हैं। इसके [2]सोलह अधिष्ठान होते हैं—

---

१. मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सारमेव च।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः॥ सु. क०-२॥

२. दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रार्तवमुखसंदंशविशर्धितसुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति (सु० क० ३)

दृष्टि (देखना), निश्वास, दांत, नख, मूत्र, मल, शुक्र, लार, आर्तव, मुखसंदंश, विशर्धित, तुण्ड, अस्थि, पित्त, शूक तथा शव (मृतक), इसका विशेष वर्णन सुश्रुत कल्पस्थान में मिलता है।

[1]पाश्चात्य विज्ञान में अनेक नवीन विषों का प्रभावानुसार दाहक, क्षोभक, उन्मादक, स्थापक आदि भेद मिलते हैं।

जङ्गमविषलक्षणम्—

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहं सपाकं लोमहर्षणम्।
शोफं चैवातिसारं च कुरुते जङ्गमं विषम्॥ २॥

जंगम विष का लक्षण—जंगमविष निद्रा, तन्द्रा, बिना परिश्रम के थकावट, दाह, पाचन शक्ति का क्षीण होना, रोमाञ्च, सूजन तथा अतिसार—इन लक्षणों को उत्पन्न करता है॥ २॥

स्थावरविषलक्षणम्—

स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते विषम्॥ ३॥

स्थावर विष का सामान्य लक्षण—स्थावरविष ज्वर, हिचकी, दन्तहर्ष, गले में जकड़न, फेन मिश्रित वमन, अरोचक, श्वास तथा मूर्च्छा को उत्पन्न करता है॥ ३॥

विषदातृलक्षणम्—

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥ ४॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च।
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत्॥ ५॥
हसत्यकस्मात्स्फोटयेदङ्गुलीर्विलिखेन्महीम्।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते॥ ६॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि।
आलभेत सकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्॥ ७॥
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः।

विषदाता के लक्षण—मनुष्यों के संकेतों को जाननेवाला बुद्धिमान् व्यक्ति वाणी, चेष्टा, मुख की विकृति तथा निम्नलिखित लक्षणों को देखकर विष देने वाले व्यक्ति का ज्ञान कर ले। विष देने वाला व्यक्ति पूछने पर या तो उत्तर नहीं देता है अथवा बोलना चाहता है किन्तु मोहित होकर मूर्ख की तरह

---

१. इसका विशेष वर्णन श्री रमानाथ द्विवेदी निर्मित अगद तन्त्र में देखें।

व्यर्थ तथा अस्पष्ट बात कहता है। एकाएक हंसता है, अपनी अंगुलियों को चटकाता है, निरर्थक ही जमीन को नाखूनों से खोदता है और तृण आदि को तोड़ता है। वह कांपता रहता है तथा भय के कारण एक दूसरे को देखता रहता है। इसके मुख का रंग फीका तथा श्याम (झुलसे हुए के सदृश) हो जाता है और नखों से कुछ तोड़ता भी है। वह थोड़ा दीन होकर हाथ से बालों को बार बार छूता है। विष देने वाला व्यक्ति बार बार आसन बदलता है तथा बेहोश हो जाया करता है।

मूलादिविषाणां विशिष्टं लक्षणम्—

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ ८ ॥
जृम्भणं वेपन श्वासो मोहः पत्रविषेण च।
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ ९ ॥
भवेत्पुष्पविषैश्छर्दिराध्मान श्वास एव च।
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः।
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता ॥ ११ ॥
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि।
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ १२ ॥

मूल आदि विषों के विशेष लक्षण—मूल विषों से शरीर में ऐंठन, असम्बद्ध प्रलाप तथा मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं। पत्रविष से जम्भाई, कंपकंपी, श्वासकृच्छ्रता तथा मोह होता है। फलविष से अण्डकोष में शोथ, दाह तथा भोजन में अरुचि होती है। पुष्पविषों से वमन, आध्मान तथा श्वासवृद्धि होती है। त्वचा, सार तथा गोंद के विषों का प्रयोग करने से मुख में दुर्गन्ध, कठिनता, शिरःशूल, और मुख से कफ का स्राव होना ये लक्षण होते हैं। क्षीरविषों के प्रयोग से मुख से झाग निकलना, अतिसार तथा सिर में गुरुता ये लक्षण होते हैं। धातुविषों से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा तथा तालु में जलन ये लक्षण होते हैं। ये विष प्रायः कालान्तर में प्राणघातक होते है ॥ ८-१२ ॥

विषदिग्धशस्त्रादिहतलक्षणम्—

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षतान्मांसं शीर्यते यस्य चापि ॥ १३ ॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत्।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्याद्मित्रैर्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥ १४ ॥

इति श्रीवैद्यवरसोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
स्थावरविषनिदानाधिकारः प्रथमः।

विषदिग्ध शस्त्रादि हत लक्षण—जिसका सद्यः क्षत (सद्योव्रण) पक जाय और उससे निरन्तर स्राव निकलता रहे और पाक निरन्तर बढ़ता जावे, जो कृष्णवर्ण का, गीला और अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त हो, जिस व्यक्ति के व्रण से सड़कर मांस गिरता हो, जो प्यास, मूर्च्छा, चक्कर, जलन तथा ज्वर से पीड़ित हो उसे विषलिप्तशस्त्र से क्षत हुआ समझना चाहिए। सावधानी न रखने से जिस व्यक्ति के व्रण में शत्रु के द्वारा विष डाल दिया जाय उसमें भी इसी तरह के लक्षण होते हैं। इसे 'विषदिग्धव्रण' कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

श्री शोढलविरचित गदनिग्रह के सातवें विषतन्त्र खण्ड में
पहला स्थावरविष निदानाधिकार समाप्त।

अथ जङ्गमविषनिदानाधिकारो द्वितीयः।

अथातो जङ्गमविषनिदानं व्याख्यास्यामः।

दूसरा 'जङ्गमविष निदानाधिकार—स्थावरविष निदान के बाद जंगमविष का निदान कहते हैं।

विविधसर्पदंष्टलक्षणम्—

वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः।
यथाक्रम समाख्याता द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः॥ १॥

विविध सर्पदंश के लक्षण—वात, पित्त तथा कफदोषप्रधान क्रमशः भोगी, मण्डल और राजिल होते हैं। अर्थात् वातदोषप्रधान भोगा, पित्तदोषप्रधान मण्डल और कफदोषप्रधान राजिल होते हैं। दो जातियों के मिलने से दोनों के लक्षणों से युक्त सर्प उत्पन्न होते हैं। इन्हें द्वयन्तर कहते हैं॥ १५॥

विमर्शः—[1]फण वाले साँप को भोगी या फणी, कहते हैं। जिसके शरीर पर चक्का या हल के सदृश मण्डलाकार गोल धब्बे होते हैं उसे मण्डली तथा जिसके ऊपर अनेक वर्ण की लम्बी रेखायें होती हैं उसे राजिल या राजीमान कहते हैं। द्वन्द्व रूप सर्पों की उत्पत्ति जैसे फणीसर्प का मण्डलीमादा सर्प के सम्पर्क से दोनों के लक्षणों से युक्त गोनस नामक तीसरी जाति के सर्प की उत्पति होती है। मण्डली या गोनस नामक सर्प का मादासर्प फणिनी से सम्पर्क होने पर कृष्णसर्प की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न जाति के सर्पों के सम्बन्ध से अनेक प्रकार के सर्प उत्पन्न होते हैं।

सांप शीत-रक्तवाला एक पृष्ठवंशी जन्तु है। इसके शरीर के तीन भाग होते हैं। सिर, गात्र तथा पुच्छ। इनके पैर नहीं होते हैं अतः ये अपनी पार्श्वीय गतियों से सरक सरक कर चलते हैं। इसीलिये इनको सरीसृप तथा जिह्मग कहते हैं। इनके नेत्र एक पारदर्शक पर्दे से ढके रहते हैं। ये देखना तथा सुनना दोनों कार्य आंख से करते हैं। इनके कान नहीं होते हैं। इसी लिये इनका नाम चक्षुःश्रवा है। इनकी जिह्वा दो भागों में विभक्त रहती है इसीलिये इन्हें द्विजिह्व कहते हैं। इनके दांत में एक विष की थैली होती है उसे आशीविष कहते है। इनके दांतों द्वारा विष की थैली से

---

१. दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डला फणा। बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान्॥ (चरक)

सम्बन्धित एक छिद्र होता है जिसके द्वारा संदष्टप्राणी के अन्दर विष का प्रवेश हो जाता है। अतः विष प्रवेश कराने के लिये ही सांप काटने के बाद उलट जाता है जिससे विष का प्रवेश अच्छी तरह हो जाता है. ये सर्प शीतकाल में बाहर नहीं निकलते और जमीन के अन्दर विना आहार के महीनों रह सकते हैं। अतः इनको विलेशय भी कहते हैं। कुछ सर्पजाति बच्चे पैदा करते हैं जो वायु पान कर महीनों रह जाते हैं अतः उनका नाम पवनाशन भी पड़ा है। सर्प के शरीर तथा पुच्छ मिलने के स्थान पर एक छिद्र होता है जिसे गुदा या मलद्वार कहते हैं। ये इसी भाग से मल मूत्र तथा शुक्र त्याग करते हैं। सर्प संगीत तथा वाद्य का प्रेमी होता है और उसके वश में होकर देखना भूल जाता है। इसी कारण साप पकड़ने वाले बीनवाद्य के द्वारा वश कर लेते हैं और सरलता से ही पकड़ लेते हैं।

भारतीय सर्प विशेषज्ञों के आंकड़ों के अनुसार भारत में प्रतिदिन एक सौ व्यक्ति सर्प के काटने से मरते हैं। संसार में लगभग सर्प की सत्रह सौ जातियां विद्यमान हैं जिनमें से केवल तीन सौ जातियाँ मिलती हैं। इनमें कुछ सर्प की जातिया विषैली तथा कुछ निर्विष होती हैं।

कुछ विषैले सर्प ऐसे होते हैं जिनके विष से मृत्यु नहीं होती है। सांप के काटने के बाद वातादि दोषों का प्रकोप होता है और उसी के अनुसार (जिस सर्प जाति के काटने से जो दोष उत्पन्न होता है जैसे पहले प्रतिपादन किया गया है) लक्षण होते हैं। वैद्यक शास्त्र में इनका वर्गीकरण त्रिदोष के आधार पर किया गया है।

पाश्चात्य विद्वान् इनका वर्गीकरण जीव विज्ञान के आधार पर करते हैं।

(१) विषयुक्त सर्प (२) निर्विष सर्प।

(१) कोल्यूब्राइन (Colubrine)—(क) नागराज (King cobra), (ख) नाग (Cobra) (कोब्रा) (ग) राजीमान (Krait) क्राइट।

कोल्यूब्राइन की अड़तालीस उपजातियां होती हैं और ये अण्डे रखते हैं। इनका नेत्रमण्डल वृत्ताकार गोल होता है। इसकी एक जाति भूमिशायी होती है। नागराज, नाग तथा राजीमान उसी जाति के सर्प हैं। इनमें राजीमान अधिक विषैला होता है।

(२) निर्विष-वाइपराइन (Viparanae)—(क) गोनस (Russel viper), (ख) फुरसा (Echis)।

वाइपराइना की उन्नीस उपजातियां होती हैं। ये बच्चा पैदा करते हैं। इनका दृष्टिमण्डल कुछ लम्बा होता है। गोनस तथा फुरसा इसके भेद है।

इसमें गोनस का फूत्कार तेज होता है। इनके काटने से मारक प्रभाव नहीं पड़ता है।

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत्।
पीतो मण्डलिजः शोफो मृदुः पित्तविकारवान्॥ २॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोफश्च पिच्छलः।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक्सर्वश्लेष्मविकारवान्॥ ३॥

भोगी (फणी) सर्प के डँसने से दंश स्थान काला पड़ जाता है और रोगी को वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। मण्डली के काटने से दंशस्थान भी पीला पड़ जाता है और शोथ मृदु तथा पित्त के लक्षणों एवं विकारों को उत्पन्न करने वाला होता है। राजिल नाम सर्प के काटने से शोथ स्थिर, पिच्छिल, पाण्डु रंग का तथा स्निग्ध होता है। इसमें रक्त बहुत गाढ़ा हो जाता है तथा इसमें अन्य श्लैष्मिक विकार उत्पन्न होते हैं॥ २-३॥

विमर्शः—साँप के काटने पर निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं। लालास्राव, मिचली, जलन, मूर्च्छा, श्वासमान्द्य, शीतस्वेद, हृदय की धड़कन, मुख का फीकापन, आक्षेप, उदरशूल, रक्तस्रावावरोध, जिह्वाशोथ, श्वासावरोध, रसज्ञानाभाव, दंशस्थानपर शोथ, चक्कर, वमन-आदि लक्षण मिलते हैं। सांप के विषमें एक पदार्थ होता है जिसे फाइब्रीन कहते हैं। वह रक्त को गाढ़ा कर देता है। इसके विपरीत एक एन्टीफाइब्रीन पदार्थ होता है जो मृत्यु के बाद रक्त को द्रवरूप में परिणत कर देता है।

असाध्यसर्पदष्टलक्षणम्—

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः॥ ४॥

असाध्य सर्पदंश के लक्षण—स्थान विशेष में काटने से असाध्य—पीपल वृक्ष के नीचे, देवता के मन्दिर में, श्मशान तथा वल्मीक (विमवट) के समीप, सन्ध्यासमय, चौराहे पर, याम्य (भरणी, आर्द्रा आदि) नक्षत्रों में तथा सिर एवं मर्म स्थानों पर जिन मनुष्यों को सांप काटते हैं उन्हें असाध्य समझना चाहिए। इनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ४॥

दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति।

सर्पविशेष एवं ऋतुपरक असाध्य—बड़े फण वाले सांपों का विष शीघ्रता से मारता है। इसके अतिरिक्त अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गर्मी के दिनों में सभी सर्पों का विष दुगुना प्रभाव उत्पन्न करता है।

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु॥ ५॥
क्षीणे क्षते मेहिनि कुष्ठजुष्टे रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि।

अवस्थाविशेष में सर्पविष की असाध्यता—अजीर्ण, पित्त तथा धूप से पीड़ित व्यक्तियों में, बालकों वृद्धों तथा बुभुक्षितों में, क्षतक्षीण, प्रमेहरोग से पीड़ित, कुष्ठ रोग से पीड़ित, रूक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों तथा गर्भिणी स्त्रियों में सर्पविष असाध्य होता है।

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति ॥ ६ ॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।

अन्य असाध्य लक्षण—साँप काटे हुए जिस व्यक्ति के शरीर में शस्त्र से काटने पर रक्त न निकलता हो और लताओं के बाँधने या मारने से जिसके शरीर में रेखायें न उत्पन्न होती हों, शीतल जल से जिसको रोमाञ्च (रोंगटे खड़ा होना) नहीं होता हो ऐसे विषयुक्त रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे रोगी असाध्य होते हैं।

जिह्मं मुखं यस्य च केशपातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥ ७ ॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः ।

जिस सर्पदष्ट व्यक्ति का मुख टेढ़ा हो जावे, बाल गिरने लगें जिसकी नासिका टेढ़ी हो जाय और स्वरभङ्ग हो जाय, जिसके काटे हुए स्थान पर लालिमायुक्त कृष्ण वर्ण का शोथ हो और जिसका हनु (जबड़ा) प्रदेश जकड़ जाय ऐसे सर्पविषपीड़ित रोगी को भी असाध्य समझना चाहिए।

वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ ८ ॥
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च ।

जिस सर्पदंशपीड़ित रोगी के मुख से मोटी बत्ती के समान लार निकले, जिसके ऊर्ध्व (नासिका आदि) तथा अधोमार्ग (गुदा, शिश्न आदि) दोनों मार्गों से रक्तस्राव हो और जिसके दंशस्थान पर चार दाँतों के चिह्न दिखाई देते हों उसको भी वैद्य छोड़ दे अर्थात् चिकित्सा न करे। ऐसा रोगी असाध्य होता है।

उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ ९ ॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

जो उन्मत्त हो, जिसमें अधिक उपद्रव हों, जिसका स्वर क्षीण हो गया हो, जिसका रंग फीका पड़ गया हो, जिसमें अरिष्ट के लक्षण दिखाई देते हों और जिसको मल, मूत्र आदि के वेगों को निकालने की शक्ति न हो, ऐसे सर्पदंश के रोगी को देखकर उसकी चिकित्सा न करे। वह असाध्य होता है।

विमर्श—सर्पविष के अन्तर्गत फाइब्रीन नामक पदार्थ होता है जो रक्त

१. नैतिरक्तं क्षताद्यस्य लताघातैर्न राजिकाः ।
न लोमहर्षः शीताद्भिर्वर्जयेत्तं विषार्दितम् ॥ (आलम्बायन)

को गाढा बना देता है। उसी के कारण शस्त्र आदि से काटने पर रक्त नहीं निकलता है। रक्त का गमनागमन रुक जाता है अतः शीतल जल के सम्पर्क से रोमाञ्च नहीं होता है। [1]सांप के चार ही दांतों में विष होता है, जब सांप चारों को लगा देता है तो विष की अधिक मात्रा प्रविष्ट हो जाती है जिससे वह असाध्य हो जाता है।

दूषीविषलक्षणम्—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥ १० ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तु कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥ ११ ॥
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी।
मूर्च्छन्वमन् गद्गदवाग्विमुह्यन्विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥१२॥

दूषी विष का लक्षण—पुराना अथवा विषनाशक औषधों के द्वारा प्रभाव हीन किया हुआ, वनाग्नि या धूप से सूखा हुआ अथवा स्वभाव से ही गुणहीन विष दूषीविष हो जाता है। दूषीविष शक्ति की न्यूनता तथा कफ युक्त होने से प्राणघातक नहीं होता है और पाक न होने के कारण शरीर में वर्षों तक बना रहता है। इससे पीड़ित रोगी अतिसार, विवर्णता, दुर्गन्धयुक्त, मुख स्वाद-रहित, प्यास, मूर्च्छा, चक्कर, गद्गदवाक्यता (हकलापन), वमन, विपरीत-चेष्टा तथा अरति (अन्यमनस्कता) आदि व्याधियों से पीड़ित रहता है ॥ १०–१२ ॥

आमाशयस्थे कफवातरोगी, पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेत्समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ १३ ॥

दूषी विष के आमाशय में स्थित रहने से रोगी कफवातजन्य रोगों से पीड़ित रहता है, पक्वाशय में स्थित रहने से रोगी वातपित्तजन्य व्याधि से पीड़ित रहता है और उसके सिर के बाल तथा शरीर के रोम गिर जाते हैं जिसके कारण रोगी कटे हुए पङ्ख वाले पक्षी के सदृश दिखाई देता है ॥ १३ ॥

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु, पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥ १४ ॥

रस, रक्त, मज्जा आदि धातुओं में स्थित दूषीविष धातुओं में होने वाले (सू० के व्याधि समुद्देशीयाध्याय सू० १४) पूर्व में बताये गये (अन्न में अश्रद्धा अरुचि आदि) रोगों को उत्पन्न करते हैं। इसका प्रकोप शीतलवायु तथा दुर्दिन में शीघ्र ही होता है। इसके पूर्वरूप निम्न प्रकार से होते हैं ॥१४॥

---

1. सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरासिता।
पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा ॥

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दः ।
ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥ १५ ॥
मांसक्षयं पादकरप्रशोफं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् ।
दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च कुर्यात्प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥ १६ ॥

दूषीविष पूर्वकालीन-अवस्था में निद्रा, भारीपन, अधिक जम्भाई आना, शरीर में शिथिलता, रोमाञ्च तथा सम्पूर्ण बदन में पीड़ा ये लक्षण उत्पन्न करता है। इसके बाद (रुग्णावस्था में) अन्नमद (भोजन के बाद मादकता की उत्पत्ति), अन्न का अपचन, अरुचि, त्वचा के ऊपर मण्डल तथा चकत्ता की उत्पत्ति, मांसका क्षय, हाथ एवं पैरों में सूजन, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, श्वासकृच्छ्र, पिपासा, ज्वर तथा उदर की वृद्धि आदि उपद्रव उत्पन्न करता है ॥ १५-१६ ॥

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम् ।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥१७॥

कुछ अन्य प्रकार के दूषीविष उन्माद, कुछ आनाह, कुछ शुक्रनाश, कुछ गाद्‌गद्य (हकलापन), कुछ कुष्ठ रोग तथा दूसरे अनेक प्रकार के विविध (विसर्प, स्फोटक आदि) विकारों (व्याधियों) को उत्पन्न करते हैं ॥ १७ ॥

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्मात्सदूषयेद्धातूंस्तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥ १८ ॥
साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥ १९ ॥

देश, काल, अन्न तथा दिन में निरन्तर सोने आदि से प्रकुपित होकर वह धातुओं को बार बार दूषित करता है अतः उसे दूषी विष कहते हैं। संयमी मनुष्य में उत्पन्न दूषी विष अल्प काल में साध्य होता है, एक वर्ष का पुराना होने पर याप्य होता है और क्षीण (दुर्बल) तथा असयमी मनुष्यों का दूषी विष असाध्य होता है ॥ १८-१९ ॥

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान्मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥ २० ॥
तैः स्यात्पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोफलक्षणम् ॥ २१ ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ २२ ॥

कुछ स्त्रियां सौभाग्य की प्राप्ति (वश में करने के लिये) के लिये स्वेद, रज, विविध अंगों के मल या शत्रुओं के दिये हुए संयोगज विषों को अन्न में मिलाकर

दे देती हैं।" इससे मनुष्य पाण्डु वर्ण का, दुर्बल तथा मन्दाग्नि से युक्त हो जाता है और इन वस्तुओं से उसके शरीर में गरविष उत्पन्न हो जाता है। इससे मर्मस्थल में पीडा, आध्मान (शूलयुक्त मशक के समान पेट का फूलना) हाथों में सूजन के चिह्न, उदररोग, ग्रहणीदोष, राजयक्ष्मा (टी. बी.), गुल्म-वृद्धि, क्षयरोग, ज्वर तथा इसी प्रकार अन्य रोगों के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं॥ २०–२२॥

विषलूतालक्षणम्—

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः।
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया तास्तु षोडश॥ २३॥

लूता विष के लक्षण—क्रुद्ध महर्षि वशिष्ठ के स्वेद बिन्दु कटे हुए तृण के ऊपर पड़ गये उसी कारण से उनकी उत्पत्ति हुई। अतः उन्हें लूता कहते हैं। ये संख्या में सोलह हैं॥ २३॥

विमर्श—पुराणों में एक कथा मिलती है कि जब राजा विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को बलपूर्वक छीनने लगे तब मुनि-वशिष्ठ को क्रोध आ गया। उनके क्रोधानल के द्वारा जलते हुए दोनों नेत्र से सूर्य दिखाई दिये। इसके बाद वशिष्ठ के भौं तथा ललाट प्रदेश से निकले हुए स्वेदबिन्दु नन्दिनी के लिये तोड़े हुए समीप के तृण के ऊपर गिर पड़ा। इससे लूता की उत्पत्ति हुई। इसकी उत्पत्ति लून (कटे हुए) तृण से हुई अतः इसे लूता कहते हैं। यह एक विषैला जन्तु है। इसके [1]सोलह भेद होते हैं।

[2]कुछ लोगों का मत है कि भोजन किये दुष्ट अन्न के प्रभाव से लूता कीट की तरह विस्फोटक उत्पन्न होते हैं। उसी के लक्षण की तरह होने से लूता कीटा कहते हैं।

ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः॥ २४॥
पिडिका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च।

---

१. त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतका तथा।
लाला मूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता॥
सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येकपदी तथा।
कृष्णाग्नि वाका काण्डा च मालागुण्यष्टमीमता॥
(सु० स० क० ८)

२. अन्ये वदन्ति भुक्तस्य दुष्टस्यान्नस्य मूर्च्छनात्।
सम्भवन्ति हि विस्फोटा ये लूता कीट लक्षणाः॥
यथास्वं धारयन्तस्ते लूताकीटास्तु कीर्तिताः॥

शोफा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ २५ ॥

उन लूता जन्तु के काटने से दंश के स्थान कर कोथ (सड़न), रक्तस्राव, ज्वर, दाह, अतिसार तथा अन्य त्रिदोषज रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अनेक प्रकार की पिड़िकायें, बड़े बड़े चकत्ते मृदु एवं श्यामवर्ण के शोथ उत्पन्न होते हैं। ये शोथ विसर्पी (फैलनेवाले) होते हैं। ये सभी मकड़ियों के दंश के सामान्य लक्षण हैं ॥ २४–२५ ॥

सामान्यं सर्वलूतानामेतद्दंशस्य लक्षणम् ।
दंशमध्ये तु यत्कृष्णं श्यावं वा जालकान्वितम् ॥ २६ ॥
ऊर्ध्वाकृति भृशंपाकं क्लेदशोथज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥ २७ ॥

लूता (मकड़ियों) के दंश के बीच में जो काला व श्याम वर्ण का, जाल की आकृति के सदृश, ऊपर उठा हुआ, या जले हुए के सदृश (फफोला की आकृति का), क्लिन्नता, शोथ तथा ज्वर से युक्त अत्यधिक बड़ा पाक होता है उसे दूषी विष की कोटि के मकड़ियों से दंश (काटा हुआ) बताना चाहिए ॥ २६–२७ ॥

शोफः श्वेताः सिता रक्ता पीता वा पिडिका ज्वरः ।
प्राणान्तिकाभिर्दाहश्च श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥ २८ ॥

सौवर्णिक आदि आठ प्रकार के लूता के दंश विष से शोथ, सफेद, लाल तथा पीले रंग की पिड़िकायें, ज्वर, दाह, श्वास, हिचकी, सिर में जकड़ाहट ये लक्षण होते हैं। इन मकड़ियों का दंश प्राणघातक होता है ॥ २८ ॥

मूषिकविषलक्षणम्—

आदंशाच्छोणितं पाण्डुर्मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥ २९ ॥

मूषिकविष का लक्षण—मूषिकविष के दूषीविष से पीड़ित होने पर रोगी में दंश के स्थान पर रक्त निकलने लगता है। उसमें पाण्डु वर्ण के चकत्ते, ज्वर, अरुचि, रोमाञ्च, तथा जलन ये लक्षण होते हैं ॥ २९ ॥

मूर्च्छाङ्गशोफवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥ ३० ॥

असाध्य मूषिकों के काटने से मूर्च्छा, दंश स्थान पर शोथ, विवर्णता, (फीकापन), गीलापन, बाधिर्य (कान से सुनाई न देना), ज्वर, सिर में भारीपन, लालास्राव तथा रक्तस्राव ये लक्षण होते हैं ॥ ३० ॥

विमर्शः—[1]चूहों के वीर्य में विष होता है। वह जहाँ गिरता है वहाँ

---

१. शुक्रं पतन्ति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्तियत् ॥ (सु० क०)

विषैला प्रभाव हो जाता है। आजकल इसको मूषिक दंश ज्वर (Rat Btie fever) कहते हैं। स्पाइरिलम माइनस (Spirillum Minus) नामक मूस होता है जिसके काटने से यह रोग होता है। यह रोग भारत में कभी-कभी होता है। विशेषकर चीन, जापान तथा आस्ट्रेलिया में अधिक मात्रा में मिलता है। इसके काटने के दो सप्ताह से छः सप्ताह के अन्दर मूषिक दंश के लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। शीतपूर्वक ज्वर, मिचली, शाखाओं में काटने के स्थान पर पीड़ा, लसीका ग्रन्थियों (समीपस्थ) में शोथ हो जाता है, मुख, हाथ, पैर तथा धड़ पर शीतपित्त के सदृश चकते कभी कभी हो जाते हैं, ज्वर तीव्र प्रकार का (१०३ डिग्री) हो जाता है। चार या पांच दिन में शान्त हो जाता है। एक दिन बाद इसकी पुनरावृत्ति होती है ॥ ३० ॥

कृकलासकविषलक्षणम्—

काष्र्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा।
स्नेहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात्कृकलासकैः ॥ ३१ ॥

कृकलासक विष का लक्षण—कृकलासक (गिरगिट) के द्वारा काट लेने पर कटे हुए स्थान का रंग काला, श्याव वर्ण या अनेक वर्ण का हो सकता है। रोगी का शरीर चिकना प्रतीत होता है तथा रोगी अतिसार से पीड़ित रहता है (मूर्च्छा भी होती है) ॥ ३१ ॥

वृश्चिकविषलक्षणम्—

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ३२ ॥
दष्टोऽसाध्यस्तु हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥ ३३ ॥

वृश्चिक विष का लक्षण—वृश्चिक (बिच्छू) के दंश अथवा डंक मारने पर पहले (डंक के स्थान पर) अग्नि के समान जलन एवं भेदन के सदृश वेदना होती है। इसके बाद बिच्छू के विष का प्रसार शीघ्र ही ऊपर की ओर होता है और कुछ देर के बाद वह पुनः दंश स्थान पर स्थिर हो जाता है। बिच्छू के दंश के कारण जिस रोगी के हृदय, नासिका तथा जिह्वा में विकार उत्पन्न हो जाय तो वह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त बिच्छू के डंक से जिसका मांस सड़ कर गिरने लगे तथा पीड़ा अधिक हो तो वह भी शीघ्र ही प्राण छोड़ देता है ॥ ३२–३३ ॥

विमर्शः—बिच्छू एक विषैला जन्तु है। इसकी भी कई जातियाँ होती हैं। कुछ जातियों के डंक मारने से रोगी को अत्यधिक कष्ट होता है और कुछ जातियों के डंक मारने से तो मृत्यु तक हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ

मशक दंश के लक्षण—मच्छड़ के काटने पर कण्डू सामान्य सूजन तथा मन्द-मन्द वेदना होती है। असाध्य कीटों के सदृश असाध्य मच्छड़ का दंश भी असाध्य होता है ॥ ३९ ॥

विमर्श—कुछ पहाड़ी मच्छड़ ऐसे भी होते है जिनके काटने से खुजली ज्वर पाक आदि लक्षण होते हैं ये आकार में छोटेहोते हैं और जंगली प्रदेश में अधिक पाये जाते हैं। खुले स्थान मे नंगे पाव चलने तथा टट्टी पेशाव करते समय ये काट लेते हैं। इसके अतिरिक्त आठ प्रकार की मकड़ियों के सदृश कुछ पहाड़ी मच्छड़ होते हैं जिसके काटने से रोगी मर जाता है। [1]सुश्रुत ने पांच प्रकार के मच्छड़ों का वर्णन किया है जिससे पहाड़ी मच्छड़ों को घातक माना है। मच्छड़ों के दंश द्वारा कालाजार, श्लीपद, मलेरिया आदि भयानक रोग के कीटाणुओं का संक्रमण अनेक प्रकार के मच्छड़ों द्वारा होता है।

मक्षिकादष्टलक्षणम्—

सद्यः प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पिडिका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ४० ॥

मक्षिका दंश का लक्षण—मक्षिका (मधुमक्खी) के काटने पर शीघ्र स्राव करनेवाली श्यामवर्ण की, जलन, मूर्च्छा तथा ज्वर के लक्षणों से युक्त पिड़िका उत्पन्न होती है। इसमें स्थगिका नामक मक्षिका का दंश प्राण घातक होता है। (सुश्रुत[2] छः प्रकार के मक्षिका का वर्णन किये है और स्थगिका को प्राण नाशक बताये हैं) ॥ ४० ॥

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिश्च नखदन्तविषं च यत्।
शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ४१ ॥

चतुष्पद तथा द्विपद जन्तुओं के नाखून तथा दांतों का विष लगने से दंश के स्थान पर शोथ और पाक होता है। पाक से स्राव होता है और रोगी ज्वर पीड़ा युक्त होता है ॥ ४१ ॥

विषमुक्तलक्षणम्—

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम्।

---

१. सामुद्रः परि मण्डलः हस्तिमशकः कृष्णः पर्वतीय इति पञ्च।
पर्वतीयस्थकीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः ॥
(सु. क० अ० ८।१८)

२. कान्तरिका, कृष्णा, पिंगला, मधूलिका, काषायी, स्थालिका (स्थगिका), कषायी स्थालिका च प्राण हरे। (सु० का० ८।१८)

प्रसन्नवर्णेन्द्रियवाग्विचेष्टं वैद्यस्तु विद्यादविषं मनुष्यम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीवैद्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
जङ्गमविषनिदानाधिकारो द्वितीयः ।

विषमुक्त का लक्षण—जिसका दोष प्रकोप शान्त हो गया हो, जिसकी धातुवें प्रकृतिस्थ (बलहीन) हो गई हों, जो अन्न खाने की इच्छा करता हो जो समय पर मल मूत्र का त्याग करता हो और वह प्राकृतिक स्वरूप का होता हो, जिसका वर्ण, इन्द्रिय, मन तथा चेष्टायें प्राकृत हो उस मनुष्य को वैद्य विषमुक्त (निर्विष) समझे ॥ ४२ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह का सप्तम विष तन्त्र खण्ड में
दूसरा जंगम विष निदानाधिकार समाप्त ।

अथ सर्पविषचिकित्साधिकारस्तृतीयः।

अथातः सर्पविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

जङ्गम विष निदान के बाद सर्पविष की चिकित्सा कहते हैं।

सर्पविषे सामान्यचिकित्सा—

विषेषु सर्वेष्वपि च सर्वस्थानगतेषु च।
अवृश्चिकोच्चिटङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः॥ १॥

सर्प विष में सामान्य चिकित्सा—सभी स्थानों (शरीर के अङ्गों) में पहुंचे हुए तथा सभी प्रकार के विषों में शीतोपचार करना प्रायः हितकर होता है। किन्तु वृश्चिक (बिच्छू) दंशविष तथा उच्चिटिङ्गदंशविष में शीतोपचार नहीं करना चाहिए॥ १॥

सर्पविषे कतिपययोगाः—

शिरीषपुष्पस्वरसे सप्ताह मरिचं सितम्।
भावितं सर्पदष्टेभ्यो नस्यपानाञ्जने हितम्॥ २॥

सर्प विष में कुछ योग—शिरीष पुष्प के स्वरस में सफेदमरिच का चूर्ण सात दिन तक भावित करे। यह योग सांप काटे हुए व्यक्ति को नस्य, पान तथा अभ्यञ्जन के लिये हितकर होता है॥ २॥

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्।
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखावहम्॥ ३॥

तगर तथा कूठ दो पल (दो छटांक) घृत और मधु चार छटांक मिलाकर तक्षक (तक्षक नामक सर्प विशेष) के काटे हुए व्यक्ति को पान कराना सुखप्रद होता है॥ ३॥

सिन्दुवारस्य मूलं च श्वेता च गिरिकर्णिका।
पानाद्दर्वीकरैर्दष्टो नस्य मधु सनातनम्॥ ४॥

सिन्दुवार का मूल, तथा सफेद अपराजिता समभाग इन दोनों का चूर्ण मधु मिलाकर पान करने से तथा नस्य लेने से दर्वीकर साप के काटने से उत्पन्न विष दूर होता है॥ ४॥

व्योषं प्रतिविषा कुष्ठं गृह्यधूमो हरेणुका।
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम्॥ ५॥

व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), अतीस, कूठ, भोजनालय का धूम, हरेणुका (रेणु का बीज), तगर कटुकी तथा मधु ये राजीमत सर्प के विष को नाश करते हैं॥ ५॥

साज्या मयूरचूडा तु पीता तन्दुलवारिणा ।
सर्वसर्पविषं हन्यात्काकजङ्घाऽथवा ध्रुवम् ॥ ६ ॥

मयूरचूडा (अपामार्ग) को चावल के जल के साथ पीसकर तथा मधु मिलाकर पान करने से सभी प्रकार के सर्प विषों को नाश करती है । अथवा काजङ्घा चावल के जल के साथ पीसकर मधु मिलाकर पान करने से सभी प्रकार के सर्प विष को नाश करती है ॥ ६ ॥

तन्दुलीयकमूलं तु पीतं तन्दुलवारिणा ।
तक्षकेणापि संदष्टं निर्विषं कुरुते नरम् ॥ ७ ॥

तण्डुलीय (चौराई) का मूल चावल के पानी के साथ पीसकर पान करने से तक्षक के द्वारा भी काटे गये मनुष्य को निर्विष कर देता है ॥ ७ ॥

सम्यङ्मधूकसारेण गोमूत्रभावितेन तु ।
दद्याद्विषापहं नस्यं सिद्धं चापि प्रलेपनम् ॥ ८ ॥

मधूक सार (महुआ का सार) गाय के मूत्र में भावित कर नस्य दे तथा पकाकर लेप करे । यह सर्प विष को नाश करता है ॥ ८ ॥

मञ्जिष्ठा मधुयष्ट्याह्वो जीवकर्षभकावुभौ ।
काश्मर्यवटशुङ्गानां पानं मण्डलिनां जयेत् ॥ ९ ॥

मंजीठ, मधु यष्ट्याह्व (मुलेठी), जीवक, ऋषभक, गम्भारी, तथा वटशुङ्ग (वट की टूसा) समभाग इन द्रव्यों को पीसकर पान करने से मण्डली सर्पों के विष को यह योग जीत लेता है ॥ ९ ॥

पुनर्नवायाः श्वेतायाः शिफां तन्दुलवारिणा ।
वन्ध्याकर्कोटकी वाऽपि पिबेत्फणिविषापहाम् ॥ १० ॥

सफेद पुनर्नवा का मूल चावल के जल के साथ पीसकर या वन्ध्याकर्कटी (बांझककड़ी) का मूल चावल के पानी के साथ पीसकर पान करे । यह योग फणीसर्प के विष को नाश करता है ॥ १० ॥

हरिद्रे तु हिते ख्याते ताभ्यां नास्ति समं क्वचित् ।
अगदस्तु विषार्तानां प्रलेपादिप्रयोजितः ॥ ११ ॥

दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी) सर्प विष में हितकर कहे गये हैं । इन दोनों से बढ़कर कोई द्रव्य नहीं है जो कि (इन दोनों हरिद्रा के कल्क को छोड़कर) विष पीड़ित व्यक्ति के लेप आदि के लिये प्रयोग किया जाय ॥ ११ ॥

स्नानभोजनपानीयकार्येषु च विशेषतः ।
भिषक्सर्वविषार्तानां तमेव परियोजयेत् ॥ १२ ॥

वैद्य सभी सर्प विष पीड़ित व्यक्ति के स्नान, भोजन तथा पान आदि कार्य में विशेष कर हल्दी तथा दारुहल्दी का प्रयोग करे ॥ १२ ॥

विडङ्गस्य शिफा पिष्टा सम्यक्तन्दुलवारिणा ।
वासुकेरपि दुर्वारं पीता हन्याद्विषं क्षणात् ॥ १३ ॥

वायविडङ्ग की जड़ चावल के धोवन के साथ अच्छी तरह पीसकर पान करने से वासुकी नाग के भी दुर्निवार भयंकर विष को क्षण भर में नाश करती है ॥ १३ ॥

महागदः—

त्रिवृद्विशल्या मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः ।
कटुत्रिकं चैव विचूर्णितानि शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥ १४ ॥
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः ।
अवारवीर्यो विषवेगहन्ता महागदो नाम महाप्रभावः ॥ १५ ॥

महागद—त्रिवृत् (निशोथ), विशल्या (इन्द्रायण), मुलेठी, रक्ता (मंजीठ) नरेन्द्र (अमलतास), लवणवर्ग (सेन्धा, साभर विड़नमक सौवर्चल, सामुद्र), कटुत्रिक (सोंठ, पीपर, मरिच), समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु में मिलाकर शृङ्ग (सिंघ) में रक्खे (सिंघ में रखने से विशेष गुणों का आधान होता है)। यह औषध पान, अञ्जन, अभ्यञ्ज तथा नस्य आदि के लिये प्रयोग करने से विष को नाश करता है। यह महागद अप्रतिहत पराक्रम वाला विषवेगनाशक तथा महान् प्रभावशाली है। अर्थात् यह अपने प्रभाव से सर्प विषों का नाश करता है ॥ १४–१५ ॥

सर्वविषेऽजितोऽगदः—

विडङ्गपाठात्रिफलाजमोदाहिङ्गूनि वक्रत्रिकटूनि चैव ।
वर्गश्च सर्वो लवणः सुसूक्ष्मः सचित्रकः क्षौद्रयुतो विधेयः ॥ १६ ॥
शृङ्गे गवां शृङ्गमयेन चैव प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च ।
एषोऽगदः स्थावरजङ्गमानां हन्ता विषाणामजितो हि नाम्ना ॥१७॥

सर्प विष में अजित अगद—वायविडंग, पाढ़ी, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), अजमोदा, हिंगु, वक्र, (तगर), त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), सभी लवणवर्ग (सेन्धानमक, सौवर्चल, साभर, विड़नमक तथा सामुद्रनमक) और चित्रक समभाग—इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर मधु मिलाकर गाय के सिंघ में रखकर गाय के सिंघ से ही बन्द कर पन्द्रह दिन तक गुप्त स्थान में रक्खे) यह अजित नामक अगद प्रयोग करने से स्थावर (मूलादि) तथा जङ्गम (सर्पादि) विषों को नाश करता है ॥ १६–१७ ॥

सर्वविषे चूर्णागदः—

सोशीरनिम्बं तगरं च कुष्ठं मुस्तं सतार्क्ष्यं कुटजं सरोध्रम् ।
त्वक्सप्तपर्णस्य च चूर्णमेतद्योगं नवाङ्गं मधुना च सार्धम् ॥ १८ ॥
कृष्णायसे काञ्चनराजते वा पीतं विषाणां शमनं त्रयाणाम् ।
चूर्णागदो वारण एष सिद्धो हन्ता विषाणां सचराचराणाम् ॥१९॥

सभी विष में चूर्णागद—खस, नीम, तगर, कूट, मोथा, तार्क्ष्य (स्वर्णमाक्षिक), कुटज (इन्द्रयव), लोध तथा छुतिवन का छाल, समभाग—इन सभी द्रव्यों को महीन चूर्ण बनावे और इन नवद्रव्यवाला योग मधु में मिलाकर लोहा, सोना या चांदी के वर्तन में पान करने से तीनों प्रकार के विषों (स्थावर, जंगम संयोगज), को शान्त करता है। यह सिद्धचूर्णागद रूपीवारण (हाथी) चर (जंगम) तथा अचर (स्थावर) सभी प्रकार के विषों को नाश करता है ॥ १८–१९ ॥

सर्वविषे पञ्चशिरीषोऽगदः—

शिरीषपुष्पपत्रत्वक्फलमूलकृतोऽगदः ।
सिद्धः पञ्चशिरीषोऽयं चरस्थिरविषापहः ॥ २० ॥

सभी प्रकार के विष में पञ्चशिरीष अगद—शिरीष वृक्ष का फूल, पत्ता, छाल, फल तथा मूल इन सबों का (चूर्ण या क्वाथ) सिद्ध पञ्चशिरीष नामक अगद (औषध) स्थावर तथा जङ्गम विषों को नाश करता है ॥ २० ॥

सर्वविषे सैन्धवादियोगः—

सैन्धवं मारिचैस्तुल्यं निम्बबीजं तयोः समम् ।
घृतमध्वायुतो हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥ २१ ॥

सभी विषों में सैन्धवादि योग—सेन्धानमक तथा मरिच समभाग तथा नीम का बीज दोनों के बराबर लेकर चूर्ण बना ले और मधु तथा घृत में मिलाकर रख ले। यह सैन्धवादि योग प्रयोग करने से स्थावर तथा जङ्गम विष को नाश करता है ॥ २१ ॥

सार्वकार्मिकोऽगदः—

देवदारु हरिद्रे द्वे सरलं चन्दनोऽगुरुः ।
रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुलिवक्षुरसो नतम् ॥ २२ ॥
चूर्णं तु सैन्धवानन्तागोपित्तमधुसंयुतम् ।
चतुष्पदादिदष्टानामगदः सार्वकामिकः ॥ २३ ॥

सार्वकार्मिक (सभी कर्म में प्रयोग होने वाला) अगद—देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, चीड़, चन्दन, अगर, रासन, गोरोचन, जीरा, गुग्गुलु, तगर, सेन्धानमक तथा गुडूची समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण, गन्ना का रस, गाय

का पित्त तथा मधु से युक्त यह अगद चतुष्पद आदि सभी के दंशविष में सभी कार्य (पानाभ्यञ्जन आदि) के लिये प्रयुक्त होने वाला है। अर्थात् यह चतुष्पद आदि के दंशविष को भी नाश करता है ॥ २२-२३ ॥

सर्पदंशे तगरमूलयोगः—

पिण्डीतगरकमूलं पुष्येणोत्पाट्य योजितं दंशे ।
मृतमपि दष्टकपुरुषं चालयतीति नो चित्रम् ॥ २४ ॥

सर्प दंश में तगरमूल योग—पिण्डी तगरक (तगर) का मूल पुष्य नक्षत्र में उखाड़ कर साप के काटे हुए स्थान में लगाने से (या सुंघाने से) सांप के काटने से मरे हुए पुरुष को भी जीवित कर देता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अर्थात् यह सर्प विष को नाश करता है ॥ २४ ॥

सर्पविषे बोधनार्थं नक्तमालाद्यञ्जनम्—

नक्तमालफलव्योषबिल्वमूलनिशाद्वयम् ।
सौरस पुष्पमाज च मूत्र बोधनमञ्जनम् ॥ २५ ॥

सर्प विष में अवबोधन के लिये नक्तमालाद्यञ्जन—नक्तमाल (करञ्ज) का फल, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच) बेल की जड़, हल्दी, दारुहल्दी, सेमर का फूल इन सभी द्रव्यों को पीस कर बकरी का मूत्र मिलाकर अञ्जन करने से सांप के काटने बेहोश व्यक्ति होश में आ जाता है ॥ २५ ॥

विषे वन्ध्याकर्कोटकीमूलयोगः—

वन्ध्याकर्कोटजं मूल छागमूत्रेण भावितम् ।
नस्यं काञ्जिकसंपिष्टं विषोपहतचेतसः ॥ २६ ॥

विष में वन्ध्या कर्कोटकीमूल का प्रयोग—वन्ध्या कर्कोटकी (बांझ ककड़ी) का मूल काञ्जी के साथ पीसकर और बकरी के मूत्र से भावित कर नस्य करने से विष के कारण बेहोश व्यक्ति को होश में ला देता है ॥२६॥

विषे श्वेतपुनर्नवामूलयोगः—

यः पिबति पुष्यदिवसे जलपिष्टं सितपुनर्नवामूलम् ।
तत्सन्निधौ न वर्षं वृश्चिकभुजगाः प्रसर्पन्ति ॥ २७ ॥

विष में सफेद पुनर्नवामूल योग—जो व्यक्ति सफेद पुनर्नवा का मूल पुष्य नक्षत्र में जल के साथ पीस कर पान करता है उसके पास एक वर्ष तक वृश्चिक, सांप आदि विषैले जन्तु नहीं आते है ॥ २७ ॥

विषे गरुडप्रतिमाधारणम्—

तरक्षुदन्तेन विनिर्मितां यः पतत्रिराजप्रतिमां बिभर्ति ।
न वीक्षितुं तस्य मुखं क्षमन्ते येऽपि स्वयं वासुकितक्षकाद्याः ॥ २८ ॥

विष में गरुड की प्रतिमा (मूर्ति) का धारण—जो व्यक्ति तरक्षु (तेंदुआ

बाघ) के दांत से बनाये हुए पक्षिराज (गरुड़) की प्रतिमा (मूर्ति) को धारण करता है उसके मुख को देखने के लिये वासुकि, तक्षक आदि जो सर्पराज हैं वे भी स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। अर्थात् उस व्यक्ति को सांप नहीं काटते हैं ॥ २८ ॥

विषे गरुडीमूलयोगः—

पुष्ये निपीतं गरुडीसमुत्थं मूलं नृणां पन्नगदंशभीतिम् ।
संवत्सरार्धं हरति प्रसह्य का वृश्चिकाद्यैर्गणना न तेषाम् ॥ २९ ॥

विष में गरुडीमूल योग—गरुणी (पाताल गरुड़ी) का मूल पुष्य नक्षत्र में पान करने से मनुष्यों के सर्प आदि के काटने के भय को छः मास तक दूर कर देता है। बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं की कौन सी गणना है। अर्थात् गरुडी मूल को पुष्य नक्षत्र में पान करने वाले व्यक्ति को कोई भी जहरीला जानवर छः मास तक नहीं काटता है ॥ २९ ॥

नस्याञ्जनालेपनपानयोगैर्भुजङ्गदष्टस्य विषं निहन्ति ।
मूलं गरुड्याः परिपीयमानं न श्यामलत्वं प्रतिपद्यते चेत् ॥ ३० ॥

गरुड़ी (पाताल गरुड़ी) का मूल नस्य, अञ्जन, आलेप तथा पान करने से सांप के काटने का विष नष्ट हो जाता है। यदि पान किया जाय तो सर्प के काटने पर शरीर में श्यामता नहीं आती है ॥ ३० ॥

लज्जावतीमूलविलिप्तपाणिर्बद्ध्वाऽथवा तत्र तदीयमूलम् ।
गृह्णाति सर्पान् भ्रमतोऽथ घोरान्हठात्सुपर्णप्रतिमप्रभावः ॥ ३१ ॥

लज्जावती (लज्जालु) के मूल के कल्क को हाथ में लिप्तकर या उसके मूल को बांधकर मनुष्य घूमते हुए भयंकर सांपों को हठपूर्वक ग्रहण कर लेता है। यह गरुड़ के प्रतिमा धारण करने का प्रभाव है ॥ ३१ ॥

मण्डलिविषे काकादनीमूलयोगः—

अपहरति मण्डलिविषं पानेनालेपनेन वा सद्यः ।
काकादन्या मूलं काञ्जिकपरिपेषितं पुंसाम् ॥ ३२ ॥

मण्डली सर्प के विष में काकादनी (श्वेतगुञ्जा) मूल योग—काकदनी (श्वेतगुञ्जा रत्ती) का मूल काञ्जी के साथ पीसकर पान करने से या लेप करने से पुरुषों के मण्डली सर्प के काटने से उत्पन्न विष को शीघ्र ही दूर करता है ॥ ३२ ॥

कृत्रिमविषे तण्डुलीयकमूलयोगः—

तन्दुलोदकयुतं परिपिष्टं मूलमम्बुदरवस्य घृताढ्यम् ।
पीयमानमतिदारुणवेगं कृत्रिमं गरलमाशु निहन्ति ॥ ३३ ॥

कृत्रिम विष में तण्डुलीयकमूल योग—अम्बुदरव (तण्डुलीयक चौराई)

का मूल चावल के धोवन के साथ पीसकर तथा घृत मिलाकर पान करने से भयंकर वेग वाले कृत्रिम विष को शीघ्र ही नाश करता है ॥ ३३ ॥

मण्डलिविषे नीलिनीमूलयोगः—

तन्दुलजलेन पिष्टं नीलिन्या मूलम शु नाशयति ।
पानेन मण्डलिविषं यदि वा लज्जावतीमूलम् ॥ ३४ ॥

मण्डलि विष में नीलिनीमूल योग—नीलिनी (नीली वृक्ष) का मूल चावल के जल के साथ पीसकर या लज्जालु का मूल चावल के जल के साथ पीसकर पान करने से मण्डली सर्पदंशजन्य विष को नाश करता है ॥ ३४ ॥

दर्वीकरविषे लज्जावत्यादियोगः—

लज्जावती च वन्ध्या च काकादन्यभिधा तथा ।
पाननस्याञ्जनालेपैर्हन्ति दार्वीकर विषम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
सर्पविषचिकित्साधिकारस्तृतीयः ।

दर्वीकर विष में लज्जावती योग—लज्जालु, वन्ध्या कर्कोटकी (बांझ ककड़ी) तथा श्वेतगुञ्जा इन द्रव्यों के मूल पीसकर पान, नस्य, अभ्यञ्जन तथा लेप करने से दर्वीकरसर्पदंशजन्य विष को नाश करते है ॥ ३५ ॥

श्री शोढल विरचित गदनिग्रह के सातवें विषतन्त्र खण्ड मे
तीसरा सर्पविष चिकित्साधिकार समाप्त ।

अथ लूताविषचिकित्साधिकारश्चतुर्थः ।

अथातो लूताविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

सर्प विष चिकित्सा के बाद लूता विष की चिकित्सा कहते हैं ।

लूताविषे कतिपययोगाः—

पिण्डीतगरजा हन्याच्छिफा मर्कोटिकाविषम् ।
लेपपानाञ्जनैस्तूर्णं तन्दुलाम्बुप्रपेषिता ॥ १ ॥

लूता (मकड़ी) के विष में कुछ योग—पिण्डीतगर (तगर) का मूल चावल के धोवन के साथ पीसकर लेप, पान तथा अञ्जन करने से मर्कोटिका (मकड़ी) के विष को शीघ्र ही नाश करता है ॥ १ ॥

कुष्ठैलाञ्जनयष्ट्याह्वैर्घृतक्षौद्रसमन्वितैः ।
प्रलेपः संभिनत्याशु सर्वलूताविषं क्षणात् ॥ २ ॥

कूठ, बड़ी इलायची, रसाञ्जन तथा मुलेठी इन द्रव्यों का चूर्ण घृत तथा मधु मिलाकर लेप करने से सभी प्रकार के लूता (मकड़ी) के विष को क्षणभर में नाश कर देता है ॥ २ ॥

रोध्रसैन्धवकुष्ठैस्तु जातीकुड्मलयोजितैः ।
क्षौद्राज्यमरिचोपेतैर्लेपो लूताविषापहः ॥ ३ ॥

लोध, सेन्धानमक, कूठ, चमेली की कली, मधु, घृत तथा मरिच समभाग—इन द्रव्यों का लेप लूता विष (मकड़ी विष) को नाश करता है ॥३॥

बलानागबलानन्ताफलिनीनागकेसरैः ।
लेपो लूताविषार्तानामुशीरपरिमिश्रितः ॥ ४ ॥

बरियार, नागबला (सहदेइया), दूर्वा, प्रियंगु, नागकेशर तथा खस समभाग—इन द्रव्यों का लेप मकड़ी विष से पीड़ित व्यक्तियों के विष को नाश करता है । अर्थात् यह लेप लगाने से (मकड़ी) के विष को नाश करता है ॥ ४ ॥

मूलं कर्कोटिकायास्तु संपिष्टं तन्दुलाम्बुना ।
ईषद्घृतयुतं लेपाद्धन्यान्मर्कोटिकाविषम् ॥ ५ ॥

कर्कोटिका (ककड़ी) का मूल चावल के जल से पीसकर थोड़ा घृत मिलाकर लेप करने से मकड़ी के विष को नाश करता है ॥ ५ ॥

कटभार्जुनशैरीषशेलुक्षीरद्रुमत्वचः ।
कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः ॥ ६ ॥

कटभ (प्रियंगु), अर्जुन, शिरीष, शेलु (लसोड़ा), तथा क्षीरद्रुम

(पीपल) समभाग—इन द्रव्यों के छाल के कषाय, कल्क और चूर्ण कीट दंश तथा मकड़ी दंश के व्रणों को नाश करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

चन्दनं पद्मकं कुष्ठं नताम्बूशीरपाटलाः ।
निर्गुण्डीसारिवे सेलुर्लूताविषहरो गणः ॥ ७ ॥

चन्दन, पद्मकाठ, कूठ, तगर, अम्बु (सुगन्धवाला) खस, पाढल, निर्गुण्डी, सारिवा तथा सेलु (लसोड़ा) यह द्रव्यगण (कल्क, कषाय तथा चूर्ण रूप में प्रयोग करने से) लूता (मकड़ी) विष को नाश करनेवाला है ॥ ७ ॥

अगदोऽम्लतक्रपिष्टः करभशकृद्युक्तया पुनर्नवया ।
लूतागर्दभकादौ स्वेदेन रुजाश्वयथुहन्ता ॥ ८ ॥

हाथी की लीद तथा पुनर्नवा इन द्रव्यों को खट्टे मट्ठा के साथ पीस कर तैयार किया हुआ अगद (औषध) लूता (मकड़ी) तथा गर्दभक आदि के विष में स्वेदन करने से पीड़ा तथा सूजन को नाश करता है ॥ ८ ॥

बिल्वस्य मूलं सुरसस्य पुष्पं फलं करञ्जस्य नतं सुराह्वम् ।
फलत्रयं व्योषनिशाद्वयं च बस्तस्य मूत्रेण सुसूक्ष्मपिष्टम् ॥ ९ ॥
भुजङ्गलूतोन्दुरवृश्चिकाद्यैर्विसूचिकाजीर्णगरज्वरैश्च ।
आर्तान्नरान् भूतविमर्दितांश्च स्वस्थीकरोत्यञ्जनपाननस्यैः ॥ १० ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
लूताविषचिकित्साधिकारश्चतुर्थः ।

बेल का मूल, सुरस (सेमर) का फूल, करञ्ज का फल, तगर, देवदारु, फलत्रय (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), हरदी तथा दारुहल्दी इन द्रव्यों का बकरी के मूत्र के साथ महीन पिसा हुआ कल्क अञ्जन, पान तथा नस्य में प्रयोग से साँप, मकड़ी, मूषक तथा बिच्छू के विषों से, संयोगज विष से तथा हैजा, अजीर्ण एवं ज्वर आदि से पीड़ित मनुष्यों को और भूतग्रह से विमर्दित (व्यथित) मनुष्यों को स्वस्थ करता है ॥ ९-१० ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के सप्तम विषतन्त्र खण्ड में
चौथा लूताविष चिकित्साधिकार समाप्त ।

अथ वृश्चिकविषचिकित्साधिकारः पञ्चमः ।

अथातो वृश्चिकविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

लूता विष चिकित्सा के बाद वृश्चिक (बिच्छू) की चिकित्सा कहते हैं ।

वृश्चिकविषे कतिपययोगाः—

अर्कक्षीरं ध्रुवं पुंसां प्रच्छन्नागतशोणिते ।
न्यस्तं दंशे क्षणादेव वृश्चिकस्य विषं हरेत् ॥ १ ॥

वृश्चिक (बिच्छू) के विष में कुछ योग—वृश्चिक (बिच्छू) के डंक मारने से प्रच्छन्न रूप से निकलते हुए रक्त में मदार का दूध लगाने से मनुष्यों के वृश्चिकदंशजन्य विष को क्षणभर में अवश्य ही नाश करता है ॥ १ ॥

कार्पासस्य फलैः सम्यग्लेपयेच्छ्लक्ष्णपेषितैः ।
दंशं वृश्चिकदष्टस्य शमार्थं घृतमिश्रितैः ॥ २ ॥

कपास का फल महीन पीसकर घृत मिलाकर उससे बिच्छू के दंशजन्य विष को शान्त करने के लिये दंश के स्थान पर लेप करे ॥ २ ॥

पारावतशकृच्छुण्ठीमातुलुङ्गरसैः समैः ।
पथ्यानतान्वितैर्लेपो वृश्चिकस्य विषं जयेत् ॥ ३ ॥

पारावत (परेवा) की विष्ठा, सोंठ, बिजौरा निम्बू का रस, हर्रे तथा तगर समभाग—इन द्रव्यों का लेप बिच्छू के विष को जीत लेता है ॥ ३ ॥

अर्कक्षीरेण संपिष्टा शिरीषफलमिश्रिता ।
उपकुल्या विषं हन्याद्वृश्चिकस्य प्रलेपनात् ॥ ४ ॥

उपकुल्या (पीपर) तथा शिरीष का फल समभाग—इन द्रव्यों को पीसकर, मदार के दूध के साथ मिलाकर लेप करने से यह योग बिच्छू के विष को नाश करता है ॥ ४ ॥

कुठेरकस्य बीजैस्तु क्षीरेणाजेन भावितैः ।
प्रलेपनं प्रशंसन्ति वृश्चिकस्य विषापहम् ॥ ५ ॥

कुठेरक (पर्णास 'वर्बई') के बीज बकरी के दूध से भावित करे । इस वृश्चिक के विष को नाश करनेवाले लेप की विद्वान् गण प्रशंसा करते हैं । अर्थात् बकरी के दूध से भावित बबई के बीज का लेप बिच्छू के विष को नाश करता है ॥ ५ ॥

नागरं वारिणा घृष्टं नराणां नस्यकर्मणि ।
विषं वृश्चिकदष्टानां हरेदेकं प्रभावतः ॥ ६ ॥

सोंठ जल के साथ घिस कर मनुष्यों के नस्यकर्म में प्रयोग करने से यह अकेले ही अपने प्रभाव से बिच्छू के विष को दूर करता है ॥ ६ ॥

मातुलुङ्गरसोपेतं तालं हिङ्गुसमन्वितम् ।
छायाशुष्कं प्रलेपः स्याद्वृश्चिकानां विषापहः ॥ ७ ॥

हरताल के हिंगु के साथ बिजौरा निम्बु के रस में मिलाकर बनाया हुआ छायाशुष्क लेप लगाने से बिच्छुओं के विष को नाश करता है अर्थात्—हरताल तथा हिंगु को बिजौरा निम्बू के रस में घोट कर लेप तैयार कर ले और छाया में सुखा ले। इसके बाद बिच्छू के डंकजन्य विष में प्रयोग करे। यह बिच्छू के विष को नाश करता है ॥ ७ ॥

जीरकस्य कृतः कल्को घृतसैन्धवसंयुतः ।
सुखोष्णो वृश्चिकार्तानां प्रलेपो वेदनापहः ॥ ८ ॥

सफेद जीरा का कल्क, घृत तथा सेन्धानमक मिलाकर थोड़ा गरम कर लेप करना बिच्छू के डंक से पीड़ित व्यक्तियों की वेदना को नाश करता है ॥ ८ ॥

उष्णं घृतं सैन्धवसंप्रयुक्तं निपीतमाशु प्रशमं करोति ।
निश्वासकम्पश्रमवारितापरुजा जवाद्वृश्चिकदंशजाताः ॥ ९ ॥

गरम घृत, सेन्धानमक मिलाकर पान करने से बिच्छू के डंक के वेग से उत्पन्न श्वास, कम्प, परिश्रम के कारण दाह आदि पीड़ाओं को शीघ्र शान्त करता है ॥ ९ ॥

मनःशिलाकुष्ठकरञ्जबीजशिरीषकाश्मीरभवैः समांशकैः ।
विनिर्मिता वृश्चिकसम्भवानां संहारिणी स्याद्गुटिका विषाणाम् ॥१०॥

मैनसिल, कूठ, करञ्ज का बीज, शिरीष तथा गम्भारी का फल समभाग—इन द्रव्यों की बनाई हुई गुटिका (सेवन करने से) बिच्छू के डंक से उत्पन्न विषों को नाश करती है ॥ १० ॥

अवतारयत्यधो नीतमूर्ध्वमारोपितं च वर्धयति ।
दंशाद्वृश्चिकगरलं विधिवद्बद्धं मञ्जुकामूलम् ॥ ११ ॥

इति श्रीवरसोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
वृश्चिकविषचिकित्साधिकारः पञ्चमः ।

मञ्जुका (मंजीठ) का मूल विधिपूर्वक बांधकर नीचे रखने से बिच्छू के डंक मारने से उत्पन्न विष को नीचे उतारता है और ऊपर रखने से विष को बढ़ाता है ॥ ११ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के विषतन्त्र खण्ड में
चौथा वृश्चिकविषाधिकार समाप्त।

अथ मूषिकविषचिकित्साधिकारः षष्ठः ।

अथातो मूषिकविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

वृश्चिक विषचिकित्सा के बाद मूषिकविषचिकित्सा कहते हैं ।

मूषिकविषे कतिपययोगाः—

सर्वेषु च विधिः कार्यो मूषिकाणां विषेष्वयम् ।
दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत् ॥ १ ॥
शिरीषरजनीवक्रकुङ्कुमैरमृतायुतैः ।
छर्दनं जालिनीक्वाथैः कैशिकाङ्कोठयोरपि ॥ २ ॥

मूषिक विष में कुछ योग—सभी प्रकार के मूषिका (चूहा) के विषों में इस विधि को करना चाहिए । चूहा के दंश स्थान को पाछने के बाद जलाकर रक्तनिर्हरण करे और शिरीष की छाल, हल्दी, वक्र (तगर) तथा नागकेशर समभाग—इन द्रव्यों के कल्क में गुडूची का कल्क मिलाकर लेप करे । इसके अतिरिक्त जालिनी (कड़वीतरोई) के क्वाथ से या कैशिक (गन्धमासी) तथा अङ्कोठ (ढेरा) के क्वाथ से वमन करावे ॥ १–२ ॥

कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम् ।
नागरं मालतीपुष्पं सर्वाणि मधुराणि च ॥ ३ ॥
कपित्थरसपिष्टोऽयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः ।
विषं हन्त्यगद सर्वं मूषिकाणां विशेषतः ॥ ४ ॥

कूठ, त्रिकटुक, (सोंठ, पीपर, मरिच), दारुहल्दी, मुलेठी, सेन्धानमक, सौवर्चलनमक, सोंठ, चमेली का फूल तथा सभी मधुर (काकोल्यादि गण) द्रव्यों को कैंथ के रस में पीसकर मधु मिलाकर अगद (औषध) तैयार करे । यह अगद (औषध) सेवन करने से सभी विषों को नाश करता है और विशेषकर मूषिक (चूहे) के विष को नाश करता है ॥ ३–४ ॥

कुष्ठं वचा मदनकोशवतीफले च
संचूर्णितं तदिति चूर्णमिदं चतुर्णाम् ।
गोमूत्रपीतमखिलाखुविषं निहन्यात्
कोशातकीकथनमापिबतोऽथवाऽपि ॥ ५ ॥

कूठ, वच, मदनफल, कोशवती (तरोई) का फल—इन चारों द्रव्यों का चूर्ण गाय के मूत्र के साथ पान करने से सभी प्रकार के मूषिक विषों को नाश करता है । अथवा केवल कोशातकी (तरोई) के फल का क्वाथ पान करने से सभी प्रकार के मूषिक विष को नाश करता है ॥ ५ ॥

वचां प्रातः प्रयत्नेन पथ्याशी तन्दुलाम्बुना ।
पिबेदाखुविषार्तिघ्नां त्र्यहं सप्ताहमेव वा ॥ ६ ॥

इसे को सेवन करने वाला (या पथ्यपूर्वक भोजन करने वाला) व्यक्ति वच को चावल के धोवन के साथ प्रयत्नपूर्वक प्रातःकाल तीन दिन या सात दिन तक पान करे। यह योग मूषकविष की पीड़ा को नाश करता है ॥ ६ ॥

बब्बूलस्य कठोरस्य काञ्चनारस्य वा भृशम् ।
वल्कलं क्वाथयेत्तावद्यावत्क्वाथपलद्वयम् ॥ ७ ॥
ईषत् सर्षपतैलेन योजितं प्रपिबेन्नरः ।
जीर्णे च मधुरान्नाशी मुच्यते मौषिकाद्विषात् ॥ ८ ॥

कठोर (कड़ा) बब्बूल की छाल या काञ्चनार की छाल एक छटांक (अठगुने जल में) तब तक क्वाथ करे जब तक दो पल (दो छटांक) क्वाथ शेष रह जाय। इसके बाद इस क्वाथ को सरसों का तैल मिलाकर मनुष्य पान करे। पच जाने के बाद मधुरपदार्थ भोजन करनेवाला मनुष्य मूषिक (चूहे) के काटने से उत्पन्न विष से मुक्त हो जाता है ॥ ७-८ ॥

सिन्दुवारं नतं शिग्रुं बिल्वमूलं पुनर्नवा ।
वचा श्वदंष्ट्रा जीमूतमेषां क्वाथं समाक्षिकम् ॥ ९ ॥
पिबेच्छाल्योदनं दध्ना भुञ्जानो मूषिकार्दितः ।
तक्रेण शरपुङ्खाया बीजं संचूर्ण्य वा पिबेत् ॥ १० ॥
अङ्कोठमूलकल्को वा बस्तमूत्रेण पेषितः ।
पानालेपनयोर्युक्तः सर्वाखुविषनाशनः ॥ ११ ॥

सिन्दुवार, तगर, सहिजन, बेल का मूल, पुनर्नवा, वच, गोखरू, जीमूत (देवताड़ बन्दाली) समभाग—इन द्रव्यों का क्वाथ मधु मिलाकर मूषिक के विष से पीड़ित व्यक्ति पान करे और जड़हन धान के चावल का भात दही के साथ खाय। अथवा शरपुंखा (सरफोंका) का बीज चूर्ण कर मट्ठा के साथ पान करे। अथवा अंकोठ (ढेरा) के मूल का कल्क बकरी के मूत्र के साथ पीस कर पान तथा लेप करने से सभी प्रकार के मूषिक (चूहे) के विषों को नाश करता है ॥ ९-११ ॥

यस्याङ्गमाखोर्गरलेन पुंसः प्रदूषितं तस्य निगद्य नाम ।
रजः समादाय करेण मार्गाद्विनिक्षिपेत्तद्विषवेगशान्त्यै ॥ १२ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
मूषिकविषचिकित्साधिकारः षष्ठः ।

जिस पुरुष का अंग मूषिक के विष से दूषित हो गया हो, उस पुरुष का नाम उच्चारण कर हाथ से रास्ते का धूल लेकर मूषिक विष की शान्ति के लिये प्रक्षेप करे ॥ १२ ॥

श्री वैद्यशोढलविरचित गदनिग्रह के विषतन्त्रखण्ड में
छठवां मूषिकाविषचिकित्साधिकार समाप्त ।

अथ नखदन्तविषखर्जूरविषचिकित्साधिकारः सप्तमः ।

अथातो नखदन्तविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

मूषिकविषचिकित्सा के बाद नख-दन्तविषचिकित्सा को कहते हैं ।

नखदन्तविषे कतिपययोगाः—

शमीनिम्बवटानां तु वल्कलैः क्वथितैर्भृशम् ।
नखदन्तक्षतं पुंसां नाशाय परिषेचयेत् ॥ १ ॥

नख-दन्त विष में कुछ योग—शमी, नीम तथा वट के छाल को अच्छी तरह क्वाथ कर उससे पुरुषों के नख तथा दन्तक्षत को नाश करने के लिये सेचन करे ॥ १ ॥

मञ्जिष्ठापद्मकोशीरधान्यकैः परिपेषितैः ।
सघृतैर्लेपनं दद्यान्नखदन्तविषापहम् ॥ २ ॥

मंजीठ, पद्मकाठ, खस तथा धनियां इन द्रव्यों को अच्छी तरह पीस कर और घृत मिलाकर इससे नख तथा दन्तक्षतजन्यविष को नाश करने के लिये लेपन करे ॥ २ ॥

निशाधात्रीसमायुक्तं गैरिकं परिपेषितम् ।
लेपनादुद्धरत्याशु नखदन्तविषं नृणाम् ॥ ३ ॥

हल्दी, आंवला तथा गेरू को पीस कर लेप करने से मनुष्यों के नख तथा दन्तक्षतजन्य विष को शीघ्र ही दूर करता है ॥ ३ ॥

गोजिह्विका हरेत्पुंसां पिष्टा क्षौद्रसमन्विता ।
नखदन्तविषं क्षिप्रं प्रलेपात्सर्वसत्त्वजम् ॥ ४ ॥

गोजिह्विका (गोजिह्वा "वनगोभी") पीसकर मधु मिलाकर लेप करने से मनुष्यों के सभी जन्तुओं के विष एवं नख तथा दन्तक्षतजन्यविष को शीघ्र ही दूर करती है ॥ ४ ॥

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपादिका ।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥ ५ ॥

सोमवल्क (सफेद कत्था-खैर) अश्वकर्ण (साखू), गोजिह्वा (वनगोभी) तथा हंसपादिका (गोधापदी "मुसलीकन्द"), हल्दी, दारुहल्दी तथा गेरू समभाग इन द्रव्यों का लेप नखदन्तक्षतजन्य विष को दूर करता है ॥ ५ ॥

खर्जूरविषेकतिपययोगाः—

दंशस्योपरि विन्यस्तं दीपतैलं हरेत्क्षणात् ।
खर्जूरकविषं घोरमेकमेव प्रभावतः ॥ ६ ॥

चाङ्गेरिकाविमिश्रेण लवणेन प्रयत्नतः ।
घर्षयन्मुच्यते दंशं खर्जूरकविषान्नरः ॥ ७ ॥

इति श्रीवैद्यवरशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
नखदन्तविषखर्जूरविषचिकित्साधिकारः सप्तमः ।

खर्जूर विष में कुछ योग—खर्जूरक दंश (काटे हुए) के स्थान पर दीप का तैल रखने से (लेप लगाने से) भयंकर खर्जूरक (कनखजूरा) के विष को अकेले ही अपने प्रभाव से दूर करता है। चांगेरी (लोनी) तथा सेन्धा-नमक मिलाकर प्रयत्नपूर्वक दंश स्थान को घर्षण करने से मनुष्य खर्जूरक (कनखजूरा) के विष से मुक्त हो जाता है ॥ ६–७ ॥

श्री वैद्यशोढलविरचित गदनिग्रह के विषतन्त्रखण्ड में
सातवां नखदन्तक्षतविष खर्जूरविषाधिकार समाप्त ।

अथ गरविषचिकित्साधिकारोऽष्टमः ।

अथातो गरविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

नख-दन्तादिक्षतविषचिकित्सा के बाद गरविष की चिकित्सा कहते हैं ।

अङ्कोठमूलं निःक्वाथ्य फाणिते सघृतं लिहेत् ।
तैलाक्तस्विन्नसर्वाङ्गो गरदोषान् वमत्यलम् ॥ १ ॥

अङ्कोठ (ढेरा) का मूल क्वाथकर फाणित (राब) में मिलाकर घृत के साथ चाटे । यह योग तैल लगाकर धूप में स्वेदन करने के बाद अच्छी तरह संयोगज विषजन्य दोषों को वमन कराता है ॥ १ ॥

सिताचन्दनधात्रीणां चूर्णं मधुसमन्वितम् ।
प्रलिह्यात्प्रातरुत्थाय गरदोषविनाशनम् ॥ २ ॥

सिता (मिश्री), चन्दन तथा आंवला के चूर्ण को मधु मिलाकर प्रातः काल उठते ही चाटे । यह योग गरविष (संयोगज विष) को नाश करता है ॥ २ ॥

हेमसीसारताम्राणा चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ।
पथ्याशी प्रलिहन् प्रातर्गरदोषात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हेमसीसार (स्वर्णमाक्षिक) तथा ताम्र का चूर्ण (भस्म) मधु मिलाकर प्रातःकाल चाटने से पथ्यपूर्वक रहने वाला संयोगज विष से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

कृष्णाङ्कोठशिफाकल्कं तत्क्वाथं वा दिनत्रयम् ।
पिबेद्गरविषघ्नं तु सम्यक्स्वास्थ्यकरं परम् ॥ ४ ॥

कृष्णा (पीपर) तथा अङ्कोठ (ढेरा) के मूल का कल्क या क्वाथ को तीन दिन तक पान करे । यह संयोगज विष को नाश करने वाला है तथा अच्छी तरह स्वास्थ्य प्रदान करता है ॥ ४ ॥

स्नुक्क्षीरदन्तिनीनीलीमगधाभिः प्रकल्पिताः ।
गुटिकाः कोलमात्रास्तु सम्यग्गोमूत्रपेषिताः ॥ ५ ॥
भक्ष्यमाणाः प्रतिदिनं ध्रुवं कोष्ठप्रभेदिकाः ।
गरदोषविषार्तानां न हीयन्ते यथामृतम् ॥ ६ ॥

सेंहुड का दूध, दन्ती, नीली वृक्ष तथा पीपर, इन द्रव्यों को गाय के मूत्र में पीसकर कोलप्रमाण (छः मासा) की बनाई हुई गुटिका प्रतिदिन खाने से संयोगज-दोषविष से पीड़ित व्यक्तियों के कोष्ठ को भेदन करनेवाली है । अर्थात् कब्ज को दूर करने वाली है । वे कभी हीनवीर्य नहीं होती हैं जैसे अमृत कभी हीनवीर्य नहीं होता है ॥ ५–६ ॥

त्रिवृद्दन्तीसुधाक्षीरैः सगुडैर्गुटिकाः कृताः ।
भक्ष्यमाणाः प्रतिदिन मासेनैव गरापहाः ॥ ७ ॥

निशोथ, दन्ती तथा सेंहुड़ का दूध—इन द्रव्यों की गुड़ मिलाकर बनाई हुई गुटिका प्रतिदिन खाने से एकमास में ही संयोगजविष को नाश करती है ॥ ७ ॥

मूर्वामृतानतकणापटोलीचव्यचित्रकम् ।
वचामुस्तविडङ्गानि तक्रकोष्णाम्बुमस्तुभिः ॥ ८ ॥
पिबेद्रसेन चाम्लेन गरोपहतपावकः ।

मूर्वा (मोरवेल या मरोर फली), गुडूची, तगर, पीपर, परवल, चव्य, चित्रक, वच, मोथा तथा वायविडङ्ग—इन द्रव्यों को मट्ठा, गरम जल, मस्तु (दही का तोड़) तथा इमली के रस के साथ संयोगज विष के कारण मन्दाग्नि-वाला व्यक्ति पान करे ।

गरदोषेऽमृतं घृतम्—

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य फलानि च ॥ ९ ॥
श्वेते द्वे काकमाची च गवां मूत्रेण पेषयेत् ।
सर्पिरेतेषु संसिद्धं विषसंशमनं परम् ॥ १० ॥
अमृत नाम विख्यातमपि संजीवयेन्मृतम् ।

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
गरविषचिकित्साधिकारोऽष्टमः ।

अपामार्ग के बीज, शिरीष के फल, दोनों श्वेत (वच तथा अतीस), काकमाची (मकोय) समभाग—इन द्रव्यों को गाय के मूत्र के साथ पीस ले । इन द्रव्यों के कल्क से (घृत निर्माण विधि के अनुसार घृत के चौथाई कल्क तथा चौगुना जल मिलाकर) घृत सिद्ध करे । यह घृत अच्छी तरह विष को शान्त करनेवाला है । अमृत नामक प्रसिद्ध यह घृत मरे हुए व्यक्ति को भी जीवित कर देता है ॥ ९–१० ॥

श्री वैद्यशोढलविरचित गदनिग्रह के सातवें विषतन्त्र खण्ड में
आठवां गरविष चिकित्साधिकार समाप्त ।

अथ समस्तविषचिकित्साधिकारो नवमः ।

अथातः समस्तविषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

गरविषचिकित्सा के बाद समस्तविषचिकित्सा को कहते हैं।

दष्टं नरं रक्तककीटकेन प्रधूपयेद्गुग्गुलुना प्रकामम् ।
प्रस्वेदनाशे सघृतार्कपत्रपिण्डी च दंशे विधिवत्प्रदिह्यात् ॥ १ ॥

रक्तककीट के द्वारा काटे हुए मनुष्य को गुग्गुलु से अच्छी तरह धूप दे और पसीना सूख जाने पर मदार के पत्ते के कल्क का घृत मिश्रित पीढ़ी (टिकिया) बनाकर दंश के ऊपर विधिपूर्वक पुल्टिस बांधे ॥ १ ॥

मत्स्यविषचिकित्सा—

अङ्कोल्लवृक्षदलधूपविधानयोगा-
नाशं प्रयाति विषमाशु नरस्य मात्स्यम् ।
धूपः पुनः कटुकतैलनृकेशसक्तु-
क्लृप्तोऽस्य दशपदके सुतरां प्रशस्तः ॥ २ ॥

अङ्कोल (ढेरा) के पत्ते का धूप देने से मछली के काटने से उत्पन्न मनुष्य का विष शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त सरसों का तैल मिलाकर मनुष्य का बाल तथा सत्तू का धूप मछली के दंशस्थान में देना अत्यधिक लाभप्रद होता है ॥ २ ॥

सक्तुभिः कटुतैलाक्तैः सक्षौमैः परिधूपयेत् ।
दंशं मत्स्यविषार्तानां प्रशमाय भिषग्वरः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ वैद्य सत्तू तथा क्षोम (तिसिवट या केले के कपड़े) वस्त्र को सरसों के तैल में मिलाकर उससे मत्स्य (मछली) विष से पीड़ित मनुष्यों के शान्ति के लिये दंशस्थान को धूपित करे ॥ ३ ॥

दुर्वारा तु व्यथा नूनं मत्स्यदंशात्तु तत्क्षणात् ।
अङ्कोठमूलधूपेन धूपिता संप्रणश्यति ॥ ४ ॥

अङ्कोठ (ढेरा) के मूल का धूप देने से मछली के काटने से उत्पन्न भयंकर पीड़ा को उसी समय अवश्य ही नाश करता है ॥ ४ ॥

गोधेरकविषचिकित्सा—

उष्णोदकेन मसृणं दृषदि प्रपिष्य
कन्थारिपादपजटा कृतनावनानाम् ।
गोधेरकस्य गरलं नयति प्रशान्ति-
मर्कांशुतापभरमम्बुदमालिकेव ॥ ५ ॥

गोधेरक विष की चिकित्सा—कन्थारिपादप (कन्थारिवृक्ष) का मूल गरम जल के साथ पत्थर पर महीन पीसकर नावन (नस्य) लेने से मनुष्यों के

गोधेरक के काटने से उत्पन्न विष को शान्त करता है। जैसे सूर्य-किरणों के संताप से उत्पन्न स्वेदबिन्दु को मेघमाला (बरसाती बादल) शान्त करती है ॥ ५ ॥

शृङ्गिमत्स्यदशनव्रणाश्रितं संनिहन्ति गरलं सुदुःसहम्।
साज्यचिक्कणयवस्य पिण्डिका स्वेदनेन यदि वेन्दुरश्मयः ॥ ६ ॥

घृत युक्त चिकने यव की पिण्डी (पीढ़ी) के द्वारा स्वेदन करने से शृङ्गी मछली के काटने से उत्पन्न व्रण में स्थित भयंकर गरल (विष) नष्ट हो जाता है अथवा इन्दुरश्मि (चन्द्रमा की किरण) से स्वेदन करने पर शृङ्गी मत्स्य का विष नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

वरटीविषचिकित्सा—

शस्त्रेण दंशे परिघृष्यमाणे समुद्धृते तद्गतकण्टके वा।
फणिज्जनिर्यासभृतेऽथ दंशे भवेत्प्रणाशो वरटीविषस्य ॥ ७ ॥

वरटी (बर्रे, भौरा या गन्ध युक्त मक्खी) के विष की चिकित्सा—वरटी के दंशस्थान में शस्त्र से घर्षण करने पर अथवा उसके कण्टक के निकल जाने पर दंशस्थान में फणिज्ज (प्रस्थपुष्प-मरुआ) का गोंद लगाने से वरटी (बर्रे) के विष का नाश होता है ॥ ७ ॥

मक्षिकाविषचिकित्सा—

मरिचतगरशुण्ठीकेसरैस्तोयपिष्टै-
र्यदि भवति विलिप्तं मक्षिकादष्टमङ्गम्।
विषमुपशममेति द्राक्तदानीं तदीयं
घृतयुतशतपुष्पासैन्धवालेपनाद्वा ॥ ८ ॥

मक्षिका विष की चिकित्सा—मरिच, तगर, सोंठ तथा नागकेशर समभाग, इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर उस कल्क से मक्षिका के काटे हुए स्थान को लेप किया जाय तो मक्षिका के काटने से उत्पन्न विष उसी समय शीघ्र ही शान्त हो जाता है। अथवा शतपुष्पा (सोया का बीज) तथा सेन्धानमक को पीसकर घृत मिलाकर लेप किया जाय तो मक्षिका का विष शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

मण्डूकविषचिकित्सा—

शिरीषबीजैः कुलिशद्रुमस्य क्षीरेण पिष्टैः कृतलेपनानाम्।
विषं विनाशं व्रजति क्षणेन मण्डूकदंशप्रभवं नराणाम् ॥ ९ ॥

मण्डूक विष की चिकित्सा—शिरीष के बीज को कुलिशद्रुम (असन वृक्ष) के दूध के साथ पीसकर उससे लेप करने से मनुष्यों को मेंढक के काटने से उत्पन्न विष क्षणभर में नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

सारमेयविषचिकित्सा—

काकोदुम्बरिकामूलं धत्तूरकफलान्वितम् ।
पीतं तन्दुलतोयेन सारमेयविषापहम् ॥ १० ॥

सारमेय (कुत्ता) के विष की चिकित्सा—काकोदुम्बरिका (कठूमर) का मूल तथा धत्तूर का फल चावल के धोवन के साथ पीसकर पान करने से कुत्ते के काटने से उत्पन्न विष को नाश करता है ॥ १० ॥

असनजलापिष्टं यः स्वदति मातुलस्य फलमेकम् ।
उन्मत्तसारमेयप्रभवं विषमस्य शमं याति ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति मातुल (धत्तूर) का एक फल असन वृक्ष (विजयसार) के जल के साथ पीस कर खाता है उसका पागल कुत्ते के काटने से उत्पन्न विष शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

विमर्श—मूलग्रन्थ में कुत्ते के काटने से उत्पन्न विष का लक्षण नहीं दिया गया है। चिकित्सा प्रसंग से उसका दिग्दर्शन कराना उचित प्रतीत हो रहा है—

[1]पागल कुत्ते तथा अन्य पागल जन्तुओं की पहचान यह है कि— जब कुत्ता, शृगाल, तेंदुवा बाघ, भालू आदि हिंसक जन्तुओं में वायु, कफ से दूषित होकर उनके संज्ञावाही स्रोतों में पहुच जाता है तो उनकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है। उस समय उनकी पूँछ, हनु तथा कन्धे नीचे गिर जाते हैं, मुख से

---

१. श्वशृगालवतरक्षर्क्षव्याघ्रादीनां यथानिलः ।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान् ।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥
प्रमूढोऽन्यतमस्तेषां खादन्विपरिधावति ।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु ॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥ (सु० क० ६)
येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥
दंष्ट्रिना येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ।
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद्रिष्टमादिशेत् ॥
त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वापि वा जलम् ।
जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥
अदंष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिद्ध्यति ।
प्रसुप्तो वोत्थितो वापि स्वस्थास्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥ (माधवनिदान)

लालास्राव होता है, वे कुछ अन्धे तथा बहरे ज्ञात होते हैं और एक दूसरे की ओर दौड़ते हैं। इनमें जो जानवर अधिक पागल होता है वह दूसरों की ओर काटने को दौड़ता है। इस प्रकार के पागल जानवरों से काटे हुए व्यक्ति का दंशस्थान सञ्ज्ञाशून्य तथा काला हो जाता है और रक्तस्राव अधिक होता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त विषलिप्त शस्त्रों से घत होने पर जो लक्षण होते हैं वे भी मिलते हैं।

पागल कुत्ता आदि जानवरों से काटा हुआ मनुष्य बार-बार उसके समान चेष्टायें करता है और उसी के तरह शब्द करता है, वह अपने प्राकृत कार्यों को नहीं कर पाता है तथा कुछ समय बाद, उसकी मृत्यु हो जाती है।

यदि मनुष्य कुत्ते आदि किसी विशेष जानवर के काटने पर जल या दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब देखे तो उसको अरिष्ट लक्षणों से युक्त समझना चाहिए। जिस रोग में जल को देखकर या छूकर बार-बार एकाएक भय हो जाय उस रोग को जलसंत्रास कहते हैं यह अरिष्ट का लक्षण है।

बिना किसी जानवर के काटे ही जिसको जलसंत्रास हो जाय वह भी किसी तरह अच्छा नहीं होता है। सामान्यतः स्वस्थ मनुष्य भी सोते या जागते समय इस प्रकार भययुक्त हो जाय तो उसे असाध्य समझना चाहिए।

मरीचनागरोपेतं सिन्धुसौवर्चलान्वितम् ।
फणिज्झकफलं हन्याल्लेपनाद्वरटीविषम् ॥ १२ ॥

मरिच, सोंठ, सेन्धानमक, सौवर्चलनमक तथा फणिज्झक (मरुआ) का फल इन द्रव्यों को पीस कर लेप करने से (यह लेप) वरटी (बर्रे) के विष को नाश करता है ॥ १२ ॥

अयसाऽऽकर्षयेद्दंशे कण्टकं च तमुद्धरेत् ।
वरटीविषजिल्लेपात्फणिज्झकरसोऽथवा ॥ १३ ॥

इति श्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे सप्तमे विषतन्त्रखण्डे
समस्तविषचिकित्साधिकारः नवमः ।

वरटी के दंशस्थान में लोहा से कर्षण (खुरचना) करे और उसके कण्टक (डंक) को निकाल दे। इससे वरटी का विष नष्ट हो जाता है अथवा मरुआ का रस लेप करने से वरटी के विष को जीत लेता है ॥ १३ ॥

श्री वैद्यशोढलविरचित गदनिग्रह के सातवें विषतन्त्रखण्ड में
नवाँ समस्तविषचिकित्साधिकार समाप्त।

समाप्तं चेदं विषतन्त्रं सप्तमं खण्डम् ।

गदनिग्रहः

अथ रसायनतन्त्राख्योऽष्टमः

अथ सामान्यरसायनाधिकारः प्रथमः ।

रसायनलक्षण तत्सेवनविधिश्च—

यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम् ।
पूर्वे वयसि मध्ये वा शुद्धकायः समाचरेत् ॥ १ ॥
अविशुद्धशरीरस्य नोक्तो रासायनो विधिः ।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवार्पितः ॥ २ ॥

रसायन का लक्षण तथा उसके सेवन की विधि—जो औषध जरा (बुढ़ापा) तथा व्याधि को नाश करे उसे रसायन कहते है। इस रसायन का सेवन आयु की प्रथमावस्था या दूसरी अवस्था में वमन, विरेचनादि से शुद्ध शरीरवाला व्यक्ति सेवन करे। जिस का शरीर शुद्ध न हो उसके लिये रसायन का प्रयोग नहीं बताया गया है। जिस प्रकार गन्देवस्त्र में लगाया हुआ रंग नहीं चढ़ता है उसी प्रकार अशुद्धशरीर में प्रयोग किया हुआ रसायन लाभदायक (जरा-व्याधि-विनाशक) नहीं होता है ॥ १–२ ॥

हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलकं गुडम् ।
वचाविडङ्गरजनीपिप्पलीविश्वभेषजम् ॥ ३ ॥
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः ।
तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥ ४ ॥
त्रिरात्रं यावकं दद्यात्पञ्चाहं वाऽथ सर्पिषा ।
सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धिर्हि वर्चसः ॥ ५ ॥
शुद्धकोष्ठं शुभं ज्ञात्वा रसायनमुपाहरेत् ।
वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यत्तस्मै यौगिकं भवेत् ॥ ६ ॥

हरें का चूर्ण, सेन्धानमक, आवला, गुड़, वच, विडंग, हल्दी, पीपर तथा सोंठ इन द्रव्यों को गरम जल के साथ स्नेहन-स्वेदन करने के बाद मनुष्य पान करे। इस प्रयोग से शुद्ध शरीरवाले तथा संसर्जन किये हुए व्यक्ति के लिये तीन दिन, पांच दिन या सात दिन पुराना घृत के साथ यावक (अधसूखे यव की रोटी या दलिया) भक्षण कराये जब तक मल की शुद्धि न हो जाय। अच्छी तरह शुद्ध कोष्ठ वाले व्यक्ति को रसायन देने योग्य समझ कर रसायन

का प्रयोग करे। अवस्था, प्रकृति तथा सात्म्यासात्म्य को जाननेवाला वैद्य जो योग जिसके लिये उपयुक्त हो वह योग उसके लिये प्रयोग करे। इस प्रकार प्रयोग करने से यौगिक योग होता है ॥ ३-६ ॥

रसायनाः कतिपययोगाः—

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥७॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि तेषां विशेषेण तु शङ्खपुष्पी ॥ ८ ॥

रसायन के कुछ योग—मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी भेद) का स्वरस प्रयोग करे, दूध के साथ मुलेठी का चूर्ण प्रयोग करे। गुडूची का रस सेवन करे, मूल तथा पुष्प सहित शंखपुष्पी का कल्क सेवन करे। ये आयुप्रद, व्याधिनाशक, बल, जाठराग्नि, वर्ण तथा स्वरवर्द्धक एवं धारणा शक्ति, स्मरण शक्ति और बुद्धिवर्द्धक रसायन हैं। उन सबों में शङ्खपुष्पी विशेषकर पूर्वोक्त गुणकारी रसायन है ॥ ७-८ ॥

रसायनो लोहयोगः—

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षीरे च लावणे।
क्रमेण चेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च ॥ ९ ॥
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्नितप्तानि सेचयेत्।
चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधतनूनि च ॥ १० ॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ॥ ११ ॥
युक्तानि लोहकुम्भे च स्थितानि घृतभाविते।
अधृष्यः स्याद्गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ॥ १२ ॥
धीमान्यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाबलः।
भवेत्समाः प्रयुञ्जानो नरो लोहरसायनम् ॥ १३ ॥
मधुकेन तुगाक्षीर्याः पिप्पल्याः क्षौद्रसर्पिषा।
त्रिफला सितया चैव युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥ १४ ॥

लोह योग रसायन—चार अङ्गुल लम्बा तिल के मोटाई के बराबर पतला कान्त लौह का पत्र (पत्तर) लेकर आग में अच्छी तरह तपाकर (लाल कर) त्रिफला का रस, गाय का मूत्र तथा दूध, सेन्धानमक का जल, इङ्गुदी (हिंगोट) का क्षार तथा पलास के क्षार में क्रमशः सेचन करे (बुझावे)। उन लौह पत्तरों को अञ्जन के वर्ण के समान जान कर महीन चूर्ण बनावे। उन चूर्णों को मधु तथा आंवले का रस मिलाकर घृतस्निग्ध लौहपात्र में रखे और

उसका प्रयोग करे। इस रसायन को सेवन करनेवाला अधृष्य (भयरहित), हाथी के समानप्राय बलवाला, सदा बलवान् इन्द्रियवाला, बुद्धिमान् कीर्तिमान्, मधुर बोलनेवाला, अच्छी तरह तेज सुननेवाला, महान् पराक्रमी तथा लोहा के तरह दृढ होता है। मुलेठी, तुगाचीरी (वंशलोचन), पीपर, मधु, घृत तथा मिश्री के साथ सेवन करने से त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा आंवला) सिद्ध रसायन होती है॥ ९–१४॥

पिप्पलीवर्धमानयोगः—

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दश पैप्पलिकं दिनम्।
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथैवापनयेत्पुनः॥ १५॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनः॥ १६॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्या शृता मध्यबलैर्नरैः।
शीतीकृता चाल्पबलैर्वीक्ष्य दोषामयान् प्रति॥ १७॥

[1]पिप्पली वर्द्धमान योग—क्रमशः दस-दस पीपर प्रतिदिन बढ़ाकर दस दिन तक दूध के साथ पान करे और उसी प्रकार ग्यारहवें दिन से दस-दस पीपर कम करता हुआ दूध के साथ पान करे। पच जाने पर साठीधान का भात, दूध तथा घृत के साथ भक्षण करे। यह एक हजार पिप्पली का रसायन प्रयोग है। इस पिप्पली को बलवान् मनुष्य पीसकर पान करे, मध्यम बलवाला क्वाथ कर तथा दुर्बल व्यक्ति शीतकषाय (बनाकर दोष तथा रोगों के अनुसार रातभर भिगोकर छाना हुआ कषाय) पान करे।

दशपैप्पलिको ज्येष्ठो मध्यमः सप्तभिः स्मृतः।

१.

प्रथम दिन	१०	ग्यारहवें दिन	९०
द्वितीय दिन	२०	बारहवें दिन	८०
तृतीय दिन	३०	तेरहवें दिन	७०
चतुर्थ दिन	४०	चौदहवें दिन	६०
पञ्चम दिन	५०	पन्द्रहवें दिन	५०
षष्ठ दिन	६०	सोलहवें दिन	४०
सप्तम दिन	७०	सतरहवें दिन	३०
अष्टम दिन	८०	अट्ठारहवें दिन	२०
नवम दिन	९०	उन्नीसवें दिन	१०
दशम दिन	१००		
		कुल जोड़	१०००

यस्त्रिपिप्पलिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः ॥ १८ ॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम् ।
वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥ १९ ॥

दस पिप्पली की मात्रा श्रेष्ठ है, सात पिप्पली की मात्रा मध्यम है तथा तीन पिप्पली की मात्रा निकृष्ट है और वह निकृष्ट मात्रा दुर्बलों के सेवन के लिये है। यह पिप्पलियों का रसायन शरीर की वृद्धि करनेवाला, स्वर को ठीक करनेवाला, आयुष्प्रद, प्लीहावृद्धि तथा उदररोगनाशक, वयस्थापक और धारणा शक्ति को बढ़ाने वाला है ॥ १५-१९ ॥

रसायनत्रीफलायोगः—

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया क्षौद्रसर्पिषा ।
विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ॥ २० ॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा ।
भवत्यायुःप्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ॥ २१ ॥

त्रिफला योग रसायन—त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) सभी लौह (कान्त, वंग, ताम्र, यशद आदि), सोना, वच, मधु, घृत, वायविडङ्ग, पीपर तथा सेन्धानमक के साथ एक वर्ष तक प्रयोग करने से मेधा (धारणाशक्ति), स्मृति (स्मरण शक्ति) तथा बल को देनेवाली है। यह आयुष्प्रद, धनप्रद और जरा (वृद्धावस्था) एवं रोग को नाश करनेवाली होती है ॥ २०-२१ ॥

रसायनं पथ्यादिचूर्णम्—

पथ्याकृष्णाविडङ्गायोधात्रीचूर्णं सशर्करम् ।
सर्पिस्तैलयुतं खादञ्जरया नाभिभूयते ॥ २२ ॥

पथ्यादि चूर्ण रसायन—हर्रे, पीपर, वायविडङ्ग, लौह तथा आंवला इन द्रव्यों का चूर्ण शक्कर, घृत एवं तैल मिलाकर खाने से मनुष्य जरा (वृद्धावस्था) रोग से परास्त नहीं होता है। अर्थात् इसको सेवन करने से वृद्धावस्था कष्ट नहीं देती है ॥ २२ ॥

रसायनो विडङ्गादियोग—

विडङ्गत्रिफलाकृष्णालोहचूर्णाज्यशर्कराः ।
सक्षौद्राः शीलिता घ्नन्ति वार्धक्यं पलितैः सह ॥ २३ ॥

विडङ्गादि योग रसायन—वायविडङ्ग, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), पीपर तथा लोह चूर्ण इन द्रव्यों का चूर्ण घृत, शक्कर और मधु के साथ सेवन करने से पलितरोग (बालों का असमय में गिरना) के साथ वार्धक्य (वृद्धावस्था के दोष) को नाश करता है ॥ २३ ॥

रसायना लोहयोगाः—

निर्वाप्य त्रिफलाक्वाथे लोहपत्राण्यनेकशः।
तद्रजो मधुसर्पिर्भ्यां लीढं जीवितवर्धनम् ॥ २४ ॥

लौह योग रसायन—कान्तलौह के पतले-पतले पत्तरों को त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) के क्वाथ में अनेक बार आग में तपाने के बाद बुझाकर उसको चूर्ण बनावे और मधु तथा घृत के साथ चाटे यह लौह योग जीवन को बढ़ाता है ॥ २४ ॥

तीक्ष्णायस्त्रिफलाचूर्णं घृतक्षौद्रविमिश्रितम् ।
खादतः प्रशमं याति जरा मृत्युश्च निश्चितम् ॥ २५ ॥

कान्तलौह का चूर्ण तथा त्रिफला का चूर्ण घृत और मधु के साथ मिलाकर खाने से जरा (वृद्धावस्था) तथा मृत्यु अवश्य ही शान्त हो जाती है ॥ २५ ॥

बाकुची त्रिफला कृष्णा बिडङ्गं सुरसाऽमृता।
अयो मधुस्थितं पक्वं जरामृत्युविषापहम् ॥ २६ ॥

वाकुची, त्रिफला, पीपर, विडंग, सुरसा (तुलसी), गुडूची और कान्त लौह इन द्रव्यों का चूर्ण जल में पकाकर तथा मधु में रखकर सेवन करने से जरा, मृत्यु तथा विष को नाश करता है ॥ २६ ॥

रसायनो वाराहीयोगः—

वाराहीमूलचूर्णस्य शतं मधुयुतं क्रमात्।
युवा स्यात्पयसा पीत्वा क्षीरान्नाज्यभुगादृतः ॥ २७ ॥

वाराही योग रसायन—एक सौ वराहीमूल (वाराहीकन्द) का चूर्ण क्रमशः दूध के साथ पानकर दूध, भात एवं घृत नियमपूर्वक खानेवाला व्यक्ति युवा (जवान) हो जाता है ॥ २७ ॥

सूक्ष्मचूर्णेन वाराह्याः शृतं क्षीरं विमन्थितम्।
तदाज्यमधुसंयुक्तं मासमेकं रसायनम् ॥ २८ ॥

वाराहीकन्द का महीन चूर्ण दूध में मिलाकर पकावे और उसको मथ कर घृत निकाल ले। उस घृत को मधु मिलाकर एक मास तक सेवन करे यह रसायन (जराव्याधिनाशक) होता है ॥ २८ ॥

रसायनः सुवर्णादियोगः—

सुवर्णं पद्मबीजानि मधु लाजा प्रियङ्गवः।
गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत् ॥ २९ ॥

सुवर्णादि योग रसायन—स्वर्णभस्म (या सोने का वर्क), कमल के बीज (कमलगट्टा), धान का लावा तथा प्रियंगु इन द्रव्यों का कल्क या चूर्ण मधु

मिलाकर गाय के दूध के साथ पान करने से अलक्ष्मी (दरिद्रता) को दूर करता है अर्थात् यह रसायन शरीर को रोगरहित कर सुन्दर बनाता है ॥ २९ ॥

रसायनो वचादियोगः—

वचा बिल्वं सुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम् ।
मेध्यमारोग्यमायुष्यं पुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥ ३० ॥

वचादि योग रसायन—वच, बेल तथा सुवर्ण इन तीनों द्रव्यों का चूर्ण या केवल बेल का चूर्ण (घृत, मधु के साथ) सेवन करने से धारणा शक्ति-वर्द्धक, रोगनाशक, आयुवर्द्धक, पुष्टिकारक तथा सुन्दरता को बढ़ाने वाला है ॥ ३० ॥

रसायनो हस्तिकर्णपलाशयोगः—

घृतमधुदुग्धपयोदधिमण्डैरुषसि कृतः करिकर्णपलाशः ।
स्थगयति स्थिरतां स्थविराणामपि विदधाति पुनर्नवतां च ॥ ३१ ॥

हस्तिकर्णपलास योग रसायन—घृत, मधु, दूध, जल, दधि तथा मण्ड में क्रमशः रात भर का भिगोकर वासी किया हुआ करिकर्ण (हाथीकन्द) तथा पलास (या हस्तिकर्ण पलास-एरण्ड) सेवन करने से स्थविरों के स्थिरता (वृद्धों का बुढ़ापा) को रोक देता है और पुनः नवीन (जवान) बना देता है ॥ ३१ ॥

रसायनस्त्रिफलायोगः—

खदिरासनयूषभावितायास्त्रिफलाया घृतमाक्षिकप्लुतायाः ।
नियमेन नरा निषेवितारो यदि जीवन्त्यजराः किमत्र चित्रम् ॥ ३२ ॥

त्रिफला योग रसायन—खैर तथा विजयसार के क्वाथ से भावित त्रिफला को घृत तथा मधु में मिलाकर नियमपूर्वक सेवन करनेवाले मनुष्य यदि अजर (बुढ़ापारहित) होकर जीवित रहते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् इस त्रिफला रसायन को सेवन करनेवाले वार्धक्यदोष से रहित होकर जीवित रहते हैं ॥ ३२ ॥

शिलाजतुक्षौद्रविडङ्गसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्ष्यः ।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशाङ्कः ।
क्षीराशिनस्ते बलवर्णयुक्ताः समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥

शिलाजीत, मधु, वायविडङ्ग, घृत, लौह, हर्रे, पारद तथा स्वर्णमाक्षिक को खानेवाले व्यक्ति के दुर्बल देह की धातुयें तीन या पांच रात्रि में परिपूर्ण हो जाती हैं । जैसे चन्द्रमा का बिम्ब प्रतिदिन पूर्ण होता रहता है । यदि उपरोक्त पदार्थों को खानेवाले व्यक्ति दूध के साथ खाते हैं तो बल तथा वीर्य से युक्त होकर सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहते हैं ॥ ३३ ॥

रसायनश्चित्रकयोगः—

उपयुञ्जीत दुग्धेन वलीपलितनाशिनीम् ।
मार्गशीर्षे शिफा मासे चित्रकस्य समुद्धृताम् ॥ ३४ ॥

चित्रक का मूल अगहन के महीने में निकाल कर दूध के साथ सेवन करे। यह वलि (मुख में झुरी पड़ना) तथा पलित (असमय में बाल पकना) रोग को नाश करता है ॥ ३४ ॥

रसायनः पथ्यादियोगः—

पथ्याचित्रकधात्रीणां चूर्णं लोहरजोन्वितम् ।
प्रलिह्यान्मधुसर्पिर्भ्यां जरारोगनिषूदनम् ॥ ३५ ॥

पथ्यादि योग रसायन—हर्रे, चित्रक मूल तथा आंवला इन द्रव्यों का चूर्ण लौहचूर्ण मिलाकर मधु तथा घृत के साथ चाटे। यह रसायनयोग जरा-रोग (बुढ़ापा) को नाश करता है ॥ ३५ ॥

रसायनो हरीतकीयोगः—

आज्येनायसपात्रस्थां सायश्चूर्णां हरीतकीम् ।
खादतः प्रत्यहं जन्तोर्जरा नाशमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

हरीतकी योग रसायन—घृतयुक्त लोहे के पात्र में रक्खी हुई लौहचूर्ण के सहित हरीतकी को प्रतिदिन खाने वाले व्यक्ति की जरावस्था (बुढ़ापा) नाश हो जाती है ॥ ३६ ॥

मध्वामलकचूर्णं तु सुवर्णमिति च त्रयम् ।
प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात् ॥ ३७ ॥

मधु, आंवला का चूर्ण तथा स्वर्णभस्म इन तीनों को खाकर अरिष्ट (मारक) से गृहीत व्यक्ति प्राणसंशय (मृत्यु) से मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

रसायनो धात्रीयोगः—

धात्रीचूर्णस्य कंसं स्वरसपरिगतं क्षौद्रसर्पिःसमांशं
कृष्णा मानी सिताष्टप्रसृतिसमयुतं स्थापितं धान्यराशौ ।
वर्षान्ते तत्समश्नन् भवति विललितो रूपवर्णप्रभावै-
र्निर्व्याधिर्बुद्धिमेधास्मृतिवचनबलः स्थैर्यसत्त्वैरुपेतः ॥ ३८ ॥

धात्री योग रसायन—आंवला का चूर्ण एक कंस (एक आढक चौसठ पल '२ किलो ९८५ ग्रा०, ९२३ मिली ग्रा०'), आंवला के ही रस में भावित कर समभाग घृत तथा मधु (एक आढक 'चौसठ छटांक'), पिप्पली का चूर्ण एक मानी (३२ तो० '३७२ ग्रा० ७४२ मिली ग्रा०'), मिश्री आठ प्रसृति (एक सेर '७४६ ग्रा० ४८३ मिली ग्रा०') इन सबों को मिलाकर अन्न के भण्डार में रक्खे । एक वर्ष के अन्त में निकाल कर सेवन करे। इस रसायन

को खाने वाला व्यक्ति रूप, वर्ण तथा प्रभाव से युक्त, रोगरहित, बुद्धि, (सदसद् विवेक), धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति तथा वाचालता सहित स्थायी-पराक्रम से युक्त होता है ॥ ३८ ॥

रसायनं निम्बतैलनस्यम्—

निम्बस्य तैलं प्रकृतिस्थमेव नस्ये निषिक्तं मधुना यथावत् ।
मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य जराप्रदूतं पलितं निहन्ति ॥ ३९ ॥

निम्ब तैल नस्य रसायन—नीम का स्वाभाविक तैल मधु के साथ विधि-पूर्वक नस्य में प्रयोग करने से तथा नियमपूर्वक एक मास तक गाय का दूध पान करने से मनुष्य की जरा (बुढ़ापा) को बताने वाला पलितरोग नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

रसायनाः शीतोदकादियोगाः—

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः ।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक्पीतं स्थापयेद्वयः ॥ ४० ॥

शीतोदकादि रसायन—शीतल जल, दूध, मधु तथा घृत अकेले दो को मिलाकर या तीनों को मिलाकर अथवा सभी को मिलाकर प्रातःकाल पान करने से यह रसायन आयु को स्थिर रखता है ॥ ४० ॥

गुडेन मधुना शुण्ठ्या कृष्णया लवणेन च ।
द्वे द्वे खादन् सदा पथ्ये जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥ ४१ ॥

दो दो हर्रें, गुड़, मधु, सोंठ, पीपर तथा नमक के साथ सर्वदा खाने वाला व्यक्ति सुखपूर्वक एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ ४१ ॥

रसायना हरीतकीयोगाः—

हरीतकीं सर्पिषि संप्रताप्य समश्नुतस्तत्पिबतो घृतं च ।
भवेच्चिरस्थायि बलं शरीरे सकृत्कृतं साधु यथा कृतज्ञे ॥ ४२ ॥

हरीतकी योग रसायन—हरीतकी (हर्रें) को घृत में पकाकर खाने वाले तथा उस घृत को पान करने वाले व्यक्ति के शरीर में चिरस्थायी (अधिक दिन तक रहने वाला) बल उत्पन्न होता है जिस प्रकार थोड़ा भी किया हुआ उपकार कृतज्ञ व्यक्ति को अधिक दिन तक स्मरण रहता है ॥ ४२ ॥

रसायनो विडङ्गादियोगः—

विडङ्गभल्लातकनागराणि येऽश्नन्ति सर्पिर्मधुसंयुतानि ।
जरानदीं रोगतरङ्गिणीं ते लावण्ययुक्ताः पुरुषास्तरन्ति ॥४३॥

विडङ्गादि योग रसायन—वायविडङ्ग, शु० भल्लातक तथा सोंठ समभाग इन द्रव्यों को घृत तथा मधु में मिलाकर जो व्यक्ति खाते हैं वे पुरुष सुन्दरता से युक्त होकर जरा (बुढ़ापा) रूपी नदी तथा रोग रूपी तरङ्गिणी (भंवर)

को पार कर जाते हैं। अर्थात् इस रसायन को सेवन करने वाले जरा तथा रोग से मुक्त हो जाते हैं॥ ४३॥

रसायनसेवनफलम्—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम्॥ ४४॥
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात्।

रसायन के सेवन का फल—मनुष्य रसायन को सेवन करने से अधिक आयु, स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति, सुस्वास्थ्य, जवानी अवस्था, प्रभाव (असर), स्वरोदार्य (स्वर की स्पष्टता), देह तथा इन्द्रिय में बल की वृद्धि, वाणी की सिद्धि, वृषता (वाजीकरण की शक्ति) तथा कान्ति (सुन्दरता) को प्राप्त करता है।

रसायनलक्षणं भेदाश्च—

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥ ४५॥
रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः।
कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा॥ ४६॥

रसायन का लक्षण और भेद—रसायन सरलता से रस आदि (रस रक्तवीर्य आदि) को प्राप्त करने का उपाय है। महर्षिगण रसायन दो प्रकार के बताये हैं। पहला कुटीप्रावेशिक रसायन प्रधान है और दूसरा वातातपिक गौण रसायन है॥ ४५–४६॥

रसायनसेवनविधिः—

निर्वाते निर्भये धर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे।
दिश्यैशान्यां शुभे देशे त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्॥ ४७॥
धूमातपरजोव्यालस्त्रीमूर्खाद्यविलंघिताम्।
सज्जवैद्योपकरणां सुप्लुष्टां कारयेत्कुटीम्॥ ४८॥
अथ पुण्येऽह्नि संपूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः।
ततः सशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः॥ ४९॥
ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
दानशीलो दयासत्यव्रतधर्मपरायणः॥ ५०॥
देवतानुस्मृतौ युक्तो युक्तस्वप्नप्रजागरः।
प्रियौषधः पेशलवागारभेत रसायनम्॥ ५१॥
कुटीप्रवेशः क्षमिणां परिच्छदवतां हितः।
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सूर्यमारुतिको विधिः॥ ५२॥
वातातपसहा योगा वक्ष्यन्तेऽतो विशेषतः।
सुखोपचारा भ्रंशेऽपि ये न देहस्य बाधकाः॥ ५३॥

रसायन सेवन की विधि—वायुरहित, निर्भय, धार्मिक सभी साधनों से युक्त गाँव के ईशान कोण में शुभ स्थान में तीन खण्ड की छोटे २ वातायन से युक्त, धूम, धूप, धूल, सर्प, स्त्री तथा मूर्ख आदि से अगम्य, सुसज्जित, वैद्य आदि उपकरणों से परिपूर्ण, स्वच्छ कुटी को बनाये। इसके बाद शुभ दिन (सोम, बुध, गुरु तथा शुक्र) में पूज्य उस कुटी की पूजा कर पवित्र होकर प्रवेश करे। तदनन्तर संशोधन (वमन-विरेचन आदि) से शुद्ध, सुखी और बलवान् ,ब्रह्मचारी, धैर्ययुक्त, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, दानशील, दया, सत्यव्रत, धर्म आदि में तत्पर, देवता के स्मरण में लगा हुआ नियमपूर्वक सोने तथा जागने वाला, औषध का प्रेमी तथा मृदुभाषी व्यक्ति रसायन प्रारम्भ करे। कुटी प्रवेश क्षमाशील तथा बन्द स्थानों में रहनेवालों के लिये हितकर है। इससे विपरीत गुण वालों के लिये सूर्यमारुतिक (वातातपिक) विधि हितकर है। अतः विशेष कर वातातप (वायु तथा धूप) सहन करने वाले योगों को कहते हैं जो सुखपूर्वक किये जा सकते हैं और जो भ्रंश (बीच में खण्डित) हो जाने पर भी शरीर के लिए घातक नहीं होते हैं॥ ४७–५२ ॥

रसायनो हरीतक्यादियोगः—

हरीतकीमागधिकाक्षधात्र्यश्चूर्णीकृता लोहरजोविमिश्राः।
सर्पिर्मधुभ्या लिहतः शरीरे जराग्रदूतं पलितं निहन्युः॥ ५४॥

हरीतक्यादि योग रसायन—हर्रे, पीपर, बहेड़ा तथा आंवला इन द्रव्यों के चूर्ण लौह भस्म मिलाकर मधु तथा घृत (विषम मात्रा में) के साथ खाने वाले व्यक्ति के शरीर में बुढ़ापा का संकेत करनेवाले पलित (असमय में बाल पकना) रोग नहीं होते हैं ॥ ५४ ॥

रसायनार्थं त्रिफलादियोगः—

फलत्रयत्र्यूषणचूर्णयुक्तां द्राक्षां ससर्पिर्मधुशर्करां च।
क्षीरानुपानं पुरुषा लिहन्तो निर्धूय जीवन्ति जराविकारान् ॥५५॥

रसायन के लिये त्रिफलादि योग—फलत्रय (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच), इन द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर द्राक्षा (मुनक्का) को घृत मधु एवं शक्कर के साथ दूध के अनुपान से चाटनेवाले मनुष्य बुढ़ापा के विकारों को दूर कर जीवित रहते हैं॥ ५५ ॥

रसायनार्थं धात्र्यादियोगः—

धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि हिताशनानां लिहतां नराणाम्।
प्रणाशमायान्ति जराविकारा ग्रन्था विशाला इव दुर्गृहीताः ॥५६॥

रसायन के लिये धात्र्यादि योग—आंवला का रस, मधु, मिश्री तथा घृत इन सबों को चाटनेवाले तथा पथ्यपूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्यों के जरा-

जन्य विकार (बुढ़ापा आदि) नष्ट हो जाते हैं। जैसे विशाल ग्रन्थ (पुस्तक) अयोग्य व्यक्ति के हाथ में पड़ने से नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

रसायनार्थं पिप्पल्यादियोगः—

चूर्णं समं मागधिकाकणानां विडङ्गचूर्णेन सचित्रकेण ।
निषेवमाणो मधुतैलमिश्रं वयःपरीणामजले न मज्जेत् ॥ ५७ ॥

रसायन के लिये पिप्पल्यादि रसायन—मागधिका कणा (पीपर) का चूर्ण विडङ्ग के चूर्ण तथा चित्रक के चूर्ण के साथ मधु और तैल मिलाकर सेवन करनेवाला व्यक्ति वृद्धावस्था को नहीं प्राप्त करता है ॥ ५७ ॥

रसायनार्थं पुनर्नवायोगः—

पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य पिष्ट्वा पिबेद्यः पयसाऽर्धमासम् ।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात् ॥५८॥

रसायन के लिये पुनर्नवादि योग—नवीन पुनर्नवा आधा पल (आधी छटांक) दूध के साथ पीसकर जो व्यक्ति पन्द्रह दिन तक पान करता है अथवा दो मास तक उसकी तिगुनी मात्रा में भक्षण करता है वह जीर्ण (वृद्ध) होते हुए भी पुनः नया (नवीन अवस्था को प्राप्त) हो जाता है ॥ ५८ ॥

रसायनार्थमश्वगन्धायोगः—

पीताऽश्वगन्धा पयसाऽर्धमासं घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा ।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य सस्यस्य यथा सुवृष्टिः ॥ ५९ ॥

रसायनार्थं अश्वगन्धा योग—अश्वगन्धा का चूर्ण दूध, घृत, तैल अथवा थोड़े गरम जल के साथ पन्द्रह दिन तक पान करने से दुर्बल का शरीर पुष्ट होता है। जैसे अच्छी वर्षा छोटी-छोटी घासों को पुष्ट करती है ॥ ५९ ॥

रसायनार्थं कृष्णतिलयोग.—

दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्चं समश्नतः शीतजलानुपानम् ।
पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढा भवन्त्यामरणाच्च दन्ताः ॥ ६० ॥

रसायन के लिये कृष्ण तिल का योग—काले तिल का चूर्ण शीतल जल के साथ प्रति दिन खानेवाले व्यक्ति के शरीर का अच्छी तरह पोषण होता है और मरण पर्यन्त (मृत्यु के दिन तक) उसके दांत दृढ रहते हैं ॥ ६० ॥

रसायनसेवनफलम्—

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि युगानुरूपाणि रसायनानि ।
अमानुषाणामपि विस्मयानां तत्कर्मणां यद्यपि तानि हेतुः ॥६१॥
समूलकाषं तु कषन्ति देहं अशास्त्रविधेस्तानि विवर्जितानि ।

रसायन सेवन का फल—युग के अनुकूल, फल से युक्त, करने योग्य रसायनों को मैंने कहा है। यद्यपि ये रसायन मानवेतरों को भी आश्चर्यान्वित

करनेवाले कर्मों के कारण हैं। ये रसायन विधि के खण्डित हो जाने पर शरीर को जड़ से कर्षित कर देते हैं अतः विधि से रहित उनको सेवन नहीं करना चाहिए।

युगस्वभावाद्यदि चौषधोनां क्रियासु शक्तिः परिकल्प्यतेऽल्पा ॥६२॥
आयुर्बलादिष्वपि सा तथेति यत्नान्निषेव्याणि रसायनानि।

युग के प्रभाव से यदि औषधों की क्रिया-शक्ति थोड़ी है ऐसी कल्पना की जाय तो आयु तथा बल आदि में भी उसी प्रकार की शक्ति होगी। अतः इन रसायनों को यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए।

न चौषधीनामपि सर्वथैव प्रभावहानिः परिशङ्कनीया।
फलं प्रयात्यूर्ध्वमधस्त्रिवृच्च प्रत्यक्षतः कस्य न सिद्धमेतत् ॥ ६३ ॥

इति श्रीशोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे रसायनतन्त्रखण्डे
सामान्यरसायनाध्यायः प्रथमः ॥ १ ॥

औषधियों का प्रभाव बिलकुल नष्ट हो जाता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि मदनफल वमन कराता है और त्रिवृत् (निशोथ) विरेचन कराता है यह किसको ज्ञात नहीं है। अर्थात् औषधों का प्रभाव सर्वथा न्यून नहीं है क्योंकि मदनफल एवं निशोथ आदि औषधों का प्रत्यक्ष फल दिखाई देता है ॥ ६३ ॥

श्री वैद्य शोढलविरचितगदनिग्रह के रसायनतन्त्रखण्ड में
प्रथम रसायनाधिकार समाप्त

अथौषधिकल्पाध्यायो द्वितीयः ।

तत्र प्रथममम्लवेतसकल्पं व्याख्यास्यामः ।

हिमवत्परमावासे दिव्यौषधिसमायुते ।
गन्धर्वयक्षाध्युषिते नानाधातुविचित्रिते ॥ १ ॥
विश्वसृट् भगवांस्तत्र मार्तण्डं भास्करं किल ।
भ्रममारोपयामास रूपहेतोः कदाचन ॥ २ ॥
कृतवान् कनकप्रख्यं रूपं जनमनोहरम् ।
विरूपशकलास्तेभ्यो ये पेतुर्गिरिमूर्धनि ॥ ३ ॥
तेभ्यस्तेजस्विनो जाता वेतसा नाम पादपाः ।
न हि तेषु विलीयन्ते पतङ्गा न सरीसृपाः ॥ ४ ॥
तेषां फलेभ्यो निर्यासः सोऽम्लत्वादम्लवेतसः ।
कषायकटुरूक्षश्च मधुजम्बीरसप्रभः ॥ ५ ॥
भस्मतस्तत्परीक्षा तु स्फुटं चटचटायते ।
पाषाणमथ काष्ठं वा लोहं वा एवमेव च ॥ ६ ॥
भिनत्त्येष महातेजा न तु भिन्द्यादलाबुकम् ।
तस्मादलाबुप्रचुरं तस्य भाजनमिष्यते ॥ ७ ॥
वीर्याभिरक्षणं चास्य कटुतैलेन कारयेत् ।
त्वचं बिभीतचूतानां कृष्णलोहं च निक्षिपेत् ॥ ८ ॥
बद्धमूलानपि व्याधीन् भिन्द्याद्वज्र गिरीनिव ।
सशूलानाहविष्टम्भान् सर्वान्वातकफाञ्जयेत् ॥ ९ ॥
गुल्मी पिबेदरिष्टेन मन्दाग्निर्मधुना युतम् ।
कोलाम्भसाऽर्शोविकारी घृतेन तु जलोदरी ॥ १० ॥
अश्मर्यां दधिमण्डेन प्रमेही शीतवारिणा ।
गवां मूत्रेण तु प्लीही वाते यूषरसेन तु ॥ ११ ॥
सुखोष्णेनाम्भसा शूले पयसा क्षीणरेतसि ।
पुण्येऽहनि सुनक्षत्रे काले नात्युष्णशीतले ॥ १२ ॥
सुविशुद्धशरीरस्तु पिबेत्कर्षार्धमादितः ।
ततोऽष्टरात्रात्तु परमर्धकर्षविवर्धितम् ॥ १३ ॥
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः ॥ १४ ॥
रूपयौवनसौभाग्यशोभाकान्तिसुखप्रदः ।

नातः परतरं किञ्चिच्छ्रेष्ठमस्ति रसायनम् ।
दृष्टं गुल्मार्शसामाशु भेदनं परमौषधम् ॥ १५ ॥
इत्यम्लवेतसकल्पः समाप्तः ।

वहां सर्व प्रथम अम्लवेतस कल्प कहते हैं ।

किसी समय संसार के रचयिता भगवान् ब्रह्मा प्रकाशमान ओषधियों से युक्त गन्धर्व एवं यक्षों के निवास-स्थान, अनेक धातुओं से चित्र-विचित्र, उत्तम निवास स्थान कैलास के ऊपर सुन्दर रूप के लिये तेजस्वी सूर्य को मोह में डाल दिये और संसार को सुन्दर लगनेवाले सोने के सदृश चमकते हुए रूप को धारण किये । उस मोहनी रूप से जो कुरूप के टुकड़े पहाड़ के शिखर पर गिरे उससे तेजस्वी वेतस नाम के वृक्ष उत्पन्न हुए । उन वृक्षों में पतंग, कीट तथा सांप आदि नहीं पहुँच पाते हैं । उन वेतस के फलों से निकला हुआ गोंद अम्ल होने से अम्लवेतस कहलाता है । वह रस में कषाय, कटु और रूक्ष होता है । उसकी प्रभा (वर्ण) मीठे जम्बीरीनिम्बू के सदृश होती है । उसकी स्पष्ट परीक्षा यह है कि जलाने से उसमें चट चट की ध्वनि होती है । यह महान् तेजस्वी अम्लवेत पत्थर, लकड़ी या लोहे के पात्र को भेदन (छेद) कर देता है । केवल लौकी के पात्र (तुम्बी पात्र) को भेदन नहीं कर पाता । अतः उसको रखने के लिये तुम्बी पात्र ही उपयुक्त होता है । उस पात्र को टिकाऊ बनाने के लिये सरसों के तैल का लेप कर दे और उसमें अम्लवेत रक्खे । इसके बाद उसमें बहेड़ा तथा आम की छाल का चूर्ण तथा कान्त लौह का भस्म (या चूर्ण) छोड़ दे । यह वेतसकल्प बहुत दिन के (जड़ियाये) रोगों को भी भेदन कर देता है, जैसे वज्र पहाड़ को भेदन कर देता है । यह शूल, आनाह (पीड़ा युक्त मशक के सदृश पेट का फूलना), विबन्ध तथा सभी प्रकार के वात कफ जन्य रोगों को जीत लेता है । गुल्म रोग से पीड़ित व्यक्ति इस कल्प को अरिष्ट (आसव) के साथ, मन्दाग्नि का रोगी मधु के साथ, अर्श (बवासीर) का रोगी बेर के क्वाथ के साथ, जलोदर से पीड़ित व्यक्ति घृत के साथ, अश्मरी (पथरी) रोग में दधिमण्ड (दही का घोल) के साथ, प्रमेह का रोगी शीतल जल के साथ, प्लीहा वृद्धि से पीड़ित व्यक्ति गाय के मूत्र के साथ, वात व्याधि पीड़ित रोगी यूषरस के साथ, शूल रोग में गरम जल से तथा वीर्य के क्षीण होने पर दूध के साथ पान करे । पुण्य दिन (सोम आदि सौम्य दिन), शुभ नक्षत्र (अश्विनी, मृगशिरा, अनुराधा, पुष्य आदि शुभ नक्षत्र), समशीतोष्ण काल (शरद, वसन्त ऋतु) में स्नेहन स्वेदन वमन विरेचनादि के द्वारा शुद्ध शरीर वाला मनुष्य प्रथम मात्रा आधा कर्ष (आधा तोला) की पान करे अर्थात् आधा

कर्ष की मात्रा से प्रारम्भ करे। तदनन्तर आठ दिन के बाद आधा कर्ष (आधा तोला) की मात्रा और बढ़ा दे अर्थात् एक तोला की मात्रा में पान करे। इसी प्रकार प्रत्येक आठवें दिन आधा तोला की मात्रा बढ़ा दे और एक माह तक एक पल (एक छटांक) की मात्रा में दूध के साथ पान करे तथा केवल दूध पर ही रहे अन्न न खाय। यह प्रयोग पुष्टि, आयु, बल तथा आरोग्य (स्वास्थ्य) को अच्छी तरह प्रदान करता है। रूप (सुन्दर रूप), जवानी, सुन्दरता, शोभा, लावण्यता तथा सुख को देने वाला है। इससे उत्तम अन्य कोई रसायन नहीं है। यह गुल्म तथा अर्श को भेदन करने वाला उत्तम औषध देखा गया है। अर्थात् यह गुल्म तथा अर्श को अच्छी तरह नाश करता है ॥ १-१५ ॥

भल्लातक कल्प समाप्त।

अथातः सुवर्णकल्पं व्याख्यास्यामः।

मधुरं कटुकं पाके सुवर्णं वीर्यशीतलम्।
सर्वरोगप्रशमनं विषघ्नं गरनाशनम् ॥ १६ ॥
अलक्ष्मीकलिपापानां प्रयोगस्तस्य नाशनः।
आयुर्मेधास्मृतिकरः पुष्टिकान्तिविवर्धनः ॥ १७ ॥
सविकल्पोऽविकल्पश्च योगस्तस्यानुबन्धिषु।
सर्वैर्विविधप्रयोगैर्ये व्याधयो न विनिर्जिताः ॥ १८ ॥
कर्मभिः पञ्चभिश्चापि सुवर्णं तेषु योजयेत्।
शिलाजतुप्रयोगैश्च तार्क्ष्यसूतकयोस्तथा ॥ १९ ॥
अन्यै रसायनैश्चापि प्रयोगो हेम्न उत्तमः।
यववृद्ध्या प्रयोक्तव्य यावद्गुञ्जाष्टकं परम् ॥ २० ॥
क्रमेणानेन युञ्जानो ह्यजीर्णं दूरतस्त्यजेत्।
उपयुज्य शतं हेम्नः पयोयूषरसाशनः ॥ २१ ॥
ब्रह्मचारी जितक्रोधो दृढात्मा संयतेन्द्रियः।
जित्वा व्याधिगणान् सर्वानसाध्यानपि दुःसहान् ॥ २२ ॥
चतस्रः कृष्णलोहाना पलानि त्रिफला तथा।
उशटा चाजमोदा च पयस्या पिप्पली तथा ॥ २३ ॥
विदारी मधुयष्टी च तच्चूर्णं पालिकं स्मृतम्।
पलं सुवर्णचूर्णस्य सप्ताहेनोपयोजयेत् ॥ २४ ॥
बह्वन्तःपुरपत्नीना राज्ञां च गरनाशनम्।
बृहस्पतिमतं चूर्णमलक्ष्मीहरणं विदुः ॥ २५ ॥

सुवर्ण कल्प—सुवर्ण (सोना) विपाक में मधुर तथा कटु है, वीर्य में

शीतल, सभी रोगों को शान्त करने वाला, स्थावर, जंगम आदि विष तथा गर (संयोगज) विष को नाश करने वाला है। इस सुवर्ण कल्प का प्रयोग दरिद्रता तथा कलियुग के पापों को नाश करने वाला है। यह रोग सविकल्प, अविकल्प तथा उसके सम्बन्ध होने पर आयु, धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति को देने वाला तथा पुष्टि एवं शोभा को बढ़ाने वाला है। जो रोग सभी औषधियों के (तत्तद् रोगनाशक) प्रयोगों से जीते न जा सकते हों उन सभी रोगों में पञ्चकर्म करने के बाद सुवर्णकल्प का प्रयोग करे। शिलाजीत का प्रयोग, स्वर्णमाक्षिक तथा पारद का प्रयोग तथा अन्य रसायनों के प्रयोगों से सुवर्ण का प्रयोग उत्तम होता है। सुवर्ण का प्रयोग एक यव की मात्रा से प्रारम्भ कर बढ़ाते बढ़ाते आठ रत्ती की मात्रा तक प्रयोग करे। इस प्रकार सुवर्ण को प्रयोग करने वाला अजीर्ण को दूर से ही त्याग दे। सोने की एक सौ रत्ती खाकर यूष तथा दूध पान करने वाला, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने वाला, क्रोधरहित, मजबूत हृदय वाला तथा जितेन्द्रिय मनुष्य सभी प्रकार के असाध्य एवं दुःसह (कष्ट से सहन करने योग्य) रोगों को जीत ले। इसके बाद कान्त लौहभस्म चार पल (चार छटांक), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), उग्रटा (मोथा या गुञ्जा), अजमोदा, पयस्या (क्षीरकाकोली), पीपर, विदारीकन्द तथा मुलेठी इन द्रव्यों का चूर्ण एक २ पल (एक २ छटांक), सुवर्ण चूर्ण एक पल (एक छटांक) इन सभी द्रव्यों को मिलाकर एक सप्ताह में उपयोग करे। यह बृहस्पति सम्मत चूर्ण असंख्य अन्तःपुर पत्नी वाले राजाओं के संयोगज विष को नाश करने वाला है और दरिद्रता को दूर करने वाला है। ऐसा महर्षिगण कहते हैं ॥ १६–२५ ॥

वचा घृतं सुवर्णं च मधुना सह संलिहेत्।
संवत्सरं प्रयुञ्जानो मेधाकाममवाप्नुयात् ॥ २६ ॥
मेधाकामश्च वचया श्रीकामः पद्मकेशरैः।
शङ्खपुष्प्या वयोर्थी तु विदार्या च प्रजेच्छुकः।
नवायसकवत्पाण्डौ स्याऽर्शोगरशान्तये ॥ २७ ॥

वच का चूर्ण, घृत तथा सुवर्ण मधु के साथ चाटे। इस प्रकार एक वर्ष तक प्रयोग करने वाला पर्याप्त धारणा शक्ति को प्राप्त करता है। सुवर्ण को मेधा (धारणाशक्ति) चाहने वाला वच के चूर्ण के साथ, शोभा चाहने वाला कमल के पराग के साथ, आयु चाहने वाला शखपुष्पी के साथ, सन्तान चाहने वाला विदारीकन्द के साथ, पाण्डुरोग में अर्श (बवासीर) एवं संयोगज विष की शान्ति के लिये नवायस लौह के साथ सेवन करे ॥ १६–२७ ॥

सुवर्ण कल्प समाप्त।

अथातश्चित्रककल्पं व्याख्यास्यामः ।

आषाढे कार्तिके वाऽपि मासे मार्गशिरे भिषक् ।
पुष्ययोगे च सम्प्राप्ते चित्रकं सम्प्रयोजयेत् ॥ २८ ॥
मृत्स्ने नोपजातं तु ग्राहयेन्निरुपद्रवम् ।
सूचीमण्डलपत्रं तु दण्डपत्रं तु यद्भवेत् ॥ २९ ॥
चित्रकः कटुकस्तिक्तः पाके चोष्णः प्रकीर्तितः ।
कटुकत्वात् कफं हन्ति तिक्तत्वात्पित्तनाशनः ॥ ३० ॥
औष्ण्याद्धन्त्यनिलं चापि चित्रकः सर्वरोगहा ।
तैलसर्पिःपयोयूषगकृद्रससमन्वितः ॥ ३१ ॥
पेयया वाऽपि पातव्यः सर्वरोगेषु चित्रकः ।
पिबेत्पथ्याशनो मासं बिडालपदसंमितम् ॥ ३२ ॥
तेन पीतेन कोष्ठस्थान् हन्ति चान्तर्गतान् गदान् ।
मेधावर्णस्वरकरः सर्पिषा सह योजितः ॥ ३३ ॥
तक्रमस्तुयुतो दद्रुकिटिभानिलनाशनः ।
श्वित्री गोमूत्रसंयुक्तं नियतः क्षीरभोजनः ॥ ३४ ॥
सहस्रमेकं क्षीराशि क्षौद्रेणाप्ययुतेन वा ।
पीत्वा सहस्रं मेधावी द्विरष्टवरिपोपमः ॥ ३५ ॥
सर्वा वाचस्तथा वेदाः श्रीश्च पद्मनिवासिनी ।
ब्रह्मा च विशते तूर्णं सिद्धत्वात्ख व्रजत्यपि ॥ ३६ ॥

चित्रक कल्प—वैद्य आषाढ, कार्तिक या अगहन महीने में भी पुष्य नक्षत्र आने पर चित्रक (चीता) का प्रयोग करे। शुद्ध स्थान में उत्पन्न कीटपतङ्गादि वेध से रहित सूची मण्डल के सदृश तथा दण्ड मण्डल के सदृश पत्र वाला जो चित्रक हो उसको ग्रहण कराये। चित्रक पाक में कटु, तिक्त तथा उष्ण होता है। कटु होने के कारण कफ को नाश करता है, तिक्त होने के कारण पित्त को नाश करता है तथा उष्ण होने के कारण वात रोग तथा सभी रोगों को नाश करता है। चित्रक सभी रोगों में तैल, घृत, दूध, यूष तथा गोबर का रस मिलाकर या पेया के साथ पान करने योग्य है। पथ्यपूर्वक भोजन करनेवाला एक मास तक विडाल पद (एक तोला) की मात्रा में चित्रक को पान करे। यह पान करने से कोष्ठों (स्रोतों) में रहनेवाले भीतरी रोगों को नाश करता है। घृत के साथ प्रयोग करने से धारणा शक्ति, वर्ण तथा स्वर को बढ़ाता है। तक्र तथा दही के तोड़े के साथ सेवन करने से दाद, किटिम नामक कुष्ठ रोग तथा वात रोगों को नाश करता है। श्वित्र (सफेद कुष्ठ) से पीड़ित रोगी गोमूत्र के साथ नियमतः पान करे और दूध भोजन

करे। इस प्रकार दुग्ध भोजन करने वाला एक हजार चित्रक को या पर्याप्त मधु के साथ एक हजार चित्रक को पान कर बुद्धिमान सोलह वर्ष की अवस्था के सदृश होकर सम्पूर्ण शास्त्र, सभी वेद एवं कमल पर निवास करनेवाली लक्ष्मी को प्राप्त करता तथा ब्रह्मा हो जाता है और सिद्ध होने के कारण आकाश में भी चलने लगता है ॥ २८–२६ ॥

विंशतिश्चित्रकस्येह पलान्यावापयेद्घटे ।
पयसा सह जातं तु मन्थानेनावमन्थयेत् ॥ ३७ ॥
यत्तत्र सर्पिस्तक्रं च तस्य मात्रां प्रयोजयेत् ।
जीर्णे तेनैव चाश्नीयात्सघृतं षष्टिकोदनम् ॥ ३८ ॥
कुष्ठोदरार्शोमेहार्तिशोषगुल्मनिवारणम् ।
रसायनप्रयोगाद्धि प्रजराश्च्यवनादयः ।
मेधाकान्तिवपुष्मन्तो जातास्ते देवसन्निभाः ॥ ३९ ॥
इति चित्रककल्पः ॥

चित्रक बीस पल (बीस छटांक) घड़े में छोड़ दे और (उसमें दूध चित्रक का चौगुना छोड़ कर पकावे, गाढ़ा हो जाने पर मथनी से मथ कर घृत निकाल ले) दूध के साथ पकाकर मथनी से मन्थन करे। उसमें जो घृत निकले उसको तथा मट्ठा को मात्रापूर्वक प्रयोग करे। पच जाने पर उसी के साथ घृत मिलाकर साठी धान के चावल का भात भोजन करे। यह योग कुष्ठ, उदररोग, अर्श, प्रमेह, शोष (क्षयरोग) तथा गुल्म रोग को दूर करता है। इस रसायन के प्रयोग करने से ही वे च्यवन आदि ऋषिगण जरा (बुढ़ापा) रहित, धारणा शक्ति तथा शोभायुक्त होकर देवताओं के सदृश हो गये थे ॥ ३७–३९ ॥

चित्रक कल्प समाप्त।

अथातः पिप्पलीकल्पं व्याख्यास्यामः।

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

पिप्पली कल्प—रसायन के गुण को खोजनेवाला (रसायन के फल को चाहनेवाला) पांच, आठ, सात या दश पीपर प्रति दिन मधु तथा घृत के साथ एक वर्ष तक प्रयोग करे ॥ ४० ॥

तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥ ४१ ॥
प्रयोज्या मधुसंमिश्रा रसायनगुणैषिणा।

रसायन फलान्वेषी व्यक्ति पलास के क्षार से भावित कर तथा घृत में

भून कर तीन-तीन पिप्पली दोपहर के पहले भोजन के पूर्व तथा भोजन करने के बाद मधु मिलाकर प्रयोग करे।

दशवृद्ध्या दशाहानि दश पैप्पलिकं हितम् ॥ ४२ ॥
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथैवापनयेत्पुनः।
जीर्णौषधस्तु भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥ ४३ ॥
पिप्पलीनां प्रयोगोऽयं सहस्रस्य रसायनम्।
पिष्टास्ता बलिभिः पेयाः शृता मध्यबलैर्नरैः ॥ ४४ ॥
शीतीकृताः क्षीणबलैर्वीक्ष्य दोषान् प्रयोजयेत्।
तद्वद्द्वे छागदुग्धेन द्वे सहस्रे प्रयोजयेत् ॥ ४५ ॥
एभिः प्रयोगैः पिप्पल्यः कासश्वासगलग्रहान्।
यक्ष्ममेहग्रहण्यर्शःपाण्डुत्वविषमज्वरान् ।
घ्नन्ति शोफं वमिं हिध्मां प्लीहानं वातशोणितम् ॥ ४६ ॥

इति पिप्पलीकल्पः।

[1]दश-दश पिप्पली बढ़ाते हुए दश दिन तथा उसी प्रकार दश-दश पिप्पली घटाते हुए दूध के साथ पान करे। औषध पच जाने पर दूध तथा घृत के साथ साठी का भात भक्षण करे। यह एक हजार पिप्पली का रसायन प्रयोग है। बलवान् व्यक्ति पीसकर पान करे, मध्यम बलवाला क्वाथ कर पान करे तथा निर्बल व्यक्ति दोषों को देखते हुए शीत कषाय बनाकर प्रयोग करे। इसी प्रकार दो हजार पिप्पली बकरी के दूध के साथ प्रयोग करे। इन प्रयोगों से पिप्पली श्वास, कास, गले की जकड़न, यक्ष्मा (टी बी), प्रमेह, ग्रहणी-दोष, अर्शरोग, पाण्डुरोग, विषम ज्वर, शोथ, वमन, हिक्का (हिचकी), प्लीहा-वृद्धि तथा वातरक्त को नाश करती है ॥ ४०–४६ ॥

पिप्पली कल्प समाप्त।

अथातो हरीतकीकल्पं व्याख्यास्यामः।

सुखोपविष्टं ब्रह्माणमश्विनौ वाक्यमूचतुः।
कुतो हरीतकी जाता कतिजातिश्च कीर्त्यते ॥ ४७ ॥
रसाः कति समाख्याताः कति चोपरसाः स्मृताः।
कति नामानि चोक्तानि किं नु तासां च लक्षणम् ॥ ४८ ॥
सा कथं च प्रयोक्तव्या केन वर्णेन सा शुभा।
केन द्रव्येण संयुक्ता रोगान् सा संनियच्छति ॥ ४९ ॥

---

१. पिप्पली वर्द्धमान योगकोष्ठक को सामान्यरसायनाधिकार पृ० ६०५ में देखें।

एतत्प्रश्नं यथापृष्टं भगवन् वक्तुमर्हसि ।
अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ ५० ॥

पिप्पली कल्प के बाद हरीतकी कल्प कहते हैं।

सुखपूर्वक बैठे हुए ब्रह्मा से दोनों अश्विनीकुमार प्रश्न किये कि हरीतकी कहाँ उत्पन्न हुई और इसकी कितनी जातियाँ कही जाती हैं। रस कितने कहे गये हैं और उपरस कितने कहे गये हैं, कितने नाम हैं और उनके कौन-कौन से लक्षण है, उसका प्रयोग किस प्रकार मे करना चाहिए और वह किस वर्ण से युक्त शुभ लक्षण वाली होती है। वह किन-किन द्रव्यों के साथ प्रयोग करने से (किन-किन) रोगों को दूर करती है। हे भगवन् इन पूछे हुए प्रश्नों को क्रमशः कृपा कर बतायें। इस प्रकार अश्विनीकुमारों के वचन सुनकर ब्रह्मा जी बोले ॥ ४७–५० ॥

पपात बिन्दुर्मेदिन्यां शक्रस्य पिबतोऽमृतम् ।
ततो दिव्या समुत्पन्ना सप्तयोनिर्हरीतकी ॥ ५१ ॥

इन्द्र के अमृत-पान करते समय अमृत का बिन्दु जमीन पर गिर पड़ा, उससे दिव्य सात जाति की हरीतकी उत्पन्न हुई। विजया, रोहिणी, पूतना, अमृता, चेतकी, अभया तथा जीवन्ती ये सात जातियों के सात नाम हैं।

विजया रोहिणी चैव पूतना च तथाऽमृता ।
चेतकी चाभया चेति जीवन्ती चेति जातयः ॥ ५२ ॥
अलाबुवृत्ता विजया सुवृत्ता चैव रोहिणी ।
पूतनाऽस्थिमती सूक्ष्मा स्थूलमांसा तथाऽमृता ॥ ५३ ॥
त्र्यस्रा तु चेतकी ज्ञेया पञ्चास्रा त्वभया स्मृता ।
सुवर्णवर्णा जीवन्ती सप्तानामपि लक्षणम् ॥ ५४ ॥
सर्वप्रयोगे विजया रोहिणी क्षतरोहिणी ।
लेपार्थे पूतनां विद्याद्विरेकार्थेऽमृतां विदुः ॥ ५५ ॥
चेतकी सर्वरोगेषु, यथार्हमुपकल्पयेत् ।

विजया, अलाबु (लौकी) के सदृश वृत्ताकार, रोहिणी सुन्दर वृत्ताकार, पूतना गुठली वाली छोटी, अमृता मोटी तथा मांसवाली, चेतकी तीन धार वाली, अभया पांच धार वाली तथा जयन्ती सोने के वर्ण के सदृश होती है। ये सातों जातियों के लक्षण हैं। सभी प्रयोगों में विजया, क्षत को रोपण करने में रोहिणी, लेप के लिये पूतना, विरेचन के लिये अमृता तथा सभी रोगों में चेतकी का प्रयोग योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार करे।

परीक्षेत ततो धीमान् गुणलक्षणविस्तरः ॥ ५६ ॥
क्षिप्ताऽम्भसि निमज्जेत गुणकृत्सा प्रशस्यते ।

इसके बाद गुण तथा लक्षण को जाननेवाला बुद्धिमान् मनुष्य परीक्षा करे। हरीतकी जल में फेंक देने से डूब जाय वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त एवं प्रशस्त है।

चेतकी द्विविधा प्रोक्ता कृष्णवर्णा च शुक्लिका ॥ ५७ ॥
षडङ्गुला स्मृता कृष्णा शुक्ला चैकाङ्गुला स्मृता।

चेतकी दो प्रकार की होती है कृष्ण वर्ण की तथा शुक्ल वर्ण की। काली हरीतकी छः अंगुल की तथा सफेद एक अंगुल की होती है।

काचिदास्वादमात्रेण काचिद्गन्धेन भेदयेत् ॥ ५८ ॥
काचित्स्पर्शेनदृष्ट्याऽन्या सैव प्रोक्ता चतुर्विधा।

कोई हरीतकी आस्वाद (खाने) मात्र से, कोई गन्ध (सूंघने) से, कोई स्पर्श करने से तथा कोई देखने मात्र से ही भेदन (दस्तावर) करती है। इस तरह चार प्रकार से मल-भेदक होती है।

चेतकीपादपच्छायामुपसर्पन्ति ये नराः ॥ ५९ ॥
भिद्यन्ते तत्क्षणादेव पशुपक्षिमृगास्तथा।
चेतकी तु धृता हस्ते यावत्तिष्ठति देहिनः ॥ ६० ॥
तावद्भिद्येत वेगात्तु प्रभावान्नात्र संशयः।

जो मनुष्य चेतकी नामक हरीतकी वृक्ष की छाया के नीचे जाते हैं वे उसी समय मलत्याग करने लगते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी, मृग आदि भी वहाँ जाने मात्र से मलत्याग करने लगते हैं। चेतकी मनुष्य के हाथ में जब तक रहती है तब तक अपने प्रभाव से वेगपूर्वक मलत्याग कराती है। इसमें सन्देह नहीं है।

नृपादिसुकुमाराणां कृशानां भेषजद्विषाम् ॥ ६१ ॥
चेतकी परमा शस्ता हिता सुखविरेचनी।

राजा आदि सुकुमार, दुर्बल तथा औषध सेवन न करनेवालों के लिये चेतकी (हर्रे का भेद) उत्तम, प्रशस्त, हितकर, तथा सुखपूर्वक विरेचन कराने वाली है।

सप्तानामपि जीवानां प्रधाना विजया स्मृता ॥ ६२ ॥
सुखप्रयोगा सुलभा शस्यते सर्वकर्मसु।

विजया सातों जातियों (जीवनीयों) में प्रधान कही गई है। सुखपूर्वक प्रयोग करने योग्य तथा सरलता से प्राप्त होनेवाली एवं सभी कर्मों में उसका प्रयोग उत्तम है।

हरीतक्यां रसान् पञ्च विद्याल्लवणवर्जितान् ॥ ६३ ॥
मज्जाश्रितं तु मधुरमम्लं स्नाय्वाश्रितं विदुः।

त्वगाश्रितं तु कटुकं तिक्तं वृन्ताश्रितं तथा ॥ ६४ ॥
अस्थ्न्याश्रितं कषायं तु रसमाहुर्मनीषिणः ।

हरीतकी में लवण रस को छोड़कर शेष पाँच रस (मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय) रहते हैं। हरीतकी की मज्जा में मधुर रस, स्नायु में अम्लरस, त्वचा में कटुरस, भेंटी में तिक्त रस तथा अस्थि (गुठली) में कषाय रस रहता है, ऐसा विचारशील विद्वान् मानते हैं।

कफं कटुकषायत्वादम्लत्वान्मारुतं जयेत् ॥ ६५ ॥
पित्तघ्नी स्वादुतिक्तत्वाद्रौक्ष्यादामविपाचिनी ।

कटु एवं कषाय रस होने से कफ को तथा अम्ल रस होने से वात को जीत लेती है। मधुर एवं तिक्त रस के कारण पित्त को नाश करती है और रूक्ष होने से आम दोष को पचाती है।

वातिकान् पैत्तिकांश्चैव श्लैष्मिकान् सान्निपातिकान् ॥ ६६ ॥
प्रसह्य हरति व्याधीन् तस्मात्प्रोक्ता हरीतकी ।

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, तथा सान्निपातिक व्याधियों को हठपूर्वक नाश करती है। इसी कारण से वह हरीतकी कही जाती है।

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः ॥ ६७ ॥
दीपनी पाचनी चैव वयःसंस्थापनी परम् ।
उष्णवीर्या परा पुण्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥ ६८ ॥

हरीतकी पाक में कषाय, मधुर, तथा रूक्ष है। लवणहीन, हल्की और अग्नि को प्रदीप्त करती है, आम दोष को पचाती है तथा अवस्था (आयु) को अच्छी तरह स्थिर रखती है। इसका वीर्य उष्ण होता है और वह अच्छी तरह उत्तम बुद्धि प्रदान करनेवाली तथा इन्द्रियों को बल देनेवाली है ॥ ६७–६८ ॥

कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् ।
शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ॥ ६९ ॥
शोषशोफातिसाराख्यमेहमोहवमिक्रमीन् ।
श्वासकासप्रमेहार्शःप्लीहानाहगरोदरान् ॥ ७० ॥
विबन्धं स्रोतसां गुल्मं शूलं स्तम्भमरोचकम् ।
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तांस्तांश्च कफवातजान् ॥ ७१ ॥

यह हरीतकी कुष्ठरोग, मुख का फीकापन, स्वर-विकार, पुराना विषम-ज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, कामला रोग, ग्रहणी दोष, शोष (क्षय) रोग, शोथ, अतिसार, मेह, मूर्च्छा, वमन, कृमिरोग (केचुआ आदि रोग), श्वासवृद्धि, खासी, प्रमेह, अर्श, प्लीहावृद्धि, आनाह (मशक समान पेट फूलना), गर (संयोगज विषजन्य रोग) दोष, उदर रोग (जलोदर

आदि), स्रोतों (कोष्ठों) का विबन्ध (कब्ज), गुल्मरोग, शूल, उरःस्तम्भ, अरोचक तथा उन पूर्वोक्त कफवातजन्य रोगों को जीत लेती है ॥ ६९–७१ ॥

हरणात्सर्वरोगाणां या सा भुक्ता हरीतकी।
पथ्यत्वात् सर्वधातूनां पथ्या शिवतया शिवा ॥ ७२ ॥
यस्माद्विजयते व्याधीन् समग्रान् विजया ततः।
अभयं सर्वरोगेभ्यो भवत्यायुश्च शाश्वतम् ॥ ७३ ॥
यतः शीलयतामेनां तेनेयमभया स्मृता ।
नवा वृत्ता घना स्निग्धा गुर्वी मज्जति याऽप्सु च ॥ ७४ ॥
बालस्य सा प्रयोक्तव्या नवनीतसमन्विता।

हरीतकी भक्षण करने से सभी रोगों को दूर करती है अतः उसे हरीतकी कहते हैं। सम्पूर्ण धातुओं के लिये पथ्य होने से पथ्या कल्याण कारिणी होने से शिवा तथा सभी रोगों को जीत लेने के कारण विजया कहते हैं। यह निरन्तर सेवन करनेवालों को सभी रोगों से अभय (भयरहित) करती है तथा आयु प्रदान करती है अतः इसे अभया कहते हैं। नवीन, वृत्ताकार, घना (गठीली) स्निग्ध तथा भारी जो पानी में डालने से डूब जाय उस हरीतकी के चूर्ण को नवनीत (मक्खन) के साथ बालक के लिये (बालरोगों में) प्रयोग करनी चाहिए।

वाते ससर्पिर्लवणा पित्ते सगुडशर्करा ॥ ७५ ॥
कफे सपिप्पलीक्षौद्रा सर्वदा सा प्रशस्यते।

वातरोग में घृत तथा सैन्धानमक के साथ, पैत्तिक रोग में गुड़ तथा शक्कर के साथ, कफजरोग में पीपर तथा मधु के साथ प्रयोग करने से हरीतकी सदा प्रशस्त (लाभप्रद) होती है।

हरीतकी दरिद्राणां सुखोपायं रसायनम् ॥ ७६ ॥
पथ्यत्वे प्रचुरा प्रोक्ता सर्वामयविनाशिनी ।

हरीतकी दरिद्रों के लिये सुख देने वाली है तथा रसायन है। पथ्य में अधिक प्रयोग होने से सभी रोगों को नाश करने वाली कही गई है।

तृष्णायां कण्ठशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे ॥ ७७ ॥
नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां च न शस्यते।

प्यास, कण्ठशोष (गले का सूखना), हनुस्तम्भ (दोनों हनुओं की जकड़न), गलग्रह (गले की जकड़न), नवीनज्वर, क्षीण (दुर्बल) तथा सगर्भावस्था में हरीतकी का प्रयोग प्रशस्त नहीं होता है।

हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा ॥ ७८ ॥
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी।

हरीतकी सोंठ या गुड़ के साथ अथवा सेन्धानमक के साथ निरन्तर प्रयोग करने से जठराग्नि को प्रदीप्त करती है।

हरीतकी च सगुडा विश्वभेषजसंयुता ॥ ७९ ॥
निहन्यादामयान् सर्वान् वज्रेणेन्द्रो यथाऽसुरान्।

हरीतकी गुड़ तथा सोंठ के साथ प्रयोग करने से सभी रोगों को नाश करती है जैसे इन्द्रवज्र से असुरों को नाश करता है।

हेमन्ते शृङ्गवेरेण शिशिरे पिप्पलीयुताम् ॥ ८० ॥
वसन्ते मधुसंमिश्रां ग्रीष्मे स्वल्पगुडां तथा।
वर्षासु सैन्धवोपेतां शरदि सितयाऽन्विताम् ॥ ८१ ॥

हरीतकी हेमन्तऋतु में अदरक के साथ, शिशिरऋतु में पीपर के साथ, वसन्त में मधु के साथ, ग्रीष्मऋतु में थोड़े गुड़ के साथ, वर्षाऋतु में सेन्धानमक के साथ तथा शरदऋतु में मिस्री के साथ भक्षण करे ॥ ८०–८१ ॥

उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निमीलिनी पित्तकफामयानाम्।
विस्रंसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात्सह भोजनेन ॥ ८२ ॥

हरीतकी भोजन के साथ सेवन करने से बुद्धि, बल तथा इन्द्रियों के शक्ति को बढ़ाने वाली है। पित्तकफजन्यरोगों को नाश करने वाली है और मूत्र, पुरीष तथा शारीरिकमल को दूर करने वाली है ॥ ८२ ॥

तथा च—

ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे
तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या हिमस्यागमे।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां
राजन् प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः ॥ ८३ ॥

और भी—

ग्रीष्म (गर्मी) में गुड़ के साथ, वर्षाऋतु में सेन्धानमक के साथ, शरदऋतु में शक्कर के साथ, हेमन्तऋतु में निर्मल सोंठ के साथ, शिशिरऋतु में पीपर के साथ तथा वसन्तऋतु में मधु के साथ हरीतकी का प्रयोग करने से जैसे रोग नष्ट हो जाते हैं वैसे ही हे राजन् तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायँ ॥ ८३ ॥

हरीतकी सर्पिषि पाचयित्वा समश्नतः संपिबतोऽनुसर्पिः।
वातात्मकास्तस्य न सन्ति रोगाः स्यात्पृष्ठजङ्घोरुकटीबलं च ॥८४॥

हरीतकी को घृत में पकाकर खाने वाले और उसके बाद उसी घृत को पान करने वाले मनुष्य के पृष्ठ, जङ्घा, उरु तथा कटिप्रदेश में उत्पन्न वातरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

एरण्डतैलेन विपाच्य पथ्यां खादेत्तथा चानुपिबेच्च तैलम्।

स शूलविष्टम्भकृतान्विकारान् सर्वाञ्जयेत्पित्तकफानिलोत्थान् ॥

जो व्यक्ति हर्रे को एरण्ड तैल के साथ पकाकर खाता है और उसी तैल को पान करता है वह शूल तथा विबन्धजन्य रोग तथा सभी प्रकार के पित्तज, कफज एवं वातज रोगों को जीत लेता है ॥ ८५ ॥

मूत्रस्थिताः सप्तदिनं महिष्याः पञ्चाभया मूत्रपलानि पञ्च ।
क्षीरैकतः सप्तदिनानि खादेत् क्षीरौदनाशी परतस्तथा च ॥ ८६ ॥
एषस्त्रिसप्ताहपरः प्रयोगो वातोदरं तीव्रमपीह हन्यात् ।
प्लीहानमुग्रं श्वयथुं त्रिदोषं शिरोग्रहं पाण्डुगरक्रमींश्च ॥ ८७ ॥

भैंस के मूत्र में सात दिन तक रक्खी हुई पाँच हर्रे तथा पाँच छटांक मूत्र दूध के साथ भक्षण करे और दूध भात खाय। यह प्रयोग तीन सप्ताह (पक्कोस दिन) तक प्रयोग करने से भयंकर वातोदर (जलोदर) रोग को भी नाश करता है। इसके अतिरिक्त यह योग प्लीहा वृद्धि, शोथ, त्रिदोष, शिरोग्रह (सिर की जकड़न), पाण्डुरोग, गर (सयोगज) विषजन्यरोग तथा कृमि (केचुआ आदि) रोगों को भी नाश करता है ॥ ८६-८७ ॥

हरीतकी धान्यतुषोदसिद्धा सपिप्पलीसैन्धवहिङ्गुचूर्णा ।
सोद्गारधूमं भृशमप्यजीर्णं निहन्ति सद्यो जनयेत्क्षुधां च ॥ ८८ ॥

धान्यतुषोदक (धान के भूसी के जल) में पकायी हुई हरीतकी पीपर सेन्धानमक तथा हिंगु के चूर्ण के साथ सेवन करने से सधूम डकार (धुआइन डकार) और अत्यधिक अजीर्ण को नाश करती है तथा क्षुधा (भूख) को शीघ्र ही उत्पन्न करती है ॥ ८८ ॥

हरीतकीं वा मधुनाऽवलिह्यादामातिसारे प्रथमं प्रवृत्ते ।
प्रवाहयेत्सा ह्यवशिष्टदोषान् संशोधयेत्कोष्ठमशेषतश्च ॥ ८९ ॥

अथवा हरीतकी को पहले पहल उत्पन्न आमातिसार में मधु के साथ चाटे। वह हरीतकी सभी अवशिष्ट दोषों को निकाल देती है तथा कोष्ठों (आमाशय, पक्वाशय, आन्त्र आदि) को अशेष (अच्छी तरह) संशोधन कर देती है ॥ ८९ ॥

द्वे पूर्वमद्यादशनादतो द्वे द्वे चापि भुक्त्वा च तथा स्वपंस्तु ।
अस्य प्रयोगादभयाष्टकस्य त्रिसप्तरात्रेण पुनर्नवः स्यात् ॥ ९० ॥
मेधा स्मृतिः शक्तिरतीव कान्तिः श्रीमद्वपुर्नित्यमनामयत्वम् ।
दीप्ताग्निता दृष्टिबलं परं स्यात् सर्वे च रोगाः प्रशमं प्रयान्ति ॥९१॥

इति हरीतकीकल्पः समाप्तः ।

दो हरीतकी भोजन के पहले, दो हरीतकी भोजन के मध्य में, दो हरीतकी भोजन के बाद तथा दो हरीतकी सोते समय खाने वाला व्यक्ति अभयाष्टक के

प्रयोग करने से पच्चीस दिन में पुनः नया (जवान) हो जाता है। इस हरीतकी को सेवन करने से उत्तम धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति, अधिक सुन्दरता तथा शरीर शोभायुक्त हो जाता है। मनुष्य प्रतिदिन आरोग्य रहता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त रहती है देखने की शक्ति उत्तम हो जाती है तथा सभी रोग शान्त हो जाते हैं॥ ९०-९१॥

हरीतकी कल्प समाप्त॥

अथात आमलककल्पं व्याख्यास्यामः।

नीरुजार्द्रपलाशस्य छिन्ने शिरसि तत्क्षतम्।
अन्तर्द्विहस्तगम्भीरं पूर्यमामलकैर्नवैः॥ ९२॥
आमूलं वेष्टितं दर्भैः पद्मिनीपङ्कलेपितम्।
आदीप्य गोमयैर्वन्यैर्निर्वाते स्वेदयेत्ततः॥ ९३॥
स्विन्नानि तान्यामलकानि तृप्त्या खादेन्नरः क्षौद्रघृतान्वितानि।
क्षीरं शृतं चानुपिबेत्प्रकामं तेनैव वर्तेत च मासमेकम्॥ ९४॥
वर्ज्यानि वर्ज्यानि च तत्र यत्नात् स्पृश्यं च शीताम्बु न पाणिनापि।

हरीतकी कल्प के बाद आमलक कल्प कहते हैं।

निरोग तथा गीला पलास के उपरिभाग में छेद कर उसके अन्दर काटकर दो हाथ का गहरा गड्ढा बनाये और उस गड्ढा को नवीन आँवला से पूर्ण कर दे तथा उसके जड़ तक दर्भ (कुशा) से अच्छी तरह बाँध दे। इसके बाद कमलिनी के तालाब के पांक से लिप्त कर दे। तदनन्तर वातरहित स्थान में रख कर जंगली उपलों को जलाकर उससे स्वेदन करे (उबाले)। इसके बाद स्विन्न (उबले हुए) आँवलों को मधु तथा घृत मिलाकर मनुष्य अपने तृप्ति के अनुसार भक्षण करे और इसके बाद गरम किया हुआ दूध अपने इच्छा के अनुसार पान करे। इसी क्रम से एक मास तक प्रयोग करे। इस अवस्था में सभी निषिद्ध वस्तुओं को यत्नपूर्वक त्याग दे और शीतल जल का स्पर्श हाथ से भी न करे।

एकादशाहेऽस्य ततो व्यतीते पतन्ति केशा दशना नखाश्च॥ ९५॥
अथाल्पकैरेव दिनैः सुरूपः स्त्रीष्वक्षयः कुञ्जरतुल्यवीर्यः।
विशिष्टमेधाबलबुद्धिसत्त्वो भवत्यसौ वर्षसहस्रजीवी॥ ९६॥

इसके बाद ग्यारह दिन बीत जाने पर केश, दाँत और नख गिर जाते हैं। तदनन्तर थोड़े ही दिन के बाद वह सुन्दर स्वरूप वाला, स्त्रियों के साथ शीघ्र स्खलित न होने वाला, हाथी के समान वीर्यवान्, विशेष धारणा शक्ति, बल, बुद्धि तथा पराक्रम से युक्त एक हजार वर्ष तक जीवित रहता है।

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम् ।
इत्यामलककल्पः समाप्तः ॥

इसी प्रकार साधारण (प्राकृत) आँवला शीतल, अम्ल रसयुक्त तथा पित्त एवं कफ को नाश करने वाला है ।

आमलक कल्प समाप्त ॥

अथातस्त्रिफलाकल्पं व्याख्यास्यामः ।

हरीतकी चामलकं बिभीतकमिति त्रयम् ।
त्रिफलेति समाख्याता तच्च ज्ञेयं फलत्रयम् ॥ ६७ ॥

आमलक कल्प के बाद त्रिफला कल्प कहते हैं ।

हरीतकी, आँवला तथा बहेड़ा ये तीनों त्रिफला कहे जाते हैं और इसी को फलत्रय भी कहते हैं ।

इयं रसायनकरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा ।
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥ ६८ ॥
वरोत्तमा च त्रिफला स्मृता श्रेष्ठा फलत्रयम् ।

यह त्रिफला रसायन करने वाली, नेत्ररोग को नाश करने वाली, व्रण-रोपिणी, त्वचा के रोग, क्लेद (थकावट), मेदोरोग प्रमेह, कफजन्य रोग तथा रक्तजन्य रोगों को जीत लेती है । यह त्रिफला, वरा, उत्तमा, त्रिफला, श्रेष्ठा तथा फलत्रय इन नामों से व्यवहृत होती है ।

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशिनी ॥ ६६ ॥
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशिनी ।
नाशयेद्राजयक्ष्माणमर्शोगुल्मेषु पूजिता ॥ १०० ॥
वमिकण्डूप्रशमनी नाडीव्रणविशोधिनी ।
दृष्टिप्रसादजननी मेधास्मृतिविवर्धिनी ॥ १०१ ॥
घृतान्विता वा मधुनाऽन्विता वा गुडान्विता तैलसमन्विता वा ।
एका हि नित्यं मनुजैः प्रयोज्या सर्वामयानां शमनी महार्था ॥१०२॥

त्रिफला कफपित्तजन्य रोगों को नाश करने वाली, प्रमेह तथा कुष्ठ रोग को विनाश करनेवाली, नेत्र शक्ति को बढ़ाने वाली, जठराग्नि को दीप्त करने वाली और विषमज्वर को नाश करनेवाली है । यह राजयक्ष्मा (टी. बी.) को नाश करती है, अर्शरोग तथा गुल्मरोग में लाभदायक है, वमन तथा खुजली को नाश करती है, नाडी व्रण को शोधन करती है, दृष्टि को स्वच्छ करती है और धारणाशक्ति एवं स्मरणशक्ति को बढ़ाती है। प्रतिदिन एक त्रिफला (एक हरीतकी, दो विभीतक, तथा चार आँवला) घृत, मधु, गुड़ या तैल के साथ

प्रयोग करने से सम्पूर्ण रोगों को शान्त करती है और महान् अर्थ (लाभ) को देने वाली है ॥ ९७–१०२ ॥

वातरोगेषु तैलेन, पित्तरोगेषु सर्पिषा ।
कफरोगेषु मधुना, प्रयोज्या त्रिफला नरैः ॥ १०३ ॥

रोगी मनुष्य त्रिफला को वातरोगों में तेल के साथ, पित्तजन्यरोगों में घृत के साथ, तथा कफजन्यरोगों में मधु के साथ सेवन करे ॥ १०३ ॥

योज्यास्तिस्रो हरीतक्यस्तथा षट् च बिभीतकाः ।
द्वादशामलकानीति त्रिफलेयं प्रकीर्तिता ॥ १०४ ॥

हरीतकी का तीन फल बहेड़ा का छः फल तथा आंवला का बारह फल प्रयोग करे । इसको त्रिफला कहते हैं ॥ १०४ ॥

प्रातर्हरीतकीं खादेन्मध्याह्ने द्वौ बिभीतकौ ।
रात्रौ शयनकाले तु चत्वार्यामलकानि च ॥ १०५ ॥
रूपेण कामः प्रभया शशाङ्को दृष्ट्या गरुत्मान्निनदेन सिंहः ।
बलेन नागः पवनो जवेन गिरिर्गुरुत्वेन भवेन्नरोऽसौ ॥ १०६ ॥

प्रातःकाल एक हरीतकी भक्षण करे, मध्याह्न में दो बहेड़ा तथा रात्रि में सोते समय चार आंवला भक्षण करे । इस प्रकार सेवन करने वाला मनुष्य कामदेव के सदृश रूप, चन्द्रमा के समान प्रभा (कान्ति), गरुड़ के समान दूर दृष्टि, सिंह के सदृश बोलने की शक्ति, हाथी के समान बल, वायु के सदृश वेग, तथा पहाड़ के सदृश गुरुता को प्राप्त करता है ।

वर्षं खादेत्प्राणदां प्रातरेकामश्नन्नन्नात् पूर्वमक्षद्वयं च ।
साज्यक्षौद्रं भोजनान्ते चतुष्कं शृङ्गीकानां तद्वय स्थापनेऽलम् ॥ ०७॥

प्रातःकाल एक प्राणदा (हरीतकी) भोजन के पहले दो बहेड़ा तथा भोजन के अन्त में शृङ्गीक (आँवला) का चार फल घृत तथा मधु के साथ एक वर्ष तक भक्षण करे । यह योग आयु को स्थिर रखने के लिये पर्याप्त है ॥ १०५–१०७ ॥

निःक्वाथ्य त्रिफला पीता नाशयेन्नितरां मलम् ।
नेत्रश्वयथुदावाग्निरागकण्डूपरिस्रवान् ॥ १०८ ॥
नवान् पथ्याक्षधात्रीणां कृत्वाऽर्धपलिकानपि ।
पिबेत्कोष्ठविशुद्ध्यर्थं पलिकांश्च यथाबलम् ॥ १०९ ॥

त्रिफला का क्वाथ पान करने से अच्छी तरह मल को निकालता है तथा नेत्र का शोथ, दावाग्नि के कारण उत्पन्न नेत्र की लालिमा, नेत्रकण्डू तथा नेत्रस्राव (नेत्राभिष्यन्द) को नाश करता है । नवीन हर्रे, बहेड़ा तथा आंवला का चूर्ण आधा पल (आधा छटांक) या बल के अनुसार एक

पल (एक छटांक) कोष्ठों (स्रोतों आन्त्र मलाशय आदि) की शुद्धि के लिये पान करे ॥ १०८–१०९ ॥

त्रिफला सर्वरोगघ्नी त्रिभागघृतमिश्रिता ।
विसर्पं सर्वजं शुक्रं हन्ति चार्धावभेदकम् ॥ ११० ॥

त्रिफला तीनभाग (त्रिफला से तीन गुना) घृत मिलाकर सेवन करने से सभी रोगों को और सम्पूर्ण शरीर में फैलने वाला विसर्प रोग, नेत्रगतशुक्ररोग (फुल्ली) तथा अर्धावभेदक (शिरोरोग) को नाश करती है ॥ ११० ॥

मधुना त्रिफलाचूर्णं प्रयुक्तं नाशयेद्ध्रुवम् ।
प्रमेहान्मुखरोगांश्च गलगण्डापचीं तथा ॥ १११ ॥

त्रिफला का चूर्ण मधु के साथ प्रयोग करने से प्रमेहरोग, मुखगत रोग, गलगण्ड (घेघा) रोग तथा अपचीर (गण्डमाला) रोग को अवश्य ही नाश करती है ॥ १११ ॥

भक्षयंस्त्रिफलाकल्कं मासं नियन्त्रणं पुमान् ।
वैनतेयोपमां दृष्टिं मासमात्रादवाप्नुयात् ॥ ११२ ॥

त्रिफला का कल्क नियमपूर्वक एक मास तक खाने से मनुष्य एक ही मास में गरुड़ के सदृश दूर दृष्टि को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

त्रिफलादलचूर्णस्य कृत्वा पलशतं नवम् ।
भृङ्गराजरसेनैव कुर्यात्सप्ताहभावितम् ॥ ११३ ॥
लिह्यान्मधुघृताभ्यां च पलार्धं प्रत्यहं पुमान् ।
जीर्णे दुग्धौदनाहारो गुणानेतानवाप्नुयात् ॥ ११४ ॥
प्रसन्नदृष्टिरव्याधिर्जीवेद्वर्षशतानि षट् ।
नीलालिकुलसंकाशकेशराशिर्महाबलः ॥ ११५ ॥
मेधावी स्मृतिमान् धीरः स्निग्धश्यामवपुर्युवा ।
सुभगश्च सुरूपश्च स्त्रीशतानन्दवर्धनः ॥ ११६ ॥

एक सौ छ० नवीन त्रिफला के दलों टुकड़ों) का चूर्ण बनाकर भृङ्गराज के रस से ही सात दिन तक भावित करे और मनुष्य प्रतिदिन आधा पल की मात्रा में चाटे तथा पच जाने पर दूध भात भक्षण करे। इस प्रकार सेवन करने से निम्नलिखित गुणों को प्राप्त करता है। इस योग को सेवन करने से स्वच्छ-दृष्टि से युक्त, रोगरहित होकर छः सौ वर्ष जीवित रहता है। काले भँवरों के सदृश बाल काले हो जाते हैं तथा महान् बल को प्राप्त करता है। धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति, धैर्य, चिकना तथा सुन्दर शरीर, युवावस्था, अच्छा ऐश्वर्य एवं

सुन्दर स्वरूप को प्राप्त करता है और सैकड़ों स्त्रियों के साथ रतिप्रसङ्ग में आनन्द को बढ़ाता है ॥ ११३–११६ ॥

त्रिफलाकल्ककर्षेण लोहपात्रं प्रलेपयेत् ।
तत्सस्थितमहोरात्रं ततः प्रक्षाल्य पाययेत् ॥ ११७ ॥
मधुसर्पिर्लिप्तजिह्वो मानवः प्रातरुत्थितः ।
मासत्रय विधानेन जीवेद्वर्षशतत्रयम् ॥ ११८ ॥
न चैव प्रभवेन्मृत्युर्नालक्ष्मीर्न गरं विषम् ।
नचोपसर्गिकाः केचिद्रोगाः शारीरमानसाः ॥ ११९ ॥

त्रिफला के एक कर्ष (एक तोला) कल्क से लोहा के पात्र को लिप्त कर दे और एक दिन रात (चौबीस घण्टा) रहने दे। उसके बाद उसको धोकर मनुष्य प्रातःकाल उठकर और जिह्वा में मधु तथा घृत का लेप कर पान करे। इस प्रकार तीन मास तक प्रयोग करने से तीन सौ वर्ष तक जीवित रहता है। इस विधि से सेवन करने वाले व्यक्ति को मृत्यु, दरिद्रता, संयोगजविषजन्यरोग, औपसर्गिक (संक्रामक) रोग तथा कोई भी शारीरिक एवं मानसिक रोग नहीं होते हैं ॥ ११७–११९ ॥

त्रिफलात्वचमायसं च चूर्णं सह यष्टीमधुक समांशकम् ।
मधुना सह सर्पिषा दिनान्ते पुरुषो निःपरिहारि शीलयेत् ॥१२०॥
तिमिरक्षतरक्तराजिकण्डूक्षणदान्ध्यार्बुददाहतोदशूलान् ।
पटलकमर्मशुक्रकाचपिल्वं शमयत्येव निषेवतः प्रयोगः ॥ १२१ ॥
न च केवलमेतदलोचनां विहितो रोगनिबर्हणाय योगः ।
दशनश्रवणोत्थकण्ठजानां प्रशमे हेतुरय तथाऽऽमयानाम् ॥१२२॥
प्रमेहमर्शांसि भगन्दरं च किलासकुष्ठानि हलीमकं च ।
पलितानि च नाशयेत्तथाऽग्नि चिरनष्टं प्रकरोति सुप्रचण्डम् ॥१२३॥

त्रिफला, दालचीनी, लौहचूर्ण तथा मुलेठी समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण को मनुष्य दिन के अन्त में (सायंकाल) मधु तथा घृत के साथ परहेज रहित सेवन करे। इस प्रकार सेवन करने से यह योग तिमिररोग (मोतियाबिन्द) क्षत, रक्तराजि, नेत्रकण्डू, क्षणदान्ध्य (रतौंधी), अर्बुद, दाह, सूई से चुभोने जैसी पीड़ा तथा शूल और नेत्रगतपटलरोग, अर्मरोग, शुक्र (फुल्ली) नेत्रगत काचरोग एवं पिल्वरोगों को अवश्य ही शान्त करता है। यह योग केवल नेत्ररोगों को ही दूर करने के लिये नहीं बनाया गया है बल्कि यह दन्तरोग, कान में उत्पन्न रोग, कण्ठरोग तथा अन्य रोगों को भी शान्त करने में समर्थ है। यह योग पूर्वोक्त रोगों के अतिरिक्त प्रमेह, अर्श, भगन्दर, किलास, कुष्ठ, हलीमक (हरितवर्ण या नीलपीतवर्णवालापाण्डुरोग) तथा पलितरोग

(असमय में बाल पकना) को नाश करता है और पुराने नष्ट जठराग्नि को प्रदीप्त करता है ॥ १२०–१२३ ॥

दयिताभुजपञ्जरोपगूढः स्फुटचन्द्राभरणासु यामिनीषु ।
सुरतान्यनिशं निषेवतेऽसौ पुरुषो योगवरं निषेवमाणः ॥ १२४ ॥
स्मृतिविक्रमबुद्धिशक्तियुक्तः शरदां जीवति वै शतं समग्रम् ।

इस श्रेष्ठ योग को सेवन करनेवाला मनुष्य चन्द्रमा से प्रकाशित रात्रि में स्त्री के बाहुपाश से बँधा हुआ निरन्तर सुरत (मैथुन) को सेवन करता है। और स्मरण शक्ति, पराक्रम, बुद्धि तथा सामर्थ्य से युक्त होकर सैकड़ों वर्ष जीवित रहता है।

त्रिफलां निष्कुलां कृत्वा वारिणा तां स्थितां निशि ।
प्रातः प्रातः पिबेद्धीमान्विषमज्वरशान्तये ॥ १२५ ॥

त्रिफला की गुठली निकालकर उसको रात में भिगोकर तथा छानकर बुद्धिमान् मनुष्य विषमज्वर को शान्त करने के लिये प्रातःकाल पान करे ॥ १२५ ॥

विडङ्गचित्रकव्योषमुस्तायश्चूर्णसंयुता ।
तक्रेण पीता त्रिफला जयेत्पाण्ड्वामयान् ध्रुवम् ॥ १२६ ॥

वायविडङ्ग, चित्रक, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), नागरमोथा तथा लौहचूर्ण—इन द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर त्रिफला मट्ठा के साथ पान करने से पाण्डुरोग को अवश्य ही जीत लेती है ॥ १२६ ॥

खदिरत्रिफलानिम्बपटोलैः क्वथितं जलम् ।
पिबेच्छ्लेष्मामयहरं रक्तपित्तविकारनुत् ॥ १२७ ॥

खैर, त्रिफला, नीम तथा परवल इन द्रव्यों का क्वाथ किया हुआ जल पान करे। यह श्लेष्मरोग तथा रक्त-पित्तरोग को दूर करता है ॥ १२७ ॥

त्रिवृद्दन्तीविशालाभिः सह पीतं फलत्रिकम् ।
हन्यादशेषकुष्ठांश्च सोदावर्तान्क्रमींस्तथा ॥ १२८ ॥

निशोथ, दन्ती तथा इन्द्रायण इन द्रव्यों के क्वाथ के साथ त्रिफलाचूर्ण पान करने से सभी प्रकार के कुष्ठरोग, उदावर्त (आमाशयस्थ या आन्त्रस्थ आनाह) तथा क्रिमिरोगों को नाश करता है ॥ १२८ ॥

पथ्यादलानां कुडवं प्रकल्प्य बिभीतकानां कुडवावुभौ च ।
प्रस्थं च धात्रीदलतो विपाच्य द्रोणे जलस्याथ चतुर्थशेषे ॥ १२९ ॥
प्रक्षिप्य तस्मिन् त्रिकटोर्दशैव पलानि तेन त्रिफलाजलेन ।
प्रस्थं च तस्मिन् प्रपचेद्घृतस्य चक्षुष्यमेतत्परमं प्रदिष्टम् ॥ १३० ॥
अक्ष्णोर्मलान्नाशयति प्रसह्य दृष्टिं प्रसन्नां विदधाति सद्यः ।

हन्यादशेषं तिमिरं तथाऽक्ष्णोः स्रावं रुजं रागविदाहकण्डूः ॥१३१॥

हर्रे का दल (टुकड़ा) एक कुडव (एक पाव) बहेड़ा दो कुडव (आधा सेर) तथा आंवला का दल एक प्रस्थ (एक सेर) लेकर जल एक द्रोण में पकावे। चौथाई क्वाथ शेष रहने पर उसमें त्रिकुटु (सोंठ, पीपर, मरिच) दश पल (दस छटांक) का कल्क छोड़कर उस त्रिफला के जल के साथ घृत एक प्रस्थ (एक सेर) पकावे। यह घृत नेत्र के लिये अत्यधिक हितकर कहा गया है। यह घृत, नेत्र की मलीनता को नाश करता है और दृष्टि को शीघ्र ही स्वच्छ बनाता है। इसके अतिरिक्त नेत्र के सभी प्रकार के तिमिररोग, नेत्रस्राव, नेत्रपीड़ा, नेत्र की रक्तिमा, नेत्र की जलन तथा नेत्र की खुजली को नाश करता है ॥ १२९-१३१ ॥

त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा।
त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम् ॥ १३२ ॥
तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत्क्षौद्रोदकाप्लुतम्।
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते।
जीवत्यरुङ्नरस्तस्य समाभ्यासात्समाः शतम् ॥ १३३ ॥

इति त्रिफलाकल्पः समाप्तः।

त्रिफला सभी रोगों को नाश करने वाली है तथा मेधा, आयु, स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने वाली है। त्रिफला के कल्क से नवीन लोहे के पात्र को लिप्तकर दे और उसको एक दिन तथा रात उसी तरह रहने दे। इसके बाद उस लेप को घोकर तथा मधु मिलाकर पान करे। औषध पच जाने पर अधिक मात्रा में स्नेह (घृत) पान करना प्रशस्त होता है। इस योग को सेवन करने से मनुष्य रोगरहित होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ १३२-१३३ ॥

त्रिफला कल्प समाप्त।

अथातः काकमाचीकल्पं व्याख्यास्यामः।

पृष्ठे हिमवतो जातां काकमाचीं फलान्विताम्।
सम्पूर्णपत्रसंयुक्तां मेध्यामग्निविपाचिताम् ॥ १३४ ॥
पलानि दश सहृत्य तैलाच्च पलपञ्चकम्।
कृत्वा कल्कं च भुञ्जीत पिबेत्त्वामलकोदकम् ॥ १३५ ॥
सप्तरात्रत्रयं कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
सुपर्णोलूकगृध्राणां तुल्यचक्षुर्भवेदसौ ॥ १३६ ॥
वलिभिः पलितैस्त्यक्तो दृढकायो मृजान्वितः।

नीलस्निग्धसुकेशश्च जीवत्यायुःशतं नरः ॥ १२७ ॥

त्रिफला कल्प के बाद काकमाची कल्प कहते हैं।

हिमालय शिखर पर उत्पन्न फल तथा सम्पूर्ण पत्र आदि पञ्चांगसहित मेधावर्द्धक काकमाची (मकोय) को लेकर अग्नि में पका ले, और उसमें से दश पल (दश छटाँक) तथा तेल पल पञ्चक (पाँच छटाँक) लेकर कल्क बना ले तथा भक्षण करे और उसके बाद ऊपर से आँवला का रस पान करे। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक एकास दिन तक सेवन करने से वह व्यक्ति गरुड़, उल्लू तथा गीध के सदृश दूर दृष्टि (अतिदूर तक देखने की शक्ति से युक्त) होता है। इस प्रयोग का सेवन करने से मनुष्य वलि (मुख में झुरी पड़ना) पलित (असमय में बाल पकना) से मुक्त होकर दृढ़ शरीर तथा कोमलता से युक्त होकर नील, चिकना तथा सुन्दर बालों को प्राप्त कर एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ १२४–१२७ ॥

शाकेन तैलसिद्धेन भुञ्जानः षष्टिकौदनम्।
पिबेच्चामलकं क्वाथं मधुमात्रासमन्वितम् ॥ १२८ ॥
दिव्यचक्षुर्भवेत्तेषां षण्मासेन न संशयः।
जीवेत्सुदृढकायश्च समाः शतमयं नरः ॥ १२९ ॥

काकमाची का शाक तैल में भूनकर उसके साथ साठी का भात खाने वाला आंवला के क्वाथ में मधु मिलाकर पान करे। इस प्रकार सेवन करने वाले मनुष्यों को छः मास में दिव्यचक्षु (भूत, भविष्य, वर्तमान देखने की शक्ति) हो जाती है इसमें सन्देह नहीं है। और यह व्यक्ति दृढ़ (हृष्ट-पुष्ट) शरीर से युक्त सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ १२८–१२९ ॥

काकमाचीरसे सिद्धं पिबेत्तैलं विधानतः।
धात्रीफलरसेनाथ भुञ्जानः षष्टिकोदनम् ॥ १४० ॥
कुष्ठाद्यैर्व्याधिभिर्मुक्तो द्विरष्टवरिषोपमः ।
सम्यक्प्रयोगः परमो जीवत्यष्टशतं नरः।

काकमाची (मकोय) के रस में विधिपूर्वक सिद्ध तैल पान करे और आंवला फल के रस के साथ साठी का भात भक्षण करे। इस प्रकार प्रयोग करने वाला व्यक्ति कुष्ठ आदि रोगों से मुक्त होकर षोडश वर्षीय युवा सदृश सुन्दर हो जाता है और अच्छी तरह विधिपूर्वक सेवन करने से एक सौ आठ वर्ष जीवित रहता है।

हिमवत्पृष्ठप्रयोगस्तु पुंसो भवति कस्यचित् ॥ १४१ ॥
सर्वत्र यो भवेद्योगः काकमाच्यास्त निबोधत।
त्रिफलां शस्तभूजातां काकमाची प्लव भिषक् ॥ १४२ ॥

योजयेद्भृङ्गराजं च विधिनाऽनेन यत्नतः ।
विशेषस्तस्य कर्तव्यो द्वादशाहमतन्द्रितैः ।
द्विगुणः परिहारश्च षष्टिकक्षीरभोजनम् ॥ १४३ ॥
इति काकमाचीकल्पः समाप्तः ।

हिमालय के शिखर का संयोग किसी एकाध व्यक्ति को होता है अतः जो काकमाची सर्वत्र उपलब्ध होती है उसका प्रयोग करे। त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), प्रशस्तपृथ्वी पर उत्पन्न काकमाची (मकोय), प्लव (केवटी-मोथा), तथा भृङ्गराज इन द्रव्यों को पूर्वोक्त विधि के अनुसार प्रयोग करे। उसमें विशेषकर आलस्यरहित होकर बारह दिन तक प्रयोग करे और दुगुने दिन (चौबीस दिन) तक परहेज रक्खे तथा साठी का भात एवं दूध भक्षण करे ॥ १४१–१४३ ॥

काकमाची कल्प समाप्त ॥

अथातः शतावरीकल्पं व्याख्यास्यामः ।

अतिपीताऽतिकृष्णा वा भूमिः सर्वगुणान्विता ।
तत्र जन्म शतावर्या शस्यते ग्राहयेत्तु ताम् ॥ १४४ ॥
अशुष्कां पल्लवोपेतां सर्वद्वन्द्वविवर्जिताम् ।
मूलैर्नातिकृशैः स्निग्धैर्बहलैः परितो वृताम् ॥ १४५ ॥

काकमाची कल्प के बाद शतावरी कल्प कहते हैं।

अत्यधिक पीली या अत्यधिक कृष्णवर्ण की सम्पूर्ण गुणों से युक्त भूमि में उत्पन्न शतावरी प्रशस्त होती है उसको ग्रहण करे। वह शतावरी शुष्क न हो, पल्लवों से युक्त हो, सन्देहरहित हो, मोटे, स्निग्ध तथा मांसल बहुत मूलों (कन्द) से युक्त हो ऐसे शतावरी को एकत्र करे ॥ १४४–१४५ ॥

सुस्निग्धस्विन्नशुद्धश्च कल्यो बलसमन्वितः ।
स्नातः शुक्लाम्बरच्छन्नः प्रणम्याथ गुरून्द्विजान् ॥ १४६ ॥
पुष्ये पुनर्वसौ वाऽपि अनुकूले शुभे तिथौ ।
हुत्वा प्राणाहुतीरष्टौ शतावर्या घृतस्य च ॥ १४७ ॥
मङ्गलाचारसम्पन्नः प्रविशेन्मठमावृतम् ।
सहार्हैः सुहृदैः स्निग्धैरनुकूलैः समन्वितः ॥ १४८ ॥

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचनादि के द्वारा शुद्ध शरीर वाला कल्य (सुसज्जित), बलवान् , तथा स्नान करने के बाद स्वच्छ सफेदवस्त्र को धारण किया हुआ व्यक्ति गुरुओं तथा ब्राह्मणों को प्रणाम कर, पुष्य या पुनर्वसु नक्षत्र में अथवा अपने अनुकूल शुभ तिथि में शतावरी तथा घृत की आठ प्राणा-

हुति (प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा आदि) हवन कर मङ्गलमय आचरणों से संपन्न चारो तरफ से बन्द (पहले बताये हुए विधि से निर्मित) मठ (कुटी) में महार्ह (अत्यधिक योग्य) दृढ, स्निग्ध तथा अनुकूल साधनों से युक्त होकर प्रवेश करे ॥ १४६–१४८ ॥

सूत्रं मध्यममाकृष्य शोधयेत्खण्डशः कृताम् ।
निष्पीड्य स्वरसं तस्याः शतावर्याः सुबुद्धिमान् ॥ १४९ ॥
सुखशय्यासमासीनः शुक्लाम्बरधरः शुचिः ।
रसस्य पञ्चकर्षं तु सप्त वा दश चैव वा ॥ १५० ॥
पीत्वा कण्ठविशुद्ध्यर्थं पयः केवलमाहरेत् ।
जीर्णौषधस्तु सायाह्ने पयसः प्रपिबेच्छतम् ॥ १५१ ॥
कृष्णायाः कृष्णवत्सायाः युक्त्या तं तु समाहितः ।
क्रमेणानेन सप्ताहाद्द्विगुण प्रपिबेन्नरः ॥ १५२ ॥
रसायनं भवेत्तस्य निष्क्रामन्मठकाच्छनैः ।
स्वस्त्याशीर्वादसंपूतः सप्ताहमजरस्त्वसौ ॥ १५३ ॥
पयःषष्टिकभोजी स्यात्पयःपायी तथैव च ।
मुद्गशाल्यन्नमश्नीयाच्छष्टिकं पयसाऽपि वा ॥ १५४ ॥
शालीनामथ मण्डेनानम्लेनानुपद चरेत् ।
पिबेत्तामलकीतोयं स्त्रियश्च द्विगुणं त्यजेत् ॥ १५५ ॥
अनेन क्रमयोगेन ऋतुं त्वयनमेव वा ।
सिद्धिकामः पिबेदेनामब्दं वाऽपि न संशयः ॥ १५६ ॥

शतावरी के मध्यभाग को टुकड़ा-टुकड़ा कर शोधन करे और उसको कूटकर बुद्धिमान् व्यक्ति स्वरस निकाल ले। इसके बाद सुख-शय्या पर बैठे हुए, सफेद वस्त्र को धारण किये हुए तथा पवित्र कुटीप्रविष्ट व्यक्ति निकाले हुए शतावरी स्वरस को पांचकर्ष, सातकर्ष या दशकर्ष (तोला) पानकर केवल कण्ठ की शुद्धि के लिये थोड़ा दूध पीवे। औषधि के परिपाक हो जाने पर सायंकाल कालीबछड़ावाली कालीगाय का दूध युक्तिपूर्वक सावधान होकर तथा इच्छा के अनुसार पान करे। इस क्रम से मनुष्य एक सप्ताह बाद दुगुनी मात्रा में पान करे। इस प्रकार आवृत मठ से निकलने के बाद उसके ऊपर रसायन का प्रभाव होता है। वह स्वस्ति आशीर्वाद आदि से पवित्र होकर एक सप्ताह में अजर (जरा रहित) हो जाता है। इसके बाद साठी का भात तथा दूध भक्षण करे या केवल दूध पान करे, मूंग की दाल तथा जड़हन धान का भात खाय, अथवा साठी का भात दूध के साथ भक्षण करे या शाली (जड़हन) धान का माड़ खट्टापन से रहित प्रतिदिन पान करे।

आंवला का रस पान करे और प्रयोग काल के बाद दुगुने समय तक स्त्रियों को त्याग दे। इसी क्रम से एक ऋतु (दो मास) एक अयन (छः मास) अथवा एक अब्द (एक वर्ष) तक इस शतावरी को पान करे। सभी कामनायें सिद्ध हो जाती हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ १४९-१५६ ॥

बल्या स्वर्या च वृष्या च दोषत्रयविनाशिनी ।
आयुष्या पौष्टिकी धन्या वयसः स्थापनी परम् ॥ १५७ ॥
निशान्ध्यज्वरखालित्यक्षीणक्षतनिवर्तनी ।
वन्ध्यागर्भप्रजननी रेतोदोषविनाशिनी ॥ १५८ ॥
अग्र्या रसायने चैषा वलीपलितनाशिनी ।
तुष्टेन बिन्दुना तस्य दत्तं वरशतं परम् ॥ १५९ ॥
इति शतावरीकल्पः समाप्तः ।

यह शतावरी, बलवर्द्धक, स्वर शोधक, वाजीकरण, दोषत्रय नाशक, आयुष्प्रद, पुष्टिकारक, धनप्रद तथा आयु को अच्छी तरह स्थिर रखनेवाली है। यह निशान्ध्य (रतौंधी), ज्वर खालित्य (सिर का बाल गिरना) तथा क्षीणक्षत को दूर करती है। बांझ स्त्री को गर्भ प्रदान करती है तथा वीर्य सम्बन्धि दोष को नाश करती है। यह शतावरी रसायनों में श्रेष्ठ है तथा वलि (मुख में झूरी पड़ना) पलित (असमय में बाल पकना) को नाश करती है। इस रसायन के बिन्दु से संतुष्ट होने पर सैकड़ों वरदान प्राप्त होते हैं ॥ १५७-१५९ ॥

शतावरी कल्प समाप्त।

अथातो भल्लातककल्पं व्याख्यास्यामः ।

वातश्लेष्महरं श्रेष्ठं ग्रहण्यर्शोनिवर्तनम् ।
वृष्यमग्निसमं वीर्ये वैद्याः प्राहुररुष्करम् ॥ १६० ॥
शुचिशुक्ले समादाय कृमिकीटविवर्जितम् ।
बद्ध्वा पटे सुपूते हि यवपल्ले निधापयेत् ॥ १६१ ॥
तत्पिबेद्धैमने मासि शुद्धः शुद्धेन्द्रियः क्षमी ।

शतावरी कल्प के बाद भल्लातक कल्प का व्याख्यान करते हैं।

अरुष्कर (भल्लातक) को वैद्य लोग वातकफ को नाश करनेवाला, ग्रहणी दोष तथा अर्श को दूर करनेवाला, रति शक्ति को बढ़ाने वाला तथा वीर्य में अग्नि के समान कहे हैं। पवित्र स्थान में उत्पन्न शुक्ल पक्ष में कृमि कीट दोष से रहित भल्लातक को लेकर पवित्र स्वच्छ कपड़े में बांध कर यव के राशि (वेढ़ी) में रक्खे और उसको हेमन्त ऋतु के महीने में स्नेहन, स्वेदन, वमन विरेचनादि से शुद्ध जितेन्द्रिय तथा समर्थ होकर पान करे।

पाटयित्वाऽऽयसे पात्रे दश भल्लातकान्दहेत् ॥ १६२ ॥
निःस्राव्य तद्रसं पूतं पयसा सह दापयेत् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये घृतदिग्धौष्ठतालुकः ॥ १६३ ॥
क्रमेणानेन पुनः पञ्चवृद्ध्या शतं पिबेत् ।
तथैवापनयेद्भूयः पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १६४ ॥
एवं पीत्वा सहस्रे द्वे नरः सर्वामयाञ्जयेत् ।
अन्तर्धूममदग्धान्वा मथितेनोपयोजयेत् ॥ १६५ ॥
मासं तैलोष्णवर्जी तु रसं चाप्युपभोजयेत् ।

दशभल्लातक को फाड़कर लोहे के पात्र में जलाये और उसको घोलकर तथा छानकर उस रस को दूध के साथ दो घड़ी सूर्य के उदय होने पर ओष्ठ तथा तालु को घृत से लिप्तकर पान कराये। इसी क्रम से प्रतिदिन पांच भल्लातक को बढ़ाते हुए सौ भल्लातक तक पान करे और पुनः पूर्वोक्त क्रम से पांच पांच प्रतिदिन के हिसाब से कम करे। इस तरह मनुष्य दो हजार भल्लातक को पानकर सभी रोगों को जीत लेता है। अथवा विना अन्तर्धूम जलाये ही उसको मथन (पीस) कर उपयोग करे। (भल्लातक को संशोधन विधि से शुद्ध कर लेना चाहिए)। एक मास तक तैल तथा उष्ण पदार्थों को त्याग दे और मांसरस को खिलाये।

घृतभृष्टं द्विधा भुक्तमन्ताद्येन प्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥
यथालाभेन वा योज्यं शीतपानान्नधनसैन्धवैः ।
प्रयोगाद्द्विगुणश्चास्य परिहारः सुखावहः ॥ १६७ ॥

भल्लातक को घृत में भूनकर भोजन के पहले तथा बाद में दोबार अथवा जिस प्रकार प्राप्त हो सके उसके अनुसार खाय और शीतल पान, अन्न तथा सेन्धानमक का प्रयोग करे। प्रयोग काल के दुगुने समय तक, परहेज रखना सुखदायक होता है।

एतत्कफघ्नमायुष्यं माङ्गल्यं पुष्टिवर्धनम् ।
नाशनं मेहकुष्ठानां कृमीणामर्शसामपि ॥ १६८ ॥
योनिशुक्रप्रदोषेषु बलीपलितनाशनम् ।
वपुर्मेधास्मृतिकरं पाण्डुहृद्रोगनाशनम् ॥ १६९ ॥
मेदोजानां विकाराणां नाशनं श्लेष्मकासजित् ।
मन्दाग्नीनां च परममेतदुक्तं रसायनम् ॥ १७० ॥
वर्जयेद्दधिशुक्तं च तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम् ।
शुष्कवल्लूरमांसाध्वव्यायामस्त्रीनिषेवणम् ॥ १७१ ॥

यह भल्लातक योग कफनाशक, आयुवर्द्धक, कल्याणकारक, पुष्टिवर्द्धक,

और प्रमेह, कुष्ट, कृमिरोग तथा अर्शरोग को नाश करनेवाला है। योनिदोष तथा शुक्रदोष के कारण उत्पन्न वलि पलित को नाश करता है। सुन्दरशरीर, धारणाशक्ति तथा स्मरण शक्ति को प्रदान करता है और पाण्डु रोग एव हृदय रोग को नाश करता है। मेदोजन्यविकार को नाश करता है तथा कफजन्य कास (खांसी) को नष्ट करता है। यह मन्द जाठराग्नि वालों के लिये उत्तम रसायन कहा गया है। इस रसायन के सेवनकाल में दहीखाना, काञ्जीपान करना, तैल लगाना तथा अग्नि का सेवन (आग तापना) करना छोड़ दे। इसके अतिरिक्त सूखामास भक्षण, मार्गगमन, व्यायाम तथा स्त्रीसेवन छोड़ दे॥ १६६-१७१ ॥

भल्लातकानि पुष्टानि धान्यराशौ निधापयेत् ।
ग्रीष्मे संगृह्य हेमन्ते स्वादुस्निग्धहिमैः पुनः ॥ १७२ ॥
संस्कृतस्तान्यष्टगुणे सलिलेऽष्टौ विपाचयेत् ।
अष्टाशशिष्टं तत्क्वाथ सक्षीरं शीतलं पिबेत् ॥ १७३ ॥
वर्धयेत्प्रत्यहं चानु तत्रैकैकमरुष्करम् ।
सप्तरात्रत्रयं यावत्त्रीणि त्रीणि ततः परम् ॥ १७४ ॥
आचत्वारिंशतस्तानि ह्रासयेद्वृद्धिवत्ततः ।
सहस्रमुपयुञ्जीत सप्ताहैरिति सप्तभिः ॥ १७५ ॥
यन्त्रितात्मा घृतक्षीरशालिषष्टिकभोजनः ।
तद्वत्त्रिगुणितं कालं प्रयोगान्तेऽपि चाचरेत् ॥ १७६ ॥
आशिषो लभते पूर्वा वह्नेर्दीप्तिं विशेषतः ।
प्रमेहकृमिकुष्ठार्शोमेदोदोषविवर्जितः ॥ १७७ ॥

परिपक्व एवं परिपुष्ट भल्लातक को ग्रीष्म ऋतु में लेकर धान्य राशि (धान की बेढ़ो 'भण्डार') में रक्खे। और पुनः उसको हेमन्त ऋतु में लेकर मधुर, स्निग्ध तथा शीतल पदार्थों से संस्कार कर आठ भल्लातकों को अठगुने जल में पकावे और अष्टमांश शेष क्वाथ को शीतलकर तथा मधु मिलाकर पान करे और प्रतिदिन एक एक भल्लातक को बढ़ाकर उसी तरह पान करे। यह क्रम तीन सप्ताह तक रक्खे उसके बाद तीन-तीन भल्लातक प्रतिदिन बढ़ता जाय और यह क्रम चालिस भल्लातक तक रक्खे। इसके बाद पुन वृद्धि क्रम के अनुसार (पहले तीन तीन बाद तीन सप्ताह रह जाने पर एक एक) भल्लातकों को कम करता जाय। इस प्रकार सात सप्ताह में एक हजार भल्लातक का प्रयोग करे। इसके सेवन काल में संयमपूर्वक रहते हुए घृत दूध, जड़हन तथा साठी धान का भात भक्षण करे और यह भोजन क्रम रसायन सेवन के बाद तीन गुने समय तक (एक्कीस सप्ताह तक) रक्खे।

इस प्रकार इसरसायन को सेवन करने तथा नियमपूर्वक रहने से प्रमेह, कृमिरोग, कुष्ठरोग, अर्शरोग तथा मेदोदोष से रहित होकर पहली युवावस्था को प्राप्त करता है और उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है ॥ १७२–१७७॥

पुष्टानि पाकेन परिच्युतानि भल्लातकान्याढकसंमितानि ।
घृष्ट्वेष्टकाचूर्णकणैर्जलेन प्रक्षाल्य संशोष्य च मारुतेन ॥ १७८ ॥
जर्जराणि विपचेज्जलकुम्भे पादशेषघृतगालितशीतम् ।
तद्रसं पुनरपि श्रपयेच्च क्षीरकुम्भसहितं चरणस्थे ॥ १७९ ॥
सर्पिः पक्वं तेन तुल्यप्रमाणं युञ्ज्यात्स्वच्छं शर्कराया रजोभिः ।
एकीभूतं तद्रजक्षोभणेन स्थाप्यं धान्ये सप्तरात्रं सुगुप्तम् ॥ १८० ॥

तममृतरसपाकं यः प्रगे प्राश्यमश्न-
न्ननु पिबति यथेष्टं शीतदुग्धं रसं वा ।
स्मृतिमतिबलमेधासत्त्वसारैरुपेतः
कनकनिचयगौरः सोऽश्नुते दीर्घमायुः ॥ १८१ ॥

परिपुष्ट तथा अपने से पककर गिरे हुए भल्लातक एक आढ़क (चार सेर) लेकर उसको ईंटा के चूर्णकणों से घर्षणकर जल से धोलकर तथा हवा से सुखाकर एवं यव कूटकर जल दोद्रोण में पकावे और चौथाई शेष क्वाथ को छानकर शीतल कर ले। इसके बाद पुनः उस क्वाथ में एककुम्भ दो द्रोणदूध डालकर चौथाई शेष रहने तक पकावे और उससे एकआढ़क (चार सेर) घृत सिद्ध करे और अपने इच्छा के अनुसार शक्कर मिला दें उसके पकने-के बाद एकीभूत (अवलेहवत्) हो जाने पर सात रात तक छिपाकर धान्य के राशि में रक्खे। इसके बाद निकालकर जो व्यक्ति इस अमृतरसपाक को अपने इच्छा के अनुसार शीतल दूध या रस के साथ प्रातःकाल पान करता है वह स्मरण शक्ति, पर्याप्त बल, धारणाशक्ति, पराक्रम तथा पुरुषार्थ से युक्त होकर तथा स्वर्ण के सदृश सुन्दर गौरवर्ण का होकर दीर्घ (लम्बी 'अधिक दिन की') आयु को प्राप्त करता है ॥ १७८-१८१ ॥

द्रोणेऽम्भसि व्रणकृतां त्रिशतानि पक्त्वा
क्वाथाढके पलसमैस्तिलतैलपात्रम् ।
तिक्ताविषाद्वयवचागिरिजन्मताक्ष्यैः
सिद्धं परं निखिलकुष्ठनिबर्हणाय ॥ १८२ ॥

कटे हुए तीन सौ भल्लातक को लेकर, जल एक द्रोण में पकावे। चौथाई (एक आढ़क) क्वाथ शेष रह जाने पर उसमें तिल का तैल एक पात्र (एक आढ़क चार सेर), मिलाकर कुटकी, अतीस, वालवच, घोड़वच, शिलाजीत तथा स्वर्णमाक्षिक एक एक पल (छटांक) इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल सिद्ध

करे । यह तैल सम्पूर्ण कुष्ठ रोगों को दूर करने के लिये श्रेष्ठ औषध है ॥ १८२ ॥

सहामलकशुक्तिभिर्दधिसरेण तैलेन वा
गुडेन पयसा घृतेन यवसक्तुभिर्वा सह ।
तिलेन सह माक्षिकेण सितया च सूपेन वा
वपुष्करमरुष्करं परममेध्यमायुष्करम् ॥ १८३ ॥

अरुष्कर (भल्लातक), आंवला का रस, काञ्जी, दही का पानी, या तैल, गुड़, दूध, घृत, यव का सत्तू , तिल, मधु, मिश्री अथवा सूप (दाल) के साथ सेवन करने से शरीर के अंग को पुष्ट करनेवाला, अच्छी तरह शक्ति को बढ़ानेवाला तथा आयु को देनेवाला है ॥ १८३ ॥

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च ।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥ १८४ ॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन ।
यन्न भल्लातक हन्याच्छीघ्रमग्निबलप्रदम् ॥ १८५ ॥
वातातपविधानेऽपि विशेषेण विवर्जयेत् ।
कुलत्थदधिशुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम् ॥ १८६ ॥
इति भल्लातककल्पः समाप्तः ।

भल्लातक तीक्ष्ण द्रव्य है और पाक में अग्नि के समान है। विधिपूर्वक प्रयोग करने से अमृत के समान होते हैं। कफजन्य न तो कोई रोग है और न किसी प्रकार का विबन्ध (मलावरोध) है जिसको भल्लातक नाश न कर सके। अर्थात् भल्लातक, कफजन्य सभी रोगों को तथा सभी प्रकार के विबन्धों को नाश करता है। इसके अतिरिक्त शीघ्र ही जठराग्नि को दीप्त करनेवाला तथा बलवर्द्धक है। इस भल्लातक के प्रयोग काल में वातातपिक विधान में भी विशेषकर कुलत्थ (कुरथी), दही, काञ्जी, तैलमर्दन तथा अग्निसेवन (आग सेकना) त्याग दे ॥ १८४-१८६ ॥

भल्लातककल्प समाप्त ।

अथातो गुडूचीकल्पं व्याख्यास्यामः ।

अथ लङ्केश्वरो नारीं रावणो राक्षसाधिपः ।
रामपत्नीं वनात्सीतां जहार मदनातुरः ॥ १८७ ॥
ततस्तं बलवान्रामो रिपुं रामापहारकम् ।
वृतो वानरसैन्येन जघान रणमूर्धनि ॥ १८८ ॥
हते तस्मिन्देवशत्रौ सभृत्यबलवाहनः ।

देवराजः सहस्राक्षः परितुष्टोऽथ राघवे ॥ १८९ ॥
तत्र ये वानराः केचिद्राक्षसैर्घातिता रणे।
तानिन्द्रो जीवयामास रामप्रियचिकीर्षया ॥ १९० ॥
संसिच्यामृतवर्षेण भगवान्पाकशासनः।
ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रपरिस्रुताः ॥ १९१ ॥
हिताय जगतः केचित्पेतुरमृतबिन्दवः।
अवन्तेषु प्रदेशेषु ततो जाता वरौषधी ॥ १९२ ॥
गुडूची छिन्नरोहेति सैवोक्ता छिन्नरोहिणी।
निर्दिष्टाऽमृतवल्ली च यस्मादमृतसंभवा ॥ १९३ ॥

भल्लातक कल्प के बाद गुडूची कल्प कहते हैं।

राक्षसों के स्वामी लंका का राजा रावण कामपीड़ित होकर राम की पत्नी नारी सीता को वन से चुरा लाया। इसके बाद बलवान् रामचन्द्र उस सीता को चुरानेवाले शत्रु रावण को वानर सेनाओं को साथ लेकर युद्ध में मार दिये। इस प्रकार देवताओं के शत्रु रावण के मर जाने पर अपने भृत्य, सेना तथा वाहन के साथ देवताओं के राजा हजारनेत्रवाले इन्द्र रामचन्द्र के ऊपर प्रसन्न हो गये और प्रसन्न होकर पाकशासन इन्द्र उस रण में राक्षसों के द्वारा मारे गये वानरों को रामचन्द्र को प्रसन्न करने की इच्छा से अमृत की वर्षा से सींचकर जीवित कर दिये। इसके बाद जिन प्रदेशों में वानरों के शरीर से बहकर अमृत के बिन्दु गिरे उन प्रदेशों में उस अमृत बिन्दु से संसार के कल्याण के लिये उत्तम औषधि उत्पन्न हुई। उसको गुडूची, छिन्नरुहा तथा छिन्नरोहिणी कहते हैं और अमृत से उत्पन्न होने के कारण अमृत तथा अमृतवल्ली भी कहते हैं।

कषायतिक्तमधुरा रोचनी दीपनी हिता।
उष्णा हृद्या च कण्ठ्या च हन्ति रक्तकफानिलान् ॥ १९४ ॥

यह गुडूची कषाय, तिक्त एवं मधुररसयुक्त, रुचिवर्द्धक, अग्निदीपक तथा, हितकर होती है। उष्ण, हृदय को बल देनेवाली, कण्ठ को शुद्ध करनेवाली है तथा रक्तदोष एवं कफवातजन्य रोगों को नाश करती है ॥ १८७–१९४ ॥

तामङ्गुष्ठपर्वमात्रां गुडूचीं परिकल्पिताम्।
खण्डानि सर्पिषा भृष्ट्वा खादेत्सप्त नवाथ वा ॥ १९५ ॥
पुनः पुनः प्रतिदिनं यथेष्टाहारचेष्टितम्।
जयेत्तृष्णां भ्रमं श्वासं सकासं शूलवेपथुम् ॥ १९६ ॥

पूर्वोक्त गुणवाली गुडूची को अंगुष्ठ के पर्व के बराबर-बराबर टुकड़ा कर घृत में भून ले और उसमें से सात या नव टुकड़ा प्रतिदिन बार-बार खाय और

अपने इच्छा के अनुसार भोजन करे। यह योग तृष्णा, भ्रम (चक्कर) श्वास-रोग, खांसी, शूल तथा कम्पन को जीत लेता है ॥ १९५-१९६ ॥

पिबेन्नरोऽपि तत्क्वाथमेरण्डस्नेहयोजितम् ।
जयेद्गृध्रस्युदावर्तं वातरक्तमशेषतः ॥ १९७ ॥

मनुष्य गुडूची के क्वाथ को एरण्ड तैल मिलाकर पान करे। यह क्वाथ पान करने से ही गृध्रसी (लंगली का दर्द 'स्याटिका'), उदावर्त (ऊर्ध्वडकार) तथा वातरोग को जड़ से जीत लेता है।

कषायश्छिन्नरोहाया निहन्याद्विषमज्वरम् ।
रात्रिज्वरं ज्वरं जीर्णं तृतीयकचतुर्थकौ ॥ १९८ ॥

गुडूची का कषाय पान करने से विषमज्वर, रात्रिज्वर, जीर्णज्वर तथा तृतीयक एवं चातुर्थिकज्वर को नाश करता है।

निःक्वाथोऽमृतवल्ल्यास्तु शुण्ठीचूर्णसमन्वितः ।
पीतो हन्ति कटीपृष्ठपादजङ्घोरुजां रुजम् ॥ १९९ ॥

गुडूची का क्वाथ सोंठ का चूर्ण मिलाकर पान करने से कटीशूल, पृष्ठशूल, पादशूल, जंघा तथा ऊरु की पीड़ा को नाश करता है।

अमृतायाः पलशतं चूर्णीकृत्य तुलाघृतम् ।
घृतक्षौद्रगुडं चाथ सर्वमेकत्र संलिहेत् ॥ २०० ॥
यथाग्न्यभ्यवहारस्तु नरो हितमिताशनः ।
नास्य कश्चिद्भवेद्व्याधिर्न जरा पलितं न च ॥ २०१ ॥
न गृध्रसी न वातासृङ्न चैव विषमज्वरः ।
न च नेत्रगता रोगा परं चैतद्रसायनम् ॥ २०२ ॥

अमृता (गुडूची) एक सौ पल लेकर छाया में सुखा ले और चूर्णकर तुला (तुला प्रमाण का बना हुआ पात्र) में रख ले और घृत मधु तथा गुड़ सबको एक में मिलाकर चाटे। मनुष्य अपने जठराग्नि के अनुसार प्रयोग करे तथा हितकर एवं थोड़ा भोजन करें। इस प्रकार इस योग को सेवन करनेवाले व्यक्ति को कोई भी रोग नहीं होता है और जरा (बुढ़ापा) पलित रोग, गृध्रसी (स्याटिका), वातरक्त, विषमज्वर तथा नेत्रगतरोग नहीं होते हैं। यह उत्तम रसायन है।

मेधाकरं त्रिदोषघ्नं प्रयोगादस्य बुद्धिमान् ।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णं यथैकं दिवसं तथा ॥ २०३ ॥

इस रसायन का प्रयोग करने से धारणाशक्ति बढ़ती है तथा त्रिदोष का नाश होता है और बुद्धिमान् व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ होकर एकसौवर्ष वैसे जीवित रहता है जैसे पूरे एक दिन स्वस्थ होकर जीवित रहे ॥१९५-२०३॥

स्वरसममृतवल्ल्या यः पिबेन्मासमेकं
परिसृतघृतभक्षः क्षीरयूषौदनाशी ।

वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तो
तरुरिव नवपत्रः स्निग्धकान्तिर्विभाति ॥ २०४ ॥

जो व्यक्ति गुडूची का स्वरस एक मास तक पान करता है और गरम किया हुआ घृत, दूध, यूष तथा भात खाता है वह वलि (मुख में झुरी पड़ना) पलित (असमय में बाल पकना) से रहित तथा सभी रोगों से मुक्त होकर नवीन पत्र से युक्त वृक्ष की तरह सुन्दर मनोहर कान्ति को प्राप्त करता है तथा सुशोभित होता है।

चूर्णशतं सघृतं मधुमिश्रं छिन्नरुहं प्रकरोति नरो यः।
व्याधिशतं च जरां विनिहन्याज्जीवति वर्षशतं पुनरन्यम् ॥

जो मनुष्य गुडूची के एक सौ पल के चूर्ण को घृत तथा मधु मिलाकर सेवन करता है वह सैकड़ों रोग तथा जरा (बुढ़ापा) को नष्ट कर देता है और अन्यवर्षशत (दो सौ वर्ष) जीवित रहता है ॥ २०४-२०५ ॥

गुडूचीकल्प समाप्त।

अथातो गोक्षुरकल्पं व्याख्यास्यामः।

अरिष्टपाषाणपथि श्मशानजीर्णालये गोक्षुरकं प्रजातम्।
अपास्य सुक्षेत्रनदीतडागगोष्ठप्रजातं समुपाददीत ॥ २०६ ॥
शरद्यपेतानिलमेघपङ्के फलान्वित गोक्षुरकं समूलम्।
चूर्णीकृतं सान्द्रपटान्तपूतमथैनमत्यन्तविशुद्धकायः ॥ २०७ ॥
तिथौ प्रशस्ते पयसा लिहेत्तत्कर्षाभिवृद्ध्या द्विपलं तु यावत्।
दिने दिने सार्धपल तु नित्य जीर्णे पयःषष्टिकभोजनं च ॥ २०८ ॥
ततोऽष्टरात्रात्परतस्तु कामं वृष्यः ककुद्मानिव गोकुलेषु।
प्रकामकामः प्रमदासहस्रं भजेदुदीर्णेन्द्रियसर्वचेष्टः ॥ २०९ ॥

गुडूचीकल्प के बाद गोक्षुरकल्प कहते हैं।

अशुभस्थान, पाषाण, मार्ग, श्मशान तथा पुराने मकान में उत्पन्न गोखरु को छोड़कर शुभस्थान, नदी, पोखरा, तथा गोशाला में उत्पन्न गोखरु को उखाड़ कर ग्रहण कर ले। वर्षाऋतु के बीत जाने पर शरद-ऋतु में फल तथा मूल सहित (पञ्चांग) को कूटकर महीन चूर्ण करे और गाढ़ाकपड़ा से छान ले। इसके बाद पञ्चकर्म द्वारा शुद्ध शरीरवाला पुरुष शुभतिथि में एककर्ष (एक तोला) से बढ़ाकर दो पल (दो छटांक) तक दूध के साथ चाटे। इसके बाद आधा-आधा पल (छटांक) प्रतिदिन सेवन करे और पच जाने पर दूध तथा साठी धान का भात खाय। इस प्रकार सेवन करने से आठ रात्रि के बाद गायों के कुल में ककुद्मान् (सांड) के सदृश यथेष्ट वीर्य से युक्त होकर

उद्दीप्त इन्द्रियों की सभी चेष्टाओं को पूरा करता हुआ अपने पूर्ण इच्छा के अनुसार हजारों स्त्रियों के साथ रमण करता है।

यां चापि गच्छेत्प्रमदां स वृद्धां हिमेन्दुगङ्गामलकुन्दकेशीम्।
सा चापि कौमारमुपैति भावं रूपान्विताऽथाप्सरसेव भाति ॥२१०॥

इत्यगस्तिप्रोक्तो गोक्षुरकल्पः।

उपरोक्त रसायन को सेवन करनेवाला व्यक्ति बर्फ, चन्द्रमा, गंगा तथा कुन्द सदृश सफेद केशवाली जिस वृद्धा स्त्री के साथ रमण करता है वह वृद्धा स्त्री भी सम्पूर्ण युवावस्था के लक्षणों से युक्त होकर अप्सरा के तरह कुमारी के रूप को धारण कर सुशोभित होती है ॥ २०९–२१० ॥

अगस्ति का कहा हुआ गोक्षुरकल्प समाप्त।

अथातो लशुनकल्पं व्याख्यास्यामः।

शीतवर्षहिमदिग्धतनूनां स्तब्धभग्नकुटिलव्यथितास्थ्नाम्।
भेषजस्य पवनोपहतानां वक्ष्यते विधिरत लशुनस्य ॥ २११ ॥

गोक्षुर कल्प के बाद लशुन कल्प कहते हैं।

शीत, वर्षा तथा बर्फ से दग्धशरीरवाले, जकड़े, टूटे, टेढ़े एवं पीड़ायुक्त हड्डी वाले और वातरोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिये औषध लहसुन का विधि (कल्पप्रयोग) कहते हैं ॥ २११ ॥

राहोरच्युतचक्रेण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः ॥ २१२ ॥

भगवान् विष्णु के चक्र के द्वारा काटे जाने पर राहु के गले से जो अमृत के कण भूमि पर गिरे वे रसोन (लशुन) के रूप में उत्पन्न हो गये।

द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षात्त्वमृतसंभूतं ग्रामीणकरसायनम् ॥ २१३ ॥

ब्राह्मणजन अज्ञानवश दैत्य के देह से उत्पन्न होने के कारण लशुन को नहीं खाते हैं। साक्षात् अमृत से उत्पन्न होने के कारण ग्रामीणों के लिये (या मन्दाग्निवालों के लिये) रसायन है ॥ २१२–२१३ ॥

शीलयेल्लशुनं शीते वसन्तेऽपि कफोल्बणः।
घनोदयेऽपि वातार्तः सदा वा ग्रीष्मलीलया ॥ २१४ ॥

कफजन्यरोग से पीड़ित व्यक्ति शीत (शिशिर हेमन्त) ऋतु तथा वसन्त-ऋतु में भी लहसुन को सेवन करे। गर्मी के कारण वातरोग से पीड़ित व्यक्ति वर्षाऋतु में या सभी ऋतुओं में सेवन करे।

मासः परोऽस्य रसकल्कनिषेवणाय
स्वच्छन्दमप्युपदिशन्ति चिकित्सकास्तु ।
षण्मासमन्नविधिना तमु शस्तमाहुः
पक्षप्रयोगमपि हीनतरं रसोने ॥ २१५ ॥

चिकित्सकगण लशुन के रस तथा कल्क को अकेले ही महीनों तक खाने के लिये बताते हैं। अन्न के तरह छः मास तक इसका प्रयोग प्रशस्त होता है। लहसुन का प्रयोग पन्द्रह दिन तक भी करने से कुछ कम किन्तु लाभदायक होता है।

रसोनकल्पो मृदुनौजसा हि प्रयुज्यमानः सहसा हि तस्य ।
दाहातिसारारतिचित्तनाशान्कुर्यादतस्त त्वरितो न युञ्ज्यात् ॥२१६॥

रसोन कल्प एकाएक दुर्बल व्यक्तियों को प्रयोग करने से दाह, अतिसार, अरति (बेचैनी) तथा चित्तभ्रम को उत्पन्न करता है। अतः इस रसोनकल्प को जल्दी से प्रयोग न करे।

जीर्णशाल्योदनं जीर्णे शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ।
भुञ्जीत यूषैः पयसा रसैर्वा धन्वचारिणाम् ॥ २१७ ॥

रसोनकल्प के परिपाक हो जाने पर शंखकुन्द तथा चन्द्रमा के समान सफेद पुराने जड़हन धान का भात, मूंग का यूष, दूध या धन्वचारी (धन्व साधारणदेश में उत्पन्न पक्षियों) के मांसरस के साथ भक्षण करे।

दीप्ताग्निर्मण्डकान् खादेद्घृतमण्डोपसेचनान् ।
अखण्डमण्डलेन्द्वाभानिण्डरीखण्डमण्डितान् ॥ २१८ ॥
मद्यमेकं पिबेत्तत्र तृट्प्रबन्धे जलान्वितम् ।

इस रसोन कल्प के सेवन काल में प्रदीप्त जाठराग्निवाला व्यक्ति घृत-मण्ड से परिपूर्ण चन्द्रमा के समान सफेद तथा इण्डरी खण्ड (रवादार गुड़ के पदार्थ) से युक्त मण्डक (मांडा) को खाय, और प्यास लगने पर जल मिश्रित किसी एक मद्य को पान करे।

अमद्यपो मस्तुफलाम्लतक्रमवन्तिसोमं च सुगन्धिशीतम् ॥ २१९ ॥
सौवीरकं वारि च मातुलुङ्गात् कूपोदक वा परिसिक्थिकं वा ।

मद्य न पीनेवाला व्यक्ति, मस्तु (दही का तोड़), फल, खट्टा मट्ठा, अवन्ति-सोम (कांजी) सुगन्धित तथा शीतल पदार्थ, सौवीरक, बिजौरे निम्बु का रस या कुवें का जल अथवा परिसिक्थिक (यवागू) पान करे।

तत्कल्कं वा समघृतं घृतपात्रे खजाहतम् ।
स्थितं दशाहमश्नीयात्तद्वा पयसा समम् ॥ २२० ॥

अथवा रसोन का कल्क समभाग घृत मिलाकर और घृत के पात्र में

कलछी से अच्छी तरह चलाकर दश दिन तक ढक कर रख दें उसके बाद निकाल कर पूर्वोक्त पदार्थों के साथ या दूध के साथ (अथवा मस्तु के साथ) भक्षण करे ॥ २२० ॥

सद्यः पिष्टं सर्पिषा संयुतं वा निर्यासेन स्वेन युक्तं प्रकामम् ।
युञ्जीतैनं पूर्वकैरेव पानैः कोष्णाम्भोभिर्वेष कल्पोऽतिवीर्यः ॥ २२१ ॥

तुरन्त का पिसा हुआ रसोन का कल्क घृत मिलाकर या रसोन के क्वाथ को मिलाकर अपने इच्छा के अनुसार पूर्वोक्त मस्तु फल आदि पानक के साथ अथवा गरम जल के साथ प्रयोग करे यह रसोन कल्प अत्यधिक वीर्य वाला है ।

रसोनकल्कः सदृशाजसर्पिः षण्मासमुर्व्यामुषितो निहन्ति ।
अभ्यङ्गपानाञ्जननस्ययुक्तो ह्युदरविकारान् विषमज्वरं च ॥ २२२ ॥

लहसुन का कल्क समभाग बकरी का घृत मिलाकर तथा उसका मुख बन्द कर छः मास तक जमीन के अन्दर रक्खे और उसके बाद निकाल कर प्रयोग करे । यह कल्प अभ्यङ्ग (मर्दन) पान, अञ्जन तथा नस्य कर्म में प्रयोग करने से उदररोगों को तथा विषमज्वर को नाश करता है ॥ २२२ ॥

समतैलं सशुक्तं वा यवराशौ समास्थितम् ।
वातरोगान् जयेत् खादन् घृततैलोत्तराशनः ॥ २२३ ॥

रसोन कल्क के बराबर तैल या शुक्त (मद्य विशेष) मिलाकर जव के राशि में एक वर्ष रखे और उसके बाद निकाल कर घृत तथा तैल के साथ भक्षण करे । इस योग का सेवन करनेवाला वातरोगों को जीत लेता है ॥ २२३ ॥

तैलसर्पिर्गुडसिताः पृथक्कुर्यात्पलोन्मिताः ।
द्वे पले लशुनाच्छुद्धात्त्र्यूषणं कुडवत्रयम् ॥ २२४ ॥
पलं त्वचश्च तच्छ्लक्ष्णं निहितं घृतभाजने ।
द्वे समे यवमध्यस्थ पूर्वस्मादधिकं गुणैः ॥ २२५ ॥

तैल, घृत, गुड, तथा मिश्री अलग-अलग एक-एक पल (एक-एक छटांक) शु० लहसुन दो छटांक त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच) तीन कुडव (तीन पाव), दालचीनी एक छटांक इन सभी द्रव्यों को महीन चूर्ण बनाकर घृत के पात्र में रख दें और उसको यव की राशि में दो वर्ष तक रक्खे यह कल्प पहले वाले रसोन कल्प से भी अधिक गुणवान् होता है ॥ २२४—२२५ ॥

क्षुण्णां क्षिपेत् कन्दतुलां तक्रस्य पलविंशतौ ।
गते हि सप्तरात्रे तु तुलार्धमसितान् तिलान् ॥ २२६ ॥
धौतक्षुण्णान् पृथक् क्षौद्रं गुडं शुण्ठी चतुःपलम् ।
अजाजीचव्यधान्याग्निकृष्णाग्रन्थिकदीप्यकान् ॥ २२७ ॥
पलोन्मितान् चतुर्जातात् पलमेकं सुचूर्णितम् ।

पृथक् पलाष्टकं तैलाद्घृतात् क्षुण्णाच्च सर्षपात् ॥ २२८ ॥
पटूनि पञ्च क्षारौ द्वौ दद्यात्तत्राक्षमानतः ।
एकादशाहं तद्धान्ये स्थितमश्नन् प्रगे प्रगे ॥ २२९ ॥
गुणान् रासायनान् सर्वान् समाप्नोति निरामयः ।

जवकुट किया हुआ रसोन एक तुला (पाचसेर) मट्ठा बीस छटांक में छोड़ दे। सात रात्रि बीत जाने पर काला तिल आधा तुला (ढाईसेर) कूटकर तथा छिलका निकाल कर मिला दे और मधु चार छटांक, गुड़ चार छटांक, सोंठ का चूर्ण चार छटांक, जीरा, चव्य, धनिया चित्रक, पीपर, गठिवन, तथा अजवायन इन द्रव्यों का चूर्ण एक-एक छटांक, चातुर्जात (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) का चूर्ण एक छटांक, तैल आठ छटांक, घृत आठ छटांक सरसों का चूर्ण आठ छटांक, पांचों नमक (सेन्धा, सौवर्चल, विड, सोमर, सामुद्र) पांच तोला दोनों खार (यवखार, सज्जीखार), एक-एक तोला इन सभी द्रव्यों को मिलाकर ग्यारह दिन तक धान की राशि में रक्खें और प्रति दिन प्रातःकाल भक्षण करे। इसको सेवन करने से मनुष्य रोग रहित होकर सभी रसायनों के गुणों को प्राप्त करता है ॥ २२६-२२९ ॥

द्विपञ्चमूलनिष्क्वाथे नल्वणे लशुनाढकम् ॥ २३० ॥
पिष्टं पर्युषितं वर्षं हन्ति वातकफामयान् ।
नवनीतसमांशं वा खादेत्तत्कल्कमर्दिते ॥ २३१ ॥

द्विपञ्चमूल (बेलकीछाल, गम्भारी, पाढल, अरलु, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया गोखरू) के एक द्रोण (सोलह सेर) क्वाथ में लहसुन का कल्क एक आढक (चार सेर) मिलाकर एक वर्ष तक धान के राशि में रखने के बाद प्रयोग करने से यह कल्प वातकफजन्यरोगों को नाश करता है। अथवा लहसुन के कल्क में समभाग नवनीत (मक्खन) मिलाकर अर्दितरोग में खाय ॥ २३०-२३१ ॥

कृशोऽश्वगन्धोद्भवचूर्णकीर्णं क्षामस्वरो यष्टिमधूदपानम् ।
तैलेन गुल्मी खदिरेण कुष्ठी खादेत् क्रिमिघ्नैः क्रिमिमान् रसोनम् ।

रसोन के कल्क को दुर्बल व्यक्ति अश्वगन्धा का चूर्ण मिलाकर, क्षीणस्वरवाला मुलेठी के क्वाथ के साथ, गुल्मरोगपीड़ितव्यक्ति तैल के साथ, कुष्ठ का रोगी खैर के क्वाथ के साथ, क्रिमिरोगपीड़ित व्यक्ति क्रिमिनाशक औषधों के क्वाथ के साथ खाय ॥ २३२ ॥

घृतदुग्धैश्च यक्ष्माणमर्शांसि कुटजत्वचा ।
हन्ति त्रिफलया मेहकासश्वासविलम्बिकाः ॥ २३३ ॥

रसोनकल्क को मधु तथा घृत के साथ खानेवाला यक्ष्मा (टी. बी.)

रोग को, कोरैया के छाल के साथ खानेवाला अर्शरोग को, तथा त्रिफला के साथ खानेवाला प्रमेह, कासश्वास और विलम्बिका रोग को नाश करता है ॥ २३३ ॥

त्रिरात्रमुषितं क्षुण्णं लशुनं खादयेत्ततः ।
क्षीरदध्याज्यमध्ये तु ब्राह्मणस्यापि शस्यते ॥ २३४ ॥

रसोन का कल्क दूध, दही तथा घृत में तीन दिन तक रखकर भक्षण करे। यह ब्राह्मणों के लिये भी प्रशस्त है ॥ २३४ ॥

पित्तरक्तविनिर्मुक्ते समस्तावरणावृते ।
शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं लशुनात्परम् ॥ २३५ ॥

पित्तरक्त (रक्तपित्त) से मुक्त हो जाने के बाद सभी दोषों से आवृत होने पर या शुद्ध वातरोग में रसोन से बढ़कर कोई उत्तम द्रव्य नहीं है ॥२३५

सुखात्मनां विशेषेण प्रयोगो लशुनोद्भवः ।
नारदेनोद्धवस्यैव वातभग्नस्य कल्पितः ॥ २३६ ॥

सुखी व्यक्तियों के लिये लहसुन के रस का प्रयोग विशेष उत्तम होता है। इस योग को नारद ने वात से भग्न (वातव्याधि से पीड़ित) उद्धव के लिये बनाया था ॥ २३६ ॥

आमाम्बुपानेक्षुविकारमत्स्ययानाध्ववातातपभाष्यचिन्ताः ।
स्वप्नं दिवा जागरणं निशासु पिष्टव्यवायं दधि चात्र नेच्छेत् ॥२३७॥

इस रसोन कल्प के प्रयोग काल में, कच्चा जल पीना, गुड़, रस आदि गन्ने के पदार्थ, तथा मछली खाना, सवारी पर चढ़ना, मार्ग चलना, वायु तथा धूप का सेवन करना, भाषण करना, चिन्ता करना, दिन में सोना, रात में जगना, उड़द आदि की पीठी सेवन करना, व्यवाय (स्त्री प्रसंग) तथा दही खाना त्याग दे ॥ २३७ ॥

स्नेहकल्पविधानेन स्नेहयुक्तं प्रयोजयेत् ।
लशुनं स्नेहसंयोगाद्गरीयान् जायते हितम् ॥ २३८ ॥

स्नेहकल्प विधि के अनुसार स्नेह युक्त लहसुन के कल्क का प्रयोग करे। लहसुन स्नेह के संयोग से श्रेष्ठगुणवाला तथा हितकर हो जाता है ॥ २३८ ॥

पित्तकोपभयादन्ते युञ्ज्यान्मृदुविरेचनम् ।
रसायनगुणानेवं परिपूर्णान् समश्नुते ॥ २३९ ॥

पित्तप्रकोप के भय से अन्त में मृदु विरेचन का प्रयोग करे। ऐसा करने से रसायन के समस्त गुणों को प्राप्त करता है ॥ २३९ ॥

प्रियाम्बुगुडदुग्धस्य पिष्टमद्याम्लविद्विषः ।
अतितीक्ष्णैरजीर्णे च रसोनाद्व्यापदो ध्रुवम् ॥ २४० ॥

शीतल जल, गुड़ तथा दूध को अधिक सेवन करनेवाले और पिष्ट, (उड़द की पीठी), अमलरस तथा मद्य से द्वेष करनेवाले व्यक्ति को अत्यधिक तीक्ष्ण पदार्थों के साथ तथा अजीर्ण में रसोन सेवन करने से अवश्य ही व्यापद् (हानिकर) होता है ॥ २४० ॥

पाण्डूदरोरःक्षतशोफतृष्णापानात्ययच्छर्दिविषव्रणेषु ।
पैत्ते विकारेऽक्षिगते विकारे क्षामे शरीरे च विवर्जनीयः ॥ २४१ ॥

पाण्डुरोग, उदररोग, उरःक्षत, शोथ, प्यास, मद्य, पानात्यय वमन, विष-जन्यविकार, व्रण, पैत्तिकरोग, नेत्रगतरोग तथा दुर्बलशरीर होने पर रसोन का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ २३८–२४१ ॥

शीलित एष करोति दुरापं वह्निशरीरबलं सममेव ।
वाग्मतिरूपगुणाढ्यसुतेच्छोः स्त्रीपुरुषस्य तु बीजविशुद्धिम् ॥ २४२ ॥

यह रसोन सेवन करने से कठिनाई से प्राप्त होनेवाले अग्निबल तथा शरीरबल को साथ ही साथ बढ़ाता है और बोलने की शक्ति, बुद्धि, सुन्दरता तथा गुणवान् पुत्र की इच्छा करनेवाले स्त्री एवं पुरुष के वीर्य को शुद्ध (गुणयुक्त संतानोत्पादन-योग्य) करता है ।

अमृतकणसमुत्थं यो रसोनं रसोनं
विधियुतमिति खादेच्छीतकाले सदैव ।
स नयति शतजीवी स्त्रीसहायो जरान्तं
कनकरुचिरगौरो नीरुजस्तुष्टपुष्टः ॥ २४३ ॥

जो व्यक्ति अमृत बिन्दु से उत्पन्न 'अम्लरस' रहित रसोन को विधि विधानपूर्वक शीतकाल में हमेशा खाता है वह बुढ़ापारहित होकर तथा स्त्री के साथ रमण करता हुआ स्वर्ण की कान्ति के सदृश गौर वर्ण से युक्त, रोगरहित हृष्टपुष्ट (हर्षित होते हुए बलवान्) होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥ २४२–२४३ ॥

रसोनकल्प समाप्त ।

अथातो गुग्गुलुकल्पं व्याख्यास्यामः ।

हिमवच्छिखरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ।
तत्रस्थं भिषजां श्रेष्ठमात्रेयमृषिपुङ्गवम् ॥ २४४ ॥
देदीप्यमानं तपसा ज्वलन्तमिव पावकम् ।
विनयादुपसंगम्य हारीतः परिपृष्टवान् ॥ २४५ ॥
भगवन् ! गुग्गुलोर्मात्रां योगं वीर्यं तथा गुणम् ।

वक्तुमर्हसि रोगेषु येषु चापि प्रशस्यते ॥ २४६ ॥

रसोन कल्प के बाद गुग्गुलु कल्प कहते हैं।

सिद्ध महर्षियों से सेवित सुन्दर हिमालय के शिखर के ऊपर स्थित वैद्यों में श्रेष्ठ, ऋषियों में अग्रगण्य तपस्या के द्वारा अग्नि के समान प्रकाशमान् आत्रेय मुनि के पास जाकर हारीतमुनि विनयपूर्वक प्रश्न किये, कि हे भगवन् गुग्गुलु की मात्रा, उसका योग, वीर्य तथा वह किन-किन रोगों में लाभदायक होता है ये सब कहें ॥ २४४–२४६ ॥

एवमुक्तः स शिष्येण प्रत्युवाच महातपाः।
भानोर्मयूखैः संतप्ता ग्रीष्मे मुञ्चन्ति गुग्गुलुम् ॥ २४७ ॥
हिमार्दिता वा हेमन्ते विधिना त समाहरेत्।
जातरूपनिभ शुभ्र पद्मरागनिभं क्वचित् ॥ २४८ ॥
क्वचिन्महिषनेत्राभ यक्षदैवतवल्लभम् ।
विधानं तस्य विविधं निबोध वदतो मम ॥ २४९ ॥

महान् तपस्वी महर्षि आत्रेय शिष्य हरित के द्वारा इस प्रकार प्रश्न करने पर बोले।

ग्रीष्म काल में सूर्य के किरणों से संतप्त वृक्ष (गुग्गुलु के वृक्ष) गुग्गुलु को छोड़ते हैं अथवा हेमन्त ऋतु में हिम से पीड़ित होकर गुग्गुलु को छोड़ते हैं। उस गुग्गुलु को विधिपूर्वक निकाल ले। गुग्गुलु सोना के सदृश शुभ्र वर्ण का, कहीं कहीं पर पद्म रागमणि के सदृश तथा कहीं कहीं पर महिष (भैंस) के नेत्र के सदृश गोल तथा स्वच्छ होता है और वह यक्ष एवं देवताओं को प्रिय है। इस प्रकार के गुग्गुलु के अनेक प्रयोगों को बता रहा हूँ। ध्यान पूर्वक सुनें ॥ २४७–२४९ ॥

त्रिदोषशमनो वृष्यः स्निग्धो बृंहणदीपनः।
गुग्गुलुः कटुकः पाके बलपुष्टिविवर्धनः ॥ २५० ॥
आयुष्यः श्रीकरः पुत्र्यः स्मृतिमेधाविवर्धनः।
पापप्रशमनः श्रेष्ठः शुक्रार्तवगदप्रणुत् ॥ २५१ ॥

यह गुग्गुलु त्रिदोषशामक, वीर्यवर्द्धक, स्निग्ध, शरीर को बढ़ानेवाला, अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, पाक में कटुरस प्रधान, बल तथा पुष्टि को बढ़ानेवाला, आयुष्प्रद, कान्तिप्रद, पुत्रप्रद, स्मरण शक्ति एव धारणाशक्ति वर्द्धक, पापशामक तथा श्रेष्ठ है और शुक्र सम्बन्धि तथा ऋतु सम्बन्धि (रजोदोष) रोगों को नाश करता है।

गन्धवर्णरसोपेतो गुग्गुलुर्मात्रया युतः।
भैषजैः सह निःक्वाथ्यो यथाव्याधिहरैः पृथक् ॥ २५२ ॥

मात्रावशिष्टं तं ज्ञात्वा गालयेच्छुक्लवाससा।
मृण्मये हेमपात्रे वा राजते स्फाटिकेऽपि वा ॥ २५३ ॥
पुण्ये तिथौ सुनक्षत्रे जीर्णाहारः क्षमान्वितः।
शुक्लवस्त्रोपसवीतः शान्तो ह्येकमनाः शुचिः ॥ २५४ ॥
हविषा पावकं हुत्वा समुपास्य दिवाकरम्।
सुरानभ्यर्च्य विधिवद्द्विजातीन् स्वस्ति वाच्यथ ॥ २५५ ॥
आशीभिरभिसम्पूज्य वेदमन्त्रैरधिष्ठितम्।
दोषं देशं बलं कालं समीक्ष्य प्रयतः पिबेत् ॥ २५६ ॥

गन्ध तथा वर्ण से युक्त मात्रापूर्वक गुग्गुलु को रोग के अनुसार व्याधि नाशक-औषधों के साथ क्वाथ करे और उचित मात्रा में [1]अवशिष्ट जानकर सफेद वस्त्र से छान ले, और मिट्टी का पात्र, स्वर्णपात्र, रजत (चांदी) पात्र अथवा स्फटिक पात्र (स्फटिक सङ्गमरमर पत्थर के बनाये हुए पात्र) में रक्खे। इसके बाद पुण्यतिथि (पञ्चमी, सप्तमी, नवमी, पौर्णमासी आदि) तथा शुभ नक्षत्र (अश्विनी, मृगसिरा, पुष्प, अनुराधा, श्रवण आदि) में भोजन का परिपाक हो जाने पर क्षमा से युक्त, सफेद वस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारण कर, शान्तिपूर्वक, एकाग्रचित्त एवं पवित्र होकर, अग्नि को हवनकर, सूर्य भगवान् का उपस्थानकर विधिवत् देवताओं तथा ब्राह्मणों की पूजाकर, वेद मन्त्रों से तथा आशीर्वचन से स्वस्तिवाचन कराकर स्वयं स्थिर चित्त होकर दोष (वात, कफादि), देश (आनूप आदि) बल (उत्तम, मध्यम निकृष्ट आदि) तथा काल (शिशिर वसन्तादि) को अच्छी तरह विचारकर संयम पूर्वक गुग्गुलु को सेवन करे ॥ २५०–२५६ ॥

रास्नां गुडूचीमेरण्डं दशमूलीं प्रसारणीम्।
क्वाथेनैषां बलायाश्च यवान्या वातिकः पिबेत् ॥ २५७ ॥

वातरोग से पीड़ित व्यक्ति गुग्गुलु को रासन, गुडूची, एरण्ड, दशमूली (बेल की छाल, गम्भारी पाढ़ल, अरलु, अरणी, सरिवन, पिठवन, वनभंटा, भटकटैया, गोखरु), गन्ध प्रसारिणी इन द्रव्यों के क्वाथ से तथा बरियार एवं अजवायन के क्वाथ के साथ पान करे ॥ २५७ ॥

पृथक्शृतैर्जीवनीयैः पिबेत् पित्तामयार्दितः।
वासाचन्दनह्रीबेरपर्पटैर्वा कफार्दितः ॥ २५८ ॥

पैत्तिक रोग से पीड़ित व्यक्ति अलग अलग [2]जीवनीय गण के द्रव्यों के

---

१. गुग्गुलु को चौगुने क्वाथ में पकावे। चतुर्थांश शेष रहने पर छान ले।

२. जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवन्ती, ? लेठी।

क्वाथ के साथ गुग्गुलु को पान करे। कफजन्य रोग से पीड़ित व्यक्ति अडूसा, रक्तचन्दन, हाऊवेर या पर्पटक (पित्तपापड़ा) के क्वाथ के साथ गुग्गुलु को पान करे ॥ २५८ ॥

नाडीदुष्टव्रणग्रन्थिगण्डमालार्बुदान्वितः ।
त्रिफलाक्वाथसंमिश्रं पिबेन्मेही व्रणी तथा ॥ २५९ ॥

नाड़ीव्रण, (नासूर 'साइनस') दुष्ट व्रण (बिगड़ा हुआ फोड़ा), ग्रन्थिक (व्रण शोथ) गण्डमाला (ग्लैण्ड टी. बी.) तथा अर्बुद से पीड़ित व्यक्ति, और प्रमेह एवं प्रमेह पीड़िका से रुग्ण व्यक्ति त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), के क्वाथ के साथ गुग्गुलु को पान करे ॥ २५९ ॥

किरातकामृतानिम्बवृषव्याघ्रीदुरालभाः ।
एषां क्वाथेन संयुक्तं गुग्गुलुं पाययेद्भिषक् ।
गुल्मे कासे क्षतश्वासे विद्रधावरुचौ व्रणे ॥ २६० ॥

किरातक, (चिरायता), गुडूची, निम्ब, अडूसा, व्याघ्री (भटकटैया), तथा यवासा, इन द्रव्यों के क्वाथ के साथ वैद्य गुग्गुलु को गुल्मरोग, कास, क्षत-रोग, श्वास रोग विद्रधि (छोटी छोटी फुन्सी) अरुचि तथा व्रण रोग में पान कराये ॥ २६० ॥

दार्वीगुडुचीत्रिफलापटोलक्वाथसंयुतः ।
कण्डूकिटिभशोथाढ्यवातमेदःकफापहः ॥ २६१ ॥

दारुहल्दी, गुडूची, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला) तथा परवल के क्वाथ के साथ गुग्गुलु सेवन करने से कण्डू (खुजली), किटिभ (कुष्ठविशेष), शोथ, आढ्यवात (अधोशखा) वात, मेदोजन्य रोग तथा कफजन्य रोगों को नाश करता है ॥ २६१ ॥

पथ्या पुनर्नवा दारु गोमूत्रममृता तथा ।
एषां क्वाथे हितं पाण्डुशोफोदररुजावताम् ॥ २६२ ॥

पथ्या (हर्रे), पुनर्नवा, देवदारु, गोमूत्र तथा गुडूची इन द्रव्यों के क्वाथ में गुग्गुलु का सेवन पाण्डुरोगी, शोथ तथा उदर रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिये हितकर होता है ॥ २६२ ॥

भवेन्मात्रा पलं यावत्कर्षमारभ्य मध्यमा ।
जीर्णेऽश्नीयान्मुद्गयूषविहितैर्मात्रया नरः ॥ २६३ ॥
पयसा षष्टिकान्नं तु शालीनामोदनं मृदु ।

गुग्गुलु की एक तोला से लेकर एक छटांक तक मध्यम मात्रा होती है। मनुष्य औषधि का परिपाक हो जाने पर मात्रापूर्वक मूंग का यूष सेवन करे साठी धान तथा जड़हन धान का मुलायम भात दूध के साथ भक्षण करे ॥ २६३ ॥

दिनानि सप्त प्रथमा मध्यमा द्विगुणा ततः ॥ २६४ ॥
त्रिगुणा परमा मात्रा विज्ञेया योगचिन्तकैः ।

गुग्गुलु की प्रथम मात्रा सात दिनतक, मध्यम मात्रा चौदह दिन तक तथा परमा (उत्तम) मात्रा एक्कीस दिन तक सेवन करने के लिये योगवेत्ता गण कहते हैं ।

सेवेत गुग्गुलुं योगैर्वर्षे वर्षे नरः क्रमात् ॥ २६५ ॥
मेधान्वितो गृध्रदृष्टिरास्येनाप्तसुगन्धिना ।
अक्षीणवीर्यो नारीषु भवेद्गच्छन्मुहुर्मुहुः ॥ २६६ ॥
न हीयते वार्धकेऽपि बलरूपवपुर्गुणः ।
शोषमेहपरीताना गुल्मिनामम्लपित्तिनाम् ॥ २६७ ॥
अष्ठीलिनां कुण्डलिनां तथाऽपस्मारकासिनाम् ।
वातरक्तगदार्तानां विसर्पोदरशूलिनाम् ॥ २६८ ॥
भूतोपसृष्टदेहाना गुग्गुलुः परमो मतः ।

मनुष्य क्रमशः योगों के साथ गुग्गुलु को प्रत्येक वर्ष में सेवन करे । इस प्रकार सेवन करने से मनुष्य मेधा से युक्त, गृध्र के सदृश दूरदृष्टिवाला, सुगन्धि मुख से सम्पन्न, अक्षुण्ण वीर्यवाला होकर बार-बार स्त्रियों के साथ रमण करता है । वह वृद्धावस्था में भी बल, रूप तथा शरीरावयवों के गुण से हीन नहीं होता है । अर्थात् युवावस्था की तरह बल, शोभा तथा इन्द्रिय-शक्तियों से परिपूर्ण रहता है । शोषरोग तथा प्रमेहरोग से युक्त, गुल्म के रोगी, अम्लपित्त के रोगी, अष्ठीला (अष्ठीला वृद्धि प्रोस्टेट ग्रन्थि वृद्धि) कुण्डली, अपस्मार तथा कास के रोगी, वातरक्तरोग से पीड़ित, विसर्प एवं उदरशूल से पीड़ित तथा भूतोपसृष्ट (भूतग्रह पीड़ित) शरीरवालों के लिये गुग्गुलु उत्तम औषध कहा गया है॥ २६५–२६८ ॥

सर्वामयहरः श्रीमान् सर्वासुरनमस्कृतः ॥ २६९ ॥
निषेवेद्यः पुरं सम्यक्स गच्छेद्ब्रह्मणा सह ।

यह गुग्गुलु सभी रोगों को नाश करनेवाला है । श्रेष्ठ है तथा सभी असुरों के द्वारा नमस्कार किया गया है । जो व्यक्ति गुग्गुलु को अच्छी तरह सेवन करता है वह ब्रह्मा के साथ चलता है अर्थात् ब्रह्मा के समान दीर्घजीवी होता है ।

कर्षाभिवृद्ध्या नात्यर्थं पलादूर्ध्वं न पाययेत् ॥ २७० ॥
बालवृद्धक्षतक्षीणगर्भिणीनां विवर्जयेत ।

गुग्गुलु की मात्रा एक तोला से लेकर बढ़ाते हुए एक छटांक तक सेवन कराये । एक छटाँक से अधिक मात्रा का प्रयोग न करे । बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण

(घय) तथा गर्भिणी स्त्रियों को गुग्गुलु का सेवन नहीं कराना चाहिए ॥२७०॥

शाकगोरसवर्जी स्यात्सपरीहारभोजनः ॥ २७१ ॥
पानमैथुनयानं च रोगार्तेषु विवर्जयेत् ।
स्वस्थो य उपभुञ्जीत नास्ति तस्य विचारणा ॥ २७२ ॥

गुग्गुलु के सेवन काल में शाक तथा दही को त्याग दे निषिद्ध पदार्थों को त्यागकर भोजन करे। रोग से पीड़ित व्यक्तियों को गुग्गुलु सेवन काल में मद्यपान, मैथुन तथा पैदल चलना त्याग देना चाहिए। जो स्वस्थ (आरोग्य) व्यक्ति हैं वह गुग्गुलु का प्रयोग करे। स्वस्थ व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ २७१–२७२ ॥

गुग्गुलु कल्प समाप्त।

अथातः पलाण्डुकल्पं व्याख्यास्यामः ।

लशुनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम् ।
साक्षादवस्थित यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥ २७३ ॥

गुग्गुलुकल्प के बाद पलाण्डुकल्प कहते हैं।

वायु के लिये लहसुन के बाद पलाण्डु (प्याज) उत्तम औषध है जिस पलाण्डु में शकदेश के राजा का जीवन साक्षात् स्थित रहता है ॥ २७३ ॥

यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विषण्णः ॥२७४॥

जिस पलाण्डु के उपयोग करने से उत्पन्न उत्तम सौन्दर्य से युक्त शक देश के स्त्रियों के कपोलशोभा से लज्जित एवं दुःखी होकर चन्द्रमा रसातल को चला जाता है। २७४ ॥

स्निग्धाङ्गत्वं गौरता कान्तिमत्ता वह्नेर्दीप्तिश्चमेशुद्धिर्वृषत्वम् ।
संप्राप्यन्ते यन्त्रणोद्वेगमुक्तैर्यस्याभ्यासाद्दीर्घमायुः सुखं च ॥ २७५ ॥
अप्याहारे शीलितो दीर्घरात्रं स्वस्थस्य स्यात्तर्पणस्थैर्यकारी ।
तैस्तैर्योगैर्योजितोऽय पलाण्डुस्तांस्तान्रोगान् देहिनामुच्छिनत्ति॥२७६॥

मनुष्य पलाण्डु को प्रतिदिन सेवन करने से शरीर में चिकनाहट, गुरुता, शोभा, प्रदीप्तजाठराग्नि, मैथुन की शक्ति, यन्त्रणा (व्याधि) तथा उद्वेग से मुक्त होकर सुख से पूर्ण दीर्घ (लम्बी उमर) आयु को प्राप्त करता है और भोजन के साथ प्रतिदिन खाने से स्वस्थव्यक्ति को अधिक समय तक तृप्त तथा स्थिर करता है। यह पलाण्डु (प्याज) जिन-जिन रोगनाशक योगों के साथ प्रयोग किया जाता है मनुष्यों के उन-उन रोगों को नाश करता है ॥ २७५–२७६ ॥

रसं रसोनवत्तस्य पीत्वाऽश्नीयात्तथैव च ।
सबीजपूरस्वरसं मदिरां मधु सीधु वा ॥ २७७ ॥

रसोन (लहसुन) के रस के समान ही पलाण्डु का रस भी पीकर बिजौरा नींबू का रस, मदिरा, मधु तथा सीधु (कांजी) भक्षण करे ॥ २७७ ॥

मरकतमणिनीलं नालमस्यातिहृद्यं
परिणतशरगौरं यत्सबीजं सुपुष्टम् ।
ससुरभिसुमुखो वै दुग्धभक्तं च भुक्त्वा
मृदुधवलसुवृत्तैर्मण्डकैरार्तमूर्तिः ॥ २७८ ॥

मरकत मणि के समान नीला पलाण्डु (प्याज) का नाल हृदय को अत्यन्त बल देने वाला है और उसका छिलका निकाला हुआ परिपुष्ट बीज (कन्द) तथा दूध भात मुलायम सफेद वर्ण के गोलाकार मण्डक[1] (मांडा) के साथ भक्षण कर रोगपीडित व्यक्ति सुगन्ध से युक्त सुन्दर मुख वाला हो जाता है ।

बहुशः शोधितैः शुभ्रैः शशाङ्कशकलोपमैः ।
घारिकेन्दुरिकावल्लैः क्षीरोदावयवैरिव (?) ॥ २७९ ॥
यवमुद्गमाषगोधूमबहुविधविकारकल्पितान् भक्ष्यान् ।
काम्बलिकरागषाडवसट्टकखल्लकान् सफलसारान् ॥ २८० ॥
पटुसुरभिमधुरगन्धान्वलाक्षधवलबहुरसान् ।
खर्जूरदाडिमसिताद्राक्षापनसान् यथाऽभ्यसेत् । २८१ ॥

इसी प्रकार अनेक प्रकार से शुद्ध किये हुए, चन्द्रमा के खण्ड के समान सफेद पलाण्डु तथा क्षीर समुद्र के अवयव के समान घारिका (घुल जमाये हुए खोवे का मिष्ठान्न गुजरात में प्रसिद्ध) और इन्दुरिका (बालूशाही आदि मिष्ठान्न विशेष) के साथ यव, मूंग, उड़द तथा गेहूँ के अनेक प्रकार के बनाये हु भक्ष्य पदार्थ, काम्बलिक[2] (दही, इमली, नमक, घृत, तिल एवं माष आदि

---

१. वारिणा कोमलं कृत्वा समितां साधुमर्दयेत् ।
हस्तचालनया तस्याः लोप्त्रीं सम्यक् प्रसारयेत् ॥
अधोमुखघटस्यैतद्विस्तृतं प्रक्षिपेद् वहिः ।
मृदुना वह्निना साध्यः सिद्धो मण्डक उच्यते ॥ (भावप्रकाश)

(मैदा को अच्छी तरह माड़कर मुलायम बना ले । उसके बाद लोई बनाकर हाथ से रोटी की तरह बढ़ा ले और उसे औंधे मुख वाले घड़ा की पेंदी पर रखकर मन्द आंच से पकावे, जब सिद्ध हो जाय तो उतार ले । इसे मण्डक (मण्डा) कहते हैं ।)

२. काम्बलिकोऽपरो दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वितः सुपक्वः ।

को मिलाकर पकाया हुआ यूष), रागषाडव[1] (नवीन आम के फल को गुड़ के साथ पकाकर उसमें तैल तथा सोंठ मिलाकर बनाया हुआ अचार विशेष), सट्टक[2] (षट्टक दही को मथ कर तथा छानकर लवंग, सोंठ, पीपर, मरिच, अनारदाना तथा कर्पूर इन सबों के चूर्ण को मिलाकर बनाया हुआ द्रव पदार्थ षट्टक कहलाता है), तथा खल्लक (लेह्यपदार्थ) आदि फल रस के सहित चोष्य, लेह्यपदार्थ, पटु (नमकीन), मनोरम, मधुर, सुगन्धित, वला (चिकना), अम्ल (मिठास लिये हुए नमकीन), सफेद एवं अनेक प्रकार के रस और खर्जूर, अनार, मिश्री, मुनक्का तथा कटहल के फल को निरन्तर सेवन करे ॥ २७८–२८१ ॥

लभते बलवर्णौजःस्वरसौमनस्यतेजांसि ।
क्षीणशकृद्बधिरोऽपि च रसोनवत्तद्रस पीत्वा ॥ २८२ ॥

इति पलाण्डुकल्पः ।

क्षीणधातुवाला तथा बधिर व्यक्ति भी लहसुन के समान पलाण्डु (प्याज) के रस को पानकर बल, सुन्दरता, ओजशक्ति, स्वर की शुद्धि, सौमनस्यता तथा तेज को प्राप्त करता है ॥ २८२ ॥

पलाण्डु कल्प समाप्त ।

अथातो वृद्धदारुकल्पं व्याख्यास्यामः ।

त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता ।
पत्रैः सदुग्धैर्मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलतुल्यैर्घनकन्दमूला ॥ २८३ ॥
पवनविषश्वदंशवनितादिषु कामचरा
विविधमनः शरीरगदनिवृत्तिकरी ।
भुवि परमौषधिर्महिषवल्लिरिति प्रथिता
क्वचिदपि वृद्धदारुकद्वय त्वपि वेल्लरिका ॥ २८४ ॥

---

1. क्वथितं तु गुडोपेतं सहकारनवं फलम् ।
तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाढवः ॥ (नलः)
या राग—
सितारुचकसिन्धुत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः ।
जम्बुफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥
पाडवा पुनर्मधुराम्ल लवण सुगन्धि द्रव्यजा नानाविधाः ।

2. लवङ्ग व्योष खण्डैस्तु दधिनिर्मथ्य गालितम् ।
दाडिमीबीज संयुक्तं चन्द्रचूर्णावचूर्णितम् ।
ष (स) ट्टकस्तु प्रमोदाख्यो नलादिभिरुदाहृतः ॥ (नलः)

पलाण्डु कल्प के बाद वृद्धदारुक कल्प कहते हैं।

वृद्धदारुककल्प—त्रिकोणाकार तनावाली, अनेक शाखाओं से युक्त, फल पीले, फूल लालवर्ण के, दूध एवं मुलायम रोमों से युक्त, पान के पत्ते के सदृश-पत्रवाली, कड़े कन्द के समान मूलवाली, वात, विष, कुत्ता का काटना तथा स्त्रियों के रोगों में यथेष्ट प्रयोग होनेवाली, अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों को निवृत्त करने वाली संसार में उत्तम-औषध अहिपवल्ली नाम से प्रसिद्ध है, कहीं कहीं पर दोनों वृद्धदारुक "वेवलरिक्षा" नाम से भी प्रचलित हैं ॥ २८३-२८४ ॥

वसन्ते संगृहीतानि शोषितानि तथाऽऽतपे ।
वृद्धदारुकमूलानि संचूर्ण्य सर्पिषा सह ॥ २८५ ॥
आप्लाव्य घृतपात्रस्थ धान्ये पक्षमुपेक्षितम् ।
लिह्यादनुपिबन् क्षीरं जीर्णे क्षीरघृताशनः ॥ २८६ ॥
तत्प्रयोगाज्जराजीर्णो वृद्धो दारुकतामियात् ।
भग्नास्थि गद्गदशिशुः स्थूलोऽपास्यान्यरूपताम् ॥ २८७ ॥

वृद्धदारुक के मूल को वसन्त ऋतु में लेकर धूप में सुखाकर चूर्ण बना ले और घृत में मिलाकर घृत के पात्र में बन्द कर धान्य की राशि में एक पक्ष (पन्द्रह दिन) तक रक्खे। इसके बाद इसमें से लेकर चाटे और बाद में दूध पान करे। औषध का परिपाक हो जाने पर दूध तथा घृत का आहार करे। इस कल्प का प्रयोग करने से बुढ़ापा से जीर्ण वृद्ध भी दारु के सदृश हो जाता है अर्थात् युवा के समान दृढ़ हो जाता है। भग्न हड्डीवाला, हकलाकर बोलनेवाला बालक तथा अत्यधिक मोटा व्यक्ति अपने रूप को त्याग कर प्राकृत रूप को प्राप्त करता है ॥ २८५-२८७ ॥

निरस्ताशेषदोषास्रनखभेदाद्युपद्रवः ।
अपस्मारग्रहोन्मादपापालक्ष्मीविवर्जितः ॥ २८८ ॥
दीप्ताग्निर्बलवान् वाग्मी जीवेद्वर्षशतानि षट् ।

सम्पूर्ण वातरक्त तथा नखभेदादि उपद्रवों से छुटकारा पाकर अपस्मार, ग्रहोन्माद, पाप (रोग) और दरिद्रता से रहित होकर प्रदीप्त-अग्निवाला बलवान्, तथा अत्यधिकभाषणशक्ति को प्राप्तकर छः सौ वर्ष जीवित रहता है।

चूर्णितैरश्वगन्धायाः संयुतं त्रिशता पलैः ॥ २८९ ॥
तत्तुल्यं दारुकं प्राश्य पयसा सर्पिषाऽथवा ।
जीर्णे पूर्ववदश्नीयात् स जीवेच्छरदां शतम् ॥ २९० ॥
वाजिवेगो गजप्राणः सुरूपो भास्करद्युतिः ।

अश्वगन्धा का चूर्ण तीस पल तथा वृद्धदारुक (विधारा) का चूर्ण तीस पल दोनों को मिलाकर दूध या घृत के साथ भक्षण करता है और औषध का परिपाक हो जाने पर जो पूर्ववत् (दूध तथा घृत) भोजन करता है वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है। घोड़ा के समान वेगवाला, हाथी के समान प्राणवाला तथा सूर्य की कान्ति के सदृश सुन्दर रूपवाला हो जाता है।

योलिह्यात्सर्पिषा चूर्णं वृद्धदारुकमूलजम् ॥ २९१ ॥
सप्ताहं यूषभक्ताशी स्यात्स किन्नरतुल्यवाक् ।

जो व्यक्ति वृद्धदारुक (विधारा) के मूल का चूर्ण घृत के साथ एक सप्ताह तक चाटता है और मूंग का यूष तथा भात खाता है वह किन्नर के समान बोलनेवाला (या गानेवाला) हो जाता है।

लिहन् वा मधुसर्पिर्भ्यां धात्रीस्वरसभावितम् ॥ २९२ ॥
क्षीरेण वा पिबेन्मासं शतं जीवेदरुक् सुखी ।

विधारा के चूर्ण को आँवला के रस से भावित कर मधु तथा घृत के साथ (विषम मात्रा में) चाटता या दूध के साथ एक मास तक पान करता है वह रोगरहित होकर सुखपूर्वक सौ वर्ष जीवित रहता है।

वृद्धदारुकमूलानां रसं क्षीरेण यः पिबेत् ॥ २९३ ॥
तत्कल्कसिद्ध सर्पिर्वा स जीवेन्निरुजः शतम् ।

विधारा के मूल का रस दूध के साथ जो व्यक्ति पान करता है अथवा विधारा के कल्क से सिद्ध घृत का पान करता है वह रोगरहित होकर एक सौ वर्ष तक जीता है।

पिप्पलीत्रिफलादार्वीमहौषधपुनर्नवाः ॥ २९४ ॥
पृथग्दशपलाः सर्वैस्तुल्यांशो वृद्धदारुकः ।
धान्याम्लपीतं तच्चूर्णं जीर्णे स्वच्छन्दभोजिनः ।
सदुष्टवातान् हन्त्याशु गुल्मोदरगरादिकान् ॥ २९५ ॥

इति वृद्धदारुककल्पः ॥

पीपर, त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), दारुहल्दी, सोंठ तथा पुनर्नवा अलग-अलग दश-दश पल (छटाँक) इन द्रव्यों के बराबर विधारा का चूर्ण मिलाकर धान्याम्ल (धान्यकाञ्जी) के साथ पान करने से पच जाने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार भोजन करनेवाले व्यक्तियों के दुष्टवातरोग, गुल्मरोग, उदररोग तथा गर (संयोगज) विषजन्य रोगों को शीघ्र ही नाश करता है ॥ २९४–२९५ ॥

वृद्धदारुककल्प समाप्त।

अथातः कुष्ठकल्पं व्याख्यास्यामः ।

पलशतमविनष्टं कुष्ठचूर्णस्य यत्नात्
समघृतमधुयुक्तं स्थापितं सारभाण्डे ।
सुविहितमथ पश्चाद्धान्यराशौ न्यसेत्त-
द्दिवसशतमशीति यः पुमान् सिद्धिकामः ॥ २९६ ॥
अतः परं देववरं नमस्य तथाऽस्य पूजां महतीं च कृत्वा ।
पलद्वयं चाथ पलत्रयं वा यथोत्तरं ह्यग्निबलं समीक्ष्य ॥ २९७ ॥
मासोपयोगेन वराङ्गनाभिर्मासद्वयेनैव तु यक्षिणीभिः ।
मासत्रयं यः पुरुषस्तु खादेज्जीयेत विद्याधरसुन्दरीभिः ॥ २९८ ॥
वरिषशतसमग्रं नागराजोपवीर्यः
सुभग इव वयःस्थो वेगवान् संप्रहृष्टः ।
गरुडसदृशदृष्टिस्तप्तहेमावदातः
सुरतरुचिरवारं याति नारीषु भोक्ता ॥ २९९ ॥

इति कुष्ठकल्पः ।

कुष्ठ (कूठ) कल्प—कुष्ठ (कूठ) का चूर्ण प्रयत्नपूर्वक एक सौ पल लेकर समभाग घृत तथा मधु मिलाकर घृत के पात्र में भर दे और उसको अच्छी तरह बन्द कर धान्य की राशि (ढेरी) में एक सौ अस्सी दिन रक्खे। इसके बाद जो मनुष्य सिद्धि को चाहता है वह देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र को नमस्कार कर तथा उनकी विधिवत् विस्तृत रूप में पूजा कर दो पल (दो छटाँक) या उत्तरोत्तर तीन पल (तीन छटाँक) की मात्रा में अग्नि तथा बल के अनुसार एक मास तक उपयोग करने से उत्तम स्त्रियों के साथ तथा दो मास तक प्रयोग करने से यक्षिणियों के साथ विजय प्राप्त करता है। किन्तु जो पुरुष तीन मास तक खाता है वह विद्याधरादि अप्सराओं के साथ विजय प्राप्त करता है। उपरोक्त योग को सेवन करनेवाला व्यक्ति सिंह की तरह वीर्य को प्राप्तकर सम्पूर्ण एक सौ वर्ष तक इस संसार में सुन्दर स्वरूप तथा सुन्दर अवस्था से युक्त, वेगवाला, अत्यन्त हर्षित, गरुड़ के सदृश दृष्टि तथा सन्तप्त सोना के समान कान्तिमान् होकर स्त्रियों के साथ अपनी रुचि के अनुसार सुरत (मैथुन) करता है।

कुष्ठकल्प समाप्त ।

अथातस्तुवरककल्पं व्याख्यास्यामः ।

वृक्षास्तुवरका नाम पश्चिमार्णवतीरजाः ।
वीचीतरङ्गविक्षोभमारुतोद्धूतपल्लवाः ॥ ३०० ॥

तेभ्यः फलान्याददीत सुपक्वान्यम्बुदात्यये।
मज्जां फलेभ्यश्चादाय शोषयित्वा विचूर्ण्य च ॥ ३०१ ॥
तिलवत् पीडयेद्द्रोण्यां क्वाथयेद्वा कुसुम्भवत्।
तत्तैलं संभृतं भूयः पचेदासलिलक्षयात् ॥ ३०२ ॥
अवतार्य करीषे च पक्षमेकं निधापयेत्।
स्निग्धस्विन्नो हृतमलः पक्षादुद्धृत्य यत्नतः ॥ ३०३ ॥
चतुर्थभक्तान्तरितः प्रातः पाणितलं पिबेत्।
मन्त्रेणानेन पूतस्य तैलस्य दिवसे शुभे ॥ ३०४ ॥
मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः ॥ ३०५ ॥

कुष्ठ कल्प के बाद तुवरक कल्प कहते हैं।

तुवरक कल्प—समुद्र की वीचियों के विक्षोभ से उत्पन्न वायु के द्वारा उड़ाये गये पल्लववाले पश्चिम समुद्र के तीर पर उत्पन्न तुवरक नाम के वृक्ष हैं। उन वृक्षों से वर्षाऋतु के अन्त में (या वर्षाऋतु के प्रारम्भ में) अच्छी तरह पके हुए फलों को ग्रहण करे और उन फलों की मज्जा निकाल कर, सुखाकर तथा चूर्ण कर द्रोणी (तैल निस्सारण यन्त्र) में तिल के समान पीड़न करे (पेरे) अथवा कुसुम्भ (बर्रे) की तरह क्वाथ करे। उससे निकले हुए तैल को पानी जल जाने तक पुनः पकावे और उतार कर सूखे गोबर में एक पक्ष (पन्द्रह दिन) तक रक्खे। पन्द्रह दिन बाद यत्नपूर्वक निकाल कर छान ले। इस प्रकार स्निग्ध, मलरहित तैल एक पाणितल (एक तोला) प्रातः काल चार बार भोजन करने के बाद (चतुर्थभक्तान्तरित, चार बार भोजन करने के बाद पुनः दूसरी मात्रा चार बार भोजन करने के बाद इस तैल को सेवन करे) पान करे। इस तैल को शुभ दिन में निम्न मन्त्र से पवित्र कर पान करना चाहिए। मन्त्रार्थ—हे मज्जा के सार ! महान् पराक्रमी तैल वर ! सभी दूषित धातुओं को शुद्ध करें। शंख, चक्र तथा गदा को हाथ में धारण किये हुए अच्युत भगवान् विष्णु आप को आज्ञा दे रहे हैं।

तेनास्योर्ध्वमधस्ताच्च दोषा यान्त्यसकृत्ततः।
सायमस्नेहलवणां यवागूं शीतलां पिबेत् ॥ ३०६ ॥
पञ्चाहानि पिबेत्तैलमित्थं वर्ज्यान् विवर्जयेत्।
पक्षान्मुद्गरसान्नाशी सर्वकुष्ठैः प्रमुच्यते ॥ ३०७ ॥

इस कल्प को प्रयोग करने से प्रयोगकर्ता के दोष ऊर्ध्वमार्ग तथा अधोमार्ग से अनेक बार में निकल जाते हैं। इसके बाद सायंकाल घृत तथा नमक रहित यवागू (लपसी) शीतल होने पर भक्षण करे। इस प्रकार पांच दिन

तक (पांच बार) तैल को पान करे और त्याज्य पदार्थों को त्याग दे। इस तरह एक पक्ष (पन्द्रह दिन) के बाद मास रस तथा अन्न खानेवाला सभी कुष्ठों से मुक्त हो जाता है ॥ ३००–३०७ ॥

तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ।
निहन्ति पूर्ववत्पक्वं पिबेन्मासं सुयन्त्रितः ॥ ३०८ ॥
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ।
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं शीर्णाङ्गं क्रिमिभक्षितम् ॥ ३०९ ॥
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत कुष्ठिनं नरम् ।

उसी तुवरक के तैल को तीन गुने खैर के क्वाथ में अच्छी तरह सिद्ध कर नियमपूर्वक एक मास तक पान करे। यह पूर्ववत्, सभी प्रकार के कुष्ठों को नाश करता है। इसी तैल को देह में अभ्यङ्ग कर नियमित बताये हुए भोजन को करे। इस प्रयोग से विकृत स्वर, रक्तनेत्र, तथा सड़े हुए कृमि युक्त कुष्ठरोग से पीड़ित मनुष्य का शीघ्र कुष्ठरोग नष्ट हो जाता है।

सर्पिर्मधुयुतं पीत तदेव खदिराद्विना ॥ ३१० ॥
पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ।
एकान्तरं तौवरकं च तैलं पिबेद्धिताशी नियमेन मासम् ।
प्रभिन्नकुष्ठो गलिताङ्गदेशस्त्वचं त्यजेत् सर्प इवाशु जीर्णाम् ॥ ३११ ॥
उपयुज्य योगमखिलं प्रतिदिनमेवं द्विकालमभियुक्तः ।
कुष्ठी कुष्ठमपोहति विशीर्णकण्ठोष्ठमांसमपि ॥ ३१२ ॥

इति तुवरास्थिकल्पः संपूर्णः ॥

वही तुवरक तैल खैर के बिना घृत तथा मधु मिलाकर पान करने से दो सौ वर्ष आयु प्रदान करता है। हितकर भोजन करनेवाला इस तुवरक तैल को एक दिन का अन्तर देकर नियमपूर्वक एक मास तक पान करे। इस प्रकार सेवन करने से कुष्ठ से छिन्न भिन्न तथा सड़े हुए अंगवाला मनुष्य विकृत जीर्ण त्वचा को त्याग देता है। जैसे सांप अपने पुराने केंचुल को छोड़ देता है। कुष्ठ का रोगी सावधान होकर इन सम्पूर्ण योग को प्रति दिन दोनों समय सेवन कर सड़े हुए कण्ठ, ओष्ठ, मांस वाले कुष्ठ रोगों को दूर करता है। अर्थात् जिस कुष्ठरोग में कण्ठ तथा ओष्ठ के मांस सड़ गये हैं उस कुष्ठरोग को भी दूर कर देता है ॥ ३०८–३१२ ॥

तुवरककल्प समाप्त ॥

अथातोसोमराजीकल्पं व्याख्यास्यामः ।

असनखदिरयूषैर्भावितां सोमराजीं
मधुघृतशिखिपथ्यालोहचूर्णैरुपेताम् ।
शरदि समवलिहानः पारिणामान्विकारान्
त्यजति हितमिताशो तद्वदाहारजातान् ॥ ३१३ ॥

तुवरक कल्प के बाद सोमराजी कल्प कहते हैं ।

सोमराजी कल्प—असन (विजयसार) तथा खैर के क्वाथ से भावित सोमराजी (बाकुची) के चूर्ण को मधु, घृत तथा शिखी (चित्रक), हर्रे एवं लौह चूर्ण मिलाकर शरद् ऋतु में चाटनेवाला हितकर तथा परिमित भोजी मनुष्य परिणामजन्य विकार तथा आहारजन्य विकारों को त्याग देता है अर्थात् यह योग परिणामशूल एवं भोजन सम्बन्धी विकारों को नाश करता है ॥३१३॥

तीव्रेण कुष्ठेन परीतमूर्तिर्यः सोमराजीं नियमेन खादेत् ।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजं वपुषाऽतिशेते ॥ ३१४ ॥

भयंकर कुष्ठ से व्याप्त (जीर्णशीर्ण) शरीरवाला जो व्यक्ति सोमराजी (बाकुची) के चूर्ण को नियमपूर्वक काले तिल का चूर्ण मिलाकर एक वर्ष तक खाता है वह सोमराज (चन्द्रमा) से भी अधिक सुन्दर शरीर से युक्त होता है ॥ ३१४ ॥

ये सोमराज्या वितुषीकृतायाश्चूर्णीकृतायाः पयसि शृतायाः ।
उद्धृत्य सारं मधुना लिहन्ति तक्रं तथैवानु पिबन्ति चान्ते ॥३१५॥
कुष्ठिनः शीर्यमाणाङ्गास्ते जाताङ्गुलिनासिकाः ।
भान्ति वृक्षा इव पुनः प्ररूढनपल्लवाः ॥ ३१६ ॥

जो व्यक्ति बाकुची को फोड़कर उसको चूर्ण बनाकर तथा दूध में पकाकर और उससे घृत निकाल कर, उस घृत को मधु के साथ चाटते हैं और अन्त में उसी मट्ठा को पान करते हैं वे कुष्ठरोग से जीर्णशीर्ण अंग वाले कुष्ठ के रोगी पुनः अंगुली तथा नासिका से सम्पन्न होकर उत्पन्न नवीन पल्लव से युक्त वृक्ष की तरह सुशोभित होते हैं ॥ ३१५–३१६ ॥

गोमूत्रे सप्तरात्रं शशिकलपलं वासितं मोचयित्वा
कुर्याच्छायाविशुष्कां पृथगिति च प्रापुनाटं सुपिष्टम् ।
अंशस्ताभ्यां तथांऽशः कृमिरिपुदहनस्फोटकृद्भ्यः स पूर्णो
गोमूत्रेणोपयुक्तः प्रमितहितभुजः श्वित्रमाश्वेव हन्ति ॥३१७॥

इति सोमराजीकल्पः ।

सोमराजी (बाकुची) शशिकल पल (सोलहपल सोलह छटांक) लेकर सात रात्रि तक गाय के मूत्र में भावित करने के बाद छिलका निकाल कर

छाया में सुखा ले, और उसी प्रकार प्रपुन्नाट (चकवड़) को भी गोमूत्र में भावित एवं छायाशुष्क कर पीस ले। इन दोनों को मिलाकर एक भाग तथा क्रिमिरिपु (वायविडंग), दहन (चित्रक) तथा स्फोटकृत् (कुष्ठ कूठ) तीनों मिलाकर एक भाग का चूर्ण, इन सबों को मिलाकर बाकुची का चूर्ण गोमूत्र के साथ सेवन करने से परिमित (हलका) तथा हितकर भोजन करनेवाले व्यक्ति का श्वित्र कुष्ट शीघ्र ही नाश होता है।

सोमराजीकल्प समाप्त॥

अथातो बीजपूरककल्पं व्याख्यास्यामः।

सिन्धुत्थेन घनागमे तु सितया काले शरत्सञ्ज्ञके
हेमन्ते च कणार्द्रहिङ्गुरुचकैः सिद्धार्थतैलान्वितैः।
एतैस्तैः शिशिरे मधावपि युतं ग्रीष्मे गुडेनान्वितं
स्वस्थानामपि बीजपूरकमिदं प्राहुः प्रशस्तं बुधाः॥२१८॥

सोमराजी कल्प के बाद बीजपूरक कल्प कहते हैं।

बीजपूरक कल्प—बिजौरा निम्बू वर्षाऋतु में सेन्धानमक के साथ, शरत्काल में मिश्री के साथ, हेमन्त ऋतु में पीपर, सोंठ, हिंगु तथा रुचक (सौवर्चल) नमक इन द्रव्यों के चूर्ण को सरसों के तैल में मिलाकर उसके साथ, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में भी पूर्वोक्त द्रव्यों के ही साथ और ग्रीष्म ऋतु मे गुड़ के साथ सेवन करना स्वस्थ व्यक्तियों के लिये भी वैद्यगण प्रशस्त कहते हैं॥२१८॥

विश्वासैन्धवसंयुतं च शिशिरे क्षौद्रैर्वसन्तोदये
ग्रीष्मे क्षौद्रकणान्वितं च विमलैर्हिङ्ग्वष्टकैः प्रावृषि।
युक्तं शर्करया शरद्यथ च हेमन्ते सहिङ्गुत्रय
सेव्यं यद्विदुषा त्रिदोषशमने श्रीमातुलुङ्गं सदा॥ २१९॥

इति बीजपूरककल्पः।

शिशिर ऋतु में सोंठ तथा सेन्धानमक मिलाकर, वसन्त-ऋतु में मधु के साथ, ग्रीष्म ऋतु में मधु तथा पीपर के चूर्ण के साथ, वर्षाऋतु में शुद्ध हिंग्वष्टक चूर्ण के साथ, शरद् ऋतु में शक्कर के साथ, हेमन्त ऋतु में हिंगु तथा सोंठ, पीपर, मरिच के चूर्ण के साथ बिजौरा निम्बू को त्रिदोष को शान्त करने के लिये सर्वदा विद्वानों को सेवन-करना चाहिए॥ २१९॥

बीजपूरककल्प समाप्त॥

अथातः कुङ्कुमकल्पं व्याख्यास्यामः।

तीक्ष्णमुष्णं तथा वर्ण्यं हृद्यं पित्ताविरोधि च।
कटुकं मधुरं पाके विषघ्नं कुङ्कुमं स्मृतम्॥ २२०॥

तस्य प्रयोगं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

बीजपूरककल्प के बाद कुङ्कुमकल्प कहते हैं ।

कुंकुम कल्प—कुङ्कुम (केशर) तीक्ष्ण, उष्ण, कान्तिप्रद, हृदयपुष्टिकारक, पित्ताविरोधी (पैत्तिक रोगों मे भी लाभदायक), पाक में कटु तथा मधुर और विषनाशक कहा गया है । इसका प्रयोग क्रमशः विधिपूर्वक कहते हैं ।

आस्थापितं यथान्यायं पुनः स्नेहेन तर्पितम् ।। ३२१ ।।
करणे तिथिसंपन्ने गतौ वा मन्दभास्करे ।
अनवं कुङ्कुमं श्रेष्ठं श्लक्ष्णं दृषदि पेषयेत् ।। ३२२ ।।
त्रिवृच्चित्रकदन्तीनां क्वाथेन सह संयुतम् ।
मासं वाऽप्यर्धमासं वा यः पिबेत्प्रयतः शुचिः ।। ३२३ ।।
जीर्णे यूषरसक्षीरैः पुराण षष्टिकं भजेत् ।
न तस्य मूत्रविट्संगो नाश्मरी न भगन्दरः ।। ३२४ ।।
न शोषो नैव च व्याधिर्न गराच्च विषाद्भयम् ।
नोष्णवातः प्रमेहो वा न मूत्राघातसंभवः ।। ३२५ ।।
बस्तिसंशोधनाच्छ्रेष्ठमायुष्यं त्वक्प्रसादनम् ।
मेधारोग्यकरं ह्येतत्पवित्रं परमं स्मृतम् ।। ३२६ ।।

इति कुङ्कुमकल्पः ।।

विधिपूर्वक रक्खा हुआ और पुनः स्नेह के साथ तर्पित किया हुआ पुराने उत्तम कुंकुम को शुभ तिथि तथा करण में अथवा सूर्य के मन्द हो जाने पर (सूर्य के दक्षिणायन होने पर) पत्थर के ऊपर महीन पीसकर और निशोथ, चित्रक तथा दन्ती के क्वाथ के साथ मिलाकर एक महीना या आधा महीना (पन्द्रह दिन) भी पवित्र होकर संयमपूर्वक जो पान करता है तथा पच जाने पर यूष, मांसरस तथा दूध के साथ साठी धान का भात खाता है उसको मूत्रविबन्ध तथा मलबिवन्ध नहीं होता है। अश्मरी (पथरी), भगन्दर, शोष (सूखा) रोग, तथा किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती है और संयोगज विष से भय नहीं होता है । इसके अतिरिक्त, उष्णवात, प्रमेह तथा मूत्राघात उत्पन्न नहीं होता है । यह कल्प वस्ति को संशोधन करने में श्रेष्ठ है, आयु प्रदान करनेवाला है, त्वचा को स्वच्छ करनेवाला, धारणा शक्ति एवं आरोग्य को देनेवाला है । यह कुंकुम कल्प अत्यन्त पवित्र कहा गया है ॥ ३२०–३२६ ॥

कुंकुमकल्प समाप्त ॥

अथात एरण्डकल्पं व्याख्यास्यामः।

वृष्यं सरं सूक्ष्मकटूष्णतीक्ष्णं कषायमेध्यं मधुरं विकाशि।
एरण्डतैलं स्मृतिकान्तिमेधाशुद्धाग्निधीवृद्धिविशेषकारि॥ ३२७॥
रक्तापहं वातविकारहन्तृ स्रोतःसु शुक्रे च विशुद्धकारि।
माङ्गल्यमायुर्बलपुत्रदातृ वर्णप्रसादस्य परस्य हेतुः॥ ३२८॥

कुङ्कुम कल्प के बाद एरण्ड कल्प कहते हैं।

एरण्ड कल्प—एरण्ड का तैल वीर्यवर्द्धक, सर (दस्तावर), सूक्ष्म, कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, कषाय, मेध्य, मधुर तथा[1] विकाशि है और स्मरण शक्ति, कान्ति, धारणा शक्ति, शुद्ध अग्नि, धी तथा बुद्धि को विशेष रूप से बढ़ानेवाला है और रक्तरोग को नाश करनेवाला वात विकार को दूर करनेवाला है। स्रोतों तथा शुक्र को शुद्ध करता है, माङ्गल्य (कल्याणकारक) है। आयु, बल और पुत्र को देनेवाला तथा वर्ण को उत्तम कान्ति युक्त बनाता है।

उत्कृष्टमध्यावरत्रिप्रकारं त्रिद्व्येकसंख्यानियतैः फलैस्तु।

इसका प्रयोग तीन प्रकार का होता है, उत्तम, मध्यम तथा अवर। तीन फल का प्रयोग उत्तम, दो फल का प्रयोग मध्यम तथा एक फल का प्रयोग अवर होता है।

शुण्ठीयवैरण्डकृतेन सामे कौलत्थयूषेण गदेऽनिलोत्थे॥ ३२९॥
आरग्वधक्षीरफलत्रिकैश्च मृद्वीकया वाऽसृजि वातपूर्वे।
मूत्रेण गोः काञ्जिकमस्तुना वा कफे प्रवृद्धे सुरया तु शूले॥३३०॥
मण्डं पिबेत् षाष्टिकमोदनं वा जीर्णावसाने शृतवारिपायी।
नतूपयुञ्जीत नरोऽव्यवायं गुरूनभिष्यन्दकरांश्च भोज्यान्॥ ३३१॥

एरण्ड का तैल आम दोष में सोंठ, यव तथा एरण्ड क्वाथ के साथ, वातजन्य रोग में कुरथी के यूष के साथ, वातरक्त में अमलतास के क्वाथ, दूध तथा त्रिफला के क्वाथ से या मुनक्का से कफ के बढ़ने पर गाय के मूत्र या काञ्जिक तथा मस्तु के साथ पान करे। शूल में तुलसी के रस के साथ पान करे। पच जानेपर मण्ड पान करे या साठी का भात खाय और पकाकर शीतल किया हुआ जल पान करे। एरण्ड कल्प के प्रयोगकाल में मनुष्य, व्यवाय (मैथुन), गुरु पदार्थ तथा अभिष्यन्दिकारक पदार्थ भोजन न करे।

न पेयमेतन्मदपाण्डुगुल्मतृट्छर्दिमूर्च्छार्तिविसूचिकासु।
न गर्भिणीभिर्न च रक्तपित्ते नैव ज्वरे वा तिमिरोपसर्गे॥ ३३२॥

---

1. ओजों को सुखाकर सन्धियों के बन्धन को शिथिल करनेवाले को विकाशि कहते हैं।

अतोऽन्यथा तस्य निषेवितस्य कर्तुं कमीशो गुणरत्नमूल्यम् ।

एरण्ड तैल को मदात्यय, पाण्डुरोग, गुल्मरोग, श्वास, वमन, मूर्च्छा, पीड़ा तथा विसूचिका (हैजा) में न पान करे । इसके अतिरिक्त गर्भिणी न पान करे, और रक्तपित्त में ज्वर में एवं तिमिररोग के उपसर्ग में पान नहीं करना चाहिए । इन रोगों एवं अवस्थाओं के अतिरिक्त सेवन करनेवाले व्यक्ति के गुण रूपी रत्न के मूल्य को अङ्कित करने में कौन समर्थ हो सकता है । अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य रोगों एवं अवस्थाओं में सेवन करने से अत्यधिक लाभ होता है ।

दग्धानां जरया विरूपिततनोर्हीनाग्निवीर्यौजसां
दग्धानामिव साग्निना समरुता दावाग्निना माधवे ।
इत्युत्सार्य पुराणभावमखिलं पुंसां दशामन्वह-
मभ्यासेन रसायनीभवदिदं धत्ते वपुर्यौवनम् ॥ ३१२ ॥

इत्यैरण्डतैलकल्पः ।

इति श्रीवैद्यसोढलग्रथिते गदनिग्रहेऽष्टमे रसायनतन्त्रखण्डे
ओषधिकल्पाधिकारो द्वितीयः ।

एरण्ड तैल रसायन होने के कारण प्रति दिन सेवन करने से वृद्धावस्था के कारण कुरूप शरीर वाले, जले हुए तथा क्षीण बल, वीर्य एवं ओज वाले पुरुषों की सम्पूर्ण पुरानी दशा (वृद्धावस्था तथा जीर्णशीर्णावस्था) को निकाल कर नवीन युवावस्था के शरीर को धारण कराता है । जैसे अग्नि एवं वायु से युक्त दावाग्नि से जले हुए वृक्ष वसन्त ऋतु में नवीन पत्ते आदि को धारण करते है । अर्थात् जिस प्रकार दावाग्नि से जले हुए वृक्ष वसन्त ऋतु मे नवीन पल्लवों से युक्त हो जाते हैं वैसे ही वृद्धावस्था के कारण दग्ध, कुरूप, तथा जिनकी अग्नि, बल, तथा ओज क्षीण हो गये हैं उन पुरुषों की पुरानी दशाओं, को निकाल कर यह तैल रसायन होने के कारण प्रति दिन सेवन करने से नवीन युवा अवस्था के शरीर को धारण कराता है ।

एरण्डकल्प समाप्त ॥

श्री वैद्य सोढलविरचितगदनिग्रह के अष्टम रसायनतन्त्रखण्ड में
दूसरा औषधि कल्पाधिकार समाप्त ॥

अथ भेषजकल्पाधिकारस्तृतीयः ।

औषधग्रहणयोग्या भूमिः, औषधग्रहणविधिश्च—

धन्वसाधारणे देशे समे सन्मृत्तिके शुचौ ।
श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते ॥ १ ॥
मृदौ प्रदक्षिणजले कुशरोहिषसंस्कृते ।
अफालकृष्टे नाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरैः ॥ २ ॥
शस्यते भेषजं जातं युक्तं वर्णरसादिभिः ।
जन्त्वजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतैः ॥ ३ ॥
भूतैश्छायातपाम्ब्वाद्यैर्यथाकालं च सेवितम् ।
अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमाश्रितम् ॥ ४ ॥
अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः ।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च कल्पयेत् ॥ ५ ॥

औषध ग्रहण योग्य भूमि तथा औषध ग्रहण विधि—[1]धन्व साधारण (सामान्य) समतल अच्छी मिट्टी वाले तथा पवित्र देश में, श्मशान, देवता का स्थान, बिल, वाल्मिक (बिमवट) आदि से रहित, मृदु, जिस स्थान पर जल पहुँचता हो, कुश तथा दूर्वा आदि से संस्कृत, बिना जोते हुए, बड़े-बड़े वृक्षों से रहित स्थान में उत्पन्न, वर्ण (प्राकृत स्वरूप) तथा मधुर रसादि से युक्त औषध प्रशस्त होता है। जिसमें कीड़े न लगे हों जो दावाग्नि से जला न हो, जो विकारों (रोगों) से दूषित न हो, जिसको समय समय पर छाया धूप, जल आदि मिलता हो ऐसे उत्तर दिशा में स्थित परिपक्व, गहराई में उत्पन्न जड़वाले एवं स्वस्थ औषध को कल्याणकारक आचरण करनेवाला (उपकारी), श्रद्धालु, पवित्र, मनुष्य व्रत धारण कर ग्रहण करे और अच्छे समय (शुभ मुहूर्त) में उसका कल्प तैयार करे ॥ १–५ ॥

सक्षीरं तदसंपत्तावनतिक्रान्तवत्सरम् ।
ऋते गुडघृतक्षौद्रधान्यकृष्णाविडङ्गतः ॥ ६ ॥

यदि क्षीरवाला गीला ताजा औषध प्राप्त न हो सके तो एक वर्ष के अन्दर का पुराना औषध ग्रहण कर प्रयोग में लाना चाहिए किन्तु गुड़, घृत, मधु, धान्य (धान गेहूँ आदि 'या धनिया'), पीपर और वायविडङ्ग पुराना ही ग्रहण करना चाहिए।

---

१. न मरुस्थल और न आनूप हो उसे धन्वसाधारण देश कहते हैं।

पयो वाष्कायणं (?) ग्राह्यं विण्मूत्रं तच्च नीरुजम् ।

वाष्कायण (बकेना 'एक वर्ष की ब्यायी हुई गाय या अन्य जानवर को वाष्कायण कहते हैं) गाय का दूध ग्रहण करना चाहिए तथा स्वस्थ गाय का मल (गोबर) एवं मूत्र ग्रहण कर प्रयोग करना चाहिए ।

कषायभेदास्तन्निरूपणं च—

कषाययोनयः पञ्च रसा लवणवर्जिताः ॥ ७ ॥
रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्चेति प्रकल्पनाः ।
पञ्च चैव कषायाणां पूर्वं पूर्वं बलाधिकाः ॥ ८ ॥

कषाय के भेद तथा उनकी निरुक्ति—लवण रस को छोड़ कर शेष पाँच रस (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त) वाले पदार्थ कषाय के उत्पत्तिस्थान होते हैं । ये कषाय पाँच प्रकार के होते हैं । रस (स्वरस), कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट । ये उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व वाले अधिक गुण वाले होते हैं । अर्थात् फाण्ट से अधिक गुणवान् शीतकषाय, शीतकषाय से शृत (क्वाथ) कषाय, क्वाथ से कल्क तथा कल्क से अधिक स्वरस गुणवान् होता है ॥७–८॥

सद्यः समुद्धृतात्क्षुण्णाद्यः स्रवेत्परपीडितात् ।
स्वरसः स समुद्दिष्टः, कल्कः पिष्टो द्रवाप्लुतः ॥ ९ ॥
चूर्णोऽप्लुतः, शृतः क्वाथः, शीतो रात्रौ द्रवे स्थितः ।
सद्योऽभितप्तः पूतस्तु फाण्टस्तन्मानकल्पने ॥ १० ॥
युञ्ज्याद्व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः ।
मात्राया न व्यवस्थाऽस्ति व्याधिं कोष्ठं बलं वयः ॥ ११ ॥
आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना ।
मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुःपलम् ॥ १२ ॥
पेष्यस्य कर्षमालोड्यं तद्द्रवस्य पलत्रये ।
क्वाथ द्रव्यपले कुर्यात्प्रस्थार्धं पादशेषितम् ॥ १३ ॥

तुरन्त काटकर तथा यन्त्र आदि से पीसकर (या पत्थर पर पीसकर) जो द्रव पदार्थ निकाला जाता है वह स्वरस कहलाता है । द्रव के साथ पीस कर जो पिष्ट बनाया जाता है उसे कल्क कहते हैं । जो बिना जल के ही सूखा कूटकर बनाया जाता है वह चूर्ण कहलाता है (द्रवयुक्तपिष्ट कल्क तथा द्रव-रहित पिष्ट चूर्ण कहलाता है) । क्वाथ को शृत कहते हैं । रातभर जल में भिगोकर तथा मसल कर निकाले हुए रस को शीत (शीतकषाय) कहते हैं और तुरन्त गरम कर तथा छानकर निकाले हुए रस को फाण्ट कहते हैं । इन सबों की मान कल्पना (मात्रा बनाने में) के विषय में व्याधि, अग्नि, बल, देश तथा काल के अनुसार मात्रा की कल्पना करे अथवा महर्षियों के वचन के

अनुसार मात्रा की कल्पना करनी चाहिए। मात्रा की कोई व्यवस्था (नियम) नहीं है। रोग, कोष्ठ (स्रोत), बल, आयु, देश तथा काल को विचार कर प्रयोग करना चाहिए और उसी प्रकार (व्याधि कोष्ठबलादि के अनुसार) औषध की कल्पना भी करनी चाहिए। स्वरस का मध्यम परिमाण चार पल (चार छटाँक) का माना गया है। पेष्य (कल्क) एक कर्ष (एक तोला) तीन छटाँक द्रव पदार्थ में मिलाकर प्रयोग करना अभीष्ट है। एक छटांक द्रव्य को जल में पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट आधा सेर क्वाथ ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् एक छटांक द्रव्य दो सेर पानी में पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट आधा सेर क्वाथ ग्रहण करे ॥ ९-१३ ॥

शीतं पलं पलैः षड्भिश्चतुर्भिस्तु ततः परम् ।

शीतकषाय एक छटांक द्रव्य छः छटांक या चार छटांक अथवा इससे कम या अधिक द्रव पदार्थ मिलाकर तैयार करना चाहिए।

स्नेहपाकविधिः—

स्नेहपाके त्वमानोक्तौ चतुर्गुणविवर्धितम् ॥ १४ ॥
कल्कं स्नेहं द्रवं योज्यमधीते शौनकः पुनः ।

स्नेहपाक विधि—स्नेह को पकाने में जहाँ पर परिमाण नहीं बताया गया है वहाँ कल्क, स्नेह तथा द्रव पदार्थ को क्रमशः चौगुना बढ़ाकर प्रयोग करना चाहिए ऐसा शौनक मुनि का कथन है। अर्थात् कल्क का चौगुना स्नेह और स्नेह का चौगुना द्रव द्रव्य लेना चाहिए।

स्नेहे सिध्यति शुद्धाम्बुनिःक्वाथस्वरसैः क्रमात् ॥ १५ ॥
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ।

पुनः शुद्ध जल, क्वाथ तथा स्वरस के साथ स्नेह सिद्ध करते समय क्रमशः कल्क को चतुर्थांश, षष्ठांश तथा अष्टमांश ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् शुद्ध जल से स्नेह सिद्ध करना हो तो कल्क स्नेह के चौथाई, क्वाथ के साथ सिद्ध करना हो तो छठवाँ भाग और स्वरस के साथ सिद्ध करना हो तो आठवाँ भाग कल्क ग्रहण करना चाहिए।

द्रवं तु पञ्चप्रभृति पृथक्स्नेहसमं क्षिपेत् ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त पाँच द्रव द्रव्य (दूध आदि) छोड़ने का विधान हो तो पाँचों द्रव अलग २ स्नेह के समभाग ग्रहण कर मिला दे। अर्थात् यहाँ पर चतुर्गुण का अपवाद हो जाता है ॥ १६ ॥

शुष्कं द्रव्यं यदा न स्यात्तदा सद्यः समुद्धृतम् ।
द्विगुणं तत्प्रयोक्तव्यं कुडवादिद्रवं तथा ॥ १७ ॥

यदि सूखा द्रव्य न मिले तो तुरन्त का निकाला हुआ ताजा द्रव्य दुगुनी

मात्रा में लेकर प्रयोग करे। किन्तु यह परिमाण एक कुडव (एक पाव) द्रव ग्रहण करने तक ही सीमित है अर्थात् एक कर्ष से लेकर क कुडव (एक पाव तक) तक द्रव (स्वरस या क्वाथ) ग्रहण करना हो वहाँ द्रव्य दुगुनी मात्रा में ग्रहण करे ॥ १७ ॥

नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता।
वर्णादिसंपच्च यदा तदैनं सिद्धमादिशेत् ॥ १८ ॥

तैल पक जाने पर जब कल्क हाथ में न चिपके, आग में छोड़ने पर शब्द न करे तथा स्नेह में किसी प्रकार का शब्द न हो तब स्नेह को सिद्ध समझना चाहिए।

घृतस्य फेनोपशमस्तैलस्य तु तदुद्भवः।
लेहस्य तन्तुमत्ताऽप्सु मज्जनं सरणं न च ॥ १९ ॥

परिपाक हो जाने पर घृत का फेन शान्त हो जाना, तैल में फेन उत्पन्न होना, अवलेह का तार जैसा बनना, जल में डूब जाना किन्तु न पिघलना ये सब अच्छी तरह सिद्ध अवलेह आदि के लक्षण हैं।

पाकश्च त्रिविधो मन्दश्चिक्कणः खरचिक्कणः।
मन्दः कल्कसमे किट्टे चिक्कणो मदनोपमे ॥ २० ॥
किंचित्सीदति कृष्णे वा वर्त्यमाने च पश्चिमः।
दग्धोऽत ऊर्ध्वं न कार्यः स्यादामस्त्वग्निसादकृत् ॥ २१ ॥
मृदुर्नस्ये खरोऽभ्यङ्गे पाने बस्तौ च चिक्कणः।

पाक तीन प्रकार का होता है—मन्द (मृदु), चिक्कण (मध्य), खर चिक्कण (खर)। किट्ट कल्क के सदृश रहने पर मन्दपाक, मदन (मोम) के सदृश रहने पर चिक्कण और कुछ शीर्ण तथा काला हो जाय या मसलने पर-वर्ति सदृश बन जाय तो खरचिक्कण पाक समझना चाहिए। इनके बाद दग्ध कहलाता है और उसका प्रयोग किसी कार्य में नहीं होता है। आम (कच्चा) रहने पर जाठराग्नि को नष्ट करता है। मृदुस्नेह नस्यकर्म में खर स्नेह अभ्यङ्ग (मर्दन) कर्म में तथा चिक्कण (मध्य) स्नेह वस्तिकर्म म प्रयोग किया जाता है।

मानपरिभाषानिरूपणम्—

शाणं पाणितलं मुष्टिं कुडवं प्रस्थमाढकम् ॥ २२ ॥
द्रोणं वहं च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम्।

मान परिभाषा निरूपण—शाण (टङ्क 'तीनमासा'), पणितल (कर्ष एक तोला), मुष्टि (पल छटांक), कुडव (पाव), प्रस्थ (सेर), आढक (चार सेर), द्रोण (सोलह सेर), वह (चौसठ सेर) ये क्रमशः उत्तरोत्तर

चौगुने परिमाण में होते हैं अर्थात् चारशाण एक कर्ष, चार कर्ष एक मुष्टि (पल) इत्यादि इसी क्रम से चौगुने परिमाण में समझना चाहिए।

द्विगुणं योजयेदार्द्रं कुडवादि तथा द्रवम् ॥ २३ ॥
पेषणालोडने वारि स्नेहपाके च निर्द्रवे।
कल्पयेत्सदृशान्भागान्प्रमाणं यत्र नोदितम् ॥ २४ ॥
द्वौ शाणौ वटकः कोल बदरं द्रंक्षणं च तौ।
अक्ष. पिचुः पाणितलं सुवर्ण कवडग्रहः ॥ २५ ॥
कर्षो बिडालपदकं तिन्दुकः पाणिमानिका।
शब्दान्यत्र त्वभिन्नेऽर्थे शुक्तिरष्टमिकाऽपि तौ ॥ २६ ॥
पल प्रकुञ्चो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका।
द्वे पले प्रसृतिस्तौ द्वावञ्जलिस्तौ तु मानिका ॥ २७ ॥
आढक भाजनं कंसो द्रोणः कुम्भो घटोऽर्मणम्।
तुला पलशतं तास्तु विंशतिर्भार उच्यते ॥ २८ ॥
हिमवद्विन्ध्यशैलाभ्या प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा।
सौम्य पथ्यं च तत्राद्यमाग्नेयं विन्ध्यमौषधम् ॥ २९ ॥

इति श्रीवैद्यवरसोढलग्रथिते गदनिग्रहेऽष्टमे रसायनतन्त्रखण्डे भेषजकल्पाधिकारस्तृतीय. ॥

आर्द्र (गीला) द्रव्य को एक तोला से लेकर एक कुडव (एक पाव) तक दुगुना ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार द्रव द्रव्य को भी कुडव पर्यन्त दुगुना लेना चाहिए। यह परिणाम पीसने, मिलाने, रस निकालने तथा द्रव-रहित स्नेहपाक में प्रयोग करे। जहां पर परिमाण नहीं बताया गया है वहां पर योगों के सदृश परिमाण की कल्पना करे। दो शाण का वटक, कोल, बदर तथा द्रङ्क्षण, दो वटक का अक्ष, पिचु पाणितल, सुवर्ण, कवडग्रह, कर्ष, विडाल-पदक, तिन्दुक, पाणिमानिका एवं इसके अतिरिक्त अभिन्न अर्थवाले शब्द, दो कर्ष का शुक्ति तथा अष्टमिका, दो शुक्ति का पल, प्रकुञ्च, बिल्व मुष्टि, आम्र तथा चतुर्थिका, दो पल की प्रसृति, दो प्रसृति की अंजली, दो अजलि की मानिका, दो मानिका का प्रस्थ, चार प्रस्थ का आढक, चार आढक का द्रोण, कुम्भ, घट तथा अर्मण, सौ पल का तुला और बीस तुला का एक भार होता है। (निम्न कोष्ठक[1] से परिमाण निरूपण स्पष्ट हो जायगा)। हिमालय पर्वत तथा विन्ध्य

१. प्राचीन पारिभाषिक मानों की तालिका

चार माष = एक टक	चार प्रस्थ = एक आढक
,, टक = ,, अक्ष (कर्ष)	,, आढक = ,, द्रोण (राशि)
,, अक्ष = ,, बिल्व	,, द्रोणी = ,, द्रोणी

पर्वत से प्रायः सभी पृथ्वी व्याप्त है। हिमालय प्रदेश में उत्पन्न औषध सौम्य गुणवाला तथा पथ्य है और विन्ध्य प्रदेश में उत्पन्न औषध आग्नेयगुणभूयिष्ठ (उष्ण) होता है ॥ २२–२९ ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के अष्टम रसायनतन्त्रखण्ड में
तीसरा भेषज कल्पाधिकार समाप्त।

,, विल्व = एक कुडव चारद्रोणी = एक खारी
,, कुडव = ,, प्रस्थ

प्राचीन तथा अर्वाचीन मानो की समन्वयात्मक तालिका

मागध मान	आधुनिक मान	प्रचलित मान
८ सरसो = १ यव	×	३० मिलीग्राम
४ यव = १ गुजा	१ रत्ती	१२१ ,,
६ रत्ती = १ माशा	×	७२९ ,,
४ माशा = १ शाण, धरण, टक	३ माशा	२ ग्रा० ९१६ ,,
२ टक = १ कोल, वदर, द्रक्षण, क्षुद्रक, वटक	६ माशा	५ ,, ८३२ ,,
२ कोल = १ कर्ष, पिचु, पणिमानिक, अक्ष, सुवर्ण, विडालपदक, षोडशिका, कवडग्रह उदुम्बर	१ तोला	११ ग्राम ६६४ लि० ग्रा०
२ कर्ष = ½ पल, शुक्ति	२ तोला	२३ ग्राम ३२८ ,,
२ शुक्ति = १ पल, मुष्टि, आम्र षोडशी—	४ ,,	४६ ,, ६५५ ,,
२ पल = १ प्रसृति	८ ,,	९३ ,, ३१० ,,
२ प्रसृति = १ कुडव अञ्जलि-अर्द्ध-सराव, अष्टमान ४ पल–	१६ ,,	१८६ ,, ६२१ ,,
२ कुडव = १ मानिक, शराव	३२ ,,	३७२ ,, ७४२ ,,
२ मानिक = १ प्रस्थ	६४ ,,	७४६ ,, ४८३ ,,
४ प्रस्थ = १ आढक	२५६ ,,	२ किलो ९८५ ग्रा० ९३३ मि०
४ आढक = १ द्रोण, कलश	१०२४ ,,	११ ,, ८९० ,, ३८७ ,,
४ द्रोण = १ द्रोणी, वह, गोणी	४०९६ ,,	४७ ,, ५६१ ,, ५४८ ,,
४ द्रोणी = १ खारी	×	× × ×
१०० पल = १ तुला (५ सेर)	४०० ,,	४ कि० ६६५ ग्रा० ५२० मि०
१ हजार पल = १ भार (१०० सेर)	८००० ,,	२३ ,, ५२७ ,, ६०० ,,

अथ दिनचर्याधिकारश्चतुर्थः ।

उत्थायोत्थायात्मवता स्वस्थेनारोग्यमिच्छता ।
यदनुष्ठेयमन्वहं तत्सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥ १ ॥

[1]आरोग्य को चाहनेवाला, संयमी स्वस्थ व्यक्ति को प्रातः काल उठकर प्रति दिन जिन २ कर्मों को करना चाहिए उन सभी कर्मों को कहता हूँ ॥ १ ॥

दन्तधावननिरूपणम्—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां चैव भारत ।
दन्तानां काष्ठसंयोगाद्धन्यादासप्तमं कुलम् ॥ २ ॥

दन्तधावन निरूपण—हे भारत (युधिष्ठिर) प्रतिपद, अमावास्या, षष्ठी तथा नवमी तिथि में काष्ठों का दाँत के साथ संयोग करने से अर्थात् मनुष्य दातून के द्वारा दन्तधावन करने से सात पुरुषों तक का नाश करता है। (इसके अतिरिक्त अन्य तिथियों में दातून से दन्तधावन करे)।

कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्चं द्वादशाङ्गुलम् ।
प्रातर्भुक्त्वा च मतिमान् भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥ ३ ॥

कनिष्ठिका अंगुलि के अग्रभाग के सदृश मोटी, बारह अंगुल लम्बी अच्छी कूंची वाली दातौन से बुद्धिमान् व्यक्ति प्रातःकाल अच्छी तरह [2]दन्तधावन करने के बाद भोजन करे।

करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः ।
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः ॥ ४ ॥

[3]करञ्ज, करवीर (कनेर), मदार, चमेली, अर्जुन, विजयसार और इसी प्रकार अन्य वृक्षों के भी दातौन दांतों को स्वच्छ करने के लिये प्रशस्त हैं।

---

१. मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा ।
तमेव कारयेद् वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदेप्सितम् ॥
दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम् ।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदातिष्ठति नान्यथा ॥ भावमिश्र ॥

२. एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन तु ।
दन्तशोधन चूर्णेन, दन्तमांसान्यबाधयन् ॥
क्षौद्रत्रिकटुकाक्तेन तैलसिन्धुभवेन वा ।
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत ॥ भावप्रकाश ॥

३. मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ।
निम्बः स्यात्तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥
अर्के वीर्यं वटे दीप्तिः करञ्जे विजयो भवेत् ।

निहन्ति गन्धं वैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम् ।
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम ॥ ५ ॥

दन्तधावन मुख की दुर्गन्ध तथा फीकापन का नाश करता है और [1]जिह्वा दांत, और मुख के उत्पन्न मल को निकालकर शीघ्र ही रुचि (भोजन करने की इच्छा) प्रदान करता है ॥ २-५ ॥

स्नेहगण्डूषधारणगुणाः—

मुखवैरस्यवैगन्ध्यशोपजाड्यापहं सुखम् ।
स्थिरीकरं च दन्तानां स्नेहगण्डूषधारणम् ॥ ६ ॥

स्नेह गण्डूष धारण का गुण—स्निग्ध [2]गण्डूष (कुल्ला) का मुख में

प्लक्षे चौवार्थं सम्पत्ति वेदर्यां मधुराशनम् ॥
खदिरे मुख सौगन्ध्य बिल्वे तु विपुल धनम् ।
उदुम्बारे तु वाक्सिद्धिरामे स्वारोग्य मेव च ॥
उदुम्बरे तु धृतिर्मेधा, चम्पके दृढवाक्श्रुतिः ।
शिरीषे कीर्तिसौभाग्यमायुरारोग्य मेव च ॥
अपामार्गे धृतिर्मेधा प्रज्ञाशक्तिस्तथासने ।
दाडिम्यां सुन्दराकारः ककुभे, कुटजे तथा ॥
जाती तगर मन्दारैर्दुःस्वप्न च विनाशयति ।
गुवाकताल हिन्तालं केतकञ्च बृहद्वरः ॥
खर्जूरं नारिकेलञ्च सप्तैते तृणराजकाः ।
तृणराज समुत्पन्नं यः कुर्याद्दन्तधावनम् ॥
नरश्चाण्डालयोनिः स्याद्यावद्गङ्गां न पश्यति ।
न खादेद्गल ताल्वोष्ठजिह्वादन्तगदेषु तत् ॥
मुखस्य पाके शोथे च श्वासकासवमीषु च ।
दुर्बलोऽजीर्ण भुक्तश्च हिक्का मूर्च्छा मदान्वितः ॥
शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः ।
अर्दितः कर्णशूली च नेत्ररोगी नवज्वरी ॥
वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु हृदामययुतोऽपि च ॥ भावमिश्रः ॥

१. जिह्वा निर्लेखन हैमं राजतंताम्रजं तथा ।
पाटितं मृदुतरकाष्ठं मृदु पत्र मयं तथा ॥
दशाङ्गुलं मृदु स्निग्धं तेन जिह्वां छिलेत्सुखम् ।
तज्जिह्वामलवैरस्यदुर्गन्धजडताहरम् ॥ भावमिश्रः ॥

२. गण्डूषमपि कुर्वीत शीतेन पयसा मुहुः ।
कफ तृष्णामलहरं मुखान्तःशुद्धिकारकम ॥

धारण करना मुख का फीकापन, दुर्गन्ध, शोष (सूखना) तथा मुख की अकड़न को दूर करता है, और सुख देनेवाला तथा दांतों को दृढ करने वाला है।

स्वस्थलक्षणम्—

विण्मूत्राखिलदोषधातुसमता कांक्षाऽन्नपाने रुचि-
र्भुक्तं जीर्यति पुष्टये परिणतिः स्वप्नावबोधः सुखम् ।
गृह्णीते विषयान्यथास्वमुचितान्वृत्तिर्मनोनिर्वृतिः
स्वस्थस्याभिहितं चतुर्दशविधं जन्तोरिदं लक्षणम् ॥ ७ ॥

स्वस्थ का लक्षण—मल तथा मूत्र का समय से निकलना, दोष (वातपित्तकफ) तथा धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि ओज, वीर्य) का समान रहना, अन्न खाने तथा पानी पीने की इच्छा तथा रुचि, भोजन का पच जाना, तथा उसका ओज बनना, सुखपूर्वक सोना और जागना, अपने इच्छा के अनुसार उचित विषयों को समय से ग्रहण करना, प्रत्येक कार्य में प्रवृत्ति, मन का निवृत्त रहना (किसी प्रकार के दुःख का अनुभव न होना निश्चिन्त रहना) ये चौदह प्रकार के स्वस्थ मनुष्यों के लक्षण कहे गये हैं ॥७॥

सुप्तोत्थितेन दृश्याः स्पर्श्याश्च पदार्थाः—

दध्याज्यदर्शसिद्धार्थबिल्वगोरोचनस्रजाम् ।
दर्शनं स्पर्शनं कार्यं प्रबुद्धेनाशुभापहम् ॥ ८ ॥

सोने के बाद देखने एवं स्पर्श करने योग्य पदार्थ—[1]प्रातः काल सोकर

सुखोष्णोदकगण्डूषः कफारुचिमलापहः ।
दन्तजाड्यं हरश्चापि, मुखलाघवकारकः ॥
विष मूर्च्छा मदार्तानां शोषिणां रक्तपित्तिनाम् ।
कुपिताक्षिमलक्षीणरूक्षाणां स न शस्यते ॥
मुखप्रक्षालनं शीतपयसा रक्तपित्तजित् ।
मुखस्य पिडिका शोषः नीलिका व्यङ्गनाशनम् ॥
कुर्याद्वापि कदूष्णेन पयसास्य विशोधनम् ।
कफवातहरं स्निग्धं मुखशोषविनाशनम् ॥ भावमिश्रः ॥

1. स्वमाननं घृते पश्येद् यदीच्छेत् चिरजीवितम् ।
आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम् ॥
तदान्त्रकूजनाध्मानोदरगौरववारणम् ।
आटोप शूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीष वेगेऽभिहतेनरस्य ॥
वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गोऽध्मानं क्लमोरुजा ।

उठने के बाद मनुष्य को दही, घृत, दर्पण, सफेद सरसों, बेल, गोरोचन तथा माला का दर्शन करना चाहिए और स्पर्श करना चाहिए ॥ ८ ॥

केशप्रसाधनगुणाः—

पञ्चरात्रान्नखश्मश्रुकेशलोमानि कल्पयेत् ।
उत्पाटयेच्च लोमानि नासायां न कथंचन ॥ ९ ॥
दृष्टिदौर्बल्यतिमिरमदणोरुद्धरणाद्भवेत् ।

केशप्रसाधन के गुण—प्रति पांचवे दिन नाखून, दाढ़ी, केश और लोम को कतरवाये (हजामत बनवाये) और बालों का [1]प्रसाधन करे। किन्तु नासिका के बालों को कभी भी न उखाड़े। नासिका के बाल उखाड़ने से देखने की शक्ति दुर्बल तथा आंखों में तिमिररोग उत्पन्न होता है।

ताम्बूलभक्षणगुणाः—

ताम्बूलपत्रं सक्षारं पूगाढ्यं च कफापहम् ॥ १० ॥
चूर्णं कफानिलहरं खादिरं कफपित्तनुत ।
संयोगतो दोषहरं कान्तिसौष्ठवकारकम् ।

ताम्बूलभक्षण के गुण—[2]ताम्बूल पत्र (पान) यवक्षार तथा सुपारी के

जठरेवातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥
वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रशिरोरुजा ।
विनामोवक्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥
नवेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नवेगानीरयेद् बलात् ।
कामशोकभयक्रोधान्मनोवेगान्विधारयेत् ॥
गुदादि मलमार्गाणां शौचं कान्तिबलप्रदम् ।
पवित्रकरमाख्यातमलक्ष्मी कलिपापहृत् ॥
प्रक्षालनं मतं पाण्योः पादयोः शुद्धि कारणम् ।
मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं राक्षसापहम् ॥ भावमिश्र ॥

१. केशपाशे प्रकुर्वीत प्रसाधन्या प्रसाधनम् ।
केश प्रसाधनं केश्यं रजोजन्तु मलापहम् ॥
आदर्शालोकनं प्रोक्तं माङ्गल्यं कान्तिकारकम् ।
पौष्टिकं बलमायुष्यं पापलक्ष्मी विनाशनम् ॥
पौष्टिकं धन्यमायुष्यं शौचकान्तिकरं परम् ॥

२. रतौ सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वान्ते च संगरे ।
सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात्ताम्बूलचर्वणम् ॥
ताम्बूलमुक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं तुवरं सरम् ।
तिक्तं क्षारोषणं कामं रक्तपित्तकरं लघु ॥

साथ खाने से कफ को दूर करता है। चूना कफ तथा वात को दूर करता है और खैर कफ एवं पित्त को दूर करता है। एक साथ सभी चीजों को मिलाकर खाने से सभी दोषों को दूर करता है और मुख की कान्ति को बढ़ाता है।

पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे ॥ १२ ॥
द्विपत्रमेकपूगं च सचूर्णखादिरं च यत्।

पान का दो पत्ता एक सुपारी,[1] चूना तथा खैर[2] मनुष्य को सोकर उठने के बाद, भोजन करने के बाद, स्नान तथा वमन करने के बाद खाना पथ्य है।

रूक्षदुर्बलमत्तानामहितं चास्यशोषिणाम् ॥ १३ ॥
देहदृक्केशदन्ताग्निश्रोत्रवर्णबलक्षयम्।
शोषयित्वाऽनिलो रक्तं कुर्यात्ताम्बूलभक्षणात् ॥ १४ ॥

रूक्ष प्रकृति वाले दुर्बल, मदोन्मत्त तथा मुखशोष से पीड़ित व्यक्तियों के लिये पान खाना अहितकर है पूर्वोक्त अवस्था में पान भक्षण करने से वायु रक्त को सुखाकर शरीर, नेत्रशक्ति, केश, दांत, जाठराग्नि, श्रवणशक्ति, वर्ण (कान्ति) तथा बल को नाश करता है ॥ १३–१४ ॥

पर्णमूले भवेद्व्याधिः पर्णाग्रे पापसम्भवः।
चूर्णपर्णं हरत्यायुः सिरा बुद्धिविनाशिनी ॥ १५ ॥
आयुरग्रे यशो मूले मध्ये लक्ष्मीर्व्यवस्थिता।
तस्मादग्रं च मध्यं च मूलं पर्णे विवर्जयेत् ॥ १६ ॥

पान के पत्ता की जड़ में व्याधि होती है। पान के पत्ता के अग्रभाग में पाप उत्पन्न होता है। पान के पत्ते का चूर्ण आयु को कम करता है। पान की सिरा बुद्धि को नाश करती है। पान के पत्ता के अग्रभाग में आयु रहती है। मूल

वश्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्य मलवातश्रमापहम्।
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् ॥
हनुदन्तमलध्वनिसजिह्वेन्द्रियविशोधनम्।
मुखप्रसेकशमनं गलामयविनाशनम् ॥
वंगदेशोद्भवं पर्णं परं कटुरसं सरम्।
पाचनं पित्तजनकमुष्णं कफहरं स्मृतम् ॥ (भावप्रकाश)

१. पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तनुत्।
मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम् ॥

२. खदिरः कफपित्तघ्नः चूर्णं वातबलासनुत्।
संयोगतः त्रिदोषघ्नं सौमनस्यं करोति च ॥
प्रभाते पूगमधिकं मध्याह्ने खदिरं तथा।
निशासु चूर्णमधिकं ताम्बूलं भक्षयेत्सदा ॥ (भावप्रकाश)

में यश रहता है; तथा मध्य में लक्ष्मी रहती है अतः पत्ता में अग्रभाग, मध्यभाग तथा मूल को काटकर निकाल देना चाहिए ॥ १५–१६ ॥

शिरोऽभ्यङ्गगुणाः—

केशभूमिगतान्रोगान् शिरोऽभ्यङ्गोऽपकर्षति ।
केशानां मृदुतां स्नेहो रौक्ष्यशान्तिं करोति च ॥ १७ ॥
करोति शिरसस्तृप्तिं दन्तानां दृढतामपि ।
तर्पणं चेन्द्रियाणां च दत्तोऽभ्यङ्गस्तु मूर्धनि ॥ १८ ॥
केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा ।

सिर में अभ्यङ्ग करने का गुण—[1]सिर में तैल की मालिश करना केश के स्थान में उत्पन्न रोगों को नाश करता है । स्नेह (तैल) केशों को मुलायम तथा रूक्षता (रूखापन) को शान्त करता है । सिर का तर्पण करता है और दांतों को दृढ़ बनाता है । सिर पर तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करने से इन्द्रियों का तर्पण होता है । केशप्रसाधन (बाल संवारना) केश को दृढ़ तथा केशगत धूल जन्तु (लिक्षा आदि) तथा मल को नाश करता है ॥ १७–१८ ॥

कर्णे स्नेहपूरणगुणाः—

हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥ १८ ॥

कान में स्नेह पूरण का गुण—[2]कान में तैल छोड़ना, हनुशूल, मन्यानाडी का शूल, शिरःशूल तथा कर्णशूल को नाश करता है ॥ १८ ॥

स्नेहाभ्यङ्गगुणाः

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातविनाशनः ।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः ॥ १९ ॥

---

१. अभ्यङ्गं कारयेन्नित्यं सर्वेष्वङ्गेषु पुष्टिदम् ।
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत ॥
अभ्यङ्गो वातकफहृच्छ्रमशान्तिं बलं सुखम् ।
निद्रावर्णमृदुत्वायुः कुरुते देहपुष्टिकृत् ॥
केशानां बहुलं दार्ढ्यं मृदुतां दीर्घतां तथा ।
कृष्णतां कुरुते कुर्याच्छिरसः पूर्णतामपि ॥ (भावप्रकाश)

२. न कर्णरोगा न मलं न च मन्या हनुग्रहः ।
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णपूरणात् ॥
रसाद्यैःपूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते ।
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ (भावप्रकाश)

स्नेह के अभ्यङ्ग (मर्दन) का गुण—'अभ्यङ्ग (तैल का मर्दन) शरीर को मुलायम बनाता है कफ तथा वात को नाश करता है, धातुओं को पुष्ट करता है तथा ओज, वर्ण, एवं बल को प्रदान करता है ॥ १९ ॥

पादप्रक्षालनगुणाः—

पादप्रक्षालनं पादमलरोगश्रमापहम् ।
दृष्टिप्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥ २० ॥

पाद प्रक्षालन का गुण—पैर का प्रक्षालन (धोना) करना पैर के मल, रोग तथा थकावट को दूर करता है। नेत्र को स्वच्छ बनाता है, शारीरिक बल को बढ़ाता है, रक्षोग्रहदोष को नाश करता है तथा प्रसन्नता को बढ़ाता है ॥ २० ॥

पादाभ्यङ्गगुणाः—

निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः पादरोगहा ।
पादत्वङ्मृदुकर्ता च पादाभ्यङ्गः प्रशस्यते ॥ २१ ॥

पैर में अभ्यङ्ग करने का गुण—पैर में तैल मर्दन करना, सुखकर निद्रा लाता है। शरीर को सुख देता, नेत्र की शक्ति को बढ़ाता है, पैर के रोगों को नाश करता है तथा पैर की त्वचा को मुलायम बनाता है ॥ २१ ॥

उद्वर्तनगुणाः—

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलायनम् ।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकर तथा ॥ २२ ॥

उबटन लगाने का गुण—शरीर में उबटन[2] लगाना वात को नाश करता है, कफ तथा मेद को पिघला देता है, शरीर के अङ्गों को दृढ़ बनाता है तथा शरीर की त्वचा को स्वच्छ करता है ॥ २२ ॥

स्नानगुणाः—

तन्द्रापापोपशमनं तुष्टिदं पुष्टिवर्धनम् ।
रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम् ॥ २३ ॥

---

१. व्यायामक्षुण्णवपुषं पद्भ्यां संमर्दितं तथा ।
व्याध्योनोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः ॥
लोमकूप सिराजालं धमनीभिः कलेवरे ।
तर्पयेद् बलमाधत्ते स्नेहयुक्तोऽवगाहने ॥
नवज्वरी-अजीर्णी च नाभ्यक्तव्यः कथञ्चन ।
तथा विरक्तो वान्तश्च निरूढोयश्च मानवः ॥

२. मुखलेपाद् दृढं चक्षुः पीनोगण्डस्तथाननम् ।
कान्तमव्यङ्गपिडकं भवेत्कमल सन्निभम् ॥

तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलार्दितादिषु ।
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥ २४ ॥

स्नान के गुण—स्नान[1] करना तन्द्रा तथा पापों (दोषों) को प्रशमन करता है, मन को संतुष्ट करता है, शारीरिक शक्ति एवं धातुओं को बढ़ाता है, रक्त को शुद्ध करता है और जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है। यह स्नान अतिसार, ज्वर, कर्णशूल तथा अर्दित (एक तरफ के मुख का टेढ़ा होना "एकायाम "लकवा") आदि वात रोगों में तथा आध्मान (कब्ज, शूल, गुड़गुड़ शब्दयुक्त पक्वाशय का मसक के सदृश फूल जाना), अरोचक, अजीर्ण (अपचन) और भोजन किये हुए व्यक्तियों में निषिद्ध है। अर्थात् उपरोक्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को स्नान नहीं करना चाहिए ॥ २३-२४ ॥

निर्मलाम्बरधारणगुणाः—

श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ॥ २५ ॥

निर्मल वस्त्र धारण के गुण—स्वच्छ[2] वस्त्र का धारण करना धनियों एवं विद्वानों की सभा में प्रशस्त होता है ॥ २५ ॥

---

१. दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमोजो बलप्रदम् ।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मनुत् ॥
बाह्यैश्च सेकैः शीताद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ।
नरस्य स्नानमात्रस्य दीप्यते तेन पावकः ॥
शीतेन पयसा स्नानं रक्तपित्त प्रशान्तिकृत् ।
तदेवोष्णेन तोयेन बल्यं वातकफापहम् ॥
शिरःस्नानमचक्षुष्यमत्युष्णेनाम्बुना सदा ।
वातश्लेष्मप्रकोपे तु हितं तच्चप्रकीर्तितम् ॥
अशीतेनाम्भसा स्नानं पयःपानं नवाः स्त्रियः ।
एतद्वो मानवाः पथ्य स्निग्धमल्प च भोजनम् ॥ (हरिश्चन्द्रः)
यः सदामलकैः स्नानं करोति संविनिश्चितम् ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेद् वर्षशतंनरः ॥
स्नानस्यान्तरं सम्यक् वस्त्रेणाङ्गस्य मार्जनम् ।
कान्तिप्रदं शरीरस्य कण्डूत्वग्दोषनाशनम् ॥ (भावमिश्र)

२. कौशेयौर्णिक वस्त्रं च रक्त वस्त्रं तथैव च ।
वातश्लेष्महरं तत्तु शीतकाले विधारयेत् ॥
मेध्यं सुशीतं पित्तघ्नं कषायं वस्त्रमुच्यते ।
तद्धारयेदुष्णकाले तच्चापि लघु शस्यते ॥
शुक्लं शुभदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम् ।

गन्धमाल्यसेवनगुणाः

वृष्यं सौगन्धमायुष्यं काम्य पुष्टिबलप्रदम् ।
सौमनस्य च लक्ष्मीदं गन्धमाल्यनिषेवणम् ॥ २६ ॥

गन्ध तथा माला के सेवन का गुण—गन्ध[1] तथा माला का सेवन करना वृष्य (शरीर को धातुओं को बढ़ानेवाला), शरीर को सुगन्धित करनेवाला, आयु बढ़ानेवाला, काम (वासना) को बढ़ानेवाला, मन को प्रसन्न करनेवाला तथा शोभा एवं लक्ष्मी को बढ़ानेवाला है ॥ २६ ॥

नेत्राञ्जनगुणाः—

पक्ष्मलं विशिखं कान्तममलोज्ज्वलमण्डलम् ।
नेत्रमञ्जनसंयोगाद्भवेच्चामलतारकम् ॥ २७ ॥

नेत्र में अञ्जन लगाने का गुण—अञ्जन लगाने से नेत्र स्वच्छपलक से युक्त, नेत्र-प्रचालरहित, सुन्दर, निर्मल तथा उज्ज्वल नेत्र मण्डलवाला और स्वच्छ तारामण्डलवाला[2] होता है ॥ २७ ॥

चोष्ण न च वा शीतं तत्तु वर्षासु धारयेत् ॥
यशस्यं काम्यमायुष्यं श्रीमदानन्दवर्द्धनम् ।
स्वच्यं वशीकरं रुच्यं नव निर्मलमम्बरम् ॥
कदापि न जनैः सन्धिधार्यं मलिनमम्बरम् ।
तत्तु कण्डुकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम् ॥

1. कुङ्कुमं चन्दनञ्चापि कृष्णागुरुचमिश्रितम् ।
वातश्लेष्महरंतत्तु शीतकाले तदिष्यते ॥
चन्दनं घनसारेण वालकेन च मिश्रितम् ।
सुगन्धि परमंशीत वर्षाकाले तदिष्यते ॥
अनुलेपस्तृषा मूर्च्छा दुर्गन्धस्वेददाहजित् ।
सौभाग्यतेजस्त्वग्वर्ण प्रीत्योजो बलवर्द्धनः ॥
न स्नानावर्हणलोकानामनुलेपोहितावहः ॥
चन्दनं घुसृणोऽपेतं मृगनाभि समायुतम् ।
नचोष्णं नचवाशीतं वर्षाकाले तदिष्यते ॥ (भावमिश्र)

2. मालाधारण—सुगन्धि पुष्पपत्राणां धारणं कान्तिकारकम् ।
पापरक्षो ग्रहहर कामदं श्रीविवर्द्धनम् ॥
भूषणैर्भूषयेदेतं यथायोग्यं विधानतः ।
शुचि सौभाग्यसंतोषदायक काञ्चन स्मृतम् ॥
ग्रहदृष्टिहरं पुष्टिकरं दुःस्वप्ननाशनम् ।
पाप दौर्भाग्यशमनं रत्नाभरण धारणम् ॥

उपानद्धारणगुणाः—

चक्षुष्यं स्पर्शनार्हं च पादयोर्व्यसनापहम् ।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ॥ २८ ॥

उपानद (पादत्राण "जूता,,) धारण करने का गुण—पादत्र (जूता) धारण करना (पहनना) नेत्र को बल देता है, पैरों को स्पर्श करने योग्य बनाता है बल देनेवाला है, पराक्रम तथा सुख को बढ़ाता है और शारीरिक धातुओं को पुष्ट करता है ॥ २८ ॥

छत्रधारणगुणाः—

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम् ।
घर्मानिलरजोम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते ॥ २९ ॥

छत्र (छाता) धारण करने के गुण—छत्ता को धारण करना ईति (वर्षा तथा धूप) से बचाता है, बल देता है, छिपाकर तथा ढंककर आराम देता है है और घाम, वायु, धूल तथा वर्षा के उपद्रवों से बचाने वाला कहा गया है ॥ २९ ॥

दण्डधारणगुणाः—

स्खलतः सम्प्रतिष्ठान शत्रूणां च निषेधनम् ।
अवष्टम्भकमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम् ॥ ३० ॥

दण्डधारण करने का गुण—दण्ड का धारण करना (हाथ में लाठी को रखना) जमीन पर गिरने से बचाता है, शत्रुओं को दूर भगाता है, शरीर को सहारा देता है, आयुकारक और भय को नाश करनेवाला है ॥ ३० ॥

अग्निसेवनगुणाः—

अग्निर्वातकफानाहशीतवेपथुनाशनः ।
आमाभिष्यन्दशमनो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥ ३१ ॥

माणिक्यं तरणेः सुजातममलं मुक्ताफलं शीतगो-
र्माहेयस्य च विद्रुमो निगदितः सौम्यस्य गारुत्मकम् ।
देवेज्यस्य च पुष्परागमसुराचार्यस्य वज्रं शने-
र्नीलं निर्मलमन्ययोश्च गदिते गोमेदवैदूर्यके ॥
वासः शृङ्गाररत्नानां धारणं प्रीति वर्द्धनम् ।
रक्षोघ्नमर्थ्यमोजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥
सततं सिद्धमन्त्रस्य महौषध्यास्तथैव च ।
रोचना सर्षपादीनां माङ्गल्यानाञ्च धारणम् ॥
आयुर्लक्ष्मीकरं रक्षोहरं मंगलदं शुभम् ।
हिंस्रादिभय विध्वंसि वशीकरणकारणम् ॥ भावप्रकाश ॥

अग्निसेवन का गुण—अग्नि का सेवन (आग तापना), वातरोग, कफजन्यरोग, आनाह (कब्ज के साथ वायु से पेटफूलना अफारा), ठंडक तथा कम्पन को नाश करता है और आम अभिष्यन्द (तुरन्त का आंख आना, दुखना) को शान्त है ॥ ३१ ॥

आहारनिरूपणम्—

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः ।
सत्त्वायुःशक्तितेजौजोमत्युत्साहाभिवर्धनः ॥ ३२ ॥
अपि शाकं जलस्विन्नं लवणस्नेहवर्जितम् ।
बुभुक्षितस्य कल्यस्य स्वादु स्याद्बृंहणं तथा ॥ ३३ ॥

आहार का निरूपण—भोजन मनुष्यों को शीघ्र ही प्रसन्न (संतुष्ट) कर देता है, बल देता है, शरीर स्थिर रखता है, पराक्रम, आयु, शक्ति, तेज, ओज आदि से परिपूर्ण रखता है और उत्साह (कार्य करने मे प्रवृत्ति) को बढ़ाता है। नमक तथा घृत से रहित जल में पकाया हुआ शाक स्वस्थ बुभुक्षित व्यक्ति के लिये स्वादयुक्त होता है और शरीर को बढ़ाता है ॥ ३२-३३ ॥

न तु षड्रससंपन्नं मन्दाग्नेर्भोजनं च यत् ।
क्षुत्संभवति जीर्णेषु मलदोषरसेषु या ॥ ३४ ॥
उचिताऽनुचिता वाऽपि अन्नकालस्तु स स्मृतः ।

मन्द जाठराग्निवाले व्यक्तियों के लिये षड्रस (छः रसों से परिपूर्ण) भोजन नहीं देना चाहिए। मल, दोष तथा रसके परिपाक हो जाने पर उचित या अनुचित (ऊपर से प्रतीत होती हो या आन्तरिक हो) जो भूख उत्पन्न होती है वही भोजन करने का समय होता है[1]।

---

१. शरीरे जायते नित्यं वाञ्छा नृणां चतुर्विधा ।
बुभुक्षा च पिपासा च जुगुप्सा च रतिस्पृहा ॥
भोजनेच्छा विघातात्स्यादङ्गमर्दोऽरुचिः श्रमः ।
तन्द्रा लोचनदौर्बल्यं धातुदाहो बलक्षयः ॥
विघातेन पिपासायाः शोषः कण्ठास्ययोर्भवेत् ।
श्रवणस्यावरोधश्च रक्तशोषो हृदिव्यथा ॥
निद्राविघाततो जृम्भा शिरोलोचनगौरवम् ।
अङ्गमर्दस्तथा तन्द्रा स्यादन्नापाक एव च ॥
बुभुक्षितो न योऽश्नाति तस्याहारेन्धनक्षयात् ।
मन्दीभवति कायाग्निर्यथा चाग्निर्निरिन्धनः ॥
आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः ।
पचेद्दोषक्षये धातून् प्राणान् धातुक्षयेऽपि च ॥

धातूनां प्रमाणनिरूपणम्—

प्रमादाख्यो मतोऽन्नस्य परं जीर्णस्य सर्वशः ॥ ३५ ॥

धातुओं का प्रमाण निरूपण—अन्न के अच्छी तरह पक जाने के बाद जो उत्तम पदार्थ उत्पन्न होता है वह प्रसाद नामक रस कहलाता है ॥ ३५ ॥

स रसोऽञ्जलयस्तस्य नव देहेषु देहिनः ।
रक्तस्याञ्जलयस्त्वष्टौ शकृतः सप्त सर्वशः ॥ ३६ ॥

यथोक्त गुणसंपन्ननरः सेवेत भोजनम् ।
विचार्य दोष कालादीन् कालयोरुभयोरपि ॥
सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥
क्षुत्संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च ।
काले वायदिवाऽकाले सोऽन्न काल उदाहृतः ॥
ततो भोजन वेलायां कुर्याद् माङ्गल्य दर्शनम् ।
तस्य प्रदर्शनं नित्यमायुर्धर्मविवर्द्धनम् ॥
लोकेऽस्मिन् मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः ।
पुष्पस्रक् सर्पिरादित्य आपोराजा तथाष्टमः ॥

भोजन का स्थान—आहारस्तु रहः कुर्यात् [1]निर्हारमपि सर्वदा ।
उभाभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात्प्रकाशे हीयते क्रिया ॥
आहारनिर्हारविहारयोगाः सदैव सद्भिः विजने विधेया ।
भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रक भक्षणम् ॥
अग्निसंदीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठ विशोधनम् ।

रसपाकज्ञान—उद्गारशुद्धिरुत्साहः वेगोत्सर्गो यथोचितः ॥
लघुताक्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥ भावमिश्र ॥

भोजन प्रमाण—कुक्षेभार्गद्वयं भोज्यैस्तृतीये वारिपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ।

भोजन के साथ जलपान विधि—

अत्यन्बु पानान्नविपच्यतेन्नमनम्बुपानाच्चस एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय, मुहुर्मुहुर्वारि पिदबेभूरि ॥
तृषितस्तु न चाश्नीयात् क्षुधितो न पिबेज्जलम् ।
तृषितस्तुभवेद्गुल्मी क्षुधितस्तु जलोदरी ॥
विदाहिष्यन्नपानानि यानि भुक्ते हि मानवः ।
तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं भोजनान्ते पयः पिबेत् ॥ भावमिश्र ॥

---

1. मूल मूत्रादि का त्याग ।

पित्तस्याञ्जलयः पञ्च षट् कफस्य प्रचक्षते।
मूत्रस्य विद्याच्चत्वारो वसायाश्चाञ्जलित्रयम् ॥ ३७ ॥
द्वावञ्जली मेदसस्तु मज्ज्ञश्चैकोऽञ्जलिः स्मृतः।
शुक्रस्य चाञ्जलिर्ज्ञेयो मस्तिष्कस्यौजसस्तथा ॥ ३८ ॥

मनुष्य के शरीर में वह रस नव अञ्जलि (नव पाव) (परिमाण में) होता है। रक्त आठ अञ्जलि, मल सात अंजलि, पित्त पांच अञ्जलि, कफ छः अञ्जलि, मूत्र चार अञ्जलि, वसा तीन अञ्जलि, मेद दो अञ्जलि, मज्जा एक अञ्जलि, और शुक्र तथा मस्तिष्क की मज्जा एक-एक अञ्जलि रहती है ॥३५-३८॥

चत्वारोऽञ्जलयः स्त्रीणां रजसः प्रसृतिस्तथा।
द्वावञ्जली प्रसूतायाः स्तन्यस्यापि च योषितः ॥ ३९ ॥
एवमस्य परीमाणमनिर्देश्यं प्रचक्षते।
प्रमाणमेतद्धातूनामदुष्टानामुदाहृतम् ॥ ४० ॥

स्त्रियों के शरीर में रक्त चार अञ्जलि (चार पाव), रज एक प्रसृति (आधा पाव), और प्रसूता स्त्री के शरीर में रक्त दो अञ्जलि तथा दूध भी दो अञ्जलि होता है। इस प्रकार धातुओं के परिमाण होते हैं किन्तु ये परिमाण अनिर्देश्य हैं। इनका ठीक ठीक परिमाण नहीं बताया जा सकता। सामान्यतः यह परिमाण जो बताया गया है वह उन लोगों का परिमाण है जिनकी धातुयें दूषित नहीं हुई हैं अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ है ॥ ३९–४० ॥

हीनाः स्वेन प्रमाणेन विवृद्धाश्चापि धातवः।
योजयन्ति विकारैस्तु दोषा वृद्धाः क्षयप्रदाः ॥ ४१ ॥

धातुयें अपने परिमाण से हीन होने पर तथा बढ़ने पर भी अनेक रोगों को उत्पन्न करती हैं। बढ़े हुए दोष धातुओं को क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ४१ ॥

बालव्यजनमोजस्यं मक्षिकादीनपोहति।
सेवेत विषयान्काले मुक्त्वा तत्परतां वशी ॥ ४२ ॥
नातिजागरणं निद्रा सर्वभूतहितैषिणी।

बाल व्यजन (पंखा) ओज को बढ़ाता है और मक्खियों को दूर करता है। अपने इन्द्रियों को वश में रखते हुए विषयों में आसक्त न होकर समय-समय पर इन्द्रियों के विषयों को सेवन करे। अधिक जागना तथा [1]सोना सभी प्राणियों के लिये हितकर नहीं है ॥ ४२ ॥

---

१. दिवा स्वाप न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात् कफावहः।
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवा स्वापो निषिध्यते ॥
उचितो हि दिवा स्वप्नो नित्यं येषां शरीरिणाम्।
वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वापतां दिवा ॥

सद्वृत्तनिरूपणम्—

देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धान् सदाऽर्चयेत् ॥ ४३ ॥
चतुष्पथनमस्कर्ता दाता यष्टा प्रियंवदः ।
क्रुद्धानामनुनेता च दीनानामनुकम्पकः ॥ ४४ ॥
आश्वासकश्च भीतानां बन्धुवत्सर्वदेहिनाम् ।
रागद्वेषनिदानानां हन्ता धर्मपरायणः ॥ ४५ ॥

सद्वृत्त (अच्छे आचरण) का निरूपण—देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु तथा वृद्धों की निरन्तर पूजा करे । चतुष्पथ (चौराहे) को नमस्कार करे, दान दे, यज्ञ करे, प्रिय बोले, क्रुद्ध व्यक्तियों को शान्त करे, दीनों (गरीबों) के ऊपर दया करे, भयभीत व्यक्तियों को आश्वासन दे, सभी प्राणियों के साथ बन्धुवत् व्यवहार करे, राग-द्वेष के कारणों को दूर करे और धर्मकार्य में निरन्तर तत्पर रहे ॥ ४३–४५ ॥

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ४६ ॥

प्रतिदिन हितकर आहार (भोजन) तथा विहार को सेवन करनेवाला, विचार एवं देखकर कार्य करनेवाला, इन्द्रियों के विषयों (रूप, रसगन्धादि) में अनासक्त, दानी, संयमी, सत्य बोलनेवाला, क्षमाशील तथा [1]महर्षियों की सेवा करनेवाला रोगरहित हो जाता है ॥ ४६ ॥

व्यायामप्रमदाऽध्ववाहनरतान् क्लान्तानतीसारिणः ।
शूलश्वासवतस्तृषा परिगतान् हिक्का मरुत्पीडितान् ॥
क्षीणान् क्षीणकफान्छिशून्मदहतान् वृद्धान्रसाजीर्णिनो—
रात्रौ जागरितान्नरान्निरशनान् कामं दिवा स्वापयेत् ॥
दिवा वा यदि वा रात्रौ निद्रा सात्म्यी कृतातु यैः ।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां चोपजायते ॥
शयनं पित्तनाशाय वातनाशाय मर्दनम् ।
वमनं कफनाशाय ज्वरनाशाय लङ्घनम् ॥
आसीनं घूर्णितं तत्तु नाभिष्यन्दि न रूक्षणम् ।

१. सदाचारः—मैत्री सद्भिः समं कुर्यात्स्नेहं सत्सु च सर्वथा ॥
संसर्गं साधुभिः कुर्यादसत्संगं परित्यजेत् ॥
सेवेत देवभूदेववृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।
विमुखानार्थिनः कुर्यान्नाव मन्येत कानपि ॥
गुरूणां सन्निधौ तिष्ठेत्सदैव विनयान्वितः ।
पादप्रसारणादीनि तत्र नैव समाचरेत् ॥

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन । परलोकममायया ॥ ४७ ॥

सूर्य की धूप पीठ से सेवन करे, अग्नि को उदर (सामने) से सेवन करे, स्वामी (ईश्वर) को सम्पूर्ण भावों से, तथा परलोक को सात्विकसद्भावना से सेवन करे ॥ ४७ ॥

अपकारपरेऽपि स्यादुपकारपरः पुमान् ।
आत्मवत्सकलान्पश्येद्वैरिणो दूरतो वसेत् ॥
न कस्यचिदात्मनः शत्रुर्नात्मान कस्यचिद्रिपुः ।
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥
नात्मानमुदके पश्येन्न नग्नः प्रविशेज्जलम् ।
तथा नाज्ञातगाम्भीर्यं न हिंस्रप्राणिसेवितम् ॥
काले हितं मितं सत्यं संवादिमधुरं वदेत् ।
भुञ्जीत मधुरं प्राय स्निग्धं काले हितं मितम् ॥
न रात्रौ दधि भुञ्जीत, नचनिर्लवणं तथा ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नचाप्यघृतशर्करम् ॥
जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ।
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः ॥
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्वस्तो न च शङ्कितः ।
नोद्यमे विरमेत्क्वापि हेतावीर्ष्येत्फले न तु ॥
वेगाश्च धारयेज्जातु मनो वेगान्विधारयेत् ।
नपीडयेदिन्द्रियाणि न चैतानतिलालयेत् ॥
नासंवृतमुखं कुर्यात्सभायां च विचक्षणः ।
कासं श्वासं तथोद्गारं जृम्भणं क्षवथु तथा ॥
नासिकां न विकुष्णीयान्नासीतोत्कटकः क्वचित् ।
नोर्ध्वंजानुश्चिरं तिष्ठेन्न नखेन लिखेन्महीम् ॥
सम्मार्जनीरजो नैव देहे दद्यात्कदाचन ।
न नखेन तृण छिन्द्यान्नोच्छिष्टो ब्राह्मण स्पृशेत् ॥
नोपरक्तं न चोद्यन्त नास्तं यान्तं दिवाकरम् ।
सर्वथा न समीक्षेत न जले प्रतिबिम्बितम् ॥
नेक्षेत सतत सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च ।
पौरन्दरं धनुर्नैव दर्शयेत्कमपि क्वचित् ॥
नेच्छेद्बलवता युद्धं न भारं शिरसा वहेत् ।
गात्र न वादयेत्केशान् हस्तेन धुनुयान्न च ॥

भुक्त्वा वास्तुकशाकेन सतक्रं लवणं पिब ।
हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन्नश्यन्तु व्याधयश्च ते ॥ ४८ ॥

हे राजन् वास्तुक (बथुआ) का शाक खाकर सेन्धानमक मिलाकर मट्ठा-पान करो और हर्रे का चूर्ण भक्षण करो तुम्हारी व्याधियां नष्ट हो जायगी ॥४८॥

न वेगान्धारयेद्विद्वान्वातविण्मूत्ररेतसाम् ।
जृम्भणाश्रुक्षवोद्गारश्वासतृष्णावमिक्षुधाम् ॥ ४९ ॥
धारितेष्वेषु जायन्ते तन्मार्गस्थानजा गदाः ।
धार्या वेगास्त्वशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ ५० ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति, वायु, मल, मूत्र, वीर्य, जम्भाई, अश्रुस्राव, छींक, डकार, श्वास, प्यास, वमन तथा भूख के आये हुए वेगों को न रोके इनके वेगों को धारण करने से उनके मार्ग तथा स्थान में उत्पन्न होने वाले रोग होते हैं। मानसिक, वाचनिक तथा शारीरिक अप्रशस्त (निकृष्ट) कार्यों के वेगों को धारण करना चाहिए ॥ ४९–५० ॥

न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ।
अनुयायात्प्रतिदिनं सर्वधर्मेषु मध्यताम् ॥ ५१ ॥
स्त्रियं श्रियं धनं वाऽपि परस्याभिलषेन्न तु ।
न कुर्याच्चञ्चलं चेतो न कालमतिपातयेत् ॥ ५२ ॥

इन्द्रियों को अत्यधिक कष्ट न दे और न अत्यधिक आराम ही दे। सभी धर्मों (कार्यों) में समानभाव से प्रति दिन चलने दे। दूसरे की स्त्री, शोभा या धन की इच्छा न करे। मन चचल न करे और समय को भी व्यर्थ न बिताये ॥ ५१–५२ ॥

नगच्छेत्पूज्ययोर्मध्ये दम्पत्योरन्तरेण च ।
रिपोरन्नं न भुञ्जीत गणिकान्नमपि क्वचित् ॥
प्रतिभूर्न भवेत्क्वापि न च साक्षी वृथा भवेत् ।
[1]स्थागी न धारयेज्जातु द्यूतं दूरात्परित्यजेत् ॥
विश्वासं नाचरेत्स्त्रीणां ताः स्वतन्त्रा न चारयेत् ।
रक्षणीयाः सदा यत्नाद्यौवने तु विशेषतः ॥
न भिन्ने शयने स्वप्यान्नैकविवरेऽपि च ।
नैको देवालये नैव रात्रौ तरुतलेऽपि च ॥
इत्याचारं समासेन भाषितं यः समाचरेत् ।
सविन्दत्यायुरारोग्यं प्रीतिधर्मं धनं यशः ॥ (भावप्रकाश)

---

1. स्थागी या स्थाग (धरोहर)

प्रणयेनापि नो वाच्यं वचनं परतापकृत् ।
अहिंसा सततं कार्या धार्या चित्तस्य नित्यता ॥ ५३ ॥

नम्रतापूर्वक भी दूसरों को कष्ट देनेवाले वाक्य को न बोले। निरन्तर अहिंसाभाव रक्खे अर्थात् किसी प्रकार की भी हिंसा (परपीड़ा) न करे और चित्त को स्थिर रक्खे ॥ ५३ ॥

हिताशी जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः ।
अन्नपानसमिद्भिर्नो मात्राकालौ विचारयन् ॥ ५४ ॥

हितकर भोजन करनेवाला मनुष्य सावधान होकर मात्रा तथा समय का विचार करता हुआ अन्न (भोजन) तथा पान (जल) रूपी समिधा (हवन सामग्री) के द्वारा प्रतिदिन जाठाग्नि को हवन करे अर्थात् समयानुसार मात्रापूर्वक प्रतिदिन भोजन करे ॥ ५४ ॥

अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं हितम् ।

जो विकार उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न न करनेवाला पदार्थ ही हितकर होता है ।

मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धि सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः ।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नाभिभवन्ति रोगाः ॥५५॥

जिसकी मति उत्तम है, वाणी कोमल है, कर्म सुख से सम्बन्ध रखनेवाला है, पराक्रम कर्तव्य कार्यों में प्रयोग होता है, बुद्धि स्वच्छ है, जो ज्ञानवान् है और तपस्वी है तथा जो योग में तत्पर रहता है उसको रोग नहीं होते हैं ।

अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नः कृतादरो नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्त यदि नास्ति दैवम् ॥ ५६ ॥

अलभ्य पदार्थों के लिये जो प्रयत्न नहीं करता, उपाय साध्य कार्यों में निरन्तर लगा रहता है और जो इन्द्रियों को वश में रखता है उसको रोग नहीं होते हैं, यदि कोई अकस्मात् दैवी दुर्घटना न हो जाय ।

कालोऽनुकूलो विषया मनोज्ञा धर्म्याः क्रियाः कर्म सुखानुबन्धि ।
सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिर्भवन्ति धीरस्य सदा सुखाय ॥ ५७ ॥

अनुकूल समय, मन के अनुकूल विषय, धार्मिक क्रियायें, सुख से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म, करने योग्य कार्यों में पराक्रम तथा स्वच्छ बुद्धि ये सब धीर व्यक्ति के सुख के लिये होते हैं ॥ ५५–५७ ॥

कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको बस्तिरीरणे ।
शस्यते त्रिष्वपि हितो व्यायामो दोषनाशनः ॥ ५८ ॥
भुक्तं विरुद्धमप्यन्नं व्यायामान्न प्रदुष्यति ।

कफजन्य रोग में वमन कराना, पित्तजन्य रोग में विरेचन कराना तथा

सात्म्य रोग में वस्तिकर्म कराना प्रशस्त होता है। वात, पित्त, कफ इन तीनों में भी व्यायाम करना हितकर तथा प्रवृद्ध दोनों को नाश करनेवाला होता है। भोजन किया हुआ विरुद्ध (संयोगविरुद्ध, कालविरुद्ध तथा सात्म्य-विरुद्ध) अन्न भी व्यायाम से दोषोत्पादक नहीं होता है।

सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ॥ ५९ ॥
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ।

इति वैद्यवरसोढलग्रथिते गदनिग्रहेऽष्टमे रसायनतन्त्रखण्डे
दिनचर्याधिकारश्चतुर्थः ।

रात्रिचर्याधिकारः

ज्योत्स्ना शीतास्मरानन्दप्रदा तृट्पित्तदाहहृत् ।
ततो हीनगुणः कुर्यादवश्यायोऽनिलं कफम् ॥
तमोभयावहं मोहदिङ्मोहजनकं भवेत् ।
पित्तहृत्कफहृत्कामवर्धनं बलमकृच्च तत् ॥
रात्रौ च भोजनंकुर्यात्प्रथमप्रहरान्तरे ।
किञ्चिदूनं समश्नीयाद्दुर्जरं तत्र वर्जयेत् ॥
शरीरे जायते नित्यं देहिनः सुरतस्पृहा ।
अव्ययवयान्मेहमेदो वृद्धिः शिथिलता तनोः ॥
बालेतिगीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश ।
ततस्तुतरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद् वत्सरावधि ॥
तदूर्ध्वमधिरूढास्यात्पञ्चाशद्वत्सरावधि ।
वृद्धा तत्परतोज्ञेया सुरतोत्सववर्जिता ॥
निदाघशरदोर्बाला हिता विषयिणां मता ।
तरुणी शीतसमये प्रौढा वर्षावसन्तयोः ॥
नित्यंबाला सेव्यमाना नित्य वर्धयतेबलम् ।
तरुणीह्रासयेच्छक्ति प्रौढोद्भावयते जराम् ॥
सद्योमांसं नवं चान्नं बाला स्त्री क्षीरभोजनम् ।
घृतमुष्णोदके स्नानं सद्यः प्राणकराणिषट् ॥
पूतिमांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि ।
प्रभाते मैथुन निद्रा सद्यःप्राणहराणि षट् ॥
वृद्धोऽपि तरुणीं गत्वा वृद्धत्वमवाप्नुयात् ।
वयोऽधिकां स्त्रियं गत्वा तरुणः स्थविरायते ॥
सेवेत कामतः कामं बलाद्वाजीकृतो हिमे ।

सभी अन्य कार्यप्रपंचों को त्यागकर शरीर की रक्षा करे मनुष्यों के शरीर के अस्वस्थ रहने पर सभी कार्यों का अभाव (नाश) होता है। अर्थात् शरीर

प्रकामं तु निषवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥
त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वृष्टिनिदाघयोः ।
शीते रात्रौ दिवाग्रीष्मे वसन्ते तु दिवानिशि ।
वर्षासु वारिदध्वाने शरत्सु सरसिः स्मरः ॥
नपेयात्पुरुषोनारीं सन्ध्ययोर्न च पर्वसु ।
गोसर्गे चार्द्धरात्रे च तथा मध्यदिनेऽपि च ॥
विहारं भार्ययाकुर्याद्देशेऽतिशयसंवृते ।
रम्ये श्राव्याङ्गनागाने सुगन्धे सुखमारुते ॥
देशे गुरुजनासन्ने विवृतेऽतित्रपाकरे ।
श्रूयमाणे व्यथाहेतुवचने न रमेत ना ॥
स्नातश्चन्दनलिप्ताङ्गः सुगन्धोसुमनोऽन्वितः ।
भुक्तवृष्यः सुवसनः सुवेशः समलङ्कृतः ॥
ताम्बूलवदनः पत्न्यामनुरक्तोऽधिकस्मरः ।
पुत्रार्थी पुरुषो नारीमुपेयाच्छयनेशुभे ॥
अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् सव्यथाङ्गः पिपासितः ।
बालोवृद्धोऽन्यवेगार्त्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम् ॥
भार्यां रूपगुणोपेतां तुवयशीलां कुलोद्भवाम् ।
अतिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलंकृताम् ॥
सेवेत प्रमदां युवत्या वाजीकरणबृंहितः ।
रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम् ।
हीनाङ्गींगर्भिणीं द्वेष्यां योनिरोगसमन्विताम् ॥
सगोत्रां गुरुपत्नीञ्च तथा प्रव्रजितामपि ।
नाभिगच्छेत्पुमान्नारीं भूरिवैगुन्यशकया ॥
रजस्वलां गतवतो नरस्यासंयतात्मनः ।
दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततोभवेत् ॥
लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथपर्वसु ।
वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवनक्षयः ॥
गर्भिण्यां गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः ।
हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां क्षामां वन्ध्यामसंवृते ॥
देशेऽभिगच्छतो रेतः क्षीणग्लानमनोभवेत् ।

स्वस्थ रहने पर ही सभी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं अतः सर्वप्रथम शरीर को स्वस्थ रखनेवाला कार्य करना चाहिए। तदनन्तर अन्य प्रापंचिक कार्य करना चाहिए।

श्री वैद्यशोढल विरचित गदनिग्रह के अष्टम रसायनतन्त्र में
चौथा दिनचर्याधिकार समाप्तः।

क्षुधितः क्षुब्धचितश्च मध्याह्ने तृषितोऽवलः॥
स्थितस्य हानि शुक्रस्य वायोः कोपं च विदन्ति।
व्याधितस्य रुजाप्लीहा मूर्च्छा मृत्युश्च जायते॥
प्रत्यूषे चार्द्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः।
तिर्यग्योनावयोनौ वा दुष्टयोनौ तथैव च॥
उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रसुखक्षयः।
उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे॥
उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु सम्भवः।
सर्वमेतत्यजेत्तस्माद्यतो लोकद्वयाहितम्।
शुक्रं तूपस्थितमोहान्न संधार्यं कदाचन॥
स्नानं सशर्करं क्षीरं भक्ष्यमैव संस्कृतम्।
वातो मांसरसः स्वप्नः सुरतान्ते हिता अमी।
शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः॥
अति व्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः।
(भावप्रकाशः)

अथर्तुचर्याधिकारः पञ्चमः ।

अथात ऋतुचर्याविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः

वर्षाचर्या—

भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च ।
वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः ॥ १ ॥
तस्मात्साधारणः सर्वो विधिर्वर्षासु शस्यते ।

दिनचर्या के बाद ऋतुचर्या[1] विधि को कहते हैं ।

वर्षाऋतु में कर्तव्य विधि—वर्षाऋतु[2] में पृथ्वी के भाफ से तथा मेघ के बरसने के कारण जल पाक में अम्ल हो जाता है जिससे अग्निबल (जाठराग्नि का बल) क्षीण हो जाता है और पवन (वात) आदि प्रकुपित हो जाते हैं। इस कारण से वर्षाऋतु में सभी दोषों के अनुसार सर्वसाधारणविधि प्रशस्त होता है ।

उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्याय नदीजलम् ॥ २ ॥
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत् ।
दिव्यं क्वथितं कौपं च चौण्ड्यं सारसमेव वा ॥ ३ ॥

उदमन्थ (मन्थ[3]) दिन में सोना, अवश्याय (वर्फ), नदी का जल, व्यायाम, धूप तथा व्यवाय (मैथुन) का सेवन वर्षाऋतु में नहीं करनी चाहिए। इस ऋतु में दिव्य जल (आकाश का जल), पकाया हुआ जल, कूप का जल,

---

१. चयकोपशमाः यस्मिन् दोषाणां संभवन्ति हि ।
ऋतुषट्कं समाख्यातं रवे राशिषु संक्रमात् ॥
ग्रीष्मो मेषवृषौप्रोक्तः प्रावृड् मिथुनकर्कटौ ।
सिंहकन्ये स्मृता वर्षा तुलावृश्चिकयोः शरत् ॥
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ।
शिशिरः पुष्पसमयो ग्रीष्मो वर्षाशरद्धिमाः ॥
माघादि मासयुग्मैः स्युर्ऋतवः षट्क्रमादमी ।
उत्तरायणमाद्यैस्तैः परैःस्याद्दक्षिणायनम् ॥
आद्यमुष्णं बलहरं ततोऽन्यद् बलदं हिमम् । (भावमिश्र)

२. वर्षाशीता विदाहिन्यो वह्निमान्द्यानलप्रदाः ।

३. सक्तवः सर्पिषाभ्यक्ताः शीतोदकपरिप्लुताः ।
नातिद्रवाः नातिसान्द्राः मन्थ इत्यभिधीयते ॥

चौण्ड्य[1] (गड्ढे का जल) या सारस[2] (झरना से निकलकर एकत्र हुआ ...) का जल सेवन करना चाहिए।

प्रावृड्वाताकुले वह्नौ स्वेदनं क्लेदशान्तिकृत्।
परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवणं भजेत् ॥ ४ ॥

वर्षाकालीन वात के कारण अग्नि के दूषित होने पर स्वेदन करना क्लेद (थकावट) को शान्त करता है वर्षाऋतु में शुष्कपदार्थ, हल्का, स्निग्ध, उष्ण, अम्ल तथा नमकीन पदार्थ को सेवन करना चाहिए ॥ ४ ॥

प्रायोऽन्नपानं सक्षौद्रं संस्कृतं च घनोदये।
युक्त्या संरक्षता चाग्निं यवगोधूमशालयः ॥ ५ ॥
पुराणजाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः।
पिबेत्क्षौद्रान्वितं चाल्प मार्द्वीकारिष्टमम्बु वा ॥ ६ ॥

वर्षाऋतु के आने पर प्रायः अन्न तथा पान को पकाकर मधु के साथ सेवन करे। युक्तिपूर्वक जाठराग्नि की रक्षा करते हुए पुराने यव, गेहूँ तथा जड़हन-धान का चावल जंगली पशुओं के मांसरस के साथ तथा घृत आदि से संस्कृत (छौंवका हुआ) यूष के साथ खाना चाहिए। थोड़ी मात्रा में मधु मिलाकर द्राक्षारिष्ट या मुनक्का का रस पान करें ॥ ५–६ ॥

सविषप्राणिविण्मूत्रबालनिष्ठीवनादिभिः।
यदा प्लुतं तदा तोयं नवं क्वथितसंनिभम् ॥ ७ ॥
वायुना विषजन्मेव तत्पूर्वेण च दूषितम्।
त्याज्यं सर्वोपयोगेषु तस्मिन्काले विपश्चिता ॥ ८ ॥

जब जल विष, प्राणियों की विष्ठा, मूत्र, बालकों के थूक आदि से युक्त हो जाता है तब नवीन क्वथित जल के सदृश हो जाता है। वायु के द्वारा विषजन्मा के सदृश वह पहले से ही दूषित रहता है, अतः उस समय में विद्वान् व्यक्ति उसका प्रयोग किसी भी कार्य में न करे ॥ ७–८ ॥

सोपदंशं निषेवेत मैरेयारिष्टमाधवम्।
पिबेत्प्रावृषि धीरोऽल्पं रात्रौ तदपि वर्जयेत् ॥ ९ ॥
निरूहैर्बस्तिभिश्चान्यैस्तथाऽन्यैर्मारुतातपैः।

---

1. शिलाकीर्णं स्वयं श्वभ्रं नीलाञ्जनसमोदकम्।
लतावितानसंछन्नं चौण्ड्यमित्यभिधीयते ॥
अश्मादिभिरवबद्धं यत्तच्चौण्ड्यमिति चापरे।

2. नद्याः शैलादिरुद्धाया यत्र सम्मुह्य तिष्ठति।
तत्सरोजदलच्छन्नं तदम्भः सारसं स्मृतम् ॥

कुपितं शमयेद्वातं वार्षिकं चाचरेद्विधिम् ॥ १० ॥

उपदंश[1] (चिखना) के साथ मैरेय, (गन्ना के रस या शाक आदि से बने हुए मदिरा) अरिष्ट तथा माधव (मद्य विशेष महुआ का शराव) धीर व्यक्ति प्रावृट्काल में थोड़ा सा पान करे किन्तु रात्रि में बिलकुल पान न करे। निरूहणवस्ति, तथा अन्य वस्तियों के द्वारा और अन्य वातप्रकोपकपदार्थ तथा धूप के द्वारा प्रकुपित वात को शान्त करे और वर्षाकालीन विधि का प्रयोग करे।

भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्।
ततः प्रावृट् च वर्षा च ऋतू तेषां प्रकीर्तितौ ॥ ११ ॥
तस्या एवोत्तरे देशे हिमवदम्बुसंकुले ।
भूयः शीतमतस्तत्र हेमन्तशिशिरावृतू ॥ १२ ॥

गङ्गा के दक्षिण तट पर अधिक एवं बार-बार वर्षा होती है अतः उन लोगों के लिये प्रावृट् तथा वर्षा दो ऋतुएं कही गई है, और उसी गंगा के उत्तर तटपर शीत अधिक होने के कारण वहां हेमन्त तथा शिशिर दो ऋतुओं की गणना की गई है ॥ ११-१२ ॥

शरच्चर्या—

अपनीतवराभोगघननीलावगुण्ठिते ।
व्योम्नि प्रसन्नदिङ्मार्गलब्धप्रसरभास्करे ॥ १३ ॥
शक्रास्त्रलब्धसंदर्शजातमानोद्धतं (?) ततः।
आक्रामति रवेर्लक्ष्मीस्तिरस्कृत्य घनान्मलान् ॥ १४ ॥

[2]शरदृतु में कर्तव्यविधि—वर्षाकालीन मेघजन्य काले अन्धकार के नष्ट हो जाने पर, दिशाओं के स्वच्छ हो जाने से आकाश में सूर्य को स्वच्छ मार्ग

---

१. मद्य पीने के समय रुचि बढ़ाने के लिये नमकीन चना आदि चबाने का नाम उपदंश है। उसको अवदंश, चखण एवं चर्वण भी कहते है।

२. शरदुष्या पित्तकर्त्री नृणांमप्यबलापहा ।
सर्पिः स्वादुकषायतिक्तकरसा यच्छीतलं यल्लघु,
क्षीरं स्वच्छसितेक्षवः पटुरसः स्वल्पं पलं जाङ्गलम् ।
गोधूमायवमुद्गशालि सहिता नादेयमंशूदकम्,
चन्द्रश्चन्दनमिन्दुराजिरजनीमाद्यं पटोनिर्मलः ॥
विश्रामः सुहृदां गणेषु मधुरा वाचः सरः क्रीडनम्,
पित्तानां च विरेचनं बलवतो युक्तं शिरामोक्षणम् ।
एतान्यत्र घनावसानसमयेऽपथ्यानिमुञ्चेद्बुधि,

मिल जाने पर इन्द्रधनुष को देखने से उत्पन्न स्वाभिमान के द्वारा उद्भग (प्रचण्ड) होकर सूर्य की किरणें मेघ के मलों को नष्टकर फैल जाती हैं ॥ १३-१४ ॥

विदाहिक्षारतीक्ष्णोष्णं दिवा स्वप्नं गुरूण्यपि ।
तैलं गुरुचयं पाद व्यवायांश्चात्र वर्जयेत् ॥ १५ ॥

शरदृतु में विदाहिपदार्थ, क्षारीयपदार्थ, तीक्ष्ण एवं उष्णपदार्थ, गुरुपदार्थ, दिन में सोना, तैलमर्दन, गुरुचय, पाद तथा व्यवाय (मैथुन) को त्याग दे ॥ १५ ॥

सेव्यः शरदि यत्नेन विधिरेष विजानता ।
द्राक्षेक्षुक्षीरसेवा च भवेत्तत्र नराधिप ॥ १६ ॥

हे राजन् ! बुद्धिमान् व्यक्ति को यत्नपूर्वक शरद्कालीन विधि को तथ मुनक्का, गन्ना तथा दूध को सेवन करना चाहिए ॥ १६ ॥

वर्षासूपचित पित्तं निर्हरेच्च विरेचनैः ।
तिक्तसर्पिःप्रयोगैर्वा सिराणा चापि मोक्षणैः ॥ १७ ॥

वर्षाऋतु में संचित पित्त को विरेचन के द्वारा निर्हरण करे या तिक्त घृत के प्रयोग से अथवा सिरामोक्षण के द्वारा पित्त का निर्हरण करे ॥ १७ ॥

दिवा सूर्यांशुसंतप्त निशि चन्द्रांशुशीतलम् ।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्योदयनिर्विषम् ॥ १८ ॥
हंसोदकमिवि ख्यात शारदं विमलं शुचि ।
स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम् ॥ १९ ॥

दिन में सूर्य के किरणों के सन्ताप से सन्तप्त, रात्रि में चन्द्रमा के किरणों से शीतल, समय से परिपक्व होने के कारण निर्मल, अगस्त्य के उदय होने से निर्विष, शरद्कालीनस्वच्छ एवं पवित्रजल हंसोदक नाम से प्रसिद्ध है वह स्नान, पान तथा अवगाहन (स्नान) के लिये हितकर होता है। जैसा कि अमृत हितकर होता है ॥ १८-१९ ॥

शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च ।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ॥ २० ॥

शरदृतु में शरदकालीन सफेद फूल की माला स्वच्छ वस्त्र तथा प्रदोषकाल-में चन्द्रमा की किरणें प्रशस्त होती हैं। अर्थात् शरत्काल मे इन सबों का सेवन करें ॥ २० ॥

व्यायामाम्लकटूष्णतीक्ष्णदिवसस्वप्नंहिमं चातपम् ॥ (भावमिश्र)
दिवसेऽर्ककरैर्जुष्टो निशिशीतकरांशुभिः ।
ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्ध दोषत्रयापहम् ॥

हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम्।
शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः ॥ २१ ॥

हेमन्त तथा शिशिर में विसर्ग एवं आदान का बल उत्तम, शरद् तथा वसन्त काल का मध्यम और वर्षा तथा ग्रीष्मकाल का विसर्ग एवं आदान काल निकृष्ट होता है।

अर्थात् हेमन्त का प्रारम्भ तथा अन्त और शिशिर का प्रारम्भ तथा अन्त उत्तम (निर्दोष) होता है, शरद्-ऋतु का प्रारम्भ तथा अन्त और वसन्तऋतु का प्रारम्भ तथा अन्त मध्यम होता है एवं वर्षाऋतु का प्रारम्भ तथा अन्त और ग्रीष्मऋतु का प्रारम्भ तथा अन्त निकृष्ट होता है ॥ २१ ॥

हेमन्तचर्या—

शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली।
पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः ॥ २२ ॥
स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा।
रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति ॥ २३ ॥
तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान्रसान्।
मात्रया मदिरां शीधुं मधुरान्न भजेन्नरः ॥ २४ ॥

[1]हेमन्तऋतु में कर्तव्यविधि—शीत (शरद्) ऋतु में शीतलवायु के स्पर्श से रोमकूपो के निरोध हो जाने से बाहर न निकलनेवाला बलवान् जाठराग्नि हेमन्तऋतु में अधिक मात्रा में कठिन पदार्थ तथा गुरुपदार्थों को पचाने में समर्थ हो जाता है। वह जाठराग्नि जब उपयुक्त ईन्धन (भोज्यपदार्थ) नहीं प्राप्त करता है तब शरीर में उत्पन्न क्रमशः रसरक्तादि को जला देता है जिससे शीतलवायु शीतकाल में प्रकुपित हो जाता है। इसलिये मनुष्य तुषारसमय (हेमन्त) में स्निग्धपदार्थ, अम्लरसप्रधानपदार्थ, लवणरसप्रधानपदार्थ, मात्रापूर्वक, मद्य तथा शीधु (मद्यविशेष) और मधुररसप्रधान अन्नों को सेवन करे ॥ २२–२४ ॥

गोरसानिक्षुविकृतीर्घृतं तैल नवौदनम्।
हेमन्ते भजतस्तोयमुष्ण चायुर्न हीयते ॥ २५ ॥

---

१. हेमन्तः शीतलः स्निग्धः स्वादुर्जठरवह्निकृत्।
प्रातर्भोजनमम्लमिष्टलवणानभ्यङ्गघर्माश्रमान्,
गोधूमैश्चवशालिमाषपिशित पिष्टं नवान्न तिलान्।
कस्तूरीं वरकुङ्कुमागुरुयुतामुष्माम्बुशौच तथा
स्निग्ध शीधु सुखं गुरूष्णवसनं सवेत हेमन्तके ॥ (भावमिश्र)

गोरस (दही), इक्षुविकार (गुड़) घृत, तैल, नयाधान का भात तथा उष्ण जल हेमन्तऋतु में सेवन करनेवाले मनुष्य की आयु क्षीण नहीं होती है ॥ २५ ॥

साङ्गारशाले महति धूमामोदोत्कटे तथा ।
तौलकौशेयसंवीतशयने कुथकास्तृते ॥ २६ ॥
कुङ्कुमागुरुदिग्धाङ्गो निवाते भूमिगह्वरे ।
शयीत शयने चापि सुविस्तीर्णमनोरमे ॥ २७ ॥
तत्रोपनीतहारास्तु प्रिया नार्यः स्वलङ्कृताः ।
रमयेयुर्यथाकामं बलादपि मदोत्कटाः ॥ २८ ॥

अग्नि के द्वारा गरम तथा धूप के धूम से सुगन्धित उत्कृष्ट बड़े मकान में रूई तथा रेशमी वस्त्र से युक्त स्वच्छ चादर से आच्छादित शय्या के ऊपर, केशर अगर आदि सुगन्धित पदार्थों का शरीर मे लेप लगाकर या हवारहित भूधरा में अत्यधिक विस्तृत रमणीय बिस्तर के ऊपर शयन करे और वहां मालाओं को धारण की हुई आभूषणों से अलंकृत मदोन्मत्तप्रियस्त्रियों को बलात्कार से भी अपने इच्छा के अनुसार रमण कराये ॥ २६-२८ ॥

शिशिरचर्या—

एष एव विधिः कार्यः शिशिरे समुदाहृयः ।
हेमन्ते शिशिरे तुल्ये शिशिरेऽल्पं विशेषणम् ॥ २९ ॥
रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम् ।
तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते ॥ ३० ॥
निवातमुष्णमधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत् ।

[1]शिशिरऋतु में कर्तव्यविधि—पूर्वोक्त हेमन्त के ही कर्तव्य को करने के लिये शिशिरऋतु में भी कहा गया है। हेमन्त तथा शिशिरऋतु दोनों समान ऋतु हैं, केवल शिशिरऋतु में थोड़ी-सी विशेषता है कि मेघ की हवा तथा वर्षा से उत्पन्न शीतलता एवं आदान काल से उत्पन्न रूक्षता होती है। इसी कारण से हेमन्तकाल के सभी विधियां शिशिरकाल में करने का विधान है। शिशिरऋतु में वातरहित तथा उष्ण मकान में अधिक रहना चाहिए।

वसन्तचर्या—

वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः ॥ ३१ ॥
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ।

---

१. शिशिरः शीतलोतीव रूक्षोवाताग्निवर्धनः ।
शिशिरे शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम् ।
विशेषतस्ततस्तन्नहेमन्तस्य मतोविधिः ॥

तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत् ॥ ३२ ॥
गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ।

[1]वसन्तऋतु में कर्तव्य विधि—वसन्तकाल में संचित कफ सूर्य के किरणों से प्रद्रवित होकर जाठाग्नि को मन्द कर देता है और इसके बाद अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः वसन्तऋतु में वमन आदि पञ्चकर्म कराये, और गुरुपदार्थ, अम्लीयपदार्थ, स्निग्ध एवं मधुर पदार्थ तथा दिन में सोना त्याग दे।

षष्टिकान्वा यवान् शालीन्मुद्गनीवारकोद्रवान् ॥ ३३ ॥

साठी का चावल, या यव, जड़हन धान, तीना का चावल कोदो परवल, निम्ब, भंटा तथा सभी तिक्तपदार्थ हिमात्यय (वसन्त) में सेवन करे ॥ ३१–३३ ॥

पटोलनिम्बवार्ताकं तिक्तं चापि हिमात्यये ।
शुचिशुक्लाम्बरधरश्चन्दनागुरुधूपितः ॥ ३४ ॥
पीनस्तनोरुयुगला रूपयौवनशालिनीम् ।
काननेषु विचित्रेषु सर्वालङ्कारभूषिताम् ॥ ३५ ॥
कामयेद्यावदुत्साहं सुमनाः कुसुमागमे ।

वसन्त के आने पर पवित्र तथा सफेद वस्त्र धारण कर, चन्दन अगर तथा धूप से सुगन्धित होकर, रंग-विरंग के पुष्प फलवाले उपवन में कठिन दोनों स्तनों से युक्त, सुन्दरता एवं युवावस्था से सुशोभित, सभी आभूषणों से अलंकृत, प्रिय स्त्रियों को अपनी इच्छा एवं उत्साह के अनुसार रमण कराये।

व्यायाममञ्जनं धूम तीक्ष्णं च कवलग्रहम् ॥ ३६ ॥
उष्णाम्बुना शौचविधि सेवेत कुसुमागमे ।

वसन्तऋतु में व्यायाम, अञ्जन, धूम, तीक्ष्ण पदार्थ, कवलग्रह (कुल्ला मुख में धारण करना) तथा गरम जल से स्नान आदि शौचकर्म को करना चाहिए।

ग्रीष्मचर्या—

मयूखैर्जगतः सारं ग्रीष्मे पेपीयते रविः ॥ ३७ ॥

---

1. वसन्तो मधुरः स्निग्धः श्लेष्मवृद्धिकरश्च सः ।
वान्ति नस्यमथाभयां च मधुना व्यायाममुद्वर्तनं
संसेवेत मधौकफघ्नकवलं शूल्यं पलं जांगलम् ।
गोधूमान्बहुशालिभेदसहितान् मुद्गान्यवान्षाष्टिकां-
स्लेपं चन्दनकुङ्कुमागुरुकृतं रूक्ष कटूष्ण लघु ॥
मिष्टमिम्लं दधि स्निग्धदिवा स्वाप च दुर्जरम् ।
अवश्यायमपि प्राज्ञो वसन्ते परिवर्जयेत् ॥

स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ।
शीतं सशर्करं मन्थं चन्दनद्रवसेचनम् ॥ ३८ ॥
घृतं पयश्च शाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ।

[1]ग्रीष्मऋतु में करने योग्य विधि—ग्रीष्मऋतु में सूर्य अपने किरणों के द्वारा संसार के सार (द्रव पदार्थ 'जल') को पान कर जाता है अर्थात् सुखा देता है अतः ग्रीष्मकाल में मधुर तथा शीतल द्रव पदार्थ और स्निग्ध अन्न तथा पान हितकर होता है । मनुष्य शक्कर से युक्त शीतलमन्थ[2] का पान चन्दन मिले हुए जल से स्नान, घृत, दूध, तथा जड़हन धान का भात ग्रीष्मकाल में सेवन करने से कष्ट नहीं पाता है ।

व्यायाममुष्णमायासं मैथुनं परिदाहि च ॥ ३९ ॥
रसांश्चाग्निगुणोद्रिक्तान् विशेषेण विवर्जयेत् ।

व्यायाम उष्णपदार्थ का सेवन, परिश्रम, मैथुन, विदाहि (जलन उत्पन्न करनेवाला मरिचा, आदि) पदार्थ, तथा उष्ण गुणों से युक्त रसों को विशेषकर त्याग दे ।

सर्पिःखण्डगुडाक्तांश्च सहकाररसान् हितान् ॥ ४० ॥
भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम् ।
यवगोधूमविकृतीः शालींश्च विविधानपि ॥ ४१ ॥

ग्रीष्मकाल में घृत, शक्कर तथा गुड़ मिलाकर आम का रस पान करना हितकर होता है और इस काल में मधुर रसयुक्त अन्न हल्का, स्निग्ध पदार्थ शीतलपदार्थ, द्रवाधिकपदार्थ सेवन करे और यव तथा गेहूँ के बने पदार्थ रोटी, दरिया सत्तू आदि एवं अनेक प्रकार के जड़हन धान के चावल के बने हुए पदार्थों को भी सेवन करे ॥ ४०–४१ ॥

मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम् ।
लवणाम्लकटूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ॥ ४२ ॥

---

१. ग्रीष्मो रूक्षोऽति कटुकः पित्तकृत् कफनाशनः ।
स्वादुस्निग्धहिमं लघुद्रवमयं द्रव्यं रसालां सितां-
सक्तुक्षीरमजांगलानि सितया शालिरसं मांसजम् ।
शीतांशुं शयनं दिवामलयजं शीतं पयः पानकं
सेवेतोष्णदिने त्यजेत्तु कटुकक्षाराम्लधर्मश्रमान् ॥

२. सक्तुभिः सर्पिषाभ्यक्तैः शीतवारि परिप्लुतैः ।
नात्यच्छो नातिसान्द्रश्च मन्थ इत्यभिधीयते ॥
(सत्तू को घृत में मिलाकर और शीतल जल में घोलकर जो न अधिक पतला और न अधिक गाढ़ा ही बनाया जाता है उसे मन्थ कहते हैं)

ग्रीष्मकाल में मद्य पान न करे या थोड़ी (मात्रा से कम) पीवे अथवा थोड़े मद्य में अधिक जल मिलाकर पान करे और लवण (नमकीन), अम्ल (खट्टा), कटु (कड़ुवा) तथा उष्ण (गरम) पदार्थ का सेवन एवं व्यवाय (स्त्रीप्रसंग) त्याग दे ॥ ४२ ॥

दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले ।
भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ ४३ ॥

ग्रीष्मकाल में मनुष्य दिन में शीतल घर में शयन करे और रात्रि में चन्द्रमा के किरणों से शीतल वायु से युक्त मकान के छत पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ का शरीर में लेप लगाकर शयन करे ॥ ४३ ॥

व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चन्दनोदकशीतलैः ।
सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणिविभूषितः ॥ ४४ ॥

सफेद मोति के मालाओं से विभूषित मनुष्य चन्दन तथा जल से एवं शीतल हाथ के स्पर्श से युक्त व्यजन (पंखा की हवा) से सेवित होकर शीतल स्थान पर बैठे रहे ॥ ४४ ॥

काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च ।
ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद्विरतो नरः ॥ ४५ ॥
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत् ।
पानभोजनसंस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत् ॥ ४६ ॥

मनुष्य ग्रीष्मकाल में मैथुन से विरत होकर कानन (उपवन) शीतल जल तथा पुष्पों को सेवन करे। इस ऋतु में व्यायाम धूप तथा व्यवाय (मैथुन) त्याग दे और पान द्रव्य तथा बने हुए भोजन पदार्थ को प्रायः मधु मिलाकर सेवन करे ॥ ४५-४६ ॥

सरांसि वाप्यः सरितो वनानि रुचिराणि च ।
चन्दनानि पटार्द्राणि स्रजः सकमलोत्पलाः ॥ ४७ ॥
तालवृन्तानिला हारास्तथा शीतगृहाणि च ।
घर्मकाले निषेवेत वासांसि सुलघूनि च ॥ ४८ ॥

ग्रीष्मऋतु में सर (तालाब) वापी (बौली 'पोखरा') नदी, सुन्दर वन, चन्दन, गीलावस्त्र, सफेद कमल तथा नीलकमल के फूलों की माला, ताड़ के पंखे की हवा, मुक्तामणि आदि का हार, शीतल घर तथा हल्के एवं स्वच्छ वस्त्रों को सेवन करे ॥ ४७-४८ ॥

ऋतुसन्धिनिरूपणम्—

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥ ४९ ॥
ऋतावृतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः ।

घोरानृतुकृतान् दोषान्नाप्नुयात्स कदाचन ॥ ५० ॥

[1]ऋतुसन्धिनिरूपणम्—ऋतु के अन्त के सात दिन तथा प्रारम्भ के सात दिन को ऋतुसन्धि कहते हैं। इन ऋतुओं की सन्धि में पूर्वऋतु के कर्तव्य विधि को छोड़कर आनेवाले ऋतु के कर्तव्यविधि को सेवन करना चाहिए। इस प्रकार जो मनुष्य प्रत्येक ऋतु में विहित कर्तव्यकार्य को करता है वह कभी भी ऋतुजन्य भयंकर दोषों (रोगों) से पीड़ित नहीं होता है ॥४९–५०॥

ऋतुविशेषे द्रवद्रव्यसेवनविचारः—

कार्त्तिकस्य दिनान्यष्टौ मार्गस्यापि तथैव च।
वर्षासु चतुरो मासान्मात्रावदुदकं पिबेत् ॥ ५१ ॥
उष्णमेव वसन्ते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम्।
हेमन्ते च वसन्ते च शीतेऽरिष्टं पिबेन्नरः ॥ ५२ ॥

---

१. चयप्रकोपोपशमा वायोर्ग्रीष्मादिषुत्रिषु।
वर्षादिषु च पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥
चीयते लघुरूक्षाभिरोषधिभिः समीरणः।
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्नकुप्यति ॥
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्।
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ॥
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः।
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ॥
हिमे याति शमं पित्तं वायुश्लेष्मा च चीयते।
स वायुः शिशिरे कोपं यात्येवोपहतः कफः ॥
हेमन्ते सञ्चितः श्लेष्मा शिशिरेऽत्यतिचीयते।
शीतस्निग्धगुणद्रव्यैः शैत्यस्कन्नो न कुप्यति ॥
इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात्पुनः।
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः काले विशेषतः ॥
चयकोपशमान् दोषा विहाराहारसेवनैः।
समानैर्यान्त्यकालेऽपि विपरीतैर्विपर्ययम्
स्वस्थानस्थस्य दोषस्य वृद्धिस्याच्छ्वासकोष्ठता।
पीतावभासता वह्निमन्दता चाङ्गगौरवम् ॥
आलस्यं चय हेतौ तु द्वेषश्च च लक्षणम्।
संचयोपहता दोषाः लभन्ते नोत्तरां गतिम्।
ते तूत्तरासु गतिसु भवन्ति बलवत्तराः ॥

(भावप्रकाश)

ऋतुविशेष में द्रवद्रव्यसेवन विचार—कार्तिक के आठ दिन तथा अगहन के आठ दिन और वर्षाऋतु में चार माह मात्रापूर्वक जल पीवे। अर्थात् अधिक जल का सेवन न करे। मनुष्य वसन्तऋतु में गरम जल, ग्रीष्मऋतु में शीतल जल और हेमन्त, वसन्त तथा शिशिरऋतु में अरिष्ट पान करे।

शृतशीतं पयो ग्रीष्मे प्रावृट्काले रस पिबेत्।
यूषं वर्षति, तस्यान्ते प्रपिबेच्छीतलं जलम् ॥ ५३ ॥

ग्रीष्मऋतु में पकाये हुए (क्वथित) जल को ठण्डा कर पान करे तथा प्रावृट्काल में रस पान करे। वर्षाऋतु में यूष और वर्षा के अन्त में शीतल जल पीवे ॥ ५१–५३ ॥

ऋतुविशेषे भोजनविचारः—

अतिस्निग्धकटुप्रायं शिशिरे भोजनं हितम्।
वसन्ते षड्रसोपेत ग्रीष्मे मधुरशीतलम् ॥ ५४ ॥
वर्षासु लवणाम्ल च कटूष्ण च हिमागमे।
कषायमधुरप्रायं हितमम्भोदसंक्षये ॥ ५५ ॥

ऋतुविशेष में भोजनविचार—शिशिरऋतु में अत्यन्त स्निग्ध तथा कटु पदार्थ भोजन करना हितकर होता है। वसन्तऋतु में छहों रस से युक्त पदार्थ, ग्रीष्म में मधुर तथा शीतल पदार्थ, वर्षाऋतु में लवण तथा अम्ल पदार्थ, हेमन्त में कटु तथा उष्ण पदार्थ एवं वर्षा के समाप्त हो जाने पर शरद्ऋतु में कषाय तथा मधुर पदार्थ सेवन करना हितकर होता है ॥ ५४–५५ ॥

स्वस्थलक्षणम्—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ ५६ ॥

इति श्रीसोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहेऽष्टमे रसायनतन्त्रखण्डे
ऋतुचर्याधिकारः पञ्चमः।

स्वस्थ का लक्षण—जिस व्यक्ति के वातपित्त आदि दोष, अग्नि, धातु तथा मल समान स्थित हों, जो मनुष्य अपने शरीर के शक्ति के अनुसार समान रूप से कार्य करता हो और जिसकी देह, इन्द्रियां और मन प्रसन्न हो वह मनुष्य स्वस्थ (रोगरहित) कहलाता है।

श्रीवैद्यशोढल विरचित गदनिग्रह के अष्टम रसायनतन्त्र में
पांचवां ऋतुचर्याधिकार समाप्त।

समाप्तोऽयं रसायनतन्त्रखण्डः।

गदनिग्रहः

अथ वाजीकरणतन्त्राख्यो नवमः खण्डः

अथातो वाजीकरणतन्त्रं व्याख्यास्यामः

रसायनतन्त्र के बाद [1]वाजीकरणतन्त्र कहते हैं।

वाजीकरणसेवनगुणाः—

वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान्।
पुष्टिस्तुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संश्रितम्॥ १॥

वाजीकरण सेवन करने का गुण—विषयी (कामासक्त) पुरुष निरन्तर वाजीकरण की इच्छा करे। क्योंकि वाजीकरण में पुष्टी (शारीरिक पोषण), तुष्टी (मानसिक संतोष) तथा गुणवान् सन्तान आश्रित रहता है। अर्थात् वाजीकरण सेवन से शरीर पुष्ट होता है, मन संतुष्ट रहता है और गुणी सन्तान की उत्पत्ति होती है॥ १॥

वाजीकरणलक्षणम्—

अपत्यसंतानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम्।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः॥ २॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
तद्वाजीकरणं तद्धि देहस्यौजस्करं परम्॥ ३॥

वाजीकरण का लक्षण—जो अपत्य सतान (लड़का या लड़की) को उत्पन्न करता है, शीघ्र ही कामशक्ति से उत्साहित करता है, घोड़े के सदृश अत्यन्त बलवान बनाता है, जिससे स्त्रिया संतुष्ट हो जाती हैं जिससे मनुष्य स्त्रियों का प्रियपात्र बन जाता है, तथा जिससे शरीर के अगों की वृद्धि होती है उसको वाजीकरण कहते हैं। वह वाजीकरण शरीर के ओजशक्ति को अच्छी तरह बढ़ाता है॥ २–३॥

---

१. न वाजी, अवाजी, अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्। अथवा वाजः शुक्रं, वाजो शुक्रवान्।

(जो पहले घोड़े के सदृश वीर्यवान् न हो उसको घोड़े के सदृश वीर्यवान् बनावे उसे वाजीकरण कहते हैं। अथवा जो वीर्य से परिपूर्ण करे उसको वाजीकरण कहते हैं)।

स्त्रीप्रशंसा—

सारो हि जीवलोकस्य स्त्री स्त्रीगुणसमन्विता।
स्त्रियः साध्व्यः प्रसुवते नरान् गुणमयानिव ॥ ४ ॥
गोत्रवृद्धिकरा ह्येता गृहिण्यो गृहदेवताः।
गृहं विहीनमेताभिर्न श्रीमदपि शोभते ॥ ५ ॥

स्त्री की प्रशंसा—स्त्रियों[1] के गुणों (हाव, भाव, लज्जा आदि) से युक्त स्त्री इस संसार का सारभूत है, अर्थात् महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। साध्वी (सती, पतिव्रता) स्त्रियाँ गुणवान पुत्रों को उत्पन्न करती हैं। ये स्त्रियाँ गोत्र (कुल) को बढ़ानेवाली घर की देवियाँ हैं। इन गृहदेवियों से रहित घर सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा लक्ष्मी से सम्पन्न रहते हुए भी सुशोभित नहीं होता है ॥ ४–५ ॥

निरपत्यपुरुषनिन्दा—

अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः।
यथैकश्चैकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ ६ ॥
अतो वाजीकरा योगा निषेव्या शुक्रवर्धनाः।

संतानहीन व्यक्ति छायारहित, दुर्गन्धित पुष्पवाले, फल से विहीन तथा एक शाखा (डाल) वाले वृक्ष के सदृश होता है। इसलिये मनुष्य सन्तानार्थं तथा सत्पुरुष बनने के लिये शुक्र को बढ़ानेवाले वाजीकरण के योगों को सेवन करे।

वाजीकरणप्रशंसा—

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ॥ ७ ॥
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवार्यते।
तस्मात्प्रयोगान् वक्ष्यामि दुर्बलानां बलप्रदान् ॥ ८ ॥
सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान्।

वाजीकरण की प्रशंसा—[2]स्वस्थ, युवावस्थावाले तथा वाजीकरण सेवन-

---

१ नामानि यस्या हृदयेरत्नवाय, यां पश्यतां तृप्तिरनाप्तपूर्वा।
सर्वेन्द्रियाकर्षणपाशभूताकान्तानुवृत्तिव्रतदीक्षिताया ॥
कलाविलासाङ्गवयोविभूषा, शुचिः सलज्जा रहसि प्रगल्भा।
प्रियंवदा तुल्यमनःशया या सा स्त्री वृषत्वाय परं नरस्य ॥
(अ० हृ०)

२. भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च।
गीतश्रोत्राभिरामाश्च वाचः स्पर्शसुखास्तथा ॥
यामिनी चन्द्रतिलका कामिनी नवयौवना।
गीत श्रोत्रमनोज्ञं च ताम्बूलं मदिरास्रजः ॥

परायण व्यक्ति के लिये सभी ऋतुओं में भी मैथुन करना त्याज्य नहीं है। इसीलिये दुर्बलों को बल देनेवाले योगों को आगे कहेंगे। जो योग सुखपूर्वक स्त्रीसेवन करनेवाले बलवानों के भी बल को पुनः बढ़ानेवाले हैं।

वाजीकरं माषाद्यं घृतम्—

माषात्मगुप्ताबीजानामाढके प्रसृतोन्मितम् ॥ ९ ॥
मेदाश्वगन्धाद्विवरीवीरायष्टीद्विजीरकम् ।
शूर्पेऽपां विपचेत्तेन पादशेषेण पाचयेत् ॥ १० ॥
विदारीक्षुरसप्रस्थद्वयेन, सदृशेन च ।
सर्वैः क्षीरेण, हविषो नवात्प्रस्थ समावपेत् ॥ ११ ॥
सिताक्षौद्रतुगाख्यानां पृथग्दद्याच्चतुःपलम् ।
पलं कणा, पुरोभक्त लिहंस्तत्पलपूर्वकम् ॥ १२ ॥
तरुणीष्वतिदृप्तासु प्रसभं रासभायते ।

वाजीकरण माषाद्य घृत—माष (उड़द) तथा आत्मगुप्ता (केवाछ का बीज) एक एक आढक (चारसेर), मेदा, अश्वगन्धा, दोनों शतावरी (वरी = शतावरी, वीरा = सहस्रवीर्या 'शतावरी' महाशतावरी), मुलेठी, सफेद जीरा तथा स्याह जीरा एक एक प्रसृत (दो-दो तोला) इन सभी द्रव्यों को एक शूर्प (द्रोण 'सोलह सेर') जल में पकावे और चौथाई शेष क्वाथ को छानकर उसमें समभाग विदारीगन्धा तथा गन्ना रस दो प्रस्थ (दो सेर) और इन सभी द्रव्यों के बराबर दूध मिलाकर उसके साथ नवीन घृत एक प्रस्थ (सेर) डालकर पकावे तथा उतार ले। इसके बाद शीतल होने पर उसमें मिश्री चार पल, मधु चार पल तथा वशलोचन चार पल एवं पीपर का चूर्ण एक पल (एक छटाँक) मिला दें और एक पल (एक छटाँक) की मात्रा में भोजन के पहले चाटे। इस योग को सेवन करनेवाला व्यक्ति कामोन्मत्ता युवती स्त्रियों के साथ बलात्कारपूर्वक गर्दभ के सदृश अधिक वेग से रमण करता है।

वाजीकरं मेदाद्यं क्षीरम्—

मेदादिभिश्च कर्षांशैः श्टतं बाष्कायणं पयः ॥ १३ ॥
सशर्कराक्षौद्रघृतं शुक्रवृद्धिकरं परम् ।

वाजीकरण मेदाद्य क्षीर—मेदा, अश्वगन्धा, शतावरी, सहस्रवीर्या (महाशतावरी), मुलेठी, सफेद जीरा तथा स्याह जीरा एक एक कर्ष (तोला) इन द्रव्यों के कल्क के साथ पकाया हुआ [1]बाष्कायण दूध, शक्कर, मधु तथा घृत

गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ।
मनसश्चाप्रतिघातो वाजी कुर्वन्ति मानवम् ॥

१. एक वर्ष की ब्यायी हुई बकेना, गौ का दूध ।

मिलाकर पान करने से अच्छी तरह वीर्य को बढ़ाता है अर्थात् यह वीर्यवर्द्धक योग है।

वाजीकरौ पायसयोगौ—

पयसा पायसस्तेन माषकण्डूकरीफलैः ॥ १४ ॥
वृष्यो वेगकरः सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः।

वाजीकरण दो पायस योग—पूर्वोक्त मेदाद्य दूध के साथ माष (उड़द) तथा [1]कण्डूकरी (केवाछ) के फल का पायस (खीर) घृत, मधु और शक्कर मिलाकर सेवन करने से वीर्य को बढ़ाता है रतिवेग को उत्पन्न करनेवाला होता है।

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे ॥ १५ ॥
घृताढ्ये साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः।

श्वदंष्ट्रा (गोखरू) तथा विदारीकन्द के क्वाथ तथा [2]चौगुने दूध में अधिक मात्रा में घृत मिलाकर सिद्ध किया हुआ उड़द एवं साठी धान के चावल का खीर वीर्यवर्द्धक होता है।

वाजीकरं माषपर्ण्यादिचूर्णम्—

समूलिका माषपर्णी सिता शृङ्गाटकं यवाः ॥ १६ ॥
स्वगुप्तामूलयष्ट्याह्वविदारीक्षुरकाः समाः।
सपियाला कृताश्चूर्णं पृथङ्माध्वाज्यषड्गुणाः ॥ १७ ॥
पादाभ्यामस्पृशन्भूमिं लिहन्कोलमितं पुमान्।
लभते बलमुत्साहं स्त्रीषु याति कुलिङ्गवत् ॥ १८ ॥

वाजीकरणमाषपर्ण्यादि चूर्ण—मूल सहित (पञ्चाङ्ग सहित), माषपर्णी (वन उड़द), मिश्री, सिंघाड़ा, यव, केवाछ की जड़, मुलेठी, विदारीकन्द, इक्षुरक (काश की जड़) तथा पियाल (चिरौंजी), समभाग इन द्रव्यों को अलग-अलग चूर्ण बनाकर तथा उन एक साथ मिला दे और उसमें मधु तथा घृत छः भाग मिला दे। इस योग को कोल (आधा तोला) की मात्रा में चाटनेवाला तथा पैर से भूमि न स्पर्श करता हुआ मनुष्य अत्यधिक बल तथा उत्साह को प्राप्त करता है और कुलिङ्ग (चटका 'गौरया') के सदृश रमण करता है ॥ १६–१८ ॥

---

१. केवाछ के बीज को गरम जल में अच्छी तरह उबालकर छिलका उतार लेना चाहिए और उसको तथा छिलकारहित उड़द को पीसकर दूध में पकाकर शक्कर मिला दे और शीतल होने पर मधु मिलाकर सेवन करे।

२ पीठी के चौगुना दूध तथा चौगुना क्वाथ ग्रहण करना चाहिए।

वाजीकरं स्वगुप्तादिचूर्णम्—

स्वगुप्ता क्षीरकाकोली विदारी जीरकद्वयम् ।
तिलाः सुलुञ्चिता भृष्टाः शर्कराज्यमधुप्लुतम् ॥ १९ ॥
तच्चूर्णं प्रसृतिं लीढ्वा गच्छति प्रमदाशतम् ।

वाजीकरण स्वगुप्तादि चूर्ण—स्वगुप्ता (केवाछ की जड़), क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, सफेद जीरा, स्याह जीरा तथा छिलका निकाला हुआ तथा भूना हुआ तिल इन सबों का चूर्ण बनाकर शक्कर, घृत तथा मधु मिला दे । इस स्वगुप्तादि चूर्ण को एक प्रसृति (दो छटाँक) की मात्रा में चाटकर मनुष्य सैकड़ों स्त्रियों के साथ संभोग कर सकता है । (तिल एक सेर अन्य द्रव्य एक-एक छटांक, घृत आधा सेर, शक्कर, दो सेर तथा मधु आधा सेर मिलाकर अवलेह बना ले ।)

वाजीकरो माषचूर्णयोगः—

प्रसृतिं माषचूर्णस्य धात्रीस्वरसभावितम् ॥ २० ॥
घृतक्षौद्रयुतं लीढ्वा प्रमदा दश गच्छति ।

वाजीकर माष चूर्ण योग—माष (उड़द) का चूर्ण एक प्रसृति (दो छटाँक) आँवला के रस में भावित कर मधु तथा घृत मिलाकर चाटने से मनुष्य दश स्त्रियों के साथ रमण करता है ।

वाजीकरो विदारीयोगः—

विदारीचूर्णकं वाऽपि लिहन्मधुघृतप्लुतम् ॥ २१ ॥
क्षीरानुपश्चटकवद्वशे कृत्वा व्रजेत्स्त्रियम् ।

वाजीकर विदारी योग—अथवा विदारीकन्द का चूर्ण भी मधु तथा घृत मिलाकर और उसको चाटकर दूध पीनेवाला व्यक्ति गौरैया के तरह स्त्रियों को वश में करके रमण करता है ।

चूर्णं विदार्या बहुशः स्वरसेनैव भावितम् ॥ २२ ॥
कृष्णाधात्रीफलरजोद्राक्षामधुकसंयुतम् ।
शर्करामधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा योऽनु पयः पिबेत् ॥ २३ ॥
स नरोऽशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति ।

जो व्यक्ति विदारीकन्द के चूर्ण को अपने ही (विदारीकन्द के ही) स्वरस से अनेक बार भावित कर पीपर, आँवला, मुनक्का तथा मुलेठी का चूर्ण मिलाकर शक्कर, मधु तथा घृत के साथ चाट कर उसके बाद दूध पीता है वह अस्सी वर्ष का भी वृद्ध मनुष्य युवा के सदृश रमणियों के साथ रमण करता है ।

विदारीकन्दचूर्णं तु घृतेन पयसा नरः ॥ २४ ॥
उदुम्बरसमं खादन्वृद्धोऽपि तरुणायते ।

जो व्यक्ति विदारीकन्द का चूर्ण घृत में मिलाकर दूध के साथ गूलर के बराबर (एक तोला) खाता है वह वृद्ध भी जवान के सदृश आचरण करता है। अर्थात् युवा के तरह बल-वीर्य से परिपूर्ण होकर रमण करना है।

वाजीकरो यष्टीमधुकयोगः—

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् ॥ २५ ॥
पयोनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः स ना भवेत्।

वाजीकर यष्टीमधुक योग—जो मनुष्य मुलेठी का चूर्ण एक कर्ष (एक तोला) तथा मधु मिलाकर दूध के अनुपान से चाटता है वह मनुष्य निरन्तर रमण करने योग्य रहता है।

वाजीकरः कर्कटश्रृङ्गीयोगः—

कुलीरश्रृङ्ग्या यः कल्कमालोड्य पयसा पिबेत् ॥ २६ ॥
सिताघृतपयोन्नाशी स नारीषु वृषायते।

वाजीकर कर्कटश्रृङ्गी योग—जो व्यक्ति कुलीरश्रृङ्गी (काकड़ासिंगी) का कल्क दूध के साथ घोलकर पान करता है और मिश्री, घृत दूध तथा अन्न भक्षण करता है वह वृष (साँढ) के सदृश आचरण करता है। अर्थात् वह व्यक्ति वीर्यवान होकर अत्यधिक रमण करने में समर्थ हो जाता है।

वाजीकर आमलकयोगः—

एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम् ॥ २७ ॥
शर्करामधुसर्पिर्भ्यां युक्तं लीढ्वा पयः पिबेत्।
एतेनातिसुवृद्धोऽपि युवेव परिहृष्यति ॥ २८ ॥

वाजीकरण आमलक योग—पूर्वोक्त प्रकार से आँवला का चूर्ण आँवला के स्वरस से ही भावित कर शक्कर, मधु तथा घृत मिलाकर चाटे और दूध पान करे। इस योग को सेवन करने से अत्यन्त वृद्ध भी युवा के सदृश वीर्ययुक्त होकर रमण करने में समर्थ होता है ॥ २७–२८ ॥

वाजीकरं स्वयंगुप्तादिचूर्णम्—

स्वयंगुप्तेक्षुरकयोर्बीजचूर्णं सशर्करम्।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥ २९ ॥

वाजीकर स्वयंगुप्तादि योग—मनुष्य स्वयंगुप्ता (केवाछ) तथा इक्षुरक (तालमखाना) के बीज का चूर्ण शक्कर मिलाकर (धारोष्ण) दूध के साथ पान कर क्षय को नहीं प्राप्त होता है। अर्थात् स्त्री के साथ रमण करते समय पहले स्खलित नहीं होता है ॥ २९ ॥

वाजीकरो भल्लातकादियोगः—

भल्लातकैश्चतुर्भिश्च गोदुग्धस्याढकं शृतम्।

पीतं करोति वृषतां सुजीर्णस्यापि देहिनः ॥ ३० ॥
उच्चटाचूर्णमप्येवं शतावर्याश्च योजयेत् ।

चार भल्लातकों के साथ एक आढक (चार सेर) गाय का दूध पकाकर पान करने से जीर्ण शरीरवाले व्यक्ति को भी वृष के तरह वीर्यवान बनाता है। इसी प्रकार उच्चटा तथा शतावरी का चूर्ण गाय के दूध में पकाकर प्रयोग करे। अर्थात् इन दोनों चूर्णों को भी दूध में पकाकर पान करने से मनुष्य वृष के समान बलवान् होता है।

वाजीकरोऽश्वत्थयोगः—

अश्वत्थमूलपत्रत्वकशुङ्गासिद्धं पयो नरः ॥ ३१ ॥
पीत्वा सशर्करं शीतं कुलिङ्ग इव हृष्यति ।

वाजीकर अश्वत्थ योग—मनुष्य अश्वत्थ (पीपल) का मूल, पत्र, छाल तथा टूसा से सिद्ध घृत शीतल कर तथा शक्कर मिलाकर पान करने से गौरेया के सदृश स्त्रियों के साथ रमण करने में समर्थ होता है।

वाजीकरः स्वयंगुप्तादिमोदकः—

जलाढके स्वयंगुप्तामूलं पञ्चपलं पचेत् ॥ ३२ ॥
पादशेषे तु सचूर्ण्य कुडवांशान् पृथक् क्षिपेत् ।
स्वगुप्तामूलगोधूममाषेक्षुरकपिप्पलीः ॥ ३३ ॥
सपियालरसक्षौद्रा प्रस्थार्धं नवसर्पिषः ।
सितोपला तुलापादं कुर्यात्तन्मोदकांस्ततः ॥ ३४ ॥
मोदकं भक्षयित्वैकं षष्टिं व्रजति योषिताम् ।

वाजीकर स्वयंगुप्तादि मोदक—स्वयंगुप्ता (केवाछ) का मूल पांच पल (पांच छटांक), जल एक आढक (चार सेर) मे पकावे चौथाई शेष रह जाने पर छानकर उसमें केवाछ का मूल, गेहूँ का सत्व, उड़द की पीठी, इक्षुरक (कास) की जड़ तथा पीपर इन द्रव्यों को अलग २ कर एक-एक कुडव (एक पाव), लेकर और चूर्ण बनाकर छोड़ दे। इसके अतिरिक्त चिरौंजी का रस एक पाव, नवीन घृत, आधा प्रस्थ (आधा सेर) तथा मिश्री सवा सेर की चासनी बनाकर मिला दे शीतल हो जाने पर मधु एक कुडव (एक पाव) मिलाकर मोदक बना ले। इसमें से मनुष्य केवल एक मोदक खाकर साठ स्त्रियों के पास जा सकता है। अर्थात् साठ स्त्रियों के साथ वेगपूर्वक रमण कर सकता है।

(विधि :—केवाछ की जड़ को क्वाथ करने के बाद चौथाई शेष क्वाथ को छान कर अलग रख ले। इसके बाद केवाछ की जड़ आदि द्रव्यों को कपड़छान चूर्ण बना ले और उसको घृत में मृदुपाक भून ले पुनः पूर्वोक्त क्वाथ में

मिश्री का पाक बनाले और उसमें चिरौंजी का रस तथा भूना हुआ चूर्ण मिला दे और मोदक निर्माण विधि के अनुसार मोदक पाक उतार ले तथा शीतल होने पर मधु मिलाकर एक-एक तोला का मोदक बना ले और घृतस्निग्ध पात्र में रख दे। इसके बाद बल तथा आयु के अनुसार एक या दो मोदक दूध के साथ सेवन करे)।

स्वगुप्ताढकचूर्णेन प्लुतेन पयसा कृताः ॥ ३५ ॥
घृते सशर्कराक्षौद्रा भुक्ता वेगशतप्रदाः।

स्वयंगुप्ता (केवाछ) के मूल का चूर्ण एक आढक (चार सेर) को घृत (घृत एक सेर) में भूनकर दूध (आठ सेर) में पकाकर, शक्कर (आठ सेर) की चासनी में मिलाकर मोदकवत् पाक कर ले। इसके बाद शीतल हो जाने पर मधु (आधा सेर) मिला दे और मोदक बना ले। यह मोदक खाने से सैकड़ों वेगों को देने वाला होता है। अर्थात् सैकड़ों स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्रदान करता है।

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपिष्टकान् ॥ ३६ ॥
शर्कराया विदार्याश्च चूर्णानीक्षुरकस्य च।
संयोज्य क्षीरसर्पिर्भ्यां घृते पूपलिका पचेत् ॥ ३७ ॥
पयोनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां परम्।

माष (उड़द), केवाछ की जड़, गेहूँ, जड़हन धान का चावल तथा साठी धान के चावल की पीठी, विदारीकन्द तथा इक्षुरक (कास) की जड़ का चूर्ण इन सभी चूर्णों को एकत्र कर कपड़े से छान ले तथा शक्कर में मिला दे और दूध में घोल दे। इसके बाद घृत को कड़ाही में रखकर आग पर चढ़ा दे और पूपिका (पूआ) पका ले। यह पूआ दूध के अनुपान के साथ खाने से शीघ्र ही मनुष्य को उत्तम वीर्यवान बना देती है। (मोदकनिर्माण विधि के अनुसार द्रव्य ग्रहण की मात्रा कल्पित कर लेनी चाहिए)।

वाजीकरः शष्कुलीयोगः—

चूर्णं माषात्तिलाच्छालेर्विदार्याश्च ससैन्धवम् ॥ ३८ ॥
रसेन पुण्डरीकाद्याः प्लुतं च मधुसर्पिषा।
पक्वां शष्कुलिकां खादन्नारोहेत् षष्टिमङ्गनाम् ॥ ३९ ॥

वाजीकर शष्कुली योग—माष (उड़द), तिल, जड़हन धान का चावल, विदारीकन्द का चूर्ण तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों के चूर्ण को पुण्डरीकाद्यी के रस में मिलाकर घृत तथा मधु में शष्कुलिका (पूड़ी) पकाले और भक्षण करे। इस योग को सेवन करनेवाला व्यक्ति साठ स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है ॥ ३८-३९ ॥

वाजीकरः शरमूलादियोगः—

शरमूलानि मधुकं गुन्द्रकेक्षुरसं मधु ।
शतावरी विदारी च शृङ्गाटककसेरुकम् ॥ ४० ॥
पनसाक्षोटखर्जूरनालिकेरफलाश्रयाः ।
आत्मगुप्ताफल माषा गोधूमाः सरसं पयः ॥ ४१ ॥
एभिर्भोज्यानि भक्ष्याणि सर्पीषि च पयांसि च ।
नित्यमासेव्यमानस्य स्त्रीषु हर्षः प्रवर्तते ॥ ४२ ॥

वाजीकर शरमूलादि योग—शर की जड़, मुलेठी, गुन्द्रक (गोंद पेटल) की जड़, गन्ने का रस, मधु, शतावरी, विदरीकन्द, सिंघाड़ा कसेरुक, कटहल, अखरोट, खजूर, नारियल आदि फल, केवाछ का फल, उड़द, गेहूँ, घृतयुक्त दूध इन द्रव्यों से यथायोग्य तैयार किये हुए भोज्य पदार्थ तथा भक्ष्य पदार्थ और इन्हीं द्रव्यों से यथायोग्य सिद्ध किये हुए घृत एवं दूध ये सभी पदार्थ प्रतिदिन सेवन करनेवाले व्यक्ति के स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति को बढ़ाते हैं ॥ ४०–३२ ॥

वाजीकरी गोधूमाद्या पूपलिका—

आसन्नक्षीरिणो ज्ञात्वा गोधूमान् शालिषष्टिकान् ।
निष्पीड्य क्षीरं मधुकमृणालकपिकच्छुभिः ॥ ४३ ॥
विदार्याश्चैव चूर्णेन शर्करामधुसंयुताम् ।
घृते पूपलिकां पक्त्वा भक्षयित्वा पय पिबेत् ॥ ४४ ॥
स्त्रीणां शतमसौ गत्वा कुलिङ्ग इव हृष्यति ।

वाजी करनेवाली गोधूमाद्या पूपलिका—गेहूँ, जड़हन धान तथा साठी धान को उसमें दूध आ जाने पर ग्रहणकर अच्छी तरह कूटकर उसका दूध निकाल ले और उसमें मुलेठी, कमल की नाल, केवाछ का बीज तथा विदारीकन्द इन द्रव्यों का चूर्ण, शक्कर एवं मधु में मिलाकर घृत में पूपलिका (पूआ) बनावे और उसको बल तथा अग्नि के अनुसार खाकर दूध पान करे। इस अपूप को सेवन करनेवाला मनुष्य सैकड़ों स्त्रियों के साथ मैथुन करके भी चटक पक्षी के समान वेग युक्त (रमण करने की शक्ति से) सम्पन्न रहता है।

वाजीकरस्तिलयोगः—

तिलान् सुलुञ्चितान्मेषवृषणक्वाथभावितान् ॥ ४५ ॥
सशर्करान् भक्षयित्वा वृद्धवत्सापयः पिबेत् ।
एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति ॥ ४६ ॥

वाजी करनेवाला तिलयोग—छिलका निकाले हुए काले तिल के चूर्ण को मेष (भेड़) के अण्डकोष के क्वाथ से भावित करे और शक्कर मिलाकर भक्षण

करे तथा वृद्धवत्सा (बकेना 'अधिक दिन की ब्यायी हुई') गाय का दूध पान करे। इस योग को सेवन करने से अस्सी वर्ष का वृद्ध भी जवान के सदृश वेग के साथ मैथुन करने में समर्थ हो जाता है ॥ ४५–४६ ॥

वाजीकर क्षीरयोगः—

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषचूर्णभृतां गवाम् ।
यत्क्षीरं तत्प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु ॥ ४७ ॥
पिप्पलीलवणोपेतां विदारीं क्षीरसर्पिषा ।
साधितां भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत्प्रमदाशतम् ॥ ४८ ॥

वाजी करनेवाला क्षीरयोग—उड़द के चूर्ण को खाने वाली तुरन्त की ब्यायी हुई तथा अधिक दिन की ब्यायी हुई गायों का जो दूध होता है वह बल को चाहनेवाले मनुष्यों के लिये प्रशस्त है। पीपर का चूर्ण तथा सेन्धा नमक मिलाकर दूध तथा घृत के साथ पकाया हुआ विदारीकन्द का चूर्ण जो व्यक्ति खाता है वह सैकड़ों, स्त्रियों के साथ रमण करने में समर्थ होता है। अर्थात् सैकड़ों प्रमदाओं के साथ मैथुन कर सकता है ॥ ४७–४८ ॥

वाजीकरमिक्षुरकाद्यं चूर्णम्—

इक्षुरगोक्षुरकौ शतमूलीवानरिनागबलातिलमाषाः ।
चूर्णमिदं पयसा निशि पेयं यस्य गृहे प्रमदाशतमस्ति ॥ ४९ ॥

वाजी करनेवाला इक्षुरकाद्य चूर्ण—इक्षुर का मूल, गोखरू, शतावरी, केवाछ का बीज, नागबला (गंगेरन), तिल तथा उड़द समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण दूध के साथ रात में पान करे जिस मनुष्य के घर में सैकड़ों स्त्रियां हैं; अर्थात् इस चूर्ण को सेवन करने से सैकड़ों स्त्रियों के साथ संभोग करने में समर्थ होता है ॥ ४९ ॥

वाजीकरं नारसिंहचूर्णम्—

त्रिकटुविदारीनिस्तुषतिलबहुपत्रीरजःप्रस्थम् ।
भल्लातकप्रस्थयुतं तत्सममानं गुडूच्यास्तु ॥ ५० ॥
पञ्चत्रिंशन्मधुनो व्योषस्याष्टौ पलानि दश वह्नेः ।
तद्द्विगुणा वाराही सप्तगुणा शर्करा दहनात् ॥ ५१ ॥
मध्वघघृतमेतत्परिमृज्य स्निग्धभाजने निहितम् ।
अद्याद्यथाग्नि हन्तु रोमानीकं क्षयं कासम् ॥ ५२ ॥
अश्मर्युदरभगन्दरकुष्ठवलीपलितपीनसं षाण्ढ्यम् ।
नरसिंहसदृशविक्रममपत्यमभिवाञ्छितं लभते ॥ ५३ ॥
बलवर्णस्वरकान्तिमुत्साहसत्त्वसंयुक्तम् ।
उपयुज्य चूर्णमब्दं शुद्धं तन्नारसिंहाख्यम् ॥ ५४ ॥

वाजी करनेवाला नारसिंह चूर्ण—त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच), विदारी-

कन्द, छिलका निकाला हुआ तिल तथा बहुपत्री (शिवलिंगी), इन द्रव्यों का चूर्ण एक प्रस्थ (एक सेर), शुद्ध भल्लाक का चूर्ण एक प्रस्थ (एक सेर), गुडूची का चूर्ण एक सेर, मुलेठी का चूर्ण पञ्चत्रिंशत पल (पैंतिस छटांक), व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), आठ छटांक, चित्रक दश छटांक, वाराहीकन्द बीस छटांक, शक्कर सत्तर छटांक तथा घृत साढ़े सतरह छटांक इन सभी द्रव्यों को एक साथ मिलाकर घृत स्निग्ध पात्र में रक्खे और अपने जाठराग्नि के बल के अनुसार रोगों के समूह क्षयरोग, कास (खांसी), पथरी, उदररोग, भगन्दर, कुष्ठरोग, वली (मुख में झुर्री पड़ना), पलित (असमय में बाल पकना), पीनस (दुर्गन्ध युक्त नासास्राव) रोग तथा नपुंसकता, को नाश करने के लिये भक्षण करे । मनुष्य इस रस रक्तादि धातुओं को बढ़ानेवाला शुद्ध नारसिंह नामक चूर्ण को सेवन कर बल, स्वरूप, स्वरूप, स्वर, कान्ति, उत्साह तथा पराक्रम से परिपूर्ण नरसिंह के समान पराक्रम से युक्त अपनी इच्छा के अनुसार पुत्र को प्राप्त करता है ॥ ५०–५४ ॥

सुकाञ्चनाभो मृगराजविक्रमस्तुरङ्गवेगो जलदौघनिस्वनः ।
स्त्रीणां शतं गच्छति सोऽतिरक्त सहृष्टतुष्टश्चटको यथा तथा ॥ ५५ ॥

इस योग को सेवन करनेवाला मनुष्य सुन्दरता मे शुद्ध संतप्त सोना के सदृश, सिंह के समान पराक्रम से युक्त, घोड़े के समान वेग से परिपूर्ण, मेघ के सदृश शब्द करनेवाला, संतोष एवं उत्साह के साथ अत्यधिक अनुरक्त होकर सैकड़ों स्त्रियों के साथ संभोग करता है । जैसे चटक (गौरया) पक्षी उत्साह के साथ संभोग कर हर्षित रहता है ॥ ५५ ॥

पुत्राञ्जनयते वीरान्नरसिंहपराक्रमान् ।
नारसिंह इति ख्यातश्चूर्णो रोगगणापहः ॥ ५६ ॥

यह प्रसिद्ध नारसिंह नामक चूर्ण रोग के समूहों को नाश करनेवाला नरसिंह के सदृश पराक्रम वाले वीर पुत्रों को उत्पन्न करता है ॥ ५६ ॥

वाराहमूर्धकन्दा च वाराहीकन्दसञ्ज्ञिता ।
भिषजा तदलाभे तु चर्मकारालुको मतः ॥ ५७ ॥

वराह (शूकर) के मूर्धा (थूथून) के सदृश कन्द होने से वाराहीकन्द कहते हैं । यदि वैद्य वाराहीकन्द को न प्राप्त कर सके तो उसके स्थान पर चर्मकारालुक को ग्रहण करे ॥ ५७ ॥

कतिपयवाजीकरयोगाः—

श्वदंष्ट्रा पयसा सिद्धां पिबेदेकाकिनीं नरः ।
जरया पीतसारोऽपि युवेव चरति स्त्रियः ॥ ५८ ॥

वृद्ध वाजीकरण योग—केवल गोखरू को दूध में पकाकर मनुष्य पान करे। इसको पान करने से जरावस्था के कारण पीतसार (वीर्यहीन) वृद्ध भी जवान के सदृश स्त्रियों के साथ रमण करता है ॥ ५८ ॥

भुक्त्वा यो माषसूपेन घृताढ्यं षष्टिकोदनम् ।
पयः पिबति जागर्ति कृत्स्नां रात्रिं स वेगवान् ॥ ५९ ॥

जो व्यक्ति उड़द के दाल के साथ पर्याप्त घृतयुक्त साठी धान के चावल का भात खाकर ऊपर से दूध पान करता है वह संभोग करने के वेग से युक्त होकर रात भर जगता है। अर्थात् रात भर रमण करने में समर्थ रहता है ॥ ५९ ॥

सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता ॥ ६० ॥

जो स्त्री सुन्दर रूप तथा युवावस्था से सम्पन्न है, स्त्रियों के सभी (हाव भावादि) गुणों से युक्त है, पुरुषों को वश में करनेवाली है तथा जो काम के कलाओं को जानती है वह स्त्री वृष्य कही गई है। अर्थात् इस प्रकार की स्त्री वाजीकर होती है ॥ ६० ॥

नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्सप्तत्याः परतो न च ।
आयुःकामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥ ६१ ॥

आयु को चाहनेवाला व्यक्ति सोलह वर्ष से कम उमरवाली तथा सत्तर वर्ष से अधिक उमरवाली स्त्री के साथ संभोग (मैथुन) न करे ॥ ६१ ॥

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च ।
वाचः श्रोत्रानुगामिन्यः त्वचि स्पर्शसुखास्तथा ॥ ६२ ॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ।
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥ ६३ ॥

अनेक प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य) भोजन, विविध प्रकार के (मद्य, रसाला, पानक आदि) पान, कान को प्रिय लगनेवाली वाणी, त्वचा को सुख देनेवाला स्पर्श, मन को हरण करनेवाले गन्ध, रंग विरंग के पुष्प एवं फल वाले उपवन तथा मानसिक इच्छा का आघात न होना ये सब साधन मनुष्य को वाजी करने योग्य बनाते हैं ॥ ६२–६३ ॥

नवं हर्म्यं नवा वामा शय्या कोमलतूलिका ।
गेयानि मधुरालापास्ताम्बूलं कुसुमस्रजः ॥ ६४ ॥
अङ्गसंवाहनं स्नानं नवधा गन्धसंस्कृतिः ।
कोमलानि दुकूलानि सवस्त्राभरणानि च ॥ ६५ ॥
नानाविधानि भोज्यानि रसाला पानकानि च ।

चित्रशाला चन्द्रशाला लीलोद्यानं च दीर्घिका ॥ ६६ ॥
नैवेच्छाभिहतिर्मद्यं कथाः शृङ्गारसुन्दराः ।
कवयो विभ्रमाः स्त्रीणां वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥ ६७ ॥

नवीन अट्टालिका, युवती स्त्रियाँ, मुलायम रूई के गद्दा से आच्छादित शय्या, गीत, मीठी-मीठी बातें, ताम्बूल (पान), फूल की मालायें, अंगमर्दन के साथ स्नान, नव प्रकार के गन्ध-द्रव्यों से संस्कार करना, मुलायम रेशमी चादर, सुन्दर धारण करने के लिये वस्त्र तथा आभूषण, अनेक प्रकार के व्यजनों से युक्त भोजन, विविध प्रकार की रसाला तथा पानक, रंग-विरंग की शीतल अट्टालिकायें, अनेक लीलावाली मूर्तियों से युक्त उपवन, तालाव, इच्छा के अभिघातक पदार्थों का अभाव, अनेक प्रकार के मद्य, शृङ्गाररस की सुन्दर कथायें, विभ्रम (हाव, भाव, अलंकार तथा छन्द के साथ कविता पाठ करनेवाले) कवि ये सब साधन मनुष्य को स्त्रियों में वाजी करने के लिये समर्थ बनाते हैं ॥ ६४–६७ ॥

उद्वर्तने तथा स्नाने जले तैले विलेपने ।
धूपने वसने भोज्ये मुखे वासः प्रयुज्यते ॥ ६८ ॥

उबटन, स्नान, जल, तैल, विलेपन, धूपन, वस्त्र, भोज्य पदार्थ तथा मुख में सुगन्ध का प्रयोग करना में नवधा गन्ध संस्कृति (सुगन्धित पदार्थों के द्वारा संस्कार) है ॥ ६८ ॥

वाजीकरी रसाला—

सर्पिः पलं मधुपलं मरिचस्य कर्षः
खण्डस्य षोडशपलानि पृथग्विदध्यात् ।
प्रस्थद्वयं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः
शुक्ले पटे ललनया मृदुपाणिघृष्टा ॥ ६९ ॥
कर्पूरधूपपरिपूरितभाण्डसंस्था
एषा त्रिगन्धमहिता कथिता रसाला ।
गोपीरतान्तपरिखेदितमानसेन
या सेविता भगवता मधुसूदनेन ॥ ७० ॥

वाजी करनेवाली रसाला—घृत एक पल (एक छटाँक), मधु एक पल (एक छटाँक), मरिच का चूर्ण एक कर्ष (एक तोला), खाँड (शक्कर) सोलह पल (सोलह छटाँक) अलग-अलग ग्रहण कर ले और अधिक दिन का रक्खा हुआ दही दो प्रस्थ (दो सेर) सफेद कपड़े में रखकर स्त्री के मुलायम हाथ से मथ कर छनवा ले तथा पूर्वोक्त द्रव्यों को मिला दे। इसके बाद कपूर तथा धूप के सुगन्ध से सुगन्धित भाण्ड में रखकर उसमें दालचीनी, इलायची,

तेजपात इन त्रिगन्ध का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर रसाला तयार कर ले। इस रसाला को भगवान मधुसूदन ने गोपियों के साथ रमण करने से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिये पान किया था ॥ ६९–७० ॥

कपित्थैलाजाजीसुलवणसितामातुलयुतं
समुद्गार्द्रैः शुण्ठ्या वरदधिरस वस्त्रगलितम्।
सिताजाजीशुण्ठीमरिचलवणैर्मातुलपयो-
गुडार्द्रैर्वा कुर्याच्छिखरिणियुगं वासकरणात् ॥ ७१ ॥

कपित्थ (कैथ) बड़ी इलायची, सफेद जीरा, सेन्धानमक, मिश्री, मातुल (बिजौरा नीबू), भीगा हुआ मूंग तथा सोंठ इन द्रव्यों में से कूटने योग्य द्रव्यों को कूटकर महीन चूर्ण बना ले और अच्छे दही को कपड़ा से छानकर उसमें सभी चूर्णो को मिला दे और उसमें सुगन्धित द्रव्य छोड़ दे। अथवा छाने हुए दही में मिश्री, जीरा, सोंठ, मरिच, सेन्धानमक, मातुल (बिजौरा नीबू का रस) दूध, अदरक तथा गुड़ इन द्रव्यों को चूर्ण करने योग्य द्रव्यों को महीन चूर्ण बनाकर मिला दे। और उसमें सुगन्धित द्रव्य (इलायची, दालचीनी, तेजपात) का चूर्ण छोड़ दे। इस प्रकार दो[1] शिखरिणी बनावे ॥ ७१ ॥

आर्द्रं रसं मातुलजं च शुण्ठीं कृत्वैकतः शर्करया सुदध्ना।
वस्त्रस्नुतं वा रुचकेन युक्तं वासाचतुर्जातकजाद्रसाला ॥ ७२ ॥

अदरक का रस, मातुल (बिजौरा नीबू) का रस, सोंठ का चूर्ण, शक्कर तथा दही इन सबों को एकत्र कर वस्त्र से छान ले और उसमें सौवर्चल नमक मिला दे तथा चातुर्जात (इलायची, दालचीनी, तेजपत्र तथा नागकेशर) का महीन चूर्ण मिलाकर सुगन्धित कर दे। इस प्रकार रसाला तैयार हो जाती है ॥ ७२ ॥

---

१. दध्नापलानि द्वात्रिंशत्त्वगेलार्धपलं तथा।
मध्वाज्यस्य पलार्धार्धं मरिचैला पलार्धकम् ॥
पलान्यष्टौ च खण्डस्य पटे शुक्ले च गालयेत्।
कर्पूरवासिते भाण्डे छायायां स्थापयेदिह ॥

दही बत्तीस पल (छटाँक) दालचीनी, आधी छटाँक, इलायची, आधी छटाँक, मधु आधा छटाँक, घृत आधा छटाँक, मरिच तथा छोटी इलायची आधा-आधा छटाँक, शक्कर आठ छटाँक इन द्रव्यों को चूर्ण करने योग्य द्रव्यों को चूर्णकर दही में मिलाकर सफेद कपड़े से छनवा दे और कपूर से सुगन्धित पात्र में रखकर छाया में रख दे। इसको 'शिखरिणी' कहते हैं।

पिष्ट्वा सुभक्तं दधिखण्डयुक्तं सान्द्रं रसं वस्त्रसुगालितं च ।
दत्त्वा चतुर्जातकधूपवासं चन्द्रप्रभा नाम मता रसाला ॥ ७३ ॥

अच्छे भात को पीसकर उसमें दही तथा शक्कर मिला दे और उसको वस्त्र से छानकर गाढ़ा रस निकाल ले तथा उसमें चातुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपात नागकेशर) के धूप से सुवासित कर ले। इसको चन्द्रप्रभा नामक रसाला कहते हैं ॥ ७३ ॥

अथ फलद्रावः—

संचूर्ण्य शुण्ठीं सगुडां च निस्त्वचं
कृत्वा च पक्वाम्रफलं हि निष्कुलम् ।
घर्मे धृतं तद्द्रवति द्वियामात्
सशर्करं पानकयोग्यमुत्तमम् ॥ ७४ ॥

फल द्राव—सोंठ का चूर्ण, गुड़ तथा छिलका एवं बीज निकाला हुआ पके आम का फल धूप में रख दे। यह दोपहर (आठ घण्टों) में द्रव रूप में हो जाता है। इसके बाद उसमें शक्कर मिला देने से उत्तम पानक तैयार हो जाता है। यह फलद्राव कहलाता है ॥ ७४ ॥

जम्बूत्वचावह्निमरीचदूर्वाचूर्णेन पक्वं कदलीफलं च ।
श्रेष्ठेन युक्तं प्रविलिप्य निस्त्वचं घर्मे धृतं द्रावमुपैति यामात् ॥ ७५ ॥

जामुन का छाल, चित्रक, मरिच, तथा दूर्वा—इन द्रव्यों के चूर्ण और पलासगन्धा (वंशलोचनविशेष) के चूर्ण से छिलका रहित पके केले को लिप्तकर धूप में एक पहर तक रखने से गलकर द्रवरूप में हो जाता है यह कदली पानक है ॥ ७५ ॥

तदेव लिप्तं कदलीफलं च सुचिञ्चिणीपुष्पवरैः सुपिष्टैः ।
घर्मे धृतं द्रावमुपैति यामाद्भवेच्च रम्भाफलजं सुतोयम् ॥ ७६ ॥

छिलका रहित पके हुए उसी केले के फल को चिञ्चिणी (इमली) के फूल के कल्क से लिप्तकर धूप में रखने से एक पहर (चार घंटा) में द्रवरूप हो जाता है। यह कदली पानक है ॥ ७६ ॥

अथ पानकानि—

कोलैर्गुडेनाम्बु श्टृतं पुनर्यद्वैदेहिधान्यैर्मरिचाम्लमिश्रैः ।
वस्त्रस्रुतं मातुलतोयमिश्रं स्यात्पानकं तर्षविघातहेतुः ॥ ७७ ॥

पानक—कोल (बेर), गुड़, वैदेहिधान्य (तीना का चावल) मरिच तथा इमली—इन द्रव्यों को जल में पकाकर वस्त्र से छान ले और उसमें मातुल (बिजौरा निम्बू) का रस मिलाकर पानक तैयार कर ले। यह पानक प्यास को नाश करता है ॥ ७७ ॥

जम्बूफलं निस्त्वचमत्र लिप्तं कर्पूरसन्मालतितीरसम्भवैः ।
याति द्रुतिं घर्मधृतं द्वियामाद्वस्त्रस्रुतं मातुलतोयमिश्रम् ॥ ७८ ॥

छिलकारहित जामुन के फल को कर्पूर तथा सन्मालतीतीरसम्भव (शु० टंकण "सोहागा") के क्षार से लिप्तकर धूप में दो याम (दो पहर 'आठ घण्टा') रखने से द्रव हो जाता है, उसके बाद वस्त्र से छानकर उसमें मातुलतोय (बिजौरा निम्बू का रस) मिलाकर पानक तैयार कर ले। यह प्यास को नाश करता है ॥ ७८ ॥

कोलैः शृतं वारि सिताप्रियङ्गुकक्कोलसिन्धूत्थकणैलवालैः ।
सत्केतकीजोत्पलवासदानात्तृष्णापहं स्याद्वरकोलपानकम् ॥ ७९ ॥

कोल (बेर) को जल में क्वाथ कर तथा छानकर उसमें मिश्री, प्रियङ्गु, कक्कोल (कबाबचीनी), पीपर तथा ऐलवालु—इन द्रव्यों का चूर्ण छोड़कर पुनः छान ले और केवड़ा का पराग तथा नीलकमल के पराग से सुवासित कर पानक तैयार कर ले। यह उत्तम कोल पानक प्यास को नाश करता है ॥ ७९ ॥

ताम्बूलतोयं मधुखण्डयुक्तमष्टांशपानीयवरेण मिश्रम् ।
वस्त्रस्रुतं वा मरिचैश्च वासितं रक्तं सुयोज्यं नृपतेः सुधातः ॥ ८० ॥

ताम्बूल (पान) का रस, मधु, खण्ड (खाँड) इन द्रव्यों को अठगुने पानी में मिला दे और सफेद कपड़ा से छान ले। इसके बाद केवड़ा तथा नीलकमल के पराग से सुवासित कर तथा मरिच के चूर्ण को मिलाकर अमृत से भी उत्तम इस रक्तवर्ण (लाल रङ्ग) के पानक को राजाओं के लिये प्रयोग करे ॥ ८० ॥

सिद्धैर्भिदा(?)म्राम्बुसिताम्बुयुग्मं
वासाद्भवेदुत्पलजात्सुपानकम् ।
सन्मातुलुङ्गाम्बुगुणेन युक्तं
सिताम्बुना पानकराजवल्लभम् ॥ ८१ ॥

अपने से पककर फटे हुए आम के फल का रस तथा मिश्री का जल दोनों को मिलाकर नीलकमल के पराग से सुवासित करने से पानक तैयार हो जाता है। अच्छे बिजौरे निम्बू का रस तथा मिश्री का जल दोनों को मिलाकर बनाया हुआ पानक राजाओं के लिये प्रिय है ॥ ८१ ॥

जातीफलं सार्द्रसुपिष्टपूतं
जले शृतं क्षौद्रसितं शृतं च ।
शाङ्खेन चूर्णेन सुगन्धयुक्तं
स्यात्पानकं मालतिपुष्पवासितम् ॥ ८२ ॥

जातीफल (जायफर) तथा आर्द्र (अदरक) इन दोनों को पीसकर छान ले और जल में पका ले तथा मधु एवं मिश्री मिला दे। इसके बाद शंख का भस्म तथा सुगन्धित (इलायची, दालचीनी, तेजपात) पदार्थों को मिलाकर तथा मालती (चमेली) से सुवासित कर पानक तयार कर ले।

रीत्याऽनयाऽऽम्रैर्वरदाडिमैश्च मृद्वीकया वा करमर्दकैश्च।
कुर्यान्न मान न विधिः क्रमश्च प्रीतेः सुभोक्तुर्भवतीह सिद्धिः ॥ ८३ ॥

इसी प्रकार आम, उत्तम काबुली अनार, मुनक्का या करमर्दक (करौंदा 'करवन') के फलों से पानक तैयार करे। इस पानक का न परिमाण है, न विधि है और न कोई क्रम है। अपने रुचि के अनुसार बनाकर सेवन करने वालों को सिद्धि देनेवाला है। अर्थात् किसी भी प्रकार बनाकर पान करने से लाभदायक होता है॥ ८२-८३॥

अथ मोदकाः—

कृत्वा गुडं सद्रवमद्भिरग्नौ श्लेष्मान्ततोयेन सुसिच्य भूयः।
वस्त्रस्रुत तद्द्युतहेमसप्रभं योज्यं सुभद्द्येषु च गौडिकेषु ॥ ८४ ॥

'मोदक—गुड को जल में छोड़कर आग के ऊपर पिघला ले और पुनः उसको श्लेष्मान्तक (लसोढ़ा) के रस से सींचकर वस्त्र से छान ले। इसके बाद पुनः पकाकर मोदक के आकार का बना ले। इस प्रकार तप्त सोने के समान वर्णवाले मोदक को भोजन के साथ तथा पीने में प्रयोग करे॥ ८४॥

इक्षोर्विकारस्य सुनिर्मलस्य पयः पलांशेन चतुर्गुणे जले।
पाक विदध्यात् खलु पूर्ववच्च मत्स्यण्डिकाखण्डसुशर्कराद्याः ॥ ८५ ॥

---

१. चत्वारो व्योमभागास्तदनुनिगदितं भागयुग्मं च वङ्गम्।
भागैकं शम्भुबीज त्रितयमपि मृतं तत्समा सिद्धमूली॥
चातुर्जातं सजातीफलमरिचकणानागरं देवपुष्पं।
जात्रीपत्रञ्चभागं द्वितयमपि पृथक् सर्वमेकत्र चूर्ण्यम्॥
सर्वार्द्धांशा-सितास्याद्घृतमधुतसहितं मोदकी कृत्य चैतद्।
खादेदग्निं समीक्ष्य प्रसभमभिनवानन्द संवर्द्धनाय॥
योगो वाजीकराख्योऽयमिह निगदितो भैरवानन्दनाम्ना।
निश्शेष व्याधिहन्ता दलितबहुवधूद्दामकन्दर्प दर्पः॥
(भावप्रकाश)

(अभ्रकभस्म चार भाग, वंगभस्म दो भाग, पाराभस्म एक भाग, इन तीनों के बराबर भांग, दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर जायफर, कालीमिर्च, पीपर, सोंठ, लवंग तथा जावित्री दो-दो तोला इन द्रव्यों का चूर्ण, सभी चूर्ण के दुगुना शक्कर और मधु तथा घृत मिलाकर मोदक बना ले। इस मोदक को बल तथा अग्नि के अनुसार भक्षण करे। यह उत्तम वाजीकरण योग है।)

वस्त्रस्रुतास्ते च भवन्ति शुद्धाः कर्पूरकुन्देन्दुमरीचिसन्निभाः ।
सर्वेषु भक्ष्येषु नियोजितास्ता नित्योपयोगेन रसायनं हि ॥ ८६ ॥

स्वच्छ गुड़ को चौगुने जल में एक छटाँक दूध मिलाकर पकावे और पहले के सदृश मोदक बना ले। इसी प्रकार, मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड़) तथा शक्कर आदि को दूध के साथ चौगुने जल में पकाकर वस्त्र से छान ले। ये सब कर्पूर, कुन्द (कोइया) तथा चन्द्रमा के किरण के समान स्वच्छ वर्ण के हो जाते हैं और सभी भोज्य भक्ष्य पदार्थों में प्रतिदिन प्रयोग करने से रसायन के समान लाभदायक होते हैं ॥ ८५–८६ ॥

अश्वगन्धा तिला माषा गुडसर्पिर्महौषधाः ।
मोदकः क्रियते प्रातर्भक्षितो जीवनौषधम् ॥ ८७ ॥

अश्वगन्धा (असगन्ध), तिल, माष (उड़द) इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर घृत में भून ले और गुड़ की चाशनी बनाकर मिला दे तथा सोंठ का चूर्ण छोड़कर मोदक बना ले। यह मोदक प्रातःकाल भक्षण करने से जीवनीय शक्ति प्रदान करता है ॥ ८७ ॥

तोयेन युक्तां समितां विमर्द्य कृत्वा शुभां तन्तुमयीं सकेशराम् ।
आज्ये शृतां मोदकगर्भयातां पाकाद्भवेन्मोदकसिंहकेशरी ॥ ८८ ॥
फेनकैः पूरितः सम्यक् खण्डपाकेन वेष्टितः ।
त्रिजातककृतामोदो मोदकः पर्पटोत्तमः ॥ ८९ ॥

समिता (समीतनामा 'गेहूँ') के चूर्ण (मैदा) को जल के साथ मर्दन कर उसमें काश्मीरी केशर मिलाकर रस्सी के सदृश बनावे और घृत में छान ले तथा गुड़ की चासनी में पका ले यह सिंहकेशरी मोदक तैयार हो जाता है। इसी को फेनक (फेनी) से पूरित कर खाँड के पाक में मिलाकर उसको त्रिजात (इलायची, दालचीनी, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धित कर पपड़ी के आकार का उत्तम मोदक बना ले ॥ ८९ ॥

दालिः सुमाषस्य च निस्तुषस्य संवर्त्य दुग्धेन सुवस्त्रबद्धाः ।
तप्ताज्यकेऽथो वरखण्डपाके पक्वा चतुर्जातकवत्सुमोदकाः ॥ ९० ॥

छिलकारहित उड़द के दाल को दूध के साथ पीसकर पीठी बना ले और उसको छेद किये हुए वस्त्र में बाँध कर वर्ति के आकार (जलेबी) का बनाकर घृत में छान ले और पुनः उत्तम खाँड के पाक में मिलाकर पकावे उसके बाद चातुर्जात (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धित कर उत्तम मोदक बना ले ॥ ९० ॥

वस्त्रे सुबद्धं महिषीभवं दधि युक्तं च तत्तन्दुलजैर्घृते शृतम् ।
बद्ध्वा विदध्यादथ खण्डपाकं कर्पूरवासाद्वरमोदकाः स्युः ॥ ९१ ॥

भैंस के दही को वस्त्र में बाँधकर उसका पानी निकाल दे और चावल को पानी के साथ पीसकर उसके पीठी को मिला दे इसके बाद उसको मोदक के आकार का बनाकर घृत में पका ले। तदनन्तर खाँड (शक्कर) के पाक में पकाकर कर्पूर से सुगन्धित कर उत्तम मोदक तैयार कर रख ले ॥ ९१ ॥

सतोयदुग्धैः समितां विमर्द्य खण्डाज्ययुक्तां विपचेन्नवे घृते ।
क्षिप्त्वा च खण्डैलमरीचचूर्णं संयावकः स्यादमृतोपमं हि तत् ॥९२॥

समिता (समीतनामा 'गेहूँ') के चूर्ण को जल तथा दूध के साथ मर्दन कर शक्कर तथा घृत मिला दे और अच्छी तरह मर्दन कर ले इसके बाद नवीन घृत में पका ले तथा शक्कर की चासनी डालकर पुनः पाक कर ले और उसमें इलायची तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर संभावक तैयार कर ले। यह संभावक अमृत के समान होता है ॥ ९२ ॥

दुग्धेऽल्पतप्ते दधि मिश्रयित्वा मन्दाग्निना यातजलं च पक्त्वा ।
सपिष्टकं चाज्ययुतं विपाच्य खण्डस्य पाकाद्वरमोदकाः स्युः ॥ ९३ ॥

थोड़े गरम दूध में दधि को डालकर जल जलने तक पकावे। इसके बाद उसमें उड़द की पीठी मिलाकर लड्डू के आकार बनाकर घृत में पकाले और शक्कर की चासनी में छोड़कर पुनः पाक करने से मोदक तैयार हो जाता है ॥ ९३ ॥

मूलैकभागं खदिरस्य निस्तुषं माषस्य चूर्णं च चतुर्गुणं हि ।
घृतेन सम्मृज्य च खण्डपाकाच्चन्द्रैलवासाद्वरमोदकाः स्युः ॥ ९४ ॥

खैर के मूल का चूर्ण एक भाग, छिलकारहित उड़द का चूर्ण चार भाग मिलाकर पीठी तैयार कर ले तथा मोदक के आकार का बनाकर घृत में पका ले और पुनः शक्कर की चासनी में पकाकर तथा उसमें कर्पूर एवं इलायची के चूर्ण से सुगन्धित कर उत्तम मोदक तैयार कर ले ॥ ९४ ॥

तोयाज्येन विमर्दितां सुसमितां कृत्वा सुतन्तूनिभं
खण्डाज्येन पचेद्धुताशनमृदौ कृत्वा सुबन्धं ततः ।
कर्पूरैर्मरिचैः कृतोऽयमथवा वासश्चतुर्जातकैः
पुष्पालम्बमिति ब्रुवन्ति मुनयो नाम्ना महामोदकम् ॥९५॥

सुसमिता ('समीतनामा' अच्छा गेहूँ) के चूर्ण को जल तथा घृत के साथ मर्दनकर तन्तु (सूत वा रस्सी) के आकार का बनाकर अच्छी तरह बांध ले और घृत में पकाकर पुनः शक्कर की चासनी में मन्द आंच से पकावे। इसके बाद कर्पूर तथा मरिच के चूर्ण से अथवा चतुर्जातक (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धित कर दे। इस प्रकार तैयार महा-

मोदक को मुनिगण पुष्पावलम्ब नाम से कहते हैं। अर्थात् यह पुष्पावलम्ब नामक महामोदक है ॥ ९५ ॥

तक्रेणाथ विदार्य मन्दसुश्रृतं पय शोभनं
पिष्ट्वाऽष्टांशकतन्दुलैर्मृदु पचेत्खण्डाज्ययुक्तं क्रमात्।
खर्जूरेण च नालिकेरवसया द्राक्षापियालास्थिभि-
रेभिर्गर्भगतैर्भवन्ति च शुभा बन्धात्पयोमोदकाः ॥ ९६ ॥
वृष्याः सुकन्दर्पकरा बलाग्निसंवर्धनाः पुष्टिरुचिप्रदायकाः।
वातं सपित्तं प्रहरन्ति भुक्ताः सन्मोदका मोदकरा नराणाम् ॥ ९७ ॥

मन्द आंच में अच्छी तरह पकाये हुए सूखे दूध (खोवा) को मट्ठे में घोल दे और खोवा के अठवां भाग चावल को पीसकर उसके पीठी को मिला दे। इसके बाद पहले घृत में पकाकर शक्कर की चासनी में पकावे और उसमें खजूर, नारियल, मुनक्का तथा चिरौंजी के बीज को मिलाकर मोदक के आकार का बना ले। इस प्रकार ये सुन्दर पयोमोदक तैयार हो जाते है। ये उत्तम मोदक (लड्डू) सेवन करने से मनुष्यों के शारीरिक बल को बढ़ानेवाले कामदेव को उद्दीप्त करनेवाले, बल को बढ़ानेवाले एवं अग्नि को प्रदीप्त करने वाले, पुष्टि (ओज) तथा भोजन में रुचि प्रदान करनेवाले होते हैं और वात, पित्त को नाश करते हैं तथा सेवन करनेवाले मनुष्यों को प्रसन्न रखते हैं ॥ ९६-९७ ॥

अथ विनष्टदुग्धरचना—

दुग्धे विनष्टे घृतखण्डमिश्रिते
मन्दाग्निपक्वे वरता भवेच्च।
चूर्णस्य तोयाद्द्रवतीह तद्व-
द्वासश्चतुर्जातकजश्च सर्वतः ॥ ९८ ॥

नष्ट दूध को पुनः दूध बनाना—दूध के नष्ट हो जाने पर (खोवा या चूर्ण हो जाने पर) उसमें घृत तथा शक्कर मिलाकर तथा जल में घोलकर मन्दाग्नि में पका ले और चतुर्जातक (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धित कर उत्तम दूध तैयार कर ले ॥ ९८ ॥

अथ घृतवरा—

पिष्ट्वा शालिजतन्दुलान्परियुतान्सन्नालिकेरास्थिभि-
र्दुग्धालोडितनिर्मलान् वरघृते पक्त्वाऽऽज्यके पूर्ववत्।
द्राक्षाचारुकसेरुभिः सबदरैः खर्जूरश्रृङ्गाटकै-
र्भद्यो गोस्तनकत्रिजातकयुतैरेभिः श्रृतः पूरितः ॥ ९९ ॥

घृत के वरे (वटक)—जड़हन धान का चावल तथा नारियल की गरी इन

दोनों को पीसकर दूध में मिला दे और इसके बाद उसको वर (वटक) के ...कृति का बनाकर घृत में पहले के सदृश पकाले और उसको मुनक्का, अच्छा कसेरू (नागरमोथे की जड़), बेर, खजूर, सिंघाड़ा, गोस्तनक (छोहाड़ा) तथा त्रिजातक (इलायची, दालचीनी, तेजपात) इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर तथा छानकर उससे पूरित (भर) कर रख दे । इसके बाद भक्षण करे ॥ ९९ ॥

पक्वाव्ययभागं सुपयो विधाय त्वक्क्षीरखण्डान्विनिवेश्य तस्मिन् ।
उष्णे सखण्डे जलनालिकेरजे पक्वा शुभा आज्यवरा भवन्ति ॥१००॥

अच्छे दूध को फाड़कर छेना बना ले और उसको टुकड़ा २ बनाकर घृत में भून ले तथा उसको नारियल के जल में बनाये हुए खांड की गरम चासनी में छोड़ दे और पकाले ये उत्तम आज्य वरा हो जाते हैं ॥ १०० ॥

द्राक्षासखर्जूरकनालिकेरानेकत्र संचूर्ण्य सितां सवाराम् ।
निक्षिप्य तन्नाज्यवरस्य गर्भे खण्डस्य पाकाच्च घृतोत्तमोत्तमाः ॥१०१॥

मुनक्का, खजूर तथा नारियल की गरी इन द्रव्यों को अच्छी तरह महीन पीसकर पीठी बना ले और उसको सफेद वरा बनाकर घृत में भून ले तथा खांड की चासनी में डालकर पका ले यह अच्छा से अच्छा घृत वरा तैयार हो जाता है ॥ १०१ ॥

अथ खाडवाः—

अम्लेन गोजेन युतश्च खाडवः स्वच्छो घनः पिण्डसुचूर्णचिक्कणः ।
सन्मातुलुङ्गाम्लफलाम्लयुक्तः स्पर्शेऽथ वर्णेऽथ रसेऽथ गन्धे ॥१०२॥

खाडव—अम्ल दही से युक्त खाडव (खाण्डव) तथा अच्छे बिजौरा निम्बू के फल के रस से युक्त खाडव स्पर्श में चिकना, वर्ण, रस तथा गन्ध में स्वच्छ, गाढ़ा, पिण्डाकार सुगन्धित चूर्ण और चिकना होता है ॥ १०२ ॥

सतिन्तिडीकाम्लकबीजपूरैः प्रत्येकयुक्तैः सकपित्थदाडिमैः ।
इक्षो रसेनैव युतश्च खाडवः स्वच्छश्चतुर्जातकदत्तवासः ॥ १०३ ॥

इमली के रस से तथा बिजौरा निम्बू के रस से अलग-अलग मिला हुआ खाण्डव, कैथ के फल तथा अनार फल के रस से युक्त खाडव या केवल गन्ने के रस से मिला हुआ खाडव चातुर्जातक (इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धित किया हुआ स्वच्छ खाडव होता है ॥ १०३ ॥

गुडं सशुण्ठीसहकारजं फलं क्षौद्रं सुभाव्यं मथितं प्रमथ्य ।
एकत्र कृत्वा वरवासधूपात्प्रोक्तश्च तज्ज्ञैर्घनखाडवोऽयम् ॥ १०४ ॥

गुड़, सोंठ, आम का फल, मधु, सुभाव्य (रोमफल) तथा मथित (बिना पानी का दही), इन सबों को एकत्रकर मन्थन कर ले इसके बाद उत्तम

सुगन्धित पदार्थ के धूप से धूपितकर तैयार किये हुए खाडव को विद्वान् लोग घन खाडव कहते हैं ॥ १०४ ॥

कपित्थकाम्राणि सदाडिमानि पिष्टानि सूक्ष्मं सितया युतानि ।
सद्बीजपूराम्बुविभावितानि संतर्पणोऽय गुटिकाख्यखाडवः ॥ १०५ ॥

कैथ का फल, आम का फल तथा अनार का फल महीन पीसकर मिश्री मिलाकर तथा बिजौरा निम्बू के रस से भावित कर तैयार किया हुआ खाडव गुटिका (पिण्ड) नामक खाडव कहलाता है और यह संतर्पण (तृप्त) करनेवाला है ॥ १०५ ॥

कोलाम्रचूर्णं सितया समेतं सन्मातुलुङ्गाम्ररसेन सिक्त्वा ।
पुनः पुनः सूर्यकरैर्विशोपितः सिन्धूत्थयुक्चूर्णकखाडवोऽयम् ॥१०६॥

बैर तथा आम का चूर्ण मिश्री मिलाकर बिजौरा निम्बू का रस तथा आम के रस से बार-बार भावित कर और सूर्य के धूप में सुखाकर तथा सेन्धानमक मिलाकर तैयार किया हुआ यह खाड्व चूर्णखाड्व कहलाता है ॥ १०६ ॥

स्वच्छो हरिद्राम्ररसे विपक्वः शुण्ठीसिताह्वामरिचार्द्रजीरैः ।
सिन्धूत्थयुग्धूपनदत्तवासो नाम्ना भवेच्चिक्कणखाडवोऽयम् ॥१०७॥

हल्दी तथा आम के रस में सोंठ, मिश्री, मरिच, अदरक तथा जीरा मिलाकर पकाया हुआ सेन्धानमक से युक्त, धूप देकर सुगन्धित बनाया हुआ स्वच्छ खाडव चिक्कणखाडव कहलाता है ॥ १०७ ॥

भोज्यस्य मध्ये खलु खाडवा इमे
पीताः सभक्ताः सकलामयघ्नाः ।
संप्रीणनाः पित्तविनाशहेतवो
रुचिप्रदाः कामबलाग्निवर्धनाः ॥ १०८ ॥

ये खाडव भोजन के बीच में भात के साथ पान करने से सभी प्रकार के रोगों को नाश करते हैं। ये खाडव मन को प्रसन्न करनेवाले पित्तनाशक रुचि उत्पन्न करने वाले तथा काम की इच्छा, बल एवं जाठराग्नि को बढ़ाने वाले हैं ॥ १०८ ॥

अथ दधिदुग्धकृति—

लिप्ते कपित्थेन सुभाजने हि
चित्रेण पक्वाम्ररसेन तद्वत् ।
क्षुण्णाम्रकास्थ्ना च पृथक्पृथग्वै
न्यस्तं शृतं दुग्धवरं दधि स्यात् ॥ १०९ ॥

दूध का बना हुआ दही—कैथ के फल, चित्र (मांसल फल, जेठई कांकर, त्रपुस विशेष) तथा पके हुए आम के रस से तथा आम के गुठली के कल्क से

अलग-अलग लिप्त अच्छे मिट्टी के पात्र में पकाया हुआ दूध रखने से दही बन जाता है ॥ १०९ ॥

सतिन्तिडीकैर्बदराम्लदाडिमैः
श्लिष्टं तथैवं सरसं दधि स्यात् ।
सद्वेणुनाडीगतपक्वदुग्ध
जम्बालके क्षिप्तमथ त्रिरात्रात् ॥ ११० ॥

इमली, बेर तथा अनार के रस से लिप्त पात्र में पकाया हुआ दूध रखने से सरस दही तैयार हो जाता है। बाँस के नाडी (फोफी 'वेण्वुच्छिद्र') में पकाया दूध रखने से या जम्बालक में पका हुआ दूध रखने से तीन दिन में दही तैयार हो जाता है ॥ ११० ॥

आमं शरावं वरकाम्लिकाया-
स्तोयेन लिप्तं श्रृतदुग्धपूरितम् ।
रात्रौ, शरावाकृति जायते दधि
पात्रे कृत यादृश एव तादृशम् ॥ १११ ॥

आम शराव (कच्चा सकोरा), तथा वरका ('मरका या परवा') इमली के रस से लिप्त कर (इमली के रस का लेप लगाकर) उसमें पकाये हुए दूध से भर देने पर रात में शराव के आकार का दही तैयार हो जाता है अथवा जिस आकार के पात्र में इमली के रस का लेप लगाकर गरम दूध से भर दिया जाता है उसी पात्र के आकार का दही तैयार हो जाता है ॥ १११ ॥

स्थितं पडल्यां वसनं सुभावितं
खण्डेन साम्लेन विशोषितं मुहुः ।
दुग्धं श्रृतं क्षिप्तमतः पडल्या-
कारं गुणाढ्यं दधि जायते ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

पडली (पात्र विशेष) में रक्खे हुए वस्त्र को अम्लरस से मिले हुए खाँड से बार-बार भावित कर तथा सुखाकर उसमें गरम दूध रखने से पडली के आकार का गुणयुक्त दही तैयार हो जाता है ॥ ११२ ॥

आमस्य दुग्धस्य च मध्यपातं सत्कोकिलाख्यस्य च बीजचूर्णम् ।
शुण्ठी चणानामथ दालिचूर्णं मन्दाग्निपक्व दधि पिण्डवद्भवेत् ॥११३॥

कच्चे दूध में तालमखाना के बीज का चूर्ण डाल देने से अथवा सोंठ तथा चना के दाल का चूर्ण डालकर मन्द आँच पर पका देने से पिण्डाकार का दही बन जाता है ॥ ११३ ॥

पक्वस्य चूर्णं सुकपित्थकस्य दुग्धेन भाव्यं महिषीभवेन ।
शुष्कं क्षिपेत्तक्रयुते सुभाण्डे तत्कालिक स्याद्दधि निर्जलं वै ॥ ११४ ॥

कैथ के पके हुए फल के चूर्ण को भैंस के दूध से भावित कर मट्ठा से युक्त पात्र में छोड़े । इस प्रकार छोड़ने से उसी समय जलरहित सूखा दही तैयार हो जाता है ॥ ११४ ॥

पक्वस्य मज्जा सुकपित्थकस्य वार च वारं शृतदुग्धभाविता ।
शुष्काम्रचूर्णेक्षुरसस्य मध्ये क्षिप्तेक्षुजातं कुरुते सुदुग्धम् ॥ ११५ ॥

कैथ के पके हुए फल की मज्जा गरम दूध से बार-बार भावित कर सूखे आम के चूर्ण से युक्त गन्ने के रस में छोड़ने से सम्पूर्ण इक्षुजात (गन्ने का रस) स्वच्छ दूध बन जाता है ॥ १५ ॥

अथ काञ्जिकम्—

यामं शुक्लपटे सुमर्दितगलद्दध्यर्धसत्सौरभ
भुयः पक्वपरिस्रुत च रुचकैः सिन्धूत्थयुक्काञ्जिकम् ।
आर्द्रं धान्यलवङ्गसिन्धुमरिचं ताम्बूलपर्णासुरी
क्षिप्त्वा तत्र च हिङ्गुतैलतिलजैर्धूपाच्छुभ काञ्जिकम् ॥११६॥

काञ्जिक—सफेद कपड़े में दही को रख कर तथा मर्दन कर छान ले और उसके आधा अच्छा सुगन्धित पदार्थ छोड़ दे तथा एक पहर धूप में पकने के बाद फिर छान ले और सौवर्चल नमक, सेन्धानमक मिला दे इस प्रकार काञ्जिक तैयार हो जाता है । इस प्रकार तैयार काञ्जिक में अदरक, धनियाँ, लवङ्ग, सेन्धानमक, मरिच, पान का पत्ता तथा राई इन द्रव्यों का चूर्ण छोड़कर हिंगु तथा तिल के तैल का धूप (छौंक) देने से उत्तम काञ्जिक तैयार हो जाता है ॥ ११६ ॥

ताम्बूलीदधिराजिकार्द्रमथितैर्युक्तं शुभ काञ्जिक
वासो राजिससिन्धुकार्द्रमरिचैर्धूपो भवेद्धिङ्गुना ।
धान्यं मातुलपत्रराजिलवणं क्षिप्त्वा शुभे काञ्जिके
द्राक्षामार्द्रकमेव तत्सुललित ग्रीष्मे शुभ काञ्जिकम् ॥ ११७ ॥

दही को मथन कर उसमें ताम्बूल का पत्ता, राई का चूर्ण तथा अदरक मिला देने से उत्तम काञ्जिक तैयार हो जाता है । या दही के तोड़ में राई का चूर्ण, सेन्धानमक, अदरक तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर हिंगु का वास (सुगन्ध 'छौंक') देने से काञ्जिक तैयार हो जाता है । अथवा काञ्जिक में धनियाँ, मातुलपत्र (बिजौरा नीबू का पत्ता), राई तथा सेन्धानमक छोड़कर या केवल मुनक्का एवं अदरक ही छोड़कर काञ्जिक तैयार करे यह सुन्दर काञ्जिक ग्रीष्मऋतु में लाभदायक होता है ॥ ११७ ॥

त्वच च नारिङ्गफलस्य सैन्धव सजीरक घोलवरस्य मध्ये ।
क्षिप्त्वाऽथ वासो वरहिङ्गुदत्तस्तत्र स्थिता घोलवटा वराः स्युः ॥११८॥

नारङ्गी फल (मीठा निम्बू 'संतरा') की छिलका, सेन्धानमक तथा जीरा इन सबों को घोलकर (दही का तोड़) के बीच में छोड़कर तथा उत्तम हिंगु मिलाकर सुवासित करने बाद उसमें वटक (बड़ा) छोड़ देने से उत्तम घोल वटक तैयार हो जाते हैं ॥ ११८ ॥

अथानुपानानि—

कुस्तुम्बरुक्वाथसशुण्ठियुक्तं समुद्गयूषं नववस्त्रगालितम् ।
सुसिन्धुयुक्तं वरहिङ्गुधूपितं पिबेन्नरेन्द्रः खलु भोजनादौ ॥ ११९ ॥

अनुपान—कुस्तुम्बरु (धनिया) तथा सोंठ का क्वाथ और मूंग का यूष इन सबों को नवीन स्वच्छ वस्त्र से छान ले। इसके बाद उसमें सेन्धानमक मिलाकर तालावहिंगु से धूपित (छौंक) कर भोजन के पहले नरेन्द्र (राजा या स्वस्थ रहने की इच्छा करने वाला व्यक्ति) इसको पान करे ॥ ११९ ॥

बीजपूरहुतभुक्कुलत्थकैर्दाडिमैलदधिभिः शृतं जलम् ।
भोजनान्तमनुपानमुत्तमं योजयेद्रुचिकरं सुदीपनम् ॥ १२० ॥

बीजपूर (बिजौरा निम्बू), चित्रक, कुलत्थ (कुरथी), अनार, बड़ी इलायची तथा दही इन द्रव्यों में क्वाथ करने योग्य द्रव्यों को क्वाथ कर ले शेष द्रव्यों को उसमें मिला दे। इसके बाद उसको छानकर रुचिप्रद तथा अग्नि-दीपक इस उत्तम अनुपान को भोजन के अन्त में पान करे ॥ १२० ॥

अर्शांसि दुर्जयतराणि चिरन्तनानि
पक्वातिसारमखिलं ग्रहणीं समस्ताम् ।
शूलं सगुल्मतिमिरं विनिहन्ति पीत
भोज्यानुपानममल सुखदं नराणाम् ॥ १२१ ॥

मनुष्यों को सुख देनेवाला यह उत्तम भोजनानुपान पीने से कष्टसाध्य पुराने अर्शरोगों को, सभी पक्वातिसार रोगों को और सभी ग्रहणीदोषों को, शूल, गुल्मरोग तथा तिमिर (मोतियाबिन्द) रोग को नाश करता है ॥ १२१ ॥

दाडिमामलकमस्तुजीरकं सौरभेण मरिचादिना युतम् ।
सूपकेन सुशृतं विधानतो भोजनान्तमनुपानमग्निकृत ॥ १२२ ॥

अनार, आँवला, दही का तोड़, जीरा, सुगन्धित मरिच, इलायची, दाल-चीनी, तेजपात, नागकेशर आदि मिलाकर सूपक (पाचक) के द्वारा विधि-पूर्वक पकाया हुआ भोजन के अन्त में पीने योग्य यह अनुपान जाठराग्नि को बढ़ाता है ॥ १२२ ॥

असिताया वयःस्थायाः प्रातर्दुग्धं तु गोः पयः ।

अनुपानं प्रशंसन्ति सुश्रृतं नागरान्वितम् ॥ १२३ ॥

काली प्रौढ़ गाय का दूध प्रातःकाल दूह ले और उसमें सोंठ डालकर पका ले। यह दूध अनुपान (भोजन के बाद पीने) के लिये प्रशस्त है। अर्थात् इस दूध को भोजन के बाद पान करना लाभदायक होता है ॥ १२३ ॥

विदारीनागरोपेतं सुश्रृतं सौरभं पयः।
अनुपानं प्रशंसन्ति बलवृद्धिकरं परम् ॥ १२४ ॥

विदारीकन्द तथा सोंठ इन दोनों को मिलाकर पकाया हुआ गाय का दूध भोजन के बाद पीने की प्रशंसा करते हैं। अर्थात् भोजन के बाद पीना प्रशस्त है और यह बल को अच्छी तरह बढ़ाता है ॥ १२२ ॥

गव्यं सुदुग्धं सलिलार्धकेन श्रृतं कृतं यातजलं सुशीतलम्।
खण्डेन वा शर्करया समेतं रसेन्द्रभोक्ताऽथ पिबेत्सदैव ॥ १२५ ॥

गाय का अच्छा दूध, दूध के आधा पानी मिलाकर पकावे, पानी जल जाने पर शीतल कर तथा खांड या शक्कर मिलाकर रसेन्द्रभोक्ता (पारद सेवन करनेवाला) या उत्तम रस को सेवन करनेवाला प्रतिदिन पीवे ॥ १२५ ॥

हन्यादन्नजसंहन्ति च पवनं संक्रुद्धकोष्ठागतं
नानारोगगणान्निहत्य कुरुते सौख्यं महद्देहिनाम्।
एतस्मादनुपानकात्खलु विना भुक्ते विदाहो
भवेत्तस्मात्त्वनुपानकं प्रकुरुतां भुक्तोत्तरं सर्वदा ॥ १२६ ॥

यह अनुपान अन्नज संहति (मन्दाग्नि) तथा क्रुद्ध होकर कोष्ठ (आमाशय, पक्वाशय तथा आन्त्र आदि) में आये हुए वात को नाश करता है, अनेक रोगों के समूह को नाश कर प्राणियों को महान् सुख देता है। इस अनुपानक के विना भोजन करने से विदाह (गले में जलन) उत्पन्न होता है। इस कारण से तुम प्रतिदिन भोजन के बाद अनुपानक को सेवन करो ॥१२६॥

त्याज्यमन्नम्—

केशादिजुष्टं कृतशीतमुष्णं शाकावरान्नैर्बहुलं महोष्णम्।
निशोषितं यल्लवणाधिकं तत् संत्याज्यमीदृक्पुरुषैस्तदन्नम् ॥ १२७ ॥

त्याज्य अन्न—केश एवं उत्क्लेद करनेवाले पदार्थों से युक्त, बनाये हुए शीतल भोज्य पदार्थ, उष्ण भोज्य पदार्थ (या बनाये हुए शीतल पदार्थ को पुनः गरम कर) अधिक मात्रा में शाक तथा अवर-अन्न, (कुदन्न, मँडुआ, सांवा, कोदो आदि) अत्यधिक गरम, सुखाया और जो अधिक नमकीन हो, वह पदार्थ, इस प्रकार के अन्न को मनुष्य भक्षण न करे ॥ १२७ ॥

अथार्द्रकविधिः—

धौतं खण्डितमार्द्रकं च सलिलैः क्षिप्तं सुतप्ते घृते

सिन्धूत्थं मरिच सुजीरयुगलं चूर्णीकृतं प्रक्षिपेत् ।
चूर्णं भृष्टचणोद्भवं च वितुषं हिङ्ग्वाज्यधूपं ददे-
द्दित्थं दोषविहीनमार्द्रकवरं सुस्वादु संजायते ।

अदरक सेवन की विधि—अदरक को जल में धोकर टुकड़ा २ बना ले और गरम घृत में छोड दे तथा सेन्धानमक मरिच, सफेद, जीरा तथा स्याह जीरा चूर्णकर डाल दे। इसके बाद छिलकारहित भूने हुए चना का चूर्ण मिलाकर तालाव हिंगु घृत में जलाकर धूप (छौंक) दे देवे। इस प्रकार दोष से रहित उत्तम अदरक अत्यधिक स्वादिष्ट हो जाता है।

तिन्तिण्यामफलानि लाजसलिले सस्थाप्य सत्रार्द्रकं
यामैकं विधृतं च तत्र नितरां रक्तं भवेत्स्वादु तत् ॥१२८॥

तिन्तिणी (इमली) तथा आम के फल को धान के लावा के क्वाथ में रखकर उसमें अदरक एक पहर रखने से लालवर्ण का अत्यधिक स्वादिष्ट हो जाता है ॥ १२८ ॥

सिन्धूत्थजीरामयतिन्तिडीकतोयेन धौतं वरशृङ्गवेरम् ।
तत्र स्थितं यामचतुष्टयेन रक्तं भवेत्स्वादुतरं तदार्द्रम् ॥ १२९ ॥

धोया हुआ उत्तम स्वच्छ अदरक धान के लावा के क्वाथ में सेन्धानमक, जीरा, कूठ तथा इमली इन द्रव्यों के साथ चार पहर रखने में लाल वर्ण का स्वादिष्ट अदरक हो जाता है ॥ १२९ ॥

अथ फलभक्षणविधिः—

यष्ट्याह्वजीरार्द्रमरीचतिन्दुकैः समांशकैरर्धसुमाणिमन्थैः ।
चूर्णं तु कोलाम्रकभक्षणे हितं भवेच्चतुर्जातकवासदानात् ॥ १३० ॥

फलभक्षण विधि—यष्ठयाह्व, (मुलेठी), जीरा, अदरक, मरिच, तेंदू समभाग तथा आधा भाग सेन्धानमक का चूर्ण, चातुर्जातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर) के चूर्ण से सुगन्धितकर बेर तथा आम का फल भक्षण करना हितकर होता है ॥ १३० ॥

यष्टीसिताजीरमरीचतुल्यैर्हितं सुचूर्णं फलमातुलादने ।
विडङ्गधान्यार्द्रमरीचशर्करासैन्धवोत्थचूर्णं च कपित्थभक्षणे ॥ १३१ ॥

मुलेठा, मिश्री, जीरा तथा मरिच समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण के साथ निम्बू का फल भक्षण करना हितकर होता है। कपित्थ (कैंथ) के फल भक्षण करने में वायविडङ्ग, धनिया, अदरक, मरिच, शक्कर तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर भक्षण करना लाभदायक होता है।

कुर्याद्यथा स्वादुरसं भवेच्च तत्तिलं सुपिष्टं वितुषं जलेन ।

छिलकारहित तिल को पीसकर जल में मिलाकर जैसा स्वादिष्ट हो वैसा बना ले।

यष्टीसितासर्जिकणासु शीतैः पाकः खलोपाकुलतोययुक्तः(?) ॥१३२॥
सिद्धैर्भिदाम्रस्य(?) फलादने हितस्तिलं सुपिष्टं वितुषं जलेन ।
शृतं कृतं शर्करयावशूकैः पक्वः खलः स्याद्रुचकेन युक्त्या ॥ १३३ ॥

मुलेठी, मिश्री, सज्जीखार, तथा पीपर इन द्रव्यों में खलपोकुल (कमल) के फूल का रस मिलाकर पका ले तथा शीतल कर ले इसके बाद उसके साथ पककर अपने से फूटे हुए (अत्यधिक परिपक्व) आम के फल को खाना हितकर होता है । छिलकारहित तिल की पीठी जल के साथ खाना हितकर है । शक्कर तथा यवक्षार के साथ क्वाथ किया हुआ परिपक्व तिल की खली सौवर्चल नमक के साथ मिलाकर खाना हितकर होता है ॥ १३१–१३३ ॥

अथोदकवासः—

दिव्यान्तरिक्षे धुनिज च कौप स्वयंविदीर्णाद्रिशिलोद्भवं च ।
तडागज सारसमौद्भिद च तोयं भवेत्त्वष्टविध मनोरमम् ॥ १३४ ॥

उदक वास (सुगन्धित जल)—मनोरम जल आठ प्रकार का होता है । [1]दिव्यजल, (तुषार, बर्फ, ओला तथा धारा), अन्तरिक्ष जल (आकाश का जल), समुद्र का जल, कूयें का जल, झरना का जल, पोखरा का जल, नदी का जल, औद्भिद (स्वयं फूटकर निकला हुआ) जल । ये आठ प्रकार के जल हैं ॥ १३४ ॥

अक्षारं स्वादु मिष्टं दिनमणिकिरणैर्वासरे सप्तमादौ
रात्रौ शीतांशुभाभिस्त्रिविधसुपवनान्दोलितं दोषहीनम् ।
कर्पूरै राजचम्पैरतिशयविमलैः पाटलैलासुपुष्पै-
स्त्वक्पत्रैर्वासितं यद्वरशिशिरजल सूतसेवी पिबेत्तत् ॥ १३५ ॥

पहले दिन में सूर्य के किरणों से संतप्त अक्षारीय, स्वादिष्ट मीठा जल, तथा रात्रि में चन्द्रमा के किरणों से तथा तीन प्रकार के वायु के द्वारा आन्दोलित, दोषहीन, अत्यधिक स्वच्छ कपूर तथा राजचम्पा का पुष्प, पाढ़ल, इलायची, लवंग, दालचीनी, तेजपत्र आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित जो उत्तम शीतल जल है उसको सूतसेवी (पारा को सेवन करनेवाला) व्यक्ति पान करे ॥ १३५ ॥

---

१. पानीयं द्विविधं प्रोक्तं दिव्यं भौममिति द्विधा ।
दिव्यं चतुर्विधं प्रोक्तं धाराजं करकाभवम् ॥
तौषारं च तथा हैमं तेषु धारं गुणाधिकम् ।
भौममम्बु निगदितं प्रथम त्रिविधं बुधैः ॥
जांगलं च तथानूप ततः साधारणं क्रमात् ।
(भावमिश्र)

धान्योशीरकमुस्तवालमसृणैः सार्धं सुमृण्मर्दिता
त्वङ्गारैर्नलिकां पचेत्खदिरजैः सिक्ताज्यतैलैः शुभैः ।
जातीन्दूत्पलपाटलाकमलजैश्चम्पैः शृते वासये-
त्तत्खण्डैः कृतवासनात्सुसलिलैर्योगस्तु सर्वर्तुकः ॥ १२६ ॥

धनिया, खस, मोथा, वाण, (सुगन्धित शर), मसृण (कमल का नाल), इन द्रव्यों के कल्क के साथ अच्छी मिट्टी को मर्दन कर नलिका बनावे और उसको खैर, घृत तथा उत्तम तैल से लिप्त कर अंगार (उपले के आग) से पकावे । इसके बाद चमेली, कमलिनी, पाडल, कमल तथा चम्पा इनके पुष्पों के साथ क्वाथ किये हुए जल में पूर्वोक्त अगार से संतप्त सुन्दर नलिका के टुकड़ों को बुझाकर सुवासित (सुगन्धित) करे । यह सुवासित जल सभी ऋतुओं में लाभदायक होता है ॥ १२६ ॥

कक्कोलाह्वयवालचन्दननलैः कर्पूरकर्चूरकैः
पथ्योशीरलवङ्गपाटलिघनैः शीतोदकं वासयेत् ।
मांस्येलागरुचन्दनद्वयमुरावक्रैः सितासत्पुरैः
पात्राणां सलिलस्य चूर्णकृतैरभिभवेद्धूपनम् ॥ १२७ ॥

कक्कोल (कबाबचीनी), सुगन्धवाला, मलयगिरि चन्दन, नल (नरकट), कपूर, कचूर, हर्रे, खस, लवंग, पाडल तथा घन (मोथा) इन द्रव्यों से शीतल जल को सुवासित करे और जटामासी, बड़ी इलायची, अगरु, चन्दन द्वय (मलयगिरि चन्दन, रक्त चन्दन), मुरा (मुरामांसी), वक्र (तगर) सिता (मिश्री) तथा गुग्गुलु इन द्रव्यों के चूर्ण से जल के पात्रों को धूपित करे ॥ १२७ ॥

अथ लिङ्गवृद्धिकरा योगाः—

कासीसतुरगगन्धाशाबरगजपिप्पलीविपक्वेन ।
तैलेन यान्ति वृद्धिं स्तनकर्णवराङ्गलिङ्गानि ॥ १२८ ॥

लिङ्ग (शिश्न) वर्द्धक योग—कासीस, अश्वगन्धा, शावर (सफेद लोध) तथा पीपर सममाग—इन द्रव्यों के कल्क के साथ (तैल निर्माण-विधि के अनुसार) पकाया हुआ तैल लेप करने से स्तन, कर्ण, वराङ्ग (भग) तथा लिङ्ग (शिश्न) आदि बढ़ते हैं ॥ १२८ ॥

बृहतीसितसिद्धार्थकुष्ठाधिवचातुरगगन्धकासीसैः ।
एभिः प्रलेपितं स्यात्पुरुषवराङ्गं हयस्येव ॥ १२९ ॥

बृहती (भटकटैया), सफेद सरसों, कुष्ठ, वच, अश्वगन्धा तथा कासीस इन द्रव्यों के कल्क का लेप करने से पुरुष का वराङ्ग (लिङ्ग) अश्व के लिङ्ग के सदृश बड़ा हो जाता है ॥ १२९ ॥

महिषीनवनीतवचागजकृष्णाकुष्ठवाजिगन्धाभिः ।
लेपः श्रवणपयोधरध्वज उच्चैः स्थूलकृद्भवति ॥ १४० ॥

भैंस का नवनीत (मक्खन) वच, गजपीपर, कूठ तथा अश्वगन्धा इन द्रव्यों का लेप लगाने से कान, पयोधर (स्तन) तथा ध्वज (लिङ्ग) को उन्नत, बड़ा तथा मोटा बनाता है ॥ १४० ॥

घृतमधुयुक्तं तैलं बृहतीफलमात्मगुप्ता च ।
एभिर्वराङ्गवृद्धिः सप्तदिनं ताम्रभाण्डपर्युषितैः ॥ १४१ ॥

घृत, मधु, तैल, भटकटैया का फल तथा केवाछु का बीज इन द्रव्यों को एकत्र कर तामा के पात्र में सात दिन तक रखने के बाद (छानकर) लेप करने से लिङ्ग की वृद्धि होती है ॥ १४१ ॥

अश्वगन्धामपामार्गं बृहतीं सारिवा तिलान् ।
कुटजस्य च बीजानि तथा वै राजसर्षपान् ॥ १४२ ॥
समभागानि कृत्वा तु क्षीरेणाव्येन पेषयेत् ।
मासमुद्वर्तितं लिङ्गं तेनातिस्थूलतां व्रजेत् ॥ १४३ ॥

अश्वगन्धा, अपामार्ग, भटकटैया का फल, सारिवा, तिल, कुटज का बीज (इन्द्रयव) तथा सफेद सरसों समभाग—इन द्रव्यों को लेकर बकरी के दूध के साथ पीस ले। इस कल्क का एक मास उबटन लगाने से शिश्न अधिक लम्बा तथा मोटा हो जाता है ॥ १४२–१४३ ॥

मांसीकुष्ठसमायुक्तं बृहतीफलमिश्रितम् ।
शतावरीमूलयुतमश्वगन्धासमन्वितम् ॥ १४४ ॥
तिलतैलं प्रयत्नेन सम्यङ्मृद्वग्निना पचेत् ।
तेन लिङ्गं समभ्यक्तं यावदिच्छं प्रवर्धते ॥ १४५ ॥

जटामांसी, कूठ, भटकटैया या वनभंटा का फल, शतावरी का मूल तथा अश्वगन्धा समभाग—इन द्रव्यों के साथ तिल का तैल (तैल निर्माण विधि के अनुसार) प्रयत्नपूर्वक अच्छी तरह मन्द आँच से पकावे। इस तैल का शिश्न के ऊपर लेप करने से अपने इच्छा के अनुसार बढ़ता है ॥ १४४–१४५ ॥

मल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्र-
मन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्ट-
मालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥ १४६ ॥
स्थूलं महद्वरतुरङ्गमतुल्यमाशु
लिङ्गं करोति विपुलौ श्रवणौ प्रलम्बौ ।

स्त्रीणां नितम्बतटमायतहेमगौरं
नृणां तथा करिकरप्रतिमौ च बाहू ॥ १४७ ॥

भल्लातक की गुठली, जलशूक (सेवाल), कमल का पत्ता तथा सेन्धानमक समभाग इन द्रव्यों को शराव सम्पुट में बन्दकर अन्तर्धूम जलावे और इसको पके हुए बृहती फल (वनभंटा के फल) के रस से पीसकर इस लेप को भैंस के गोबर से लिङ्ग को स्वच्छ कर उसके ऊपर लेप करे। यह लेप लगाने से लिङ्ग को मोटा तथा लम्बा घोड़े के लिङ्ग के सदृश बना देता है, कान को लम्बा तथा चौड़ा बना देता है, स्त्रियों के नितम्ब तट (चूतड़) को चौड़ा तथा सोने के सदृश गौरवर्ण का बना देता है और मनुष्यों के दोनों बाहुओं को हाथी के हाथ (सूड़) के सदृश लम्बा बना देता है ॥१४६-१४७॥

मेदसा क्षौद्रमिश्रेण वराहस्य प्रलेपितम्।
सम्यग्लिङ्गं रतान्तेऽपि स्तब्धतां न विमुञ्चति ॥ १४८ ॥

मधु मिलाकर सूकर के वसा (चर्बी) का अच्छी तरह लेप करने से लिङ्ग मैथुन के बाद भी अपने कड़ापन को नहीं छोड़ता है। अर्थात् वेगवान् रहता है ॥ १४८ ॥

क्षौद्रेण सह संपिष्टं पुण्डरीकस्य केशरम्।
तेनैवालेपित यावत्तावल्लिङ्गं स्थिरं भवेत् ॥ १४९ ॥

पुण्डरीक (सफेद कमल) के केशर (पराग) को मधु के साथ पीसकर उसका लेप लगाने से तब तक लिङ्ग स्थिर रहता है जब तक वह लेप लगा रहता ॥ १४९ ॥

ससाधितं दाडिमवल्कलैर्यत्क्षुद्राफलारुष्करचूर्णयुक्तैः।
अभ्यञ्जनात्सर्षपसंभवं तत्तैल नृणां लिङ्गविवर्धनं स्यात् ॥ १५० ॥

अनार का छाल, भटकटैया का फल तथा भल्लातक समभाग—इन द्रव्यों के चूर्ण के साथ सरसों का तैल मिलाकर तैयार किया हुआ लेप अभ्यञ्जन (लेप) करने से मनुष्यों के लिङ्ग को बढ़ाता है ॥ १५० ॥

भल्लातकं बालकमम्बुजिन्याः पत्राणि कृष्णं लवणं च तुल्यम्।
दग्ध्वा पटान्तः स्वरसं निदध्यात्पक्वस्य तस्मिन्बृहतीफलस्य ॥१५१॥

सेवालगोपिशितचूर्णयुतेन लिप्त-
माज्येन यत्प्रतिमुहुर्मृदितं महिष्याः।
यल्लिङ्गमुन्मदननिष्ठुरदाक्षिणात्य-
कान्तारतोत्सवसहस्रसहत्वमेति ॥ १५२ ॥

भल्लातक, सुगन्धबाला, कमलिनी का पत्ता, मरिच तथा सेन्धानमक समभाग इन द्रव्यों को कपड़े के बीच में रखकर जला दे और उसमें पके हुए बन-

के स्वरस को मिला दे। इसके बाद इसमें सेवाल तथा गाय के मांस का चूर्ण तथा भैंस का घृत मिलाकर लेप तैयार कर ले। इस लेप को लगाकर थोड़े देर तक मर्दन किया जाय तो वह लिङ्ग उन्मत्त, कर्कश तथा रतिकर्म में निपुण होकर हजारों स्त्रियों के साथ रतोत्सव (मैथुन) करने में समर्थ हो जाता है ॥ १५१-१५२ ॥

सेवालसैन्धवसरोरुहिणीदलानि
भल्लातकानि च फलानि च कण्टकार्याः।
हैयङ्गवीनमपि माहिषमश्वगन्धा-
कन्दे सुधीः प्रणिदधीत दिनानि सप्त ॥ १५३ ॥
तैरुद्धृतैस्तदनु यन्महिषीपुरीषे-
णोद्वर्त्य लिङ्गमुपलेपितमादरेण।
तस्याग्रतः खरतुरङ्गमतङ्गजानां
लिङ्गानि लाघवपदं परमं श्रयन्ति ॥ १५४ ॥

सेवाल, सेन्धानमक, कमलिनी के पत्ते, भल्लातक, भटकटैया का फल तथा भैंस का मक्खन इन द्रव्यों को अश्वगन्धा के कन्द के रस में बुद्धिमान व्यक्ति सात दिन तक रक्खे इसके बाद निकाल कर भैंस के गोबर के उबटन से लिङ्ग को स्वच्छ कर उसके बाद अच्छी तरह लेप करे। इस लेप को लगाने से मनुष्य के लिङ्ग के सामने गदहा, घोड़ा तथा हाथी के लिङ्ग भी छोटे मालूम पड़ते हैं। अर्थात् इस लेप को लगाने से मनुष्य का लिङ्ग मोटा तथा लम्बा हो जाता है ॥ १५३-१५४ ॥

उन्मत्तकस्वरसफाणितवाजिगन्धा-
कन्दोपगूढमहिषीनवनीतमादौ।
धार्यं फले वृषभवाहनवल्लभस्य
निःशेषबीजरहिते कतिचिद्दिनानि ॥ १५५ ॥
उद्वर्तनं तदनु यन्महिषीपुरीषै-
र्धत्तूरकाण्डनवनीतावलेपितं स्यात्।
तत्साधनं निधुवनप्रघनोद्धराङ्ग-
नारीवराङ्गदलनक्षमतां दधाति ॥ १५६ ॥

उन्मत्तक (धत्तूर) के स्वरस में पकाये हुए अश्वगन्धा के कन्द को पहले भैंस के मक्खन में मिलाकर बीजरहित धत्तूर के फल में कुछ दिन तक रक्खे। इसके बाद भैंस के गोबर से लिङ्ग स्वच्छ कर तदनन्तर इस लेप को धत्तूर के लकड़ी से लेप करे। इस लेप के लगाने से लिङ्ग उन्मत्त एवं कर्कश होकर स्त्रियों के वराङ्ग (भग) को मर्दन करने में समर्थ हो जाता है ॥ १५५-१५६ ॥

क्षीणशुक्रलक्षणम्—

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं भ्रमः ।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ १५७ ॥

क्षीण शुक्र का लक्षण—दुर्बलता, मुख का सूखना, पाण्डु (मुख का पीलापन) शिथिलता, भ्रम (चक्कर आना), नपुंसकता तथा वीर्य का न निकलना ये क्षीणवीर्य वाले मनुष्य के लक्षण हैं ॥ १५७ ॥

क्लैब्यलक्षणम्—

तैस्तैर्भावैरहृद्यैश्च रिरंसोर्मनसि क्षते ।
ध्वजं पतत्यतो नृणां क्लैब्यं समुपजायते ॥ १५८ ॥

नपुंसकता का लक्षण—मैथुन करनेवाले मनुष्य का मन, भय, शोक तथा क्रोध आदि कष्टदायक विकारों से हताश होकर अथवा अप्रिय स्त्री के साथ मैथुन करने से शिश्न गिर जाता है अर्थात् झुक जाता है और उसको नपुंसकता हो जाती है। यह मानसिक नपुंसकता है ॥ १५८ ॥

अन्नैरम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः ।
सौम्यधातुक्षये दृष्टं क्लैब्यं तदपरं स्मृतम् ॥ १५९ ॥

अम्ल, उष्ण, लवण तथा कटु रसवाले द्रव्यों के साथ अन्न को अधिक मात्रा में सेवन करने से (पित्त वृद्धि के कारण) वीर्यधातु के क्षीण हो जाने से जो क्लीवता होती है वह दूसरे प्रकार की क्लीवता है ॥ १५९ ॥

अतिव्यवायशीलो वा न च वाजिक्रियारतः ।
ध्वजभङ्गमवाप्नोति तच्छुक्रक्षयहेतुकम् ॥ १६० ॥

अथवा जो अत्यधिक मैथुन करने में लगा रहता है और वाजीकरण के योगों को नहीं सेवन करता है वह शुक्रक्षय होने के कारण ध्वजभंग (क्लीवता) को प्राप्त करता है। यह वीर्यक्षयजन्य क्लीवता है ॥ १६० ॥

असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत् ।
साध्यानामवशिष्टानां कार्यो वाजीकरो विधिः ॥ १६१ ॥

सहज (जन्मजात) क्लैब्य तथा शिरा के कट जाने से उत्पन्न क्लैब्य असाध्य होता है। शेष साध्य (छः प्रकार के) नपुंसकता में वाजीकरण विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६१ ॥

वृष्यलक्षणम्—

यत्किञ्चिद्बृंहणं स्निग्धं मधुरं बलवर्धनम् ।
मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥ १६२ ॥

वृष्य का लक्षण—जो कुछ शरीर को बढ़ाने वाले स्निग्ध मधुर, बलवर्द्धक तथा मन को प्रसन्न करनेवाले पदार्थ हैं वे सभी वृष्य कहलाते हैं ॥ १६२ ॥

वीर्यस्तम्भकराः कतिपययोगाः—

वृक्षोत्पलत्वचा सिद्धं क्षीरं यावन्न जीर्यति ।
तावत्स्त्रीभोगसक्तानां स्थिरं बीजं भवेन्नृणाम् ॥ १६३ ॥

वीर्य को रोकनेवाले कुछ योग—वृक्षोत्पल (पद्मकाठ) के त्वचा से सिद्ध दूध का सेवन करने के बाद जब तक उसका अच्छी तरह परिपाक नहीं हो जाता है तब तक स्त्री के साथ संभोग करने में आसक्त मनुष्यों का वीर्य स्थिर (रुका) रहता है ॥ १६३ ॥

बीजं बृहत्करञ्जस्य कृतमन्तः सपारदम् ।
हेम्नाऽथ वेष्टितं न्यस्तं वदने बीजधृन्मतम् ॥ १६४ ॥

बृहत्करञ्ज के बीज को उसके अन्दर पारा भरकर तथा ऊपर से स्वर्ण का पत्र लपेट कर मुख में रखने से वीर्य को स्थिर रखता है ॥ १६४ ॥

श्वेतार्कतूलवर्त्या वराहमेदःप्रदिग्धया दीपः ।
ध्वजं पुरुषवराङ्गं धारयति शर्वरीं सकलाम् ॥ १६५ ॥

सफेद मदार के रूई की वत्ती सूकर के चर्बी में भिगोकर तथा जलाकर रक्खा हुआ दीप पुरुष के वराङ्ग ध्वज (शिश्न) को सम्पूर्ण रातभर स्थिर रहता है ॥ १६५ ॥

यस्या वक्त्रस्य दासो द्विजपतिरभवत्तत्स्मितं वा सुधा वै
निर्माल्यं नेत्रकान्त्या प्रवरकुवलयं यन्मधुश्रावणी वाक् ।
तद्रोचि' किं भहेम्ना हितमुहितमुखी काकिनीमन्त्रयुक्ता
यस्यास्तारुण्यभूपा प्रतिदिनरसायुक्तां सेवेत कान्ताम् (?) ॥ १६६ ॥

इति श्रीवैद्यश्रीशोढलग्रथिते गदनिग्रहे नवमं
वाजीकरणतन्त्रं समाप्तम् ॥

जिस स्त्री के मुख का सेवक ब्रह्मा जी हुए, जिसका हास्य अमृत के सदृश है जिसके नेत्र की कान्ति ही उत्तम कुन्द की मालाएं हैं और जिसकी वाणी मिठास उत्पन्न करनेवाली है उस वशीकरण मन्त्र से युक्त हितकर सुन्दर मुखवाली स्त्री के चाहने के सम्बन्ध में क्या कहना है । अर्थात् उसको सभी चाहते हैं । इस प्रकार उसकी तारुण्य जवानीरूपी आभूषण से युक्त प्रतिदिन रसास्वादन कराने योग्य स्त्री को सेवन करे ।

श्री वैद्यशोढल विरचित गदनिग्रह का नवम
वाजीकरणतन्त्र समाप्त ।

गदनिग्रहः

अथ पञ्चकर्माधिकारखण्डो दशमः ।

अथ स्नेहाधिकारः प्रथमः ।

तत्र प्रथमं स्नेहविधिं व्याख्यास्यामः ।

पञ्चकर्मप्रयोजनं भेदाश्च—

प्रावृड्घनात्ययवसन्तदिनेषु यस्मा-
त्प्रादुर्भवन्ति पवनादिरुजस्ततश्च ।
वातादिरोगशमनाय शरीरशुद्धिः
स्यादम्बुदागमशरन्मधुवासरेषु ॥ १ ॥

सर्वप्रथम स्नेह विधि को कहते हैं ।

पञ्चकर्म के प्रयोजन तथा भेद—वर्षा, शरद तथा बसन्त ऋतु में वातिक, पैत्तिक एवं कफज रोग क्रमशः उत्पन्न होते हैं अतः इन वर्षा, शरद तथा बसन्त के दिनों में वातज आदि रोगों की शान्ति के लिये शरीर की शुद्धि की जाती है ।

प्राक्पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद्वमनं विरेकः ।
निरूहणान्वासनबस्तिकर्म नस्यं क्रमश्चेति भिषग्वराणाम् ॥ २ ॥

पहले पाचन कराना, उसके बाद स्नेहन तदन्तर स्वेदन, वमन, विरेचन, निरूहण, अन्वासन, वस्तिकर्म तथा नस्यकर्म कराना यह श्रेष्ठ वैद्यों का क्रम है ।

अथ पञ्चविधं कर्म प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
शिष्याणां कर्मसिध्यर्थं प्रजानाममृतोपमम् ॥ ३ ॥

इसके बाद क्रमशः पाँच प्रकार के कर्म को कहता हूँ यह शिष्यों को पञ्चकर्म (वमनविरेचनादि) में सिद्धि प्राप्त करने के लिये है तथा प्रजाओं के लिये अमृत के समान है ।

वमनं स्रंसनं चैव निरूहमनुवासनम् ।
नस्यकर्म तथा कर्म वैद्याः पञ्चविधं विदुः ॥ ४ ॥
न स्नेहस्वेदरहिता क्रिया काचित्प्रवर्तते ।
तस्मादादिक्रिया ह्येषा स्नेहस्वेदविधिर्नृणाम् ॥ ५ ॥

वैद्यगण वमन, स्रंसन (विरेचन), निरूहण, अनुवासन तथा नस्य कर्म ये पांच प्रकार के कर्म बताते हैं। स्नेहन तथा स्वेदन कर्म के बिना कोई भी क्रिया (वमन-विरेचनादि) सिद्ध नहीं होती है अतः यह मनुष्यों की प्रथम क्रिया स्नेहन तथा स्वेदन विधि है ॥ १–५ ॥

स्नेहभेदास्तद्गुणाश्च—

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥ ६ ॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्मादेव च शीलनात् ।
पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम् ॥ ७ ॥

स्नेह के भेद तथा उसके गुण—सभी प्रकार के स्नेहों में घृत, मज्जा, वसा तथा तैल ये चार उत्तम स्नेह हैं। इन चार प्रकार के स्नेहों में भी घृत उत्तम स्नेह है। क्योंकि इसका जिस प्रकार संस्कार (तत्तद्रोग नाशक औषधों से) किया जाता है उसके अनुसार गुणाधान हो जाता है। अर्थात् वह योगवाही है। ये स्नेह उत्पत्ति के अनुसार जन्म से ही मधुर गुण, अविदाही तथा सौम्य होने से पित्तनाशक हैं और उत्तरोत्तर अन्य दोषों को भी नाश करनेवाले होते हैं—

घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च ।
यमकं घृततैलाभ्यां त्रिवृतं वसया सह ॥ ८ ॥

घृत से तैल, तैल से वसा तथा वसा से मज्जा ये उत्तरोत्तर गुरु होते हैं। घृत तथा तैल को यमक स्नेह कहते हैं और घृत, तैल तथा वसा इन तीनों स्नेहों को त्रिवृत स्नेह कहते हैं ॥ ६–८ ॥

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा महास्नेहमिहोच्यते ।
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहः स्थावरजङ्गमः ॥ ९ ॥
चतुर्विधः स्नेहनार्थे योज्यः सात्म्याद्यपेक्षया ।

घृत, तैल, वसा तथा मज्जा ये महास्नेह कहे जाते हैं। घृत, तैल, वसा तथा मज्जा ये स्थावर स्नेह तथा जंगम स्नेह हैं। ये चारों प्रकार के स्नेह सात्म्य (बल एवं प्रकृति के अनुसार) के अनुसार स्नेहन कर्म में प्रयुक्त होते हैं।

स्नेहयोग्याः—

स्नेह्येद्वामनीयांश्च विरेच्यांश्चैव मानवान् ॥ १० ॥
आस्थाप्याननुवास्यांच वातव्याधींश्च सर्वशः ।

स्नेहन करने योग्य मनुष्य—वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन

करने योग्य मनुष्यों को तथा सभी वातव्याधि से पीड़ित मनुष्यों को स्नेहन कराये।

ऋतुविशेषे स्नेहविशेषोपयोगः—

सर्पिः प्रयोज्यं शरदि, प्रायस्तैलं घनागमे ॥ ११ ॥
हिमागमे चोपयोज्या वसा, मज्जा तपात्यये।
तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ च माधवे ॥ १२ ॥
ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ।

ऋतुविशेष में स्नेहविशेष का उपयोग—शरदृतु में स्नेहनार्थ घृत का प्रयोग करना चाहिए और वर्षा-ऋतु में प्रायः तैल का प्रयोग स्नेहन के लिये करे। हेमन्त-ऋतु में वसा का उपयोग तथा तपात्यय (वसन्त) में स्नेहनार्थ मज्जा का उपयोग करे। तैल प्रावृट् तथा वर्षा के अन्त में, घृत, वसा तथा मज्जा वसन्त ऋतु में स्नेहनार्थ प्रयोग करे। सभी साधारण ऋतुओं में सूर्य के स्वच्छ रहने पर सभी स्नेहन कर्म प्रशस्त होता है।

घृतादिस्नेहेऽनुपानयोजना—

घृते तु पानमुष्णाम्बु यूषस्तैले प्रशस्यते ॥ १३ ॥
[1]वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात्सर्वेषूष्णमथाम्बु वा।

घृत आदि के द्वारा स्नेहन के बाद अनुपान विधि—घृत से स्नेहन करने के बाद गरम जल, तैल से स्नेहन करने के बाद यूष, वसा तथा मज्जा से स्नेहन करने के बाद मण्ड (मांड) तथा सभी स्नेहों से स्नेहन करने के बाद गरम जल या केवल जल का सर्वसाधारण प्रयोग करे।

स्नेहपानयोग्यः कालः—

पिबेत्संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकांक्षितः ॥ १४ ॥
शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः।

स्नेहनपान करने योग्य समय—मनुष्य संशमन स्नेहन (शामक स्नेह) भोजन करने की इच्छा होनेपर पान करे और पुनः संशोधन के लिये भोजन के पच जाने पर रात्रि में स्नेहपान करे।

सद्यःस्नेहना योगाः—

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकम् ॥ १५ ॥
पीतमेकध्यमेतद्धि सद्यः स्नेहनमुच्यते।

शीघ्र स्नेहन करनेवाले योग—पीपर, सेन्धानमक, चारों स्नेह (घृत, तैल वसा, मज्जा) तथा दही का तोड़ इन सबों को एक में मिलाकर पान करने से यह सद्यः स्नेहन करता है।

---

1. वसामज्जासु—इति पाठान्तर।

शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम् ॥ १६ ॥
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यः स्नेहनमुच्यते ।

रूक्ष प्रकृतिवाला व्यक्ति शक्कर के चूर्ण से युक्त गाय को दूहने वाले पात्र में घृत रखकर तथा उसी में दूध दूहकर पान करे। यह सद्यः स्नेहन करने वाला होता है।

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा ॥ १७ ॥
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ।

सुकुमार, दुर्बल, वृद्ध, बालक, स्नेह से घृणा करनेवाले तथा प्यास से व्याकुल इन व्यक्तियों के और गर्मी के दिन में भोजन के साथ स्नेह पान कराये।

स्नेहमात्रालक्षणम्—

अहोरात्रेण महती जीर्यत्यह्ना च मध्यमा ॥ १८ ॥
दिनार्धेनावरा तिस्रः स्नेहमात्राः प्रमाणतः ।
एकाहमुत्तमा पेया त्र्यहमेव तु मध्यमा ॥ १९ ॥
स्नेहमात्रा यथायोगं सप्ताहं तु लघीयसी ।
पिबेत्त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा ॥ २० ॥
सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्म्योभवति सेवितः ।

स्नेह की मात्रा का निरूपण—जो स्नेह की मात्रा दिन-रात चौबीस घंटे में पचे वह बड़ी मात्रा है, जो केवल दिन भर में (बारह घंटे में) पचे वह मध्यम मात्रा है और जो आधे दिन (छः घंटे) में पचे वह निकृष्ट मात्रा है। प्रमाण के अनुसार ये स्नेह की तीन मात्रायें हैं। एक दिन पीने वाली स्नेह की मात्रा उत्तम मात्रा होती है, तीन दिन पीनेवाली मध्यम तथा योग्यता के अनुसार सात दिन पीनेवाली मात्रा छोटी मात्रा होती है। स्नेह को तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, छः दिन तथा सात दिन तक पान करे इसके बाद स्नेह सेवन करने से सात्म्य हो जाता है अर्थात् उसका प्रभाव नहीं पड़ता है।

स्नेहाजीर्णचिकित्सा—

जीर्णाजीर्णविशङ्कायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत् ॥ २१ ॥
तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ।

स्नेह का परिपाक न होने की चिकित्सा—स्नेह के पच जाने पर तथा अजीर्ण (न पचने) की आशंका होने पर गरम जल पीवे। इससे शुद्ध डकार आता है और भोजन करने की रुचि बढ़ती है।

स्नेहाजीर्णलक्षणानि—

मूर्च्छा सादोऽरतिस्तृष्णाजम्भादाहभ्रमक्लमाः ॥ २२ ॥
भवन्त्यजीर्यति स्नेहे जीर्णः स्यात्तैः शमं गतैः ।

स्नेह के अजीर्ण होने का लक्षण—मूर्च्छा, शरीर में पीड़ा, अरति (किसी कार्य में मन न लगना), प्यास, जम्भाई, दाह, भ्रम (चक्कर) क्लम (थकावट मालूम होना) ये सब लक्षण स्नेह के न पचने पर उत्पन्न होते हैं और इन सब लक्षणों का शान्त हो जाना स्नेह के पच जाने का लक्षण होते हैं ।

अस्नेह्याः—

न स्नेह्याश्छर्द्यतीसारतृष्णामूर्च्छामदातुराः ॥ २३ ॥
अजीर्ण्युत्थश्लेष्माणो गलरोगार्दिताश्च ये ।

स्नेहन करने के अयोग्य व्यक्ति—वमन, अतिसार, प्यास, मूर्च्छा, मद से पीड़ित, अजीर्णी (जिनका भोजन न पचा हो), जिनका कफ ढीला न हुआ हो तथा जो गले के रोग से पीड़ित हैं वे, इन उपद्रवों से युक्त व्यक्ति स्नेहन करने के योग्य नहीं होते हैं ।

तथा च—न स्नेह्यास्त्वतिमन्दाग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥ २४ ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः ।
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये बस्तौ विरेचने ॥ २५ ॥

अत्यन्त मन्दाग्नि वाला, अत्यन्त तीक्ष्णाग्नि वाला, मोटा तथा दुर्बल व्यक्ति और ऊरुस्तम्भ (दोनों ऊरुओं का वात) आमातिसार, गलाका रोग, गर (संयोगज) विषजन्य रोग, उदर रोग, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, कफजन्य रोग, तृष्णा तथा मद्य इन उपद्रवों से पीडित व्यक्ति तथा विपरीत क्रम से प्रसव करनेवाली स्त्री और नस्यकर्म, वस्ति कर्म एवं विरेचन कर्म में लगे हुए व्यक्ति ये सब स्नेहन करने के योग्य नहीं होते हैं ॥ २३–२५ ॥

चतुर्विधस्नेहयोग्या रोगिणः—

तत्र धीस्मृतिमेधाग्निकांक्षिणां शस्यते घृतम् ।
ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ॥ २६ ॥

चार प्रकार के स्नेहन करने योग्य रोगी—स्नेहन में बुद्धि, स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति तथा जाठराग्नि को प्रदीप्त चाहनेवाले व्यक्ति के और ग्रन्थि, नाडीव्रण, कृमिरोग, कफजन्य रोग, मेदोरोग तथा वात के रोगियों में घृत का स्नेहन प्रशस्त होता है ।

तैलं लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु ।
वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ॥ २७ ॥
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च ।
शेषौ, वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ॥ २८ ॥
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।

दुष्का, दृढ़ तथा कर्कश कोष्ठवाले व्यक्तियों में तथा वात से पीड़ित, धूप से पीड़ित, मार्ग चलने तथा बोझा ढोने से खिन्न, स्त्री, व्यायाम करने वाले, तथा क्षीण धातु वालों में और रूक्ष प्रकृति वाले, क्लेश का सहन करने वाले तीव्र जाठराग्नि एवं वात से आवृत स्रोतवाले व्यक्तियों में तैल का स्नेहन प्रशस्त होता है। शेष दो स्नेहों का प्रयोग अर्थात् वसा का सन्धि, अस्थि, मर्म तथा कोष्ठगत पीड़ा में और दग्ध, आहत, भ्रष्टयोनि, कर्णरोग तथा शिरोरोग में मज्जा का स्नेहन करना प्रशस्त होता है।

स्नेहायोगलक्षणम्—

रूक्षं पुरीषं ग्रथितं कृच्छ्रादन्नं च पच्यते ॥ २९ ॥
उरो विदह्यते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ।
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥ ३० ॥

स्नेह के अयोग का लक्षण—स्नेह के अयोग (अच्छी तरह प्रयोग न होने) के लक्षण, रूक्ष तथा गाँठदार मल निकलना, कष्ट से अन्न का पचना, छाती में जलन, कोष्ठों (आमाशय आदि कोठों) के ऊपर वायु का दौड़ना, मुख का वर्ण फीका पड़ जाना, दुर्बलता तथा शरीर का रूक्ष हो जाना ये सब लक्षण स्नेह के अयोग (अच्छी तरह कार्य न होने) के लक्षण हैं ॥ २९–३० ॥

सम्यक्स्निग्धलक्षणम्—

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निः स्निग्धं सक्तुदसंहतम् ।
स्निग्धता मृदुभावश्च गात्राणां स्निग्धलक्षणम् ॥ ३१ ॥

अच्छी तरह स्निग्ध व्यक्ति के लक्षण—वायु का अनुलोमन होना, अग्नि का प्रदीप्त होना, स्निग्ध तथा मल का ढीला होकर निकलना, शरीर में चिकनाहट और शरीर का मृदु होना ये सब अच्छी तरह स्निग्ध व्यक्ति के लक्षण होते हैं ॥ ३१ ॥

अतिस्निग्धलक्षणम्—

तन्द्रा सारुचिरुत्क्लेशो गात्रसादोऽग्निमार्दवम् ।
पाण्डुता गौरवं जाड्यं स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अति स्निग्ध के लक्षण—तन्द्रा, अरुचि, मिचली (मितली), शरीर में पीड़ा, मन्दाग्निता, पाण्डुरोग, शरीर में भारीपन तथा शरीर में जकड़न ये सब अति स्निग्ध के लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

स्नेहोपयोगफलम्—

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।

दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः ॥ ३२ ॥

इति श्रीशोढलप्रथिते गदनिग्रहे दशमे पञ्चकर्माधिकारखण्डे
स्नेहाधिकारः प्रथमः ॥

स्नेह के उपयोग के फल—स्नेह को सेवन करने वाले व्यक्ति की जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, उसके कोष्ठ (स्रोतस) शुद्ध हो जाते हैं, उसकी रसरक्तादि धातुयें वृद्धिशील होती हैं वह व्यक्ति बल तथा वर्ण से परिपूर्ण होता है, इन्द्रियाँ दृढ होती हैं उसकी जराजन्य दुर्बलता मन्द पड़ जाती है और वह पुरुष एक सौ वर्ष की आयुवाला होता है ॥ ३२ ॥

श्री वैद्यशोढल विरचित गदनिग्रह के दशम खण्ड पञ्चकर्माधिकार
खण्ड में स्नेहाधिकार समाप्त ।

अथ स्वेदाधिकारो द्वितीयः ।

अथातः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

स्नेहन विधि के बाद स्वेदन विधि को कहते हैं ।

स्वेदभेदाः—

स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।

स्वेदन के भेद—स्वेदन चार प्रकार का होता है । तापस्वेद, उपनाहस्वेद, ऊष्मस्वेद तथा द्रवस्वेद ये चार प्रकार के स्वेद हैं ।

तापस्वेदविधिः—

तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः ॥ १ ॥

तापस्वेद की विधि—आग में तपाये हुए, वस्त्र, फाल, हाथ के तलवे आदि से स्वेदन करना तापस्वेद विधि है ॥ १ ॥

उपनाहविधिः—

उपनाहो वचाकिण्वशताह्वादेवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैर्गन्धैश्च रास्नैरण्डजटामिषैः ॥ २ ॥
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयःप्लुतैः ।

उपनाह विधि—केवल वातजन्य व्याधि में वच, किण्व (मद्यबीज), शताह्वा (सोया का बीज), देवदारु; सभी धान्य एवं सभी गन्ध द्रव्य, रासन, एरण्ड, जटामांसी तथा मांस इन द्रव्यों में नमक सहित स्नेह, चुक्र (चूका), मट्ठा तथा दूध मिलाकर उपनाहन विधि करे । इनमें किसी एक द्रव्य से या सभी द्रव्यों से उपनाहन करे ।

केवले पवने, श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ॥ ३ ॥
पित्तेन पद्मकाद्यैश्च शाल्वणाख्यैः पुनः पुनः ।
स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥ ४ ॥
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाविकशाटकैः ।
बद्धं रात्रौ दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ॥ ५ ॥

कफजन्य रोग में सुरसादि गण के औषधों से तथा पित्तजन्य रोग में पद्मकाद्य गण के औषध तथा शाल्वणाद्य गण के औषधों से बार-बार उपनाहन करे । स्निग्ध एवं उष्णवीर्य वाले औषधों से मुलायम एवं दुर्गन्धरहित चर्मपट्ट (चमड़े की पट्टी) से उपनाहन करे । चर्मपट्ट के न मिलने पर वातनाशक पत्र (एरण्ड, धत्तूर, मदार, निर्गुंडी आदि), कौशेय वस्त्र (रेशम वस्त्र), आविक (भेड़ के ऊन का वस्त्र-कम्बल आदि) तथा साड़ी से उपनाहन करे ।

रात का बाँधा हुआ उपनाह (पुल्टिस) दिन में त्याग दे और दिन में बाँधा हुआ उपनाह रात्रि में त्याग दे ॥ २-५ ॥

ऊष्मस्वेदविधिः—

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्टकपालोपलपांसुभिः ।
पत्रभङ्गेन धान्येन करीषसिकतातुषैः ॥ ६ ॥
अनेकोपायसंतप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः ।

ऊष्म स्वेद विधि—उत्कारिका लोष्ट (ढेला), कपाल (मिट्टी का बर्तन), उपल (पत्थर), धूल, पत्रभंग (आकाश बंवर) करीष (करसी 'सूखा गोबर), सिकता (बालू) तथा धान की भूसी इन द्रव्यों को अनेक प्रकार से संतप्त कर देश तथा काल के अनुसार उष्मा (उष्मस्वेद) का प्रयोग करे।

परिषेकविधिः—

शिग्रुवरुणकैरण्डकरञ्जसुरसार्जकात् ॥ ७ ॥
शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृन्ततः ।
पत्रभङ्गैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥ ८ ॥
दशमूलेन च पृथक्सहितैर्वा यथामलम् ।
स्नेहवद्भिः सुरासुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः ॥ ९ ॥
कुम्भीर्गलन्तीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम् ।
वाससाऽऽच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिञ्चेद्यथासुखम् ॥ १० ॥

परिषेक (द्रव स्वेद) विधि—सहिजन, वरुण का छाल, एरण्ड, करञ्ज, सुरस (सेमर का छाल), अर्जक (कुठेरक 'तुलसीभेद'), शिरीष, अडूसा, बाँस का पत्ता या वंशपत्री, मदार, मालती (चमेली का पञ्चांग) तथा दीर्घवृन्त (अरलू 'सोनापाठा'), पत्रभंग (आकाश बंवर करील आदि), वचादि गण के औषध, अनूपदेश में उत्पन्न पशुओं (हिरण आदि) का मांस तथा वारिज (मछली आदि) का मांस तथा दशमूल (बेल का छाल, गम्भारी, अरलू, पाढल, अरणी, सरिवन, पिठवन वनभंटा, भटकटैया, गोखरू) इन द्रव्यों को एक साथ या अलग-अलग दोषों के अनुसार स्नेह में मिलाकर या सुरा, शुक्त (काँजी) जल तथा दूध आदि द्रव पदार्थों में क्वाथ कर उससे कुम्भी (टोंटीदार घड़ा) गलन्ती या नाड़ी को भर कर रोग से पीड़ित व्यक्ति के शरीर को स्निग्ध कर तथा कपड़ा से ढंक कर उसके सुख के अनुसार स्वेदन करे ॥ ७-१० ॥

विमर्श—उपरोक्त औषधों के क्वाथ को नलिका में भरकर उससे वस्त्रावेष्टित रोगी को स्वेदन करते हैं। उसी प्रकार घड़ा में उपरोक्त द्रव पदार्थ को भरकर

बन्द कर देते हैं और एक पार्श्व में छेदकर उसमें हस्तिशुण्डाकार नलिका लगा देते हैं और उसको आग पर चढ़ाकर उसके समीप में रोगी को बैठा देते हैं। इस प्रकार उसके नलिका द्वारा निकले हुए बाष्प से उसका स्वेदन हो जाता है। यह उष्णस्वेद का भी एक प्रकार है। द्रवस्वेद प्रकार में घड़े के छिद्र में तीन खण्डवाली, दो हाथ लम्बी, धातु अथवा काष्ठ की बनी हुई नलिका लगा देते हैं, उसका अग्रभाग गोपुच्छ सदृश छः अंगुल लम्बा होता है। इसमें रोगी के शरीर में स्नेह का अभ्यङ्ग कराकर कपड़े से ढंककर सुखपूर्वक बैठा दिया जाता है और उसके बाद उस समशीतोष्ण द्रव से सेचन किया जाता है। इसी प्रकार उपरोक्त ओषधियों के क्वाथ से भरे हुए टब में लम्बी नलिका लगा देते हैं और उससे धीरे २ उपरोक्त विधि से बैठे हुए रोगी को परिषेक करते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव पदार्थ से भरे हुए टब में रोगी को बैठाकर स्वेदन करते हैं। शार्ङ्गधर के अनुसार द्रोणी (टब) सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह या काष्ठ का होना चाहिए। उसकी लम्बाई और ऊँचाई प्रत्येक की छत्तीस इञ्च होनी चाहिए। उसमें द्रव पदार्थ इतना भरा होना चाहिए की रोगी के बैठने पर उसके नाभि के ऊपर छः अंगुल द्रव पहुँच जाय। पतन, प्रहार, मोच, भग्न आदि के रोगी के वातिक उपद्रवों की शान्ति के लिये तैल से पूर्ण द्रोणी में बैठने का आदेश है। यह अवगाहन स्दवेविधि का प्रकार है।

अवगाहस्वेदविधिः—

तैरेव वा द्रवैः पूर्णं कुण्डं सर्वाङ्गगेऽनिले।
अवगाह्यातुरस्तिष्ठेदर्शःकृच्छ्रादिरुक्षु च ॥ ११ ॥
निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्।

अवगहन स्वेद विधि—अथवा सम्पूर्ण शरीर में वायु के प्रकोप होने पर रोगी उन्हीं पूर्वोक्त औषधों के क्वाथ से पूर्ण कुण्ड में अवगाहन कर बैठे। इसी प्रकार अर्श तथा मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में भी रोगी अवगाहन करे। यह स्वेदन वातरहित स्थान में अन्दर तथा बाहर स्निग्ध होने पर तथा भोजन के अच्छी तरह पच जाने पर करे।

व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम् ॥ १२ ॥

रोग, रोगी, देश तथा ऋतु के अनुसार मध्यम, उत्तम तथा अवर (निकृष्ट) स्वेदन करे।

स्निग्धोऽनिले स्निग्धरूक्षो वातश्लेष्माणि शस्यते।
कफे रूक्षो हितः स्वेदः स्तम्भशूलव्यपोहकृत् ॥ १३ ॥
आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।

रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ॥ १४ ॥

वातिक रोग में स्निग्ध स्वेद, वात कफजन्य रोग में स्निग्ध तथा रूक्ष-स्वेद और कफजन्य रोग में रूक्षस्वेद हितकर एवं प्रशस्त है। यह स्वेद स्तम्भ (शरीर की अकड़न) तथा शूल को नाश करता है। वायु के आमाशयगत होने पर तथा कफ के पक्वाशयगत होने पर स्थान के अनुसार रूक्षपूर्वक स्वेदन तथा स्निग्धपूर्वक स्वेदन करे। ॥ ११–१४ ॥

स्वेदप्रकाराः—

समासाद्द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽद्विगुणैर्न च ।
एकाङ्गसर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च ॥ १५ ॥

स्वेद के प्रकार—संक्षेप में स्वेद दो प्रकार का होता है। संयुक्त (मिश्रित) तथा अद्विगण (केवल), एकाङ्गगत स्वेद, तथा सर्वाङ्गगत स्वेद, स्निग्ध स्वेद तथा रूक्ष स्वेद ॥ १५ ॥

विविधाः स्वेदयोगाः—

पुनर्नवैरण्डयवातसीभिः कार्पासजैरस्थिभिरारनालैः ।
स्विन्नैः समाषैरिति षड्भिरेव स्वेदः समीरार्तिहरो नराणाम् ॥१६॥

अनेक प्रकार के स्वेद योग—पुनर्नवा, एरण्ड, यव, अतसी (अलसी 'तीसी'), कपास की अस्थि (बीज 'वनउर') तथा आरनाल इन छः द्रव्यों में उड़द मिलाकर उबाले और इन छः द्रव्यों के क्वाथ या कल्क से ही स्वेदन करे। यह मनुष्यों के वात रोग को नाश करता है।

कार्पासास्थिकुलत्थिकातिलयवैरण्डमूलातसी-
वर्षाभूशणबीजकाञ्जिकयुतैरेकीकृतैर्वा पृथक् ।
स्वेदः पर्शुककूर्परोदरशिरःस्फिक्पाणिपादाङ्गुली-
गुल्फस्कन्धकटीरुजो विजयते सामाः समीरात्मकाः ॥ १७ ॥

कपास का बीज, कुलत्थिका (कुरथी), तिल, यव, एरण्ड की जड़, अलसी, पुनर्नवा, शण (सनई) का बीज तथा काञ्जि इन द्रव्यों से एक साथ मिलाकर या अलग-अलग स्वेदन करना पर्शुक, कूर्परसन्धिगत, उदर, शिर, स्फिक्, हाथ पैर की अंगुली, गुल्फ, कन्धा तथा कमर की पीड़ा एवं आमवात अन्य पीड़ा को जीत लेता है ॥ १६–१७ ॥

अस्वेद्याः—

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ।
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः ॥ १८ ॥
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ।
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् ॥ १९ ॥

भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ।
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ॥ २० ॥
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदु चात्ययिके गदे ।
तृष्यतां मद्यनित्यानां कुष्ठिनां रक्तपित्तिनाम् ॥ २१ ॥
विषार्तानामुदरिणां कामलापाण्डुरोगिणाम् ।
क्षीणक्षतानां स्थूलानां गर्भिण्या मधुमेहिनाम् ॥ २२ ॥
स्वेदस्तैमिरिकाणां च न कार्यश्चातिसारिणाम् ।

स्वेदन करने के अयोग्य—अत्यधिक मोटा, रूक्ष प्रकृतिवाला, दुर्बल, मूर्च्छा रोग से पीड़ित, स्तम्भन करने योग्य व्यक्ति, क्षतक्षीण रोग से पीड़ित, कृश, अत्यधिक मद्यपानजन्य रोग, तिमिर रोग (मोतिया बिन्द), जलोदर, वीसर्प, कुष्ठ, शोथ तथा आढ्यवात (गृध्रसी) इन रोगों से पीड़ित, दूध, दही, स्नेह, मधु को पान किये हुए व्यक्ति, विरेचनकर्म किये हुए व्यक्ति, भ्रष्ट, (गिरे हुए), दग्ध (जले हुए), अर्शरोग, ग्लानि, क्रोध, शोक तथा भय से पीड़ित व्यक्ति, गर्भिणी, रजस्वला, प्रसूता स्त्री, मृदु प्रकृति वाले व्यक्ति इन सबों का स्वेदन नहीं कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त असाध्य रोग में प्यास से पीड़ित, मद्यसेवी, कुष्ठ के रोगी, रक्तपित्त के रोगी, विषजन्य रोग से पीड़ित, उदर के रोगी, कामला तथा पाण्डु के रोग, क्षीणक्षत (उरःक्षत), का रोगी स्थूल, गर्भिणी, मधुमेह के रोगी, तिमिर (मोतियाबिन्द) रोग से पीड़ित तथा अतिसार से पीड़ित रोगियों को स्वेदन कर्म नहीं करना चाहिए।

स्वेद्याः—

श्वासकासप्रतिश्यायग्रहाध्मानविबन्धिषु ॥ २३ ॥
स्वरभेदानिलव्याधिपक्षाघातापतानके ।
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ॥ २४ ॥
महत्वे मुष्कयोः खल्ल्यामायामे वातकण्टके ।
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ॥ २५ ॥
वेपथुक्षवथुस्वापस्तम्भजृम्भाङ्गगौरवे ।
कर्णमन्याशिरःकोष्ठजङ्घार्तौ पादरुक्षु च ॥ २६ ॥
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ।

स्वेदन योग्य पुरुष—श्वास वृद्धि, कास रोग, प्रतिश्याय, स्कन्द आदि ग्रह, आध्मान, विबन्ध, स्वर भेद, वातजन्यरोग, पक्षाघात (एक अंग का घात), अपतानक, आक्षेपक (टिटनस), शरीर की पीड़ा से युक्त व्यक्ति, कटि (कमर), पार्श्व, पृष्ठ, कुक्षि (उदर) तथा हनु इन अङ्गों की अकड़न, अण्ड-कोष की वृद्धि, खल्ली (सकम्पार्धाङ्गवात 'पैरालिसिस'), आयाम (हृदय

कोष्ठ का विस्फार), वातकण्टक (जिह्वाकण्टक), मूत्रकृच्छ्र, अर्बुदरोग, ग्रन्थिरोग, मूत्राघात, आढयवात (गृध्रसी), कम्पन, छींक, निद्रा, अकड़न, जम्भाई, शरीर का भारीपन, कर्णरोग, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कोष्ठगतरोग, जङ्घा की पीड़ा तथा पादरोग इन रोगों में तथा अवस्थाओं में रोगों के औषध के अनुसार मनुष्यों का विधिपूर्वक स्वेदन करना चाहिए।

दोषविशेषे स्वेदविशेषः—

स्वेदाश्च वातकफजा वातजाः कफजास्तथा ॥ २७ ॥
रोगास्तत्रोष्णलवणैः स्निग्धैरम्लैश्च वातजाः ।
करीषतुषपाषाणबाष्पाङ्गारैः कफात्मकाः ॥ २८ ॥
स्वेद्यास्तु स्निग्धरूक्षाभ्यां ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् ।
स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदःकफावृते ॥ २९ ॥

दोषविशेष में स्वेदविशेष—वातकफजन्यरोग, वातजन्य रोग तथा कफजन्य रोगों से पीड़ित रोगियों का स्वेदन करना चाहिए। वातजन्य रोग में उष्ण, लवण स्निग्ध तथा अम्ल पदार्थों से स्वेदन करे। कफजन्य रोगों में करीष (सूखा गोवर), भूसी, पत्थर, का वाष्प तवा लकड़ी के अंगार से स्वेदन करे। रोग के बलाबल को देखकर स्निग्ध तथा रूक्ष पदार्थों से स्वेदन करे। मेद तथा कफ से आवृत वातरोग में उष्णस्वेद हितकर होता है। अर्थात् गोहरी की राख तथा भूसी को पोटली में बाँधकर तवा पर बार-बार गरम कर स्वेदन करते हैं, जलते हुए पत्थर पर पानी छिड़ककर उसके वाष्प से स्वेदन करते हैं, अंगार को चारपाई के नीचे रखकर स्वेदन किया जाता है। इसी प्रकार रोगों के बलाबल को देखकर वातरोग में स्निग्ध स्वेद, कफजन्य रोग में रूक्षस्वेद, वात-कफ रोग में रूक्ष स्निग्ध स्वेद तथा वातोल्वण कफ रोग में स्निग्धाधिक्य रूक्ष स्वेद, कफोल्वण वातरोग में रूक्षाधिक्य स्निग्ध स्वेद इस प्रकार अनेक प्रकार से स्वेदन करने का विधान है ॥ २७–२९ ॥

अवयवविशेषेण मृदादिस्वेदयोगः—

वृषणौ हृदयं दृष्टिं स्वेदयेन्मृदु वा न वा ।
मध्यमं वंक्षणं शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥ ३० ॥

शरीर के अंग के अनुसार मृदु आदि स्वेद योग—दोनों अण्डकोष, हृदय तथा नेत्र इन अंगों का सौम्य द्रव्यों से मृदुस्वेदन करे या स्वेदन न करे। वङ्क्षणसन्धि को मध्यम स्वेदन करे तथा शेष अङ्गों को अपनी इच्छा एवं रोगों के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा मृदु स्वेदन करे ॥ ३० ॥

सम्यक्स्विन्नलक्षणम्—

स्तम्भशूलाद्युपरमे शीतवेपथुनिग्रहे ।

स्वेदागमे लघुत्वे च स्वेदः सुविहितो भवेत् ॥ ३१ ॥

अच्छी तरह स्विन्न व्यक्ति का लक्षण—अकड़न तथा शूल आदि का शान्त हो जाना, ठण्ढक एवं कम्पन का दूर हो जाना, शरीर में पसीना आ जाना और शरीर का हल्का हो जाना ये अच्छी तरह स्वेदन किये गये व्यक्ति के लक्षण हैं ॥ ३१ ॥

अतिस्विन्नलक्षणम्—

दाहोऽङ्गे स्वरदौर्बल्यं रक्तपित्तप्रवर्तनम् ।
मूर्च्छा भ्रमः क्लमस्तृष्णा चातिस्विन्ने ज्वरस्तथा ।
व्यायामं तदहर्जह्यात्स्विन्नो मितहिताशनः ॥ ३२ ॥

अत्यधिक स्वेदन किये गये व्यक्ति के लक्षण—शरीर में जलन होना, स्वर का क्षीण होना, रक्त तथा पित्त का निकलना, मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर), थकावट, प्यास लगना तथा ज्वर होना ये अतिस्विन्न व्यक्ति के लक्षण हैं। इस अवस्था में स्विन्न व्यक्ति उस दिन व्यायाम (कसरत) न करे और थोड़ी मात्रा में हितकर (सुपच एवं बलवर्द्धक) भोजन करे ॥ ३२ ॥

सर्वस्वेदे सामान्यो विधिः—

सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैः संछाद्य चक्षुषी ॥ ३३ ॥

सभी प्रकार के स्वेदन में सामान्य विधि—सभी प्रकार के स्वेदन को वातरहित स्थान में तथा भोजन के पच जाने पर करना चाहिए और स्नेह से अभ्यक्त शरीर वाले का यदि स्वेदन करना हो तो उसकी दोनों आंखों को शीत वस्त्र आदि से ढककर स्वेदन करना चाहिए ॥ ३३ ॥

स्वेदफलम्—

दीप्ताग्नित्वं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ।
कुर्यात्स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥ ३४ ॥

स्वेदन का फल—युक्तियुक्त स्वेदन कर्म अग्नि को प्रदीप्त करता है, शरीर की त्वचा को मुलायम तथा स्वच्छ बनाता है। भोजन करने में रुचि उत्पन्न करता है और स्रोतों (आमाशय, पक्वाशय आदि कोष्ठों) को निर्मल बनाता है। निद्रा तथा तन्द्रा (झपकी) को नाश करता है और शीघ्र ही अकड़ी हुई सन्धियों को सचेष्ट कर देता है। अर्थात् अकड़नरहित कर देता है ॥ ३४ ॥

स्नेहक्लिन्ना कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।

दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठे
नीताः सम्यक्छुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥ ३५ ॥

इति श्रीसोढलवैद्यग्रथिते गदनिग्रहे दशमे पञ्चकर्माधिकारखण्डे
स्वेदाधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥

स्नेह से क्लिन्न (चिपचिपापन), कोष्ठगत (आमाशयादि स्रोतगत) या रसरक्तादि धातुगत, स्रोतों में व्याप्त, शाखाओं तथा सन्धियों में स्थित स्वेदन कर्म से पिघला कर कोष्ठ में लाये गये दोष अच्छी तरह संशोधन के द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं ॥ ३५ ॥

श्रीवैद्यसोढल विरचित गदनिग्रह के दशवें पञ्चकर्माधिकार खण्ड में
दूसरा स्वेदाधिकार समाप्त ॥

अथ वमनाधिकारस्तृतीयः ।

अथातो वमनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

स्वेदाधिकार के वाद वमन विधि को कहते हैं ।

वमनौषधपानविधिः—

अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि ।
श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः ॥ १ ॥
निशि सुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वाह्णे कृतमङ्गलम् ।
निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेयया पीतसर्पिषम् ॥ २ ॥
वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः ।
आकण्ठं पायितं मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम् ॥ ३ ॥
यथाविकारविहितां मधुसैन्धवसंयुताम् ।
कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम् ॥ ४ ॥

वमन करानेवाली औषधों को पीने का नियम—स्नेहन तथा स्वेदन कराने के वाद विधिपूर्वक स्निग्ध एवं स्विन्न तथा अगले दिन वमन कराने योग्य व्यक्ति को मछली, उड़द तथा तिल आदि पदार्थों को खिलाकर कफ को बढ़ा दे और अन्न के पच जाने पर रात में सोकर उठे हुए व्यक्ति को प्रातःकाल मंगलाचार के बाद अन्नरहित थोड़ा स्निग्ध पदार्थ, पेया के साथ या केवल घृत पान कराकर, वृद्ध, वालक, दुर्वल, नपुंसक तथा भीरु (डरे हुए) व्यक्तियों को रोग के अनुसार कण्ठपर्यन्त, मद्य, दूध, गन्ने का रस या मांसरस पिलाकर रोग के अनुसार वताये गये मधु तथा सेन्धानमक मिश्रित औषध की मात्रा को मन्त्र से अभिमन्त्रित कर और क्रूर, मध्यम तथा मृदुकोष्ठ के अनुसार, तीव्र, मध्यम एवं मृदु वामक औषधों का विभाजन कर पूर्वाभिमुख बैठे हुए व्यक्ति को वमन करानेवाला औषध पान कराये और थोड़ी देर रोके रहे ।

वामक औषध को निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित कर ले ॥ १–४ ॥

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु वः ॥ ५ ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ ६ ॥

ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार, शंकर, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायुदेव, अग्निदेव, ऋषिगण, औषधों के समूह तथा भूतसंघ आप लोगों की

रक्षा करें। यह औषध ऋषियों के रसायन की तरह, देवताओं के अमृत की तरह तथा उत्तम हाथियों की सुधा की तरह हो जाय ॥ ५-६ ॥

ॐ नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभुराजाय तथाऽऽगतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय तद्यथा ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा ॥

भगवान् भैषज्य गुरु, वैडूर्य प्रभुराज, सम्यक् ज्ञान से युक्त आये हुए (बुद्ध) पूज्य देव के लिये नमस्कार है। हे भैषज्य! हे भैषज्य! हे उत्पन्न महाभैषज्य तुम्हारे लिये स्वाहा है। इति

धन्वन्तरिः काशिपतिर्दिवोदासस्तथाऽश्विनौ।
नकुलः सहदेवश्च सप्तैते गदनाशनाः ॥ ७ ॥

धन्वन्तरि, काशीपति, दिवोदास, अश्विनीकुमार, नकुल तथा सहदेव ये सात श्रेष्ठ वैद्य रोगों को नाश करनेवाले हैं ॥ ७ ॥

प्राङ्मुखं पाययेत्पीते मुहूर्तमनुपालयेत्।
तन्मना जातहृल्लासप्रसेकश्छर्दयेत्ततः ॥ ८ ॥

वामक औषध के पान कराने के थोड़ी देर बाद रोगी का मन वमन करने के लिये उतावला हो जाय और मितली आने लगे तथा लार निकलने लगे तब वमन कराये ॥ ८ ॥

अङ्गुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा।
गलताल्वरुजन् वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ॥ ९ ॥

वमन न निकलते हुए, गला तथा तालु को पीड़ा देनेवाले एवं अप्रवर्तित वमन के वेगों को दोनों अंगुलियों से या मुलायम नाल (रबड़ या एरण्ड का नाल) गले में डालकर प्रवृत्त कराये ॥ ९ ॥

प्रवर्तयन्प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थितः।
उभे पार्श्वे ललाटं च वमतश्चास्य धारयेत् ॥ १० ॥
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः।

स्वयं प्रवृत्त वमन के वेग को निकलने दे तथा दोनों घुटनों के बल से बैठाये और वमन करनेवाले व्यक्ति का दोनों पार्श्व तथा ललाट को पकड़ ले इसके बाद नाभी तथा पृष्ठभाग को ऊपर के तरफ मर्दन करे।

दोषविशेषेण वमनद्रव्यग्रहणविचारः—

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ॥ ११ ॥
वमेत्स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मरुता कफे।
पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणो भवेत् ॥ १२ ॥

दोष विशेष के अनुसार वमन द्रव्य ग्रहण करने का विचार—कफ के दूषित होने पर तीक्ष्ण, उष्ण तथा कटु रसवाले द्रव्यों से, पित्त के दूषित

होने पर मधुर रसवाले तथा शीतल द्रव्यों से और वायु के मिलने से कफ के दूषित होने पर स्निग्ध, अम्ल तथा लवण रस प्रधान द्रव्यों से वमन कराये। यह वमन तब तक कराये जब तक पित्त दिखाई न दे या कफ दिखाई देता रहे॥ ११-१२॥

वमनायोगलक्षणं तच्चिकित्सा च—

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः।
वमेत्पुनः पुनस्तत्र वेगानामप्रवर्तनम्॥ १३॥
प्रवृत्तिः सविबन्धा वा केवलस्यौषधस्य वा।
अयोगस्तेन निष्ठीवकण्डूकोठज्वरादयः॥ १४॥

वमन के अयोग (अच्छी तरह न होना) का लक्षण तथा उसकी चिकित्सा—हीन वेग (अच्छी तरह) वमन न होने पर पुनः पीपर, आँवला, सफेद सरसों तथा सेन्धानमक के जल से वमन कराये। फिर भी यदि वमन का वेग न निकले या विबन्धपूर्वक निकले अथवा केवल औषध मात्र वमन से निकले तो वमन का अयोग समझना चाहिए। इस वमन के अयोग से निष्ठीवन (बार-बार थूकने की प्रवृत्ति), शरीर में खुजली, चकत्ते तथा ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं॥ १३-१४॥

वमनसम्यग्योगलक्षणम्—

निर्विबन्धं प्रवर्तन्ते कफपित्तानिलाः क्रमात्।
मनःप्रसादः स्वास्थ्यं च अवस्थानं स्वयं भवेत्॥ १५॥
वैपरीत्यमयोगानां न चातिमहती व्यथा।
सम्यग्योगे-

वमन के सम्यक्[1] योग के लक्षण—कफ, पित्त तथा वायु अपने क्रम के अनुसार विबन्धरहित होकर निकलते हैं, मन प्रसन्न रहता है, शरीर स्वस्थ हो जाता है और स्वयं उठने, बैठने तथा चलने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त अयोग के विपरीत अत्यधिक पीड़ा नहीं होती है। ये वमन के सम्यग्योग के लक्षण हैं।

वमनातियोगलक्षणम्—

ऽतियोगे च फेनचन्द्रकरक्तवत्॥ १६॥
वमितं क्षामता दाहः कण्ठशोषस्तमो भ्रमः।
घोरा वाय्वामया मृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात्॥ १७॥

---

१. हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वञ्च लाघवम्।
कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्॥ भा० प्रा०

वमन के अतियोग[1] के लक्षण—वमन के अतियोग में फेन चमकदार तथा रक्तयुक्त वमन के साथ निकलता है, प्यास लगती है, जलन होती है, कण्ठ सूखता है, मूर्च्छा होती है, चक्कर आता है, भयंकर वायु के विकार उत्पन्न होते हैं और जीवनीय रक्त के निकल जाने से मृत्यु तक हो जाती है ॥ १६-१७ ॥

सम्यग्वान्तस्य पश्चात्कर्म—

सम्यग्योगेन वमिते क्षणमाश्वास्य पाययेत् ।
धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथादिशेत् ॥ १८ ॥

अच्छी तरह वमन किये हुए व्यक्ति का पश्चात्कर्म—अच्छी तरह वमन हो जाने के बाद थोड़ी देर रुक कर तीनों धूम में से किसी एक धूम को पान कराये और इसके बाद[2] स्नेह आदि का प्रयोग करने का आदेश दे ।

वमनायोगप्रतीकारः—

यदा तु वमनं पीतं न छर्दयति मानवः ।
किं तत्र भेषजं कार्यं कथं वैद्यः समाचरेत् ॥ १९ ॥
दर्शयेत्तस्य हि भिषग्व्यलीकानि पृथक्पृथक् ।
मक्षिकाकेशचूर्णानि तक्रमण्डेन योजयेत् ॥ २० ॥
एतेन तु प्रयोगेण क्षिप्रं प्रच्छर्दयेन्नरः ।
एषा क्रिया समाख्याता दुर्वान्तानां विशेषतः ॥ २१ ॥

वमन के अयोग का प्रतिकार—जब वामक औषधों को पान करनेपर यदि मनुष्य वमन नहीं करता है तो वहाँ पर किस औषध का प्रयोग करना चाहिए और वैद्य किस प्रकार उपचार करे । वामक औषधों से वमन न होने पर वैद्य रोगी को अलग-अलग विलक्षण (असात्म्य) चीजों को दिखावे और

---

१. प्रसेको हृद्ग्रहः कोठः कण्डूर्दुश्छर्दितो भवेत् ।
अतिवान्ते भवेत्तृष्णा, हिक्कोद्गारो विसंज्ञता ॥
जिह्वानिःसरणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः ।
रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनञ्च कण्ठपीडा च जायते ॥ भाव प्र०

२. ततोऽपराह्ने दीप्ताग्निं मुद्गषष्टिकशालिभिः ।
हृद्यैश्च जाङ्गलरसैः कृत्वा यूषं च भोजयेत् ॥
तन्द्रानिद्रास्यदौर्गन्ध्य कण्डूश्च ग्रहणीविषम् ।
सुवान्तस्य न पीडायै भवन्त्येते कदाचन ॥
अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा ।
स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोपञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ भा० प्र०

मक्खी एवं क्लेश के चूर्णों को तक्रमण्ड के साथ पान कराये। इस प्रयोग से मनुष्य शीघ्र ही वमन करता है। किन्तु यह प्रयोग विशेषकर दुःख से वमन करनेवाले व्यक्तियों के लिये ही कहा गया है ॥ १८-२१ ॥

वमनद्रव्याणि—

बिम्बिनिम्बपटोलं च मदनं कृतवेधनम् ।
वत्सकेक्ष्वाकुबीजं तु बीजं धामार्गवस्य च ॥ २२ ॥
जीमूतकानि त्रपुसं नागवल्ल्यथ कट्फलम् ।
पिप्पल्यः शतपुष्पा च सर्षपा मदनं वचा ॥ २३ ॥
एतानि वामनीयेषु कल्प्यमानेषु कल्पयेत् ।

वमन द्रव्य—बिम्बि (कुन्दरु), निम्ब, परवल, मैनफल, कृतवेधन (तरोई), वत्सक (कोरैया), इक्ष्वाकु बीज (कड़वी लौकी का बीज), धामार्गव (बड़ी तरोई 'नेनुआ') का बीज, जीमूतक (देवदाली 'सनैया' 'घाघरबेल'), त्रपुष (वालमखीरा), नागवल्ली (नागवेल 'पान') कट्फल (कायफर), पीपर, शतपुष्पा (सौंफ या सोया का बीज), सरसों, मदन (अङ्कोठ 'टेरा') तथा वच इन द्रव्यों को वमन के लिये बनाये जाने वाले योगों में कल्पना करे। अर्थात् वामक योगों में प्रयोग करे ॥ २२-२३ ॥

कतिपयवमनयोगाः—

अङ्कोठस्याथ मूलं च क्वाथं च मधुना पिबेत् ॥ २४ ॥
सर्पिषा भेषजैश्चैतैः सुखोष्णं शीतमेव वा ।
मदनस्य फलं पिष्ट्वा देवदालीफलैः सह ॥ २५ ॥

कुछ वमन करने वाले योग—अङ्कोठ (टेरा) के मूल का क्वाथ मधु के साथ पान करे। घृत तथा इन औषधों के साथ थोड़ा गरम या शीतल ही क्वाथ वमनार्थ पान करे।

मैनफल को देवदाली (घाघरबेल 'वन्दाल') के फल के साथ पीसकर मधु के साथ पान करे ॥ २४-२५ ॥

निम्बपत्राणि मधु च सैन्धवं मरिचानि च ।
एष योगः प्रयोक्तव्यः प्रधानो वमनौषधे ॥ २६ ॥
सुखावहश्च पथ्यश्च सर्वरोगविनाशनः ।

नीम के पत्ते, मधु, सेन्धानमक तथा मरिच इस प्रधान योग का वामक औषधों में प्रयोग करे। यह योग सुख को देनेवाला, पथ्य तथा सभी रोगों को नाश करनेवाला है।

काकादनी देवदाली मदनस्य फलानि च ॥ २७ ॥
सैन्धवेन समायुक्तं प्रधानं वमनौषधम् ।

काकादनी (घुँघुची 'रत्ती'), देवदाली (घाघरवेल), तथा मदनफल इन द्रव्यों के चूर्ण को सेन्धानमक से साथ पान कराये। यह प्रधान वमनकारक औषध है।

मदनं बन्धुजीवश्च शतपुष्पा सतापसा ॥ २८ ॥
सैन्धवेन समायुक्त प्रधान वमनौषधम् ।

मदनफल, बन्धुजीव (बन्धूक 'दुपहरिया') सोया का बीज तथा तापस (इङ्गुदी 'हिंगोट') इन द्रव्यों के चूर्ण को सेन्धानमक के साथ सेवन कराये। यह प्रधान वमनकारक योग है।

मदनस्य च पत्राणि पुष्पाणि च फलानि च ॥ २९ ॥
सैन्धवं बन्धुजीवश्च राजकोशातकानि च ।
एष प्रच्छर्दनो योग. प्रधानं वमनौषधम् ॥ ३० ॥
श्रेष्ठश्च विषयुक्तेषु कासे श्वासे च पूजितः ।

मैनफल का पत्ता, फूल तथा फल, सेन्धानमक, बन्धुजीव (दुपहरिया), राजकोशातकी (तरोई) यह वमन करानेवाला प्रधान वमन औषध है। विषजन्य उपद्रव में श्रेष्ठ है और कास तथा श्वास में प्रशस्त है।

कृष्णामदनसिन्दूत्थकल्कैः क्षौद्रसमन्वितम् ॥ ३१ ॥
पाययेन्मधुकक्वाथमेतद्वमनमुत्तमम् ।

पीपर, मैनफल तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों के कल्क के साथ मधु मिलाकर मुलेठी का क्वाथ पान कराये यह उत्तम वमनकारक औषध है।

रास्नेन्द्रयवभूनिम्बराढकल्कयुतं पिबेत् ॥ ३२ ॥
यष्टीकषायं सक्षौद्रं तेन साधु वमत्यलम् ।

रासन, इन्द्रयव, चिरायता, राढ (मदनफल), इन द्रव्यों के कल्क को मुलेठी का क्वाथ तथा मधु के साथ पान करे। इस प्रयोग से अच्छी तरह मनुष्य वमन करता है।

कृशरां राढसंसिद्धां तद्बीजैर्वा शृतं पिबेत् ।
पीत्वा राढकषायं वा सिन्धुकृष्णान्वितं वमेत् ॥ ३३ ॥

मदनफल से सिद्ध कृशरा (खिचड़ी) या उसके बीज का क्वाथ पान करे। अथवा मदनफल के क्वाथ को सेन्धानमक तथा पीपर के चूर्ण के साथ पान कर वमन करे ॥ ३३ ॥

सकलिङ्गवचामगधामधुकं लवणेन युतं मदनाम्बु पिबेत् ।
वमनं कफरोगहरं हि नृणामथवा पिचुमन्दकषाययुतम् ॥ ३४ ॥

कलिङ्ग (कोरैया), वच, पीपर, मुलेठी तथा सेन्धानमक इन द्रव्यों के चूर्ण को मैनफल के क्वाथ के साथ पान करे। यह वमनयोग मनुष्यों के कफ-

अन्य रोगों को दूर करता है । अथवा इस वमन योग को पिचुमन्द (नीम) के क्काथ के साथ पान करे ॥ ३४ ॥

कषायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान् ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानेषु वमनान्युपकल्पयेत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान व्यक्ति भक्ष्य भोज्य अन्न में तथा पान में वामक औषधों के कषाय, स्वरस, कल्क तथा चूर्ण इन सबों से वमन योगों की कल्पना करे ॥ ३५ ॥

वमनानन्तरमाहारसंसर्जनक्रमः—

ततः सायं प्रभाते च क्षुद्वान् स्नातः सुखाम्बुना ।
पुराणरक्तशालीनामस्नेहलवणोषणम् ॥ ३६ ॥
भुञ्जानोऽन्नमपेक्ष्याग्निं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ।
वमितं लङ्घयेत्सम्यक्छुद्धिलिङ्गानि लक्षयन् ॥ ३७ ॥

वमन के बाद भोजन करने का क्रम—वमन कर्म के बाद सुबह-शाम भूख से युक्त मनुष्य गरम जल से स्नान कर घृत, नमक तथा मरिच से रहित पुराने रक्तशाली (लाल जड़हन) धान का भात जाठराग्नि के अनुसार भक्षण करे और पेया आदि क्रम को सेवन करे । वमन कराये हुए व्यक्ति को अच्छी तरह संशोधन के लक्षणों को देखता हुआ लंघन (उपवास) कराये और अच्छी तरह संशोधन हो जाने पर पेया आदि द्रव एवं सौम्य पदार्थ को पान कराये और उपवास न कराये ॥ ३६–३७ ॥

तानि दृष्ट्वाऽथ पेयादिक्रमं कुर्यान्न लङ्घनम् ।
संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हृतदोषस्य देहिनः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥ ३८ ॥

वमन विरेचन के द्वारा दोषों के दूर हो जाने पर शुद्ध शरीरवाले व्यक्ति की जाठराग्नि मन्द हो जाती है, अतः पेया आदि सौम्य एवं जीवनीय पेय आदि का सेवन कराये ॥ ३८ ॥

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥ ३९ ॥
यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः संधुक्षमाणो भवति क्रमेण ।
महास्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः ॥ ४० ॥

पेया, विलेपी (चौगुने पानी में पकाया हुआ अन्न 'लपसी') पहले का न बनाया हुआ या बनाकर यूष (अट्ठारह गुने पानी में पकाया हुआ अन्न) तथा मांस रस इन तीनों को या इन तीनों में किसी एक को प्रधान, मध्यम तथा अवर शुद्धि से शुद्ध मनुष्य क्रमशः भोजन के समय में सेवन करे ।

अर्थात् प्रधान, मध्यम तथा मृदु संशोधन के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा मृदु पेया, विलेपी आदि की मात्रा का प्रयोग करे। जिस प्रकार थोड़ा अग्नि तृण; उपला आदि के संयोग से क्रमशः जलाये जाने पर बहुत बड़ा स्थिर तथा सब को जलानेवाला हो जाता है वैसी ही शुद्ध व्यक्ति की स्वल्प जाठराग्नि पेया आदि के द्वारा प्रदीप्त होकर धीरे-धीरे गुरु पदार्थों को भी पकानेवाला हो जाता है ॥ ३९–४० ॥

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च ॥ ४१ ॥

वमन में निकृष्ट, मध्यम तथा प्रवर वेग क्रमशः चार वेग, छः वेग तथा आठ वेग अभीष्ट है। अर्थात् वमन का चार वेग आनेपर जघन्य वमन; छः वेग आने पर मध्यम वमन तथा आठ वेग आने पर प्रवर (उत्तम) वमन कहलाता है। विरेचन में दश वेग का विरेचन जघन्य, बीस वेगवाला मध्यम तथा तीस वेग वाला प्रवर विरेचन होता है। उसी प्रकार क्रमशः वमन की मात्रा दो प्रस्थ (दो सेर) हो तो जघन्य, छः सेर हो तो मध्यम तथा आठ सेर हो तो प्रवर वमन समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

पित्तावसानं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः ।

पित्त जब आने लगे तब उत्तम वमन समझना चाहिए और विरेचन से आधा कफ आने लगे तब उत्तम विरेचन समझना चाहिए।

द्वित्रान् विट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके, वमने तु पीतम् ॥ ४२ ॥

विरेचन में दो या तीन दस्त के वेग को छोड़कर कफ के आने का अनुमान लगाना चाहिए। और वमन में पीले रंग का वमन आने पर उत्तम वमन समझना चाहिए ॥ ४२ ॥

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पे मद्यपे वातपैत्तिके ।
तर्पणादिक्रमः कार्यः पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ॥ ४३ ॥
एकाहात्परतः स्नेहात् स्थित्वा प्रच्छर्दनं पिबेत् ।

कफपित्तजन्य रोगों में थोड़ा संशोधन (वमन विरेचनादि द्वारा) करने के बाद एवं मद्यपान करने पर तथा वातपैत्तिक रोग में संतर्पण आदि क्रम (संतर्पण पदार्थों का सेवन) करना चाहिए। क्योंकि पेया आदि पदार्थ उपर्युक्त रोगी व्यक्तियों के लिये अभिष्यन्द उत्पन्न करता है। स्नेहन करने के बाद एक दिन रुककर वमन द्रव्य पान करे।

वमनार्हा रोगाः पुरुषाश्च—

विसूच्यलसकश्चैव कासश्वासौ गलग्रहः ॥ ४४ ॥
अरोचकः श्लेष्मसेको हृद्रोगः श्लैष्मिकश्च यः ।

गलशुण्डी प्रतिश्यायो रोहिणीका विलम्बिका ॥ ४५ ॥
अधोभागगत रक्तं हृल्लास श्लेष्मविभ्रमः।
श्लेष्मज्वरी प्रमेही च मधुमेही हलीमकी ॥ ४६ ॥
कृमिकोष्ठपरीताश्च कामलापाण्डुरोगिणः।
कफस्थाने गता ये च पित्तरोगाः प्रकीर्तिताः।
गरितो विषपीतश्च वामनीयः प्रकीर्तितः ॥ ४७ ॥

वमन करने योग्य रोग तथा पुरुष—विसूची (हैजा), अलसक (भोजन का ऊपर-नीचे न जाना) तथा तीव्र शूल होना खांसी, श्वासरोग, गलग्रह (गले की जकड़न), अरोचक, कफ निकलना, हृदयरोग, कफजन्यरोग, गलशुण्डी (कौवे 'घण्टी' का शोथ), प्रतिश्याय, रोहिणी (घातक कण्ठगतरोग 'डिफ्थीरिया'), विलम्बिका (मन्दशूल युक्त भुक्त पदार्थ का ऊपर या नीचे न जाना), अधोगत रक्तपित्त, मिचली, कफ विभ्रम (कफ की अधिकता) इन रोगों में और श्लेष्मज्वर, प्रमेह, मधुमेह, हलीमक (पाण्डु 'रक्ताल्पता'), कृमि-कोष्ठ का रोगी, कामला तथा पाण्डु के रोगियों को और कफस्थान (आमाशय आदि) में गये हुए पैत्तिक रोग—ये रोग तथा रोगी वमन करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त गर (संयोगज) विष से पीड़ित और विषपान किया हुआ व्यक्ति वमन कराने योग्य है ॥ ४४–४७ ॥

तथा च—
अजीर्णान्नविरुद्धान्नदष्टदग्धनवज्वराः।
अधोऽस्रपित्तं शोषश्च विषपीतविसूचिके ॥ ४८ ॥
अविपाकोऽतिसारश्च उत्सेकोऽरोचकोऽपची।
ग्रन्थ्यर्बुदावपस्मारश्लीपदोन्मादमेदसः ॥ ४९ ॥
विसर्पश्वासहृल्लासपाण्डुवर्त्ममुखामयाः।
कासकुष्ठप्रमेहाश्च स्तन्यघ्राणकफामयाः ॥ ५० ॥
शोफकोठशिरःकर्णरुजो वाम्याः प्रकीर्तिताः।

और भी—

अजीर्णान्न, विरुद्धान्न, दष्ट (सांप आदि के द्वारा काटे गये), दग्ध (जले हुए), नवीनज्वर, अधोगामी रक्तपित्त, सूखारोग, विषपान, विसूचिका (हैजा), अविपाक (अन्न का न पचना), अतिसार, उत्सेक (कफ का निकलना), अरोचक, अपची (कण्ठमाला), ग्रन्थि, अर्बुद, अपस्मार, श्लीपद (पीलपांव 'फाइलेरिया'), उन्मादरोग, मेदोरोग, विसर्प, श्वासरोग, मिचली, पाण्डुरोग, नेत्रगत वर्त्मरोग, मुखरोग कास (खांसी), कुष्ठरोग, प्रमेहरोग, स्तन्य (दूध पीने से उत्पन्न) रोग, नासिकारोग, कफजन्यरोग, शोथ कोठ (चकता),

शिरोरोग तथा कर्णरोग से पीड़ित व्यक्ति वमन कराने योग्य हैं। अर्थात् इन रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को वमन कराना चाहिए।

वमनानर्हा रोगाः पुरुषाश्च—

अवाम्या गर्भिणीरूक्षरूक्षाशनभुजः कृशाः ॥ ५१ ॥
कार्यव्यग्रातिदीप्ताग्निसुकुमाराध्वकर्शिताः ।
पानक्लान्तक्षतक्षीणाबलातिस्थूलदुर्बलाः ॥ ५२ ॥
वृद्धा भारवहाः क्रोधभयशोफकफातुराः ।
मदमूर्च्छाव्यवायाध्वक्षुत्तृषार्तोपवासिनः ॥ ५३ ॥
व्यायामाध्ययनच्छर्दिचिन्तायुक्तानुवासिनः ।
ऊर्ध्वपित्तास्रवातार्ता दुर्वान्तास्थापिताश्च ये ॥ ५४ ॥
उदावर्ती च हृद्रोगी मूत्राघाती च गुल्मिनः ।
अष्ठीलाजठरप्लीहतिमिरार्शोभ्रमार्दिताः ॥ ५५ ॥
स्वरोपघातः साक्षेपः पार्श्वशूली तथाऽर्दिती ।
शिरोक्षिशङ्खकर्णार्ताः कृमिकोष्ठाश्च सर्वशः ॥ ५६ ॥

वमन न कराने योग्य रोग तथा मनुष्य—गर्भिणी, रूक्ष प्रकृतिवाले, रूक्ष अन्न भोजन करनेवाले, कृश (शरीर से दुर्बल), कार्य में व्यस्त, अत्यन्त तीव्र जाठराग्निवाले, सुकुमार, मार्ग चलने से शिथिल, मद्यपान से क्लान्त (थका हुआ), क्षतक्षीण रोगी, निर्बल, अत्यधिक मोटा तथा अत्यधिक दुबला (पतला), वृद्ध, बोझ ढोनेवाले, क्रोध, भय शोथ, तथा कफ से पीड़ित, मद (मतवालापन), मूर्च्छा, व्यवाय (मैथुन), मार्ग-गमन, भूख तथा प्यास से पीड़ित, उपवास किये हुए व्यक्ति, व्यायाम तथा अध्ययन में व्यस्त, वमन से पीड़ित और चिन्तायुक्त, अनुवासन कर्म किये हुये व्यक्ति, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त के रोगी, वातरोग से पीड़ित व्यक्ति, कष्ट से वमन करनेवाले व्यक्ति, आस्थापन कर्म किये हुए व्यक्ति, उदावर्त (भोजन का मुख की ओर आना) का रोगी, हृदय का रोगी, मूत्राघात का रोगी, गुल्म का रोगी, अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि, उदररोग, प्लीहावृद्धि, नेत्रगत तिमिररोग, अर्शरोग तथा भ्रमरोग से पीड़ित व्यक्ति, स्वरोपघात (क्षीणस्वर), आक्षेप (सम्पूर्ण शरीर का अकड़न) पार्श्वशूल से पीड़ित, अर्दित (एकायाम 'लकवा') से पीड़ित, शिरोरोग, नेत्ररोग, शंखक (एक प्रकार का शिरोरोग) तथा कर्णरोग और कृमिकोष्ठ के रोगी ये सब वमन करने के योग्य नहीं हैं। अर्थात् इन रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को वमन न कराये ॥ ५१–५६ ॥

तथा च—

अतिस्थूलो नेत्ररोगी तृष्णामूर्च्छानिपीडितः ।

सुभगो वैद्यमानी च निरूढोऽप्यनुवासितः ॥ ५७ ॥
दूष्योदरी क्षतक्षीणो वातरोगी च सर्वशः।
उन्मत्तो वातहृद्रोगी वेपनोऽथापतन्त्रकी ॥ ५८ ॥
स्त्रीपु स्निग्धस्तथाऽस्निग्धो वृद्धो बालश्च मानवः।
गर्भिणी चोर्ध्वरक्ती च न वाम्यास्ते कथंचन ॥ ५९ ॥

और भी—

अत्यन्त स्थूल, आंख का रोगी, प्यास तथा मूर्च्छा से पीड़ित, सुभग (सुकुमार), अपने को वैद्य समझनेवाला (उचित उपचार न करनेवाला), निरूढ (प्रौढ़ 'स्वस्थ,) अनुवासन कर्म किया हुआ व्यक्ति, दूष्योदरी (दूषी, विषजन्य उदर का रोगी या सन्निपातोदर का रोगी), क्षतक्षीण (उरःक्षत का रोगी), सभी प्रकार के वात का रोगी, उन्माद रोग से पीड़ित, वातिक हृदय रोग से पीड़ित, कम्पवात से पीड़ित, अपतन्त्रक (वायुगोला 'हिस्टिरिया') का रोगी, गर्भिणी तथा ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का रोगी, इस प्रकार के रोगी किसी प्रकार भी वमन कराने के योग्य नहीं हैं। अर्थात् उपरोक्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को वमन न कराये ॥ ५७–५९ ॥

वमने मदनकल्पः—

वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूलं विरेचने।
नित्यमन्यत्र तु व्याधिविशेषेण विशिष्टता ॥ ६० ॥
फलानि तानि पाण्डूनि न चातिहरितान्यपि।
आदायाह्नि प्रशस्तर्क्षे मध्ये ग्रीष्मवसन्तयोः ॥ ६१ ॥
प्रमृज्य कुशमुत्तोल्यां क्षिप्त्वा बद्ध्वा प्रलेपयेत्।
गोमयेन तु मुत्तोलीं धान्यमध्ये निधापयेत् ॥ ६२ ॥
मृदुभूतानि मध्विष्टगन्धानि कुशवेष्टनात्।
निःकृष्याभिगतेऽष्टाहे शोषयेत्तान्यथातपे ॥ ६३ ॥
तेषां ततः सुशुष्काणामुद्धृत्य फलपिप्पलीः।
दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा शोषयेत्पुनः ॥ ६४ ॥
ततः सुगुप्तं संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोजयेत्।
अथादाय ततो मात्रां जर्जरीकृत्य वासयेत् ॥ ६५ ॥
शर्वरीं मधुयष्ट्याश्च कोविदारस्य वा जले।
कर्बुदारस्य बिम्ब्या वा नीपस्य निचुलस्य च ॥ ६६ ॥
शणपुष्प्याः सदापुष्प्याः प्रत्यक्पुष्प्युदके तथा।
ततः पिबेत्कषायं त प्रातर्मृदितगालितम् ॥ ६७ ॥
सूत्रोदितेन विधिना साधु तेन तथा वमेत्।

श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मान्तर्विद्रधीषु च ॥ ६८ ॥
प्रच्छर्दयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ।
पित्ते कफस्थानगते जीमूतादिजलेन तत् ॥ ६९ ॥
हृद्दाहेऽधोस्रपित्ते च क्षीरं तत्पिप्पलीशृतम् ।
क्षीरेयीं वा कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु च ॥ ७० ॥
दध्युत्तरं वा दधि वा तच्छृतक्षीरसंभवम् ।

वमन में मदनकल्प—वमन करानेवाले द्रव्यों में मदनफल सर्वदा श्रेष्ठ है और विरेचन करानेवाले द्रव्यों में निशोथ का मूल सदा श्रेष्ठ है। अन्य स्थानों पर व्याधि के अनुसार विशेषता होती है। मदनफल के पाण्डुवर्ण के फलों को जो अत्यधिक हरित वर्ण के न हों शुभ नक्षत्र तथा दिन में ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतु के मध्य में लेकर उन फलों को अच्छी तरह साफ कर कुश की मुत्तोली (कुश के बनाये हुए द्रोणी के आकार का पात्रविशेष) में रखकर तथा अच्छी तरह बांधकर गोबर का लेप लगा दे और मुत्तोली को धान्य की ढेर में रख दे। आठ दिन के बाद मुलायम तथा मीठा एवं अभीष्ट गन्ध युक्त हो जाने पर कुशा के बन्धन से निकालकर उन फलों को धूप में सुखाये। इसके बाद उन सूखे हुए फलों में से फल पिप्पली को निकालकर दही, मधु, घृत तथा मांस के साथ मसलकर पुनः सुखाये। तदनन्तर स्वच्छ पात्र में रखकर गुप्त स्थान में रक्खे। इसके बाद उसमें से मात्रापूर्वक लेकर मीज दे और मुलेठी, कोविदार (काञ्चनार), कर्बुदार (श्लेष्मातक लोढा), बिम्बी (कुन्दरु), नीप (कदम्ब), निचुल (समुद्रफल), शणपुष्पी (सनई या सन), सदापुष्पी (राजार्क 'मदारविशेष') या प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग) इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्काथ अथवा स्वरस में रात भर अनुवासित करे अर्थात् भिगोकर रख दे। इसके बाद उसको मसल कर छान ले और उस कषाय को पहले बताये हुए विधि के अनुसार पान करे और अच्छी तरह वमन करे। विशेषकर कफजन्य रोग, ज्वर, प्रतिश्याय, गुल्म तथा अन्तर्विद्रधि (आभ्यन्तरिक पिडिका) रोगों में जब तक पित्त न दिखाई दे तब तक वमन कराये। पित्त के कफ के स्थान (आमाशय आदि) में पहुँच जाने पर जीमूत (देवताड़ 'बन्दाली') आदि के जल के साथ वमन कराये। हृदय के दाह में तथा अधोगामी रक्तपित्त में मदनफल की पिप्पली को दूध में पकाकर उससे वमन कराये या कफ के वमन, प्रसेक (कफ का स्राव) तथा तमक (कफाधिक्य श्वासरोग) में क्षीरेयी (सेंहुड़ या छितवन) या मदनफल के साथ पकाये हुए दूध से बनाये गये मट्ठा या दही से वमन कराये।

राढपुष्पफलश्लक्ष्णचूर्णमाल्यं सुरूषितम् ॥ ७१ ॥

वमेन्मण्डरसादीनां तृप्तो जिघ्रन्सुखं सुखी।
एवमेव फलालाभे कल्प्यं पुष्पं शलाटु वा॥ ७२॥

सुकुमार एवं सुखी व्यक्ति राढ़ (मदनफल) के फूल तथा फल के चूर्ण से अधिवासित माला को सूंघते हुए मण्ड (चौदहगुने पानी में पकाया हुआ अन्न) तथा मांसरस आदि को इच्छा भर पान कर तृप्त होकर वमन करे। मदनफल का पका फल न मिलने पर शलाटु (कच्चे फल) से या पुष्प से इसी प्रकार कल्प तैयार करे॥ ७१-७२॥

वमने जीमूतकल्पः —

जीमूताद्यांश्च फलवज्जीमूतं तु विशेषतः।
प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासकासहिध्मादिरोगिणाम्॥ ७३॥

वमन में जीमूत कल्प—जीमूतक-आदि द्रव्यों को तथा विशेषकर फलवाले जीमूतक को ज्वर, श्वास, कास, हिध्मा आदि के रोगियों के लिये वमन में प्रयोग करना चाहिए॥ ७३॥

शृते पयसि दध्यम्लं जाते हरितपाण्डुरे।
आसुत्य वारुणीमण्डे पिबेन्मृदितगालितम्॥ ७४॥

जीमूतक (बन्दाली) आदि से क्वाथ किये हुए दूध में हरित तथा पाण्डुर (सफेद) वर्ण के हो जाने पर खट्टे दही को छोड़कर तथा वारुणी मण्ड में मिलाकर उसको अच्छी तरह मसलकर छान ले और पान करे॥ ७४॥

कफादरोचके श्वासे पाण्डुत्वे राजयक्ष्मणि।
इयं च कल्पना कार्या तुम्बीकोशातकीष्वपि॥ ७५॥

कफ से उत्पन्न अरोचक में, श्वासरोग में, पाण्डुरोग में तथा राजयक्ष्मा (टी. बी.) रोग में इस प्रकार की कल्पना कड़वी लौकी तथा तरोई में भी करनी चाहिए अर्थात् कड़वी लौकी तथा तरोई का इसी प्रकार योग बनाकर पूर्वोक्त रोगों में प्रयोग करना चाहिए॥ ७५॥

जीमूतकल्कं चूर्णं वा पिबेच्छीतेन वारिणा।
ज्वरे पित्ते कफोच्छ्राये कफवातात्कफादपि॥ ७६॥
कासश्वासज्वरच्छर्दितृष्णार्ते कफकर्शिते।

जीमूतक का कल्क या चूर्ण शीतल जल के साथ ज्वररोग में, पैत्तिक रोग में तथा वातकफ के कारण उत्पन्न कफ, या कफ के कारण उत्पन्न कफ-जन्य रोग में, कास, श्वास, ज्वर, वमन आदि रोग और प्यास एवं कफ द्वारा दुर्बलता होने पर पान करे।

वमने इक्ष्वाकुकल्पः—

इक्ष्वाकुर्वमने शस्तः प्रताम्यति च मानवे॥ ७७॥

फलपुष्पविहीनस्य प्रवालैस्तस्य साधितम् ।

वमन में इक्ष्वाकु कल्क—प्रतमक श्वास से पीड़ित मनुष्य के वमन में इक्ष्वाकु (कड़वी लौकी) का प्रयोग प्रशस्त होता है । पुष्प तथा फल से रहित कड़वी लौकी के प्रवालों (नवीन पल्लव) से सिद्ध (पकाया हुआ) दूध पित्तोल्वण पित्तश्लेष्म ज्वर में प्रयोग करे ।

पित्तश्लेष्मज्वरे क्षीरं पित्तोद्रिक्ते प्रयोजयेत् ॥ ७८ ॥
हृतमध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि ।
स्यात्तदा कफजे कासे श्वासे वम्यां च पाययेत् ॥ ७९ ॥
मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्वं वा पिबेत्समधुसैन्धवम् ॥ ८० ॥
भावयित्वाऽऽजदुग्धेन बीजं तेनैव वा पिबेत् ।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥ ८१ ॥
सक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ।

कड़वी लौकी के पुराने फल के मध्यभाग को निकाल कर उसमें दूध रख दे । जब वह दही हो जाय तब उस दही को कफजन्यरोग, कास, श्वास, तथा वमनरोग में पान कराये । अथवा कड़वी लौकी के मध्यभाग को दही के तोड़ के साथ पीसकर पाण्डुरोग, कुष्ठरोग तथा विषपान से पीड़ित व्यक्ति पीवे । अथवा लौकी के मध्यभाग को डालकर पकाये हुए मट्ठे को मधु तथा सेन्धानमक मिलाकर पान करे । या कड़वी लौकी के बीज को बकरी के दूध से भावित कर उसी के दूध के साथ विषपान, गुल्मरोग, उदररोग, ग्रन्थि-शोथ तथा गण्डमाला रोग में पान करे । अथवा कड़वी लौकी के स्वरस से भावित सत्तू के साथ मट्ठा को पान करे ।

वमने धामार्गवकल्पः—

कफोद्भवे ज्वरे कासे गलरोगेष्वरोचके ॥ ८२ ॥
कासगुल्मोदरगरे वाते श्लेष्माशयस्थिते ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेष्वपि ॥ ८३ ॥

वमन में धामार्गव (बड़ी तरोई तथा तरोई) का कल्प—कफजन्य ज्वर में कास में, गला के रोग में, अरोचक में कास, गुल्म, उदर रोग तथा संयोगज विषजन्य रोग में, कफ के स्थान में, स्थित वातजन्य उपद्रव में, कण्ठ तथा मुख में कफ के आ जानेपर, कफसचयजन्य रोगों में, स्थिर और बड़े रोगों में भी धामार्गक का प्रयोग श्रेष्ठ है ॥ ८२–८३ ॥

धामार्गवो गदेष्विष्टः स्थिरेषु च महत्सु च ।
धान्यतुम्बरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः ॥ ८४ ॥

धामार्गव (तरोई) का कल्क, धनिया तथा तुम्बरु (तेजबल के बीज) के यूष के साथ पान करे। यह विषपानजन्य उपद्रवों को दूर करता है।

एकं धामार्गवं द्वे वा पीनसे मृदितं पिबेत्।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोषगुल्मगरादिषु ॥ ८५ ॥

पीनस (दुर्गन्धयुक्त नासास्राव) रोग में एक तरोई या दो तरोई, मसल कर उसका रस पान करे। इसके अतिरिक्त कुष्ठ, पाण्डुरोग, प्लीहा वृद्धि, शोषरोग, गुल्मरोग तथा संयोगज विषजन्य उपद्रवों में भी पान करे ॥ ८३-८५ ॥

मदनमधुकलम्बानिम्बबिम्बीविशाला-
त्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकृमिघ्नम्।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करञ्जः
कणलवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि ॥ ८६ ॥

मदनफल, मुलेठी, लम्बा (कड़वी लौकी), नीम, बिम्बी (कुन्दरु), विशाला (इन्द्रायण), त्रपुष (बालम खीरा), कौरैया, मूर्वा (मोरवेल), देवदाली (वन्दाल घघरबेल), वायविडङ्ग, विदुल (जल बेंत), दहन (चित्रक), चित्रा (फूट गोरखककड़ी), बड़ी तरोई (नेनुआ, घिया), छोटी तरोई करञ्ज, पीपर, सेन्धानमक, वच, बड़ी इलायची तथा सरसों ये वमन करानेवाले द्रव्य हैं ॥ ८६ ॥

वमनस्यायोगातियोगसम्यग्योगलक्षणम्—

कफप्रसेको हृदयाविशुद्धिः कण्डूश्च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः।
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते ॥ ८७ ॥
पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ ८८ ॥

वमन के अयोग-अतियोग तथा सम्यक्-योग का लक्षण—वमन के अयोग (अच्छी तरह वमन का न होना) में कफ का निकलना, हृदय का भारी रहना तथा खुजली ये लक्षण होते हैं। वमन के अतियोग होनेपर पित्त की अधिकता, विसंज्ञता (मूर्च्छा) तथा हृदय एवं कण्ठ में पीड़ा होती है। कफ के साथ पित्त के सुखपूर्वक निकलने पर और हृदय कण्ठ तथा शिर के शुद्ध हो जाने पर, शरीर के हलका हो जाने पर तथा कफ स्राव के बन्द हो जाने पर समझे कि पुरुष में वमन का सम्यक्-योग (अच्छी तरह वमन) हुआ है। अर्थात् ये उपरोक्त लक्षण वमन के सम्यग्योग के हैं ॥ ८७-८८ ॥

वमनौषधमात्रा—

त्रिपलं ज्येष्ठमाख्यातं कनीयस्तु पलं भवेत्।

मध्यमं द्वे पले दद्यादिति मे निश्चिता मतिः ॥ ८९ ॥

वमन के औषध की मात्रा—वमन-औषध की उत्तम मात्रा तीन पल (तीन छटांक), निकृष्ट मात्रा एक पल (एक छटांक) तथा मध्यम मात्रा दो पल (दो छटांक) की होती है। यह मेरा निश्चित मत है।

विषकुष्ठहता ये च कासश्वासहताश्च ये।
तरुणा बलवन्तश्च वामयेदुत्तमेन तान् ॥ ९० ॥
मध्यमे प्राणवयसि मध्यमं तत्र कारयेत्।
कनीयसि कनीयस्तु तथा प्राणे कनीयसि ॥ ९१ ॥

विष जन्य रोग से तथा कुष्ट से पीड़ित, श्वास एवं कास से पीड़ित तरुण (युवा) और बलवान् व्यक्तियों को उत्तम (ज्येष्ठ) मात्रा देकर वमन कराये। मध्यम बलवाले तथा मध्यम अवस्था वाले व्यक्तियों को मध्यम मात्रा में पान कराये। कम अवस्था तथा दुर्बल व्यक्ति के लिये निकृष्ट मात्रा (एक छटांक वामक औषध) का प्रयोग करे।

विपरीतं प्रयुञ्जानो रोगान्विजनयिष्यति।
उपद्रवान्वा जनयेदातुरं वा विनाशयेत् ॥ ९२ ॥

इसके विपरीत प्रयोग करने से यह वामक औषध रोगों को उत्पन्न करता है या अनेक उपद्रवों को करता है अथवा रोगी को नाश कर देता है ॥ ८९–९२ ॥

वमनस्य वेगसंख्याविशेषेणोत्तममध्यमाधमत्वम्—

वमनेऽपि च वेगाः स्युरष्टौ पित्तान्त उत्तमे।
षड्वेगा मध्यमे वेगाश्चत्वारस्त्ववरे मताः ॥ ९३ ॥

वमन के वेग संख्या के अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम वमन का लक्षण—उत्तम वमन पित्त निकलने तक होता है और उसके वेग की संख्या आठ होती है। मध्यम वमन में छः वेग तथा अधम वमन में चार वेग होते हैं ॥ ९३ ॥

वमनफलम्—

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥ ९४ ॥

इति श्रीवैद्यवर्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे दशमे पञ्चकर्माधिकारखण्डे वमनाधिकारस्तृतीयः।

वमन का फल—वमन किये हुए व्यक्ति को कास, चिपचिपाहट, स्वरभेद, अधिक निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, मुख में दुर्गन्धि, विष का फैलना, कफ निकलना तथा ग्रहणी दोष ये रोग तथा उपद्रव नहीं होते हैं ॥ ९४ ॥

इति वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के दशम पञ्चकर्माधिकार खण्ड में तीसरा वमनाधिकार समाप्त।

अथ विरेचनाधिकारश्चतुर्थः।

अथातो विरेकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।

वमनाधिकार के बाद विरेचनाधिकार को कहते हैं।

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत् ॥ १ ॥

स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद पुनः वमन कराये हुए व्यक्ति के कोष्ठ को कफकारक समय के निकल जाने पर अच्छी तरह विरेचन कराये ॥ १ ॥

कोष्ठलक्षणम्—

बहुपित्तो मृदुः कोष्ठः क्षीरेणापि विरिच्यते।
प्रभूतमारुत क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि ॥ २ ॥

कोष्ठ के लक्षण—अधिक पित्तवाला तथा मृदु कोष्ठ का विरेचन दूध से भी हो जाता है। अत्यधिक वायुवाला एवं क्रूर (कठिन) कोष्ठ का विरेचन श्यामा (निशोथ) आदि (सेहुंड, जमालगोटा आदि) के द्वारा भी कठिनाई से होता है ॥ २ ॥

दोषविशेषेण विरेचनद्रव्यविशेषः—

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायावप्रवृत्तौ तु पाययेत् ॥ ३ ॥
उष्णाम्बु स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम्।

दोषों के अनुसार विशेष २ विरेचन द्रव्य—पैत्तिक दोष में कषाय तथा मधुर द्रव्यों से विरेचन कराये तथा श्लैष्मिक दोष में कटुरस वाले द्रव्यों से विरेचन कराये और वायु दोष के न निकलने पर स्निग्ध उष्ण तथा लवण रस प्रधान द्रव्यों का पान कराये। इसके बाद अप्रवृत्त वात दोषवाले (जिसका अपान वायु रुक गया हो) को गरम जल पान कराये और उसके उदर को हाथ का तलवा गरम कर उससे स्वेदन करे।

उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युः पुनः पिबेत् ॥ ४ ॥
अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः।
भूयोऽप्युपस्कृततनुः स्नेहस्वेदैर्विरेचनम् ॥ ५ ॥
यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमनुक्रमम्।

उस दिन थोड़ा विरेचन होने पर पुनः दूसरे दिन भोजन करने के बाद विरेचक औषध पान कराये। स्नेह के द्वारा मृदु कोष्ठवाला व्यक्ति दस दिन के बाद भी विरेचक औषध पान करे। फिर भी यदि शरीर शुद्ध न हो तो पहले बताये

हुए कर्मों को स्मरण करते हुए योगों को अच्छी तरह विचार कर स्नेहन तथा स्वेदन के द्वारा संस्कार कर विरेचन कराये। अर्थात् पहले स्नेहन स्वेदन कराले उसके बाद विरेचन कराये।

विरेचने वर्जनीयानि—

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान्धारयेद्बुधः ॥ ६ ॥
निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत्।
समीक्ष्य देशं कालं च वयोऽवस्थाश्च देहिनाम् ॥ ७ ॥
रोगांश्च तत्त्वतो ज्ञात्वा ततो दद्याद्विरेचनम्।

विरेचन पान करने पर निषिद्ध कर्म—विरेचन पान करने के बाद बुद्धिमान् व्यक्ति मल मूत्रादि के वेगों के धारण न करे, वायु रहित स्थान में सोये, शीतल जल का स्पर्श न करे और कुन्थनकर मल न निकाले। देश, काल, मनुष्यों की उमर तथा अवस्था और रोगों को अच्छी तरह जानकर तब विरेचन औषध का प्रयोग करे।

विरेचनद्रव्यमात्रा—

पित्तेन स्यान्मृदुः कोष्ठः क्रूरो वातात्कफात्तथा ॥ ८ ॥
मध्यमः समदोषश्च मात्रा योज्यानुरूपतः।

विरेचन द्रव्य की मात्रा—पित्त प्रकोप से कोष्ठ मृदु होता है, वात तथा कफ के प्रकोप से कोष्ठ क्रूर होता है और दोषों के समान रहने पर कोष्ठ मध्यम होता है। मृदु, मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ के अनुसार लघु, मध्यम तथा ज्येष्ठ विरेचन मात्रा का प्रयोग करे।

त्रीन् भागानथ कुर्वीत ज्येष्ठमध्यकनीयसः ॥ ९ ॥
द्वे पले ज्येष्ठमाख्यातं मध्यमं तु पलं भवेत्।
पलार्धमथ दातव्य कनीयस्तु विरेचनम् ॥ १० ॥
पुरुषान्खलु वक्ष्यामि ज्येष्ठमध्यकनीयसः।
विषकुष्ठहता ये च ये चोदावर्तपीडिताः ॥ ११ ॥
तरुणा बलवन्तश्च तेषां ज्येष्ठं विरेचनम्।
पाण्डुरोगेषु गुल्मे च पूर्वे वयसि मध्यमे ॥ १२ ॥
दह्यमाने च हृदये मध्यमं स्याद्विरेचनम्।
कनीयसि वयस्यथ तथा प्राणे कनीयसि ॥ १३ ॥
रोगेषु चानुरूपेषु कनीयः स्याद्विरेचनम्।

मात्रा तथा कोष्ठ को तीन भाग में बाँट दे। ज्येष्ठ मध्यम तथा कनीय (लघु), विरेचन की दो पल (दो छटाँक) की ज्येष्ठ मात्रा, एक छटाँक की मध्यम मात्रा तथा आधा छटाँक की कनीयसी मात्रा देनी चाहिए। ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनीयस

पुरुषों को भी कहता हूँ। विष से व्याप्त, कुष्ठरोग से पीड़ित, उदावर्त (भोजन किये हुए अन्न का गले के तरफ आना) रोग से पीड़ित, युवा तथा बलवान् इन व्यक्तियों को ज्येष्ठ विरेचन, पाण्डुरोग, गुल्मरोग, पहली अवस्था (किशोरावस्था) तथा कुमारावस्था एवं हृदय में जलन होने पर मध्यम विरेचन दे बाल्यावस्था में तथा दुर्बल व्यक्तियों को रोग के अनुसार कनीय (लघिष्ठ 'लघु') विरेचन की मात्रा का प्रयोग करे।

विरेचने प्रधानानि द्रव्याणि—

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने ॥ १४ ॥
प्रधानस्तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी।
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका ॥ १५ ॥
सुधापयः पयस्सूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः ।

विरेचन में प्रधान द्रव्य—जड़वाले विरेचन द्रव्यों में अरुणवर्ण (गुलाबी रंग) के निशोथ का मूल श्रेष्ठ होता है। छालवाले विरेचन द्रव्यों में तिल्वक (लोध्र) वृक्ष प्रधान है, फलवाले विरेचन द्रव्यों में हर्रे प्रधान है। विरेचन कारक तैल द्रव्यों में एरण्ड, स्वरस द्रव्यों में कारवेल्लिका (करैली), दूधवाले द्रव्यों में सेंहुड़ का दूध ये सब उत्तम विरेचन कारक द्रव्य बताये गये हैं।

विरेचनाः कतिपययोगाः—

पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम् ॥ १६ ॥
सैन्धवोपहितः सद्य एष योगो विरेचनः।

विरेचन के कुछ योग—[1]पिप्पल्यादि गण के क्वाथ के साथ हर्रे को पीसकर तथा सेन्धानमक मिलाकर पान करे। यह शीघ्र ही विरेचन करनेवाला योग है।

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ॥ १७ ॥
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम् ।

शक्कर तथा मधु से युक्त निशोथ का चूर्ण दालचीनी, तेजपात तथा मरिच का चूर्ण एक-एक भाग मिलाकर सेवन करने से सुकुमारों के लिये विरेचन होता है।

---

१. पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, अदरक, काली मिरच, गजपीपर, हरेणु, इलायची, अजमोदा, इन्द्रयव, पाठा, जीरा, सरसों, बकायन, हींग, भारंगी, मूर्वा, अतीस, वच, वायविडङ्ग तथा कुटकी ये पिप्पल्यादि गण हैं।

त्रिवृत्कल्ककषायेण क्षौद्रेण च सशर्करः ॥ १८ ॥
सघृतः साधितो लेहः श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ।

निशोथ के कल्क तथा कषाय के साथ शक्कर मधु तथा घृत मिलाकर सिद्ध किया हुआ अवलेह श्रेष्ठ विरेचन है। (निशोथ के मूल को जल में उबाल ले और उसका कल्क बनाकर घृत में भून ले और उसी क्काथ में शक्कर की चासनी बनाकर मिला ले और सिद्ध हो जाने पर उतार ले। शीतल हो जाने पर मधु मिलाकर रख दे और विरेचनार्थं सेवन कराये। निशोथ का कल्क एक सेर, क्काथ चार सेर, चीनी चार सेर, घृत आधा सेर, मधु आधा सेर, मात्रा एक छटाँक)।

पथ्यासैन्धवशुण्ठीनां कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ १९ ॥
विरेकः सर्वरोगघ्नः श्रेष्ठो नाराचसञ्ज्ञकः ।

हरें, सेन्धानमक तथा सोंठ इन द्रव्यों का कल्क गरम जल से पान करे। यह नाराचनामक योग सभी रोगों को नाश करनेवाला उत्तम विरेचन है।

व्योषदन्तीत्रिवृत्पथ्यानीलिनीगुडकल्कितः ॥ २० ॥
मोदकस्तु सुगन्धाढ्यो रेचनः सर्वदोषजित् ।

व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), दन्ती, निशोथ हरें, नील तथा गुड़ इन द्रव्यों का बनाया हुआ सुगन्धित द्रव्यों से युक्तमोदक सभी रोगों को जीतने वाला मोदक है। (व्योष आदि द्रव्यों के चूर्ण कर चूर्ण के बराबर गुड़ लेकर उसकी चासनी बना ले और उसमें चूर्ण छोड़कर मोदक बनाले और दो तोले की मात्रा में या अग्निबल के अनुसार सेवन कराये)।

त्रिवृद्दन्तीविडङ्गानि समभागानि कारयेत् ॥ २१ ॥
हरीतकीनां द्वौ भागौ श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ।

निशोथ, दन्ती तथा वायविडंग समभाग—इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण बनावे और उसमें हरें का चूर्ण दो भाग मिला दे। यह चूर्ण उत्तम विरेचन है।

त्र्यूषणस्य भवेद्भागः सैन्धवं रजनी तथा ॥ २२ ॥
हरीतकी पञ्चगुणा श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ।

त्र्यूषण (सोंठ, पीपर, मरिच) एक भाग, सेन्धानमक एक भाग, हल्दी एक भाग, तथा हरें पाँच भाग इन द्रव्यों का चूर्ण उत्तम विरेचन है।

अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत् ॥ २३ ॥
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।

अजगन्धा (अजमोदा), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), विदारीकन्द, शक्कर तथा निशोथ समभाग—इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत के साथ (विषम मात्रा में) चाटने पर अच्छी तरह विरेचन करता है।

सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः ॥ २४ ॥
त्रिवृच्छाणाः शुभास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रस्तु चूर्णिताः ॥ २५ ॥
लिह्यात्सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकान् वा गुडेन वा ।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥ २६ ॥
गुल्म प्लीहोदर कास हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥ २७ ॥

सन्निपात ज्वर, स्तम्भ (उरुस्तम्भादि) रोग, दाह तथा प्यास से पीड़ित व्यक्ति निशोथ तीन शाण (एक तोला), त्रिफला का छाल तीन शाण (एक तोला), वायविडङ्ग पीपर तथा यवक्षार तीन शाण (एक तोला) इन सभी द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा घृत के साथ (विषममात्रा में) चाटे। या मोदक अथवा वटी बनाकर भक्षण करे। यह योग बिना परहेज का ही सेवन करने से उत्तम विरेचन करता है। इसके अतिरिक्त यह योग गुल्मरोग, प्लीहोदररोग, कास, हलीमक (पाण्डुरोग की दूसरी अवस्था शरीर हरितवर्ण का हो जाना), अरोचक, कफवातजन्य रोगों तथा अन्य रोगों को दूर करता है ॥ २४–२७ ॥

व्योषत्वकपत्रमुस्तैलाविडङ्गामलकान् समान् ।
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड्गुणम् ॥ २८ ॥
चूर्णिता गुटिकाः कार्याः क्षौद्रेण पलसंमिताः ।
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय शीतं चानुपिबेज्जलम् ॥ २९ ॥
मूत्रकृच्छ्रे ज्वरे वम्यां कासे श्वासे भ्रमे क्षये ।
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पाग्नौ शस्तो मितहिताशिनः ॥ ३० ॥
योगः सर्वविषाणां च श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ।

व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), दालचीनी, तेजपत्र, मोथा, बड़ी इलायची, वायविडङ्ग तथा आंवला समभाग, निशोथ आठभाग इन द्रव्यों को चूर्ण बनाले और शक्कर छः भाग की चासनी बनाकर उसमें चूर्ण मिला दे शीतल होने पर मधु मिलाकर एक पल परिमाण (एक छटाँक) की गुटिका बनाले। इस गुटिका को प्रातः काल उठकर भक्षण करे और उसके बाद शीतल जल पान करे। यह योग मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास, श्वास, भ्रम (चक्कर), क्षयरोग ताप (दाह), पाण्डुरोग तथा मन्दाग्नि रोग में हितकर है। योग

भोजन करनेवाले व्यक्तियों के लिये प्रशस्त है और सभी प्रकार के विषों के लिये श्रेष्ठ विरेचन है।

हिङ्गुसौवर्चलव्योषबिडाजाजीयवानिकैः ॥ ३१ ॥
वचाजगन्धात्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः ।
मोदकान् कारयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बरुदाडिमैः ॥ ३२ ॥
त्रिकवंक्षणहृद्वस्तिशूलार्शःप्लीहरोगिणाम् ।
हिक्काकासारुचिश्वासकफोदावर्तिनां सुखान् ॥ ३३ ॥

शुद्ध हिंङ्गु, सौवर्चल नमक, व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), बिड् (बिरिया) नमक, अजाजी (स्याहजीरा), अजवायन, वच, अजमोदा, त्रिफला (हरें, बहेड़ा, आंवला), चव्य, चित्रक धनिया, तुम्बरु (तेजबल का बीज), तथा अनार समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण बनाये और इन चूर्णों का मोदक बनावे और त्रिकसन्धि, वंक्षणसन्धि, हृदय तथा वस्ति का शूल, अर्श और प्लीहा के रोगियों को एवं हिक्का (हिचकी), कास, अरुचि, श्वास, कफजन्य रोग तथा उदावर्त के रोगियों को सुख देनेवाले इन मोदकों को खिलाये। अर्थात् उपरोक्त द्रव्यों का मोदक सेवन करने से उक्त रोगों को नाश करता है ॥ ३१-३३ ॥

पलं चित्रकदन्तीभ्यां हरीतक्याश्च विंशतिः ।
पिप्पलीत्रिवृते क्षौद्रगुडस्याष्टपलेन तान् ॥ ३४ ॥
विनीय मोदकान् कुर्यादथैकं भक्षयेन्नरः ।
उष्णाम्बु च पिबेच्छेषान् दशमे दशमेऽह्नि च ॥ ३५ ॥
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः ।
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नाः कण्डूकोठानिलापहाः ॥ ३६ ॥

चित्रक एक पल (एक छटांक), दन्ती एक छटांक, हरें बीस पल (बीस छटांक), पीपर एक छटांक, दन्ती एक छटांक इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु तथा गुड़ आठ पल (आठ छटांक) के साथ मोदक बनाकर इस मोदक को मनुष्य भक्षण करे और ऊपर से गरम जल पान करे। शेष मोदकों को दशवें-दशवें दिन सेवन करे। ये मोदक बिना परहेज के ही सभी रोगों को दूर करते हैं। ग्रहणी तथा पाण्डुरोग को नाश करते हैं और खुजली, कोठ (चकत्ते), तथा वात जन्य रोगों को दूर करते हैं ॥ ३४-३६ ॥

दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत् ।
विरेचनं मुख्यतमं कामलाहरमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

दन्ती के कल्क को गुड़ मिलाकर ठंढा जल के साथ पान करे यह प्रधान विरेचन कामला रोग को नष्ट करने के लिये उत्तम है ॥ ३७ ॥

त्रिवृद्दुरालभामुस्ताशर्करोदीच्यचन्दनम् ।
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वं सातला जलदात्यये ॥ ३८ ॥
त्रिवृतां चित्रक पाठामजाजीं सरलां वचाम् ।
स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ३९ ॥
त्रिवृता शर्करातुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ।

जलदात्यय (शरद्-ऋतु) में त्रिवृत्, निशोथ, दुरालभा, (यवासा), मोथा, शक्कर, उशीरव, सुगन्धवाला, चन्दन—सातला सेंहुड़ 'थूहर' तथा मुलेठी के चूर्ण को मुनक्का के रस के साथ पान करे। हेमन्त में निशोथ, चित्रक, पाढ़ी, स्याहजीरा, सरला (सफेद निशोथ), वच तथा स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इन द्रव्यों का चूर्ण गरम जल से पान करे। त्रिवृता (काला-निशोथ) का चूर्ण समभाग शक्कर के साथ ग्रीष्म काल में उत्तम विरेचन होता है।

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ ४० ॥
सौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षाकाले विरेचनम् ।

निशोथ, इन्द्रयव, पीपर, सोंठ, इन द्रव्यों का चूर्ण मधु तथा मुनक्का का रस मिलाकर सेवन करने से वर्षाकाल में विरेचन होता है।

त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषाः सातलां कटुरोहिणीम् ॥ ४१ ॥
स्वर्णक्षीरीं च सचूर्ण्य गोमूत्रैर्भावयेत्त्र्यहम् ।
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषजित् ॥ ४२ ॥

त्रिवृत् (निशोथ), त्रायमाणा, हाउवेर सातला (सेंहुड़), कटुरोहिणी (कटुकी), स्वर्णक्षीरी (भड़भांड) समभाग इन द्रव्यों को चूर्णकर गाय के मूत्र की तीन दिन तक भावना दे। यह योग सभी ऋतुओं में विरेचन के लिये उत्तम है तथा स्निग्ध व्यक्तियों के मल को दूर करता है ॥ ४१-४२ ॥

दन्ती द्रवन्ती मरिचं यवानी चोपकुञ्चिका ।
नागरं हेमदुग्धी च चित्रकं चेति चूर्णयेत् ॥ ४३ ॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे गवां पाणितलं ततः ।
पिबेद्घृतेन चूर्णं तु विरिक्तश्चापि तर्पणम् ॥ ४४ ॥
सर्वदोषहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम् ।
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिकुष्ठप्लीहोदरेषु च ॥ ४५ ॥
गण्डमालासु वाते च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥ ४६ ॥

दन्ती, द्रवन्ती (आखुकर्णी 'मूसाकर्णी'), मरिच, अजवायन, उपकुञ्चिका (छोटी इलायची), सोंठ, हेमदुग्धी (भड़भाड़) तथा चित्रक समभाग इन द्रव्यों का चूर्ण बनाये और गाय के मूत्र में सात दिन तक भावित करे। इसके

बाद सुखाकर चूर्ण बनालें और उसमें से एक पाणितल (एक तोला) चूर्ण घृत के साथ पान करे। यह चूर्ण विरेचन करता है और तर्पण भी करता है। यह सभी दोषों को दूर करनेवाला सभी ऋतुओं में मुख्य विरेचन योग है। यह योग दुष्ट भोजनजन्य अजीर्ण, पार्श्वशूल, कुष्ठ, प्लीहोदर रोग, गण्डमाला, वातरोग तथा पाण्डु (पीलिया) रोग में प्रशस्त है।

हरीतकीभिः क्वथितं सुवीरं दन्त्यग्निकृष्णाबिडचूर्णमिश्रम्।
विरेचनं सोरुबुतैलामश्न निरत्ययं योज्यमथामयघ्नम् ॥ ४७॥

सुवीरे[1] (एक वीर वृक्ष विशेष) के चूर्ण को दन्ती, (जमालगोटा), चित्रक, पीपर विड नमक समभाग इन द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर हरें के क्वाथ से भावित करे और एरण्ड तेल के साथ इस विरेचन द्रव्य को निरन्तर प्रयोग करे। यह विरेचन योग रोगों को नाश करनेवाला है॥ ४७॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु।
भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु विरेचनान्यग्रमतिर्विदध्यात् ॥ ४८॥

बुद्धिमान् व्यक्ति विरेचन के योगों एवं (द्रव्यों) को घृत, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, स्वरस या क्वाथ, भक्ष्य अन्न तथा लेह्य (चाटने योग्य) पदार्थों के साथ बल, काल एवं रोग के अनुसार प्रयोग करे॥ ४८॥

विरेचनार्हा रोगाः पुरुषाश्च—

अपस्मारी विषार्तश्च सामस्तम्भश्च वातिकः।
विषमज्वरवीसर्पी वातशोणितकश्च यः ॥ ४९॥
अर्शसो विषमाग्निश्च कुष्ठश्वयथुपीडितः।
उदावर्ती तथोन्मत्तो विद्रध्यलजिपीडितः ॥ ५०॥
पित्तश्लेष्मसमुत्थाश्च व्याकुला ये च धातवः।
सन्निपातसमुत्थाश्च योनिदुष्टाश्च याः स्त्रियः॥ ५१॥
शूलार्ता रक्तगुल्मिन्यो नार्यो याश्च निपीडिताः।
रेतोदुष्टाश्च पुरुषा विरेच्यास्तु प्रकीर्तिताः॥ ५२॥

विरेचन के योग्य रोग तथा पुरुष—अपस्मार का रोगी, विष व्याप्त रोगी आमवात स्तम्भ (उरुस्तम्भ आदि) तथा वात का रोगी, विषमज्वर से पीड़ित, विसर्प का रोगी, वात रक्त का रोगी, अर्शरोग, विषमाग्नि, कुष्ठ एवं शोथ से पीड़ित, उदावर्त का रोगी, उन्मत्त, विद्रधि (फोड़िया) तथा अलजी (नेत्र सन्धिगत रोग नेत्र के शुक्ल कृष्ण सन्धि भागगत पिड़का) से पीड़ित, पित्त श्लेष्मजन्य दूषित धातुवाले, सन्निपात जन्य दूषित धातुवाले व्यक्ति, दुष्टयोनि

---

1. एकवीरो महावीरः सकृद्वीरः सुवीरकः।
एकादिवीर पर्यायैर्वीरश्चेति पदाह्वयः॥ (राजनिघण्टुः)

वाली स्त्रियां, शूल से पीड़ित, तथा रक्त गुल्म से पीड़ित स्त्रियां, दुष्ट वीर्यवाले पुरुष ये सब विरेचन के योग्य हैं ॥ ४९–५२ ॥

विरेच्यास्तूर्ध्वपित्तास्रगुल्मप्लीहभगन्दराः ।
जीर्णज्वरोदरगरी कृमिकोष्ठोऽथ विद्रधिः ॥ ५३ ॥
रेतोयोनिविकारार्शोमूत्राघातहलीमकाः ।
वातास्रव्यङ्गतिमिरकाचाभिष्यन्दिकुष्ठिनः ॥ ५४ ॥
दुष्टव्रणाक्षिकोपाग्निक्षारदग्धाः शिरोरुजः ।
पक्काशयरुजानाडीव्रणोदावर्तकासिनः ॥ ५५ ॥
विस्फोटादिर्विबन्धाश्च विसूचीच्छर्द्यरोचकाः ।
अविपाकापचीमेदोलसकश्लीपदामयाः ॥ ५६ ॥
प्रमेहश्वासहृल्लासमदापस्मारवर्तिनः ।
पाण्डुरोगार्बुदग्रन्थिघ्राणकर्णास्यरोगिणः ॥ ५७ ॥
पित्तरोगा विसर्पश्च स्तन्यदोषाश्च शोफरुक् ।

ऊर्ध्व रक्तपित्त, गुल्म, प्लीहा, भगन्दर, जीर्णज्वर, उदररोग, संयोगज विष, कृमिकोष्ठ, विद्रधि, वीर्यविकार तथा योनिविकार, अर्शरोग, मूत्राघात, हलीमक (पाण्डु के बाद की अवस्था) वातरक्त, व्यङ्ग (मुख की झांई या अस्वाभाविक अङ्गवृद्धि), तिमिररोग, काचरोग (नेत्रपटलगत रोग) अभिष्यन्द कुष्ठ, दुष्टव्रण, अक्षिकोप (नेत्रशोथ) अग्निदग्ध तथा क्षारदग्ध, शिरःशूल, पक्वाशय की पीड़ा, नाडीव्रण (नासूर), उदावर्त, कास, विस्फोटक, विबन्ध, हैजा, वमन, अरोचक, अजीर्ण, अपची (गण्डमाला), मेदारोग, अलसक (दूषित भोजन का ऊपर या नीचे प्रवर्तित न होना तथा पेट में पीड़ा होना) रोग, श्लीपद (फाइलेरिया), प्रमेह, श्वास, मिचली, मदयुक्त और अपस्मार, पाण्डुरोग, अर्बुद, ग्रन्थि (गांठें), नाक, कान तथा मुख के रोग, पित्तरोग, विसर्प, स्तन्यदोष (दूध सम्बन्धि दोष) तथा शोथ की पीड़ा—इन रोगों से पीड़ित मनुष्यों को विरेचन कराना चाहिए ।

विरेचनायोग्या रोगाः पुरुषाश्च—

अविरेच्योऽतिसारी च क्षतपायुर्नवज्वरी ॥ ५८ ॥
अल्पाग्न्यधोगपित्तास्राः सशल्याभिहतास्तथा ।
क्रूरकोष्ठोऽथ शोषी च सातिस्निग्धो मदात्ययी ॥ ५९ ॥
लङ्घितास्थापिता रात्रिजागरिताश्च दुर्बलाः ।
अतिस्निग्धो रिक्तकोष्ठः कृशोऽतिस्थूल एव च ॥ ६० ॥
अशुद्धवातोल्लसितः सुकुमारोऽथ भीरुकः ।
ऊनद्वादशवर्षश्च व्यतिक्रान्तश्च सप्ततिम् ॥ ६१ ॥

गर्भिणी हीनरेताश्च वेपनो हृदयद्रवी ।
तृषार्तस्तालुशोषी च ऊरुस्तम्भार्दितोऽर्दिती ॥ ६२ ॥
हनुग्रहगृहीतश्च वातहृद्रोगपीडितः ।
सर्वेषु वातरोगेषु न विरेकं समाचरेत् ॥ ६३ ॥

विरेचन के अयोग्य रोग तथा पुरुष—अतिसार रोग से पीड़ित, जिसके गुदा में आघात लगा हो, नवीन ज्वर से पीड़ित, मन्दाग्नि पुरुष, अधोगामी रक्तपित्तक रोगी, शल्य के आघात से पीड़ित, क्रूर कोष्ठवाला, क्षय का रोगी, अत्यधिक स्निग्ध व्यक्ति, अधिक मद्यपान करने वाले व्यक्ति, उपवास कराये हुए व्यक्ति, आस्थापन कराये हुए व्यक्ति, रात्रि में जगे हुए, दुर्बल, अत्यधिक स्निग्ध, खाली पेट, क्षुधित, अत्यन्त मोटा, अपान वायु से पीड़ित, सुकुमार, भीरु, बारह वर्ष से छोटा लड़का तथा सत्तर वर्ष से अधिक उमर का बूढ़ा व्यक्ति, गर्भिणी, क्षीणवीर्य, काँपनेवाला, हृदय का रोगी, प्यास से पीड़ित, तालुशोष का रोगी, उरुस्तम्भ आदि रोग से पीड़ित, अर्दित (लकवा) का रोगी, हनुग्रह (दोनों हनुवों का जकड़ना) से पीड़ित तथा वातरोग से पीड़ित इन पूर्वोक्त रोग से पीड़ित एवं पूर्वोक्त अवस्था वाले रोगी विरेचन कराने के योग्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के वातव्याधि में विरेचन नहीं कराना चाहिए ॥ ५८–६३ ॥

विरेचनस्य योगायोगातियोगलक्षणम्—

प्रमाणेनाढकं त्रिंशद्वेगाः श्लेष्मान्त उत्तमे ।
दश वेगावरे प्रस्थो मध्योऽर्धाढकविंशकः ॥ ६४ ॥
वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
अर्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ ६५ ॥

विरेचन के सम्यग्योग, अयोग तथा अतियोग के लक्षण—विरेचन प्रमाण में एक आढक (चार सेर) तीस वेगवाला तथा कफ निकलने तक उत्तम होता है। अवर (निकृष्ट) विरेचन में विरेचन का प्रमाण एक प्रस्थ तथा दश वेग होते हैं। मध्यम विरेचन परिमाण में आधा-आधा आढक (दो सेर) तथा बीस वेगवाला होता है। वमन, विरेचन तथा रक्त-मोक्षण में साढ़े तेरह पल (छटाँक) का प्रस्थ (सेर) विचारकगण कहे हैं ॥ ६४–६५ ॥

स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तलिङ्गं दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः ।
मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम् ॥ ६६ ॥

दूषित विरेचन (विरेचन का अयोग) होने पर कफ तथा पित्त के लक्षण दिखाई देते हैं और शरीर में जलन, अरुचि, भारीपन तथा मन्दाग्नि होती है।

विरेचन के अतियोग में मूर्च्छा, गुदभ्रंश, कफ की अधिकता, शूल की उत्पत्ति ये सब लक्षण होते हैं ॥ ६६ ॥

गतेषु दोषेषु कफान्तिकेषु ग्लान्यां लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत् ॥ ६७ ॥
मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं न पाययेत्ताहनि तत्र पेयाम् ।
क्षीणं तृषार्तं सुविरेचितं च तन्वीमसान्द्रां लघु पाययेत ॥ ६८ ॥

कफपर्यन्त दोषों के निकल जाने पर ग्लानि कम हो जाती है, मन प्रसन्न हो जाता है, वायु के निकल जाने पर वायु का अनुलोमन हो जाता है। इन लक्षणों से युक्त मनुष्य को सम्यग्विरिक्त मनुष्य समझना चाहिए। अच्छी तरह विरेचन न होने पर, स्वस्थ एवं मन्दाग्नि वाले व्यक्ति को दिन में पेया न पिलाये और अच्छी तरह विरेचन हो जाने पर दुर्बल एवं प्यास से पीड़ित व्यक्ति को पतली तथा थोड़ी मात्रा में पान कराये ॥ ६७–६८ ॥

विरेचनायोगातियोगचिकित्सा—

सायाह्नि जीर्णभैषज्ये न विरिच्येत यो नरः ।
मृद्वल्पमात्रापीतश्च पाययेदौषधं मृदु ॥ ६९ ॥

विरेचन के अयोग तथा अतियोग की चिकित्सा—औषध के पच जाने पर सायंकाल भी जो मनुष्य विरेचन नहीं करता है तो मृदुमात्रा तथा थोड़ा सा विरेचन द्रव्य पान किये हुए व्यक्ति को पुनः विरेचन औषध पान कराये ।

वमनेऽतिप्रवृत्ते तु हृद्यं कार्यं विरेचनम् ।
विरेके चातिसंवृत्ते वमनं योजयेद्भिषक् ॥ ७० ॥

वैद्य वमन के अतियोग हो जाने पर हृदय को बल देनेवाले विरेचन को पान कराये और विरेचन के अतियोग होने पर वमन योग का प्रयोग करे ॥ ६९–७० ॥

विरेचने त्रिवृत्कल्पः—

कषायमधुरा रूक्षा विपाके कटुका त्रिवृत् ।
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥ ७१ ॥
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः ।
कल्पवैशेष्यमासाद्य जायते सर्वरोगजित् ॥ ७२ ॥

विरेचन में त्रिवृत्कल्प—त्रिवृत् (निशोथ) कषाय, मधुर तथा रूक्ष होती है और विपाक में कटु होती है। वह त्रिवृत् इस समय वात, पित्त, कफनाशक औषधों के साथ युक्त कल्प विशेष को प्राप्त कर सभी रोगों को जीतनेवाली हो जाती है ॥ ७१–७२ ॥

द्विधा ख्यातं च तन्मूलं श्यामं चारुणमेव च ।
त्रिवृदाख्यं वरतरं निरपायं सुखं तयोः ॥ ७३ ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम् ।
श्यामं तीक्ष्णाशुकारित्वादतस्तदपि शस्यते ॥ ७४ ॥
क्रूरे कोष्ठे बहुदोषे क्लेशक्षमिणि चातुरे ।
मूर्च्छासंमोहहृत्कण्ठकर्षणक्षणदप्रदम् ॥ ७५ ॥

त्रिवृत् का मूल दो प्रकार का होता है श्याम (काला) और अरुण (गुलाबी वर्ण का) इन दोनों में त्रिवृत् नामक निशोथ उत्तम विघ्नरहित तथा सुखकर होता है और यह सुकुमार बालक, वृद्ध तथा मृदु कोष्ठ में हितकर होता है। काला निशोथ भी तीक्ष्ण तथा शीघ्र विरेचन कारक होने से वह भी कठिन कोष्ठ वाले, अधिक दोष वाले तथा क्लेश को सहन करनेवाले रोगी में प्रशस्त होता है। फिर भी यह मूर्च्छा, मोह, हृदय तथा कण्ठ को कर्षण करनेवाला तथा अन्धकार (चक्कर) करनेवाला है ॥ ७३–७५ ॥

गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विस्तृतं च यत् ।
गृहीत्वा विसृजेत्काष्ठं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥ ७६ ॥
अथ काले ततश्चूर्णं किंचिन्नागरकेसरम् ।
वातामये पिबेदम्लैर्पित्ते चापि सितामधु– ॥ ७७ ॥
क्षीरद्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वादुस्कन्धवरारसैः ।
कफामये मूत्रमद्यपीलुरसाम्लकाञ्जिकैः ॥ ७८ ॥
पञ्चकोलादिचूर्णैश्च युक्त्या युक्तं कफापहैः ।

जो त्रिवृत् का मूल अधिक गहराई में गया हुआ चिकना तथा जो तिरछा न फैला हुआ हो उसको निकालकर उसके काष्ठ को त्याग दे और सूखे छिलका को ग्रहण कर ले। इसके बाद समय आने पर उसके चूर्ण को थोड़ा सा नागकेशर का चूर्ण मिलाकर वातजन्य रोग में अम्लरस के साथ पान करे तथा पित्तजन्य रोग में मिश्री, मधु, दूध, मुनक्का का रस, गन्ना का रस, गम्भारी स्वादुकन्द (विदारीकन्द) तथा वरा (त्रिफला), इन द्रव्यों के रस के साथ पान करे। कफजन्य रोग में गोमूत्र, मद्य, पीलु (गुड़फल), अम्लरस तथा काञ्जी के साथ और कफनाशक पञ्चकोल (सोंठ, पीपर, मरिच, चव्यचित्रक) आदि के चूर्ण के साथ युक्तिपूर्वक मिलाकर निशोथ के मूल को पान कराये।

लिम्पेदन्तस्त्रिवृतया द्विधा कृत्वेक्षुगण्डकम् ॥ ७९ ॥
एकीकृत्य च तत्स्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत् ।
सन्निपातज्वरस्तम्भपिपासादाहपीडितः ॥ ८० ॥

इक्षुगण्डक (गन्ने के गेड़ी) को चीरकर दो भाग कर दे और उसके भीतर

त्रिवृत् के कल्क का लेप लगा दे। इसके बाद दोनों को एककर पुटपाक विधि से स्वेदन कर दे और सन्निपात ज्वर स्तम्भ रोग, प्यास तथा दाह आदि से पीड़ित व्यक्ति भक्षण करे अर्थात् गन्ना की तरह चूसे ॥ ७८–८० ॥

भृङ्गेलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृत्तैश्च शर्करा।
चूर्णं फलरसक्षौद्रसक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥ ८१ ॥
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥ ८२ ॥

भृङ्गराज, बड़ी इलायची, समभाग—इन दोनों के बराबर नीली (नील), इन तीनों के बराबर निशोथ तथा इन सबों के बराबर शक्कर लेकर चूर्ण बनावे और इन द्रव्यों के तर्पण करनेवाले चूर्ण को वात, पित्त, कफ जन्य रोगों में तथा अल्प वातरोग में पान करे। यह योग सुकुमार मनुष्यों में विघ्नरहित विरेचन है ॥ ८१–८२ ॥

विडङ्गतन्दुलवरायावशूककणात्रिवृत् ।
सर्वतोऽर्धेन तल्लीढं मध्वाज्येन गुडेन वा ॥ ८३ ॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम्।
कफवातकृतांश्चान्यान् परिमार्ष्टि गदान् बहून् ॥ ८४ ॥

विडङ्ग, तन्दुल (तन्दुलीयक 'चौराई'), वरा त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आंवला), यवक्षार, तथा पीपर समभाग तथा इन सबों के आधा निशोथ इन सभी द्रव्यों का चूर्ण बनाकर इस चूर्ण को मधु, घृत या गुड़ के साथ चाटे। यह योग गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरोचक और कफवातजन्य रोग तथा इसके अतिरिक्त अन्य बहुत रोगों को परिमार्जन (नष्ट) करता है ॥ ८३–८४ ॥

व्योषत्रिजातकाम्भोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ।
सर्वैः समा समसिता क्षौद्रेण गुटिका कृता ॥ ८५ ॥
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दिकासे श्वासे भ्रमे क्षये।
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ताः सर्वविषेषु च ॥ ८६ ॥

व्योष (सोंठ, पीपर, मरिच), त्रिजात (दालचीनी, इलायची, तेजपत्र), अम्भोद (मोथा), कृमिघ्न, (वायविडङ्ग), आंवला ये सब समभाग और इन सभी द्रव्यों के बराबर त्रिवृत् लेकर चूर्ण बनावे और चूर्ण के बराबर मिश्री के चासनी में चूर्ण मिला दे। शीतल होने पर मधु मिलाकर गुटिका बना ले। यह गुटिका मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास (खाँसी), श्वासवृद्धि, भ्रम (चक्कर) क्षयरोग, दाह पाण्डुरोग, मन्दाग्नि तथा सभी प्रकार के विषों में प्रशस्त है। अर्थात् प्रयोग करने से उपरोक्त रोगों को दूर करती है ॥ ८५–८६ ॥

श्यामात्रिवृद्दुरालम्भाहस्तिपिप्पलिवत्सकम् ।
नीलिनीकटुकामुस्ताश्रेष्ठायुक्तं सुचूर्णितम् ॥ ८७ ॥
रसान्नोष्णाम्बुभिः शस्तं रूक्षाणामपि सर्वदा ।
ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु ।
हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत् ॥ ८८ ॥

काला निशोथ, दुरालभा (यवासा), गजपीपर, वत्सक (कोरैया), नीलीवृक्ष का छाल, कुटकी, मोथा तथा श्रेष्ठा (त्रिफला 'हरें, बहेड़ा, आंवला') समभाग इन द्रव्यों को लेकर चूर्ण बनाये और इस चूर्ण को मांसरस, अन्न (विलेपी मण्ड आदि) तथा गरम जल के साथ सेवन करना रूक्ष प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिये भी सर्वदा प्रशस्त है । यह योग ज्वर हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त-आदि रोगों में प्रत्येक अवस्था में प्रशस्त है । हरीतकी को भी त्रिवृत् के अनुसार कल्प बनाकर प्रयोग करे ॥ ८७-८८ ॥

वैरेचनः सुधाकल्पः—

सुधा भिनत्ति दोषाणां महान्तमपि संचयम् ।
आश्वेव, कष्टविभ्रंशा नैव तां कल्पयेदतः ॥ ८९ ॥

सुधाकल्प विरेचन—सुधा (सेंहुड) दोषों के बड़े समूह को भी शीघ्र ही भेदन कर देती है और कष्टप्रद नहीं होती है । अतः इसका कल्प बनाकर प्रयोग न करे ।

मृदौ कोष्ठेऽबले स्थविरे दीर्घरोगिणि ।
कल्प्या गुल्मोदरगरत्वग्रोगमधुमेहिषु ॥ ९० ॥
पाण्डौ दूषीविषे शोफे दोषविभ्रान्तचेतसि ।

मृदु कोष्ठ, दुर्बल, बालक, वृद्ध, पुराने रोगी में, गुल्म, उदररोग, संयोगज विषजन्य रोग, चर्मरोग तथा प्रमेह के रोगियों में सुधाकल्प का प्रयोग करे । इसके अतिरिक्त पाण्डुरोग, दूषीविष, शोथ तथा दोषों से भ्रमयुक्त चित्तवालों में प्रयोग करे ।

सा श्रेष्ठा कण्टकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता ॥ ९१ ॥
द्विवर्षा वा त्रिवर्षा वा शिशिरान्ते विशेषतः ।
तां पाटयित्वा शस्त्रेण क्षीरमुद्धारयेत्ततः ॥ ९२ ॥
बिल्वादीनां बृहत्योर्वा क्काथेन सममेकशः ।
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥ ९३ ॥
पिबेत्कृत्वा तु गुटिकां मस्तुमूत्रसुरादिभिः ।
विरेचने मुख्यतमा नवैते त्रिवृतादयः ॥ ९४ ॥

यह सुधा तीक्ष्ण तथा बहुत कांटों से युक्त—दो वर्ष की या तीन वर्ष की

श्रेष्ठ होती है। इस सुधा को विशेषकर शिशिर के अन्त में काटकर तथा शस्त्र से चीरकर उससे दूध निकाल ले। इसके बाद बिल्वादि गण के क्वाथ के अथवा वनभंटा तथा भटकटैया के क्वाथ के बराबर लेकर एक में मिलाकर सेंहुड़ के दूध को आग पर सुखावे और सूख जाने पर गुटिका बनाकर मस्तु (दही का तोड़), गोमूत्र तथा मद्य आदि के साथ पान करे। यह विरेचनों में मुख्य विरेचन है। इसके समान त्रिवृत् (निशोथ) आदि नहीं है॥ ९१-९४॥

विरेचनानुपानानि—

त्वक्केसराम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलिङ्गैः।
मद्येन तैस्तैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि॥ ९५॥

विरेचन के अनुपान—त्वक् (दालचीनी), नागकेशर, आम्रातक (आमड़ा), अनार, बड़ी इलायची, मिश्री, मधु, बिजौरा नींबू तथा मद्य इन द्रव्यों में से किसी भी मन के अनुकूल द्रव्यों के क्वाथ या रस के साथ विरेचन द्रव्यों को सेवन कराये॥ ९५॥

विरेचनो वर्गः—

निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षीस्नुक्शङ्खिनीनीलिनितिल्वकानि।
शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥ ९६॥

विरेचन वर्ग—निकुम्भ (दन्ती), कुम्भ (त्रिवृत्), त्रिफला (हर्रे, बहेड़ा, आँवला), गवाक्षी (जेदुई, ककांर), सेंहुड़, शङ्खिनी (यवासा), नीलीवृक्ष, तिल्वक (लोध), शम्याक (अमलतास), कम्पिल्लक (कबीला), हेमदुग्धा (भड़भांड़) दूध तथा मूत्र ये विरेचन द्रव्य हैं॥ ९६॥

वमनविरेचनयोर्दोषहरणे वैशिष्ट्यम्—

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत्॥ ९७॥

वमन विरेचन के द्वारा दोष निर्हरण में विशेषता—वमन अपक्व दोषों को निकालता है और विरेचन पच्यमान दोषों को निकलता है अतः वमन कराने के लिये भोजन के पचने की प्रतीक्षा न करे॥ ९७॥

वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सा—

ऊर्ध्वाधो रेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते।
यदा तदा छर्दयतः सिञ्चेदुष्णेन वारिणा॥ ९८॥
पादौ, शीतेन चोर्ध्वाङ्गं विपरीतं विरेचने।

वमन विरेचन व्यापद्-चिकित्सा—कभी-कभी प्रयोग किया हुआ रेचन विपरीत क्रम से ऊपर तथा नीचे दोनों मार्गों से निकलता है। जब वमन

अधोमार्ग से निकलने लगे तब गरम जल से पैर को सींचे और शीतल जल से ऊर्ध्वांग को सींचे किन्तु जब विरेचन ऊर्ध्वमार्ग से निकलने लगे तब शीतल जल से पैर को सींचे और उष्ण जल से ऊर्ध्वांग को सींचे ॥ ९८ ॥

मन्दाग्निभिर्विरेचनात्प्राक् कर्तव्यं कर्म—

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ।
संधुक्षताग्निं विजितकफवातं च पाययेत् ॥ ९९ ॥

मन्दाग्नि व्यक्तियों के लिये विरेचन के पहले करने योग्य कर्म—मन्दाग्नि तथा कठिन कोष्ठवाले व्यक्ति को यवक्षार तथा सेन्धानमक मिलाकर घृत से जाठराग्नि को तेज कर तथा कफ एवं वात को शमन कर विरेचन पान कराये ॥ ९९ ॥

विरेचनफलम्—

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥१००॥

इति श्रीवैद्यवरशोढलप्रथिते गदनिग्रहे दशमे पञ्चकर्माधिकारखण्डे
विरेचनाधिकारश्चतुर्थः समाप्तः ॥

विरेचन का फल—अच्छी तरह विरेचन का प्रयोग करने से बुद्धि स्वच्छ हो जाती है, इन्द्रियां बलवान होती हैं, रसादि धातुयें स्थिर हो जाती हैं, अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और वृद्धावस्था विलम्ब से आती है । ये सम्यग् विरेचन के फल हैं ॥ १०० ॥

श्री वैद्य शोढल विरचित गदनिग्रह के दशम पञ्चकर्माधिकार में
चौथा विरेचनाधिकार समाप्त ।

अथ नस्याधिकारः पञ्चमः ।

अथातो नस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः—

विरेचन विधि के बाद नस्य विधि—अध्याय को कहते हैं ।

नस्यप्रयोजनम्—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते ।
नासा हि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥ १ ॥

नस्य का प्रयोजन—ऊर्ध्व जत्रु (ऊर्ध्वांग) के विकारों में विशेषकर नस्य कर्म का प्रयोग किया जाता है । नासिका शिरोगुहा का द्वार है उसके द्वारा नस्य शिरोगुहा में जाकर ऊर्ध्वांगगत रोगों को नाश करता है ॥ १ ॥

नस्यभेदास्तद्विषयाश्च—

विरेचनं बृंहणं च शमनं च त्रिधाऽपि तत् ।
मर्शाध्मानावपीडाख्यात्तत्पुनः षड्विधं स्मृतम् ॥ २ ॥

[1]नस्य के भेद तथा उसके विषय—नस्य तीन प्रकार का होता है, विरेचन, बृंहण तथा शमन, ये तीनों मर्श, अध्मान तथा अवपीडन भेद से छः प्रकार के होते हैं ।

---

१. नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा ।
रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥
कफपित्तानिलध्वंसि पूर्वमध्यापराह्णके ।
दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥
नस्यकर्मणि दातव्यं शाणकं तीक्ष्णमौषधम् ।
हिंगुस्याद्यावमात्रं तु माषैकं सैन्धवं मतम् ।
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयञ्च त्रिकार्षिकम् ।
कार्षिकं मधुरं द्रव्यं नस्य कर्मणि योजयेत् ॥
अवपीडः प्रधमनो द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ ।
शिरोविरेचनस्यार्थे तौ तु देयौ यथायथम् ॥
कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः ।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥
षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत् ।
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥
अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना ।
मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥ भा० प्र०

विरेचनं शिरःशूलजाड्यस्यन्दगलामये ।
शोफपाण्डुकृमिग्रन्थिकुष्ठापस्मारपीनसे ॥ ३ ॥
स्नेहेन तीक्ष्णैः सिद्धेन कल्कक्वाथादिभिश्च तत् ।

शिरःशूल, जाड्य (गूंगापन), स्यन्द (अभिष्यन्द नेत्राभिस्यन्द), गला के रोग, शोथ, पाण्डुरोग, कृमिरोग, ग्रन्थिरोग, कुष्ठ, अपस्मार तथा पीनस (दुर्गन्धयुक्त नासास्राव) रोग में तीक्ष्ण औषधों के द्वारा सिद्ध स्नेह, कल्क तथा क्वाथ आदि से विरेचन नस्य का प्रयोग होता है ।

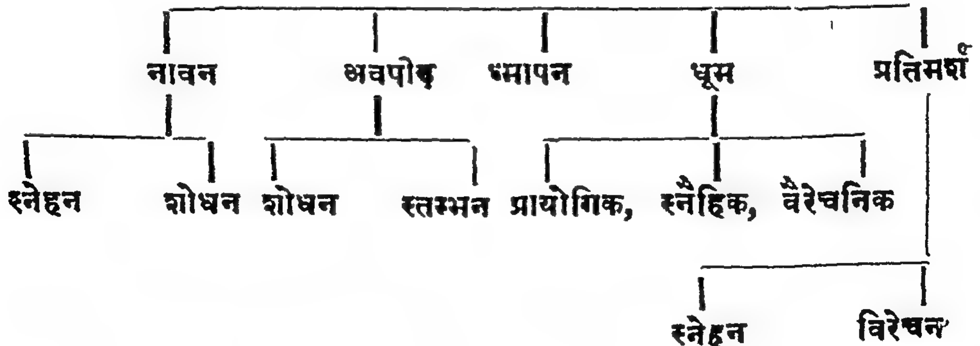
बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये ॥ ४ ॥
नासास्यशोषे वाक्सङ्गे कृच्छ्रबोधेऽवबाहुके ।
शमनं नीलिकाव्यङ्गकेशदोषाक्षिरोगिषु ॥ ५ ॥

वातजन्य रोग, शूल, सूर्यावर्त, स्वरघात, नासिका तथा मुख रोग, वाक्सङ्ग (हकलाना वाणी का ठीक न निकलना), कृच्छ्रबोध (कठिनाई से ज्ञान होना) तथा अवबाहुक (वातरोग) रोग में बृंहण नस्य का प्रयोग होता है और नीलिका[1] (झाईं), व्यङ्ग (मुख की झाईं), केशदोष (असमय में बाल का पकना तथा गिरना) और नेत्र के रोगों में शमन नस्य का प्रयोग होता है ॥ २–५ ॥

नस्यकल्पना—

यथास्वं योगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः ।
कल्पक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुमद्यासवैरपि ॥ ६ ॥

नस्य कल्पना—यथायोग्य सिद्ध यौगिक स्नेह से यथायोग्य साधित



नावनं चाव पीडश्च ध्मापनं धूम एव च ।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्यः कर्म तु पञ्चधा ॥ (च. सि. ९)

१. श्यामल मंडलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका (अष्टांगहृदय) ।
कृष्णमेव गुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्—(भोज)

कल्क एवं क्वाथ से और मधु, मद्य आसव आदि से भी विरेचन कर्म किया जाता है।

बृंहणं स्निग्धबीजोत्थकषायस्वरसैरपि।
शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण सलिलेन च ॥ ७ ॥
मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया।

स्निग्ध द्रव्यों के बीज के कषाय, स्वरस आदि से बृंहण नस्यकर्म किया जाता है और पूर्वोक्त दूध तथा जल आदि से शमन नस्यकर्म किया जाता है। यहां पर स्नेह मात्रा के अनुसार प्रतिमर्श मे इसे दो प्रकार का होता है।

कल्काद्यैरवपीडस्तु तीक्ष्णैर्मूर्धविरेचनः ॥ ८ ॥
ध्मानं विरेचनश्चूर्णो युञ्ज्यात्तं मुखवायुना।
षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया ॥ ९ ॥
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति।

कल्क आदि से अवपीड नस्य तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से मूर्ध विरेचन होता है। ध्मान नस्य का प्रयोग विरेचन चूर्ण को दो मुख वाली छः अङ्गुल लम्बी नाली में औषध भरकर मुख के वायु द्वारा फूंककर करे। वह ध्मान नस्य चूर्ण होने के कारण अन्दर पहुंचकर अधिक दोषों को दूर करता है।

नस्यमात्रा—

प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ॥ १० ॥
यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते।
मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात् ॥ ११ ॥
बिन्दुद्वयोनाः कल्कादेः

[1]नस्य की मात्रा—प्रदेशिनी अंगुलि का दो पर्व (स्नेह में) डुबाकर निकालने के बाद जितना बिन्दु (बूंद) गिरता है वह मर्श की मात्रा होती है। वह मात्रा उत्तम, मध्यम तथा ऊन मात्रा के अनुसार क्रमशः दश बिन्दु आठ बिन्दु तथा छः बिन्दु होती है। अर्थात् मर्श की उत्तम मात्रा दश बिन्दु,

---

१. मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताष्टभिः।
मध्यमा तु चतुःशाणैः हीना शाणमिता मताः ॥
एकैकस्मिन् तु मात्रेयं देयं नासापुटे बुधैः।
मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलाबलम् ॥
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः।
त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं सुनियन्त्रितः ॥ भावप्रकाश ॥

मध्यम मात्रा, आठ बिन्दु तथा ऊन मात्रा छः बिन्दु की होती है। कल्क आदि से द्रव की ऊन मात्रा दो बिन्दु की होती है। (इसी प्रकार मध्यम मात्रा चार बिन्दु तथा उत्तम मात्रा छः बिन्दु की होती है)।

नस्यायोग्याः—

योजयेन्न तु नावनम्।
तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ॥ १२ ॥
भुक्तभक्तशिरःस्नातस्नातुकामस्रुतासृजाम्।
नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम् ॥ १३ ॥
शुद्धानां दत्तवस्तीनां तथाऽनार्तवदुर्दिने।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधे-

नस्य के अयोग्य पुरुष—जल, मद्य, संयोगज विष तथा स्नेहपान किये हुए व्यक्तियों का तथा जल-मद्यादि पान करने की इच्छा करनेवाले व्यक्तियों का, भोजन किये हुए, शिर भिगोकर स्नान किये हुए या स्नान करने की इच्छा करनेवाले, रक्तमोक्षण कराये हुए व्यक्ति, नवीन पीनस (दुर्गन्ध युक्त नासास्राव) के रोगी, मूत्रादि के वेगों से पीड़ित व्यक्ति, श्वास तथा कास (खांसी) के रोगी, स्नेहन, स्वेदनपूर्वकपञ्चकर्म कराकर शुद्ध किये गये व्यक्ति तथा वस्ति कर्म कराये गये व्यक्तियों का और विपरीत ऋतु (नस्य कर्म के अयोग्य ऋतु) एवं दुर्दिन में नस्य कर्म नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्ययिक (मारक, असाध्य) व्याधि से पीड़ित व्यक्तियों को भी नस्य कर्म नहीं करना चाहिए।

नस्यकालः—

रथ नस्यं प्रयोजयेत् ॥ १४ ॥
प्रातः श्लेष्मणि, मध्याह्ने पित्ते, सायंनिशोश्चले।

नस्यकाल—कफजन्य प्रकोप में प्रातः काल, पित्त प्रकोप में दिन के मध्य में तथा वात प्रकोप में सायंकल तथा रात्रि में नस्य कर्म का प्रयोग करे।

स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसन्तयोः ॥ १५ ॥
शीते मध्यन्दिने, ग्रीष्मे सायं, वर्षासु सातपे।
वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामापतानके ॥ १६ ॥
मन्यास्तम्भे स्वरभ्रंशे सायंप्रायद्दिने दिने।
एकाहान्तरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत् ॥ १७ ॥

स्वस्थ वृत्त में बताये गये के अनुसार शरदृतु तथा वसन्त-ऋतु में प्रातःकाल, शीत (हेमन्त तथा शिशिर) काल में दिन के मध्य भाग में, ग्रीष्म-ऋतु

में सायंकाल और वर्षा-ऋतु में धूप निकलने पर नस्य कर्म करे। वातजन्य शिरोरोग, हिक्मा, अपतानक (चांदनी टिटनस), मन्यास्तम्भ (मन्यानाडी की जकड़न) तथा स्वरभ्रंश (स्वरघात) में सुबह-शाम प्रतिदिन नस्य कर्म करे। अन्य रोगों में एक दिन का अन्तर देकर सात दिन तक नस्य कर्म करे ॥ १४-१७ ॥

नस्यविधिः—

स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य प्राक्कृतावश्यकस्य च।
निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत्पुनः ॥ १८ ॥
अथोत्तानर्जुदेहस्य पाणिपादे प्रसारिते।
किंचिदुन्नतपादस्य किंचिन्मूर्धनि नामिते ॥ १९ ॥
नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्।
उष्णाम्बुतप्तं भैषज्यं प्रनाड्या पिचुनाऽथवा ॥ २० ॥
दत्ते पाणितलस्कन्धहस्तकर्णादि मर्दयेत्।
शनैरुच्छिङ्घ्य निष्ठीवेत् पार्श्वयोरुभयोस्ततः ॥ २१ ॥
आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत्।
मूर्च्छायां शीततोयेन सिचेत्परिहरंश्छिरः ॥ २२ ॥
नस्यान्ते वाक्छतं तिष्ठेदुत्तानो धारयेत्ततः।
निशाहर्भुक्तवान्ताहःस्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ॥ २३ ॥
शिरोभ्यञ्जनगण्डूषप्रस्रवाञ्जनवर्चसाम्।
दन्तकाष्ठस्य हासस्य योज्योऽन्तेऽसौ द्विबिन्दुकः ॥ २४ ॥

नस्यविधि—प्रातःकालीन आशौच, दन्तधावनादि कृत्य करने के बाद उत्तमाङ्ग (ऊर्ध्वजत्रु) का स्नेहन-स्वेदन कर्म करके रोगी को वात एवं धूल-रहित स्थान में शय्या के ऊपर सुलाकर पुनः ऊर्ध्वाङ्ग का स्वेदन करे। इसके बाद उत्तान तथा शरीर को सीधाकर सोये हुए व्यक्ति का हाथ पैर सीधा करके थोड़ा ऊँचा रक्खे और शिर को थोड़ा नीचे लटकता रहने दे। तदनन्तर एक नासा पुट को खोलकर पर्याय-क्रम (एक के बाद दूसरा) से सेंचन करे और गरम जल में गरम किये हुए औषध को नाड़ी के द्वारा अथवा पिचु (रुई की फाहा) के द्वारा नासापुट में प्रवेश करे तथा औषध प्रवेश करने पर रोगी के हाथ का तलवा, कन्धा, हाथ, कान आदि मर्दन करे। धीरे से उठकर दोनों बगल में छींककर थूक दे। इस प्रकार औषध के निकल जाने तक दो या तीन बार करे। इसके बाद नस्य कर्म करे। यदि नस्य करने पर मूर्च्छा आ जाय तो शिर को सहलाते हुए शीतल जल से सेंचन करे। नस्य देने के बाद मौन रहे और उत्तान रहकर औषध को धारण करे। दिन-रात में खाये पदार्थ को

वमन करने के बाद, दिन में सोने के बाद तथा मार्ग गमन के थकावट दूर होने के बाद और शिर धोना, कुल्ला करना, अंजन लगाना, मलत्याग करना, दन्तधावन करना तथा हंसने के अन्त में यह दो बिन्दुवाला नस्य कर्म करे। अर्थात् सभी प्रकार के शरीर को शुद्ध करनेवाले कर्म को करने के बाद नस्य कर्म करना चाहिए ॥ १८–२४ ॥

पञ्चसु स्रोतसां शुद्धिः क्लमनाशस्त्रिषु क्रमात् ।
दृग्बलं पञ्चसु ततो दन्तदार्ढ्यं मरुच्छमः ॥ २५ ॥

पांच बार नस्य कर्म करने से स्रोतों की शुद्धि, तीन बार कर्म करने से क्लम (ग्लानि, थकावट) का नाश होता है, पांच बार नस्य करने से नेत्रबल बढ़ता है, दांत दृढ़ होते हैं तथा वायु का प्रशमन होता है ॥ २५ ॥

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु ।
प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि न त्विष्टो दुष्टपीनसे ॥ २६ ॥
मद्यपीतेऽबलश्रोत्रे कृमिदूषितमूर्धनि ।

प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग—उरःक्षत, दुर्बल, बालक, वृद्ध, सुकुमार तथा स्वस्थ व्यक्तियों में असमय तथा वर्षाकाल में भी करना चाहिए। किन्तु दुष्ट पीनस (नासिका द्वारा दुर्गन्धित नासास्राव) में प्रतिमर्श नस्य नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मद्यपान करनेवाले, दुर्बल कानवाले तथा कृमिरोग से दूषित सिर वाले व्यक्तियों में भी प्रतिमर्श नस्य न करे।

नस्यं शिरोविरेकश्च प्रतिमर्शोऽवपीडनम् ॥ २७ ॥

नस्य, शिरोविरेक, प्रतिमर्श, अवपीडन तथा प्रधमन ये पांच प्रकार के नस्यकर्म होते हैं।

ज्ञेयं प्रधमनं चेति नस्तःकर्म च पञ्चधा ।
प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा प्राक्कृतावश्यकस्य च ॥ २८ ॥
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् ।
प्रलम्बशिरसः किंचित्किंचित्पादोन्नतस्य च ॥ २९ ॥
अनवाक्छिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ।
अत्यवाक्छिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गे च तिष्ठति ॥ ३० ॥
अत एवं शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः ।

प्रातःकाल या मध्याह्नकाल में प्रातःकालीन आवश्यकीय (अशौच, दन्तधावनादि आवश्यक कार्य) करने के बाद सुखपूर्वक स्थिर होकर शयन के ऊपर उत्तान सोये हुए व्यक्ति के सिर को थोड़ा लटकाकर तथा पैर को थोड़ा ऊंचाकर सुला दे और शिर की शुद्धि के लिये सिर का स्वेदन करे। शिर के नीचा न रहने पर नस्य सिर में नहीं पहुंचता है और अत्यधिक नीचा कर देने पर नस्य

मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क का एक भीतरी विशेष भाग) में पहुंच जाता है अतः पूर्वोक्त विधि से सुलाकर रोगी के सिर को शुद्ध होने के लिये स्वेदन करे।

संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ॥ ३१ ॥
हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम्।
प्रणाल्या पिचुना वाऽपि नस्तः स्नेहं यथाविधि ॥ ३२ ॥
कृते च स्वेदयेद्भूय आकर्षेच्च पुनः पुनः।
तं स्नेहं श्लेष्मणा सार्धं तथा स्नेहो न तिष्ठति ॥ ३३ ॥
स्वेदनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तःकर्मण्युपस्थितः।
भूयः स्नेहस्य शनैः शिरसिस्त्या(श्या)यते प्रति ॥ ३४ ॥
श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते।
ततो नस्ये कृते धूमं पिबेत् कफविनाशम् ॥ ३५ ॥
हिताशभुङ्निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः।
विधिरेषोऽवपीडस्य

अच्छी तरह स्वेदन करने के बाद बाएँ अंगूठा के पर्व से नासिका को उठाकर दाहिने हाथ से दोनों भाग को बराबर (सीधा) करे। इसके बाद प्रणाली (छः अंगुल लम्बी दोनों तरफ मुखवाली) से या पिचु (रूई के फाहे) से भी स्नेह को विधिपूर्वक नाक में छोड़े और नस्य कर्म करने के बाद पुनः स्वेदन करे और बार-बार उस स्नेह को श्लेष्मा के साथ ऊपर खींचे। इस प्रकार करने से स्नेह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता है। स्वेदन करने से निकला हुआ कफ नस्त कर्म में उपस्थित हो जाता है और फिर स्नेह को धीरे-धीरे सिर के तरफ ले जाता है तथा कान, मन्या नाड़ी एवं गला आदि में विकार उत्पन्न करता है। अतः नस्य कर्म करने के बाद कफनाशक धूम को पान करे और हितकर भोजन, उष्ण वायु का सेवन तथा जितेन्द्रिय होकर रहे यह अवपीडन नस्य की विधि है।

प्रध्मापननस्यविधिः—

कार्यः प्रध्मापनस्य तु।
तं षडङ्गुलया नाड्या धमेच्चूर्णं मुखेन तु ॥ ३६ ॥
विरक्तशिरसं चापि पाययित्वाऽम्बु भोजयेत्।

प्रध्मापन नस्य विधि—प्रध्मापन नस्य का प्रयोग छः अंगुल की लम्बी नाड़ी में चूर्ण को भरकर मुख के द्वारा फूक मारकर (प्रधमन) करे शिरोविरेचन हो जाने के बाद जल पिलाकर भोजन कराये।

नस्ये तैलस्य प्राशस्त्यम्—

तैलमेव हि नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥ ३७ ॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे ।

नस्यकर्म में तैल की प्रशंसा—तैल को ही नस्य कर्म के लिये प्रतिदिन अभ्यास (प्रयोग) करने से प्रशस्त होता है सिर कफ का घर (स्थान) है अतः स्नेहनस्य स्वस्थ व्यक्तियों के लिये ही है अन्य रुग्ण व्यक्तियों के लिये नहीं ।

नस्ययोग्याः—

दन्तचाले हनुस्तम्भे मन्यास्तम्भे गलग्रहे ॥ ३८ ॥
बाधिर्ये कर्णशूले च कर्णनासावभेदके ।
अपतन्त्रे शिरःकम्पे सार्दिते दृष्टिविभ्रमे ॥ ३९ ॥
जिह्वामूलगलोत्थेषु स्वरभेदेऽथवाग्ग्रहे ।
कण्ठौष्ठमुखचालेषु काचेषु तिमिरेषु च ॥ ४० ॥
दौर्गन्ध्ये मुखनासाभ्यां खालित्ये पलितेऽपि च ।
ऊर्ध्वजत्रुगता ये च रोगाः संपरिकीर्तिताः ॥ ४१ ॥
नस्यकर्म हितं तेषु तैलं वा सर्पिरेव वा ।

नस्य के योग्य व्यक्ति—दांत का हिलना, हनुस्तम्भ (दोनों हनुओं की जकड़न) मन्यास्तम्भ (मन्यानाडी की जकड़न), गलग्रह (गले की जकड़न), कान का बहरापन, कान की पीड़ा, कान तथा नासिका में फटने जैसी पीड़ा होनेपर, अपतन्त्रक (वावगोला 'हिस्टीरिया') शिरोकम्प, अर्दित (लकवा), दृष्टिविभ्रम (दृष्टि वैभ्रम्य), जिह्वामूल तथा गला में उत्पन्न रोग, स्वरभेद (स्वर का फटना), वाग्ग्रह (वाणी का ठीक २ बाहर न निकलना), कण्ठ, ओष्ठ तथा मुख के कम्पन, कांचरोग, तिमिररोग, (मोतियाबिन्द) मुख तथा नासिका से दुर्गन्ध आने पर, खालित्य (सिर का बाल झड़ना), पलित (असमय में बाल का पकना), आदि इन रोगों में तथा ऊर्ध्वजत्रु (ऊर्ध्वांग नाक, कान, आंख, मुँह गला आदि) गत जो रोग कहे गये हैं उन रोगों में तैल का नस्यकर्म या केवल घृत का ही नस्यकर्म प्रशस्त होता है ।

माषतैलं नस्यतैलम्—

जीवकर्षभकौ द्राक्षा मधुकं नागरं बला ॥ ४२ ॥
प्रपौण्डरीकं बृहती मञ्जिष्ठा त्वक्पुनर्नवा ।
सारिवांशुमती मेदा विडङ्गं नीलमुत्पलम् ॥ ४३ ॥
श्वदंष्ट्रा सैन्धवं रास्ना कृष्णागुरु निदिग्धिका ।
समभागान्वितैरेतैस्तैलं वा यदि वा घृतम् ॥ ४४ ॥

चतुर्गुणं जलं दत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ।
अक्षिरोगांश्चिरोत्पन्नान्नस्येनानेन साधयेत् ॥ ४५ ॥
तिमिरं पटलं काचं पैल्लमव्याकुलाक्षिताम् ।
दूषिकास्रावरोगांश्च शोफं शूलं च नाशयेत् ॥ ४६ ॥
खलितं पलितं व्यङ्गं शिरोरोगमथार्दितम् ।
दन्तचाल हनुव्याधि मूकत्वं स्रोतसां तथा ॥ ४७ ॥
बाधिर्यं मुखरोगं च दृष्टिदोषं च नाशयेत् ।
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिस्मृतिमेधानलानि च ॥ ४८ ॥
नस्येनानेन वर्धन्ते माङ्गल्यं सार्वकामिकम् ।

माङ्गल्य नस्य तैल—जीवक, ऋषभक, मुनक्का, मुलेठी, सोंठ, बरियार, प्रपौण्डरीक, बृहती (वनभंटा), मंजीठ, दालचीनी, पुनर्नवा, सारिवा, अंशुमती (सरिवन), मेदा, विडंग, नीलकमल, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), सेन्धानमक, रासन, काला अगरु तथा निदिग्धिका (भटकटैया), समभाग इन द्रव्यों के कल्क के साथ तैल या घृत चौगुना जल मिलाकर (स्नेह निर्माण विधि के अनुसार) मन्द आंच से पकावे और उस तैल या घृत के नस्य से चिरकाल से उत्पन्न आंख के रोगों को अच्छा करे । यह नस्य तैल तिमिर रोग (मोतियाबिन्द), पटलगत रोग, नेत्रगत काचरोग, पैल्ल (अपरिक्लिन्न वर्त्म), आकुलाक्षित (नेत्रपीड़ा), मुखदूषिका (मुंहासा 'युवानपिड़िका') नेत्रस्राव, नेत्रशोथ तथा नेत्रशूल को नाश करता है । इसके अतिरिक्त खलित (इन्द्रलुप्त 'बाल का गिरना'), पलित (असमय में बाल का पकना), व्यङ्ग (मुख की झांई 'छांही'), शिरोरोग, अर्दित (लकवा), दांत का हिलना, हनु का रोग (हनुस्तम्भ), मूकता (बोलने की शक्ति का नाश), स्रोतों का रोग, बधिरता, मुखरोग तथा नेत्रदोष को नाश करता है । इस नस्य से इन्द्रियां, मन, बुद्धि, स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति तथा बल आदि बढ़ते हैं। यह माङ्गल्य नामक तैल सभी कामनाओं को देनेवाला है ।

नस्यमणुतैलम्—

चन्दनागुरुणी पत्रं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम् ।
प्रपौण्डरीक सूक्ष्मैलां विडङ्गं बिल्वमुत्पलम् ॥ ४९ ॥
ह्रीबेरमभयां वन्य त्वङ्मुस्त सारिवां वचाम् ।
जीवन्ती सुरदारूणि पृश्निपर्णी शतावरीम् ॥ ५० ॥
हरेणुबृहतीव्याघ्रीसुरभीपद्मकेसरम् ।
विपाचयेच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि ॥ ५१ ॥
तैलाद्दशगुणं शेषं कषायमवतारयेत् ।

तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत् ॥ ५२ ॥
अथास्य दशमे पाके समांश छागलं पयः ।
दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधिः ॥ ५३ ॥
तस्य मात्रां प्रयुञ्जीत तैलस्यार्धपलोन्मिताम् ।
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनैस्त्रिभिः ॥ ५४ ॥
त्र्यहात्त्र्यहाच्च सप्ताहमेतत्कर्म समाचरेत् ।
निवातोष्णसमाचारो हिताशी विजितेन्द्रियः ॥ ५५ ॥
तैलमेतत्त्रिदोषघ्नमिन्द्रियाणां बलप्रदम् ।
प्रयोजयन् यथाकालं यथोक्तान् लभते गुणान् ॥ ५६ ॥

अणु तैल नस्य—चन्दन, अगरु, तेजपत्र, दारुहल्दी का छाल, मुलेठी, बरियार, प्रपौण्डरीक, छोटी इलायची, वायविडङ्ग, बेल, नीलकमल, हाऊबेर, हर्रे, वन्य (वन सूरज वाराहीकन्द), दालचीनी, मोथा, सरिवा, वच, जीवन्ती देवदारु, पिठवन, शतावरी, हरेणु (रेणुका वोज), बृहती (वनभंटा), व्याघ्री (भटकटैया), सुरभी (तुलसी या शूकशिम्बा) तथा कमल का पराग इन द्रव्यों को सौ गुने स्वच्छ आकाश के जल में पकावे। तैल से दशगुना कषाय शेष रहने पर उतार ले। इस कषाय में से $\frac{1}{10}$ भाग क्वाथ लेकर साथ तैल को नव बार तक पकावे। अन्त में दशवें बार के पाक में वकरी का दूध (तैल के बरावर) मिलाकर पका ले और छान ले। यह नावनीय अणु तैल बनाने की विधि है। इस तैल को आधा पल (आधा छटाँक) की मात्रा में प्रयोग करे। स्नेहन स्वेदन किये हुए उत्तमाङ्ग (सिर) का तीन-तीन दिन पर पिचु (तैल में तर रूई की फाहा) से तीन नावन (तीन नस्य) कर्म एक सप्ताह तक करे। वातरहित स्थान में रहे तथा उष्ण जल का सेवन करे। हितकर भोजन करे, इन्द्रियों को वश में करके रहे। यह तैल तीनों दोषों को नाश करनेवाला है तथा बल को बढ़ानेवाला है। समय-समय पर प्रयोग करने से मनुष्य उपरोक्त गुणों को प्राप्त करता है ॥ ४९–५६ ॥

बिन्दुलक्षणम्—

प्रदेशिन्या निमग्ने द्वे पर्वणी पतितस्ततः ।
नस्यकर्मणि तैलादिर्विज्ञेयो बिन्दुसंज्ञितः ॥ ५७ ॥

बिन्दु का लक्षण—प्रदेशिनी अंगुलि के दो पर्व को तैल में डुबा कर निकालने से जो तैल आदि गिरता है वह नस्यकर्म में बिन्दु शब्द से समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

स्नैहिकनस्यप्रमाणम्—

नस्यस्य स्नैहिकस्याथ देयास्त्वष्टौ तु बिन्दवः ।

प्रत्येकशो नासिकयोर्नृणामिति विनिश्चयः ॥ ५८ ॥
शुक्तिश्च पाणिशुक्तिश्च मात्रास्तिस्रः प्रकीर्तिताः ।
द्वात्रिंशद्बिन्दवश्चापि शुक्तिरित्यभिधीयते ॥ ५९ ॥
द्वे शुक्ती पाणिशुक्तिश्च ज्ञेयाऽत्र कुशलैर्नरैः ।

स्नैहिक नस्य का प्रमाण—मनुष्य के दोनों नथुनों में पर्याय क्रम से प्रत्येक नथुना में स्नैहिक नस्य का आठ बिन्दु छोड़े। यह नस्य का निश्चित मात्रा है। शुक्ति तथा पाणि शुक्ति ये तीन मात्रायें कही गई हैं। बत्तीस बिन्दु की एक शुक्ति होती है और दो शुक्ति की एक पाणि शुक्ति होती है ऐसा कुशल मनुष्य समझें।

नस्यस्य स्नैहिकस्यैतत्प्रमाणं विहितं नृणाम् ॥ ६० ॥
शृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा ।
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठिपेदविधारयन् ॥ ६१ ॥

मनुष्यों के स्नैहिक नस्य का यह प्रमाण बताया गया है। जिस प्रकार शृङ्गाटक गलकर मुख से गिर जाता है वैसे ही कफ के उत्क्लेश के भय से इस नस्य को बिना धारण किये ही थूक दे ॥ ५८–६१ ॥

सम्यक्प्रयुक्तनस्यलक्षणम्—

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नप्रतिबोधनम् ।
विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनःसुखम् ॥ ६२ ॥

अच्छी तरह प्रयोग किया हुआ नस्य का लक्षण—नस्य के सम्यग्योग (अच्छी तरह होने पर सिर में लघुता, सुखपूर्वक निद्रा तथा जगना, विकारों की शान्ति इन्द्रियों की शुद्धि तथा मन की प्रसन्नता ये लक्षण होते हैं।

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ।
लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत् ॥ ६३ ॥

सिर के अत्यधिक स्निग्ध हो जाने पर कफ का निकलना, सिर का भारीपन, इन्द्रिय विभ्रम (इन्द्रियों का ज्ञान ठीक-ठीक न होना) ये लक्षण होते हैं। ऐसी अवस्था में रूक्ष नस्य का प्रयोग करे तथा रूक्षपदार्थ को सेवन कराये ॥ ६२–६३ ॥

शिरोविरेचनार्हा रोगाः—

गलग्रहो रोहिणिका शङ्खकोऽर्धावभेदकः ।
प्रतिश्यायश्च कासश्च श्वासो हिक्का गिलायुकः ॥ ६४ ॥
मुखामयो ह्यपस्मारो हनुतालुकविद्रधिः ।
दन्तपुप्पुटकश्चैव पूतिनासामुखं तथा ॥ ६५ ॥
अभिष्यन्दाश्च चत्वारः प्रोक्ता ये नेत्रसंभवाः ।

सार्बुदाश्चाप्यधीमन्था नासार्शांस्यजका तथा ॥ ६६ ॥
उपजिह्वा गलग्रन्थिः कण्ठशालूक एव च ।
गलशुण्ड्यामलसके कार्यं शीर्षविरेचनम् ॥ ६७ ॥

शिरोविरेचन के योग्य रोग—गलग्रह (गले का अकड़न), रोहिणिका (कण्ठगत झिल्ली का बढ़ना 'डिप्थीरिया') शङ्खक (सिर का रोग) अर्धावभेदक (आधा शीशी), प्रतिश्याय (जुकाम), कास, श्वास, हिचकी, गिलायुक (कफ तथा रक्त के विकृति के कारण गले में आँवले के बराबर स्थिर गांठ का उत्पन्न होना), मुखरोग, अपस्मार, हनु तथा तालु की विद्रधि, दन्त पुप्पुटक (कफरक्तजन्य दन्तमूलगत रोग दन्तविद्रधि से छोटा परिमित व्रण शोथ) मुख तथा नासिका का दुर्गन्धित होना, नेत्र में उत्पन्न चार प्रकार के अभिष्यन्द रोग, नेत्रार्बुद, अधिमन्थ (नेत्राभिष्यन्दजन्य रोग) नासार्श (नासिका का अर्शरोग), अजका '(अजकाजात नेत्रशुक्लगत रोग जो नेत्र के कृष्ण भाग पर बकरी के मेंगनी के सदृश उभरा हुआ होता है गहरा उभार वाला फूला 'टेटई') उपजिह्विका (जिह्वामूलगत प्रमेक, कण्डू तथा दाहयुक्त कफरक्तजन्य सूजन), गलग्रन्थि (गला फूलना 'घेघा') कण्ठशालूक (गले में उत्पन्न कफजन्य बेर के गुठली के बराबर एक गांठ जो काँटे या शूक के समान खुरदरी तथा स्थिर होती है), गलशुण्डी (घाटी बढ़ना 'कौवा गिरना'), अलसक (सिर की भूसी), इन रोगों में शीर्ष विरेचन (शिरोविरेचन) करना चाहिए ॥ ६४–६७ ॥

शिरोविरेचनाः कतिपययोगाः—

मरिचानि विडङ्गानि पिप्पल्योऽथ फणिज्जकः ।
क्षवको बर्बरश्चैव शिग्रुबीजं मयूरकः ॥ ६८ ॥
हिङ्गु सौवर्चलं भार्गी नक्तमालफलानि च ।
ज्योतिष्मती शृङ्गवेरं शैरीषं बीजमेव च ॥ ६९ ॥
एतच्छीर्षविरेकार्थमेषु व्याधिषु योजयेत् ।
अवपीडोऽथ चूर्णं वा द्वन्द्वतः सर्वतोऽपि वा ॥ ७० ॥

शिरोविरेचन के कुछ योग—मरिच, वायविडंग, पीपर, फणिज्जक (मरुवा), क्षवक (नकछिकनी), बर्बर (राई), सहिजन का बीज, मयूरक (चिड़चिड़ा 'अपामार्ग') हिंगु, सौवर्चल नमक, भार्गी (भांगरा), नक्तमाल (करञ्ज) का फल, ज्योतिष्मती (मालकांगनी), सोंठ तथा शिरीष का बीज, इन द्रव्यों को शिरोविरेचन के लिये उपरोक्त रोगों में प्रयोग करे। अवपीड नस्य या चूर्ण (प्रधमन) नस्य दो द्रव्यों से या सभी द्रव्यों से

प्रयोग करे। अथवा दो नस्यों में या सभी नस्यों में इन द्रव्यों का प्रयोग करे॥ ६८-७०॥

एतैरेवौषधगणैस्तैलं धीरो विपाचयेत्।
अविमूत्रेण सयुक्तं श्रेष्ठं शीर्षविरेचनम् ॥ ७१॥

इन्हीं पूर्वोक्त औषधों के समूह से (इस द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ से तैल निर्माण विधि के अनुसार) बुद्धिमान् व्यक्ति बकरी का दूध मिलाकर तैल पकाये। यह तैल उत्तम शिरोविरेचन है।

नस्यं विदध्याद्गुडनागरं वा ससैन्धवां मागधिकामथैकाम्।
घ्राणास्यमन्याहनुबाहुपृष्ठशिरोक्षिकण्ठश्रवणामयेषु ॥ ७२॥

गुड़ तथा सोंठ के चूर्ण का नस्य या सेन्धानमक तथा पीपर के चूर्ण का नस्य या केवल पीपर के चूर्ण का नस्य नासिका रोग, मुख रोग, मन्यानाड़ी का अकड़न, हनुग्रह (दोनों हनुओं का जकड़न), बाहुरोग (अवबाहुक), पृष्ठरोग, शिरोरोग, नेत्ररोग, कण्ठरोग तथा कर्ण आदि रोगों में प्रयोग करे॥ ७२॥

तन्दुलाः स्युरपामार्गात्पिप्पल्यो मरिचानि च।
विडङ्गान्यथ शिग्रूणि शिरीषस्तुम्बरूणि च॥ ७३॥
अजाज्यश्चाजमोदा च पीलून्येला हरेणवः।
पृथ्वीके द्वे च वार्ताकं फलं मूर्धविरेचनम् ॥ ७४॥

अपामार्ग के तण्डुल (अपामार्ग के बीज), पीपर, मरिच, विड़ग, सहिजन के बीज, शिरीष, तुम्बरु (तेजोवल का बीज), जीरा, अजमोदा, पीलु (पीलु नामक वृक्ष विशेष 'गुड़फल') बड़ी इलायची, सम्भालू के बीज दोनों पृथ्वीका (स्याहजीरा, मंगरैल), तथा वनभंटा का फल ये द्रव्य शिरोविरेचन करानेवाले हैं॥ ७३-७४॥

मुरामैरण्डजं चैव शिग्रुमूलकमेव च।
पर्णासश्च कुठेरश्च क्षवकोऽथ फणिज्झकः॥ ७५॥
हरिद्रा शृङ्गवेरं च करञ्जलशुनानि च।
एते नस्तः प्रणिहिताः कन्दा मूर्धविरेचनाः॥ ७६॥

मुरामांसी, एरण्ड का मूल, सहिजन का मूल—पर्णास (बबई), कुठेर (सफेद बबई), क्षवक (नकछिकनी), फणिज्जक (मरुवा), हल्दी, सोंठ, करञ्ज का मूल, लहसुन इन द्रव्यों के कन्द नस्य के लिये प्रयोग करने से शिरोविरेचक होते हैं॥ ७५-७६॥

अर्कः कुष्ठमलर्का च भार्गी दन्ती वचा तथा।

काण्डपुष्पी गवाक्षी च वयस्थाऽतिरसा तथा ॥ ७७ ॥
ज्योतिष्मती तथा श्वेता वृश्चिकाली तथैव च ।
मूलान्यासां तु मेधावी दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥ ७८ ॥

अर्क (मदार), कूठ, अलर्क (राजार्क 'अर्क विशेष'), भांगरा, दन्ती, वच, काण्डपुष्पी (पर्वपुष्पी), गवाक्षी (जेठुई कांकर), वयस्था (गुडूची), अतिरसा (मुलेठी विशेष), ज्योतिष्मती (मालकांगनी), श्वेता (अतीस), तथा वृश्चिकाली (काकड़ासिंघी,) इन द्रव्यों का मूल बुद्धिमान् व्यक्ति शिरोविरेचन में प्रयोग कर ॥ ७७-७९ ॥

इङ्गुदी च वराङ्गं च कट्फलं रोध्रमेव च ।
एताः शीर्षविरेकार्थं त्वचो दृष्टा विचक्षणैः ॥ ७९ ॥

इङ्गुदी (हिंगोट), वरांग (दालचीनी) कटफल (कायफर), लोध, इन द्रव्यों का छाल विद्वानों के द्वारा शिरोविरेचन के लिये देखा गया है। अर्थात् इन द्रव्यों के छाल का चूर्ण शिरोविरेचन में प्रयोग करे ॥ ७९ ॥

मूलका कृष्णगन्धा च सर्वेरेव यवैः सह ।
विरेचयन्ति मूर्धानं तिक्तानि लवणानि च ॥ ८० ॥

मूलका (द्रवन्ती) कृष्णगन्धा और सभी पूर्वोक्त द्रव्य तिक्त द्रव्य तथा सभी लवण यव के साथ शिर को विरेचन करनेवाले होते हैं ॥ ८० ॥

सर्वेषामेव चैतेषां धूमः शीर्षविरेचनम् ।
प्रत्येकशः सर्वशश्च तत्प्राज्ञो बोद्धुमर्हति ॥ ८१ ॥
इत्यनेकविधं सम्यगुक्तं मूर्धविरेचनम् ।

पूर्वोक्त सभी द्रव्यों का धूम शिरोविरेचन करानेवाला है। इन द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग तथा सभी द्रव्य एक साथ मिलकर शिरोविरेचन कराने वाले हैं ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति समझे। ये अनेक प्रकार के शिरोविरेचन अच्छी तरह कहे गये हैं।

शिरोविरेचने नस्यप्रमाणम्—

चत्वारो बिन्दवः षड्वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम् ॥ ८२ ॥
शिरोविरेचने योज्या ह्यूर्ध्वजत्रुविकारिणाम् ।

शिरोविरेचन में नस्य प्रमाण—ऊर्ध्वांग के विकार वाले रोगियों के शिरोविरेचन में बल के अनुसार चार बिन्दु या छः बिन्दु अथवा आठ बिन्दु प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिमर्शलक्षणम्—

ईषदुच्छिङ्घनात् स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते ॥ ८३ ॥
नस्तो निषिक्तस्तं विद्यात्प्रतिमर्शं प्रमाणतः ।

प्रतिमर्श का लक्षण—परिमाणपूर्वक नस्य किया हुआ तथा निषेचन किया हुआ स्नेह थोड़ा-सा सूँघने से मुख तक पहुँच जाय उसे प्रतिमर्श कहते हैं ॥ ८३ ॥

नस्यकालावधिः—

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः ॥ ८४ ॥
सप्ताहं तु परं देयं विश्रान्तस्य पुनः पुनः ।
परं नवाहमूर्ध्वं तु नवाहात्सात्म्यतां व्रजेत् ॥ ८५ ॥

नस्यकाल विधि—एक दिन का अन्तर देकर या दो दिन का अन्तर देकर नस्य देना चाहिये । विश्राम किये हुए रोगी को बार-बार सात दिन तक या नव दिन तक नस्य दे । नव दिन के बाद नस्य सात्म्य हो जाता है ॥ ८४–८५ ॥

नस्येन सम्यक्शुद्धशिरसो लक्षणम्—

लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः ।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥ ८६ ॥

नस्य के द्वारा अच्छी तरह शुद्ध सिर के लक्षण—सिर का हलका हो जाना, स्रोतों (कोष्ठों, आमाशय आदि) की शुद्धि, रोगों का नाश, मन तथा इन्द्रियों का प्रसन्न होना ये सिर की शुद्धि के लक्षण हैं ॥ ८६ ॥

नस्येन हीनशुद्धस्य शिरसो लक्षणम्—

कण्डूपदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥ ८७ ॥

नस्य के द्वारा थोड़ा शुद्ध सिर के लक्षण—कण्डू (खुजली), उपदेह (चिपचिपाहट), भारीपन, स्रोतों में कफ का उत्पन्न होना, ये सब अल्पशुद्ध सिर का लक्षण कहा गया है ॥ ८७ ॥

नस्येनातिशुद्धस्य शिरसो लक्षणम्—

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढं विरेचिते ॥ ८८ ॥

नस्य के द्वारा अतिशुद्ध सिर के लक्षण—मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क का गलकर नाक के मार्ग से गिरना), वात की वृद्धि, इन्द्रियों का विभ्रम (इन्द्रियों का अपना कार्य ठीक न करना), सिर की शून्यता (सिर का खाली प्रतीत होना) ये सब सिर के अधिक विरेचन होने के लक्षण हैं ॥ ८८ ॥

नस्यगुणाः—

पित्तानिलहरं केश्यं वक्त्रोपचयवर्णकृत् ।
प्रसादनं चेन्द्रियाणां स्नैहिकं नस्यमुच्यते ॥ ८९ ॥

नस्य के गुण—स्नैहिक (स्नेह का) नस्य पित्त तथा वात को नाश करता है, केश को मजबूत बनाता है, मुख की कान्ति को बढ़ाता है तथा इन्द्रियों को प्रसन्न करता है ॥ ८९ ॥

शिरोविरेचनं नेत्रगलनासामयापहम् ।
हन्ति मेदःकफे ग्रन्थिगौरवारुचितन्द्रिकाः ॥ ९० ॥

शिरोविरेचन नेत्र, गला तथा नासिका के रोगों को दूर करने वाला है और मेदोरोग, कफरोग, ग्रन्थिरोग, सिर का भारीपन, अरुचि तथा तन्द्रा को नाश करता है ॥ ९० ॥

नस्येन रोगाः शाम्यति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः ।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च ॥ ९१ ॥

नस्य कर्म करने से मनुष्य के ऊर्ध्वाङ्ग में उत्पन्न रोग नष्ट होते हैं और यह नस्य इन्द्रियों को निर्मल तथा मुख को सुगन्धित बनाता है ॥ ९१ ॥

हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम् ।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवः ॥ ९२ ॥

हनुसन्धि, दन्त, सिर, ग्रीवा, त्रिकसन्धि, बाहु तथा दोनों उरुओं को बल देता है और नस्य कर्म करने से वलि (मुख में झुर्री पड़ना), पलित (असमय में बाल पकना), खालित्य (इन्द्रलुप्त 'बाल का झड़ना') तथा व्यङ्ग (सिर की भूसी), रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ९२ ॥

घनोन्नतप्रसन्नत्वं स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ।
दृढेन्द्रियास्त्वपलिता भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥ ९३ ॥

नस्य सेवन करनेवाले व्यक्ति के स्कन्ध (कन्धा), ग्रीवा, मुख तथा वक्ष (छाती) घन (दृढ़), उन्नत (उठा हुआ) तथा प्रसन्न होते हैं, इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं और असमय में बाल नहीं पकते हैं ॥ ९३ ॥

सुगन्धवदनाः स्निग्धनिःस्वना विमलेन्द्रियाः ।
निर्वलीपलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥ ९४ ॥

नस्य को सेवन करनेवाले व्यक्ति के मुख सुगन्धित हो जाते हैं। निश्वास (श्वास-प्रश्वास) स्निग्ध (चिकना) निकलते हैं, इन्द्रियाँ स्वच्छ हो जाती हैं और उस मनुष्य के मुख में झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, असमय में बाल नहीं पकते तथा व्यङ्ग (सिर की भूसी) रोग नहीं होते हैं ॥ ९४ ॥

नस्यानर्हाः—

नाजीर्णे नार्द्रशिरसि नाध्माते गन्तुमिच्छतः ॥ ९५ ॥
न पीतमात्रे पानीये ज्वरितस्य न दापयेत् ।
न मैथुनं गतवतो मद्यपीतस्य नैव च ॥ ९६ ॥

नाध्वनीनस्य कुशलो नस्यकर्म प्रकारयेत् ।

नस्य न देने योग्य व्यक्ति—अजीर्ण होने पर, सिर के गीला रहने पर, आध्मान (विबन्ध, शूल तथा गुड़गुड़ शब्द के साथ मसक के सदृश वायु से पेट का फूलना), रोग में, चलने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति, तुरन्त के पानी पिये हुए व्यक्ति तथा ज्वर के रोगी इन सबों को नस्यकर्म न करे। मैथुन किये हुए व्यक्ति, मद्यपान किये हुए व्यक्ति तथा अध्वनीन (पथिक 'मार्ग चलकर आये हुए व्यक्ति') इन सबों का नस्यकर्म कुशल वैद्य न करवाये ॥ ९५–९६ ॥

नस्यादियोग्यं वयः—

सप्तवर्षमुपादाय नस्यकर्म चतुर्विधम् ॥ ९७ ॥
प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते ।
धूमो द्वादशवर्षस्य कवलः पञ्चमान्मतः ॥ ९८ ॥
दोषव्याधिबलावस्थां वीक्ष्य चैतान् प्रयोजयेत् ।

नस्य आदि के योग्य अवस्था—सात वर्ष से लेकर चारों प्रकार का (शिरोविरेचन, अवपीड, प्रशमन तथा नावन) नस्य कर्म करे। प्रतिमर्श तथा वमन जन्म से ही प्रशस्त होता है। बारह वर्ष की अवस्था से लेकर धूम का प्रयोग तथा पाँच वर्ष से लेकर कवलग्रह (मुख में कुल्ला धारण करना) प्रशस्त होता है। इन नस्य, धूम, प्रतिमर्श तथा कवलग्रह आदि कर्म को दोष (वातपित्तादि) रोग (ऊर्ध्वांग रोग), बल (उत्तम मध्यम निकृष्ट) तथा अवस्था (कौमार, युवा, जरा आदि) को अच्छी तरह देखकर प्रयोग करे।

न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे ॥ ९९ ॥
नचोनाष्टादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे ।
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ ॥ १०० ॥

सात वर्ष से कम तथा अस्सी वर्ष से अधिक अवस्था में नस्यकर्म न करे। अट्ठारह वर्ष से कम अवस्था में धूम का प्रयोग, पाँच वर्ष से कम अवस्था में कवलग्रह तथा दश वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से अधिक अवस्था में संशोधन (वमन-विरेचन आदि) न कराये ॥ ९९–१०० ॥

शिग्रुबीजसुरसार्जकबीजैर्विश्वजीरककणामरिचैश्च ।
नस्यं मूर्ध्नि रुजि योज्यममीभिः कारवीरुबुकतुम्बरुभिश्च ॥ १०१ ॥

सहिजन का बीज, सुरसा (तुलसी) अर्जकबीज (सफेद बबई का बीज), सोंठ, जीरा, पीपर, मरिच, कारवी (मंगरैल) एरण्ड तथा तुम्बरु

(तेजवल का बीज) इन द्रव्यों से मूर्धा (ऊर्ध्वाङ्ग के रोग) के रोग में नस्य का प्रयोग करे ॥ १०१ ॥

संशोधनान्तरमन्नसंसर्जनक्रमः—

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः ।
निरूढस्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥ १०२ ॥
अत्यर्थं गुरुभिश्चान्नैरुपयुक्तैः प्रशाम्यति ।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ॥ १०३ ॥
स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते ।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च संधुक्षित इवानलः ॥ १०४ ॥

संशोधन के बाद अन्न सेवन करने का क्रम—स्नेहपान, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण तथा निरूहण कर्म किये हुए मनुष्य की जाठराग्नि मन्द हो जाती है । और अत्यन्त गुरु (गरिष्ठ) अन्न के प्रयोग करने से शान्त हो जाती है जैसे थोड़ा अग्नि भारी तथा अधिक इन्धन (लकड़ी) से आच्छादित होकर बुझ जाती है । वह जाठराग्नि थोड़े तथा हल्के अन्नों के उपयोग से बढ़ती है । जैसे थोड़े तथा छोटे काष्ठों से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है ।

हृतदोषप्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः ।

दोषों के निर्हरण होने के अनुसार सर्वदा आहार-विधि का प्रयोग करे ।

त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाढकम् ॥ १०५ ॥
तत्रावरं प्रस्थमात्रं विशेषो मध्यमोत्तमे ।

दोषों के निर्हरण का तीन परिमाण बताया गया है एक प्रस्थ (सेर) परिमाण का अवर, आधा आढक (दो सेर) परिमाण का मध्यम तथा एक आढक (चार सेर) परिमाण का उत्तम होता है ।

प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूरल्पतन्दुला ॥ १०६ ॥
द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते ।

एक प्रस्थ (एक सेर) दोष परिस्रुत होने पर थोड़ा चावल वाला यवागू भोजन करने को दे । आधा आढक (दो सेर) परिस्रुत होने पर उससे दुगुना तथा एक आढक (चार सेर) परिस्रुत होने पर तीन गुना यवागू भोजन करने के लिये दे ।

विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः ॥ १०७ ॥
दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम् ।
अस्निग्धलवणस्वच्छमुद्गयूषसमं ततः ॥ १०८ ॥

उचित अन्न (थोड़े जल में पकाया हुआ चावल) के चतुर्थांश से बनाई हुई विलेपी (चौगुने जल में पकाया हुआ चावल) पूर्वोक्त विधि के अनुसार विलन्न (गीला), स्नेह रहित सीठी, स्नेह तथा नमक रहित स्वच्छ मूंग के यूष (अट्ठारह गुने पानी में पकाया हुआ मूंग का यूष) के साथ दे। ॥१०७–१०८॥

अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात्सुस्विन्नमोदनम् ।
ततस्तु कृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना ॥ १०९ ॥
त्रीनंशान् वितरेद्धोक्तुमातुरायौदनं मृदु ।
ततो यथोचित भक्तं भोक्तुमस्मै प्रयोजयेत् ॥ ११० ॥
लघूनि मुद्गभोज्यानि दद्याज्जीर्णे विरेचने ।

इसके बाद दो भाग चावल मिलाकर अच्छी तरह पकाया हुआ भात सेवन कराये। तदनन्तर हृदय को बल देनेवाला, इन्द्रियों को संतृप्त करनेवाला, कृतसंज्ञक तीन भाग चावल डालकर बनाया हुआ मुलायम भात रोगी को खाने के लिये दे। इसके बाद यथोचित भात इस रोगी को खाने के लिये दे और विरेचन के पच जाने पर हलका मूंग का भोज्य पदार्थ (मूग की खिचड़ी) भोजन करने के लिये दे। ॥ १०९–११० ॥

विषयविशेषे वमनादीनां प्राधान्यम्—

कफापहानां वमनं पित्तघ्नानां विरेचनम् ।
बस्तिर्वातहराणां च स्वेदो मार्दवकारिणाम् ॥ १११ ॥

विषय विशेष के अनुसार वमन विरेचन आदि की प्रधानता—कफनाशक उपचारों में वमन, पित्तनाशक उपचारों में विरेचन, वातनाशक उपचारों में बस्तिकर्म तथा मृदु करनेवाले उपचारों में स्वेदन प्रधान है ॥ १११ ॥

सावशेषौषधलक्षणम्—

क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजः ।
अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥ ११२ ॥

अवशेष औषध का लक्षण—वमन विरेचनादि कराने के बाद शरीर के अन्दर अपरिपक्व औषध के शेष रह जानेपर क्लम (थकावट), जलन, शरीर में पीड़ा, भ्रम (चक्कर), मूर्च्छा, शिरोग्रह (सिर में जकड़न) मानसिक बेचैनी तथा बलकी क्षीणता (दौर्बल्य) ये लक्षण होते हैं ॥ ११२ ॥

जीर्णौषधलक्षणम्—

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णा सुमनस्कता ।
लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ॥ ११३ ॥

जीर्ण औषध का लक्षण—औषध का अच्छी तरह परिपाक हो जाने पर

वायु का अनुलोमन होना, स्वास्थ्य की प्राप्ति (निरोग हो जाना) भूख तथा प्यास खुलकर लगना, मन का प्रसन्न रहना, इन्द्रियों में हल्कापन प्रतीत होना तथा शुद्ध डकार आना ये लक्षण होते हैं ॥ ११३ ॥

अन्नकाललक्षणम्—

या क्षुद्भवति जीर्णेषु दोषधातुमलेषु च ।
उचितेऽनुचिते वाऽपि सोऽन्नकालः प्रशस्यते ॥ ११४ ॥

अन्न सेवन काल का लक्षण—दोष (वात पित्तादि), धातु (रसरक्तादि) तथा मल (मूत्र पुरीषादि) के परिपाक हो जाने पर उचित समय (सुबह शाम) या अनुचित समय (किसी भी समय) पर जो भूख लगती है वही अन्न सेवन का समय प्रशस्त है ॥ ११४ ॥

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि च विमले वातेऽनुसरति ।
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगमे कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः ॥ ११५ ॥

मल तथा मूत्र के त्याग हो जाने पर शरीर के विशद (दोषरहित), तथा हल्का प्रतीत होने पर, शुद्ध डकार निकलने पर हृदय के स्वच्छ एवं हल्का प्रतीत होने पर, वायु के अनुलोम होकर निकलने पर, अन्न खाने में रुचि होने पर तथा पेट के शिथिल (हल्का) हो जाने पर भोजन देना चाहिए । वैद्यों ने भोजन के लिये यही समय समुचित माना है ॥ ११५ ॥

षड्विधा भेषजकल्पाः—

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः
शृतश्च शीतश्च तथैव चूर्णम् ।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां
यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः ॥ ११६ ॥

छः प्रकार की भेषज की कल्पना—क्षीर (दूध), रस, कल्क, शृत (क्वाथ किया हुआ) कषाय, शीत (शीतल जल में रात भर भिगोकर सुबह छानकर बनाया हुआ) कषाय तथा चूर्ण ये छः प्रकार की औषधों के कल्प हैं । ये उत्तरोत्तर क्षीर से रस, रस से कल्क, कल्क से शृत कषाय, शृत कषाय से शीत कषाय तथा शीत कषाय से चूर्ण हल्का (सुपच) कहे गये हैं ॥ ११६ ॥

अजीर्णौषधलक्षणम्—

अजीर्णं छर्दिमुत्क्लेशमरुचिं गात्रगौरवम् ।
ग्लानिं बन्धं च मूर्च्छां च जनयेत् परमौषधम् ॥ ११७ ॥

अजीर्ण औषध के लक्षण—अजीर्ण औषध वमन, उत्क्लेश (उत्तेजना, अशान्ति), भोजन में अरुचि, शरीर में भारीपन, मानसिक बेचैनी, बन्ध (जकड़न) तथा मूर्च्छा को अधिक उत्पन्न करता है ॥ ११७ ॥

संशमनलक्षणम्—

न दूषयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति च क्रुद्धांस्तत्संशमनमुच्यते ॥ ११८ ॥

इति श्रीवैद्यवर्यशोढलग्रथिते गदनिग्रहे दशमे पञ्चकर्माधिकारखण्डे
नस्याधिकारः पञ्चमः ॥ ५ ॥

समाप्तोऽयं पञ्चकर्माधिकाराख्यो दशमः खण्डः ।

संशमन का लक्षण—जो दोषों (वात, पित्त, कफ एवं रस-रक्तादि सप्त धातुओं) को दूषित नहीं करता है, समान दोषों को बढ़ाता नहीं है तथा बढ़े हुए दोषों को शान्त करता है उसको संशमन कहते हैं ॥ ११८ ॥

श्री वैद्यप्रवर शोढल-विरचित गदनिग्रह के दशवें पञ्चकर्माधिकार
में नस्यकर्माधिकार समाप्त ।

ग्रन्थोपसंहारः—

यावल्लवणसमुद्रो यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः ।
यावच्चन्द्रादित्यौ तावदिदं पुस्तकं जयति ॥ १ ॥

ग्रंथ का उपसंहार—जब तक लवण समुद्र, तारागण से सुशोभित मेरु पर्वत तथा चन्द्रमा एवं सूर्य विद्यमान रहें तब तक यह गदनिग्रह नामक पुस्तक अपने गुणोत्कर्ष से युक्त होकर विजय को प्राप्त करे ॥ १ ॥

समाप्तोऽयं गदनिग्रहः ।



टीकाकर्तृपरिचयः

प्रीत्योन्नीत-सदोषधीशममृतं पाणौ दधानं घटे
प्रादुर्भूतमथाब्धिमन्थनविधौ रोगार्त्तिशान्तीच्छया ।
नित्यं दिव्यरसायनीयविधिनेहायुष्यनैरुज्यदा-
च्यायुर्वेदप्रवर्त्तकं सुरगुरुं धन्वन्तरिं संस्तुमः ॥ १ ॥

गोवर्धनात्मज-रमापति-नन्दनेन्द्र-
देवत्रिपाठिकुलजः सुभिषक् सुशिष्यः
ख्याते विहारविषयेऽथ शराद्यरण्ये
सत्पत्तने धृतजनुर्जनतार्त्तिहर्त्ता ॥ २ ॥

श्रीपार्वतीस्मृतिकृते गदनिग्रहस्य
भाषां विमर्शसहितां सुहितां तु काश्याम् ।
वासी भिषग्जनमुदे व्यदधात् प्रयत्नात्
संतोषमेतु च ततो भगवानुमेशः ॥ ३ ॥
